एम.एस.डब्ल्यू. पूर्वार्द्ध
द्वितीय प्रश्नपत्र

# भारतीय सामाजिक संरचना और सामाजिक समस्याएं

**[INDIAN SOCIAL STRUCTURE AND SOCIAL PROBLEMS]**

मध्यप्रदेश भोज (मुक्त) विश्वविद्यालय – भोपाल
**MADHYA PRADESH BHOJ (OPEN) UNIVERSITY - BHOPAL**

***Reviewer Committee***

1. Dr. Sadhana Singh Bisen
   Former Assistant Professor,
   BSS College, Bhopal (MP)

2. Dr. Shailja Dubey
   Professor
   Institute for Excellence in Higher Education,
   Bhopal (M.P.)

3. Dr. Aarti Shrivastava
   Professor
   Govt. Sarojini Naidu (PG) College, Bhopal

***Advisory Committee***

1. Dr. Jayant Sonwalkar
   Hon'ble Vice Chancellor
   Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal (M.P.)

2. Dr. L.S. Solanki
   Registrar
   Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal (M.P.)

3. Dr. Anjali Singh
   Director, Student Support
   Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal (M.P.)

4. Dr. Sadhana Singh Bisen
   Former Assistant Professor,
   BSS College, Bhopal (MP)

5. Dr. Shailja Dubey
   Professor
   Institute for Excellence in Higher Education,
   Bhopal (M.P.)

6. Dr. Aarti Shrivastava
   Professor
   Govt. Sarojini Naidu (PG) College, Bhopal

**COURSE WRITER**

**Prof. Meenu Agrawal,** Principal, GDM Girls PG College Modinagar, Ghaziabad
**Dr. Rakhi Mittal,** Associate Professor, GDM Girls PG College Modinagar, Ghaziabad
Units: (1.2, 4.2.2-4.2.3)
**Dr. Biswaranjan Mohanty,** Asst. Professor, Department of Political Science, SGTB Khalsa College, University of Delhi, Delhi
Units: (1.8.1, 3.4.4)
**Dr. Rakhi Mittal,** Associate Professor, GDM Girls PG College Modinagar, Ghaziabad
Units: (1.4, 1.5-1.5.2, 1.6, 1.8, 1.8.2, 1.8.4, 2.3-2.7, 3.2.2, 3.3.4, 3.5.3-3.5.5, 4.2-4.2.1, 4.3.4-4.3.5, 4.3.8, 5.2-5.2.2, 5.3, 5.3.2-5.3.3, 5.3.5)
**Dr. Namrata Prasad,** Lecturer, Department of Sociology, Bapu Post Graduate College, Pipiganj, Gorakhpur
Units: (3.2-3.2.1, 3.2.3-3.2.5, 5.3.4)
**Dr. Umesh Balasaheb Shinde,** Assistant Professor, Department of Sociology and Anthropology, KTHM College, Nashik-II (Maharashtra)
Units: (1.0-1.1, 1.3, 1.5.3-1.5.4, 1.7, 1.8.3, 1.9-1.13, 2.0-2.1, 2.2, 2.8, 2.9-2.13, 3.0-3.1, 3.3-3.3.3, 3.4-3.4.3, 3.4.5, 3.5.2, 3.5-3.5.1, 3.5.6, 3.5.7, 3.6-3.10, 4.0-4.1, 4.3-4.3.3, 4.3.6, 4.3.7, 4.4-4.8, 5.0-5.1, 5.2.3, 5.3.1, 5.4-5.8)

Copyright © Reserved, Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal

All rights reserved. No part of this publication which is material protected by this copyright notice may be reproduced or transmitted or utilized or stored in any form or by any means now known or hereinafter invented, electronic, digital or mechanical, including photocopying, scanning, recording or by any information storage or retrieval system, without prior written permission from the Registrar, Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal.

Information contained in this book has been published by VIKAS® Publishing House Pvt. Ltd. and has been obtained by its Authors from sources believed to be reliable and are correct to the best of their knowledge. However, the Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal, Publisher and its Authors shall in no event be liable for any errors, omissions or damages arising out of use of this information and specifically disclaim any implied warranties or merchantability or fitness for any particular use.

Published by Registrar, MP Bhoj (Open) University, Bhopal in 2020

Vikas® is the registered trademark of Vikas® Publishing House Pvt. Ltd.

VIKAS® PUBLISHING HOUSE PVT. LTD.
E-28, Sector-8, Noida - 201301 (UP)
Phone: 0120-4078900 • Fax: 0120-4078999
Regd. Office: A-27, 2nd Floor, Mohan Co-operative Industrial Estate, New Delhi 1100 44
• Website: www.vikaspublishing.com • Email: helpline@vikaspublishing.com

# SYLLABI-BOOK MAPPING TABLE

## भारतीय सामाजिक संरचना और सामाजिक समस्याएं

| Syllabi | Mapping in Book |
|---|---|
| **इकाई–1**<br>भारतीय सामाजिक संरचना<br>जातीय सामाजिक संरचना<br>जनजातीय सामाजिक संरचना<br>ग्रामीण सामाजिक संरचना<br>परिवार एवं नातेदारी<br>कृषक वर्ग एवं ग्रामीण अवस्थिति<br>नगरीय सामाजिक संरचना<br>समाजशास्त्र का क्षेत्र<br>समाजशास्त्र का अध्ययन–क्षेत्र : स्वरूपात्मक एवं समन्वयात्मक संकल्पना<br>समाजशास्त्र का अन्य सामाजिक विज्ञानों से अंतर्संबंध<br>मानव समाज की प्रकृति<br>मानव समाज : अर्थ, प्रकृति एवं विशेषताएं<br>समाज के निर्माण के प्रमुख घटक एवं सिद्धांत<br>सामाजिक अध्ययन के दृष्टिकोण<br>सामाजिक अध्ययन : स्वरूप एवं अभिवृद्धि<br>सामाजिक अध्ययन की प्रविधियां<br>समाज के अध्ययन हेतु पहला दृष्टांत : कार्यात्मक दृष्टिकोण<br>भारतीय समाज के अध्ययन में प्रकार्यात्मक परिप्रेक्ष्य का प्रयोग<br>मानव बनाम पशु समाज<br>संस्कृति की भूमिका<br>समाज के घटक<br>समुदाय<br>समूह<br>संस्थान<br>सामाजिक समूह | **इकाई 1** : भारतीय सामाजिक संरचना और समाज के प्रमुख घटक<br>**(पृष्ठ 3–120)** |
| **इकाई–2**<br>संस्कृति और समाज : मानदंडों की प्रणाली के रूप में संस्कृति एवं संस्कृति की संरचना<br>मानदंडों की प्रणाली के रूप में संस्कृति<br>संस्कृति की संरचना<br>संस्कृति एवं स्वजातीयता<br>परसंस्कृति ग्राह्यता<br>सांस्कृतिक सापेक्षवाद<br>वास्तविक एवं आदर्श संस्कृति<br>संस्कृति एवं मानव समायोजन<br>व्यक्तित्व और समाजीकरण | **इकाई 2** : संस्कृति और समाज<br>**(पृष्ठ 121–198)** |

**इकाई–3**

सामाजिक संरचना और सामाजिक स्तरीकरण : कार्यात्मक परिप्रेक्ष्य, मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य, वेबेरियन परिप्रेक्ष्य

सामाजिक संरचना; सामाजिक स्तरीकरण
सामाजिक स्तरीकरण – प्रकार्यात्मक परिप्रेक्ष्य
सामाजिक स्तरीकरण – मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य
सामाजिक स्तरीकरण – वेबेरियन परिप्रेक्ष्य

जाति व्यवस्था : तीन परिप्रेक्ष्य

जाति : अर्थ, परिभाषाएं एवं उत्पत्ति
जाति की उत्पत्ति के प्रमुख सिद्धांत एवं विशेषताएं
जाति के परिवर्तनशील प्रतिमान; जाति व्यवस्था – तीन परिप्रेक्ष्य

सामाजिक प्रक्रियाएं

सामाजिक प्रक्रियाओं की प्रकृति, प्रतियोगिता एवं संघर्ष
प्रतियोगिता; संघर्ष; समाजीकरण; सामाजिक नियंत्रण

सामाजिक परिवर्तन और सामाजिक आंदोलन

सामाजिक आंदोलन का परिचय और सामाजिक परिवर्तन
सामाजिक परिवर्तन का परिचय, प्रवृत्तियां और प्रतिमान
सामाजिक आंदोलनों की उत्पत्ति
सामूहिक लामबंदी; संगठन और नेतृत्व
सामाजिक प्रभाव और परिवर्तन
प्रणाली संबंधी एक पद्धतिगत प्रश्न

**इकाई 3** : सामाजिक संरचना और सामाजिक स्तरीकरण
**(पृष्ठ 199–334)**

---

**इकाई–4**

सामाजिक समस्या एवं सामाजिक विघटन

सामाजिक समस्याएं
सामाजिक विघटन की अवधारणा
भारत में सामाजिक विघटन

सामाजिक विचलन एवं अपराध की अवधारणा

सामाजिक विचलन
विचलन एवं अपराध के शारीरिक/क्रियात्मक एवं मनोवैज्ञानिक सिद्धांत
विचलन के संरचनात्मक एवं उपसांस्कृतिक सिद्धांत
विचलन और आधिकारिक आंकड़े
जातिवाद के कारण अपराध और विचलन का उभार/उदय
साम्प्रदायिकता, धर्मनिरपेक्षता तथा क्षेत्रीयकरण
साम्प्रदायिकता की अवधारणा
साम्प्रदायिक हिंसा की अवधारणा

**इकाई 4** : भारतीय सामाजिक समस्याएं
**(पृष्ठ 335–442)**

---

**इकाई–5**

सामाजिक समस्याएं : बाल अपराध, नशाखोरी, वेश्यावृत्ति और युवा अशांति

बाल अपराध; नशाखोरी
वेश्यावृत्ति और युवा असंतोष एवं आक्रोश

समाज में हिंसा : परिचय, महिला हिंसा, बाल हिंसा एवं यौन उत्पीड़न के कारण

महिलाओं के विरुद्ध हिंसा की प्रकृति, स्वरूप एवं विशेषताएं
महिला हिंसा; बाल हिंसा
बाल यौन शोषण और यौन उत्पीड़न
यौन उत्पीड़न के कारण

**इकाई 5** : सामाजिक समस्याएं
**(पृष्ठ 443–500)**

---

# विषय–सूची


**परिचय** **1–2**

**इकाई 1 भारतीय सामाजिक संरचना और समाज के प्रमुख घटक** **3–120**

1.0 परिचय
1.1 उद्देश्य
1.2 भारतीय सामाजिक संरचना
- 1.2.1 जातीय सामाजिक संरचना
- 1.2.2 जनजातीय सामाजिक संरचना
- 1.2.3 ग्रामीण सामाजिक संरचना
- 1.2.4 परिवार एवं नातेदारी
- 1.2.5 कृषक वर्ग एवं ग्रामीण अवस्थिति
- 1.2.6 नगरीय सामाजिक संरचना

1.3 समाजशास्त्र का क्षेत्र
- 1.3.1 समाजशास्त्र का अध्ययन–क्षेत्र : स्वरूपात्मक एवं समन्वयात्मक संकल्पना
- 1.3.2 समाजशास्त्र का अन्य सामाजिक विज्ञानों से अंतर्संबंध

1.4 मानव समाज की प्रकृति
- 1.4.1 मानव समाज : अर्थ, प्रकृति एवं विशेषताएं
- 1.4.2 समाज के निर्माण के प्रमुख घटक एवं सिद्धांत

1.5 सामाजिक अध्ययन के दृष्टिकोण
- 1.5.1 सामाजिक अध्ययन : स्वरूप एवं अभिवृद्धि
- 1.5.2 सामाजिक अध्ययन की प्रविधियां
- 1.5.3 समाज के अध्ययन हेतु पहला दृष्टांत : कार्यात्मक दृष्टिकोण
- 1.5.4 भारतीय समाज के अध्ययन में प्रकार्यात्मक परिप्रेक्ष्य का प्रयोग

1.6 मानव बनाम पशु समाज
1.7 संस्कृति की भूमिका
1.8 समाज के घटक
- 1.8.1 समुदाय
- 1.8.2 समूह
- 1.8.3 संस्थान
- 1.8.4 सामाजिक समूह

1.9 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
1.10 सारांश
1.11 मुख्य शब्दावली
1.12 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
1.13 सहायक पाठ्य सामग्री

**इकाई 2 संस्कृति और समाज** **121–198**

2.0 परिचय
2.1 उद्देश्य
2.2 संस्कृति और समाज : मानदंडों की प्रणाली के रूप में संस्कृति एवं संस्कृति की संरचना
- 2.2.1 मानदंडों की प्रणाली के रूप में संस्कृति
- 2.2.2 संस्कृति की संरचना

2.3 संस्कृति एवं स्वजातीयता
2.4 परसंस्कृति ग्राह्यता
2.5 सांस्कृतिक सापेक्षवाद
2.6 वास्तविक एवं आदर्श संस्कृति
2.7 संस्कृति एवं मानव समायोजन
2.8 व्यक्तित्व और समाजीकरण
2.9 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
2.10 सारांश
2.11 मुख्य शब्दावली
2.12 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
2.13 सहायक पाठ्य सामग्री

**इकाई 3 सामाजिक संरचना और सामाजिक स्तरीकरण** **199–334**

3.0 परिचय
3.1 उद्देश्य
3.2 सामाजिक संरचना और सामाजिक स्तरीकरण : कार्यात्मक परिप्रेक्ष्य, मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य, वेबेरियन परिप्रेक्ष्य
- 3.2.1 सामाजिक संरचना
- 3.2.2 सामाजिक स्तरीकरण
- 3.2.3 सामाजिक स्तरीकरण – प्रकार्यात्मक परिप्रेक्ष्य
- 3.2.4 सामाजिक स्तरीकरण – मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य
- 3.2.5 सामाजिक स्तरीकरण – वेबेरियन परिप्रेक्ष्य

3.3 जाति व्यवस्था : तीन परिप्रेक्ष्य
- 3.3.1 जाति : अर्थ, परिभाषाएं एवं उत्पत्ति
- 3.3.2 जाति की उत्पत्ति के प्रमुख सिद्धांत एवं विशेषताएं
- 3.3.3 जाति के परिवर्तनशील प्रतिमान
- 3.3.4 जाति व्यवस्था – तीन परिप्रेक्ष्य

3.4 सामाजिक प्रक्रियाएं
- 3.4.1 सामाजिक प्रक्रियाओं की प्रकृति, प्रतियोगिता एवं संघर्ष
- 3.4.2 प्रतियोगिता
- 3.4.3 संघर्ष
- 3.4.4 समाजीकरण
- 3.4.5 सामाजिक नियंत्रण

3.5 सामाजिक परिवर्तन और सामाजिक आंदोलन
- 3.5.1 सामाजिक आंदोलन का परिचय और सामाजिक परिवर्तन
- 3.5.2 सामाजिक परिवर्तन का परिचय, प्रवृत्तियां और प्रतिमान
- 3.5.3 सामाजिक आंदोलनों की उत्पत्ति
- 3.5.4 सामूहिक लामबंदी
- 3.5.5 संगठन और नेतृत्व
- 3.5.6 सामाजिक प्रभाव और परिवर्तन
- 3.5.7 प्रणाली संबंधी एक पद्धतिगत प्रश्न

3.6 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
3.7 सारांश
3.8 मुख्य शब्दावली
3.9 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
3.10 सहायक पाठ्य सामग्री

**इकाई 4 भारतीय सामाजिक समस्याएं** **335–442**

4.0 परिचय
4.1 उद्देश्य
4.2 सामाजिक समस्या एवं सामाजिक विघटन
  4.2.1 सामाजिक समस्याएं
  4.2.2 सामाजिक विघटन की अवधारणा
  4.2.3 भारत में सामाजिक विघटन
4.3 सामाजिक विचलन एवं अपराध की अवधारणा
  4.3.1 सामाजिक विचलन
  4.3.2 विचलन एवं अपराध के शारीरिक/क्रियात्मक एवं मनोवैज्ञानिक सिद्धांत
  4.3.3 विचलन के संरचनात्मक एवं उपसांस्कृतिक सिद्धांत
  4.3.4 विचलन और आधिकारिक आंकड़े
  4.3.5 जातिवाद के कारण अपराध और विचलन का उभार/उदय
  4.3.6 साम्प्रदायिकता, धर्मनिरपेक्षता तथा क्षेत्रीयकरण
  4.3.7 साम्प्रदायिकता की अवधारणा
  4.3.8 साम्प्रदायिक हिंसा की अवधारणा
4.4 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
4.5 सारांश
4.6 मुख्य शब्दावली
4.7 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
4.8 सहायक पाठ्य सामग्री

**इकाई 5 सामाजिक समस्याएं** **443–500**

5.0 परिचय
5.1 उद्देश्य
5.2 सामाजिक समस्याएं : बाल अपराध, नशाखोरी, वेश्यावृत्ति और युवा अशांति
  5.2.1 बाल अपराध
  5.2.2 नशाखोरी
  5.2.3 वेश्यावृत्ति और युवा असंतोष एवं आक्रोश
5.3 समाज में हिंसा : परिचय, महिला हिंसा, बाल हिंसा एवं यौन उत्पीड़न के कारण
  5.3.1 महिलाओं के विरुद्ध हिंसा की प्रकृति, स्वरूप एवं विशेषताएं
  5.3.2 महिला हिंसा
  5.3.3 बाल हिंसा
  5.3.4 बाल यौन शोषण और यौन उत्पीड़न
  5.3.5 यौन उत्पीड़न के कारण
5.4 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
5.5 सारांश
5.6 मुख्य शब्दावली
5.7 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
5.8 सहायक पाठ्य सामग्री

# परिचय

टिप्पणी

प्रस्तुत पुस्तक 'भारतीय सामाजिक संरचना और सामाजिक समस्याएं' का लेखन एम. एस.डब्ल्यू. पूर्वार्द्ध के निर्धारित पाठ्यक्रम के अनुरूप किया गया है।

भारतीय समाज विश्व के सबसे जटिल समाजों में से एक है। इसमें धर्म, जाति, भाषा, नस्ल, क्रिया–व्यापार, भू–भाग संबंधी तमाम विविधताएं हैं। तदनुरूप अलग–अलग संस्कृतियां और लोक–व्यवहार हैं। जिस प्रकार हमारे शरीर का निर्माण विविध अंगों से होता है, उसी प्रकार समाज का निर्माण भी विविध घटकों से होता है। संरचना अर्थात निर्माण। किसी भी समाज के विनिर्माण में मूलतः तीन तत्व मौजूद रहते हैं : मानव समूह, संस्थात्मक प्रतिमान जिनके कारण समूह के सदस्य परस्पर अंतर्संबंधित होते हैं, इन अंतर्संबंधों का संगठनात्मक स्वरूप। भारतीय समाज विविध जातियों, जनजातियों, धर्मों, कृषकों, ग्रामीणों, शहरियों का समाज है। तमाम विविधताओं के बावजूद एकता भारतीय समाज की विशिष्टता है, लेकिन विविधताओं से संदर्भित वर्गों की जटिल समस्याएं भी हैं। ये समस्याएं ही भारतीय समाज की समस्याएं हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में भारतीय समाज की संरचना और सामाजिक समस्याओं का सांगोपांग अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। विषय–विश्लेषण से पहले प्रत्येक अध्याय के आरंभ में विषय का परिचय और उद्देश्य प्रस्तुत किया गया है। विद्यार्थियों के स्व–मूल्यांकन हेतु 'अपनी प्रगति जांचिए' कॉलम के तहत अध्यायों के बीच–बीच में वैकल्पिक प्रश्न भी दिए गए हैं। समूचे पाठ्यक्रम को अध्ययन की सुविधा के लिए पांच इकाइयों में समायोजित किया गया है। इन इकाइयों का विवरण इस प्रकार है–

पहली इकाई भारतीय सामाजिक संरचना पर आधारित है। इसमें जातीय, जनजातीय, ग्रामीण, नगरीय संरचना पर प्रकाश डालते हुए समाज शास्त्र के क्षेत्र, मानव समाज की प्रकृति, सामाजिक अध्ययन के दृष्टिकोण, मानव तथा पशु समाज आदि की विवेचना की गई है।

दूसरी इकाई 'संस्कृति और समाज' में मानदंड प्रणाली के रूप में संस्कृति, संस्कृति की संरचना, पर–संस्कृति ग्राह्यता, सांस्कृतिक सापेक्षवाद, वास्तविक एवं आदर्श संस्कृति सरीखे विषयों पर विचार करते हुए संस्कृति एवं मानव समायोजन को समझाया गया है।

तीसरी इकाई सामाजिक संरचना और सामाजिक स्तरीकरण से हमें परिचित कराती है। इसमें सामाजिक स्तरीकरण का प्रकार्यात्मक परिप्रेक्ष्य, मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य, वेबेरियन परिप्रेक्ष्य को स्पष्ट करते हुए सामाजिक प्रक्रियाओं की विवेचना की गई है। सामाजिक आंदोलन एवं सामाजिक परिवर्तन पर भी इस इकाई में प्रकाश डाला गया है।

चौथी इकाई सामाजिक समस्याओं के विश्लेषण पर आधारित है। इसमें सामाजिक विघटन, सामाजिक विचलन, सांप्रदायिकता, धर्म निरपेक्षता, क्षेत्रीयता तथा साम्प्रदायिक हिंसा जैसे पहलुओं की मीमांसा की गई है।

पांचवीं इकाई बाल अपराध, नशाखोरी, वेश्यावृत्ति जैसी सामाजिक समस्याओं पर प्रकाश डालती है। इसमें महिलाओं व बच्चों के विरुद्ध हिंसा एवं यौन शोषण जैसी समस्याओं का विश्लेषण भी किया गया है।

टिप्पणी

इस प्रकार प्रस्तुत पुस्तक में पाठ्यक्रम में निर्धारित सभी विषयों का स्तरीय रेखांकन किया गया है। भाषा की सहजता, सरलता एवं ग्राह्यता का ध्यान रखा गया है। हमें विश्वास है कि यह पुस्तक अध्येताओं का ज्ञानवर्धन एवं मार्गदर्शन करने में सहायक सिद्ध होगी।

# इकाई 1 भारतीय सामाजिक संरचना और समाज के प्रमुख घटक

टिप्पणी

## संरचना

1.0 परिचय
1.1 उद्देश्य
1.2 भारतीय सामाजिक संरचना
  1.2.1 जातीय सामाजिक संरचना
  1.2.2 जनजातीय सामाजिक संरचना
  1.2.3 ग्रामीण सामाजिक संरचना
  1.2.4 परिवार एवं नातेदारी
  1.2.5 कृषक वर्ग एवं ग्रामीण अवस्थिति
  1.2.6 नगरीय सामाजिक संरचना
1.3 समाजशास्त्र का क्षेत्र
  1.3.1 समाजशास्त्र का अध्ययन–क्षेत्र : स्वरूपात्मक एवं समन्वयात्मक संकल्पना
  1.3.2 समाजशास्त्र का अन्य सामाजिक विज्ञानों से अंतर्संबंध
1.4 मानव समाज की प्रकृति
  1.4.1 मानव समाज : अर्थ, प्रकृति एवं विशेषताएं
  1.4.2 समाज के निर्माण के प्रमुख घटक एवं सिद्धांत
1.5 सामाजिक अध्ययन के दृष्टिकोण
  1.5.1 सामाजिक अध्ययन : स्वरूप एवं अभिवृद्धि
  1.5.2 सामाजिक अध्ययन की प्रविधियां
  1.5.3 समाज के अध्ययन हेतु पहला दृष्टांत : कार्यात्मक दृष्टिकोण
  1.5.4 भारतीय समाज के अध्ययन में प्रकार्यात्मक परिप्रेक्ष्य का प्रयोग
1.6 मानव बनाम पशु समाज
1.7 संस्कृति की भूमिका
1.8 समाज के घटक
  1.8.1 समुदाय
  1.8.2 समूह
  1.8.3 संस्थान
  1.8.4 सामाजिक समूह
1.9 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
1.10 सारांश
1.11 मुख्य शब्दावली
1.12 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
1.13 सहायक पाठ्य सामग्री

## 1.0 परिचय

भौगोलिक बनावट, जलवायु, जनसंख्या, प्रजाति, धर्म, इतिहास, राजनीति, भाषा, संस्कृति एवं समाज व्यवस्था की दृष्टि से भारत के विभिन्न भागों में अनेक विषमताएं पाई जाती हैं। इन विभिन्नताओं के बावजूद विभिन्न लोगों, जातियों एवं समुदायों के मध्य एक अनोखी समानता एवं एकता भारत में सदैव विद्यमान रही है। भारत के उत्तर में हिमालय, दक्षिण में पठार एवं समुद्र तट, पश्चिम में रेगिस्तान, पूर्व में पहाड़ी भाग एवं

मध्य में मैदानी भाग ने यहां की सामाजिक–आर्थिक एवं राजनीतिक व्यवस्था एवं संस्कृति को प्रभावित किया है।

टिप्पणी

पहाड़ी, मैदानी, पठारी एवं समुद्रतटीय क्षेत्रों के निवासियों के खान–पान, पहनावे, भाषा, रहन–सहन, प्रथाओं, त्योहारों एवं उत्सवों में विभिन्नता पाई जाती है। इसके बावजूद भारत एक संगठित इकाई एवं राष्ट्र है और यही इसकी विशेषता भी है। भारतीय संविधान में भी इस एकता को बनाये रखने का आश्वासन दिया गया है और सभी धर्मों, भाषाओं, प्रान्तों, जातियों एवं प्रजातियों के लोगों के हितों की रक्षा करने एवं देश के पिछड़े, दुर्बल एवं निर्धन लोगों के लिए कल्याणकारी योजनाएं बनाने व लागू करने का भरसक प्रयास किया गया है। भारतवर्ष में विविधता के साथ–साथ सांस्कृतिक एकता तथा भारतीय सामाजिक व्यवस्था के आधार में समानता है।

प्रस्तुत इकाई में हम भारतीय सामाजिक संरचना की विवेचना करते हुए समाजशास्त्र के क्षेत्र, मानव समाज की प्रकृति, सामाजिक अध्ययन के दृष्टिकोण, मानव बनाम पशु समाज और संस्कृति की भूमिका पर विचार करेंगे।

## 1.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- भारतीय सामाजिक संरचना को समझ पाएंगे;
- समाजशास्त्र के क्षेत्र एवं मानव समाज की प्रकृति से अवगत हो पाएंगे;
- समाज के अध्ययन संबंधी विविध दृष्टिकोणों से परिचित हो पाएंगे;
- मानव बनाम पशु समाज को समझते हुए संस्कृति की भूमिका स्पष्ट कर पाएंगे।

## 1.2 भारतीय सामाजिक संरचना

समाज व्यक्ति से बनता है। व्यक्ति समाज की प्राथमिक इकाई है। परिवार, समुदाय, समाज का केंद्र व्यक्ति ही है। भारत में व्यक्ति की पहचान जातियों से होती है। भारतीय समाज से संदर्भित दूसरा अहम तथ्य यह है कि भारत गांवों में बसता है। किसी भी समाज की संरचना में परिवार, जातीय समूह, कृषि, ग्रामीण एवं नगरीय जीवन आदि सभी का आधारभूत स्थान होता है। भारतीय सामाजिक संरचना को इसके निम्नांकित मूलभूत पहलुओं के अवलोकन से समझा जा सकता है–

### 1.2.1 जातीय सामाजिक संरचना

एक अत्यंत ही विशिष्ट प्रकार का सामाजिक समूहीकरण (Grouping) जो भारत में पाया जाता है, वह जाति–समूह है। यदि भारतीय समाज का अध्येता सामाजिक समूहीकरण की इस विविधता का गहराई तथा सतर्कता से अध्ययन नहीं करे तो वह उस समाज के वास्तविक मूलतत्व को ही खो देगा। भारत में जाति किसी भी व्यक्ति के कार्य, परिस्थिति तथा उपलबध अवसरों के साथ ही साथ उसकी कठिनाइयों को भी निर्धारित करती है। जाति–भेद ग्रामीण क्षेत्र में लोगों के पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन प्रणालियों उनके निवास–स्थानों तथा सांस्कृतिक प्रतिमानों के प्रकारों में विभेद भी निश्चित करता है। भूमि का स्वामित्व भी प्रायः जाति पर आधारित होता है। अनेकानेक

टिप्पणी

कारणों से प्रशासकीय कार्य भी विशेषतः ग्रामीण क्षेत्रों में जातियों के अनुसार ही विभाजित होते हैं। इसके अतिरिक्त जाति ने लोगों के जटिल, धार्मिक तथा लौकिक संस्कृति के प्रतिमान को भी निर्धारित किया है। इसने विभिन्न सामाजिक समूहों की मनोवृत्ति निश्चित की है और सामाजिक दूरी (Social distance) तथा उच्च–निम्न संबंधों के सूक्ष्म क्रमबद्ध स्तर स्थापित किए हैं। सामाजिक संरचना विशाल श्रेणियों में विभक्त स्तूप (Pyramid) की भांति दृष्टिगोचर होती है जिसका आधार–स्थल अछूतपन–समूह है और जिसकी चोटी का छोटा सा श्रेष्ठ स्तर ब्राह्मण लोग हैं। हिंदू समाज में ऐसे सैकड़ों विशिष्ट आत्म–निर्भर जातीय समूह बने हुए हैं जो एक–दूसरे के ऊपर लकड़ियों की भांति चिने हुए हैं।

## जातीय समूह

मनुष्यों के जीवन में जातीय समूह का बहुत महत्व है। संसार के सभी निवासी नस्ल की दृष्टि से एक नहीं हैं। नस्ल की धारणा सर्वथा निराधार है, क्योंकि मनुष्य किन्हीं ऐसे वर्गों में विभक्त नहीं है, नस्ल के आधार पर जिनका सुनिश्चित रूप से निर्धारण किया जा सके। इसीलिए अनेक विद्वानों ने यह सुझाव दिया है कि नस्ल शब्द के प्रयोग पर प्रतिबन्ध लगा देना चाहिए। उसके स्थान पर जातीय या नृवंशीय (Ethnic) समूह शब्द का प्रयोग करना अधिक उचित होगा।

हक्सले के अनुसार, ''यह अत्यधिक वांछनीय है कि हम मानव मामलों का विचार–विमर्श करते हुए नस्ल जैसी सन्देहास्पद व प्रश्नात्मक संज्ञा का बहिष्कार कर दें और उनके स्थान पर जातीय समूह जैसे शब्द का प्रयोग किया करें।''

निःसन्देह ऐसा करना उचित होगा, क्योंकि नस्लों के भेद का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है। इसके विपरीत जातीय समूहों की स्पष्ट रूप से सत्ता है। कोई भी देश ऐसा नहीं है, जिसमें नृवंशीय या जातीय समूहों का अस्तित्व न हो। अमेरिका में जहां गौरांग और नीग्रो लोगों में भेद है, वहीं यूरोप के विभिन्न देशों से जाकर बसे हुए लोग भी जातीय समूहों के रूप में अपनी पृथक सत्ता रखते हैं। अमेरिकन यहूदी, अमेरिकन पोल, अमेरिकन आयरिश आदि सब पृथक–पृथक जातीय समूह हैं, जिनकी भिन्नता का आधार नस्ल न होकर नृवंशीय ही है। भारत में पारसी लोगों का इसी प्रकार का एक पृथक समूह है और एंग्लो–भारतीयों का पृथक्।

मैकाइवर और पेज ने जातीय समूह के अभिप्राय को इस प्रकार स्पष्ट किया है कि–''जातीय समूह को सामान्यतया इस रूप में निर्धारित किया जाता है कि उसके सदस्यों में एक विशिष्ट प्रकार की सामाजिक व सांस्कृतिक परम्पराएं हों–ऐसी परम्पराएं जो इस समूह में एक सन्तति से दूसरी सन्तति तक कायम रहें, फिर चाहे इस समूह की सत्ता एक जटिल समाज के अंगरूप से हो या उससे पृथक रूप से।''

भारत के विभाजन के बाद जो मुसलमान भारत में रह रहे गए हैं, या जो हिन्दू पाकिस्तान में रह गए हैं, उनके द्वारा भी पृथक जातीय समूहों का निर्माण हो गया है। यूरोप में जहां कहीं भी यहूदी लोगों का निवास है, उनके पृथक जातीय समूह बने हुए हैं। राज्यों में जिन लोगों को अल्पसंख्यक जातियां कहा जाता है, वे सब पृथक जातीय समूह ही होते हैं। जातीय समूहों के अनेक आधार हो सकते हैं, धर्म का भेद, भाषा का भेद, वंशानुक्रमण का भेद, संस्कृति का भेद आदि। जिस जन–समूह में एक विशिष्ट व

टिप्पणी

पृथक प्रकार की सामाजिक व सांस्कृतिक परम्पराएं हों और ये परम्पराएं उनमें पर्याप्त रूप से स्थायी हों–उसे एक पृथक जातीय समूह कहा जा सकता है।

वर्तमान समय में कोई भी जनसमूह यह दावा नहीं कर सकता कि उसका निर्माण विशुद्ध रूप से नस्ल के आधार पर हुआ है। इसका कारण यह है कि किसी भी जनसमूह में ऐसी प्राणीशास्त्रीय विशेषताएं नहीं पायी जाती हैं, जिन्हें नस्ल के शुद्ध रूप का परिणाम कहा जा सके। हां, विभिन्न मनुष्यों में अनेकविध शारीरिक, मानसिक व सांस्कृतिक विशेषताओं की सत्ता अवश्य पायी जाती है और इन विशेषताओं के आधार पर उनमें अपने पृथक होने की चेतना भी विद्यमान है। पर इन जनसमूहों को नस्ल पर आधारित समूह न कह कर जातीय समूह कहना अधिक उपयुक्त होगा, क्योंकि इनका निर्माण अनेकविध विशेषताओं के कारण हुआ है। यह सही है कि इन समूहों के निर्माण में वंशानुक्रम का भी महत्वपूर्ण भाग है, और वंशक्रम द्वारा ही इनमें सामाजिक व सांस्कृतिक परम्पराओं की एकता कायम रह सकी है। पर क्योंकि इनका आधार विशुद्ध नस्ल है ही नहीं, अतः इन्हें जातीय समूह कहना ही उपयुक्त है।

जातीय समूहों में सम्भवतः राष्ट्रीयता सबसे अधिक विशाल है। जो व्यक्ति एक राष्ट्रीयता के अंग होते हैं, उनकी सामाजिक व सांस्कृतिक परम्पराएं समान होती हैं और उनमें अपने को एक समझने का विचार विद्यमान रहता है। जिस भावना के कारण पहले मनुष्य टोलियों या कबीलों में संगठित थे, वही आजकल की राष्ट्रीयताओं के आधार में भी काम करती है। मनुष्यों में सदा से यह प्रवृत्ति रही है कि जिन लोगों की भाषा, धर्म, रीति–रिवाज और परम्पराएं एक हों, वे परस्पर मिलकर एक समूह में संगठित होकर रहें। जातीय समूह में जनसमूह के सभी सदस्य कतिपय बंधनों से सम्बद्ध होते हैं, उनमें परस्पर एक होने की भावना हो, उनकी संस्कृति एक हो, और वे एक सी ही परम्पराओं का अनुसरण करते हों।

भाषा, धर्म, भौगोलिक एकता आदि जिन विशेषताओं के कारण विविध जातीय समूहों में एकानुभूति विकसित होती है, उन पर विचार करने की आवश्यकता है।

(1) **भाषा की एकता**– जातीय समूहों के विकास के लिए भाषा एक महत्वपूर्ण तत्व है। भाषा ही एक ऐसा साधन है, जिसके द्वारा सभी मनुष्य अपने भावों व विचारों को प्रकट करते हैं। जिस प्रकार पहाड़, समुद्र आदि मनुष्यों के परस्पर सम्पर्क में आने में रुकावट उत्पन्न करते हैं, वैसे ही भाषा की भिन्नता मनुष्यों में पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करने में बाधक होती है। भाषा द्वारा ही मनुष्यों में घनिष्ठता स्थापित होती है। संगीत, काव्य तथा साहित्य द्वारा जातीय समूहों की विशेषताएं प्रतिबिम्बित होती हैं।

(2) **धर्म की एकता**– मनुष्यों को एक–दूसरे के समीप लाने में धर्म का भी बहुत महत्व होता है, जो लोग एक ढंग से विभिन्न देवी–देवताओं या एक परमेश्वर की पूजा करें, एक प्रकार के विधि विधानों का अनुष्ठान करें, एक सदृश धार्मिक विश्वास रखें और जिनके तीर्थ, संत व पीर आदि एक हों, उनमें परस्पर एक होने की अनुभूति उत्पन्न हो जाना सर्वथा स्वाभाविक है।

(3) **भौगोलिक एकता**– जो लोग किसी एक ही भू–भाग में एक साथ निवास करते हैं, उनमें धीरे–धीरे परस्पर सम्बन्ध बढ़ता जाता है और अपने को वे एक समझने लगते हैं।

टिप्पणी

(4) **संस्कृति और ऐतिहासिक परम्परा की एकता**– जिन जनसमूहों की संस्कृति, रीति–रिवाज व ऐतिहासिक परम्परा एक हो, वे भी जातीय एकता का अनुभव करते हैं। सम्भवतः आधुनिक समय में इसका महत्व बहुत बढ़ गया है। काव्य, कला, संगीत, साहित्य, भाषा व धर्म ये सब संस्कृति के अंग हैं और जातीय समूहों के विकास में सहायक होते हैं।

(5) **राजनीतिक आकांक्षाओं की एकता**– जिन लोगों की भाषा, धर्म व संस्कृति आदि में एकता होती है वे स्वाभाविक रूप से सरकार से यह आकांक्षा रखते हैं कि उनके जातीय हितों को भी मान्यता प्रदान की जाए तथा उनके अधिकारों का प्रतिपादन किया जाए।

जातीय समूह अनेक प्रकार के होते हैं। सम्भवतः कुल सबसे छोटा जातीय समूह है तथा राष्ट्रीयता सबसे बड़ा। इनके बीच में बहुत से अन्य जातीय समूह हैं, जिनके सदस्य एक विशिष्ट प्रकार की सामाजिक व सांस्कृतिक परम्परा रखने के कारण परस्पर एक होने की भावना रखते हैं। भारत की जात–बिरादरियां एक प्रकार के जातीय समूह ही हैं। यह भी निर्दिष्ट किया जाता है कि जाति और नस्ल में घनिष्ठ सम्बन्ध है। जातियों के निर्माण में वंशक्रम का महत्वपूर्ण स्थान है और वंशक्रम द्वारा ही इनमें सामाजिक व सांस्कृतिक परम्पराओं की एकता कायम रह सकी है।

## 1.2.2 जनजातीय सामाजिक संरचना

जनजातियों के लिए 'आदिवासी' अथवा 'दलित वर्ग' जैसे शब्दों का प्रयोग किया जाता था परन्तु 1941 ई. के पश्चात इनके लिए जनजाति एवं अनुसूचित जनजाति शब्दों का प्रयोग किया जाने लगा है। जनजाति व्यक्तियों का वह समूह है जो निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में निवास या विचरण करता है और किसी आदि पूर्वज से अपना उद्‌गम मानता है। एक सामान्य संस्कृति है जो आज भी आधुनिक सभ्यता के प्रभावों से सापेक्षित रूप से वंचित है।

### जनजाति : अर्थ, परिभाषाएं एवं विशेषताएं

जनजाति का अर्थ सामान्यतया ऐसे लोगों से है जो निश्चित भू–भाग पर निवास करते हैं तथा विकास की दृष्टि से काफी पिछड़े हुए होते हैं। इनके निवास स्थान सामान्यतया पहाड़ी या पठारी क्षेत्र होते हैं। इनके अपने रीति–रिवाज होते हैं जो ग्रामीण एवं नगरीय क्षेत्रों में रहने वाले लोगों से काफी सीमा तक भिन्न होते हैं। इसे हम ऐसा क्षेत्रीय समूह कह सकते हैं जो सामान्य भाषा, सामाजिक नियमों एवं आर्थिक कार्यों इत्यादि में समानता के आधार पर एक सूत्र में बंधा हुआ है। अन्य शब्दों में यह कहा जा सकता है कि जनजाति ऐसे लोगों का समूह है जो किसी निश्चित भू–भाग (जंगल या पहाड़) पर निवास करते हैं, जिनकी संस्कृति एक होती है तथा जो आज भी आर्थिक दृष्टि से काफी पिछड़े हुए हैं।

इम्पीरियल गजेटियर (Imperial Gazetteer) में जनजाति को परिभाषित करते हुए कहा गया है, ''जनजाति परिवारों का वह संकलन है जिसका अपना एक सामान्य नाम होता है, जो सामान्य भाषा बोलता है, जो सामान्य प्रदेश में रहता है या रहने का दावा करता है और सामान्यतया अन्तर्विवादी होता है, भले ही आरम्भ में ऐसा न करता रहा हो।''

टिप्पणी

यह परिभाषा जनजाति को अत्यंत सामान्य रूप से प्रतिपादित करती है। ऐसी ही परिभाषा ऑक्सफोर्ड शब्दकोश में इन शब्दों में दी गई है, ''जनजाति विकास के आदिम अथवा बर्बर आचरण में लोगों का एक समूह है जो एक मुखिया की सत्ता को स्वीकार करता है तथा सामान्यतया अपना एक समान पूर्वज मानता है।''

दोनों परिभाषाओं में जनजाति के जो लक्षण बताये गये हैं वे जाति में स्पष्टतः देखे जा सकते हैं। अतः उक्त दोनों परिभाषाएं अधिक मान्य नहीं हैं। लूसी मेयर (Lucy Mair) जैसे विद्वानों ने जनजाति को समान संस्कृति वाली जनसंख्या का एक स्वतंत्र राजनीतिक विभाजन माना है। इस प्रकार की परिभाषा भी जनजाति का समग्र अर्थ स्पष्ट करने में सक्षम नहीं है।

## परिभाषाएं

कुछ प्रमुख विद्वानों ने जनजाति की परिभाषाएं निम्न प्रकार से दी हैं–

1. गिलिन एवं गिलिन के अनुसार, "स्थानीय आदिवासियों के किसी भी ऐसे समूह को हम जनजाति कहते हैं जो एक सामान्य क्षेत्र में निवास करता हो, एक सामान्य भाषा बोलता हो तथा सामान्य संस्कृति के अनुसार व्यवहार करता हो।"
2. मजूमदार के अनुसार, "एक जनजाति परिवारों अथवा परिवारों के समूहों का स्वरूप है जिसका एक सामान्य नाम होता है और जिसके सदस्य एक ही भू–क्षेत्र में निवास करते हैं, एक भाषा बोलते हैं और विवाह, वृत्ति या व्यवसाय संबंधी नियमों का पालन करते हैं तथा उनमें परस्पर आदान–प्रदान एवं दायित्वों की पारस्परिकता की एक सुनिश्चित व्यवस्था विकसित है।"
3. बोआस के अनुसार, "जनजाति से हमारा तात्पर्य अपनी सीमित आवश्यकताओं के कारण आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर व्यक्तियों के ऐसे समूह से है जो सामान्य भाषा बोलते हों तथा बाहरी आक्रमणों से अपनी रक्षा के लिए संगठित हों।"
4. जैकब्स तथा स्टर्न का मत है कि "एक ऐसा ग्रामीण समुदाय या ग्रामीण समुदायों का समूह जिसकी समान भूमि हो, समान संस्कृति हो, समान भाषा हो और व्यक्तियों का जीवन आर्थिक दृष्टि से एक–दूसरे के साथ ओत–प्रोत हो, जनजाति कहलाता है।"

भारत में जनजाति, जाति, सम्प्रदाय, प्रजाति, वर्ग आदि अनेक प्रकार के सामाजिक समूह पाये जाते हैं। इनमें जनजाति का आदिम समुदायों में तथा जाति का हिन्दू समाज में प्रमुख स्थान है। जाति एवं जनजाति शब्द को अनेक विद्वानों ने पर्यायवाची शब्द के रूप में प्रयोग किया है। परिणामस्वरूप अनेक जनजातियों को जातियां तथा अनेक जातियों को जनजातियां बता दिया गया है। रिवर्स (Rivers) ने क्षेत्रीय आवास को जनजाति का प्रमुख लक्षण नहीं माना है। पैरी (Parry) ने इस विशेषता पर विशेष जोर दिया है और कहा है कि घुमन्तू जनजातियां भी एक निश्चित क्षेत्र के अंतर्गत ही घूमती रहती हैं। रेडक्लिफ–ब्राउन (Radcliff-Brown) ने ऑस्ट्रेलियाई जनजातियों के विभिन्न वर्गों के बीच आपसी लड़ाई के उदाहरण भी दिये हैं।

## जनजाति की विशेषताएं

टिप्पणी

जनजाति में निम्न विशेषताएं दृष्टिगोचर होती हैं–

1. **सामूहिक भावना**– जनजाति के लोग अपने समूचे कुटुम्ब को एक ही पूर्वज की सन्तान मानते हैं। इसीलिए उनकी संस्कृति, सभ्यता, बोलचाल तथा व्यवहार भी एक समान होते हैं। जनजाति के लोग एक–दूसरे से सम्बन्धित होने के कारण पारस्परिक मेल–जोल से कार्य करते हैं।
2. **मूर्ति–पूजा**– जनजाति मूर्ति पूजा में विश्वास रखती है। अपने देवी–देवताओं की मूर्तियां बनाकर ये लोग पूजते हैं। जनजाति में इस प्रकार की पूजा में विशेष आस्था दिखाई देती है। इस प्रकार की पूजा प्रत्येक जनजाति के सदस्य का कर्तव्य माना जाता है।
3. **टोटम तथा निषेध**– टोटम किसी मानवेतर प्राणी का प्रतीक चिह्न होता है। उस प्राणी का, जिसे वे अपना कुल देवता मानते हैं। उसी तरह जिस तरह कुछ पशु–पक्षियों को देवी–देवता का वाहन माना गया है। जनजाति के प्रत्येक गोत्र किसी पशु या पक्षी या पेड़–पौधे से सम्बन्धित हैं। टोटम को मारने या खाने का निषेध है। इसकी पूजा की जाती है। उदाहरणार्थ–कुछ 'बिरहोर' गिद्ध को अपना टोटम मानते हैं। 'गोरैया गोत्र' के बिरहोर यह मानते हैं कि उनके पूर्वजों का जन्म गोरैया के डैने नीचे हुआ। 'मुण्डा' भिन्न–भिन्न 'किलियों' में विभक्त हैं। प्रत्येक का अलग–अलग टोटम होता है। उरांव में 'कुजुर वन्शी' कुजुर पौधे को टोटम मानते हैं। 'कछुआ वंशी' उरांव कछुए को नहीं मारते वरन् उसकी पूजा करते हैं। खरिया में 'करकेता' 'टोपा', बकिये' 'सेरेंग' आदि टोटम हैं।
4. **निश्चित भू–भाग व भाषा**– प्रत्येक जनजाति का एक निश्चित भू–भाग होता है जिसके अंतर्गत वह जनजाति निवास करती है। इसी तरह प्रत्येक जनजाति का अपना एक विशिष्ट नाम तथा उसकी विशिष्ट भाषा होती है।
5. **नेता का नियंत्रण**– प्रत्येक जाति का अपना एक नेता होता है। नेता को ही जनजाति के ऊपर नियंत्रण करने का पूर्ण अधिकार होता है। नेता अपनी जनजाति के सदस्यों को पूर्णरूप से संगठित करता है। इस नेता के नेतृत्व में जनजाति का राजनीतिक संगठन होता है। इसी संगठन के द्वारा जनजाति अपने जन–समूह को नियंत्रित रखती है।
6. **आर्थिक निर्भरता**– जनजाति को एक आत्म–निर्भर समूह माना गया है क्योंकि जनजाति के सभी सदस्य अपने दैनिक प्रयोग में आने वाली सभी वस्तुओं का निर्माण स्वयं ही करते हैं। ये अपनी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं ही करते हैं।
7. **जादू–टोना**– प्रायः सभी जनजातियां जादू–टोना में विश्वास करती हैं। जो जादूगर दूसरों की भलाई के लिए कार्य करते हैं वे 'देआरो' कहलाते हैं। जनजाति के लोग मानते हैं कि जितने भी अकाल या विपत्तियां आती हैं, उनका कारण जादू ही है। सन्थाल किसी बिमारी या कष्ट को जादू–टोने का ही परिणाम मानते हैं। कुछ मंत्रों की सहायता से जादू–टोने के प्रभाव को कम करने का प्रयास किया जाता है।

टिप्पणी

8. **अन्तर्विवाही जन–समूह**– जनजाति एक अन्तर्विवाह समूह होता है। दूसरे शब्दों में जनजाति के सदस्य अपनी जनजाति के बाहर विवाह नहीं कर सकते। इसी आधार पर बोआस ने कहा है ''जनजाति अन्तर्विवाह की नीति पर आधारित एक ऐसा सामाजिक व राजनीतिक समूह है जिसके सदस्य सामान्य भू–भाग, भाषा, संस्कृति, जीवन–स्तर, धर्म, व्यवसाय तथा वंश–परम्परा के आधार पर समानता की भावना द्वारा बंधे होते हैं।"
9. **विशिष्ट नाम**– प्रत्येक जनजाति का एक विशिष्ट नाम होता है और वह उसी नाम से जानी जाती है, जैसे–संथाल, गारो, धारु, खासी आदि।
10. **नियम**– जनजाति के लोगों का सामाजिक जीवन परम्परागत नियमों से संचालित होता है।

## जनजातीयपन के सूचक

श्यामाचरण दुबे ने लिखा है कि भारतीय संदर्भ में जनजाति की कोई निश्चित एवं संतोषजनक परिभाषा नहीं दी गई है। उन्होंने कुछ उन सूचकों का वर्णन किया है जिनके आधार पर जनजातीय लोगों को भारत के अन्य लोगों से भिन्न किया जा सकता है। जनजातीयता की पहचान करने वाले सूचकांक निम्नलिखित हैं–

- वे भारत भूमि के सबसे पुराने निवासी हैं। इसलिए विशिष्ट क्षेत्र में उनकी जड़ें बहुत पुरानी व गहरी हैं।
- वे घने जंगलों और पहाड़ों में अपेक्षाकृत पृथक जीवन व्यतीत करते हैं। कुछ जनजातियों का यह पृथक्य खत्म हुआ है, लेकिन कुछ अब भी शेष जनसंख्या से अलग–अलग हैं।
- उनका ऐतिहासिक ज्ञान उथला है। पांच या छह पीढ़ियों से पहले का इतिहास पौराणिक कथाओं के रूप में उन्हें याद है।
- उनके प्रौद्योगिक एवं आर्थिक विकास का स्तर निम्न है।
- अपने सांस्कृतिक पहलू, भाषा, संस्थाएं, विश्वास और प्रथाओं के आधार पर वे समाज के अन्य लोगों से स्पष्टतः अलग दिखाई देते हैं।

श्यामाचरण दुबे ने स्वीकार किया है कि ये सूचक अपरिष्कृत ही हैं, परन्तु इनका न्यूनाधिक संयोग जनजातीयपन को स्पष्ट कर देता है। उन्होंने यह भी बताया है कि आज अनुसूचित जनजातियों के रूप में वैधानिक दृष्टि से इन्हें सूचीबद्ध किया गया है, परन्तु यह सूचीकरण एक राजनीतिक तथ्य है, न कि मानवशास्त्रीय। इस भांति, भारतीय समाज बहुजातीय, बहुधर्मीय तथा बहुजनजातीय है।

इरावती कर्वे ने भारतीय समाज की उपमा उस रंग–बिरंगी गुदड़ी से की है जिसे विभिन्न स्रोतों से कपड़े के टुकड़ों को लेकर एक साथ सी दिया गया है। कोई टुकड़ा किसी चादर से लिया गया है, तो कोई किसी कमीज से, तो कोई किसी चोली से। भारतीय समाज के इन संघटकों के न केवल स्रोत अलग हैं, बल्कि समाज में उनके प्रवेश के काल भी भिन्न–भिन्न हैं।

जनजातियां समस्त भारत में विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों में निवास करती हैं। इनके आवासीय क्षेत्रों की दृष्टि से जनजातीय क्षेत्र चार हिस्सों में बांटे गए हैं–उत्तर–पूर्वी क्षेत्र,

मध्य क्षेत्र, दक्षिणी क्षेत्र एवं पश्चिमी क्षेत्र। उत्तर पूर्वी क्षेत्र में सिक्किम की लपेचा जनजाति, असम की रामा, मेचा, काछारी एवं मिकिर जनजातियां; मेघालय की गारो और खासी जनजातियां; अरुणाचल की आका, दाफला एवं भीरी जनजातियां; नागालैण्ड की कोण्यक, रंगपात, रोमा, अंगामी, चंग और रेम जनजातियां प्रसिद्ध हैं। मध्य क्षेत्र में साबरा, गड़वा, बोण्डों, संथाल, उरांव, मुण्डा, बिरहोर, खुरिया, बैगा तथा बस्तर की मुरिया और माड़िया गोण्ड जनजातियां प्रसिद्ध हैं। दक्षिणी क्षेत्र की प्रसिद्ध जनजातियां चेचू, ओअ, कोटा, पनीयान, इरुला, कादर, माला आदि हैं। इसी क्षेत्र में अण्डमान–निकोबार द्वीपसमूह में निकोबारी, आंगख, जावरा जनजातियां हैं। स्पष्ट है कि सुदूर पहाड़ियों और जंगलों में बसी जनजातियों का भौगोलिक लगाव उनकी सांस्कृतिक विविधता के लिए भी उत्तरदायी है।

भारतीय जनजातियों की कुछ विशिष्टताओं को अग्रलिखित रूप से स्पष्ट किया जा सकता है–

- जनजाति के सभी सदस्य आपस में नातेदार तो नहीं होते अपितु प्रत्येक भारतीय जनजाति में नातेदारी प्रथा एक सशक्त संगठनात्मक, नियंत्रणात्मक एवं एकतात्मक सिद्धांत के रूप में क्रियाशील रहती है।
- जनजातियां अंतर्विवाही होती हैं और कुलों–उपकुलों में बंटी रहती हैं। कुल स्वजन समूह होने के नाते बहिर्विवाही होते हैं।
- सम्पत्ति का संयुक्त स्वामित्व जनजातियों में पाये जाने वाले स्वामित्व का एकमात्र रूप नहीं है, यद्यपि इसका प्रचलन कुछ जनजातियों में पाया जाता है।
- प्रत्येक जनजाति का एक आन्तरिक राजनीतिक संगठन होता है। यह विविध स्तरीय पंचायतों पर आधारित होता है।
- जनजातीय समाज में सामान्यतया स्कूली शिक्षा का अभाव पाया जाता है।
- जनजातियों में जन्म, विवाह एवं मृत्यु सम्बन्धी विशिष्ट प्रथाएं पाई जाती हैं जो हिन्दुओं और मुसलमानों से भिन्न होती हैं। इनका नैतिक विधान भी हिन्दुओं और मुसलमानों में भिन्न है।
- धार्मिक विश्वासों एवं कर्मकाण्डों की दृष्टि से भी जनजातियों की अपनी कुछ विशिष्टताएं होती हैं। ये विशिष्टताएं जनजातियों एवं निम्न जातियों के हिन्दुओं के बीच के अंतर तक बता सकती हैं।

## जनजातीय अध्ययन

जनजातीय अध्ययन की उत्पत्ति अधिक प्राचीन नहीं है। सर्वप्रथम इसका अध्ययन अंग्रेज विद्वानों द्वारा 18वीं शताब्दी में किया गया था। इस संदर्भ में हुए क्रमबद्ध अध्ययन का विवरण निम्न प्रकार है–

1. **एशियाटिक सोसाइटी**– ब्रिटिश काल में जब बिहार और बंगाल एक प्रांत था तब विलियम जोन्स के सभापतित्व में एक एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल का निर्माण हुआ। इसके तत्वाधान में इस प्रान्त के संस्कृति सम्बन्धी खोजपूर्ण लेख प्रकाशित होने लगे। सन् 1784 से 1884 के मध्य की अवधि में इस विषय से संबंधित सौ से अधिक लेख प्रकाशित हुए। उनमें से केवल तीन छोटे–छोटे लेख ही भारतीय विद्वानों द्वारा लिखे गये तथा शेष पाश्चात्य विद्वानों द्वारा लिखे गये।

टिप्पणी

विदेशी अध्ययनकर्ताओं के द्वारा किये जाने के कारण यह अध्ययन सहानुभूतिपूर्ण था। 'सोसाइटी' के इस 'जर्नल' में बिहार के आदिवासियों के बारे में पर्याप्त खोजपूर्ण विवरण है।

2. **टिकेल**– लेफ्टिनेंट टिकेल ने सर्वप्रथम 'हो' जनजाति पर कुछ लेख प्रकाशित कराए। उनके लेख 1840 से 1842 के मध्य प्रकाशित हुए।

3. **शेरवेल**– कर्नल शेरवेल ने 1851 में राजमहल की 'मालरे' या 'पहाडिया' जनजाति के बारे में प्रकाश डाला।

4. **डाल्टन**– डाल्टन ने अट्ठारह वर्षों तक (1857–1875) छोटा नागपुर के कमिश्नर के पद पर रहकर यहां के आदिवासियों के सम्बन्ध में यथेष्ठ जांच पड़ताल की और उनसे सम्बन्धित अनेक लेख प्रकाशित कराए। शासक पद पर नियुक्त रहते हुए अध्ययन किये जाने पर इनमें जनजातियों के गुणों का विवरण नहीं दिया जा सका।

5. **पादरी**– जनजातीय समाज में पादरियों ने धर्म प्रसारण के उद्देश्य से प्रवेश किया। वे आदिवासियों के सांस्कृतिक अध्ययन में रुचि लेने लगे थे। फादर ब्रहोन ने 'उराव' जनजाति पर तथा फादर हाफमैन ने 'मुण्डा' जनजाति की सांस्कृतिक समस्याओं पर विद्धतापूर्ण लेख इस सोसाइटी के पत्र में प्रकाशित कराए। इनमें जनजाति का मौलिक अध्ययन विद्यमान है। इस पत्र के अतिरिक्त 'कलकत्ता रिव्यू और इण्डियन एण्टीकेरी' का प्रकाशन डॉ. बर्गेल द्वारा 1872 में प्रारंभ हुआ था।

6. **बिहार–उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी**– जब बिहार बंगाल से पृथक हुआ तो 1915 में 'बिहार उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी' का निर्माण हुआ जिसके प्रथम सभापति एडवर्ड ग्रे हुए। इस पत्रिका में भी बिहार की जनजातियों से सम्बन्धी कुछ निबन्ध प्रकाशित हुए।

7. **मैन इन इंडिया**– रांची (बिहार) से शरतचन्द्र राय ने 1921 में ''मैन इन इण्डिया'' नामक पत्र का प्रकाशन प्रारंभ किया। इस महत्वपूर्ण त्रैमासिक शोध पत्रिका ने भारतीय नेतृत्ववेत्ता शरतचन्द्र की महत्वपूर्ण सेवा का स्मरण कराया। इस पत्र में बिरहोर की जाति तथा जनजाति सम्बन्धी लेख प्रकाशित हुए।

8. **बुचानन**– डॉ. बुचानन लिखित 'दि हिस्ट्री एण्टिक्वीटी, टोपोग्राफी एण्ड स्टीक ऑफ इस्टर्न इण्डिया' 1938 में प्रकाशित हुई थी। यह पुस्तक बिहार के दृष्टिकोण से विशेष उल्लेखनीय है। इस पुस्तक में उस समय के बिहार, पटना, शाहाबाद, भागलपुर, पूर्णिया इत्यादि जिलों का सविस्तार वर्णन है। डॉ. फ्रांसिस बुचानन इस कार्य के लिए ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा 1807 में ही नियुक्त किये गये थे। उन्होंने अनेक वर्षों की जांच पड़ताल के बाद 25 जिल्दों में विवरण लिखा। इनमें तीन का उपरोक्त नाम से 1838 में प्रकाशन से पूर्व वाल्टर हैमिल्टन द्वारा लिखित 'ए ज्योग्राफिकल, स्टैटीस्टिकल हिस्टोरिकल डिस्क्रीपशन्स ऑफ दी हिन्दुस्तान एण्ड ऐडजैसेंट कन्ट्रीज' (A Geographical statistical historical description of the hindustan and adjacent countries) ग्रन्थ दो जिल्दों में 1920 में प्रकाशित हुआ।

टिप्पणी

9. **कैम्बेल**– इसके बाद 'इथनोग्राफी' लिखने का युग आता है। कलकत्ता के न्यायाधीश श्री कैम्बेल ने 1854 में 'इथनोग्राफी ऑफ इण्डिया' और श्री आर.जी. लेथन ने 1856 में 'इथनोग्राफी ऑफ इण्डिया' प्रकाशित की। इसमें अन्य स्थानों के साथ–साथ बिहार की जनजातियों का भी वर्णन है।

10. **हर्बर्ट रिजले**– हर्बर्ट रिजले बंगाल सरकार द्वारा बंगाल की जातियों एवं जनजातियों का सांस्कृतिक एवं सामाजिक अध्ययन करने के लिए नियुक्त हुए। इन्होंने चार जिल्दों में 'ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स ऑफ बंगाल' (Tribes and Castes of Bangal) नामक पुस्तक लिखी जो 1891 ई. में सरकार द्वारा प्रकाशित हुई। रिजले की दूसरी पुस्तक 'पीपुल्स ऑफ इण्डिया' (People's of India) में भी बिहार की जनजातियों के सम्बन्ध में अनेक नवीन बातें लिखी हैं।

11. **मेजर गार्डन**– जनजातियों की सामाजिक व्यवस्था, धार्मिक विश्वास, वंशीय संगठन, रीति–रिवाज आदि का अध्ययन करने का श्रेय मेजर गार्डन ने भी लिया है। ये सुपरिन्टेन्डेन्ट ऑफ इथनोग्राफी के पद पर नियुक्त किये गये। उनके निरीक्षण में अनेक मोनोग्राफ लिखे गए।

12. **शरत चन्द्र**– शरत चन्द्र राय ने छोटा नागपुर की जनजातियों पर 'मोनोग्राफ' लिखा। उनका प्रथम मोनोग्राफ 'दि मुण्डा एण्ड दियर कण्ट्री' (The Munda and Their Country) 1912 में प्रकाशित हुआ। इस पुस्तक में मुण्डा जनजाति की उत्पत्ति एवं विकास का खोजपूर्ण विवरण है। राय की दूसरी पुस्तक 'दि उराव' 1915 में प्रकाशित हुई। आपकी अंतिम पुस्तक (1937 में प्रकाशित) खजिया जनजाति पर है। यह पुस्तक दो भागों (Volumes) में है। यह पुस्तक शरत चन्द्र राय एवं उनके पुत्र रमेश चन्द्र राय के अनेक वर्षों तक किये गये परिश्रम का परिणाम है। 'देलकी' (जासपुर, मध्य प्रान्त) तथा 'पहाड़िया' (खड़िया) मयूरभेज के मध्य रहकर उनका तुलनात्मक अध्ययन भी किया। पुस्तक के प्रथम खण्ड में खड़िया की जनसंख्या, उनकी उत्पत्ति, उनकी शारीरिक संरचना, उनकी भौतिक संस्कृति, उनका सामाजिक संगठन, राजनीतिक व्यवस्था तथा जन्म–मरण तक के रीति रिवाजों का सविस्तार वर्णन किया है। दूसरे खण्ड में खड़िया के धार्मिक विश्वास, देवता एवं पूजन प्रणाली, जादू–मन्तर, स्वप्न, बच्चों के खेल तथा जनजाति के अलिखित लोक साहित्य आदि का अद्वितीय वर्णन है।

13. **मजूमदार**– डी. एन. मजूमदार ने काल्हान की 'हो' जनजाति के बदलते सांस्कृतिक रूपों का अध्ययन किया। 1937 में उन्होंने 'ए ट्राइब इन ट्रान्जिशन' (A Tribe in Transition) नामक पुस्तक प्रकाशित कराई। उन्होंने 1950 में इस जनजाति पर महत्वपूर्ण मोनोग्राफ 'दि अफेयर्स ऑफ ए ट्राइब' (The Affairs of a Tribe) प्रकाशित किया।

14. **डॉ. शशांक शेखर**– डॉ. शेखर ने राजमहल उपत्पका के सौरिया पहाड़ियों के बीच क्षेत्रीय अध्ययन करके 1938 में सौरिया पहाड़ियों के सांस्कृतिक अध्ययन पर एक पुस्तक प्रकाशित कराई।

15. **त्रिगुणायत**– हाल ही में जगदीश त्रिगुणायत के मुण्डा लोकगीतों का एक महत्वपूर्ण संग्रह 'बांसुरी बज रही' राष्ट्र भाषा द्वारा प्रकाशित हुआ है। आदिवासी लोक साहित्य में यह अद्वितीय संग्रह है।

टिप्पणी

16. **डॉ. सच्चिदानन्द**– डॉ. सच्चिदानन्द ने 'ट्राईबल विलेज ऑफ बिहार' (Tribal Village of Bihar) शीर्षक से पुस्तक का प्रकाशन किया है।

17. **शोध संस्थान**– रांची विश्वविद्यालय के नेतृत्व विज्ञान विभाग, बिहार जनजातीय शोध संस्थान रांची और अनुग्रह नारायण समाज अध्ययन संस्थान पटना में जनजातीय संस्कृति के पक्षों पर मौलिक शोध कार्य करके पुस्तकें लिखी गई हैं।

## जनजातियों का वर्गीकरण

भारतीय जनजातियों के वर्गीकरण का कोई सर्वसम्मत आधार नहीं है। यही कारण है कि विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न आधार पर इनका वर्गीकरण किया है। वर्गीकरण के प्रमुख आधार निम्नलिखित हैं–

### 1. भौगोलिक वर्गीकरण

डॉ. बी. एस. गुहा ने भारत की जनजातियों को भौगोलिक आधार पर निम्नलिखित तीन भागों में विभक्त किया है–

(क) **उत्तरी तथा उत्तर–पूर्वी क्षेत्र**– यह क्षेत्र पश्चिम में लेह से लेकर पूर्व में लुसाई पर्वत मालाओं तक विस्तृत है। इसके अंतर्गत पूर्वी कश्मीर, पूर्वी पंजाब, हिमाचल, कुमायूं, (अल्मोड़ा, नैनीताल, गढ़वाल), उत्तराखण्ड (पिथौरागढ़, उत्तरकाशी, चमोली), उत्तर प्रदेश का पूर्वी सीमान्त भाग तथा असम का पर्वतीय क्षेत्र सम्मिलित है। इस क्षेत्र की जनजातियों में गद्दी, गुज्जर, खम्पा, कटोरा, लम्बा, लाहोला, मोटिया, धारु, भोक्सा, नागा, कूकी, साखी, कचोरी तथा रम्भा इत्यादि उल्लेखनीय हैं। ये जनजातियां अधिकांशतः मंगोल प्रजाति की और चीनी तथा तिब्बती भाषा परिवार की मानी जाती हैं। इनमें थारु एक ऐसी जनजाति है, जिसने अपनी बोली को छोड़कर पांचाली को अपना लिया है।

(ख) **मध्यवर्ती क्षेत्र**– इस क्षेत्र के अंतर्गत गंगा नदी का दक्षिण भाग और कृष्णा नदी का उत्तरी भाग आता है। विन्ध्याचल तथा सतपुड़ा का पठारी प्रदेश इसी भू–भाग में सम्मिलित है। बंगाल, बिहार, उत्तर प्रदेश का दक्षिणी भाग मध्य प्रदेश, दक्षिणी राजस्थान, बम्बई का उत्तरी भाग और उड़ीसा के मध्यवर्ती क्षेत्र को इसमें सम्मिलित किया जाता है। इसमें निवास करने वाली जनजातियों में भुज्ज, उरांव, हो, खड़िया, बिरहोर, भुइयां, गोड, वैगा, कोंड, चैच्चू, कोरवा, बेदिरा, मुण्डा, कोल तथा भील मुख्य हैं।

(ग) **दक्षिणी क्षेत्र**– इस क्षेत्र के अंतर्गत कृष्णा नदी का दक्षिणी प्रदेश सम्मिलित है जिसमें हैदराबाद, मैसूर, कुर्ग, द्रावनकोर, कोचीन, आन्ध्रप्रदेश और उड़ीसा का भाग आता है। इन क्षेत्रों में निवास करने वाली जातियों में कादर, टोडा, मल्य्यन, उरांव, विषकन, पनियन, बंड़ागा, कूरम्भा, कोटा, चैच्यू आदि मुख्य हैं।

डॉ. मजूमदार ने भारत की जनजातियों को निम्नलिखित तीन श्रेणियों में विभक्त किया है–

- पश्चिमोत्तर प्रान्त की जनजातियां
- उत्तर–पूर्वी सीमान्त की जनजातियां
- अन्तः स्थित प्रदेशों की जनजातियां

टिप्पणी

## 2. भाषायी वर्गीकरण

भाषाओं के आधार पर प्रजातीय उद्‌भव (Racial Origin) की दृष्टि से भारत को इण्डो–यूरोपियन, द्रविड़, ऑस्ट्रिक और तिब्बती–चाईनीज परिवार की भाषाओं में विभक्त किया गया है। भाषा के आधार पर भारतीय जनजाति को मूलतः निम्नलिखित तीन श्रेणियों में विभाजित किया जाता है :

(क) **द्रविड़ भाषा परिवार वाली जनजातियां**– द्रविड़ परिवार की भाषाएं बोलने वाली जनजातियां दक्षिण भारत में मिलती हैं। भारत की जनसंख्या के लगभग 21.6 प्रतिशत लोग द्रविड़ परिवार की भाषाओं का प्रयोग करते हैं। इस परिवार की भाषाओं में चार भाषाएं हैं–कन्नड़, तमिल, तेलुगू और मलयालम। तमिल भाषा का प्रयोग तमिलनाडु में, तेलुगू भाषा का प्रयोग आंध्र में, कन्नड़ भाषा का प्रयोग कर्नाटक में तथा मलयालम भाषा का प्रयोग केरल में होता है। मध्य प्रदेश, हैदराबाद तथा आंध्र में निवास करने वाली गोंड जनजाति द्रविड़ परिवार की है। इसी प्रकार उड़ीसा की कुन्ध, बिहार तथा उड़ीसा की कुई और उरांव आदि द्रविड़ परिवार की भाषा में सम्मिलित की जाती हैं। नीलगिरि की पहाड़ियों में निवास करने वाली तोड़ा जनजाति भी द्रविड़ परिवार की है। डॉ. मजूमदार का मत है कि सओरा, परजा, कोया, पनियन, चैच्यू, कादर तथा मलय्यन भी द्रविड़ परिवार की है।

(ख) **ऑस्टिक भाषा परिवार वाली जनजातियां**– इस परिवार की भाषा मुख्य रूप से विन्ध्य प्रदेश के विभिन्न क्षेत्रों में प्रचलित है। इन भाषाओं का प्रयोग करने वाले लोगों की जनसंख्या 40 लाख है। मुण्डा, कोल, हो, सन्थाल, खड़िया, कोरवा, वादवा, भूमिज, कोर्क, सादरा व खासी इत्यादि जनजातियों को आस्ट्रिक भाषा परिवार में सम्मिलित किया जाता है। विद्वानों के अनुसार बिहार, बंगाल, उड़ीसा और असम में इस भाषा परिवार की जनजातियां रहती हैं। असम की खाड़ियों तथा निकोबार की जनजातियों को भी इसी भाषा परिवार में सम्मिलित किया जाता है। मानवशास्त्रियों ने ऑस्ट्रिक भाषा परिवार की जनजातियों को निम्नलिखित दो वर्गों में विभक्त किया है–

- ऑस्ट्रो–एशियाटिक (Austro-Asiatic)
- ऑस्ट्रो–नेशियन (Austro-Nesian)

ऑस्ट्रो–एशियाटिक वर्ग के अंतर्गत काले तथा मुण्डा जनजाति की बोलियों को सम्मिलित किया जाता है। ऑस्ट्रिक भाषा परिवार की जनजातियों का सम्बन्ध ऑस्ट्रो–एशियाटिक वर्ग से ही है। ऑस्ट्रो–नेशियन परिवार की भाषाओं में इण्डोनेशिया, माइक्रोनेशिया, मैलेनेशिया, पोलिनेरिया आदि की भाषाएं सम्मिलित की जाती हैं। इनका आर्य भाषा की भांति ही भारतीय जनजातियों से कोई सम्बन्ध नहीं है।

(ग) **तिब्बती–चीनी भाषा परिवार वाली जनजातियां**– इस भाषा परिवार के लोग हिमालय के तटवर्ती भू–भागों में निवास करते हैं। इसमें उत्तरी पंजाब से लेकर बंगाल और असम का उत्तरी क्षेत्र सम्मिलित है। यह क्षेत्र मंगोल प्रजाति के लोगों का है। इस परिवार की भाषाओं को बोलने वाली जनजातियों को दो वर्गों में विभक्त किया गया है–

टिप्पणी

- तिब्बती–बर्मी
- श्यामी–चीनी

नेपाल और दार्जिलिंग में निवास करने वाली जनजातियां तिब्बती बर्मी भाषा का प्रयोग करती हैं। वे जनजातियां जो असम के सुदूरवर्ती क्षेत्रों में निवास करती हैं वे श्यामी–चीनी भाषा का प्रयोग करती हैं। नागा, गारो, कुर्की, मिविर, डफला, आमोर तथा खासी जनजातियों का सम्बन्ध तिब्बती तथा बर्मी भाषा से है।

भाषा के आधार पर भारतीय जनजातियों का उपर्युक्त विभाजन यह स्पष्ट नहीं करता है कि किस जनजाति की भाषा का विकास किस प्रजाति के द्वारा हुआ है। इसकी बोलियों में अत्यधिक भिन्नता और जटिलता है जिससे यह निश्चय करना कठिन हो जाता है कि किस जनजाति को किस भाषा परिवार में सम्मिलित किया जाए। बोलियों की यह भिन्नता जनजातियों के पुनर्वास की समस्या को बड़ा जटिल बना देती है।

### 3. जनजातियों का प्रजातीय वर्गीकरण

भारतीय जनजातियों को प्रजाति के आधार पर तीन वर्गों में बांटा जाता है–

(क) नीग्रिटो (Negrito)

(ख) मंगोलॉयड (Mangoloid)

(ग) प्रोटो–ऑस्ट्रेलॉयड (Proto-Australoid)

इन तीनों प्रजातियों के मिश्रण से भारतीय प्रजातियों की उत्पत्ति हुई। मेडिटोरियन तथा नोर्डिक प्रजाति के साथ–साथ भारतीय जनजातियों का कोई सम्बन्ध नहीं है। 'नीग्रिटो' प्रजाति भारत की सबसे पुरानी प्रजाति है। 'कादर' (Kadar) जनजाति की उत्पत्ति नीग्रिटो प्रजाति से हुई है। मध्य भारत में जो जनजातियां निवास करती हैं उनका उद्‌भव प्रोटो–ऑस्ट्रेलॉयड प्रजाति से हुआ है।

हिमालय के समीपवर्ती क्षेत्रों में हिमाचल प्रदेश से लेकर असम तक के भू–भाग में जो जनजातियां निवास करती हैं, उनकी उत्पत्ति मंगोल प्रजाति से हुई है। दूसरे शब्दों में, पूर्वोत्तर क्षेत्र में निवास करने वाली जनजातियां मंगोल नस्ल की हैं। भारत के मध्यवर्ती क्षेत्र में निवास करने वाली जनजातियां नीग्रिटो नस्ल की हैं। मि. गुह्य का मत है कि कादर, इरुला और पनियन प्रजातियां नीग्रिटो नस्ल की हैं क्योंकि इसमें इस प्रजाति के सभी लक्षण विद्यमान हैं। डॉ. मजूमदार का मत है कि भारत में नीग्रिटो अंश नहीं के बराबर है।

प्रजाति के आधार पर जनजातियों का वर्गीकरण अनेक समस्याओं को उत्पन्न करता है। अनेक जनजातियों में विभिन्न प्रजातियों के लक्षण मिलते हैं, जिससे यह निश्चय करना कठिन हो जाता है कि किस जनजाति को किस प्रजाति समूह में सम्मिलित किया जाये। नीलगिरि की टोडा जनजाति के बारे में भी यही समस्या है। अभी तक मानवशास्त्री (Anthropologist) इनका प्रजातीय सम्बन्ध खोजने में असफल रहे हैं। इस प्रकार भारत की जनजातियों का प्रजातीय विभाजन एक जनजाति को दूसरी जनजाति से पूर्णतः पृथक नहीं कर पाता है।

टिप्पणी

अनेक नेतृत्वशास्त्रियों ने भारतीय जनजातियों में प्रजातीय तत्वों के सम्बन्ध में अध्ययन करके अपने विचार प्रकट किये हैं। जिनमें रिजले, हट्टन, डॉ. गुहा तथा डॉ. मजूमदार विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

भारतवर्ष की प्रजातियों के बारे में सर्वप्रथम हर्बर्ट रिजले ने अपनी रचना 'दि पीपुल्स ऑफ इण्डिया' में चर्चा की है। रिजले ने भारत की प्रजातियों को सात मुख्य भागों में बांटा है। इनका कथन है कि सर्वप्रथम भारत में तीन प्रजातियां निवास करती थीं जो 1. मंगोल, 2. द्रविड़ 3. इण्डो–आर्यन के नाम से जानी जाती हैं। बाद में द्रविड़ तथा इण्डो–आर्यन के सम्मिश्रण में इण्डो–द्रविड़ बन गये तथा द्रविड़–मंगोल के सम्मिश्रण से मंगोल–द्रविड़ बन गये। इसके अतिरिक्त मंगोल की एक अन्य शाखा तथा द्रविड़ से सिथियन द्रविड़ बन गये। इसके अतिरिक्त बलूचिस्तान एवं उत्तर–पश्चिमी सीमा प्रान्त (जो अब पाकिस्तान में है) में टर्की–ईरानियन प्रजाति के लोग पाये जाते हैं।

ए. सी. हट्टन ने उपर्युक्त वर्गीकरण को अस्वीकार करते हुए भारतीय जनजातियों को पृथक पांच भागों में विभक्त किया है– आदि, द्रविड़, मंगोल, इण्डो–आर्यन तथा इण्डो–एलायाइन। हट्टन का वर्गीकरण शारीरिक विशेषता, प्रकृति–परिवेश, रीति–रिवाज तथा परम्पराओं के आधार पर निर्मित था। जे. एच. हट्टन ने भारत की प्रजातियों को निम्नांकित 6 मुख्य भागों में विभाजित किया है–

1. नीग्रिटो
2. प्रोटो–ऑस्ट्रेलॉयड
3. मैडिटरेनियन
4. एल्याइन
5. मंगोलॉयड
6. इण्डो–आर्यन

डॉ. बी. एस. गुहा (1931) का वर्गीकरण निम्न प्रकार है–

1. नीग्रिटो
2. प्रोटो–ऑस्ट्रेलॉयड
3. मंगोलॉयड–
    - पेलियो मंगोलॉयड
    - डोलिको सिफैलिक (लंबे सिर वाले)
    - ब्रेकी सिफैलिक (चौड़े सिर वाले)
    - तिब्बती मंगोलॉयड
4. मैडिटरेनियन (भू–मध्य सागरीय)
    - पेलियो मैडिटरेनियन
    - मैडिटरेनियन
5. वेस्टर्न ब्रेकी सिफैलिक (चौड़े सिर वाले)
    - आल्पिनॉयड

- डिनेरिक
- आर्मीनॉयड

6. नार्डिक

टिप्पणी

डॉ. डी.एन. मजूमदार ने गुहा के उपर्युक्त वर्गीकरण को अस्वीकार किया है। उनका कथन है कि यद्यपि दक्षिणी एशिया में नीग्रिटो समूह के लोग पाये जाते थे परन्तु भारत की जनजातीय जनसंख्या में ऐसे समूह के लोग पाये जाते थे जिनका इस समूह के होने की कोई भी संभावना नहीं है। गुहा का सम्पूर्ण वर्गीकरण 2000 व्यक्तियों की मानवमिति मापों पर आधारित है जो कि सम्पूर्ण देश की जनसंख्या को ध्यान में रखते हुए बहुत कम है। विस्तृत रूप से विचार करने पर यह स्वीकार करना निराधार होगा कि भारतवर्ष की सभी जनजातियों की उत्पत्ति तीन प्रजातियों से हुई है।

## जनजातीय समाज की जनसांख्यिकीय विशेषताएं

संचार, आवागमन, औद्योगीकरण, नगरीयकरण, शिक्षा और योजनाबद्ध कार्यक्रमों ने जहां संपूर्ण भारतीय जनजीवन व अर्थव्यवस्था में अद्वितीय परिवर्तन उत्पन्न किये हैं वहीं जनजातियों के जीवन में भी परिवर्तन के अवसर उत्पन्न किये हैं। जंगलों और पहाड़ों में रहने वाले ये समूह जो पहले सभ्यता के संपर्क से कटे हुए थे, आज संचार श्रृंखला में बंध जाने से सभ्य समाज के निकट आ गये हैं। उनका जीवन देश की मुख्यधारा के साथ जुड़ गया है।

**परिवर्तन के विभिन्न प्रभाव**– परिवर्तन की प्रक्रिया से जनजातियां गुजरती रहीं हैं और उन पर पड़ने वाला उसका प्रभाव अन्य समूहों से भिन्न है। जनजातियों की सामाजिक संरचना, गोत्र और बंधुत्व पर आधारित है। उनकी परंपराएं विशिष्ट हैं। उनका साहित्य, इतिहास और उनकी ऐतिहासिक शक्तियां अन्य समूहों से भिन्न हैं। वे एक पूर्ण समाज हैं। ऐसी अवस्था में आधुनिकीकरण की प्रक्रियाओं का जो प्रभाव जनजातियों पर पड़ा है वह अन्य समूहों पर पड़ने वाले प्रभावों से नितांत भिन्न होना स्वाभाविक ही है। इस तथ्य में कोई संदेह व्यक्त नहीं किया जा सकता कि परिवर्तन की उन शक्तियों ने जनजातियों की सामाजिक संरचना को एक नवीन स्वरूप दिया है, पर यह नवीन स्वरूप कुछ ऐसी समस्याओं से घिरा है जो जनजातियों के लिए अपरंपरागत हैं।

**विकास के विविध स्तर**– सभी जनजातियां विकास के एक ही स्तर पर नहीं हैं। उनकी अर्थव्यवस्था, खाद्य संग्रह से लेकर उद्योग अवस्था तक है। उनकी सामाजिक व्यवस्था आदिम स्तर से लेकर जटिल स्तर तक है। यदि कृषि का ही स्तर लिया जाए तो एक ओर वे जनजातियां हैं जो ट्रैक्टर से जुताई की उपयोगिता से अनभिज्ञ हैं जैसे बैंगा, कोलन, दायर्स आदि हैं। ये कोखा कृषि के समर्थक हैं। ये वृक्षों की कटाई तथा खाली होने वाली भूमि को कोखा कृषि की छड़ी द्वारा खेती में परिवर्तित कर देती हैं। दूसरी ओर वे जनजातियां हैं जो यंत्रों के व्यवहार से भिन्न हैं जैसे गड़ावा, जारथन तथा सबारा आदि। इस विभिन्नता के होते हुए भी जनजातियों ने देश की मुख्य जीवनधारा को अपनाना स्वीकार किया है। जनजातियों को यह भी बहुत स्पष्ट हो गया है कि वे अब विशाल समाज से स्वयं को पृथक नहीं रख सकतीं। यदि वे चाहें भी, तब भी उनके लिए ऐसा करना संभव नहीं है।

टिप्पणी

**परिवर्तन के कारक**– जनजातियों में आने वाले परिवर्तन मुख्यतया दो कारणों से हैं– एक प्रकार के कारण वे हैं जिन्हें अंतर्जनित कहते हैं। दूसरे प्रकार के कारण बहिर्जात हैं।

अंतर्जनित कारक स्वयं जनजातियों की सामाजिक व्यवस्था से उत्पन्न हैं। इसके विपरीत बहिर्जात कारक बाहरी संस्थाओं से जनित हैं। इन कारकों के परिणामस्वरूप संपूर्ण जनजातियों की सामाजिक व्यवस्था परिवर्तित हो रही है।

## जनजातीय सामाजिक–सांस्कृतिक संरचना

सामाजिक सांस्कृतिक संरचना को जनजातियों की परिवार, गोत्र, बंधुत्व और शिक्षा व्यवस्था में देखा जाता है। यह वांछनीय माना जाता है कि परिवार का आकार अपेक्षाकृत छोटा हो तथा जहां तक संभव हो, विवाह व्यवस्था एक–विवाही हो। इस दृष्टि से जनजातियों के परिवार देश के सामान्य संयुक्त परिवार में आते हैं। इस दिशा में कतिपय परिवर्तन निम्न प्रकार हुए हैं–

1. **परिवार के आकार में अंतर**– अब जनजातियों के परंपरागत संयुक्त परिवार टूट कर केंद्रीय परिवार बन रहे हैं तथापि मातृवंशीय परिवारों में जो खासी और गारो जनजातियों में पाए जाते हैं; कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया है। ये परिवार अब भी मातृसत्तात्मक और मातृ स्थानिक निवास वाले हैं। अब भी इन परिवारों में निर्णय परिवार के मुखिया पर पूर्णतया निर्भर है।
2. **एक पत्नी परिवार**– बहुपत्नी परिवारों में कुछ अंतर दृष्टिगोचर हुआ है। नैगा, बैंगा, डकला और भील जनजातियों में परंपरा से बहुपत्नी परिवार रहे हैं लेकिन आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप अब इन जनजातियों में भी एक विवाही परंपरा बन गई है। इसका कारण यह भी हो सकता है कि अर्थव्यवस्था के परिवर्तित होने से वधू मूल्य बढ़ गया है। अतएव जनजातियां अब एक से अधिक पत्नियां रखना पसंद नहीं करती हैं। पहले यह बात साधारण थी कि दो स्त्रियां एक ही पति के घर में प्रेमपूर्वक एक साथ सोया करती थी, पर अब यह प्रथा लुप्त हो गयी है। इसमें शिक्षा तथा सामान्य जागृति का प्रभाव भी अधिक है। यह परिवर्तन देश के घोषित उद्देश्यों के अनुरूप है।
3. **गोत्र**– जनजातियों की सामाजिक संरचना का एक प्रमुख आधार उनकी गोत्र व्यवस्था है। जब तक जनजातियां एक ही निश्चित भू–भाग में रहती थी, गोत्र सामाजिक सुदृढ़ता स्थापित करने का अच्छा माध्यम था। पर अब समय बदल गया है तथा जनजातियों में भी स्थानांतरण होने लगा है। जनजाति समूहों के सदस्य औद्योगिक कस्बों और शहरों में धंधें के लिए जाते हैं। इस स्थानांतरण ने उन्हें गोत्र के प्रतिबंधों से थोड़ी मुक्ति दे दी है। अब गोत्र पूर्व की भांति सामाजिक नियंत्रण का साधन नहीं है। ऐसी अवस्था में गोत्र केवल विवाह के नियमों के पालन का संरक्षक मात्र रह गया है। राजस्थान और गुजरात के भीलों में राजनीतिक क्षेत्र में गोत्र का कोई प्रभाव नहीं है।
4. **बंधुत्व व्यवस्था**– जनजातियों की बंधुत्व व्यवस्था अपेक्षाकृत बहुत कम परिवर्तित हुई है। दूसरी ओर संचार तथा आवागमन के साधनों ने बंधुत्व विस्तार क्षेत्र को अधिक विशाल कर दिया है। गोड़, संथाल और भील अब विवाह संबंध दूर–दूर

टिप्पणी

तक स्थापित करते हैं। अब वे संचार साधनों से आसानी से संपर्क स्थापित कर सकते हैं।

5. **विवाह विच्छेद**– विवाह के क्षेत्र में बहुपत्नी विवाह कम हो रहे हैं। जनजातियों के अभिजात वर्ग में उनकी परंपरा के विपरीत और हिन्दुओं की परंपरा के अनुरूप विवाह विच्छेद की दर कम होती दिखाई देती है। खेड़िया जनजाति में तलाक का प्रश्न गांव के समक्ष रखा जाता है। निर्णायक तलाक के कारण को भली प्रकार समझने पर स्वीकार या अस्वीकार करते हैं।

6. **विवाह पद्धति**– इस क्षेत्र में संभवतः सबसे बड़ा परिवर्तन विवाह की पद्धतियों में है। संभाल, हो, उरांव, खड़िया, गोंड और भील जनजातियों में क्रय विवाह की परंपरा कमजोर हो रही है। इसी प्रकार अपहरण विवाह भी भारतीय दण्ड संहिता के अनुसार दंडित होने लगा है। खड़िया जनजाति में पहले जबरदस्ती विवाह प्रचलित था अब वह पूर्णतया लुप्त हो गया है। हठात विवाह कानून की दृष्टि से अपराध है। इसी भांति पलायन विवाह भी दण्डित है। 'हो' आदि जनजाति में विधवाओं का पुनर्विवाह करने का अधिकार हो गया है। पर वे प्रायः विधुर के साथ विवाह करती हैं।

7. **धर्म की उत्पत्ति का सिद्धांत**– कुछ समय पूर्व जनजातियों को मोटे रूप से धार्मिक तौर पर जीववाद की श्रेणी में रख दिया जाता था। आज धर्म को लेकर यह स्थिति नहीं है। जनजातियां जिन क्षेत्रों में रहती हैं, उनमें रहने वाले अन्य समूहों के धर्म से भी प्रभावित हुई हैं।

8. **धर्म परिवर्तन**– धर्म परिवर्तन की मुख्यतया दो दिशाएं हैं। एक दिशा हिन्दू धर्म की है तथा दूसरी ईसाई धर्म की है। जनजातियों के बड़े भाग ने हिंदू देवी–देवताओं, व्रतों तथा त्योहारों को अपनाया है। कोलाहान के उच्च वर्गों में हिंदुत्व की ओर तथा निम्न वर्गों में ईसाई धर्म की ओर झुकाव है।

9. **धार्मिक कार्य**– अपने सामाजिक जीवन में जन्म, विवाह और मृत्यु के उत्सवों में इन समूहों ने हिन्दुओं के कर्मकाण्ड और संस्कारों को अपनाया है। प्रायः सभी जनजातियां मृत शरीर को जलाती हैं तथा विवाह के अवसर पर होम, यज्ञ आदि करती हैं।

10. **त्योहार**– हिन्दुओं के धार्मिक त्योहारों को जनजाति समाज उत्साहपूर्वक मनाता है। एकादशी, पूर्णिमा आदि व्रत भी रखने की परंपरा चली है। 'हो' अपने पर्वों के अतिरिक्त छठ, दीवाली, दशहरा तथा चैत्र पर्व भी मनाते हैं।

11. **देवी–देवता**– गणेश, हनुमान, काली, महादेव आदि देवी–देवताओं की उपासना भी जनजातियों में प्रारंभ हुई है। 'हो' जनजाति चैत्र पर्व में महादेव पूजा, हेमना में लक्ष्मी पूजन, दीपावली में काली या श्यामा पूजा करती है। घुरिये का यह निष्कर्ष है कि जनजातियां हिन्दू सामाजिक व्यवस्था की एक अंग मात्र हैं। अन्य सामाजिक मानव वैज्ञानिकों ने भी घुरिये के इस निष्कर्ष को आधार सामग्री के तौर पर स्थापित किया है।

12. **धार्मिक आंदोलन**– जनजातियों ने हिन्दू धर्म को अपनाने के लिए बराबर धार्मिक आंदोलन भी चलाये हैं–

टिप्पणी

- **ओरांव**– 1895 में छोटानागपुर की ओरांव जनजाति में भक्ति आंदोलन चला था। इस समूह का कहना था कि उन्हें एक ही ईश्वर की उपासना करनी चाहिए। इस आंदोलन को चलाने का सबसे बड़ा उद्देश्य यह था कि ओरांवों की सामाजिक प्रतिष्ठा हिन्दुओं के समकक्ष हो जाएगी।
- **मुण्डा**– मुण्डा जनजाति में ऐसा ही एक आंदोलन चला था जो हिंदुओं के भगवान को अपना आराध्य देव मानता था। इस आंदोलन में उन्होंने हिन्दू धर्म से संबंधित पवित्रता, नैतिकता और आदर्शों को मुण्डाओं के सामने रखा।
- **गोण्ड**– मध्य प्रदेश के गोण्डों ने 1930 ई. में 'दराक' के रूप में आंदोलन किया जिसका उद्देश्य गोण्डों को क्षत्रियों की प्रतिष्ठा दिलाना था। इस आंदोलन ने क्षत्रिय सूरजवंशी महासभा का गठन किया और इसके अंतर्गत हिन्दू धर्म को स्वीकार किया।
- **भील**– गुजरात, मध्य प्रदेश और राजस्थान के भीलों ने भी अपने भक्ति आंदोलन में क्षत्रिय–हिन्दू धर्म को स्वीकार किया और अपने अनुकरण का प्रारूप रखा।
- **संथाल**– संथाल में अनेक आचार्यों का आविर्भाव हुआ जिन्होंने हिन्दू संस्कृति को महत्व दिया। इनमें से एक भागीरथ बखा विशेष रूप से प्रसिद्ध हुए।

ये सब तथ्य इस बात को स्पष्ट करते हैं कि देश की अधिकांश जनजातियों ने धार्मिक क्षेत्र में अपने परिवर्तन की दिशा हिन्दू धर्म की ओर रखी है।

## शैक्षिक परिदृश्य

शिक्षा के क्षेत्र में जनजातियों में बहुत बड़ा परिवर्तन देखने में आया है। वर्ष 1960–61 में शिक्षण संस्थाओं में आदिम जातियों के विद्यार्थियों की संख्या 19.22 लाख थी। 1965–66 में यह संख्या बढ़कर 29.65 लाख हो गयी। छात्राओं की संख्या इसी तरह 1960–61 में 4.76 लाख थी जो 1965–66 में 8.05 लाख हो गयी। इन आंकड़ों को तौलने पर ज्ञात होता है कि इन विद्यार्थियों की बहुत बड़ी संख्या प्राथमिक शिक्षण के स्तर पर है। विश्वविद्यालय और कॉलेजों में जनजातियों के विद्यार्थियों की संख्या 1965–66 में 13,941 थी। छोटानागपुर तथा संथाल परगना के गांवों के बिखरे होने का कारण शिक्षा के मार्ग में बाधा थी। जनजातीय समाज की शिक्षा के क्षेत्र में समाजशास्त्रियों ने पिछले एक दशक में आनुभविक अनुसंधान किया है।

टी.बी. नायक ने मध्यप्रदेश के धार और झाबुआ जिले के भीलों का अध्ययन किया है। इसमें उन्होंने भील जीवन में शिक्षा के प्रभाव को देखा है। उनके अनुसार भीलों के समाज में वे लोग शिक्षा ग्रहण करते हैं जो सामाजिक संरचना में उच्च स्थान पर हैं। ऐसी स्थिति में शिक्षा ने भीलों में ऊंचे परिवारों को और ऊंचा बढ़ने का अवसर दिया है। उन्होंने कृषि के अतिरिक्त नौकरी तथा अन्य धंधों को अपनाया है। जनजातियों में जो सुधारवादी आंदोलन चले हैं उनमें शिक्षित व्यक्तियों का महत्वपूर्ण हाथ है।

बृजराज चौहान ने दक्षिण राजस्थान के बांसवाड़ा जिले में जनजातीय कस्बों का अध्ययन किया है। उन्होंने मध्यप्रदेश के झाबुआ जिले के कुछ कस्बों का अध्ययन भी

किया है। उनका कहना है कि शिक्षा के प्राथमिक स्तर पर भील विद्यार्थी स्कूल में भर्ती होते हैं। इसके बाद उनकी संख्या घटती जाती है। उदाहरण के लिए उनका कहना है कि जनजातियों में एक अभिजात वर्ग धीरे–धीरे उत्पन्न हो रहा है।

**टिप्पणी**

आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के फलस्वरूप जनजातियों की अर्थव्यवस्था में भी अंतर आ गया है–

- **परंपरागत अर्थव्यवस्था**– जनजातीय क्षेत्र में आधुनिक अर्थव्यवस्था के प्रविष्ट होने से पहले उनमें जीविका अर्थव्यवस्था थी। उनका कहना है कि ये समूह केवल उतना ही उत्पाद करते थे जितना कि उनको जीविका के लिए आवश्यक था। अब उनमें उत्पादन की इच्छा आ गयी थी।
- **संचार व्यवस्था का प्रभाव**– संचार व्यवस्था ने उन्हें बाजार के निकट ला दिया है। इसके परिणामस्वरूप अब ये बाजारू फसलें उत्पन्न करने लगे हैं। औद्योगिक संस्थानों में मजदूरी करने जाते हैं तथा नौकरी करते हैं।
- **नया धन**– अब जनजातियों में कृषि के अतिरिक्त नया धन आने लगा है। इस नये धन ने उन्हें समाज में नया सम्मान और प्रतिष्ठा दी है। वे पंचायती राज, धर्म सभा और अन्य प्रजातांत्रिक संस्थाओं में नेतृत्व करते हैं। जनजातियों में वे 'अभिजात व्यक्ति' गिने जाते हैं। अनुसूचित जनजातियों के आयुक्त ने इसी संदर्भ में कहा था कि जनजातियों में धनिक और धनिक हो रहा है और गरीब और अधिक गरीब। इस स्थिति में राज्य को सबसे कमजोर कड़ी की पहचान करनी चाहिए।
- **विभिन्न अध्ययन**– जनजातियों की अर्थव्यवस्था में होने वाले परिवर्तनों के आनुभविक अध्ययन हुए हैं। इन अध्ययनों में एफ. जी. बेली का 'ट्राइब कास्ट एण्ड नेशन' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसमें बेली ने उड़ीसा के बिसीपाड़ा और बदेरी गांवों का अध्ययन किया है। बदेरी में कौंउ जनजाति रहती है। बिसीपाड़ा में उड़िया बोलने वाली जनजातियां है। बेली का मत है कि कई समुदाय अर्थव्यवस्था की मुख्य धारा में आ गये हैं। यही बात राजनीतिक क्षेत्र पर लागू होती है। जनजातियों के परिवर्तन की दिशा कुछ ऐसी है कि परिवर्तन के दौर में एक राष्ट्र का रूप धारण करती है। उनका निष्कर्ष है कि जनजातियां अब जीविका अर्थव्यवस्था के घेरे से बाहर आ गई हैं।
- **जीवन स्तर**– बाजार की अर्थव्यवस्था ने जनजातियों के जीवन स्तर को ऊंचा उठाया है। इस अर्थव्यवस्था के अपने कुछ परिणाम निम्नांकित हैं–
  - o अब जनजातियों की आवश्यकताएं बढ़ गयी हैं।
  - o वे शारीरिक परिश्रम पर आधारित देशों की अपेक्षा सफेदपोश व्यवसायों को अधिक पसंद करती हैं।
  - o स्वयं जनजाति के धनिक (नवीन धनिक) अपनी ही जनजाति का शोषण करते हैं। ये कुछ दोष नवीन अर्थव्यवस्था से उत्पन्न हुए हैं, लेकिन ये दोष उन समूहों में भी हैं जो अजनजातीय हैं।

टिप्पणी

## 1.2.3 ग्रामीण सामाजिक संरचना

प्रारंभिक मानव समुदाय कदाचित कुछेक परिवारों के शीथिल रूप में संगठित संकलन थे जो भोजन इकट्ठा करने एवं शत्रुओं से स्वयं को सुरक्षित रखने के लिए पारस्परिक अन्योन्याश्रित क्रिया करते थे। इनको आदिम दल प्रवासी समुदाय कहते थे। धीरे–धीरे मनुष्य ने कृषि का ज्ञान अर्जित किया। कृषि का विकास होने से भोजन की समस्या दूर हुई जिसके परिणामस्वरूप लोग स्थायी जीवन व्यतीत करने लगे और मानव समुदाय अधिक स्थिर होने लगे। इसके बाद गांव पनपने लगे अर्थात व्यक्तियों ने घुमक्कड़पन छोड़कर एक स्थान पर रहना प्रारंभ कर दिया। परिणामस्वरूप गांव ने जन्म लिया।

कुछ विद्वानों का कहना है कि गांव उस क्षेत्र को कहा जाता है जहां पर आर्थिक एवं सामाजिक दृष्टि से लोग पिछड़े हुए होते हैं। कुछ विद्वान उनको गांव मानते हैं जिनका व्यवसाय प्रमुख रूप से कृषि होता है। इसी कारण कृषक एवं ग्रामीण को पर्याय रूप में प्रयोग किया जाता है।

गांवों को जनसंख्या के आधार पर भी परिभाषित किया गया है। 'प्रत्येक देश में एक निश्चित जनसंख्या वाले क्षेत्र को गांव कहा गया है और उससे अधिक जनसंख्या होने पर वह नगर की श्रेणी में आ जाता है।' भारत को गांवों का देश माना जाता है। आज भी देश की कुल जनसंख्या का लगभग तीन चौथाई भाग गांवों में निवास करता है।

### परिभाषाएं

अनेक विद्वानों द्वारा गांवों की परिभाषाएं दी गई हैं। कुछ प्रमुख परिभाषाएं निम्नवत हैं–

(1) मैरिल और एलरिज– "ग्रामीण समुदाय के अन्तर्गत संस्थाओं और ऐसे व्यक्तियों का संकलन आता है जो छोटे से केन्द्र के चारों ओर संगठित होते हैं तथा सामान्य प्राकृतिक हितों में भाग लेते हैं।"

(2) सिम्स– "समाजशास्त्रियों में ग्रामीण समुदाय को ऐसे बड़े क्षेत्रों में रखने की प्रवृत्ति बढ़ रही है, जिसमें समस्त अथवा अधिकतर प्रमुख मानवीय हितों की पूर्ति होती है।"

(3) सेण्डरसन– "एक ग्रामीण समुदाय में स्थानीय क्षेत्र के लोगों की सामाजिक अन्तःक्रिया और उनकी संस्थाएं सम्मिलित हैं जिसमें वह खेतों के चारों ओर बिखरी झोपड़ियों तथा पुरवा या गांवों में रहती हैं और जो उनकी सामान्य क्रियाओं का केन्द्र है।"

(4) इन्साडक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइंसेज के अनुसार, "एकाकी परिवार से बड़ा, सम्बन्धित एवं असम्बन्धित लोगों का समूह जो एक बड़े मकान अथवा निवास के अनेक स्थानों पर रहता हो, घनिष्ठ संबंधों में आता हो तथा कृषि योग्य भूमि पर मूल रूप से संयुक्त रूप में कृषि करता हो, ग्राम कहलाता है।"

(5) फेयर चाइल्ड– "ग्रामीण समुदाय पड़ोस की अपेक्षा विस्तृत क्षेत्र है जिसमें आमने–सामने के संबंध पाए जाते हैं, जिसमें सामूहिक जीवन के लिए अधिकांशतः सामाजिक, आर्थिक, शैक्षणिक, धार्मिक एवं अन्य सेवाओं की आवश्यकता होती है और जिसमें मूल अभिवृत्तियों एवं व्यवहारों के प्रति सामान्य सहमति भी होती है।"

टिप्पणी

## ग्रामीण समाज की विशेषताएं

ग्रामीण समाज की कुछ प्रमुख विशेषताएं निम्नांकित हैं–

(1) **जीवनयापन के लिए कृषि पर निर्भरता**– गांवों के लोगों का जीवन कृषि, पशुपालन, शिकार, मछली पालन एवं भोजन संग्रह करने आदि क्रियाओं पर निर्भर करता है। ये सभी कार्य तभी संभव हैं जब व्यक्ति प्रकृति के साथ में रहे। प्रकृति के ये अंग हैं– भूमि, मौसम, जंगल जिनके बीच में गांव बसते हैं। मौसम के अनुरूप व्यक्ति अपने को ढालता है। व्यवसाय की प्रकृति को प्रभावित करते हैं–प्राकृतिक कारक। वर्षा, ठंड, गर्मी ये सारे तत्व कृषि को प्रभावित करते हैं तथा कृषि ही गांव निवासियों का प्रमुख व्यवसाय है। नगरीय जीवन में इन चीजों का महत्व कम होता है, क्योंकि उनकी रोजी रोटी का आधार उद्योग होते हैं। इसलिए ही नगरवासियों का प्रकृति से अप्रत्यक्ष सम्बन्ध रहता है। उनका प्रत्यक्ष सम्पर्क कोयला, धातु, कारखाने, लोहा आदि से अधिक रहता है।

(2) **अनौपचारिक सम्बन्ध**– ग्रामीण समुदायों में प्राथमिक समूहों का बहुत महत्व होता है। परिवार प्राथमिक समूह का मुख्य रूप है। परिवार के सदस्यों में रक्त के संबंध पाए जाते हैं। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को प्रत्यक्ष रूप से जानता है। उनके संबंधों में अनौपचारिकताएं पाई जाती हैं। वे कृत्रिमता से दूर रहते हैं तथा उनमें पारस्परिक सहयोग एवं प्राथमिक नियंत्रण पाया जाता है।

(3) **व्यवसाय में विशेषीकरण का अभाव**– ग्रामीण जीवन में व्यवसायों में विशेषीकरण का अभाव पाया जाता है। भारतीय ग्रामीण समाज के अधिकांश सदस्य कृषि व्यवसाय पर आश्रित हैं तथा सभी व्यक्ति सभी प्रकार के कार्य कर सकते हैं अर्थात– कृषक अवसर पड़ने पर बढ़ई, लोहार, पशुचिकित्सक, मजदूर आदि बन जाता है। यद्यपि वह विभिन्न क्षेत्रों के बारे में जानता है फिर भी विशेषाधिकार का अभाव रहता है।

(4) **सामुदायिक चेतना**– गांव के लोगों में एकता की भावना निहित रहती है। ग्रामीण व्यक्तियों के मध्य संबंधों की घनिष्ठता होती है। वे एक–दूसरे को विशिष्ट रूप से जानते हैं। उनकी प्रथाएं, रीति–रिवाज एवं संस्कृति सामान्य होती है। धार्मिक उत्सवों में वे मिलकर भाग लेते हैं। संरचनात्मक एवं प्रकार्यात्मक, दोनों दृष्टिकोणों से गांव एक इकाई है।

(5) **समुदाय का छोटा आकार**– ग्रामीण समाज आकार में छोटे होते हैं। प्रकृति पर प्रत्यक्ष निर्भरता के कारण इनका आकार छोटा रहता है। क्योंकि कार्य अथवा पशुचारण में जीवन–यापन के लिए प्रति व्यक्ति भूमि की मात्रा अधिक चाहिए अन्यथा सभी व्यक्तियों का जीवन–यापन संभव नहीं रहेगा।

(6) **पड़ोस की भूमिका**– गांवों में आस–पड़ोस को अधिक महत्व प्रदान किया जाता है। ग्रामीण जीवन में इतनी अधिक गति एवं वैयक्तिकता नहीं होती कि किसी भी पड़ोसी के सुखों एवं दुखों की ओर ध्यान देने का समय न मिले। गांवों के व्यक्ति एक–दूसरे के प्रति पूर्ण सहानुभूति एवं सहयोग की भावना रखते हैं इसलिए उनके पड़ोसियों से घनिष्ट संबंध पाये जाते हैं।

(7) **संयुक्त परिवार की प्रधानता**– गांवों में संयुक्त परिवारों की भूमिका प्रथम स्थान रखती है, क्योंकि आर्थिक उत्पादन की इकाई कृषि होती है और कृषि

व्यवसाय करने के लिए अधिक व्यक्तियों की आवश्यकता होती है। अगर सभी सगे–सम्बन्धी अर्थात दूर और पास के रक्त सम्बन्धी एक छत के नीचे नहीं रहेंगे तो कृषि कार्य संभव नहीं है। गांव में संयुक्त परिवार के अन्तर्गत सभी लोग सामान्य धर्म को मानते हुए, सामान्य सम्बन्धों का उपयोग करते हुए एक ही रसोई का पका खाना खाते हैं और कृषि कार्य में पूर्ण सहयोग देते हैं।

(8) **कम जनसंख्या**– गांवों में केवल कुछ सीमित परिवारों के सदस्य निवास करते हैं। कृषि उनका एकमात्र व्यवसाय होता है। अन्य किसी प्रकार का कोई और काम न होने के कारण बाहर का व्यक्ति वहां जाकर नहीं रह पाता है। जिसके कारण गांवों में जनसंख्या कम रहती है। इसके साथ–साथ यहां पर प्रति वर्ग मील जनसंख्या का घनत्व शहरों की अपेक्षा बहुत कम रहता है। जनसंख्या का घनत्व कम होने के कारण ग्रामीण लोग स्वास्थ्यपूर्ण वातावरण का अभाव, गन्दगी, बीमारी, मकानों की कमी आदि से बच जाते हैं।

(9) **सरल एवं सादा जीवन**– ग्रामीण लोग सादा एवं सरल जीवन यापन करते हैं। उनके अन्दर शहरों की भांति तड़क–भड़क, बनावटीपन, चमक–दमक व आडम्बर आदि नहीं पाये जाते हैं। उनके पास न तो साज–सज्जा और श्रृंगार की सामग्री होती है और न ही उनको बनावटीपन पसन्द होता है। उन व्यक्तियों की आर्थिक स्थिति ऐसी नहीं होती है कि वह अपनी आय का एक भाग फैशन, साज–सामान आदि पर खर्च कर सकें। साधारण तथा पौष्टिक भोजन, शुद्ध हवा और मोटा वस्त्र तथा विनम्र और प्रेमपूर्ण व्यवहार ग्रामीण लोगों का गहना है। प्रकृति पर प्रत्यक्ष रूप से निर्भरता उन्हें सरल, छल रहित और सादगी से जीवन व्यतीत करना सिखाती है।

(10) **समान संस्कृति**– ग्रामीण समुदाय के व्यक्ति एक–दूसरे को जानते हैं। उन सबका रहन–सहन, खान–पान, उठने–बैठने आदि का तरीका लगभग एक जैसा ही होता है। वहां सभी रीति–रिवाजों, प्रथाओं आदि को एक ही तरीके से मनाया जाता है। इसलिए यह कहा जाता है कि ग्रामीण समुदायों में समान संस्कृति के लोग रहते हैं। इनके अन्दर धार्मिक विश्वास, व्यवसाय, सामाजिकता सांस्कृतिकता सभी एक जैसी ही पायी जाती हैं।

(11) **अधिक स्थायी जीवन**– भारतीय ग्रामीण समाज में सदस्यों का जीवन अधिक स्थायी होता है। परम्परागत आदर्शों, अन्धविश्वासों व धर्म की प्रधानता के कारण सामाजिक परिवर्तन का प्रमाण न्यूनतम होता है। उसमें नवीनता का कोई स्थान नहीं होता है। इस प्रकार जीवन का ढंग अनेक वर्षों तक एवं पीढ़ियों तक एक समान बना रहता है। ग्रामीण लोग घड़े में भरे हुए पानी की भांति स्थिर एवं शांत रहते हैं। जीवन जैसा चल रहा है वह उसी में खुश रहते हैं। ग्रामीण सामाजिक संस्करण इतना कठोर होता है कि उसे बदलना बड़ा कठिन होता है।

(12) **धर्म, प्रथाओं एवं रूढ़ियों में विश्वास**– ग्रामीण लोगों का धर्म एवं देवी–देवताओं में अटूट विश्वास होता है। उनका मुख्य व्यवसाय कृषि होता है जो प्रकृति पर आधारित होता है। कृषक में प्राकृतिक शक्तियों के प्रति आभार की मनोवृत्ति उत्पन्न हो जाती है जिनकी वह आराधना करने लगता है। धर्म प्रथाएं एवं रूढ़ियां इनके जीवन को प्रभावित करती हैं। धर्म ग्रामवासियों का केन्द्र है।

टिप्पणी

उच्च दैनिक एवं वार्षिक जीवन की अनेक क्रियाएं धर्म से ही शुरू होती हैं और धार्मिक विश्वासों एवं क्रियाओं के साथ ही समाप्त होती हैं।

वे ईश्वरी शक्तियों को आदर, भय और शुद्धता की दृष्टि से देखते हैं। पाप–पुण्य, स्वर्ग–नरक, धर्म–कर्म, अच्छाई–बुराई की भावनाएं उनके जीवन को प्रभावित करती हैं। उनका संपूर्ण जीवन प्रथाओं और रूढ़ियों से बंधा रहता है। वे उन्हें तोड़ने या उनके स्थान पर नवीन कानूनों की स्थापना की बात नहीं करते हैं। क्योंकि प्रथाओं एवं रूढ़ियों के वे अन्ध भक्त होते हैं। परिवार का प्रत्येक व्यक्ति उनका पालन करता है। भले ही चाहे उसे कुछ नुकसान उठाना पड़े। जैसे बाल–विवाह, मृत्यु भोज, विधवा विवाह, छुआछूत, दहेज आदि प्रथाएं मालूम हैं कि हानिकारक हैं फिर भी उनका प्रचलन है। प्राकृतिक विपत्तियों जैसे बाढ़, अकाल आदि के कारण अलौकिक शक्तियों एवं धार्मिक विचारों का महत्व और भी अधिक पैर फैला लेता है। ग्रामीणवासी सोचते हैं कि इन विपत्तियों से केवल मात्र अलौकिक शक्ति ही छुटकारा दिलवा सकती है।

## ग्रामीण जीवन पर शहरी संस्कृति का प्रभाव

ग्रामीण सामाजिक रूप नगरीकरण के प्रभाव से बदल गया है। धीरे–धीरे जीवन का ग्रामीण ढंग लुप्त हो रहा है। कुछ प्रमुख प्रभाव निम्नांकित हैं–

(1) **रीति–रिवाज, धर्म एवं संस्कृति पर प्रभाव**– भारत में प्राचीन संस्कृति ग्रामीण समुदायों की प्रमुख विशेषता थी। इनकी संस्कृति के मुख्य तत्व बाल–विवाह, विधवा–पुनर्विवाह निषेध, पर्दा प्रथा, दहेज प्रथा थे। ग्रामीण समुदाय इनको अपनाकर बहुत खुशी महसूस करता था किन्तु नगरों के विकास ने इन सभी प्रथाओं, रीति–रिवाजों, धर्म एवं संस्कृति को समाप्त कर दिया है। अब ग्रामीण समुदाय नगरों के हिसाब से चलने लगा है।

(2) **भूमि के सामूहिक स्वामित्व पर प्रभाव**– पहले गांवों में भूमि पर किसी एक का अधिकार न होकर पूरे ग्रामवासियों का होता था। सब मिलकर खेतों को जोतते थे और संयुक्त रूप से कृषि कार्य में संलग्न रहते थे। परन्तु शहरों के औद्योगीकरण ने कृषि कार्य के प्रति व्यक्तियों के रुख को बदल दिया। अब गांवों के मनुष्य भी कृषि न करके फैक्टरियों में कार्य करना चाहते हैं। धीरे–धीरे शहरों ने अपना प्रभाव इस क्षेत्र में छोड़ना प्रारंभ कर दिया। अब किसी परिवार के व्यक्ति कम और किसी के ज्यादा कृषि कार्य में लगे हुए हैं जिसके कारण भूमि से सामूहिक स्वामित्व का अधिकार समाप्त होकर व्यक्तिगत हो गया है।

(3) **जजमानी प्रथा**– जजमानी प्रथा भारत में ग्रामीण समुदाय की एक प्रमुख विशेषता मानी जाती थी। नगरीकरण के प्रभाव के कारण यह परम्परा अब शिथिल पड़ गई है। ग्रामवासियों द्वारा जो व्यवसाय अपनाए जा रहे हैं वे न तो पूर्णतया आनुवंशिक हैं और न ही जातिप्रथा पर आधारित हैं। परम्परागत व्यवसाय के अनुसार अब निम्न जातियों को भुगतान वस्तुओं से नहीं होता है। आधुनिक समय में भुगतान की विधि नकद मुद्रा में की जाती है।

(4) **परिवार प्रणाली**– नगरों का प्रभाव संयुक्त परिवार प्रणाली के ऊपर भी पड़ा है। संयुक्त परिवार प्रणाली कभी गांवों की एक विशेषता मानी जाती थी जिसमें कई पीढ़ियों के लोग मिलकर रहते, खाते–पीते तथा कृषि कार्य किया करते थे।

अब इसका स्थान एकल प्रणाली ने ले लिया है। भोजन, वस्त्रों एवं विवाह के विषयों पर पारिवारिक नियंत्रण शिथिल पड़ गए हैं। परिवार अब आर्थिक इकाई नहीं रहा है। जो कार्य पहले परिवारों में हुआ करते थे अब अनेकों प्रकार की एजेंसियों द्वारा किए जा रहे हैं। नगरों में सभी कार्य एजेंसियों को सौंप दिए जाते हैं, वे उन्हें पूरा करती हैं। परिवार के सदस्यों को कुछ करने की आवश्यकता नहीं होती है।

**(5) यातायात के साधनों का विस्तार**– सड़कों का सम्पर्क गांवों से हो जाने के कारण तथा यातायात की सुविधाओं के अधिक हो जाने के कारण एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने में कठिनाई नहीं होती है। इसलिए ग्रामीण समाज में गतिशीलता बढ़ गई है। अब ग्रामीण व्यक्ति अपना स्थान छोड़कर दूसरे स्थानों पर आजीविका की खोज में सुगमता से आ–जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त शहरों में प्राप्त होने वाली सुविधाओं ने भी ग्रामीण समाज को यह कदम उठाने के लिए मजबूर किया है।

**(6) रहन–सहन का स्तर**– नगरों ने गांव के रहन–सहन या व्यक्ति के स्तर को भी प्रभावित किया है। अब ग्रामीण समुदाय का स्तर धीरे–धीरे ऊपर आ रहा है। अब ग्रामीण लोगों का भोजन केवल दाल–रोटी तक सीमित नहीं है। उसमें साग–सब्जी, दूध, घी, चाय, ब्रेड, पिज्जा, बर्गर, नूडल्स आदि सम्मिलित हो गए हैं। वस्त्र भी नगरीकृत हो गए हैं। धोती और कुर्ते का स्थान अब कमीज और पेंट ने ले लिया है। नवयुवतियां जींस, टॉप, पैंट, कुर्ता, सलवार, फ्राक स्कर्ट आदि का प्रयोग करती हैं। वृद्ध स्त्रियां जो पहले कमीज एवं धोती पहनती थीं वे भी अब कमीज के स्थान पर ब्लाउज पहनती हैं। हथकरघे के वस्त्रों के स्थान पर मिलों के कपड़े का प्रयोग किया जाता है। पहले गांव में अधिकांश स्त्रियां चांदी के आभूषण पहनती थीं, अब उनके स्थान पर स्वर्ण आभूषणों का प्रयोग करती हैं। लड़कियां सौन्दर्य प्रसाधनों का प्रयोग करती हैं। रहने के लिए झोपड़ियां अथवा कच्चे मकानों का स्थान पक्के मकानों ने ले लिया है। घरों में छत के पंखों का प्रयोग हो रहा है। घरों में बिजली है। नहाने एवं वस्त्र धोने के साबुन का प्रयोग करने लगे हैं। जल निकास की व्यवस्था ठीक हो गई है। गांवों में प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों की स्थापना हो चुकी है, जिसके फलस्वरूप वे स्वास्थ्य के प्रति जागरूक हो गए हैं। संक्षेप में गांव वासियों का रहन–सहन अब नगरीय हो गया है।

**(7) विवाह प्रणाली**– ग्रामीण समुदाय में विवाह प्रणाली के अन्तर्गत भी परिवर्तन आए हैं। गांवों में भी अब अंतर–जातिय विवाह सम्पन्न होने लगे हैं। यद्यपि उनकी संख्या अभी बहुत कम है। वहां पर बच्चों की शादी के लिए माता–पिता का ही अंतिम निर्णय मान्य होता है। प्रेम–विवाह एवं विवाह–विच्छेद की संख्या कम जरूर है परन्तु ग्रामीण अंचल में ये प्रारंभ हो चुके हैं। वर्तमान समय में विवाह साथियों के व्यक्तिगत गुणों, यथा– शिक्षा, आर्थिक व्यवसाय, सुन्दरता एवं मुखाकृति पर अधिक ध्यान दिया जाता है। विवाह–रीतियां भी कम हो गई हैं। बाल–विवाह की प्रथा समाप्त हो रही है। नगरों की भांति विवाह की आयु गांवों में भी बढ़ गई है।

टिप्पणी

## 1.2.4 परिवार एवं नातेदारी

'परिवार' (Family) शब्द की उत्पत्ति लैटिन भाषा के शब्द 'Famulus' से हुई है जो कि एक ऐसे समूह की ओर इंगित करता है जिसमें माता–पिता, बच्चे, नौकर एवं दास हों। दूसरे शब्दों में विवाहित जोड़े को परिवार कहा जाता है। समाजशास्त्रीय दृष्टि से यह परिवार शब्द का सही उपयोग नहीं है। परिवार में पति–पत्नी के साथ बच्चों का होना आवश्यक है। अगर किसी व्यक्ति के पास इनमें से कोई भी एक नहीं होता है तो वह परिवार के स्थान पर 'गृहस्थ' कहलाता है। यह तो हो सकता है कि परिवार और गृहस्थ के सदस्य एक ही हों। क्योंकि प्रत्येक परिवार एक गृहस्थ भी है लेकिन सभी गृहस्थ परिवार नहीं हैं। अनेक विद्वानों ने परिवार की भिन्न–भिन्न परिभाषायें दी हैं। उनमें से कुछ प्रमुख परिभाषायें निम्न हैं–

- गिलिन एवं गिलिन– ''पति–पत्नी और उनके नाबालिग बच्चों का समूह मानव समाज में व्यवहारतः सार्वभौमिक है और उसे प्रथम या प्रारम्भिक परिवार कहा जाता है।''
- मैकाइबर एवं पेज– ''परिवार पर्याप्त निश्चित यौन–सम्बन्ध द्वारा परिभाषित छोटा और स्थाई समूह है जो बच्चों के प्रजनन और पालन–पोषण में समर्थ है। इसके अन्तर्गत सगे–सम्बन्धी या अन्य सम्बन्धी भी हो सकते हैं तथापि यह दम्पत्ति के साथ–साथ रहने से बनता है और उनके बच्चों के कारण एक विशिष्ट एकता का निर्माण करता है।''
- ऑगबर्न एवं निमकॉफ– ''परिवार बच्चों अथवा बिना बच्चों वाले पति–पत्नी अथवा किसी पुरुष या स्त्री में से एक के ही साथ रहने वाले बच्चों की लगभग एक स्थायी समिति है।''
- डॉ. दुबे– ''परिवार में स्त्री एवं पुरुष दोनों को सदस्यता प्राप्त रहती हैं। उनमें कम से कम दो विपरीत यौन व्यक्तियों को यौन सम्बन्धों की सामाजिक स्वीकृति रहती है। उनसे उत्पन्न संतान मिलकर परिवार का निर्माण करती हैं।''

### परिवार की प्रमुख विशेषताएं

परिवार की कुछ प्रमुख विशेषताएं निम्नांकित हैं–

(1) **पति–पत्नी का सम्बन्ध**– किसी भी परिवार का विकास उस परिवार के पति–पत्नी के यौन सम्बन्धों पर निर्भर करता है। बिना पति–पत्नी के सम्बन्धों के परिवार की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। यह सम्बन्ध अनेक रूपों में पाया जा सकता है। कुछ स्थानों पर यह सम्बन्ध एक विवाह प्रथा के रूप में विद्यमान है तो कुछ में बहु–प्रथा के रूप में हो सकता है। स्त्री–पुरुष के सम्बन्धों को नियमित करने वाली संस्था को ही 'विवाह' कहा जाता है।

(2) **सदस्यों का उत्तरदायित्व**– प्रत्येक परिवार अपने सदस्यों से कुछ उत्तरदायित्व निभाने की अपेक्षा करता है। परिवार एक ऐसी संस्था है जहां पर व्यक्ति हर समय ही कुछ न कुछ त्याग अपने परिवार के लिए करता है। सभी सदस्य एक–दूसरे की सुख–सुविधाओं के विषय में सोचते हैं। आर्थिक अभाव होने पर भी माता–पिता बच्चों को उसकी कमी महसूस नहीं होने देते हैं। यही भावना परिवार के संगठन को स्थायी बनाने में मदद करती है। परिवार के सदस्यों के

त्याग के कारण परिवार एक ऐसी तपोभूमि में परिवर्तित हो जाता है जहां न स्वार्थ है न बैर। परस्पर सहानुभूति एवं सहायता में ही सभी सदस्य स्वर्गीय आनन्द की अनुभूति करते हैं।

टिप्पणी

**(3) स्थायी एवं अस्थायी प्रकृति**– परिवार को एक संस्था भी माना जाता है तथा उसे हम एक समिति के रूप में भी स्वीकार करते हैं। यदि परिवार में पति–पत्नी एवं बच्चों को लिया जाए तो वह एक समिति बन जाती है और इसके विपरीत कुछ नियमों एवं कार्यविधियों की एक व्यवस्था माना जाए तो वह संस्था है।

अब समिति के रूप में परिवार का अस्तित्व मानें तो यह अस्थायी प्रकृति का हो जाता है क्योंकि यदि पति–पत्नी का विवाह विच्छेद, दोनों में से किसी एक की मृत्यु अथवा अन्य किसी कारणवश दोनों अलग हो जाते हैं तो परिवार की सदस्यता समाप्त हो जाती है। संस्था के रूप में परिवार स्थायी प्रकृति का होता है क्योंकि पति–पत्नी अथवा बच्चों में से किसी एक या दो सदस्यों के न रहने पर भी पारिवारिक नियमों अथवा परिवार की परम्परा कभी समाप्त नहीं होती है। इस प्रकार परिवार स्थायी एवं अस्थायी दोनों ही प्रकृति वाला है।

**(4) सामाजिक सुरक्षा**– परिवार में हर सदस्य को एक विशेष स्थान अथवा पद मिला होता है। जैसे– चाचा–चाची, भाई–बहन, माता–पिता, दादा–दादी आदि। परिवार के सदस्य अपनी ही नहीं, वरन् परिवार की सामाजिक सुरक्षा के लिए भी जागरूक रहते हैं और इस बात का प्रयास करते हैं कि सामाजिक अपमान तथा दिवालियेपन आदि की नौबत न आ सके।

**(5) रक्त–सम्बन्ध**– परिवार के सभी सदस्य एक–दूसरे से परस्पर रक्त सम्बन्ध से जुड़े होते हैं। माता–पिता जिन बच्चों को जन्म देते हैं वे पूर्णतया उनके रक्त से सम्बन्धित होते हैं। ये रक्त सम्बन्ध ही परिवारों को जन्म देते हैं। अप्रत्यक्ष रूप में तो रक्त सम्बन्ध दादा–दादी, चाचा–चाची, ताऊ–ताई आदि से होता है।

**(6) यौन सम्बन्ध**– हर जीव के अन्दर यौन सम्बन्ध स्थापित करने की प्रवृत्ति पाई जाती है। वास्तविकता अगर देखी जाए तो मालूम पड़ता है कि सृष्टि का अस्तित्व ही इस पर निर्भर करता है। मनुष्य जाति में भी काम भावना होती है। यौनेच्छा की संतुष्टि के लिए स्त्री एवं पुरुष एक–दूसरे के निकट आते हैं। यह एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। सभ्य समाज इस प्रवृत्ति की संतुष्टि विवाह करके पूरी करवा देते हैं और परिणामस्वरूप बच्चों का जन्म होता है और यही उपक्रम फिर परिवार को जन्म देता है। परन्तु यदि विवाह से पूर्व सम्बन्ध बने हों तो इससे परिवार का जन्म नहीं माना जाता है।

## परिवार के विविध प्रकार

संसार के सभी समाजों का रूप एक समान नहीं होता है। किसी समाज में जैसे सांस्कृतिक नियम होते हैं, उन्हीं के अनुसार परिवार एक विशेष स्वरूप ग्रहण कर लेता है। मानव विकास के साथ–साथ परिवार के भी अनेक रूप अस्तित्व में आये हैं। हर स्थान की भौगोलिक, आर्थिक, सांस्कृतिक परिस्थितियों ने भिन्न–भिन्न प्रकार की पारिवारिक व्यवस्था को जन्म दिया है। सदस्यों की संख्या, विवाह का स्वरूप, स्त्री–पुरुष की सत्ता, निवास, वंशनाम आदि के आधार पर परिवार का वर्गीकरण किया

टिप्पणी

जाता है। भारत में पाये जाने वाले विभिन्न प्रकार के कुछ परिवारों का वर्गीकरण इस प्रकार है–

**(1) संख्या के आधार पर परिवार**– ऐसे परिवारों की संख्या वर्तमान में सबसे अधिक है। ये तीन प्रकार के हैं–

- **केन्द्रीय या नामिक परिवार**– इस प्रकार के परिवार आधुनिक औद्योगिक समाजों की प्रमुख विशेषता है। औद्योगिकीकरण एवं नगरीकरण के बढ़ने के कारण ये परिवार बढ़ते चले जा रहे हैं। कृषि प्रधान समाज में संयुक्त परिवारों की प्रधानता होती थी परन्तु औद्योगिक समाज के अन्तर्गत केन्द्रीय परिवारों की प्रमुखता होती है। आज के बदलते हुए युग में परिवार के अन्दर संयुक्तता बनाये रखना असम्भव है। आधुनिक सभ्यता एवं संस्कृति के प्रसार तथा भौतिकवादी एवं व्यक्तिवादी दृष्टिकोण के विकास ने एकाकी परिवारों को बढ़ाने में विशेष योगदान दिया है। आज व्यक्ति किसी भी नाते–रिश्तेदार के विषय में न सोचकर केवल अपनी पत्नी एवं बच्चों के विषय में सोचता है। इसीलिए संयुक्त परिवार में रहने वाले अनेक लोग आज एकाकी परिवार स्थापित करने की बात सोचते हैं। ऐसे परिवारों का संगठन बहुत सरल होता है। इसमें केवल पति–पत्नी एवं अविवाहित बच्चे रहते हैं।

  आकार या संख्या की दृष्टि से ये परिवार बहुत छोटे होते हैं। सामान्यतः इन परिवारों में 5–6 सदस्य पाये जाते हैं। इस परिवार का बच्चा बड़ा होकर जैसे ही विवाह कर लेता है, वह एक पृथक एकाकी परिवार बना लेता है। इस प्रकार की परिवार व्यवस्था अनेक जनजातियों में भी देखने को मिलती है। इन परिवारों को तात्कालिक (Immediate) तथा प्राथमिक (Primary) परिवार भी कहा जाता है। इनको तात्कालिक इसलिए कहा जाता है क्योंकि इनमें केवल वही व्यक्ति रह सकता है जिसने उस परिवार में जन्म लिया है या पति–पत्नी ने किसी बच्चे को गोद लिया हो। इनका महत्व प्राथमिक होने के कारण इन्हें प्राथमिक परिवार भी कहा जाता है।

- **संयुक्त परिवार**– एक संयुक्त परिवार के अन्तर्गत तीन या चार पीढ़ी के लोग एक साथ रहते हैं। उनकी सम्पत्ति सामूहिक होती है। वे अपनी आय को एक सामान्य कोष के अन्दर रखते हैं तथा आनुवंशिक व्यवसाय को अपनाते हैं। परिवार का कोई भी सदस्य चाहे कितना भी कम धनोपार्जन करता हो परन्तु सभी सदस्यों को आवश्यकतानुसार काम करने की अनुमति होती है। इस प्रकार संयुक्त परिवार की एक विशेषता इसकी समाजवादी प्रकृति है। इस प्रकार के परिवार एक ही रसोई का बना खाना खाते हैं तथा सामूहिक पूजा में भाग लेते हैं और परस्पर किसी न किसी नातेदारी व्यवस्था से सम्बन्धित होते हैं।

  संयुक्त परिवार के सदस्य परस्पर अधिकारों व दायित्वों को निभाते हैं। एक संयुक्त परिवार में दादा–दादी, माता–पिता, ताऊ–ताई, चाचा–चाची, चचेरे भाई एवं उनकी पत्नियां व बच्चे, विधवा बहनें एवं बेटियां होती हैं। हिन्दुओं में और प्रमुखतया ग्रामों में संयुक्त परिवार का प्रचलन पाया जाता है। श्री जे.डी. मेन ने पुस्तक 'हिन्दू लॉ एण्ड कस्टम' में मालाबार के नगरों में प्रचलित संयुक्त परिवार जिसे 'धारवाड़' कहते हैं, को इस व्यवस्था का पूर्णतम उदाहरण माना है।

पाणिक्कर ने लिखा है कि ''हिन्दू समाज की इकाई व्यक्ति नहीं बल्कि संयुक्त परिवार है।''

टिप्पणी

- **विस्तृत परिवार**– इस प्रकार के परिवार में सभी रक्त सम्बन्धी एवं कुछ अन्य सम्बन्धी भी सम्मिलित होते हैं। साधारणतया पश्चिमी समाजों में ऐसे परिवार जिनमें वृद्ध व्यक्ति, उनकी पत्नियां, उनके पुत्र, उनकी पत्नियां और बच्चे साथ रहते हैं। ऐसे परिवारों में सदस्यों की संख्या बहुत अधिक होती है। सभी सदस्य एक ही घर में रहते हैं तथा एक ही प्रकार का कार्य करते हैं और वे परिवार के मुखिया को सम्मान की दृष्टि से देखते हैं। इस प्रकार विस्तृत परिवार दो–तीन केन्द्रीय परिवारों का एक संकुल होता है। दक्षिण भारत के नायरों में विस्तृत परिवार का यही रूप देखने को मिलता है जिसे 'तारवाड' कहा जाता है।
- **मिश्रित परिवार**– इन परिवारों में केन्द्रीय तथा संयुक्त परिवारों का रूप देखने को मिलता है। इनका संगठन तथा आकार मध्यम स्तर का होता है। वास्तविकता यह है कि जिन समाजों में औद्योगिकीकरण एवं नगरीकरण के कारण संयुक्त परिवारों का विघटन हो रहा है, वे अपने एकाकी परिवारों की स्थापना कर लेने के बाद भी मानसिक रूप से संयुक्त परिवारों की परम्परा से बंधे हुए हैं। परिणामस्वरूप ये परिवार आर्थिक रूप से स्वतन्त्र होने के बाद भी नातेदारी, सांस्कृतिक समारोहों और धार्मिक अनुष्ठानों में संयुक्त रूप से ही भाग लेते हैं।

  अधिकांशतः ऐसे परिवारों के अन्तर्गत विवाहित पुत्र भी कुछ समय तक अपने माता–पिता के साथ रहते हैं। जब उनको लगता है कि उनका आर्थिक दायित्व बढ़ रहा है तो वे अपना पृथक एकाकी परिवार स्थापित कर लेते हैं। इस प्रकार मिश्रित परिवार आर्थिक स्तर पर एकाकी परिवारों के समान और मानसिक स्तर पर संयुक्त परिवारों के समान होते हैं।

**(2) निवास के आधार पर**– शादी के पश्चात् पति–पत्नी को कहां पर रहना है, इस आधार पर भी परिवारों का वर्गीकरण किया गया है।

- **पितृ–स्थानीय परिवार**– यदि विवाह के बाद पत्नी अपने पति एवं पति के माता–पिता के साथ रहती है तो उसे पितृ–स्थानीय परिवार कहा जाता है। भारत में हिन्दुओं, मुसलमानों, भील, खरिया तथा कई पितृवंशीय परिवारों में यही प्रथा पाई जाती है।
- **मातृ–स्थानीय परिवार**– ऐसे परिवार में सामान्यतया विवाह के बाद पुरुष को अपनी पत्नी के घर जाकर रहना होता है। साधारणतया मातृसत्तात्मक परिवारों में पुरुष का अपने परिवार की सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं होता।
- **नव–स्थानीय परिवार**– यह वह परिवार है जिसकी स्थापना नवविवाह दम्पत्ति द्वारा विवाह के तत्काल बाद या कुछ समय के बाद अपने लिए नये निवास के तौर पर की जाती है। औद्योगिकीकरण तथा नगरीकरण होने के कारण स्थान परिवर्तन होने से ऐसे परिवारों की संख्या बढ़ती जा रही है। नवस्थानीय परिवार केन्द्रक या एकाकी परिवारों की प्रमुख विशेषता है।
- **मातृ–पितृ स्थानीय परिवार**– कई समाजों में माता–पिता, नवविवाहित दम्पत्ति पति या पत्नी में से किसी एक के ही साथ रहने को बाध्य नहीं होते वरन् दोनों

टिप्पणी

में से किसी के भी साथ रहते हैं। ऐसे परिवार को मातृ–पितृ स्थानीय परिवार कहते हैं।

- **मामा–स्थानीय परिवार**– इस प्रकार के परिवारों में नवविवाहित दम्पत्ति पति की मां के भाई मामा अर्थात माता के परिवार में जाकर रहते हैं। ट्रोविमाण्डा द्वीपवासियों में यह प्रथा प्रचलित है कि विवाह के बाद भानजा अपनी पत्नी के साथ मामा के यहां रहने चला जाता है। भारत में मातृवंशीय परिवारों में कभी इस प्रकार के परिवार प्रचलन में थे।
- **द्वि–स्थानीय परिवार**– इन परिवारों में पति–पत्नी का सम्बन्ध अपने जन्म के परिवार और विवाह के परिवार के साथ समान रूप से बना रहता है। लक्षद्वीप एवं केरल में इस प्रकार के परिवार पाये जाते हैं। पति रात को अपनी पत्नी के घर चला जाता है और दिन में वह अपने पिता के घर आकर पूरा दिन व्यतीत करता है।

**(3) अधिकार के आधार पर**– परिवार में माता की चलती है या पिता की, किसको कितने अधिकार प्राप्त हैं, इस आधार पर भी परिवारों का वर्गीकरण किया गया है। परिवारों में संतान को पद आदि दिये जाने का क्रम भी पितृ पक्ष से पुत्रों को या मातृपक्ष से लड़कियों को दिया जा सकता है। इस आधार के अनुसार अग्रलिखित दो प्रकार के परिवार होते हैं–

- **पितृमार्गी परिवार**– ऐसे परिवार में उत्तराधिकार के नियम पितृपक्ष के आधार पर तय किये जाते हैं।
- **मातृमार्गी परिवार**– इस प्रकार के परिवारों में उत्तराधिकार के नियम मातृपक्ष के आधार पर तय किये जाते हैं।

**(4) वंशनाम के आधार पर**– परिवारों के वर्गीकरण में एक वर्गीकरण वंशनाम के आधार पर भी होता है। वंशनाम के नियम एक व्यक्ति को जन्म से किसी विशिष्ट सम्बन्धी समूह से सम्बद्ध कर देते हैं। ये चार प्रकार के हैं–

- **पितृ–वंशीय परिवार**– ऐसे परिवार में कुल परम्परा किसी पुरुष–पूर्वज के नाम पर चलती है। इसी कारण ये परिवार पितृवंशीय परिवार कहलाते हैं। पुत्रों को पिता का ही वंशनाम प्राप्त होता है। हिन्दुओं में परिवार पितृवंशीय ही होते रहे।
- **मातृ–वंशीय परिवार**– इन परिवारों में वंश/गोत्र स्त्री के नाम पर चलता है इसलिए ये परिवार मातृवंशीय कहलाते हैं। इनमें मां से पुत्रियों को वंशनाम मिलते हैं। मालाबार के नगरों में यही प्रथा है।
- **उभयवाही परिवार**–कुछ परिवारों में वंश वंशानुगत सम्बन्ध पर निर्भर न होकर सभी निकट के सम्बन्धियों पर समान रूप से निर्भर होते हैं। ऐसे समाजों के अन्दर पैतृक अथवा मातृक दोनों वंशनाम परम्पराएं साथ–साथ चलती हैं। एक व्यक्ति का सम्बन्ध अपने दादा–दादी तथा नाना–नानी चारों सम्बन्धियों से एक समान होता है।
- **द्वि–नामी परिवार**– इन परिवारों में एक व्यक्ति का सम्बन्ध अपनी दादी और नानी से होता है तथा दादा और नाना को छोड़ दिया जाता है। यह भी उभयवाही परिवार का ही एक रूप है।

**(6) विवाह के आधार पर**–किसी समाज में प्रचलित विवाह के आधार पर परिवारों को मुख्यतः तीन भागों में बांटा जा सकता है–

टिप्पणी

- **एक विवाही परिवार**– एक विवाही परिवार एक स्त्री एवं पुरुष के मिलने से बनता है। इसके अन्तर्गत पति–पत्नी एवं उनके अविवाहित बच्चे रहते हैं। इन परिवारों में स्त्री एवं पुरुष दोनों को एक समय पर एक ही विवाह करने की अनुमति प्राप्त होती है। पति अथवा पत्नी किसी एक की मृत्यु हो जाने पर दूसरा विवाह कर सकते हैं। इसी प्रकार विवाह विच्छेद हो जाने के बाद उनको पुनः विवाह करने की स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। सभ्यता के विकास के साथ ही एक विवाही परिवारों की संख्या लगातार बढ़ती जा रही है। जीवन में सुख एवं शान्ति रखने के लिए एक विवाही परिवार सर्वोत्तम माने जा रहे हैं।
- **बहु–विवाही परिवार**– इस प्रकार के परिवारों में एक से अधिक जीवन साथी रखने की स्वीकृति होती है। ये कई प्रकार के होते हैं–

  **(क) बहुपत्नीक परिवार**– इन परिवारों में पुरुष एक से अधिक स्त्रियों से विवाह करके परिवार स्थापित करता है। ये परिवार पितृस्थानीय तथा पितृवंशीय होते हैं और साधारणतया इनमें पुरुषों की सामाजिक और आर्थिक स्थिति स्त्रियों की तुलना में उच्च होती है। हालांकि इस प्रकार के परिवार जनजातियों में अधिक मिलते हैं। कहीं–कहीं पर सभ्य समाज में भी स्त्रियां ज्यादा पाई जाती हैं। इसके साथ–साथ कुलीन विवाह की परम्परा तथा पुरुष के अन्दर काम भावना के ज्यादा होने के कारण ऐसे परिवार बनते हैं।

  मुसलमान आज भी एक साथ चार–चार स्त्रियों से विवाह कर सकते हैं, परन्तु हिन्दुओं में 1955 के विवाह कानून द्वारा ऐसे विवाहों पर रोक लगाई गई। इतना होने के बाद भी बहुपत्नी विवाह के परिवारों की संख्या बहुपति विवाह की अपेक्षा समाज में व्याप्त है।

  **(ख) बहुपतिक परिवार**– इन परिवारों में एक स्त्री अनेक पुरुषों से विवाह करके परिवार स्थापित करती है। अधिकांशतः सारे पुरुष आपस में भाई होते हैं लेकिन कभी–कभी स्वतन्त्र रूप से भी स्त्री अनेक पुरुषों से विवाह करती है, चाहे वे कहीं भी निवास करते हों और चाहे वे एक–दूसरे से सम्बन्धित न हों।

  (ग) **भातृ–बहुपतिक एवं अभातृ–बहुपतिक परवार**– यदि स्त्री के सभी पति आपस में भाई–भाई होते हैं तो इसे भातृ–बहुपति विवाह कहा जाता है। यदि वे रक्त सम्बन्ध नहीं रखते हैं तो इसे अभातृ–बहुपति विवाह कहा जाता है। इस प्रकार के परिवार जनजातीय समाजों में पाये जाते हैं। ऐसे परिवार भारत में जौनसार के खस, नीलगिरि के टोडा एवं मालाबार के नायर लोगों में तथा तिब्बत में पाये जाते हैं। ये परिवार बहुपति विवाही होने के साथ–साथ मातृ स्थानीय और मातृवंशीय भी होते हैं।

  अभातृ बहुपति विवाही परिवारों में स्त्री अपने पति के घर बहुत कम या बिल्कुल नहीं जाती वरन् पुरुष ही स्त्री की इच्छानुसार एक साथ अथवा अलग–अलग अवसरों पर उसके साथ रहते हैं। ये परिवार अधिकांशतः

निर्धन पाये जाते हैं। ये परिवार उन समाजों में ज्यादा हैं जहां पर स्त्रियों की संख्या पुरुषों से बहुत कम हो जाती है या जीवनयापन के साधन बहुत कम होते हैं।

टिप्पणी

## नातेदारी

नातेदारी से तात्पर्य ऐसे व्यक्तियों के परस्पर–सम्बन्धों की व्यवस्था से है जो प्रजनन एवं वास्तविक वंशावली के आधार पर परस्पर सम्बन्धित हैं। एस.एल. शर्मा ने 'इरावती कर्ले' की पुस्तक 'Kinship Organisation in India' नातेदारी के दो पक्ष बताये हैं–

(क) आन्तरिक पक्ष (ख) बाह्य पक्ष।

रक्त सम्बन्ध की व्यवस्था आन्तरिक पक्ष है जबकि विवाह सम्बन्ध बाह्य पक्ष है। अनेक विद्वानों ने नातेदारी को निम्न रूप में परिभाषित किया है–

- रॉबिन फॉक्स– ''नातेदारी केवल स्वजन अर्थात् वास्तविक, ख्यात अथवा कल्पित समरक्तता वाले व्यक्तियों के मध्य सम्बन्ध है।''
- एस.सी. दुबे– ''मानव समाज में जन्म अथवा विवाह के आधार पर परिवारों के सदस्य सम्बन्ध और व्यवहार की दृष्टि से एक–दूसरे के बहुत समीप आ जाते हैं। इस प्रक्रिया के कारण कुछ प्रकार के सामाजिक सम्बन्धों की सृष्टि होती है। इस विशिष्ट, सुव्यवस्थित सम्बन्ध–श्रृंखला को नियोजित करने वाली प्रथा को हम नातेदारी कहते हैं।''
- एल.एल. शर्मा– ''नातेदारी उस व्यवस्था का नाम है जो स्वजनों के परस्पर सम्बन्धों को नियमित करती है। ये स्वजन वास्तविक हो सकते हैं और कल्पित भी।''
- चार्ल्स विनिक– ''संगोत्रता (नातेदारी) संबंधी व्यवस्था में समाज द्वारा मान्यता प्राप्त वे सम्बन्ध आ सकते हैं जो अनुमानित और वास्तविक वंशावली–सम्बन्धों पर आधारित हों।''
- रेडक्लफ ब्राउन– ''नातेदारी सामाजिक उद्देश्यों के लिए स्वीकृत वंश–सम्बन्ध है जो सामाजिक सम्बन्धों के परम्परागत सम्बन्धों का आधार है।''
- डॉ. रिवर्स– ''संगोत्रता की मेरी परिभाषा उस सम्बन्ध से है जो वंशावलियों के माध्यम से निर्धारित तथा वर्णित की जा सकती है।''
- लूसी मेयर– ''बन्धुत्व (नातेदारी) में सामाजिक सम्बन्धों को जैविक शब्दों में व्यक्त किया जाता है।''

उपर्युक्त परिभाषायें स्पष्ट करती हैं कि नातेदारी का अर्थ रिश्तेदारों अथवा नातेदारों से है। नातेदारी में सभी वास्तविक अथवा कतिपय समरक्तता वाले व्यक्तियों को सम्मिलित किया जाता है।

## नातेदारी के प्रकार

नातेदारी को निम्न आधारों पर विभाजित किया जा सकता है–

### (1) रक्त–सम्बन्धी नातेदारी

खून के सम्बन्ध को समरक्त नातेदारी कहते हैं। समरक्त रिश्ते खून के आधार पर बंधे होते हैं। माता–पिता एवं बच्चों के बीच सम्बन्ध तथा सहोदरों का सम्बन्ध समरक्तीय

टिप्पणी

सम्बन्ध है। सहोदर समान माता–पिता के बच्चों को कहा जाता है। इस प्रकार पुत्र, माता, बहन, चाचा, ताऊ, भतीजा एवं चचेरा भाई समरक्तीय सम्बन्धों में आते हैं।

यहां पर यह जानना भी आवश्यक है कि खून का रिश्ता काल्पनिक एवं वास्तविक दोनों प्रकार का हो सकता है। बहुपतीय कबीलों में बच्चों के पिता का ज्ञान नहीं होता है। इसी प्रकार गोद लिया हुआ बच्चा ऐसा माना जाता है कि उन्हीं मां–बाप ने उसे जन्म दिया है, जिन्होंने उसे गोद लिया है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि खून का रिश्ता केवल जीवशास्त्रीय नहीं होता है बल्कि सामाजिक मान्यता के आधार पर भी आधारित होता है।

अनेक ऐसी जातियां हैं जहां बच्चे के पिता के विषय में मालूम नहीं होता है। जैसे मलेशिया के एक द्वीप के निवासियों में वास्तविक पिता कौन है, इसका पता नहीं होता है। लेकिन परम्परानुसार बच्चे का पिता वही माना जाता है जो लड़की से विवाह करता है। कुछ लोग जैविकीय सम्बन्धों की तुलना में सम्बन्धियों द्वारा निभाये गये अधिकार एवं कर्तव्यों को अधिक महत्व देते हैं। मलेशिया के कुछ भागों में बच्चा किस परिवार का माना जायेगा, इसका निर्णय प्रसव की क्रिया से नहीं होता, वरन् यह कुछ सामाजिक कृत्यों पर निर्भर करता है। वहां के एक द्वीप में प्रसूता का जो व्यक्ति उसके कार्यों का मूल्य देता है, वही उसकी संतान का पिता कहलाता है और उस व्यक्ति की पत्नी उस बच्चे की मां बन जाती है। दूसरे द्वीप में उस व्यक्ति को पिता कहा जाता है जो गृह द्वार पर एक विशेष वृक्ष के पत्ते का आरोपण करता है। इससे स्पष्ट होता है कि पितृत्व और मातृत्व सृजन एवं प्रसवन की शारीरिक क्रियाओं पर सदा ही आधारित नहीं है वरन् सामाजिक प्रथाओं पर भी निर्भर हैं।

### (2) विवाह–सम्बन्धी नातेदारी

इसके अन्तर्गत उन सब नातेदारों को सम्मिलित किया जाता है जो विवाह के सम्बन्ध के आधार पर एक–दूसरे से जुड़े होते हैं। एक स्त्री अपने पति अथवा एक पति का अपनी पत्नी से सम्बन्ध अथवा पति–पत्नी, बहनोई, दामाद, जीजा, फूफा, नन्दोई, मौसा, साढू, पुत्रवधू, मामी, देवरानी, जेठानी, चाची आदि रिश्तेदारों को विवाह सम्बन्धी नातेदारों में सम्मिलित किया जा सकता है। इन सभी सम्बन्धियों के बीच सम्बन्ध का आधार रक्त न होकर विवाह है।

### (3) श्रेणियां अथवा वंश आधारित नातेदारी

हम अपने सभी नातेदारों से एक समान घनिष्ठता अथवा निकटता नहीं रखते हैं। कुछ अधिक निकट पाये जाते हैं तथा कुछ दूर होते हैं। निकटता, घनिष्ठता अथवा सम्पर्क के आधार पर नातेदारों को विभिन्न श्रेणियों में बांटा जा सकता है–

**(क) प्राथमिक सम्बन्धी/नातेदार**– जिन रिश्तेदारों से हमारा प्रत्यक्ष वैवाहिक या रक्त सम्बन्ध होता है या जिनके सम्बन्ध को प्रकट करने के लिए कोई और सम्बन्धी बीच में नहीं होता, उसे हम प्राथमिक नातेदारी कहते हैं। एक परिवार के अन्तर्गत आठ प्रकार के प्राथमिक सम्बन्धी हो सकते हैं जिनमें से सात रक्त सम्बन्धी तथा एक विवाह से सम्बन्धित होता है। जैसे–पति–पत्नी, पिता–पुत्र, माता–पुत्री, पिता–पुत्री, माता–पुत्र, छोटे–बड़े भाई, छोटी–बड़ी बहन तथा भाई–बहन, ये सभी रक्त सम्बन्धी हैं। पति–पत्नी का सम्बन्ध प्राथमिक विवाह के

टिप्पणी

द्वारा स्थापित हुआ है। ये सभी प्रत्यक्ष सम्बन्धी हैं जिनके साथ हमारे घनिष्ठ सम्बन्ध हैं।

**(ख) द्वितीयक सम्बन्धी/नातेदार**– इसमें उन रिश्तेदारों को सम्मिलित किया जाता है जो हमारे प्राथमिक नातेदारों के प्राथमिक सम्बन्धी होते हैं। ये सम्बन्धी हमसे प्राथमिक सम्बन्धियों द्वारा सम्बन्धित होते हैं। उदाहरण के लिए एक व्यक्ति का दादा उसका द्वितीयक सम्बन्धी है क्योंकि दादा से पति का सम्बन्ध पिता के द्वारा है और पिता तथा पिता के पिता (दादा) आपस में प्राथमिक सम्बन्धी हैं। इसी प्रकार बहन मेरी प्राथमिक सम्बन्धी है परन्तु उसका पति मेरा द्वितीयक सम्बन्धी है। रक्त सम्बन्धी द्वितीयक रिश्तेदारों के और उदाहरण दिये जा सकते हैं जैसे–चाचा–भतीजा, मामा–भानजा, नाना–नानी, बहनोई–साला, देवर–भाभी। मरडॉक (Merdock) ने 33 प्रकार के द्वितीयक सम्बन्धी या नातेदार बताये हैं।

**(ग) तृतीय सम्बन्धी/नातेदार**– इस श्रेणी में उन नातेदारों को सम्मिलित किया जाता है जो हमारे द्वितीयक सम्बन्धियों के प्राथमिक सम्बन्धी हैं अर्थात् हमारे प्राथमिक सम्बन्धियों के द्वितीयक सम्बन्धी हैं। उदाहरणार्थ– साले की पत्नी, तृतीयक सम्बन्धी है, क्योंकि साला मेरा गौण सम्बन्धी है तथा उसकी पत्नी साले की प्राथमिक सम्बन्धी है।

मेरे भाई का साला मेरा तृतीयक सम्बन्धी है, क्योंकि मेरा भाई प्राथमिक सम्बन्धी है और उसका साला मेरे भाई का गौण सम्बन्धी है।

पितामह हमारे तृतीयक सम्बन्धी हैं क्योंकि हमारे पिता प्राथमिक सम्बन्धी हैं और पिता के पिता द्वितीयक सम्बन्धी हैं, अतः दादा के पिता हमारे तृतीयक सम्बन्धी होंगे।

## नातेदारी की भूमिका एवं महत्ता

सरल एवं आदिम समाज नातेदारी व्यवस्था को एक वास्तविक संस्था के रूप में स्वीकार करते हैं। 'फर्थ' का कहना था कि ''नातेदारी एक ऐसी छड़ी है जिस पर एक व्यक्ति जीवन भर रहता है, यह अगणित परिस्थितियों में उसके व्यवहार को नियन्त्रित करती है। नातेदारी का अध्ययन केवल रोमांचक ही नहीं है अपितु सभी के लिए उपयोगी भी है।'' सामाजिक संरचना में नातेदारी की महत्वपूर्ण भूमिका निम्न प्रकार है–

**(1) वंश, उत्तराधिकार एवं पदाधिकार का निर्धारण**– नातेदारी से वंशावली का निर्धारण होता है। वंशावली जितनी लम्बी होती है उतनी ही अधिक उसकी प्रतिष्ठा होती है। परिवार, वंश, गोत्र, मातृदल एवं अर्द्धांश नातेदारी के ही विस्तृत रूप माने जाते हैं। जब किसी भी व्यक्ति को अपने भूतकाल के वंश सम्बन्धियों के विषय में जानकारी मिलती है तो वह भी यह सोचता है कि उसका इतिहास पुराना है यानी उसका वंश पुराने समय से चला आ रहा है। एक व्यक्ति का सम्पत्ति और पद नातेदारी के आधार पर ही वंश तय होता है।

नातेदारी का प्रारम्भिक अध्ययन वकीलों तथा विधि शास्त्रों के द्वारा किया गया। इन लोगों ने सबसे पहले शायद इसलिए अध्ययन किया होगा क्योंकि वे अधिकार, दावे, दायित्व, पितृ अधिकार, संविदा, पितृबन्धुता (Agnate) आदि का

टिप्पणी

ज्ञान कर उन्हें कानूनी जामा पहनाना चाहते थे। वे इस बात का निर्णय भी करना चाहते थे कि कौन किसका उत्तराधिकारी बनेगा तथा क्या किसे प्राप्त होगा? क्योंकि यदि नातेदारी के बाद किसी अन्य को उत्तराधिकार का अधिकार प्राप्त होता है, तब नातेदारी की व्याख्या करनी पड़ती है। इसके साथ–साथ नातेदारों में वरीयता के क्रम को भी निश्चित करना पड़ता है। पितृवंशीय एवं मातृवंशीय परिवारों में वंश उत्तराधिकार एवं वंश पदाधिकार के नियम अलग–अलग पाये जाते हैं।

लूसी मेयर के अनुसार–''सरल प्रविधि वाले समाजों में किसी व्यक्ति का समाज में स्थान, उसके अधिकार और कर्तव्य, सम्पत्ति पर उसका दावा, अधिकतर दूसरे सदस्यों के साथ उसके जन्मजात सम्बन्धों पर निर्भर होते हैं। ऐसे समाजों में संगठन के चाहे जो भी सिद्धान्त हों, प्राथमिक समूह बन्धुत्व से जुड़े होते हैं।"

**(2) मानसिक संतोष**– नातेदारी होने से व्यक्ति को मानसिक संतुष्टि प्राप्त होती है। वह सोचता है कि दुनिया में वह अकेला नहीं है बल्कि सुख–दुख में साथ देने के लिए उसके परिजन हैं। कोई भी व्यक्ति दुनिया में रहते हुए नातेदारी से मुक्त नहीं हो सकता है। हम अपने घरों में अपने पूर्वजों के चित्र देखते हैं। फोटो की एलबम होती है। इन सबका मतलब है कि व्यक्ति नातेदारी को बनाये और जिन्दा रखना चाहता है।

मानवता का इतिहास इस बात का साक्षी है कि एक लम्बी अवधि तक मानव जाति नातेदारों पर आधारित समूहों में रही है। नातेदारी से विहीन व्यक्ति अपने आपको असामाजिक, निकृष्ट एवं मृत मानता है। मनुष्य की प्रकृति इस प्रकार की है कि वह परिचित पर विश्वास करता है और अपरिचित से डरता है। इसलिए वह अपने नातेदारों (क्योंकि उनसे रक्त का सम्बन्ध है) से मिलकर प्रसन्नता, सुखी, सुरक्षित, सन्तोषी महसूस करता है।

**(3) आर्थिक हितों की सुरक्षा**– मरडॉक के अनुसार–''नातेदारी समूह, एक व्यक्ति नहीं, वरन् द्वितीय रक्षा पंक्ति का प्रतिनिधित्व करते हैं।'' जब व्यक्ति अपने आर्थिक एवं सांस्कृतिक दायित्वों को पूरा करना चाहता है और उसे यदि आर्थिक सहायता की आवश्यकता होती है, उस अवस्था में वह अपने नातेदारों की ही सहायता लेता है क्योंकि उसे सहायता देने का उत्तरदायित्व भी नातेदारों का; समाज की अपेक्षा ज्यादा होता है। रक्त सम्बन्धी नातेदारों का विशेष महत्व होता है क्योंकि वैवाहिक नातेदारों की तुलना में रक्त सम्बन्धियों को व्यक्ति अधिक निकट महसूस करता है।

लूसी मेयर के शब्दों में–''विभिन्न समाजों में स्वीकृत बन्धुत्व के बन्धन, लोगों की खेती तथा जायदाद पर अधिकार, समाज के हितों की पूर्ति में परस्पर सहायता तथा दूसरों पर आधिपत्य प्रदान करते हैं। प्रभुता प्राप्त लोगों पर यह दायित्व रहता है कि वे आश्रितों का कल्याण करें। आश्रितों का धर्म आज्ञा पालन है। सभी लोगों का कर्तव्य है कि ऐसे अवसरों पर जहां बन्धुत्व की मान्यता का प्रश्न है, परस्पर सहयोग करें।''

**(4) विवाह एवं परिवार का निर्धारण**– नातेदारी इस बात का निर्धारण करती है कि व्यक्ति किस जाति में विवाह करेगा, विवाह का क्षेत्र क्या होगा? कौन सा

टिप्पणी

विवाह निषिद्ध होगा और किस विवाह को अधिमान्यता मिलेगी। परिवार के अन्दर रक्त एवं विवाह के आधार पर बने सम्बन्ध के सदस्य पाये जाते हैं। दोनों ही प्रकार के सदस्य नातेदार की श्रेणी में आते हैं। परिवार के बढ़ने पर नातेदारी स्वयं ही बढ़ जाती है।

हर परिवार में अलग–अलग व्यक्तियों की भूमिका अहम् होती है। जैसे–मातृसत्तात्मक परिवार में भाई की भूमिका अपनी बहन के परिवार में महत्वपूर्ण होती है क्योंकि वह परिवार का संचालन करता है तथा वही सब प्रकार की आर्थिक क्रियाओं के संचालन का केन्द्र होता है। ठीक इसके विपरीत पितृसत्तात्मक परिवारों में बहिन के परिवार में भाई की भूमिका महत्वहीन होती है। मानवशास्त्री रेडक्लिफ ब्राउन ने नातेदारी व्यवस्था का प्रकार्यात्मक विवेचन किया है। उनकी सोच थी कि विवाह एवं नातेदारी एक–दूसरे के बीच व्यवस्था उत्पन्न करते हैं।

(5) **मानव शास्त्रीय ज्ञान का आधार**– नातेदारी व्यवस्था में मानव शास्त्रीय अध्ययन का विशेष महत्व है। मानवशास्त्रियों ने अधिकांश अध्ययन नातेदारी से ही प्रारम्भ किये। मॉर्गन, मैक्लीनन, हेनरेमेन, लोवी, फ्रेन्ज बोआस, मैलिनो वस्को, रेडक्लिफ ब्राउन, ईवान्स प्रियार्ड, रिवर्स, सैलिगमे आदि मानवशास्त्रियों ने एक या एक से अधिक जनजातियों की नातेदारी व्यवस्था, परिवार एवं विवाह आदि से सम्बन्धित अध्ययन किये। इन विद्वानों का मानना था कि नातेदारी व्यवस्था को समझने के लिए सामाजिक संरचना को समझना अति आवश्यक है। इन लोगों की समाज एवं संस्थाओं के विकास में भी रुचि थी जिसके कारण नातेदारी का अध्ययन इस दिशा में बहुत सहायक रहा।

(6) **सामाजिक दायित्वों का निर्वाह**– 'लीवी' का कहना है कि–''एक रिश्तेदार दूसरे रिश्तेदार को बिना फल की आशा किये हुए निःशुल्क सेवाएं देता है, जबकि उन्हीं सेवाओं के लिए हमें बाह्य व्यक्ति को उसकी कीमत चुकानी पड़ती है। रिश्तेदार एक नैसर्गिक परामर्शदाता होता है, वह कठिन परिस्थितियों में एक सहायक एवं युद्ध तथा शिकार की अवस्था में एक साथी होता है। इसी प्रकार से रिश्तेदारों की औरतें मिल–जुलकर कृषि कार्य करती हैं, घरेलू कार्यों में मदद तथा एक–दूसरे के बालकों का पालन–पोषण करती हैं।''

### 1.2.5 कृषक वर्ग एवं ग्रामीण अवस्थिति

स्वतंत्रता से पूर्व भारत में मुख्य रूप से दो प्रकार की भू–धारण पद्धतियां प्रचलित थीं : जमींदारी प्रथा एवं रैयतवाड़ी प्रथा। इन दोनों प्रणालियों के अन्तर्गत देश के विभिन्न राज्यों में विभिन्न प्रकार की भू–धारण प्रणालियां पायी जाती थीं। सरकार, भूमि–मालिक तथा काश्तकार के बीच संबंधों में बहुत अन्तर पाया जाता था। देश की भू–धारण प्रणाली का मुख्य उद्देश्य सरकार को कृषि व्यवस्था से भू–राजस्व प्राप्त करना रहा है।

ब्रिटिश शासन का वास्तव में यह उद्देश्य नहीं था कि भूमि व्यवस्था का राष्ट्रीय हित में प्रयोग हो, कृषि–उत्पादन और उत्पादकता बढ़े एवं परिश्रमशील कृषक समुदाय की आर्थिक एवं सामाजिक उन्नति हो। वह अपनी आय वृद्धि के प्रति ही सजग था।

टिप्पणी

भारत में भूमि सुधार के कार्यक्रम आजादी के बाद आरंभ हुए। स्वतंत्रता के समय सन् 1947 में भारत में मूलतः तीन प्रकार की भूमि व्यवस्थाएं थीं जिनको इस प्रकार समझा जा सकता है–

1. जमींदारी,
2. रैयतवाड़ी और
3. महालवाड़ी।

**1. जमींदारी प्रथा** (Zamindari System)– सन् 1786 में लॉर्ड कॉर्नवालिस को भारत में गवर्नर जनरल बनाकर भेजा गया। उसने भारत में आते ही कहा कि भारत में ऐसी भू–कर व्यवस्था स्थापित की जाए जिससे कम्पनी को लाभ हो। लॉर्ड कॉर्नवालिस ने अभिलेखपाल जेम्स ग्राण्ट के सहयोग से भू–कर का अध्ययन करके 1790 में स्थायी बन्दोबस्त व्यवस्था लागू की जो प्रारम्भ में 10 वर्ष के लिए थी, लेकिन तीन वर्ष बाद 1793 में इसे स्थायी घोषित कर दिया गया। इस व्यवस्था की दो प्रमुख विशेषताएं थीं–

प्रथम, पूर्वतः विद्यमान, जमींदारों को भू–स्वामी बना दिया गया। अब वे सरकार के अभिकर्ता के रूप में न केवल लोगों से भू–राजस्व एकत्र करने वाले रह गये बल्कि वे अपने जमींदारी क्षेत्र में भूमि के मालिक भी बन गये। भूमि पर उनका स्वामित्व अधिकार पैतृक और हस्तांतरणीय बना दिया गया।

द्वितीय, जमींदारों को एकत्र किये गये लगान का 10/11 भाग सरकारी कोष में जमा करना था। शेष 1/11 भाग अपने प्रतिफल के रूप में अपने पास रखने की व्यवस्था थी। इस व्यवस्था में सरकार को जमींदार द्वारा एक निश्चित राशि भुगतान किया जाना था।

कृषि क्षेत्र के प्रसार या कृषि उत्पादन में सुधार या किसी अन्य कारण से यदि जमींदार अधिक लगान वसूल करता था तो भी उसे पूर्व राशि ही भुगतान करनी पड़ती थी। इसी प्रकार फसल खराब होने की दशा में भी निर्धारित तिथि पर निर्धारित राशि का भुगतान करना था। जमींदारी व्यवस्था को बाद में बंगाल और बिहार के साथ उड़ीसा मद्रास के उत्तरी जिलों वाराणसी में भी लागू किया गया।

ईस्ट इंडिया कम्पनी ने मध्य भारत और अवध के कुछ क्षेत्रों में अस्थायी जमींदारी बन्दोबस्त (Temporary Zamindari Settlement) किया जिसके अनुसार यद्यपि जमींदारों को भूमि का स्वामी तो बना दिया गया परन्तु उनके द्वारा सरकारी कोष में जमा किये जाने वाले लगान का समय–समय पर संशोधन किया जाता था। इसके अतिरिक्त अंग्रेज शासकों के प्रति निष्ठा रखने वाले और सेवा करने वालों को भी देश में स्थान–स्थान पर भू–स्वामित्व प्रदान कर जमींदारों का एक अन्य वर्ग बनाया गया। कानून के अन्तर्गत उन्हें भूमि का स्वामी बना दिया गया। इनसे ही जमींदारी प्रथा का उदय हुआ। बंगाल, बिहार, पूर्वी उत्तर प्रदेश सहित पूर्वी भारत और देश की रियासतों के अन्य भागों में जमींदारी प्रथा प्रचलित थी। वास्तव में ब्रिटिश शासकों ने अपनी सुविधा और शासन की जड़ मजबूत करने के लिए ही यह समझौता किया था। भू–राजस्व संबंधी दायित्व बिना किसी सर्वेक्षण के नियत किया गया। जमींदारों को असामियों से जो लगान मिलता था उसका 10/11 भाग वे सरकारी खजाने में जमा करते थे और शेष 1/11 अपने निजी पुरस्कार के रूप में रख लिया करते थे।

टिप्पणी

भू–धारण प्रथा के इस समझौते में जो कि ब्रिटिश प्रशासन के दृष्टिकोण से एक सरल भूमि कानून मालूम पड़ता था और जिसमें लगान के भुगतान में स्थायित्व व निश्चितता के गुण वर्तमान थे, असामियों के हितों की रक्षा के लिए कोई चिन्ता नहीं की गई। ब्रिटिश शासन ने अपने राजनैतिक स्वार्थों के लिए उन करोड़ों भूमि जोतने वाले कृषकों के हितों का बलिदान कर दिया जो कृषक अपनी भूमि के वास्तविक स्वामी थे, वे जमींदार से प्राप्त भूमि पर मात्र असामी के रूप में रह गये। अत्यधिक भूमि लगान, शोषण और निर्धनता इसके परिणाम थे।

इस प्रणाली में जमींदार भूमि का स्वामी माना जाता था तथा भूमि सम्बन्धी सभी अधिकार उसी के हाथ में होते थे। सरकार से कृषक का सीधा सम्बन्ध नहीं होता था। इन जमींदारों को भूमि के लगान का 10/11 भाग कम्पनी को देना पड़ता था। 1/11 भाग जमींदार अपने पास रख लेते थे। इस व्यवस्था के अनुसार यदि जमींदार नियमित रूप से लगान अदा नहीं करता था तो उससे भूमि छीन ली जाती थी। इस प्रकार जमींदार को एक निश्चित समझौते के अन्तर्गत सरकार को लगान देना होता था। किंतु वह पट्टेदारों व काश्तकारों से वसूल किये जाने वाले लगान में वृद्धि करने के लिए स्वतंत्र होता था। इस व्यवस्था के अन्तर्गत भूमि को जोतने वालों का भूमि पर स्वामित्व नहीं होता था। जमींदार द्वारा उन कृषकों को हटा दिया जाता था जो कम लगान देते थे और उनकी भूमि उन व्यक्तियों को दे दी जाती थी, जो अधिक लगान देते थे। इससे किसान के मन में अस्थिरता रहती थी। यह प्रथा बनारस, बंगाल, उड़ीसा के कुछ भागों में प्रचलित थी।

**2. रैयतवाड़ी प्रथा** (Ryotwari System)– दक्षिण और दक्षिण पश्चिम भारत में भूमि व्यवस्था के निर्धारण में एक नयी समस्या उत्पन्न हुई क्योंकि वहां जमींदार न थे। इसलिये वहां रैयतवाड़ी व्यवस्था लागू की गयी। इस व्यवस्था के अंतर्गत कृषक को भूमि का स्वामी बना दिया गया और उसे ही भू–राजस्व भुगतान का दायित्व दिया गया। इस व्यवस्था के समर्थकों का तर्क था कि यह व्यवस्था पहले से चली आ रही प्रणाली का ही विस्तार मात्र है।

रैयतवाड़ी प्रथा का आरंभ 19वीं शताब्दी के आरंभ में मद्रास और बम्बई प्रेसीडेन्सी में किया गया। रैयतवाड़ी व्यवस्था के अंतर्गत भूमि बन्दोबस्त स्थाई नहीं था। सामान्यतया 20–30 वर्षों में भू–राजस्व का संशोधन किया जाता था और सामान्यतः इसे बढ़ा दिया जाता था। इसके अन्तर्गत रैयत का सीधा संबंध राज्य से होता था। भूमि का स्वामित्व राज्य में ही निहित होता था। किन्तु, व्यवहार में प्रत्येक पंजीकृतधारी (रैयत) स्वामी होता था।

जब तक वह राज्य को भू–राजस्व नियमित और प्रत्यक्ष रूप से देता रहता था, उसे बेदखल नहीं किया जा सकता था। उसे भूमि का प्रयोग करने, हस्तांतरित करने, बेचने, बन्धक रखने या अन्य किसी प्रकार के प्रयोग करने का अधिकार होता था।

**3. महालवाड़ी प्रथा** (Mahalwari System)– यह प्रथा सन् 1833 के कानून के अनुसार सर्वप्रथम आगरा व अवध में शुरू की गई। इसके पश्चात पंजाब में भी लागू की गई व मध्यप्रदेश में इसका विस्तार हुआ। इस पद्धति के अन्तर्गत गांव के किसानों का संयुक्त अधिकार रहता था। उस समस्त भूमि को इकाई मानकर भू–राजस्व निर्धारित किया जाता था। यद्यपि गांव के किसान व्यक्तिगत रूप से खेती कर सकते थे, परन्तु मालगुजारी देने का इनका उत्तरदायित्व संयुक्त माना जाता था। गांव का लम्बरदार

मालगुजारी इकट्ठा करता था। जिसके लिए उसे एक निश्चित कमीशन मिलता था। सहभागी परिवार की भूमि को खुदकाश्त की भूमि कहते थे। इस प्रथा में वैयक्तिकता एवं सामूहिकता का सुखद समन्वय था और मध्यस्थ न होने से शोषण की समस्या नहीं उठती थी। लगान अस्थायी रूप से निर्धारित होने के कारण भूमि की उर्वरता या कीमत बढ़ने पर सरकार की आय भी बढ़ सकती थी, परन्तु सरकारी अधिकारियों को मनमानी एवं पक्षपात करने का अवसर इस प्रथा में मिल जाता था। यह त्रासदपूर्ण था।

महालवाड़ी प्रथा के अन्तर्गत गांव की समस्त भूमि पर गांव के सभी किसानों का संयुक्त रूप से स्वामित्व होता था। इस प्रणाली में सरकार द्वारा पूरे वर्ष के लिए एक रकम मालगुजारी के रूप में तय कर दी जाती थी। मालगुजारी का निर्धारण गांव की समस्त भूमि को एक इकाई मानकर किया जाता था। जिसको देने का उत्तरदायित्व गांवों के सभी भूमि स्वामियों का होता था, जिन्हें सहभागी कहते थे। प्रत्येक सहभागी अपनी भूमि का स्वतंत्र रूप से स्वामी होता था। वह अपनी भूमि पर व्यक्तिगत रूप से खेती करता था। अतः वह केवल अपने हिस्से की ही मालगुजारी देने का उत्तरदायी होता था।

इस व्यवस्था के जनक मार्टिन वर्ड थे। यह व्यवस्था उत्तर–पश्चिमी प्रांत तथा अवध में लागू की गयी थी। बाद में इसमें पंजाब, मध्यप्रदेश व उत्तर प्रदेश आदि शामिल किये गये। लाभ की भूमि को 'महाल' कहते थे। जो भूमि गांव में खाली होती थी उस पर ग्राम समाज का अधिकार होता था। गांव का लम्बरदार मालगुजारी एकत्रित करता था। इसके लिए उसको कमीशन मिलता था।

वर्तमान में उक्त तीनों पद्धतियां नहीं हैं। कास्तकार अपनी भूमि का स्वामी है। भारतीय समाज की संरचना में कृषि जगत का महत्वपूर्ण स्थान है। यह तथ्य आज भी यथापूर्व है कि "भारत गांवों में बसता है और भारत कृषि प्रधान देश है।"

### 1.2.6 नगरीय सामाजिक संरचना

प्रत्येक समाज की अपनी एक संरचना होती है जो उसकी विभिन्न परंपराओं में निहित होती है। पारंपरिक पहलू पर विचार करने, अनुभूति करने तथा व्यवहार करने के वे प्रतिमान हैं, जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित होते हुए समाज की विरासत को प्रकट करते हैं। इसलिए किसी भी समाज का अध्ययन उनकी संरचनात्मक विशेषताओं और प्रमुख परंपराओं के आधार पर ही किया जा सकता है।

संस्कृति एवं परंपराएं किसी भी देश और समाज की आत्मा होती हैं। इसके माध्यम से हम उस समाज के जीवन की सामूहिक एवं अच्छी क्रियाओं को जान पाते हैं और यही क्रियाएं सामाजिक जीवन की नींव बनती हैं। इन्हीं पर किसी समाज की संरचना निर्मित होती है। चाहे वह ग्रामीण समाज हो अथवा नगरीय समाज कोई भी संस्कृति मानव जीवन के उन गुणों का सूचक होती है जिनके आधार पर वह समूह एक विशिष्ट समूह बन जाता है। उसे अन्य मानव समूहों से अलग देखा तथा समझा जा सकता है।

नगरीकरण के परिणामस्वरूप सामाजिक व्यवस्था एवं सामाजिक संरचना में बहुपक्षीय परिवर्तन होता है। नगरीकरण की प्रक्रिया प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष दोनों रूप से समाज में अनेक परिवर्तनों को प्रोत्साहित करती है। नगरीकरण का संबंध नगरों तथा नगरीयता से है। नगरीकरण एक प्रवृत्ति भी है।

टिप्पणी

## नगर का अर्थ एवं परिभाषाएं

स्थूल रूप से नगर वह समुदाय है जहां द्वितीय समूहों व नियंत्रणों, व्यापार व घनी आबादी, अवैयक्तिक संबंधों की प्रधानता, प्रकृति से दूर जीवन आदि विशेषताएं पाई जाती हैं। सामान्य रूप से नगरों में जनसंख्या अधिक होती है तथा उसका घनत्व भी अधिक होता है।

### नगरों का विकास

नगरों के विकास के संबंध में कोई निश्चित समय निर्धारित नहीं किया जा सकता है। प्राचीन काल से ही भूमंडल पर नगरों का उद्‌भव एवं विकास सभ्यता के साथ–साथ होता आया है। इसलिए गिस्ट तथा अलबर्ट का कथन है, "स्वयं सभ्यता के जन्म के समान ही नगर का जन्म भी अतीत के अंधेरे में विलीन हो गया है।"

विज्ञान के आविष्कारों के सहयोग से यातायात के साधनों का विकास हुआ। इन्हीं के साथ–साथ उद्योग धंधों का विकास हुआ और विशाल नगरों की स्थापना हो गई। वर्तमान समय में विश्व के सभी भागों में नगरों का जाल–सा फैल गया है।

### नगरीकरण का अर्थ

सामाजिक परिवर्तन की एक विशेष प्रक्रिया को नगरीकरण कहा जाता है। इस प्रक्रिया के माध्यम से अनगरीकृत समाज क्रमशः नगरीकृत समाज का रूप लेता है। दूसरे शब्दों में नगरीकरण वह प्रक्रिया है जिसके परिणामस्वरूप उन मनोवृत्तियों एवं प्रवृत्तियों का ग्रामीण क्षेत्रों में प्रसार होता हैं, जिन्हें नगरीय कहा जाता है। भिन्न–भिन्न विद्वानों ने अपने दृष्टिकोण द्वारा भिन्न–भिन्न ढंग से नगरीकरण की प्रक्रिया को स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

### परिभाषाएं

फेयर चाइल्ड का कहना है, "नगरीकरण नगरीय बनने की प्रक्रिया है। इसका तात्पर्य व्यक्तियों अथवा सामाजिक प्रक्रियाओं का नगरीय क्षेत्रों के अनुरूप बनना है। नगरीकरण का तात्पर्य नगरीय क्षेत्रों की जनसंख्या तथा नगरीय प्रक्रियाओं में वृद्धि होना है।"

एन्डरसन के अनुसार, "सामान्यतया नगरीय विकास के संदर्भ में ही नगरीकरण शब्द का उपयोग किया जाता है और इसका अर्थ होता है कि–

(क) व्यक्तियों द्वारा ग्रामीण क्षेत्रों में नगरीय आवास की ओर बढ़ना।

(ख) व्यक्तियों द्वारा कृषि के स्थान पर गैर कृषि कार्यों को ग्रहण करना।"

ब्राइस तथा लान– "तकनीकी व पारिस्थितिक घटनाओं द्वारा जीवन निर्वाह की शीघ्र परिवर्तित होती हुई और बढ़ती हुई विशेषीकृत विधियों को प्रभावित करना ही नगरीकरण है।"

ओम– "नगरीकरण व्यक्ति की विचारधारा, आपसी व्यवहार तथा कार्य को परिवर्तित कर देता है जिसका परिणाम होता है हमारा ऐसे युग से गुजरना जहां प्रत्येक दिन श्रम विभाजन दृष्टिगोचर होता है। नगरीकरण का अर्थ जीवन के पहलुओं में निरंतर परिवर्तन भी है।"

प्रो. श्रीनिवासन– "नगरीकरण से अभिप्राय केवल संकुचित क्षेत्र में अधिक जनसंख्या से नहीं होता बल्कि सामाजिक आर्थिक संबंधों में परिवर्तन से होता है।"

टिप्पणी

मि. बर्गेल के अनुसार, "ग्रामीण क्षेत्रों को नगरीय क्षेत्रों में बदलने की प्रक्रिया को नगरीकरण कहते हैं।"

संयुक्त राष्ट्र संघ (UNO) के अनुसार, "सबसे सरल तथा जनांकिकीय अर्थ से नगरीकरण की परिभाषा एक ऐसी प्रक्रिया के रूप में की जा सकती है जिसके द्वारा जनसंख्या एक निश्चित आकार से बड़े आकार की इकट्ठी होती है।"

निष्कर्षतः नगरीकरण की प्रक्रिया एक जटिल प्रक्रिया है। यह वह प्रक्रिया है जिसके माध्यम से शहरी तत्वों व नगरीय विशेषताओं का विकास एवं प्रसार होता है।

## नगरीय सामाजिक स्तरीकरण

नगरों का वर्गीकरण कई प्रकार से किया जा सकता है। जिस्ट एवं अलबर्ट ने प्रकार्यात्मक अवधारणा के आधार पर नगरों को छह भागों में विभक्त किया है–

1. उत्पादन केन्द्र यथा– लोहा एवं इस्पात हेतु जमशेदपुर, वस्त्र–उद्योग के लिए अहमदाबाद, टोप के लिए डैनबरी, रबर के लिए अकरौन। 2. व्यापार एवं वाणिज्य केन्द्र यथा– न्यूयॉर्क, हैम्बर्ग, अम्स्टरडम, देहली, लुधियाना 3. राजनीतिक राजधानियां यथा– लंदन, वाशिंगटन, देहली, चंडीगढ़ 4. सांस्कृतिक केन्द्र यथा– ऑक्सफोर्ड, कैम्ब्रिज, शांति निकेतन, बनारस। 5. भ्रमण–केन्द्र यथा– मौंटेकार्लो, पदम बीच, मसूरी, शिमला, श्रीनगर। 6. बहुविध नगर जिनमें विभिन्न गतिविधियां होती हैं और जो किसी विशिष्ट गतिविधि के लिए प्रसिद्ध नहीं होते।

ई.ई. मुन्टज ने प्रमुख गतिविधि के आधार पर नगरों को इस प्रकार वर्गीकृत किया है–

1. प्रतिरक्षा नगर, जिनका निर्माण सुरक्षा हेतु किया गया था तथा जिनके चारों ओर ऊंची दीवारें हैं, यथा– क्यूबेक, मैक्सिको एवं मनीला।
2. व्यापारिक नगर, यथा– लंदन, न्यूयॉर्क, बंबई।
3. औद्योगिक नगर यथा– मैसाचुसेट्स, जमशेदपुर, मैनचेस्टर।
4. राजनीतिक नगर, यथा– नई दिल्ली, चण्डीगढ़, वाशिंगटन, जहां शासकीय गतिविधि केंद्रित होती हैं।
5. धार्मिक केन्द्र यथा जेरूसलेम एवं वैटिकन।
6. भ्रमण–केन्द्र, यथा– मौन्टेकार्लो, श्रीनगर।

उपर्युक्त दोनों वर्गीकरण नगरों के विभिन्न प्रकारों को विभेदीकृत करने के प्रयास हैं, परन्तु आजकल नगर किसी अकेली गतिविधि का नहीं, अपितु, चार अथवा पांच गतिविधियों का केन्द्र होता है। नगर व्यापारिक, उत्पादक, राजनीतिक, शैक्षिक एवं भ्रमणात्मक सभी प्रकार की गतिविधियों का केन्द्र हो सकता है। चूंकि नगर में अनेक गतिविधियां होती हैं।

## नगरीय समुदाय की विशेषताएं

नगरीय समुदाय की विशेषताएं निम्नलिखित हैं–

1. **अनामकता**– बोगार्ड्स के अनुसार, नगरीय समूह अनामकता के लिए प्रसिद्ध है। अपने आकार एवं जनसंख्या की विशालता के कारण नगर प्राथमिक समूह नहीं बन सकता। नगरवासी एक–दूसरे के प्राथमिक संपर्क में नहीं आते, वे एक–दूसरे के नाम को जाने बिना मिलते एवं वार्तालाप करते हैं। यद्यपि विनम्रता

टिप्पणी

एवं पारस्परिक सुविधा के सतही आचरणों का नगर में विकास होता है। तथापि वे कृत्रिम होते हैं। नगरवासी परदेसियों को जिनके संपर्क में वह आता है, मानव प्राणी न समझकर जीवित यंत्र समझता है। नागरिक नगर में कई वर्षों तक रहने के उपरांत भी उसी क्षेत्र में निवास करने वाले एक तिहाई नगरवासियों तक के नाम भी नहीं जनता। नगरीय संसार विभिन्न परिचयों में बंटा लगता है। नगर में संपर्क भागिक होते हैं। यह समग्र व्यक्तियों का भाग नहीं होता है। 'ली' का कथन है, "अनामकता लाखों व्यक्तियों की नगर में पहचान को समाप्त कर देती है।"

अनेक नगरवासी सामाजिक रिक्तता में निवास करते हैं। अनेक सामाजिक व्यवहार को नियमित अथवा नियंत्रित करने वाले संस्थात्मक आदर्श नियम प्रभावी नहीं होते। यद्यपि वे अपने चारों ओर अनेक व्यक्तियों एवं अनेक संस्थागत संगठनों से परिचित होते हैं, तथापि वे किसी समूह अथवा समुदाय के प्रति अपनापन अनुभव नहीं करते। सामाजिक रूप में वे प्रचुरता के मध्य निर्धन होते हैं।'

2. **मकानहीनता**– मकानहीनता नगर समुदाय की एक अन्य निराशाजनक विशेषता है। बड़े नगरों में मकान की समस्या अति गंभीर होती है। अनेक निम्नजातीय व्यक्ति अपनी रातें सड़कों की पटरियों पर व्यतीत करते हैं। मध्यवर्गीय व्यक्तियों के पास केवल एक अथवा दो कमरों के मकान होते हैं और वे भी छठी सातवीं मंजिल पर। बच्चों के लिए खेलने का कोई स्थान नहीं होता। नगर का वातावरण संतान निरोध को बढ़ावा देता है।

3. **वर्ग–अतिवाद**– वर्ग–अतिवाद नगरीय समुदाय की विशेषता है। नगर में अति धनी, अति निर्धन, भव्य कोठियों में रहने वाले एवं ऐश्वर्यपूर्ण जीवन व्यतीत करने वाले तथा पटरियों पर सोने वाले, जिन्हें दो समय पेट भर भोजन भी नसीब नहीं होता है। ऐसे सभी प्रकार के व्यक्ति मिलते हैं। श्रेष्ठतम नैतिकता एवं निम्नतम धोखाधड़ी दोनों नगर में पाए जाते हैं। उच्च कोटि की सृजनात्मकता एवं घोर बेरोजगारी दोनों ही नगरीय विशेषताएं हैं।

4. **सामाजिक विजातीयता**– नगर ग्राम की अपेक्षा अधिक विजातीय होता है। यह प्रजातियों, लोगों एवं संस्कृतियों का घुलन स्थल रहा है तथा नई जैविक एवं सांस्कृतिक संकर जातियों का अति अनुकूल उत्पत्ति स्थल है। यह व्यक्तिगत भेदों को केवल मात्र सहन नहीं करता, अपितु परिपोषित करता है। इसने संसार के लोगों को दूरस्थ भागों से इकट्ठा किया है क्योंकि वे एक–दूसरे से भिन्न हैं, अतएव परस्पर उपयोगी हैं, इसलिए नहीं कि वे सजातीय एवं समान विचारों वाले व्यक्ति हैं। नगरीय समुदाय के सदस्यों के विचार, व्यवसाय, वैयक्तिक गुण एवं उनका सांस्कृतिक जीवन ग्रामवासियों की अपेक्षा अधिक विभिन्न होता है।

5. **सामाजिक दूरी**– सामाजिक दूरी अनामकता एवं विजातीयता की उपज है। नगरवासी एकांत अनुभव करता है। व्यक्ति की सच्ची भावनाओं पर मुखौटा रहता है। अधिकांश सामाजिक संपर्क अवैयक्तिक एवं अर्द्ध होते हैं। औपचारिक विनम्रता सच्ची मित्रता का स्थान ले लेती है। नगरवासी पड़ोसी न होकर केवल रात्रिवासी होते हैं।

6. **ऊर्जा एवं गति**– ऊर्जा एवं गति नगर के अंतिम लक्षण हैं। आकांक्षी व्यक्ति दिन–रात परिश्रम करते हैं, जिससे अन्य व्यक्तियों को भी समान गति से परिश्रम करने की प्रेरणा मिलती है। प्रेरणा एवं अंतःप्रेरणा प्रभूत मात्रा में होती है। लोग स्वयं को अत्यधिक गतिविधियों में उलझा लेते हैं तथा अपनी शक्ति के बाहर कार्य करते हैं। जो अंततः उनकी स्नायुओं को समाप्त कर देते हैं। उनकी शक्ति का ह्रास हो जाता है। नगरीय जीवन ग्रामीण जीवन की तुलना में अधिक मानसिक तनाव उत्पन्न करता है। नगरों को जनसंख्या का संहारक कहा जा सकता है।

   नगरों की तंग एवं गंदी गलियां स्वास्थ्य पर हानिकारक प्रभाव डालती हैं। यह जानना रुचिकर होगा कि देहातों में मृत्यु का प्रतिशत नगरों की अपेक्षा कम होता है तथा स्वास्थ्य संबंधी वे सुविधाएं प्राप्त नहीं होती जो नगरों में होती हैं। नगरों में रोग का प्रतिशत अधिक होता है। नगरीय समुदाय में ग्रामीण समुदाय की अपेक्षा हृदयाघात एवं मानसिक रोग के मामले अधिक संख्या में होते हैं।

औद्योगिक युग की एक प्रमुख विशेषता नगरीय जीवन की वृद्धि है। प्राचीन काल में अधिकतर व्यक्ति गांवों में रहते थे और कृषि करते थे। नगर थोड़े से थे और वे भी व्यापार, संस्कृति, शिक्षा अथवा सरकार के केन्द्र के रूप में थे। आज सभी औद्योगीकृत देशों में स्थिति उल्टी हो गई है। इंग्लैण्ड एवं अमेरिका में शहरी आबादी ग्रामीण की अपेक्षा निरंतर बढ़ रही है। यातायात एवं संचार की नई सुविधाओं में सब इकट्ठे मिलकर रहते हैं। नगरों की वृद्धि आधुनिक युग का विशिष्ट लक्षण है तथा जैसे–जैसे नगरों की वृद्धि होती जाती है; वैसे–वैसे समाज के समग्र स्वरूप में परिवर्तन आ जाता है। व्यक्ति अजनबी व्यक्तियों के संसार में छिपकर किसी भी प्राथमिक समूह के दमनात्मक नियंत्रण से बच सकता है।

यह भी ध्यान रहे कि देहाती जीवन की अपेक्षा शहरी जीवन राज्य द्वारा अधिक नियंत्रित होता है। कूड़ा–करकट फेंकने जैसी साधारण क्रिया पर भी राजकीय नियंत्रण होता है। सरकार अनेक कार्य अपने हाथों में लेती है, जिनमें कुछ तो समुदाय के गृह–प्रबन्धकारी कार्य होते हैं। इस प्रकार नगर में लोकाचारों एवं जनरीतियों पर उतनी निर्भरता नहीं होती, जितनी देहातों में होती है। दूसरे शब्दों में, नगर जितना बड़ा होगा नियंत्रण की समस्या उतनी ही गंभीर होगी तथा गौण नियंत्रण की एजेंसियों का रूप उतना ही जटिल होगा।

## अपनी प्रगति जांचिए

1. सन् 1947 में कृषि–भूमि संबंधी व्यवस्था क्या थी?

   (क) जमींदारी (ख) रैयतवाड़ी

   (ग) महालवाड़ी (घ) उपरोक्त सभी

2. "ग्रामीण क्षेत्रों की नगरीय क्षेत्रों में बदलने की प्रक्रिया को नगरीकरण कहते हैं।" यह परिभाषा किसकी है?

   (क) एन्डरसन (ख) बर्गेल

   (ग) प्रो. श्रीनिवासन (घ) ब्राइस

टिप्पणी

## 1.3 समाजशास्त्र का क्षेत्र

समाजशास्त्र के क्षेत्र, महत्व एवं तत्संदर्भित अन्यान्य प्रमुख पहलुओं को पृथक–पृथक इस प्रकार समझा जा सकता है–

### 1.3.1 समाजशास्त्र का अध्ययन–क्षेत्र : स्वरूपात्मक एवं समन्वयात्मक संकल्पना

ब्रिटिश समाज अध्येता मोरिस गिन्सबर्ग के अनुसार, समाजशास्त्र के विस्तार–क्षेत्र में मानवीय अंतर्क्रियाओं, इनकी स्थितियों व परिणामों का विस्तृत अध्ययन किया जाना सम्मिलित है। कुछ लेखक इसके विस्तार–क्षेत्र को इच्छा के कार्यों से उत्पन्न संबंधों तक सीमित कर देते हैं परंतु यह एक अन्यायगत व कार्य–अयोग्य परिसीमन है। व्यक्तियों के मध्य की कई अंतर्क्रियाओं को सुस्पष्ट रूप से निर्धारित किया जाना अथवा समझा जाना सम्भव नहीं हो पाता।

समाजशास्त्र के शिक्षार्थी को एक अत्यन्त रोचक समस्या से जूझना पड़ता है और वह है– कारण अथवा तार्किक प्रयोजन की तत्संबंधित भूमिकाओं का अथवा सामाजिक जीवन में अचेतनता व आवेग का निर्धारण। इस प्रकरण में समाजशास्त्र को सामाजिक संबंधों के सम्पूर्ण जाल अथवा मुद्दे को सुलझा पाने में सक्षम होना चाहिए। इन संबंधों को व्यक्तियों के स्वभाव पर निर्भर माना जाता है। सामाजिक संबंध– (1) व्यक्तियों के एक–दूसरे पर, (2) समुदाय पर तथा (3) बाह्य परिवेश पर निर्भर होते हैं। इसकी व्याख्या करने के लिए किसी भी सामाजिक घटना के अतीत में पहुंचा जा सकता है जहां हमें जटिल अंतर्क्रियाओं का संयुक्त प्रभाव नजर आ जाएगा। इन अंतर्क्रियाओं का संयोजन उस समुदाय में परिलक्षित होता है जिसमें बाहरी प्रभाव भी होते हैं। यदि इस ओर ध्यान से देखा जाए तो समाजशास्त्र का विस्तार–क्षेत्र और अधिक व्यापक हो जाता है।

समाजशास्त्र में मानव समाज का क्रमबद्ध व वस्तुपरक अध्ययन किया जाता है। समाज अध्येता व्यक्तियों की सामाजिक क्रियाओं का अध्ययन करते हैं। उदाहरणार्थ पति व पत्नी, अध्यापक व शिक्षार्थी, क्रेता व विक्रेता के सामाजिक संबंध एवं सामाजिक प्रक्रियाएं, यथा– समन्वय, प्रतिस्पर्द्धा, संघर्ष व संगठन, समुदाय व राष्ट्र सहित सामाजिक संरचनाएं (परिवार, वर्ग व राज्य), इन सबसे समाजशास्त्र के विमर्श उत्पन्न होते हैं। रीति–रिवाजों व मूल्यों से व्युत्पन्न व्याख्याओं से सामाजिक संस्थानों का निर्माण किया जाता है।

इस प्रकार समाजशास्त्र को सामाजिक जीवन के अध्ययन के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। समाजशास्त्र में भांति–भांति की बोधगम्यताएं व रुचियां होती हैं। इसका लक्ष्य समाजों, संस्थानों व संघों में संबंधों को वर्गीकृत रूप प्रदान करना होता है। ये संबंध मानव जीवन के आर्थिक, राजकीय, नैतिक, धार्मिक व सामाजिक पहलुओं से संबंधित होते हैं। यद्यपि समाजशास्त्र का सार क्या है इस बिन्दु पर समाज अध्येता एकमत नहीं हो सके हैं किन्तु इस बात में सर्वसम्मति है कि समाजशास्त्र का संबंध अंतर्क्रिया–प्रणालियों के अध्ययन से है जिनके द्वारा सामाजिक संस्थान व राज्य आदि को रूप प्रदान किया जाता है। इसीलिए समाजशास्त्र में हम सामाजिक संगठन, सामाजिक संरचना, संस्थानों व संस्कृति का अध्ययन करते हैं।

टिप्पणी

प्रत्येक विषय की अपनी सीमाएं होती हैं जिसके अंतर्गत उक्त विषय का अध्ययन किया जाता है। यदि किसी विषय की सीमाएं निश्चित नहीं होती तो उस विषय के अध्ययन की सीमाओं को निश्चित करना कठिन हो जाता है। समाजशास्त्रियों के मध्य समाजशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र को लेकर मतभेद रहा है। वी. एफ. काल्बर्टन (V.F. Calberton) के अनुसार, "क्योंकि समाजशास्त्र एक ऐसा लचीला विज्ञान है कि यह निर्णय कठिन है कि इसकी सीमा कहां आरम्भ होती है और कहां समाप्त। समाजशास्त्र कहां सामाजिक मनोविज्ञान बन जाता है और सामाजिक मनोविज्ञान कहां समाजशास्त्र, या कहां अर्थशास्त्र का सिद्धांत या जीवशास्त्रीय सिद्धांत समाजशास्त्रीय सिद्धांत बन जाता है– यह एक ऐसी जटिल संरचना है जिसका निर्णय करना संभव नहीं है।"

सभी सामाजिक घटनाएं, सामाजिक संबंध, सामाजिक अंतःक्रियाएं, पूर्णतः सामाजिक हैं अर्थात समाज की अन्य इकाई एवं तथ्यों द्वारा प्रभावित होती हैं आत्मनिर्भर नहीं होती। ये सभी प्रघटनाएं सामाजिक पृष्ठभूमि में उत्पन्न होती हैं इसलिए सामाजिक पृष्ठभूमि का निर्माण करने वाले सभी अंग राजनैतिक परिवेश, आर्थिक परिवेश, जैविक संरचना, प्राकृतिक वातावरण, वैज्ञानिक स्थिति/प्रगति इत्यादि सामाजिक घटनाओं को प्रभावित करते हैं। जैसे– शोषणकारी, दमनकारी राजशाही के परिणामस्वरूप सामाजिक क्रांति हुई। आर्थिक शोषण और पूंजीवाद के फलस्वरूप सामाजिक क्रांति तथा आर्थिक संसाधन के पुनः आवंटन एवं समाजवाद की बात उठी। वैज्ञानिक प्रगति के फलस्वरूप औद्योगिक क्रांति हुई और औद्योगिक क्रांति ने संपूर्ण सामाजिक संरचना तथा आर्थिक व्यवस्था को ही बदलकर रख दिया। ऐसे में वास्तव में समाजशास्त्र के विषय क्षेत्र का सीमांकन करना कठिन हो जाता है।

विभिन्न परिभाषाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि समाजशास्त्र मानवीय अंतःक्रियाओं और परस्पर–संबंधों, उनकी परिस्थितियों एवं परिणामों का अध्ययन करता है। इस प्रकार समाज मानव के सम्पूर्ण जीवन एवं उसे प्रभावित करने वाले समाजशास्त्र का अध्ययन क्षेत्र बन जाता है। परंतु यह अध्ययन क्षेत्र इतना विस्तृत हो जाता है कि कोई एक व्यक्ति समस्त अवधारणाओं एवं समस्त पक्षों का अध्ययन नहीं कर सकता। समाजशास्त्रियों ने समाजशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र को निश्चित तथा सीमित करने का प्रयास किया है। इस प्रयास के फलस्वरूप समाजशास्त्रियों में अग्रांकित दो संप्रदाय प्रचलित हैं–

**समाजशास्त्र के सम्प्रदाय**

| विशिष्टिकृत अथवा स्वरूपात्मक सम्प्रदाय (Specialistic or Formalistic School) | | समन्वयात्मक सम्प्रदाय (Synthetic School) | |
|---|---|---|---|
| प्रवर्तक | सिम्मेल | प्रवर्तक | गिन्सबर्ग |
| | वीर कान्त | | दुर्खीम |
| | वान वीज | | हॉब हाउस |
| | टोनी | | सोरोकिन |
| | मैक्स वेबर | | |
| | स्माल | | |

टिप्पणी

## (क) स्वरूपात्मक संप्रदाय

स्वरूपात्मक संप्रदाय द्वारा समाजशास्त्र को ऐसे सामाजिक विज्ञान के रूप में परिभाषित किया गया जिसमें सुनिश्चित अभिलक्षण हों। इस स्कूल को जर्मन समाज अध्येताओं जॉर्ज सिम्मेल, फॉर्डिनांड टॉनीज, अल्फ्रेड वीरकांड्ट एवं लियोपार्ड वॉन विज का समर्थन प्राप्त था। दूसरी ओर सिंथेटिक स्कूल में फ्रान्सीसी समाज अध्येता दुर्खीम, ब्रिटिश राजनेता व समाज अध्येता लियोनार्ड टी., हॉब हाउस व रूसी–अमेरिकन पिटिरिम अलेग्जांड्रोविच सोरोकिन ने समस्त सामाजिक विज्ञानों को एक साथ लाकर इनमें एक प्रकार का सहकार स्थापित करने का प्रयास किया। फॉर्मल स्कूल में समाजशास्त्र को ऐसा उपयुक्त विषय बनाने के विचार का समर्थन किया गया जो इसे पृथक विषय बना दे। इसमें सामाजिक संबंधों के रूपों का अध्ययन करने पर जोर दिया गया एवं समाजशास्त्र को स्वतन्त्र माना गया।

जॉर्ज सिम्मेल (जर्मन समाज अध्येता, दार्शनिक व आलोचक) ने समाजशास्त्र को ऐसे विशिष्ट सामाजिक विज्ञान के रूप में परिभाषित किया जिसमें सामाजिक संबंधों के रूपों का वर्णन, संगठन एवं विश्लेषण मिलता हो। इसे भिन्न प्रकार से देखें तो सामाजिक अंतर्क्रियाओं को विभिन्न रूपों अथवा प्रकारों में वर्गीकृत करना एवं इनका विश्लेषण करना होता है। सिम्मेल का तर्क था कि सामाजिक अंतर्क्रियाओं के विभिन्न रूप होते हैं। इन्होंने समन्वय, प्रतिस्पर्द्धा सहित वरिष्ठता व अधीनस्थता संबंधों इत्यादि जैसे औपचारिक संबंधों के विषय में अनुसंधान किया। इनके अनुसार, "वैसे रुचियों में विविधता से इन सामाजिक संबंधों व रूपों का सृजन होता है जिनमें रुचियां साकार होती हैं; ये संबंध व रूप अब भी एक समान हो सकते हैं।" इनका जोर मुख्यतः मानवीय संबंधों से इन रूपों को संकल्पित करना था जिन पर विभिन्न परिदृश्यों का प्रभाव न पड़ता हो।

वीरकांड्ट नामक एक जर्मन समाज अध्येता का मानना था कि समाज–अध्ययन का संबंध ऐसे लोगों से होना चाहिए जो मानसिक अथवा मनोवैज्ञानिक रूप से परस्पर अत्यधिक जुड़े हुए हों। जर्मन समाज विज्ञानी वॉन विएस का मानना था कि मानव समाज में दो प्रकार की मूलभूत सामाजिक प्रक्रियाएं विद्यमान होती हैं–

(अ) संघात्मक प्रक्रियाएं जो सम्पर्क, पहुंच, अनुकूलन इत्यादि से संबंधित हैं;

(आ) संबंध–विच्छेदात्मक प्रक्रियाएं, यथा– प्रतिस्पर्द्धा व संघर्ष आदि।

उपरोक्त के अतिरिक्त संघात्मक व संबंध–विच्छेदात्मक प्रक्रियाओं का मिश्रण भी होता है। इनमें से प्रत्येक प्रक्रिया को आगे उपवर्गों में वर्गीकृत किया जा सकता है। इन उपवर्गों के परिणामस्वरूप मानव संबंधों के 650 संवर्ग सामने आते हैं। समाजशास्त्र में परिवर्तन का प्रेरक बल खोजने व उसे चिरस्थायी करने पर ध्यान केन्द्रित किया जाना चाहिए तथा श्रेष्ठ समाजों के इतिहास को स्मरण रखा जाना चाहिए। जर्मन समाजविद टोन्नीस ने दो प्रकार के समाज सुझाए– समुदाय एवं संघ। ये समाज के सदस्यों के मध्य के संबंधों की घनिष्ठता के स्तर पर आधारित थे। संबंधों के प्रकारों के आधार पर इन्होंने समुदाय व समाज में भेद करने का प्रयास किया। मैक्स वेबर ने समाजशास्त्र के क्षेत्र की रूपरेखा प्रस्तुत की। इनका मत था कि समाजशास्त्र का लक्ष्य सामाजिक व्यवहार को पहचानना अथवा इसका वर्णन करना है। यद्यपि सामाजिक व्यवहार में

मानवीय संबंधों के सभी परिप्रेक्ष्यों (पहलुओं) का समावेश नहीं होता क्योंकि मानवों के मध्य समस्त आदान–प्रदान 'सामाजिक' नहीं कहे जा सकते। अतः समाजशास्त्र का संबंध सामाजिक संबंधों के विभिन्न प्रकारों को समझने व पहचानने से है।

टिप्पणी

## स्वरूपात्मक अथवा विशिष्टात्मक संप्रदाय सर्मथकों के विचार

**जॉर्ज सिम्मेल**– समाजशास्त्र एक विशुद्ध एवं आत्मनिर्भर विज्ञान है। इसलिए इसके अध्ययन क्षेत्र को सीमित करना आवश्यक है। सिम्मेल ने यह स्पष्ट किया है कि प्रत्येक वस्तु के दो प्रमुख भाग होते हैं– स्वरूप तथा अंतर्वस्तु।

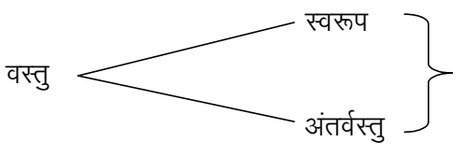


किसी भी वस्तु के इन दोनों भागों का अध्ययन अलग–अलग रूप से किया जा सकता है। उदाहरण के लिए मानव शरीर :

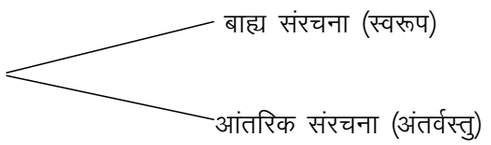


इन दोनों संरचनाओं का अध्ययन पृथक रूप से किया जा सकता है। यह दृष्टिकोण अन्य भौतिक वस्तुओं पर भी लागू होता है। सिम्मेल का मत है जिस प्रकार भौतिक वस्तुओं को दो अलग भागों स्वरूप एवं अंतर्वस्तु में बांटा जा सकता है उसी प्रकार सामाजिक संबंधों को भी पृथक–पृथक भागों में बांटा जा सकता है और समाजशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र को सीमित करने के लिए यह आवश्यक है कि समाजशास्त्र केवल सामाजिक संबंधों के 'स्वरूपों', का अध्ययन करे। उदाहरण के लिए सहयोग (Cooperation), प्रतिस्पर्द्धा (Competition), प्रभुत्व (Domination), अधीनता (Subordination) श्रम विभाजन (Division of labour) इत्यादि सामाजिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों जैसे आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक, नैतिक आदि में देखे जा सकते हैं। यदि विस्तृत अध्ययन करें तो सहयोग, प्रतिस्पर्द्धा, अनुकरण, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक हो सकता है और इन्हें हम सामाजिक संबंधों की अंतर्वस्तु कह सकते हैं। इन विभिन्न अंतर्वस्तुओं का अध्ययन अन्य विषयों जैसे– अर्थशास्त्र, राजनीतिक शास्त्र, धर्मशास्त्र आदि विज्ञानों में किया जाता है।

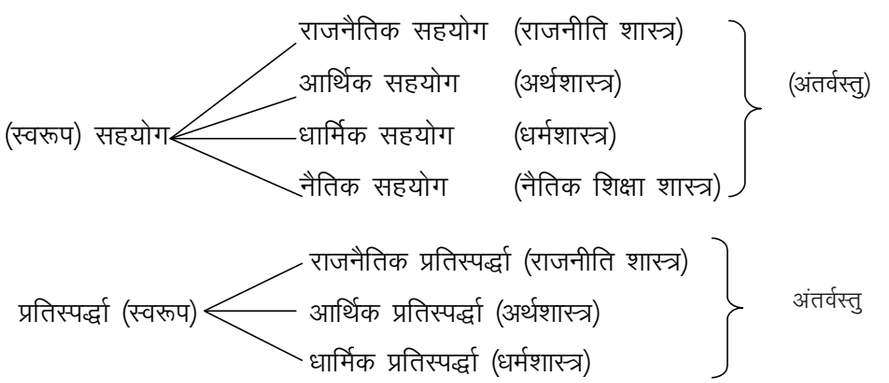

टिप्पणी

अतः सिम्मेल ने यह कहा है कि समाजशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र को सीमित एवं निश्चित करने के लिए यह आवश्यक है कि इसके अध्ययन क्षेत्र में सामाजिक संबंधों की अंतर्वस्तु को सम्मिलित न किया जाए और सामाजिक संबंधों के स्वरूपों का ही अध्ययन किया जाए।

**स्माल के विचार**– स्माल के अनुसार, अन्य विज्ञानों की तरह समाजशास्त्र का भी सीमित क्षेत्र होता है।

**वीरकांत का मत** – वीरकांत भी समाजशास्त्र को एक विशेष विज्ञान के रूप में विकसित करना चाहते थे। वीरकांत के अनुसार, समाजशास्त्र उन मानसिक संबंधों का अध्ययन है, जो व्यक्तियों को एक–दूसरे से बांधते हैं। अर्थात् समाजशास्त्र के अंतर्गत उन मानसिक संबंधों का अध्ययन किया जाना चाहिए जो एक–दूसरे को बांधते हैं न कि उन समस्त संबंधों से जो समाज में विभिन्न रूप में विद्यमान होते हैं। उदाहरण के लिए किसी संस्कृति का अध्ययन करते हुए उस संस्कृति का इतिहास उस संस्कृति के उदय के कारण और परिणामों के सरोकार नहीं हैं। वरन् संस्कृति का अध्ययन करते हुए उन मानसिक संबंधों का अध्ययन किया जाना चाहिए जो संस्कृति का निर्माण करने में सहायक होते हैं।

**मैक्स वेबर का मत** – वेबर के अनुसार सामाजिक संबंध इतने व्यापक हैं कि यदि इन सभी संबंधों को समाजशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र में सम्मिलित कर लिया तो इसकी विषय–वस्तु अत्यन्त जटिल हो जाएगी और हम समाजशास्त्र की प्रकृति को वैज्ञानिक नहीं बना पाएंगे। इस कारण समाजशास्त्र में केवल सामाजिक क्रियाओं का ही अध्ययन किया जाना चाहिए। वेबर के अनुसार सभी क्रियाएं सामाजिक नहीं होतीं केवल वे क्रियाएं सामाजिक होती हैं जो पहले, दूसरों के व्यवहारों द्वारा प्रभावित होती हैं तथा दूसरा, अर्थपूर्ण होती हैं। कोई भी एक पक्षीय क्रिया सामाजिक नहीं होती। क्रिया सामाजिक तभी होती है जब वह अर्थपूर्ण होती है। दूसरों के व्यवहार को प्रभावित करती है तथा स्वयं भी प्रभावित होती हैं। उदाहरण के लिए एक स्थान पर बैठ कर पुस्तक पढ़ने की क्रिया सामाजिक नहीं होगी वरन् कक्षा में व्याख्यान देने की क्रिया सामाजिक होगी क्योंकि व्याख्यान देने की क्रिया में प्रवक्ता एवं छात्र दोनों ही प्रभावित होते हैं तथा एक–दूसरे को प्रभावित करते हैं। वेबर के अनुसार सामाजिक क्रिया समस्त मानवीय संबंधों का एक विशेष भाग है। इसलिए सामाजिक क्रियाओं का अध्ययन सर्वदा उचित है।

**वॉन विज का मत** – वॉन विज के अनुसार समाजशास्त्र का अध्ययन क्षेत्र सामाजिक संबंधों के स्वरूपों का अध्ययन है। उन्होंने इन सामाजिक संबंधों को कई भागों में विभक्त किया है।

**टॉनीज** – टॉनीज ने समाजशास्त्र को विज्ञान के रूप में स्थापित करने के विशुद्ध समाजशास्त्र की अवधारणा को विकसित किया। टॉनीज के अनुसार, समाजशास्त्र विशुद्ध तभी बन सकता है जब इसकी विषय–वस्तु में अन्य विषयों की विषय–वस्तु का समावेश हो।

अतः यह स्पष्ट है कि स्वरूपात्मक संप्रदाय के सभी समर्थक सामाजिक संबंधों के बाह्य स्वरूप को ही समाजशास्त्र के विषय क्षेत्र से संबंधित मानते थे न कि सामाजिक संबंधों के समस्त भागों से और ये समस्त समाजशात्री समाजशास्त्र को एक विशिष्ट

विषय के रूप में स्थापित करना चाहते हैं। इस कारण इस संप्रदाय/स्कूल को स्वरूपात्मक संप्रदाय अथवा विशिष्टात्मक संप्रदाय का नाम दिया गया है।

टिप्पणी

### आलोचना

विशिष्टात्मक अथवा स्वरूपात्मक संप्रदाय ने समाजशास्त्र को अत्यन्त सीमित कर दिया। आलोचना के मुख्य बिन्दु निम्न हैं–

1. स्वरूपात्मक संप्रदाय ने समाजशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र को अत्यन्त संकुचित कर दिया। समाजशास्त्र सामाजिक समूहों के सामान्य स्वरूपों का ही अध्ययन मात्र नहीं है वरन अंतर्वस्तु का अध्ययन भी आवश्यक है।
2. सीमित सामाजिक संबंधों को भौतिक वस्तु की भांति स्वरूप और अंतर्वस्तु में विभक्त कर इनका अलग–अलग अध्ययन नहीं किया जा सकता। सोरोकिन ने भी यह स्पष्ट किया है कि एक भी ऐसी सामाजिक संस्था नहीं है जिसमें सदस्य में परिवर्तन ने उस संस्था को प्रभावित न किया हो अर्थात् अंतर्वस्तु स्वरूप में परिवर्तन कर सकती है, दोनों अलग–अलग आत्मनिर्भर नहीं हैं।
3. स्वरूपात्मक संप्रदाय का यह कथन सही नहीं है कि सामाजिक संबंधों के स्वरूपों का अध्ययन किसी अन्य विज्ञान द्वारा नहीं किया जाता है। इसलिए इनका अध्ययन समाजशास्त्र में करना आवश्यक हो जाता है। उदाहरण के लिए अंतर्राष्ट्रीय कानून में युद्ध संघर्ष, सहयोग प्रभुत्व का अध्ययन किया जाता है।
4. स्वरूपात्मक संप्रदाय समाजशास्त्र को ऐसे विज्ञान के रूप में स्थापित करना चाहता है जिसका संबंध किसी अन्य विज्ञान से न हो और वह पूर्णतया स्वतन्त्र हो, परंतु ऐसा किसी भी सामाजिक विज्ञान के साथ संभव नहीं है। सोरोकिन का कथन है कि कोई भी सामाजिक विज्ञान ऐसा नहीं होता जो कुछ सीमा तक एक–दूसरे पर निर्भर न हो। इसके अतिरिक्त सामाजिक जीवन के सभी पक्ष एक–दूसरे से संबंधित होते हैं।
5. स्वरूपात्मक संप्रदाय के समर्थकों के विचारों में बहुत अधिक भिन्नता है। साथ ही इनके विचारों का दायरा इतना संकुचित है कि इस विषय क्षेत्र में समाजशास्त्र का विकास नहीं किया जा सकता।

### (ख) समन्वयात्मक संप्रदाय

समन्वयात्मक संप्रदाय में समाजशास्त्र को सामाजिक विज्ञानों के संयोजन के रूप में परिभाषित किया गया है।

इसमें समाजशास्त्र की परिधि को विस्तृत करने पर जोर दिया गया है। दुर्खीम ने समाजशास्त्र को तीन प्रमुख अनुभागों में विभाजित किया–

(1) सामाजिक रूपविज्ञान/आकृति विज्ञान (Social Morphology)

(2) सामाजिक शरीर क्रिया विज्ञान (Social Physiology)

(3) सामान्य समाजशास्त्र (General Sociology)

**सामाजिक रूपविज्ञान** : इसका संबंध स्थान अथवा अंचल आधारित लोगों की जीवन–शैली से है। इसमें जनसंख्या, घनत्व, वितरण इत्यादि जैसे कारक सम्मिलित हैं। इसे आगे दो वर्गों में वर्गीकृत किया जा सकता है– (अ) सामाजिक संबंधों व सामाजिक समूहों पर प्रभावी जनसंख्या के घनत्व व प्रकार का विश्लेषण; (आ)

टिप्पणी

सामाजिक समूहों व संस्थानों के प्रमुख वर्गों से संबंधित सामाजिक पद–सोपान अथवा विवरण का (इनके संचालन सहित) अध्ययन।

**सामाजिक कार्यिकी** : इसका संबंध विभिन्न सामाजिक संस्थानों के उद्‌गम व लक्षण से है। ये संस्थान हैं– धर्म, आचरण, विधि, आर्थिक संस्थाएं इत्यादि।

**साधारण समाजशास्त्र** : इसका प्रमुख उद्देश्य साधारण सामाजिक विधियों को रूप प्रदान करना है। संस्थानों के ऐसे विभिन्न प्रकारों के मध्य की कड़ियों का पता लगाने के लिए प्रयास अब भी किए जाने हैं जो सामाजिक कार्यिकी में स्वतन्त्र माने जाते हैं। उपोत्पाद (बायप्रोडक्ट) के रूप में साधारण सामाजिक विधियों के समावेश की सम्भावनाओं का भी मार्ग तलाशने की आवश्यकता है।

## सोरोकिन के विचार

लियोनार्ड ट्रेलॉनी नामक एक ब्रिटिश समाज अध्येता ने समाज–अध्ययन को विज्ञान के ऐसे क्षेत्र के रूप में परिभाषित किया जिसमें मानव के सम्पूर्ण सामाजिक जीवन पर जोर दिया जाता है। इसमें अन्य सामाजिक विज्ञानों से सहसंबंध इसलिए स्थापित किया जाता है ताकि पारस्परिक आदान–प्रदान व प्रोत्साहन का एक संगम बन जाए। कार्ल मेन्हेइम ने समाजशास्त्र की व्याख्या दो प्रमुख प्रभागों के सन्दर्भों में की– क्रमबद्ध व साधारण समाजशास्त्र तथा ऐतिहासिक समाजशास्त्र।

- **क्रमबद्ध समाजशास्त्र** : इसमें सह–अस्तित्व के प्रमुख कारकों की विधिवत् समीक्षा की जाती है जो किसी भी प्रकार के समाज में स्पष्ट है।
- **ऐतिहासिक समाजशास्त्र** : इसका संबंध ऐतिहासिक व्यूह–रचना एवं समाज के साधारण रूपों के अस्तित्व से है।

इसी प्रकार समाजशास्त्र का विस्तार–क्षेत्र साधारणतया कई समाज–अध्येताओं के दृष्टिकोणों के आधार पर परिभाषित किया जाता है। आरम्भिक अध्ययन करते समय समाजशास्त्र का संबंध विभिन्न संस्थानों, संघों व सामाजिक समूहों के विश्लेषण से होता है जो व्यक्तियों के सामाजिक संबंधों के परिणामस्वरूप उत्पन्न किए जाते हैं। अध्ययन के दूसरे चरण में समाज के विभिन्न अनुभागों के मध्य की कड़ियों को समझना होता है। यह उद्देश्य सिंथेटिक स्कूल ऑफ सोशियोलॉजी द्वारा आवश्यकता पड़ने पर सुझाया जाता है। इस प्रकार समाजशास्त्र का चर्चित प्रमुख क्षेत्र सामाजिक संरचना से संबंधित है। समाजशास्त्र में ऐसे परिप्रेक्ष्यों पर भी जोर दिया जाना चाहिए जो सामाजिक स्थिरता व सामाजिक परिवर्तन लाने में महत्वपूर्ण हैं। अंततः समाजशास्त्र में सामाजिक परिवर्तनों के प्रारूप व परिणामों में बदलाव से संबंधित मुद्‌दों का भी पता लगाना होता है।

## समाजशास्त्र की विशिष्टता एवं महत्ता

समाजशास्त्र को एक विषय के रूप में वर्तमान में सर्वत्र सम्मान प्राप्त है। विश्व भर में इस विषय पर अध्ययन व अन्वेषण हो रहे हैं। यह इसकी उपादेयता व बढ़ती लोकप्रियता का ही परिणाम है। समाजशास्त्र की महत्ता एवं अभिवृद्धि को हम निम्न बिंदुओं के तहत समझ सकते हैं–

1. **समाजशास्त्र में समाज का वैज्ञानिक अध्ययन किया जाता है** : समाजशास्त्र से समाज का अध्ययन क्रमबद्ध व वैज्ञानिक रीति से करना सम्भव होता है।

विभिन्न क्षेत्रों में प्रगति करने के लिए मानव समाज के बारे में वैज्ञानिक ज्ञान आवश्यक है।

टिप्पणी

2. **समाजशास्त्र में मनुष्य के सामाजिक स्वरूप पर अधिक प्रकाश डाला जाता है** : समाजशास्त्र में मनुष्य के सामाजिक स्वरूप की गहन छानबीन की जाती है। यह हमें बताता है कि मनुष्य सामाजिक प्राणी क्यों है, समूहों में क्यों रहता है इत्यादि। इस विषय में व्यक्ति व समाज के मध्य के संबंधों को देखा–समझा जाता है।

3. **समाजशास्त्र से समाज के प्रति हमारी समझ व सामाजिक क्रिया के सामर्थ्य में वृद्धि होती है** : समाज के अध्ययन से व्यक्ति को स्वयं को, अपनी क्षमताओं, प्रतिभाओं व सीमाओं को समझने में सहायता मिलती है। इससे वह परिवेश में स्वयं को संभालने में सक्षम हो जाता है। समाज, सामाजिक समूहों इत्यादि के ज्ञान से प्रभावी सामाजिक जीवन की डगर स्पष्ट होती है।

4. **समाजशास्त्र ने मानव संस्कृति का मूल्य बढ़ाने में विपुल योगदान दिया है** : समाजशास्त्र ने हमें इस प्रकार प्रशिक्षित कर दिया है कि हम स्वयं से, अपने समूह–संप्रदाय से, अपने रीति–रिवाजों इत्यादि से संबंधित प्रश्नों के तर्कसंगत उत्तर खोज सकते हैं। यह हमें वस्तुविषयक व समन्वित रूप में कार्य करना सिखाता है। यह तुच्छ, व्यक्तिगत पूर्वाग्रहों को तजकर अहंकार व ईर्ष्या से बचकर रहने के लिए प्रेरित करता है।

5. **समाजशास्त्र में संस्थाओं की भूमिका का अध्ययन किया जाता है** : घर–परिवार, कुटुम्ब, शाला, शिक्षा, मंदिर, शासन, विवाह इत्यादि ऐसे संस्थान हैं जिनके द्वारा समाज अपने कार्य करता है। इससे समाजशास्त्र के प्रति व्यक्ति का ज्ञान बढ़ता है।

6. **समाज की समझ एवं नियोजन के लिए समाजशास्त्र अनिवार्य है** : समाज का अध्ययन करने से समाज का नियोजन सरल हो जाता है। सामाजिक–अध्ययन को सामाजिक सुधार व सामाजिक संगठन का माध्यम समझा जाता है। समाज के पुनर्निर्माण में इसकी भूमिका महत्वपूर्ण है।

7 **समाजशास्त्र अविकसित देशों में अधिक आवश्यक है** : कुछ देशों के आर्थिक पिछड़ेपन के लिए उत्तरदायी सामाजिक कारकों के संबंध में अर्थवेत्ता समाजशास्त्र की ओर आकृष्ट हुए हैं। अर्थवेत्ताओं ने देश के आर्थिक प्रसंगों के विश्लेषण में समाजशास्त्रीय ज्ञान के महत्व को स्वीकार किया है।

8. **समाजशास्त्र जनजातीय लोगों के कल्याण को बढ़ावा देने में सहायक है** : सभ्य समाजों के अतिरिक्त जनजातीय समाजों में भी सामाजिक–आर्थिक समस्याएं होती हैं। जनजातीय समाजों के सन्दर्भ में समाज अध्येताओं व नृविज्ञानियों द्वारा किए गए अध्ययन जनजातीय लोगों के कल्याण की दिशा में विभिन्न सामाजिक उपाय अपनाने में कई सरकारों के लिए सहायक सिद्ध हुए हैं।

टिप्पणी

## 1.3.2 समाजशास्त्र का अन्य सामाजिक विज्ञानों से अंतर्संबंध

समाजशास्त्र को एक पृथक विषय के रूप में मान्यता प्रदान करने का श्रेय कॉम्टे को है। उन्होंने पहले तो इस विषय का नाम सामाजिक भौतिक (Social Physics) रखा परंतु सन् 1838 में इस विषय का नाम 'समाजशास्त्र' रख दिया। कॉम्टे का कहना था कि जिस प्रकार से जीव विज्ञान के अंतर्गत समस्त व्यक्तिगत जीवन एवं उससे संबंधित नियमों का अध्ययन किया जाता है ठीक उसी प्रकार से सामूहिक जीवन से संबंधित नियमों के अध्ययन हेतु एक अलग से विज्ञान विषय का होना आवश्यक है। हम जानते हैं कि समाज एक व्यवस्था है जिसमें अनेकानेक उपव्यवस्थाएं होती हैं। अनेकानेक छोटी व्यवस्थाओं से मिलकर एक सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था का गठन होता है। इस सम्पूर्ण व्यवस्था का संचालन, क्षेत्र विशेष की परिस्थितियों एवं मान्यताओं के अनुसार होता है। परंतु सभी व्यवस्थाओं में एक अदृश्य सामंजस्य होता है।

समाजशास्त्र विषय, इन्हीं पारस्परिक सामंजस्यों तथा पारस्परिक अंतर्क्रियाओं के अध्ययन की विषय–वस्तु है। चूंकि इसमें अनेक प्रकार की घटनाओं का समावेश होता है यथा, इनका संबंध, मनुष्य से होता है। मनुष्य का अस्तित्व आज का विषय नहीं है। जबसे मनुष्य का अस्तित्व प्रकट हुआ है उस समय से वर्तमान तक की विकास की प्रक्रिया अनेक पड़ावों से होते हुए गुजरती है एवं निरन्तर परिवर्तनशील है। समाजशास्त्र विषय को भली–भांति समझने एवं किसी तार्किक निर्णय पर पहुंचने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि इसमें सामाजिक विषयों की अन्य शाखाओं का भी यथासम्भव समावेश हो क्योंकि मनुष्य के विकास क्रम का अध्ययन मनुष्य के इतिहास पर भी निर्भर करता है। समाजशास्त्र के तार्किक एवं वैज्ञानिक अध्ययन हेतु निम्न विषयों की यथासम्भव जानकारी आवश्यक हो जाती है–

- मानव इतिहास
- मानव का व्यवहार एवं आचरण
- मानव समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु आर्थिक व्यवस्था
- मानव विज्ञान

उपरोक्त सभी विषय–वस्तुएं, सामाजिक विज्ञान के अध्ययन की विषय–वस्तुएं हैं एवं इनका परोक्ष रूप से मानव की अर्थ–क्रियाओं एवं पारस्परिक व्यवहार पर प्रभाव पड़ता है। किसी समाज के अध्ययन हेतु, समाजशास्त्री को मानव विज्ञान (Anthropology), मनोविज्ञान (Psychology), इतिहास (History) एवं अर्थशास्त्र (Economics) का ज्ञान होना अनिवार्य हो जाता है। इसी आधार पर वर्तमान समय में सामाजिक विज्ञान विषय के साथ–साथ उपरोक्त सभी विषयों को भी समझना आवश्यक हो जाता है।

### (क) समाजशास्त्र और मनोविज्ञान

समाजशास्त्र के अंतर्गत मानव एवं मानव की पारस्परिक अंतर्क्रियाओं एवं संबंधों का अध्ययन किया जाता है। मनुष्य ही एकमात्र ऐसा प्राणी है जो मस्तिष्क का उपयोग करता है। प्रत्येक मनुष्य की बुद्धि (मस्तिष्क) का विकास एवं क्षमता, एक–दूसरे से भिन्न होती है। मनुष्य का स्वभाव, मूलतः मनुष्य की बुद्धि के विकास के ऊपर ही निर्भर करता है। बुद्धि का उपयोग करके ही मनुष्य तर्क, वितर्क या कुतर्क करते हैं।

कोई मनुष्य किसी एक तथ्य को सत्य मानता है वहीं दूसरा व्यक्ति उसी तथ्य को अस्वीकार कर देता है। मानव की प्रगति (बौद्धिक या नैतिक) के आधार पर ही किसी समाज की प्रगति का आकलन किया जाता है। चूंकि समाजशास्त्र के अध्ययन में मानवीय परिस्थितियों का विश्लेषण किया जाता है जो कि मानव के स्वयं के मस्तिष्क की उपज होती है।

मनुष्य स्वभाव से ही सामाजिक प्राणी है एवं समूह में रहना पसन्द करता है। प्रत्येक समूह के कुछ आधारभूत नियम होते हैं जो कि समाज के सुचारू संचालन हेतु आवश्यक होते हैं। परंतु देखा यह जाता है कि एक ही समूह या समाज के कुछ व्यक्ति इन नियमों का पालन करके समाज के विकास में योगदान करते हैं परंतु उसी समाज के तथा उन्हीं परिस्थितियों में रहने वाले अन्य व्यक्ति उन्हीं नियमों का उल्लंघन करते हैं। उदाहरण के लिए अनेक लोग पान–गुटखा खाना पसन्द करते हैं परंतु अनेक व्यक्ति पान गुटखा खाने को एक बुरी आदत के रूप में देखते हैं। एक ही वस्तु को एक ही समाज में रहने वाले व्यक्ति अलग–अलग रूप से देखते हैं तथा अपनी प्रतिक्रिया भी देते हैं ऐसा क्यों होता है? यह गम्भीर प्रश्न है।

पान–गुटखा खाने के बाद लोग सड़क पर, दीवारों पर या टॉयलेट में इधर–उधर 'पीक' के रूप में थूक देते हैं। आज जो व्यक्ति पान–गुटखा नहीं खाते वे गन्दी और बदबूदार दीवारों को देखते हैं तो उन्हें निश्चय ही दुख होता है। इस समस्या का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से विश्लेषण किया जाना सम्भव है परंतु इसके लिए, दोनों ही प्रकार के व्यक्तियों का मानसिक स्तर जांचना होगा। मानसिक स्तर एवं मानसिक स्थिति को नापने का कोई विशेष उपकरण तो होता नहीं, परंतु मनोविज्ञान एक ऐसा विषय है जिसमें मनुष्य की मानसिक स्थिति का विश्लेषण किया जाता है। अतः समाजशास्त्री मनोवैज्ञानिक विधियों का उपयोग करते हुए उपरोक्त वर्णित समस्या जैसी अनेक समस्याओं की यथास्थिति का पता लगाते हुए विवेचन करता है।

### (ख) समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र

मनुष्य के भोजन, वस्त्र एवं आवास की पूर्ति करना आवश्यक है। इनकी पूर्ति आर्थिक या अर्थशास्त्र की अध्ययन वस्तु है। 'अर्थ' से तात्पर्य, धन अथवा उस वस्तु से होता है जो मनुष्य के लिए आवश्यक भोजन, वस्त्र एवं आवास आदि को जुटाने में सहायक हो। बोगार्ड्स ने सामाजिक परिस्थितियों के अध्ययन के विषय को समाजशास्त्र बताया है और कहा है कि– ''एक सामाजिक स्थिति किसी एक आवश्यकता की पूर्ति करने वाले या पूर्ति करने का प्रयत्न करने वाले व्यक्तियों की आपसी अंतर्क्रिया होती है।" (E.S. Bogardus, Sociology, 1960)

सामाजिक परिस्थितियां, सामाजिक प्रक्रियाओं का ही परिणाम होती हैं। अमीरी या गरीबी, विकसित या विकासशील भी सामाजिक परिस्थितियां ही हैं जिनका आधार सामाजिक एवं आर्थिक दोनों प्रकार से है। यदि किसी समाज से निर्धनता दूर करने का प्रयास करते हैं तो हमें उस समाज की आर्थिक स्थिति का विश्लेषण एवं आकलन करना होगा। अर्थशास्त्र, मानव समाज के आर्थिक पक्ष की विवेचना एवं अध्ययन सामग्री है। निर्धनता उन्मूलन, मनुष्यों से संबंधित विषय है परंतु निर्धनता तो पूर्णरूपेण आर्थिक तत्व है। निर्धनता का मानक या मापने का क्या पैमाना है तथा किस व्यक्ति को निर्धन कहा

टिप्पणी

जाएगा? यदि किसी व्यक्ति की प्रति व्यक्ति आय एक निश्चित सीमा से कम या अधिक होती है तो उसे निर्धनता रेखा के किस क्षेत्र में रखा जाएगा यह सम्पूर्ण विश्लेषण आंकड़ों पर आधारित होता है जो कि गणित की भी सहायता से समझा जाता है। अतः यदि कोई समाजशास्त्री, किसी समाज की आर्थिक आधार पर समीक्षा करने का अध्ययन करना चाहता है तो उसके लिए अर्थशास्त्र विषय में बताए गए मानकों एवं पद्धतियों की जानकारी कर लेनी आवश्यक होगी।

कॉम्टे, परेटो एवं दुर्खीम आदि सभी समाजशास्त्रियों ने जिस समाजशास्त्र विषय को विज्ञान के रूप में स्थापित करने का प्रयास किया है उसमें वैज्ञानिकता का होना अनिवार्य है और वैज्ञानिकता तभी हो सकती है जब किसी तथ्य को तथ्यों या आंकड़ों के आधार पर भलीभांति सिद्ध किया जा सके। कार्ल मार्क्स अपने समय के प्रसिद्ध 'अर्थशास्त्री' ही थे। परंतु अपने अर्थशास्त्र के ज्ञान के ही आधार पर उन्होंने समाज का ऐसा सटीक विश्लेषण प्रस्तुत किया जो आज भी अनेक समाजशास्त्रियों एवं अर्थशास्त्रियों के लिए जटिल शोध का विषय है। मार्क्स ने अपने सिद्धांतों में प्रतिपादित करके सिद्ध किया था कि मनुष्य की समस्त स्थितियों के लिए सर्वोपरि कारण आर्थिक ही है। मनुष्य का मनुष्य के साथ द्वंद्व होना आर्थिक हितों पर ही मूलरूप से निर्भर करता है। मानव संवेदनाएं एवं भावनाएं भले ही समाजशास्त्र की विशेष वस्तु हों परंतु 'अर्थ पक्ष' लगते ही सभी संवेदनाएं एवं भावनाएं पार्श्व में चली जाती हैं।

### (ग) समाजशास्त्र और मानवशास्त्र

मानवशास्त्र एवं समाजशास्त्र का पारस्परिक घनिष्ठ संबंध है। समाजशास्त्री, मानव समाज के पारस्परिक संबंधों की विवेचना करते हैं। इस विवेचना का मुख्य बिंदु या तत्व मानव है। मानवशास्त्र का सहारा लिए बिना मनुष्य की पारस्परिक क्रियाओं एवं संबंधों का सटीक विश्लेषण कर पाना एक कठिन कार्य हो जाता है। समाजशास्त्र में मनुष्यों की विभिन्न सामाजिक प्रक्रियाओं का अध्ययन करना होता है। सामाजिक प्रक्रियाएं कौन करता है? मनुष्य। अतः बिना मनुष्य का अध्ययन किए समाजशास्त्री, कोई भी सही विश्लेषण प्रस्तुत नहीं कर पाएगा।

प्रोफेसर ओडम (W.H. Odum) के मतानुसार, "समाजशास्त्री का कार्य यह पता लगाना है कि समाज क्या है? और यह किस प्रकार से कार्य करता है तथा अपने वर्तमान स्वरूप में किस प्रकार से आया है?"

ओडम के अनुसार समाजशास्त्री का अन्य महत्वपूर्ण कार्य यह अनुमान लगाना भी होता है कि निरन्तर परिवर्तित हो रहे समाज में अनुकूलन की कितनी क्षमता है। अर्थात जो परिवर्तन निरन्तर होते चले आ रहे हैं हमारा समाज उनके साथ किस स्तर तक अनुकूलता बनाए रखने में सक्षम है। मानव शास्त्रियों का उद्देश्य मानव से संबंध रखने वाली क्रियाओं का अध्ययन करना होता है। समाज मनुष्यों से बना है एवं मनुष्य ही अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एक–दूसरे के साथ सम्पर्क में आते हैं एवं आपसी प्रयोजनों को पूर्ण करने के लिए अनेक प्रकार की क्रियाएं आपस में करते हैं। मनुष्यों द्वारा की गई क्रियाएं, मानव शरीर एवं मस्तिष्क द्वारा संबंधित होती हैं। अतः मानव शरीर तथा मस्तिष्क का अध्ययन किए बिना यह तर्क देना असम्भव है कि अमुक स्थिति में अमुक व्यक्ति का, अमुक व्यक्ति के साथ किस प्रकार का स्वभाव होगा। अतः मानवशास्त्र की सहायता से, समाजशास्त्र, उन व्यवस्थाओं तथा प्रक्रियाओं का अध्ययन

करता है जिनसे कि मनुष्यों के पारस्परिक सहयोग या विरोध की स्थितियां उत्पन्न होती हैं।

टिप्पणी

कॉम्टे के अनुसार, समाजशास्त्री को उन मानसिक संबंधों के विभिन्न स्वरूपों का भी अध्ययन अवश्य करना चाहिए जिनसे पता चल सके कि मानव, मानव के साथ किस प्रकार से बंधे हैं। ये मानसिक संबंध निम्न प्रकार के हो सकते हैं–

- यश, कीर्ति
- प्रेम, घृणा
- सम्मान अपमान
- भ्रातृत्व, मातृत्व

आरंभ में पी.ए. सोरोकिन (P.A. Sorokin) को संशय था कि समाजशास्त्र का संबंध, अन्य किसी शास्त्र से नहीं हो सकता। उनका यह संशय दूर हो गया और उन्होंने कहा था कि ''शायद ही कोई ऐसा विज्ञान हो जो अपना अध्ययन कार्य, अन्य शास्त्र की सहायता के बिना पूर्ण कर सके।"

कॉम्टे ने समाजशास्त्र को एक समन्वयात्मक विज्ञान (Integrative Science) की संज्ञा दी है अर्थात समाजशास्त्र भी अन्य शास्त्रों की भांति एक–दूसरे विषयों के साथ संबंध रखता है। समाजशास्त्र, स्पष्टतः किसी एक विषय का सामाजिक परिप्रेक्ष्य में अध्ययन नहीं करता वरन् वह समाज का समग्र रूप में अध्ययन करता है। समाजशास्त्र का परोक्ष संबंध, आर्थिक, धार्मिक या नैतिक रूप से होने वाली घटनाओं तक ही सीमित नहीं है।

### (घ) समाजशास्त्र और इतिहास

दुर्खीम के अनुसार, "समाजशास्त्र की विषय–वस्तु 'क्या है' तथा 'क्या रहा है' में निहित है। इसका सीधा संबंध इतिहास से है।"

इतिहास को वृहद रूप से हम इस प्रकार देखते हैं कि पूर्व में हुई घटनाओं का वास्तविक घटनाचक्र किस प्रकार का था अर्थात समाज में हुई मानवीय क्रियाओं का ताना–बाना किस काल में किस प्रकार से था। समाजशास्त्री यह विश्लेषण करता है कि मानव सभ्यता एवं समाज का विकास किन चरणों से होता हुआ अपने वर्तमान स्वरूप तक पहुंच पाया है। एक इतिहासविद् अपने ऐतिहासिक ज्ञान के माध्यम से यह स्पष्ट करने में समर्थ होता है कि पूर्व काल में घटनाक्रम किस प्रकार से घटित हुआ तथा इस घटनाक्रम में किस तत्व की क्या भूमिका थी।

उदाहरण के लिए यदि हम वर्तमान समाज के अस्तित्व में आने की जानकारी प्राप्त करना चाहें तो हमें पता चलता है कि वर्तमान समय 'पूंजीवादी व्यवस्था' के रूप में संचालित हो रहा है। पूंजीवादी व्यवस्था अनन्त काल से तो वजूद में नहीं रही। जाहिर–सी बात है कि पूंजीवादी व्यवस्था से पूर्व भी एक व्यवस्था थी जिसे सामन्ती व्यवस्था कहा जाता है। समाजशास्त्री के लिए पूंजीवादी व्यवस्था एवं मानव समाज पर इसके प्रभाव का अध्ययन करना एक अनिवार्य अंग बन जाता है। परंतु कोई भी समाजशास्त्री यह अध्ययन तब तक तार्किक एवं तथ्यात्मक रूप से नहीं कर सकता जब तक कि उन्हें सामंती समाज से पूंजीवादी समाज में संक्रमण काल की घटनाओं की

टिप्पणी

सटीक जानकारी प्राप्त न हो जाए। यह सटीक जानकारी इतिहास के अध्ययन करने पर ही पूर्ण हो सकती है।

भारत में राजे एवं महाराजे शासन करते थे परंतु अब वे तो वजूद में नहीं हैं। मुगल सल्तनत भी चूर–चूर हो गई। परंतु उन व्यवस्थाओं के अनेकानेक अवशेष अभी भी हमारे समाज में परोक्ष या अपरोक्ष रूप से आगे बने हुए हैं तथा हम समाज में अनेक तरह की समस्याओं का कारण बने हुए हैं। जाति व्यवस्था एवं धार्मिक व्यवस्था को हम देख सकते हैं। यदि समाजशास्त्री को जाति व्यवस्था तथा इसके दुष्परिणामों पर अध्ययन करना हो तो इतिहास की जानकारी किए बिना, ऐसा करना नितांत असंभव कार्य है। अतः समाजशास्त्री को समाज में इतिहास का तत्संबंधी ज्ञान होना आवश्यक हो जाता है ताकि वर्तमान स्थिति तक पहुंचने तक के पूरे घटनाक्रम को सही ढंग से विश्लेषण करके यह बताया जा सके कि 'क्या है' के मूल में 'क्या रहा है'?

## (ङ) समाजशास्त्र और राजनीतिशास्त्र

राजनीतिशास्त्र ज्ञान तथा अध्ययन की वह शाखा है जो मानव की राजनैतिक गतिविधियों से संबंधित है। वह राज्य की सम्प्रभुता से संबंधित है। यह सामाजिक ज्ञान की वह शाखा है जो राज्य के उद्‌भव, स्वरूप, महत्व, संगठन, शासन के सिद्धांतों, अवधारणाओं, संगठन की नीतियों आदि का अध्ययन करती है। समाजशास्त्र सामाजिक समूह का अध्ययन करता है और समूह का संगठन उसके संचालन की प्रक्रिया का भी अध्ययन करता है। समूह के संचालन तथा संगठन के लिए राजा की आवश्यकता होती है और यदि राजा है तो राज्य को चलाने एवं अन्य राज्यों के साथ पारस्परिक संबंधों को बनाए रखने के लिए नीति–निर्देशकों की आवश्यकता होती है, जो सामाजिक विकास की प्रक्रिया में सहायक होते हैं। राजनीतिशास्त्र इन सब राजनैतिक गतिविधियों का अध्ययन करता है। गिडिंग्स ने राजनीतिशास्त्र और समाजशास्त्र के तुलनात्मक महत्व को स्पष्ट किया है। "समाजशास्त्र के प्रारंभिक नियमों से अनभिज्ञ व्यक्ति को राज्य के सिद्धांतों की शिक्षा देना उसी तरह निरर्थक है जिस तरह न्यूटन द्वारा बताए गए गति विज्ञान के नियमों से अनभिज्ञ व्यक्ति को ज्योतिष की शिक्षा देना।" राजनीतिशास्त्र राजनैतिक प्राणी का अध्ययन करता है और समाजशास्त्र इस बात का अध्ययन करता है कि मनुष्य राजनैतिक प्राणी क्यों बना।

राजनीतिशास्त्र एवं समाजशास्त्र दोनों विज्ञान एक–दूसरे के सहायक हैं। सामाजिक समूह के संगठन और संरचना में राजनैतिक नियम किस प्रकार सहायता करते हैं? यदि इस दृष्टि से देखा जाए तो राजनीतिशास्त्र समाजशास्त्र की ही एक शाखा है परंतु यह हम फिर भी नहीं कह सकते कि राजनैतिक समाजशास्त्र राजनीतिशास्त्र है।

राजनैतिक गतिविधियां मनुष्य के सामाजिक जीवन को प्रभावित करती हैं। ऐसा भी नहीं है कि ये राजनैतिक गतिविधियां आत्मनिर्भर हैं। इन राजनैतिक गतिविधियों का सामाजिक पृष्ठभूमि से बाहर कोई औचित्य ही नहीं है वरन यह सामाजिक पृष्ठभूमि/वातावरण राजनैतिक गतिविधियों को प्रभावित करता है।

राजनीतिशास्त्र समाजशास्त्र को राज्य तथा सरकार के संगठन, निर्माण से संबंधित तथ्य देता है और समाजशास्त्र राजनीतिशास्त्र को राजनैतिक सत्ता के उदय के कारणों अथवा कार्य कारण संबंधों का ज्ञान देता है।

टिप्पणी

राजनीति शास्त्र राज्य से संबंधित है परंतु समाजशास्त्र राज्य का एक मानव समिति के रूप में अध्ययन करता है जो आदिकालीन समाज में एक सामाजिक संस्था हुआ करती थी।

नियम जिन्हें राज्य बनाता है वे सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने में अपना योगदान देते हैं। ये नियम समाज के रीति रिवाजों, परम्पराओं को ध्यान में रखकर बनाए जाते हैं और इन सबका संबंध समाजशास्त्र से है। राज्य समाज की प्राथमिक संस्थाओं जैसे विवाह, परिवार आदि के लिए नियमों का निर्माण करता है और ये सब सामाजिक जीवन के आधारभूत तथ्य हैं।

समाजशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र में कुछ समान तथ्यों जैसे– युद्ध, क्रांति, आन्दोलन, राजनीतिक नियंत्रण, शक्ति, सत्ता, प्रभुता, दबाव समूह, नौकरशाही इत्यादि का अध्ययन किया जाता है।

इसके अतिरिक्त कई सामाजिक समस्याएं, राजनैतिक समस्याएं भी होती हैं जैसे– साम्प्रदायिक दंगे, नक्सलवाद, प्रजातीय संघर्ष, बेरोजगारी, गरीबी, लिंग भेद आदि जैसी सामाजिक समस्याओं को सुलझाने का भी राजनैतिक आधार होता है।

इस प्रकार राजनीतिशास्त्र और समाजशास्त्र एक–दूसरे से संबंधित हैं।

### अपनी प्रगति जांचिए

3. समाजशास्त्र के अध्ययन–क्षेत्र से संबंधित प्रथम संप्रदाय स्वरूपात्मक है। द्वितीय संप्रदाय क्या है?

   (क) विशिष्टिकृत (ख) समन्वयात्मक

   (ग) रचनात्मक (घ) शोधात्मक

4. दुर्खीम ने समाजशास्त्र को किन प्रमुख अनुभागों में विभक्त किया है?

   (क) सामाजिक रूप विज्ञान (ख) सामाजिक शरीर क्रिया विज्ञान

   (ग) सामान्य समाजशास्त्र (घ) उपरोक्त सभी

## 1.4 मानव समाज की प्रकृति

समाजशास्त्र में मानव समाज एक अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं प्राथमिक अवधारणा है इसे ठीक प्रकार से समझकर ही समाजशास्त्र को समझा जा सकता है। जब समाजशास्त्र को समाज के विज्ञान के रूप में परिभाषित किया जाता है तो ऐसी दशा में इस विज्ञान को सही रूप में समझने की दृष्टि से समाज के निश्चित अर्थ को समझना आवश्यक है। यह कहना पूर्णतया सही है कि जहां जीवन है, वहां समाज भी है। व्यक्ति और समाज में पारस्परिक निर्भरता काफी मात्रा में पायी जाती है। जहां व्यक्ति ने एक–दूसरे के साथ सामाजिक संबंध स्थापित कर समाज के निर्माण और विकास में सहायता प्रदान की, वहां समाज ने व्यक्ति का समाजीकरण कर उसके व्यक्तित्व के विकास में योगदान दिया है। समाज ने व्यक्ति को संस्कृति से परिचित कराने में सदैव महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। जहां व्यक्ति को अपने विकास के लिए समाज के सहयोग की आवश्यकता

है, वहीं समाज को व्यक्ति–व्यक्ति के बीच पनपने वाले समाजिक संबंधों की। एक के अभाव में दूसरे की कल्पना नहीं की जा सकती है।

टिप्पणी

### 1.4.1 मानव समाज : अर्थ, प्रकृति एवं विशेषताएं

सामान्यतः बोलचाल की भाषा मानव समाज शब्द का प्रयोग व्यक्तियों के समूह के लिए किया जाता है। किसी भी संगठित या असंगठित समूह को समाज कहा जाता है– जैसे आर्य समाज, ब्रह्म समाज, जैन समाज, विद्यार्थी समाज, महिला समाज आदि। समाज शब्द का प्रयोग विभिन्न लोगों द्वारा अपने अपने हिसाब से किया जाता है। किसी ने इसको व्यक्तियों के समूह के रूप में, किसी ने समिति के रूप में, तो किसी ने संस्था के रूप में प्रयोग किया है। इसी कारण मानव समाज के सम्बन्ध में निश्चितता का अभाव पाया जाता है। राजनीतिशास्त्र समाज को व्यक्तियों के समूह के रूप में देखता है, मानवशास्त्री आदिम समुदायों को ही समाज मानता है। जबकि अर्थशास्त्री आर्थिक क्रियाओं को सम्पन्न करने वाले व्यक्तियों के समूह को समाज कहते हैं।

**समाजशास्त्र में मानव समाज का अर्थ** – समाजशास्त्र में समाज शब्द का प्रयोग विशेष अर्थ में किया जाता है। यहां व्यक्ति–व्यक्ति के बीच पाए जाने वाले सामाजिक संबंधों के आधार पर निर्मित व्यवस्था को समाज कहा गया है। यहां व्यक्तियों के समूह को समाज नहीं माना जाता है। मैकाइवर और पेज ने संबंधों की सदैव परिवर्तित होती रहने वाली जटिल व्यवस्था को समाज माना है। इस प्रकार उन्होंने समाज को सामाजिक संबंधों के जाल या ताने–बाने के रूप में परिभाषित किया है।

समाजशास्त्र में सामाजिक संबंध केन्द्रीय अध्ययन वस्तु है। जब असंख्य सामाजिक संबंधों का जाल अनेक रीतियों एवं सामाजिक मूल्यों द्वारा व्यवस्था में बदल जाता है तो उसे समाज कहते हैं। यहां पर हम समाज की कुछ परिभाषाएं बता रहे हैं–

पारसन्स के अनुसार– "समाज को उन मानवीय संबंधों की सम्पूर्ण जटिलता के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो साधन–साध्य संबंधों के रूप में क्रिया करने में उत्पन्न हुए हों, चाहे ये यथार्थ हों या प्रतीकात्मक।" पारसन्स की इस परिभाषा में क्रिया को विशेष महत्व दिया गया है और किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए साधन के रूप में किये गये कार्य को ही क्रिया कहा गया है। ऐसी क्रिया के परिणामस्वरूप उत्पन्न संबंधों को ही सामाजिक संबंध और इन सामाजिक एवं मानवीय संबंधों से बनने वाली सम्पूर्ण जटिलता या व्यवस्था को समाज कहा गया है।

गिडिंग्स के अनुसार, "समाज स्वयं संघ है, संगठन है, औपचारिक संबंधों का योग है, जिससे सहयोग देने वाले व्यक्ति एक–दूसरे के साथ जुड़े हुए या सम्बद्ध हैं।" इस परिभाषा में समाज के लिए सहयोगी संबंधों को आवश्यक माना गया है, जो व्यक्तियों को एक–दूसरे के साथ जोड़ते हैं।

रयूटर के अनुसार, "समाज एक अमूर्त धारणा है जो एक समूह के सदस्यों के बीच पाए जाने वाले पारस्परिक संबंधों की जटिलता का बोध कराती है।" इस परिभाषा के अनुसार व्यक्तियों के बीच पनपने वाले संबंधों की सम्पूर्ण व्यवस्था को समाज माना गया है जो कि अमूर्त है।

टिप्पणी

**मानव समाज की प्रकृति**– मैकाइवर और पेज के अनुसार, "समाज रीतियों एवं कार्य–प्रणालियों की, अधिकार एवं पारस्परिक सहायता की, अनेक समूहों तथा विभागों की, मानव व्यवहार के नियन्त्रणों तथा स्वतन्त्रताओं की एक व्यवस्था है। इस सदैव परिवर्तनशील, जटिल व्यवस्था को हम समाज कहते हैं। यह एक सामाजिक संबंधों का जाल है और हमेशा परिवर्तित होता रहता है। इन्होंने समाज को सामाजिक संबंधों का जाल अवश्य कहा है, लेकिन साथ ही उन महत्वपूर्ण आधारों एवं तत्वों का भी उल्लेख किया है जिनकी सहायता से सामाजिक संबंध एक जटिल व्यवस्था का रूप ग्रहण करते हैं, एक सामाजिक संरचना का निर्माण करते हैं। इस परिभाषा के आधार पर मैकाइवर एवं पेज ने समाज के निम्न महत्वपूर्ण आधारों एवं तत्वों पर प्रकाश डाला है–

1. **रीतियां**– रीतियां या प्रथाएं सामाजिक प्रतिमान का एक प्रमुख रूप हैं, जो समाज के निर्माण के आधार के रूप में कार्य करती हैं। समाज में व्यवस्था बनाये रखने में रीतियां महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं। सामाजिक जीवन के विभिन्न पहलूओं से संबंधित अनेक रीतियां पायी जाती हैं। जैसे रहन–सहन, खान–पान, वेश–भूषा, विवाह, धर्म, जाति, शिक्षा आदि से संबंधित रीतियां। ये रीतियां व्यक्ति को विशेष तरीके से व्यवहार करने के लिए प्रेरित करती हैं। इसके विपरीत आचरण एवं व्यवहार करने पर व्यक्ति को अन्य लोगों की आलोचना का पात्र बनना पड़ता है। कभी–कभी रीतियों के विरुद्ध आचरण करने पर व्यक्ति को दण्डित भी किया जाता है। रीतियां समाजीकरण की प्रक्रिया के दौरान पीढ़ी–दर–पीढ़ी हस्तान्तरित होती रहती हैं।
2. **अधिकार**– अधिकार भी समाज का प्रमुख आधार है। इसे सत्ता या प्रभुत्व के नाम से जाना जाता है। आपको कोई भी ऐसा समाज दिखाई नहीं पड़ेगा जिसमें प्रभुत्व एवं अधीनता के संबंध न पाये जाते हों। समाज में अनेक संगठन, समूह समितियां आदि होते हैं जिनके कार्य संचालन और सदस्यों के व्यवहार पर नियन्त्रण बनाए रखने के लिए व्यक्ति अथवा कुछ व्यक्तियों के पास अधिकार, शक्ति या सत्ता का होना आवश्यक है। इसके अभाव में व्यवस्था एवं शान्ति बनाए रखना सम्भव नहीं होता है। परिवार में यह अधिकार या शक्ति कर्त्ता के पास, जाति में पंच के पास, गांव में मुखिया या प्रधान के पास तथा राज्य में राजा के पास केन्द्रित होती है। स्कूल, कॉलेज, आर्थिक संगठन तथा धार्मिक संघ आदि में किसी न किसी व्यक्ति के पास यह अधिकार या सत्ता सदैव ही मौजूद रहती है। वर्तमान में जटिल समाजों में अधिकार या सत्ता कार्यपालिका एवं न्यायपालिका में निहित होती है, जो देश में व्यवस्था बनाए रखने की दृष्टि से महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।
3. **कार्य–प्रणालियां**– कार्य–प्रणालियों को भी समाज का एक प्रमुख आधार माना जाता है। मैकाइवर एवं पेज ने समूहिक रूप से कार्य करने की प्रणालियों को ही संस्था के नाम से पुकारा है। इन्हीं के माध्यम से समाज विशेष के लोग अपनी विभिन्न आवश्यकताओं या उद्देश्यों की पूर्ति करते हैं। एक समाज में व्यक्तियों की क्रियाएं सामान्यतः इनकी कार्य प्रणालियों के अनुरूप ही होती हैं तथा अन्य समाजों की कार्यप्रणालियों से भिन्न होती हैं। जैसे हिन्दुओं के विवाह से संबंधित

टिप्पणी

कार्य प्रणाली मुस्लिम एवं ईसाइयों की विवाह संबंधी प्रणाली से बिल्कुल भिन्न होती है।

4. **पारस्परिक सहायता**– यह मानव समाज का अत्यन्त महत्वपूर्ण आधार है। जब तक कुछ व्यक्ति अपने–अपने उद्देश्यों एवं आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एक–दूसरे का सहयोग नहीं करते, तब तक तो समाज की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। किसी समाज के लिए सहयोगी संबंधों का होना अत्यन्त जरूरी है। सहयोग पूर्ण संबंधों के अभाव में तो एक छोटे से छोटा समूह परिवार तक भी अपना अस्तित्व नहीं बनाए रख सकता है। जिस समाज में सहयोग की भावना जितनी अधिक होगी वह समाज उतनी अधिक प्रगति की ओर अग्रसर होगा उसका विकास भी उतनी ही अधिक तीव्रता से होगा। वर्तमान समय में सहयोग के क्षेत्र का विस्तार हो जाने के कारण समाज का आकार काफी विस्तृत हो गया है।

5. **समूह एवं विभाग**– समाज अनेक समूहों एवं विभागों या उप–समूहों से मिलकर बना होता है। प्रत्येक समाज में अनेक समूह, समितियां, संगठन, आदि पाए जाते हैं, जिनकी सहायता से व्यक्तियों की विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। परिवार, क्रीड़ा–समूह, पड़ोस, जाति, गांव, कस्बा, नगर समुदाय, आर्थिक राजनीतिक एवं धार्मिक संगठन, स्कूल, महाविद्यालय आदि अनेक समूह एवं विभाग ही हैं जिनसे समाज बनता है और जो व्यक्तियों की आवश्यकताओं की पूर्ति में योग देते हैं। आयु, लिंग जाति, प्रजाति, वर्ग, आदि के आधार पर समाज में अनेक विभाजन देखने को मिलते हैं ये सभी समूह एवं विभाग आपस में एक–दूसरे से संबंधित होते हैं। ये समूह जितने अधिक संगठित होंगे समाज उतना ही अधिक उन्नत होगा।

6. **मानव व्यवहार का नियन्त्रण**– जैसा कि हमें ज्ञात है कि मानव समाज सामाजिक संबंधों की एक जटिल व्यवस्था है और इस व्यवस्था को ठीक प्रकार से संचालित करने के लिए मानव व्यवहार पर नियन्त्रण अत्यन्त आवश्यक है। व्यक्ति की आवश्यकताएं असीमित हैं जैसे धन, वैभव, सम्मान, शक्ति आदि से संबंधित आवश्यकताएं एवं इच्छाएं। यदि व्यक्ति की इच्छाओं को नियन्त्रित नहीं किया जाता है और व्यक्ति को उन्हें मनमाने तरीकों से पूरा करने की छूट दे दी जाए तो समाज में व्यवस्था का बना रहना बहुत मुश्किल होगा। ऐसी दशा में व्यक्ति स्वच्छन्द व मनमाना व्यवहार करेगा और आदर्श शून्य की स्थिति उत्पन्न हो जायेगी समाज विघटित होने लगेगा। अतः मानव व्यवहार को नियंत्रित करने के लिए समाजिक नियन्त्रण के औपचारिक एवं अनौपचारिक साधनों को अपनाया जाना जरूरी होता है। सामाजिक नियन्त्रण के औपचारिक साधनों के अन्तर्गत कानून, न्याय–व्यवस्था, पुलिस, प्रशासन, आदि तथा अनौपचारिक साधनों के अन्तर्गत जनरीतियां, प्रथाएं, रूढ़िया, संस्थाएं, धर्म, नैतिकता आदि शामिल होते हैं। इन सभी साधनों के द्वारा मानव के व्यवहारों को नियन्त्रित करने, सामाजिक संबंधों को मजबूत करने एवं व्यवस्थित करने का प्रयास किया जाता है।

7. **स्वतन्त्रता**– मानव समाज में स्वतन्त्रता से तात्पर्य मनमाने ढंग से व्यवहार एवं आचरण करने से कदापि नहीं है। यहां स्वतन्त्रता का अर्थ सभी व्यक्तियों को

टिप्पणी

अपने विकास के लिए उचित वातावरण प्रदान करने से है। जहां मानव समाज में व्यक्ति के व्यवहार को औपचारिक अथवा अनौपचारिक साधनों द्वारा नियन्त्रित किया जाता है वहां उसे कुछ स्वतन्त्रता भी प्रदान करना आवश्यक हो जाता है ताकि एक स्वस्थ स्वतन्त्रण वातावरण में व्यक्ति अपना समुचित विकास कर सके। बहुत अधिक नियन्त्रण व्यक्ति के विकास में बाधा उत्पन्न करता है उसके विकास एवं चिन्तन को कुण्ठित करता है। जहां स्वतन्त्रता एक ओर व्यक्ति को इच्छानुसार कार्य करने का सुअवसर प्रदान करती है वहीं दूसरी ओर यह भी आवश्यक हो जाता है व्यक्ति दूसरों को भी स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करने का अवसर प्रदान करे। उनके मार्ग में किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न न करे।

इस प्रकार मैकाइवर तथा पेज ने मानव समाज के उपरोक्त सात आवश्यक तत्व/आधार बताए हैं। इन्होंने मानवीय समाज को सामाजिक संबंधों की एक जटिल व्यवस्था माना है और यह स्पष्ट किया है कि ये सभी सामाजिक संबंध आपस में गुंथे हुए हैं। सामाजिक संबंधों के जाल से निर्मित यह जटिल व्यवस्था निरन्तर बदलती रहती है, इसमें हमेशा कुछ न कुछ परिवर्तन होते रहते हैं। मैकाइवर तथा पेज का मानना है कि इन सात आधारों के अतिरिक्त इन तीन बातों का होना भी आवश्यक है–

- **व्यक्तियों की बहुलता**– मानव समाज विभिन्न व्यक्तियों के बीच पाए जाने वाले सामाजिक संबंधों से बनता है। यद्यपि मानव समाज व्यक्तियों का समूह तो नहीं है, परन्तु यह भी सच है कि व्यक्तियों के अभाव में सामाजिक संबंधों की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। इसलिए मानव समाज के लिए प्रथम आवश्यकता के रूप में काफी मात्रा में व्यक्तियों का होना है, ताकि उनमें सामाजिक संबंध निर्मित किए जा सकें।
- **सामाजिक संबंध**– व्यक्तियों के बीच पनपने वाले आपसी संबंधों के संगठित रूप को ही मानव समाज कहा जाता है। सामाजिक संबंध ही मानव समाज का आधार हैं। सामाजिक संबंधों के अभाव में व्यक्तियों की किसी भीड़ या झुण्ड मात्र को समाज नहीं कहा जा सकता है।
- **सामाजिक अन्तःक्रिया**– केवल व्यक्तियों के होने तथा उनमें सामाजिक संबंधों के पनपने मात्र से मानव समाज का निर्माण नहीं हो जाता है। उन व्यक्तियों के बीच अन्तःक्रिया भी होनी आवश्यक है। इसका अर्थ यह है कि उन्हें केवल एक–दूसरे की जानकारी ही नहीं होनी चाहिए अपितु उनमें पारस्परिक जागरूकता भी होनी चाहिए तथा वे एक–दूसरे से प्रभावित भी होने चाहिए।

इस प्रकार स्पष्ट है कि समाज को चाहे व्यक्तियों के एक ऐसे समूह के रूप में परिभाषित किया जाए जिसमें मनुष्य सम्पूर्ण सामान्य जीवन व्यतीत कर सकें। या सामाजिक संबंधों के जाल के रूप में परिभाषित किया जाए, उसका (मानव समाज का) अपना जीवन का एक तरीका होता है जिसे संस्कृति कहते हैं। ऐली चिनोय ने बताया कि इस दृष्टि से मानव समाज को उसकी प्रमुख संस्थाओं– पारिवारिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा शैक्षणिक आदि के रूप में भी परिभाषित किया जा सकता है। समाजशास्त्रीय विश्लेषण में समाज पर संस्थाओं की संरचना और सामाजिक संबंधों की संरचना दोनों ही रूपों में विचार किया जाना चाहिए। उपरोक्त सभी परिभाषाओं पर यदि गहराई से विचार किया जाए तो यही बात सामने आती है कि सभी समाजशास्त्री मानव

टिप्पणी

समाज के लिए सामाजिक संबंधों को आवश्यक मानते हैं और ऐसे संबंधों की जटिल व्यवस्था को ही मानव समाज कहा जाता है।

**मानव समाज की प्रमुख विशेषताएं**– मानव समाज का अर्थ एवं उसकी प्रकृति को स्पष्ट रूप से समझने के लिए हम यहां उसकी कुछ विशेषताओं की चर्चा करेंगे। ये विशेषताएं निम्नलिखित हैं–

1. **पारस्परिक जागरूकता**– पारस्परिक जागरूकता के अभाव में न तो सामाजिक संबंध बन सकते हैं और न ही समाज। जब तक लोग आपस में एक–दूसरे की उपस्थिति से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से परिचित नहीं होंगे तब तक उनमें जागरूकता नहीं पायी जा सकती है और उनमें अन्तक्रिया भी नहीं हो सकती है। जागरूकता के अभाव में न तो व्यक्ति एक–दूसरे से प्रभावित होंगे और न ही एक–दूसरे को प्रभावित करने की स्थिति में होंगे। अतः स्पष्ट है कि सामाजिक संबंधों के लिए पारस्परिक जागरूकता का होना अत्यन्त आवश्यक है और इस जागरूकता के आधार पर निर्मित होने वाले सामाजिक संबंधों की जटिल व्यवस्था को ही मानव समाज कहा गया है।
2. **समाज अमूर्त है**– मानव समाज केवल व्यक्तियों का समूह न होकर उनमें पनपने वाले सामाजिक संबंधों का जाल है और ये सामाजिक संबंध अमूर्त हैं। इन्हें न तो देखा जा सकता है और न ही छुआ जा सकता है। इन्हें केवल महसूस किया जा सकता है। अतः सामाजिक संबंधों के आधार पर निर्मित समाज भी अमूर्त है। इस प्रकार मानव समाज अमूर्त सामाजिक संबंधों की जटिल व्यवस्था है। राइट ने कहा है कि मानव समाज व्यक्तियों का समूह नहीं, यह तो व्यक्तियों के बीच संबंधों की व्यवस्था है। रयूटर ने लिखा है कि जिस प्रकार जीवन एक वस्तु नहीं बल्कि जीवित रहने की एक प्रक्रिया है उसी प्रकार समाज एक वस्तु नहीं अपितु संबंध स्थापित करने की एक प्रक्रिया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि मानव समाज एक अमूर्त धारणा है।
3. **मानव समाज में समानता एवं असमानता**– किसी भी समाज में समानता एवं असमानता देखने को मिलती है। ये दोनों ही मानव समाज के लिए आवश्यक हैं। दोनों का अपना–अपना महत्व है और एक–दूसरे के पूरक हैं। हम ऐसे किसी समाज की कल्पना भी नहीं कर सकते हैं जिसमें पूर्णतः समानता पायी जाती हो या पूर्णतः असमानता पायी जाती हो। प्रत्येक समाज में ये दोनों बातें अनिवार्य रूप से पायी जाती हैं। यहां हम इन पर पृथक–पृथक रूप से विचार करेंगे।

- **मानव समाज में समानता**– जब तक लोगों में किसी न किसी मात्रा में समानता की भावना नहीं पायी जाती है, तब तक उनका एक–दूसरे से संबंधित होने या इकट्ठे रहने का प्रश्न ही नहीं उठता है। ऐसी स्थिति में मानव समाज का निर्माण नहीं हो सकता है। जो लोग कुछ मात्रा में शरीर एवं मस्तिष्क की दृष्टि से समान हैं तथा एक दूसरे के निकट हैं उन्हीं में समाज पाया जाता है। गिडिंग्स ने समानता (सजातीयता) की चेतना को मानव समाज का आधार माना है। आदिम या प्रारम्भिक छोटे व सरल समाजों में समानता का आधार नातेदारी या रक्त संबंध था। अब यह आधार काफी विस्तृत हो गया है। अब राष्ट्रीयता समानता का आधार हो गयी है।

टिप्पणी

- **मानव समाज में असमानता**—मानव समाज में समानता के साथ—साथ कुछ असमानताएं भी पायी जाती हैं। मैकाइवर एवं पेज के अनुसार यदि सभी लोग पूर्णतः समान होते हैं, तो उनके सामाजिक संबंध चींटियों या मधुमक्खियों के जैसे काफी सीमित होते हैं। ऐसी दशा में आपसी लेन—देन पारस्परिक आदान—प्रदान बहुत कम होता है। वे एक—दूसरे को कम सहायता दे पाते हैं। लिंग भेद असमानता का एक उदाहरण है। इसी भेद के कारण प्रजनन एवं सन्तानोत्पत्ति सम्भव हो पायी है। समाज में असमानताओं के पाये जाने के कारण ही प्रत्येक एक—दूसरे से कुछ न कुछ आपस में आदान—प्रदान कर पाता है। यह बात परिवार, मित्र मण्डली, समूह, समिति, समुदाय आदि सभी में पायी जाती है। इस प्रकार सामाजिक संबंधों में असमानता की भूमिका काफी महत्वपूर्ण है। मानव समाज में कई प्रकार के भेद अथवा भिन्नताएं देखने को मिलती हैं जैसे लिंग भेद, शारीरिक बनावट, स्वभाव एवं प्रकृति संबंधी भेद, योग्यता एवं क्षमता संबंधी भेद। वर्तमान समय में असमानताओं के बढ़ने का एक प्रमुख कारण विशेषीकरण की प्रक्रिया है।
- **समाज में असमानता समानता के अधीन है**— मानवीय समाज में श्रम—विभाजन पहले सहयोग है और फिर विभाजन का तात्पर्य भी यही है कि समान उद्देश्यों की पूर्ति के लिए एक—दूसरे के साथ सहयोग करते हैं परन्तु उद्देश्य को प्रभावपूर्ण ढंग से प्राप्त करने के लिए वे आपस में कार्यों को बांट लेते हैं। समान आवश्यकताओं के कारण असमान कार्यों को पूरा करने के लिए लोग एकत्र होकर एक—दूसरे के साथ सहयोग करते है। जैसे कुछ व्यापारी लाभ कमाने के उद्देश्य से साझेदारी के संबंधों में बंध जाते हैं और मिलकर व्यापार करते हैं। ये साझेदार लाभ को अधिकतम करने के लिए व्यापार सम्बन्धित विभिन्न कार्यों को अपनी योग्यता एवं क्षमता के अनुसार आपस में बांट लेते हैं। यही बात परिवारों में भी देखने को मिलती है स्नेह एवं घर की सामान्य इच्छा ही परिवार की स्थापना के प्रमुख आधार हैं। हमें यह बात ध्यान रखनी चाहिए कि समानता एवं असमानता दोनों ही महत्वपूर्ण हैं परन्तु समानता प्राथमिक या प्रमुख है और असमानता द्वितीयक या गौण है।

4. **मानव समाज में सहयोग एवं संघर्ष**— मानव समाज में दो प्रकार की शक्तियां देखने को मिलती हैं, एक वे शक्तियां जो मानव को एकसूत्र में बांधती हैं और दूसरी वे शक्तियों जो मनुष्य को एक—दूसरे से अलग करती हैं। सहयोग प्रथम शक्ति के अन्तर्गत आता है जबकि संघर्ष दूसरी शक्ति के अन्तर्गत आता है। ये दोनों ही तत्व समाज के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। प्रत्येक समाज में सहयोग एवं संघर्ष दोनों ही सार्वभौमिक प्रक्रियाओं के रूप में पाये जाते हैं। सरल या आदिम समाज से लेकर आधुनिक जटिल समाज तक सहयोग एवं संघर्ष चले आ रहे हैं। मनुष्यों के विभिन्न समूहों को अपनी—अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एक—दूसरे के साथ सहयोग करना पड़ता है। जहां सहयोग नहीं हो पाता वहां संघर्ष होते हैं।

- **सहयोग**— प्रत्येक कार्य की सफलता का आधार सहयोग है। पारिवारिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक आदि सभी क्षेत्रों में सहयोग देखने को मिलता है। सहयोग के अभाव में न तो कोई परिवार ही अपने इच्छित लक्ष्यों को प्राप्त कर

टिप्पणी

सकता है और न ही कोई राजनीतिक दल। यदि कोई नेता चुनाव में हार जाता है तो इसका मतलब है कि उसके दल के सदस्यों में सहयोग का अभाव है बहुत से कार्यों की सफलता मानव के आपसी सहयोग पर निर्भर करती है। सरल छोटे व आदि समाज में प्रत्यक्ष सहयोग और आधुनिक जटिल समाज में अप्रत्यक्ष सहयोग की प्रधानता पायी जाती है।

- **संघर्ष**– मानव समाज में सहयोग के साथ–साथ संघर्ष भी देखने को मिलता है। जिसका प्रमुख कारण कुछ शारीरिक या वैयक्तिक भिन्नताएं, सांस्कृतिक भिन्नताएं, विरोधी स्वार्थ अथवा आपसी स्वार्थों का टकराना एवं तीव्रगति से सामाजिक परिवर्तन है। व्यक्ति–व्यक्ति के बीच रुचि, स्वभाव, चरित्र, व्यक्तित्व, रहन–सहन, वेश भूषा, आचार–विचार संबंधी कई प्रकार के भेद पाये जाते हैं। ये मनुष्य के अलग–अलग धर्मों, मतों या मतान्तरों से जुड़े होते हैं। इनके धर्म एवं संस्कृति में अन्तर पाया जाता है साथ ही इनके स्वार्थ भी एक–दूसरे के विपरीत होते हैं अर्थात इनके स्वार्थ आपस में टकराते हैं। सामाजिक परिवर्तन के कारण व्यक्ति एवं समूह कई बार बदलती हुई परिस्थितियों के साथ अनुकूलन या समायोजन नहीं कर पाते हैं। ये विभिन्नताएं, स्वार्थ एवं सामाजिक परिवर्तन आदि संघर्ष के उत्तरदायी हैं। मानव समाज में सहयोग के समान ही संघर्ष भी मानव सभ्यता के विकास के प्रत्येक स्तर पर देखने को मिलता है। सहयोग के समान संघर्ष भी सार्वभौमिक प्रक्रिया के रूप में सदैव पाया जाता है। यह कहा जा सकता है कि जहां समाज है, वहां संघर्ष भी है। संघर्ष कई बार अन्याय, अत्याचार एवं शोषण को समाप्त करने में मदद करता है। मानव समाज में संघर्ष की बजाय सहयोग का महत्व अधिक है। इसीलिए जिस मानव समाज में सहयोग की भावना जितनी अधिक होगी वह समाज उतना ही अधिक संगठित होगा

5. **समाज अन्योन्याश्रितता पर आधारित**– अन्योन्याश्रितता किसी भी समाज की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण विशेषता है। यों कहें कि अन्योन्याश्रितता मानव समाज की उत्पत्ति एवं विकास में एक आधारभूत तत्व है। वास्तव में यह मानव जीवन, सभ्यता, एवं संस्कृति तथा उन्नति का प्रमुख आधार है। मनुष्य को अपनी प्राणिशास्त्रीय या शारीरिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए दूसरों के साथ सामाजिक संबंध स्थापित करना तथा उन पर निर्भर रहना पड़ता है। आदिम से आदिम एवं छोटे सरल से सरल प्रकार के समाजों में भी व्यक्ति को यौन सन्तुष्टि, शिकार एवं जीवन रक्षा के लिए एक–दूसरे पर निर्भर रहना पड़ता है। आधुनिक जटिल समाजों में तो श्रमविभाजन के बढ़ने से मनुष्यों एवं समाज के अन्य विभिन्न अंगों की एक–दूसरे पर निर्भरता बढ़ गयी है। मानव समाज की प्रारम्भिक इकाई परिवार में विभिन्न सदस्यों के बीच आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पारस्परिक निर्भरता स्पष्ट दिखायी पड़ती है। आज तो जीवन के सभी क्षेत्रों में पारस्परिक निर्भरता या अन्योन्याश्रितता पायी जाती है। इसका प्रमुख कारण मानव का अपने आप में अपूर्ण होना या उसकी शक्ति का सीमित होना है। वह स्वयं अकेला अपनी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि समाज अन्योन्याश्रितता पर आधारित है।

टिप्पणी

6. **मानव समाज सदैव परिवर्तनशील एवं जटिल व्यवस्था है**– मानव समाज की एक विशेषता यह है कि यह सदैव परिवर्तनशील होता है। सामाजिक परिवर्तन एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है। सामाजिक संबंधों में कई कारणों से परिवर्तन आते हैं। व्यक्तियों की स्थितियां, परिस्थितियां, एवं भूमिकाएं बदलती रहती हैं। पारस्परिक अपेक्षाओं में भी समय के साथ–साथ बदलाव आते रहते हैं। और इन सबके परिणामस्वरूप मानव समाज भी बदलता रहता है। मानव समाज की समाजिक संरचना में भी परिवर्तन आया है। आज समाज ठीक वैसा नहीं है जैसा एक वर्ष पहले था। भारत का वैदिककालीन समाज आधुनिक समय के जटिल औद्योगिक समाज से काफी भिन्न था। इससे स्पष्ट है कि समाज सदैव परिवर्तनशील है।

   साथ ही मानव समाज एक जटिल व्यवस्था है जो अनेक प्रकार के सामाजिक सम्बंधों से निर्मित है। एक ही व्यक्ति सैकड़ों व्यक्तियों से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से संबंधित होता है। इन्हीं संबंधों के आधार पर ही उसकी प्रस्थिति एवं भूमिका निर्धारित होती है। साथ ही व्यक्ति अन्य व्यक्तियों की अपेक्षाओं को ध्यान में रखकर व्यवहार करता है। जब एक व्यक्ति अनेक प्रकार के सामाजिक संबंधों से बंधा होता है और निश्चित तरीके से एक–दूसरे के साथ संबंधों एवं अपेक्षाओं को ध्यान में रखकर व्यवहार करता है तो लाखों–करोड़ों व्यक्तियों के सामाजिक संबंधों, उनकी प्रस्थितियों एवं भूमिकाओं और पारस्परिक अपेक्षाओं के आधार पर निर्मित होने वाली व्यवस्था निश्चित रूप से जटिल होगी, इसमें किसी प्रकार का कोई सन्देह नहीं है।

7. **समाज मनुष्यों तक ही सीमित नहीं है**– समाज केवल मनुष्यों तक सीमित नहीं होता, पशुओं का भी समाज होता है। मैकाइवर एवं पेज ने ठीक ही कहा है कि जहां कहीं जीवन है वहीं समाज है। इसका तात्पर्य यह है कि सभी जीवधारियों के अपने–अपने समाज होते हैं। चीटियों, मधुमक्खियों के भी समाज होते हैं। इनमें एवं अनेक अन्य पशु–पक्षियों में सामाजिक जीवन की अनेक विशेषताएं देखने को मिलती हैं। इतना अवश्य है कि जीवन के निम्नतम स्तर वाले जीवधारियों में सामाजिक जागरूकता बहुत कम और सामाजिक सम्पर्क बहुत ही अल्पकालीन होता है। जहां पारस्परिक या सामाजिक जागरूकता का अभाव है वहां समाज की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। उच्च स्तर के पशुओं– जैसे हाथी, गाय, तथा नर–वानरों के निश्चित समाज होते हैं। इनके जीवन में पारस्परिकता और सहयोग के तत्व पाए जाते हैं। अपनी प्रकृति या स्वभाव संबंधी आवश्यकताओं, जीवन रक्षा तथा अपनी जाति की पीढ़ी दर पीढ़ी बनाए रखने की इच्छा के कारण पशु–पक्षियों में समाज की उत्पत्ति एवं विकास होता है। समाजशास्त्र के अन्तर्गत हम पशु समाज का अध्ययन न करके मानव समाज का अध्ययन करते हैं। इसका कारण यह है कि पशुओं की तुलना में मानव विकास उच्चतम स्तर का होता है और मानव ही अपनी योग्यता, क्षमता, गुणों एवं शारीरिक विशेषताओं के कारण संस्कृति का निर्माता होता है। मानव ने ज्ञान–विज्ञान और कला के क्षेत्र में अभूतपूर्व प्रगति की है। उसका अपना समाज, सामाजिक संगठन तथा सामाजिक व्यवस्था है। अतः हम मानव समाज के अध्ययन तक ही अपने को सीमित करते हैं।

टिप्पणी

## 1.4.2 समाज के निर्माण के प्रमुख घटक एवं सिद्धांत

जब कभी भी प्राणियों का कोई समूह व्यवस्थित रूप से संबंधों की स्थापना करता है तथा समाज संबंधी कुछ आवश्यकताओं को पूर्ण करता है, इन्हीं प्रक्रियाओं द्वारा वह एक मानव समाज का निर्माण करता है। समाज के निर्माण के आधारभूत घटकों में किंग्सले डेविस ने 'संयुक्तता के स्तर' को सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटक माना है। इसके अतिरिक्त डेविस ने समाज के निर्माण से संबंधित निम्नलिखित श्रेणीबद्ध घटकों को भी महत्वपूर्ण माना है–

1. **जनसंख्या की रक्षा** : इस श्रेणी में वे दशाएं सम्मिलित हैं जो जनसंख्या की रक्षा से संबंधित हैं। समाज निर्माण हेतु सबसे प्रथम आवश्यकता समूह में बच्चों के पालन–पोषण की एक निश्चित व्यवस्था का होना है। इसके अतिरिक्त, जनसंख्या की रक्षा के लिए प्राकृतिक विपदाओं और दुर्घटनाओं के विरुद्ध संरक्षण प्राप्त होना भी समाज निर्माण का आवश्यक घटक है। इस कार्य के लिए जनसंख्या का साधन–सम्पन्न भागों पर स्थान परिवर्तन करना, विषम लिंग के सदस्यों में सम्बन्ध स्थापित होना तथा नवीन पीढ़ी की रक्षा करना आदि कुछ आवश्यक दशाएं हैं। यह कार्य समूह के मध्य अन्तर्क्रिया, जागरूकता तथा समूह सहकारिता द्वारा भी संभव है लेकिन इसमें पूर्णतया सहभागिता की अत्यंत आवश्यकता होती है।

2. **समूह में श्रम–विभाजन** : इस श्रेणी में वे घटक सम्मिलित हैं जिनसे समाज के सभी सदस्य श्रम–विभाजन द्वारा कार्य करके अपनी विभिन्न आवश्यकताओं को पूर्ण कर सकें। यह कार्य 'विशेषीकरण की प्रक्रिया' द्वारा संभव होता है। विशेषीकरण सामाजिक व्यवस्था का आधार है और विभिन्न समाजों में विशेषीकरण की मात्रा में भिन्नता के कारण ही समाज एक–दूसरे की अपेक्षा कम या अधिक मात्रा में संगठित पाए जाते हैं।

3. **समूह में एकता** : डेविस के अनुसार यह श्रेणी उन आवश्यकताओं से संबंधित है जो समूह के सदस्यों को एकता के सूत्र में बांधती हैं। इसके लिए सदस्यों में कुछ ऐसी प्रेरणाएं होना आवश्यक है जो उनके संबंधों को स्थायी बनाए रख सकें। संबंधों को स्थायी रूप देने के लिए पारस्परिक सहयोग और सहनशीलता जैसे गुण भी नितांत आवश्यक हैं क्योंकि इसके अभाव में सहयोग की भावना का विकास संभव नहीं है। इसके अतिरिक्त, समूह की एकता के लिए बाहरी सदस्यों पर कुछ इस प्रकार के प्रतिबंध होना आवश्यक है जिनसे उस समूह के सदस्य अन्य प्राणियों की अपेक्षा स्वयं को पृथक समझें और एक साथ मिलकर रहने की भावना को विकसित कर सकें।

4. **सामाजिक व्यवस्था में स्थायित्व का गुण** : समाज के निर्माण की अंतिम आवश्यकता सामाजिक व्यवस्था में इस प्रकार का स्थायित्व होना है जिससे समाज की निरंतरता बनी रहे। इस कार्य के लिए समूह में कुछ नियमों और नेतृत्व की आवश्यकता होती है। वास्तव में, इस घटक को हम 'समाज की जीवन रक्षा संबंधी आवश्यकता' कह सकते हैं।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि उपर्युक्त दशाएं किसी न किसी मात्रा में सभी जीवधारियों के समूहों में उपस्थित होती हैं, इसलिए समाज जैसी व्यवस्था का

निर्माण केवल मनुष्य ही नहीं करते, अपितु सभी प्रमुख जीवधारी अपने–अपने समाजों की रचना करते हैं। वे समस्त समाज की निश्चित व्यवस्था के अंतर्गत नियम व कानूनों का पालन कर उसे संचालित करते हैं।

टिप्पणी

### अपनी प्रगति जांचिए

5. "समाज एक अमूर्त धारणा है जो एक समूह के सदस्यों के बीच पाए जाने वाले पारस्परिक संबंधों की जटिलता का बोध कराती है।" यह किसने परिभाषित किया?

   (क) प्रो. मैकाइवर ने (ख) डॉ. जेम्स ने

   (ग) रयूटर ने (घ) गिडिंग्स ने

6. समाज के निर्माण के आधारभूत घटकों में 'संयुक्तता के स्तर' को किसने सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटक माना है?

   (क) रयूटर ने (ख) पारसंस ने

   (ग) किंग्सले डेविस ने (घ) पेज ने

## 1.5 सामाजिक अध्ययन के दृष्टिकोण

सामाजिक अध्ययन सर्वप्रथम ज्ञात सामाजिक विज्ञानों में से एक है। सामाजिक अध्ययन में मूलतः दो शब्द हैं समाज और अध्ययन। इनका उद्‌गम समाज + अध्ययन से हुआ है, अर्थात समाज व सामाजिकता का अध्ययन जिसमें सामाजिक संबंधों का भी अध्ययन किया जाता है। सामाजिक अध्ययन में सामाजिक परिघटनाओं, सामाजिक जीवन, समूहों, संस्थानों, संघों व समितियों का अध्ययन भी समाहित है। सामाजिक अध्ययन में समाज को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखने पर जोर दिया जाता है। सामाजिक अध्ययन का विस्तार–क्षेत्र व्यापक है जिसमें व्यक्ति–विशेष से लेकर सामूहिक सामाजिक प्रणालियां तक सम्मिलित हैं। सामाजिक अध्ययन के सिद्धांतों में मानवों एवं इनके पारस्परिक व्यवहार के सन्दर्भ में इनके अस्तित्व का वर्णन मिलता है।

सामाजिक विज्ञानों में सामाजिक अध्ययन तुलनात्मक रूप में एक अहम एवं व्यापक शैक्षणिक विषय है जिसमें अर्थशास्त्र, राजनीति, नृविज्ञान, इतिहास व मनोविज्ञान समाहित हैं। वैसे इस समेकित विषय का आधार सुदीर्घ इतिहास है। इसकी उत्पत्ति समग्र मानवीय ज्ञान व दर्शन के समागम से हुई प्रतीत होती है।

सामाजिक अध्ययन को उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में एक वैज्ञानिक विषय के रूप में लाया गया था क्योंकि इसी दौरान सामाजिक संगठन के नवीन सिद्धांतों व ज्ञान–आलोक के नवीन विचारों पर आधारित एक अत्यन्त नवीन प्रकार का समाज पनपा था। इससे जनता की मानसिकता में परिवर्तन आया। समाज अध्येताओं ने सामाजिक समूहों को एक साथ रखते हुए समझने का प्रयास किया एवं सामाजिक बिखराव को रोकने के उपाय खोजने की दिशा में भी पहल की। विज्ञान के अर्थ में सामाजिक अध्ययन का संबंध सामाजिक समूहों एवं संगठन में इनके पदानुक्रम अथवा रूपों से है। इसमें ऐसी क्रियाओं का योग है जो संगठन के इन रूपों एवं इनके अंतर्सामूहिक संबंधों को बनाये रखती हैं अथवा परिवर्तित करती हैं। सामाजिक अध्ययन

टिप्पणी

स्वयं में भांति–भांति की अंतर्क्रियाओं का सम्मिश्रण है। सामाजिक मेल–मिलाप की प्रणाली 'सामाजिक समूह' है। समाज–अध्ययन में सामाजिक संबंधों का अध्ययन मात्र इसलिए नहीं किया जाता क्योंकि ये आर्थिक, राजनीतिक, साम्प्रदायिक, वैधानिक अथवा शैक्षणिक हैं अपितु इसलिए भी किया जाता है क्योंकि ये उसी समय सामाजिक भी हैं।

वैसे भी हम सामाजिक अध्ययन में समाज अथवा सामाजिक स्थितियों में घट रही प्रत्येक घटना का अध्ययन नहीं करते वरन् हम संस्कृति, सामाजिक संबंधों, इनके विशिष्ट रूपों, भेदों व प्रारूपों का अध्ययन करते हैं। हम संबंधों के संयोजनों का अध्ययन इस परिप्रेक्ष्य में करते हैं कि ये छोटे–बड़े तन्त्रों का निर्माण कैसे करते हैं एवं परिवर्तनों तथा परिवर्तनशील मांगों अथवा आवश्यकताओं से प्रतिक्रिया किस प्रकार करते हैं।

सामाजिक अध्ययन में मानवता के सभी संकायों– इतिहास, मनोविज्ञान एवं अर्थशास्त्र इत्यादि को संयुक्त करने का प्रयत्न किया जाता है। सामाजिक अध्ययन वास्तव में सबसे जटिल विज्ञानों में से एक है क्योंकि इसका संबंध मानवता से है। फ्रान्सीसी व औद्योगिक कायापलट के बाद सामाजिक अध्ययन के क्रमबद्ध अध्ययन को अधिक महत्वपूर्ण समझा जाने लगा। उस समय के इस बौद्धिक समुदाय ने इन तीव्र परिवर्तनों के कारणों का विश्लेषण करने का प्रयास किया। इसी कारण समाज–अध्ययन सामाजिक क्रम व परिवर्तन से संबंधित एक पृथक विषय के रूप में उभरता गया। यद्यपि समस्त सामाजिक विज्ञानों में सामाजिक जीवन के विभिन्न परिप्रेक्ष्यों का अध्ययन किया जाता है तथापि सामाजिक अध्ययन की अपनी अलग विशिष्टता है। इसमें अधिक विस्तार से स्पष्ट हो पाता है कि घटनाओं का रूप ऐसा क्यों है। सामाजिक अध्ययन को 'उजागर करने का विज्ञान' भी कहा जाता रहा है क्योंकि समाज अध्येता सामाजिक परिघटनाओं के सर्व–स्वीकार्य अर्थ से परे जाकर सामाजिक रचना के यथार्थ को समझने का प्रयास करते रहे हैं और देखते रहे हैं कि वास्तविकता उस रूप तक कैसे आयी जिसे हम समझ रहे हैं।

1890 के दशक में सामाजिक अध्ययन का विषय कई विश्वविद्यालयों में पढ़ाया जाने लगा। इस काल में नगरीकरण व औद्योगिकीकरण से अनेक सामाजिक मुद्दे उठ रहे थे जिनका वैज्ञानिक समाधान खोजना उस समय के समाज अध्येताओं को कठिन प्रतीत हो रहा था। परिणाम की बात करें तो ये सफल नहीं रहे अर्थात मुद्दे आगे नहीं बढ़े। इनकी प्रबल धारणा थी कि समाज की वैज्ञानिक प्रगति में सामाजिक अध्ययन महत्वपूर्ण है। बाद में छवियों व अनुभवों के आधार पर टिप्पणियों अथवा अनुमानों पर आश्रित न रहते हुए सामाजिक अध्ययन वैज्ञानिक ज्ञान की शाखा के रूप में सामने लाया गया जिसमें वैज्ञानिक निष्कर्षों के साथ उदाहरण प्रस्तुत किये जाने लगे।

समाज–अध्ययन में इस तथ्य पर बल दिया जाता है कि लोग एक–दूसरे से किस प्रकार व्यवहार करते हैं; इनके नियम, मूल्य व रिवाज कैसे हैं। इन विषय–बिन्दुओं का संबंध अन्य सामाजिक विज्ञानों से भी है, जैसे कि मनोविज्ञान व नृविज्ञान। अन्य सामाजिक विज्ञानों की भांति सामाजिक अध्ययन का संबंध भी ऐसे आंकड़ों व तथ्यों से होता है जिनका अवलोकन सम्भव हो, जो मापन–योग्य एवं व्यावहारिक अथवा प्रायोगिक हों।

मनोविज्ञान व सामाजिक अध्ययन दोनों का संबंध उन रीतियों से हैं जिनमें मानव व्यवहार करता है। इन दोनों अध्ययन–विषयों में इन साहचर्य संबंधों व आचरणों को

समझने के प्रयास किये जाते हैं। सामाजिक अध्ययन की भांति नृविज्ञान का संबंध संस्कृति एवं संस्थानों से है, जैसे कि परिवार, विवाह व सामाजिक बन्धन एवं समूह। समाज–अध्ययन व राजनीति अतिव्यापी (ओवर्लेप्ड) भी हो सकते हैं; ये समाज व राज्य में सत्ता एवं राजकीय संस्थानों के नियन्त्रण व वितरण से संबंधित हैं। इतिहास भी सामाजिक अध्ययन से संबंधित है क्योंकि इसमें अतीत में घटित घटनाओं को समझने का प्रयास किया जाता है एवं यह विश्लेषण किया जाता है कि ऐसी घटनाओं में लोगों ने आपस में किस प्रकार व्यवहार किया।

### 1.5.1 सामाजिक अध्ययन : स्वरूप एवं अभिवृद्धि

व्यापक परिदृश्य में सामाजिक अध्ययन मनुष्यों के व्यवहारों, इनकी स्थितियों व परिणामों का अध्ययन है। यह एक प्रकार का विज्ञान है जिसमें ऐसी खोजी हुई युक्तियां सम्मिलित की जाती हैं जो विषयपरक व क्रमबद्ध होती हैं। इससे अनुभवजन्य साक्ष्य व व्याख्या पर आधारित सामाजिक यथार्थता का उद्विकास होता है। वैसे यह प्रत्यक्ष रूप में प्राकृतिक विज्ञानों पर आधारित नहीं हो सकता क्योंकि मानव–व्यवहार एक अद्वितीय परिघटना है। समाजशास्त्र की प्रकृति को हम इस प्रकार समझ सकते हैं–

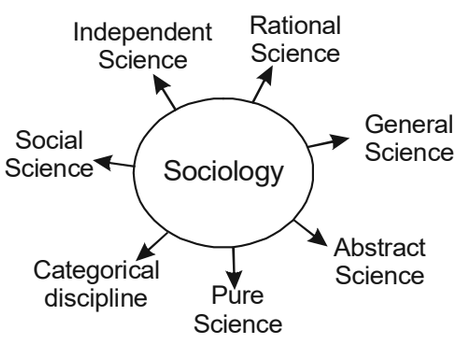


*Nature of Sociology*

यह प्राकृतिक विज्ञानों से इस रूप में भी भिन्न है कि प्राकृतिक विज्ञानों की विषय–वस्तुएं नियत (समान) रहती हैं जबकि मानव–व्यवहार में वैविध्य एवं लचीलापन रहता है। ज्ञान की एक शाखा के रूप में सामाजिक अध्ययन में अपने अद्वितीय अभिलक्षण होते हैं। यह कुछ परिप्रेक्ष्यों में अन्य विज्ञानों से भिन्न है। आन्तरिक तार्किक अभिलक्षणों के विश्लेषण से इसके स्वरूप–सम्मत अथवा प्रवृत्तिगत प्रमुख अभिलक्षणों को समझने में सहायता हो सकती है–

(अ) **सामाजिक अध्ययन एक स्वतन्त्र विज्ञान है** : इसका अध्ययन किसी अन्य विज्ञान की शाखा मानकर नहीं किया जा सकता। एक स्वतन्त्र विज्ञान के रूप में ही इसका अपना अध्ययन–क्षेत्र तथा इसकी सीमारेखा व विधि है।

(आ) **सामाजिक अध्ययन एक सामाजिक विज्ञान है, न कि भौतिक विज्ञान** : सामाजिक विज्ञान के रूप में इसमें मानव के सामाजिक व्यवहार, सामाजिक कार्यकलापों व सामाजिक जीवन पर ध्यान केन्द्रित कराया जाता है। यह अन्य सामाजिक विज्ञानों– इतिहास, राजनीति, अर्थशास्त्र इत्यादि से भी संबंधित है लेकिन यह भौतिक विज्ञान नहीं है।

टिप्पणी

**(इ) सामाजिक अध्ययन अनिर्णयात्मक विषय है, न कि निश्चयात्मक :** समाज– अध्ययन में किसी प्रकार का मूल्य–निर्धारण नहीं किया जाता। यह न तो नैतिक और न ही अनैतिक व्यवहार की ओर ले जाता है क्योंकि यह आचार–निरपेक्ष है। यह नीतिगत रूप से तटस्थ है। यह किसी सामाजिक नीति अथवा विधान अथवा कार्यक्रम के विषय में कोई अनुमोदन नहीं करता। सामाजिक अध्ययन उचित–अनुचित, सही–गलत व नैतिक–अनैतिक संबंधी समस्याओं से भी संबंधित नहीं हो सकता।

**(ई) सामाजिक अध्ययन एक विशुद्ध विज्ञान है, न कि अनुप्रयुक्त विज्ञान :** विशुद्ध विज्ञान का मुख्य लक्ष्य ज्ञान अर्जित करना होता है फिर चाहे वह अर्जित ज्ञान उपयोगी हो अथवा नहीं। प्रयोग में लाया जा सकता हो अथवा नहीं। वहीं दूसरी ओर अनुप्रयुक्त विज्ञान जीवन में लागू किया जाने वाला ज्ञान है।

**(उ) सामाजिक अध्ययन सारभूत विज्ञान है :** इसमें मानवीय घटनाओं का ठोस प्रकटन नहीं किया जाता। इसका संबंध मुख्यतः मानवीय घटनाओं के रूप व इनके प्रारूपों से है। उदाहरणार्थ सामाजिक अध्ययन में युद्धों व क्रान्तियों पर जोर नहीं दिया जाता किन्तु साधारण परिघटनाओं पर जोर दिया जाता है, जैसे कि सामाजिक संघर्ष आदि पर।

**(ऊ) सामाजिक अध्ययन साधारण विज्ञान है, न कि विषय–विशेष पर आधारित :** सामाजिक अध्ययन में मानवों के पारस्परिक आचरण, संघों के स्वरूप, रूप, विषयवस्तु एवं मानवीय समूहों व समितियों की संरचना के साधारण नियमों अथवा सिद्धांतों का पता लगाने का प्रयास किया जाता है। इसमें कुछ चयनित घटनाओं के अध्ययन के आधार पर किसी प्रस्ताव तक पहुंचने का प्रयास किया जाता है।

**(ऋ) सामाजिक अध्ययन एक तार्किक व आनुभविक विज्ञान है :** वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त करने के दो व्यापक उपाय होते हैं– अनुभववाद एवं तर्कवाद। अनुभववाद में अनुभवों व तथ्यों पर जोर दिया जाता है जो अवलोकन एवं क्रियाकलापों से मिले हों। तर्कवाद में कारणों व वादों (थ्योरीज) पर बल दिया जाता है जो तार्किक अनुमानों से सामने आते हैं। सामाजिक अध्ययन–विमर्श में दोनों का महत्व है।

सामाजिक अध्ययन में मानव समाज का क्रमबद्ध व वस्तुपरक अध्ययन किया जाता है। समाज अध्येता व्यक्तियों की सामाजिक क्रियाओं का अध्ययन करते हैं। उदाहरणार्थ पति व पत्नी, अध्यापक व शिक्षार्थी, क्रेता व विक्रेता के सामाजिक संबंध एवं सामाजिक प्रक्रियाएं, यथा– समन्वय, प्रतिस्पर्द्धा, संघर्ष व संगठन, समुदाय व राष्ट्र सहित सामाजिक संरचनाएं (परिवार, वर्ग व राज्य), इन सबसे सामाजिक अध्ययन के विमर्श उत्पन्न होते हैं। रीति–रिवाजों व मूल्यों से व्युत्पन्न व्याख्याओं से सामाजिक संस्थानों का निर्माण किया जाता है।

इस प्रकार सामाजिक अध्ययन को सामाजिक जीवन के अध्ययन के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। सामाजिक अध्ययन में भांति–भांति की बोधगम्यताएं व रुचियां होती हैं। इसका लक्ष्य समाजों, संस्थानों व संघों में संबंधों को वर्गीकृत रूप प्रदान करना होता है। ये संबंध मानव जीवन के आर्थिक, राजकीय, नैतिक, धार्मिक व

सामाजिक पहलुओं से संबंधित होते हैं। यद्यपि सामाजिक अध्ययन का सार क्या है इस बिन्दु पर समाज अध्येता एकमत नहीं हो सके हैं किन्तु इस बात में सर्वसम्मति है कि सामाजिक अध्ययन का संबंध अंतर्क्रिया–प्रणालियों के अध्ययन से है जिनके द्वारा सामाजिक संस्थान व राज्य आदि को स्वरूप प्रदान किया जाता है। इसीलिए सामाजिक अध्ययन में हम सामाजिक संगठन, सामाजिक संरचना, संस्थानों व संस्कृति का अध्ययन करते हैं।

## 1.5.2 सामाजिक अध्ययन की प्रविधियां

सामाजिक अध्ययन आधुनिक समाजों के विकास के पृथक बौद्धिक प्रयास के रूप में उभर रहा है। ऐसे समाजों का अध्ययन इसका एक मुख्य क्षेत्र है। वैसे समाज अध्येताओं की नजर सर्वसाधारण पैमाने पर मानव समाजों एवं सामाजिक अंतर्क्रियाओं के स्वरूप से संबंधित विविध प्रसंगों पर भी है। सामाजिक अध्ययन के कारण हम विश्व को अपनी दृष्टि के साथ दूसरों की दृष्टियों से भी देख सकते हैं।

ऑगस्ट कॉम्टे एवं दार्शनिक हर्बर्ट स्पेन्सर समाज– अध्येताओं में अग्रदूत थे। इनकी चिंताओं के केन्द्र में समाज का विकास एवं समरसता की स्थितियों सहित सतत् विकास के मार्ग व माध्यम प्रशस्त करने जैसे मुद्दे थे। इन्होंने इन मुद्दों पर सर्वथा भिन्न प्रकार के दृष्टिकोण प्रस्तुत किये। इनके कार्यों की तुलना को जिन तीन प्रसिद्ध व्यक्तित्वों द्वारा परिचर्चा का मंच बनाया गया वे थे–कार्ल मार्क्स, एमाइल दुर्खीम एवं मैक्स वेबर।

एमाइल दुर्खीम ने समाज के प्रयोगात्मक अस्तित्व पर जोर डाला। इन्होंने सामाजिक यथार्थताओं पर बल दिया एवं सामाजिक अध्ययन को मनोविज्ञान के दृष्टिकोण की अपेक्षा भिन्न दृष्टिकोण से देखा। सामाजिक यथार्थताएं समाज के सदस्यों के कार्य करने, विचारने व अनुभव करने की स्वतन्त्रता को सीमित कर देती हैं, व्यक्ति समाज में बहुमत के दृष्टिकोण से स्वयं को देखने लगता है। समाज में व्याप्त धारणाएं व मान्यताएं भावी पीढ़ियों में हस्तान्तरित कर दी जाती हैं। इस प्रकार आगे के समाजों में पूर्ववर्ती समाज की परम्पराएं दिखायी देती हैं। सामाजिक यथार्थताओं की व्याख्या करने के लिए उस सामाजिक यथार्थता के कारण के उद्गम पर जोर देना आवश्यक है। सामाजिक यथार्थता के निर्णायक कारक तथ्यों में देखने होते हैं जिनसे वह यथार्थता आगे बढ़ायी जाती है। इसमें व्यक्ति की जानकारी के स्तर पर निर्भर नहीं हुआ जा सकता कि उसे कितना व कब का ज्ञात है। वैसे सामाजिक यथार्थता को समझने के लिए समाज के व्यक्ति व समूहों के कार्यों का विस्तृत अध्ययन अपेक्षित होता है। खासकर इस पहलू पर कि व्यक्ति व समूह द्वारा अपने सामाजिक होने की आवश्यकताओं की पूर्ति में किस प्रकार योगदान किया जा रहा है एवं सामाजिक क्रम के निर्धारण में उस कार्य की उपयोगिता क्या है। दुर्खीम का मानना था कि यह सामाजिक यथार्थता अस्तित्व में रहती है क्योंकि समाज के लिए इसकी उपयोगिता है।

दुर्खीम समरसता लाने को अधिक आतुर दिखे एवं इन्होंने संयुक्त जीवन हेतु महत्वपूर्ण उन विशेषताओं को उजागर करने का प्रयास किया जिनसे समरसता उपजती है।

टिप्पणी

इन्होंने 'सामाजिक तथ्यों' के प्रभावक्षेत्र की पहचान की जिसमें विचार व कृत्य करने सहित अनुभव करने की रीतियां प्रचलित होती हैं। जिन्हें सामूहिक अस्तित्व से उत्पन्न किया जाता है। जिनसे एकीभूत समाज की रचना की जाती है। आधुनिक समाज तो श्रम के विभाजन के विकास का एक उत्पाद है एवं इसकी जटिलता से एकीकरण में कुछ समस्याएं उत्पन्न होती हैं।

वैसे दुर्खीम को उनके इस कथन पर काफी विश्वास था– "मैंने समरसतापूर्ण व संयुक्त जीवन की महत्वपूर्ण उन विशेषताओं को खोज लिया है जिनसे सामाजिक अध्ययन सम्भव होगा।" वेबर ने आधुनिक समाज के विकास को *एक बहुत कम क्रमबद्ध* रूप में दर्शाया। ये समाज की तत्कालीन स्थितियों में समरसता के साधन को खोज लेने की सम्भावना के प्रति निराशावादी थे। इन्होंने समाज की विभिन्न अवस्थाओं व संस्थानों को व्यक्तियों के कृत्यों के सन्दर्भों में समझने का प्रयत्न किया। इस प्रयोजन हेतु इनकी केन्द्रीय अवधारणा 'सामाजिक क्रिया' रही।

इन्होंने व्यक्तियों के संगठनों को इनके अभिप्रेरणा–स्तरों के आधार पर भिन्न–भिन्न स्थानों पर रखकर विश्लेषित किया। इससे अध्ययन व्यक्ति–विषयक अर्थों पर आधारित रहा कि व्यक्ति किन विषयों में संलग्न रहे एवं अन्य व्यक्तियों का परिवेश कैसा था।

इस आधार पर इन्होंने विभिन्न रूपों के प्राधिकरणों, सामाजिक संगठनों व प्राप्तियों के आर्थिक वितरण के मध्य संबंधों का विश्लेषण किया। ये आधुनिक समाज में पाये जाने वाले वर्चस्व के नौकरशाही रूप के विषय में निराशावादी थे। इनकी दृष्टि में यह सत्ताधारी स्वार्थों की प्रधानता का अत्यधिक स्थिर रूप था।

सामाजिक अध्ययन अधिकांश प्राकृतिक विज्ञानों से इस प्रकार भिन्न है कि इसका संबंध परिघटनाओं से होता है जिनकी गणना अथवा जिनका मापन बहुधा कठिन अथवा कभी–कभी असम्भव तक हो जाता है। अथवा इनमें आकस्मिकता या संयोग के संबंधों का समावेश किया जाता है। वैसे इससे विमर्श की विधियों में पूर्ण बिखराव नहीं आता। इसमें सामाजिक अध्ययन के विमर्श की सीमाएं होती हैं एवं आकलन किया जाता है कि किसे प्रायोगिक रूप से समझा जा सकता है।

सामाजिक अध्ययन में पांच महत्वपूर्ण विधियों अथवा उपायों को अपनाया जाता है जो निम्नानुसार हैं–

1. **ऐतिहासिक विधि :** इस विधि में तथ्यों को प्रारम्भिक सामाजिक अध्येताओं ने इतिहास के दर्शन द्वारा प्रस्तुत किया एवं बाद में उद्विकास के जैविकवाद द्वारा भी इसे समर्थित किया गया। इस विधि में अनुसंधान व वाद के लिए समस्याओं में प्राथमिकताओं का क्रम निर्धारित कर लिया जाता है। इसमें विकास के उद्‌भव एवं सामाजिक संस्थानों, समाजों व सभ्यता की कायापलट में आने वाली समस्याओं पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है। इसका संबंध मानव–इतिहास के सम्पूर्ण काल से एवं समाज के समस्त मुख्य संस्थानों से है; जैसा कि कॉम्टे, स्पेन्सर इत्यादि के कार्य में झलकता है। मार्क्स की दृष्टि में लोगों के बारे में सबसे महत्वपूर्ण बात उनकी वास्तविक गतिविधि है। लोग जिस रूप में जिस प्रकार से व्यवहार व प्रतिक्रिया करते हैं उसी से समाज के अन्य पहलुओं का निर्माण होता है एवं समाज सहित संस्कृति के घटक तैयार होते हैं। इस प्रकार

ये समाज व इसके स्वरूप का निर्धारण करते हैं। ये संबंधों के आधारभूत समूह हैं। संबंधों के ये समूह इतिहास के सम्पूर्ण कालक्रम में बदलते व विकसित होते रहते हैं। एक घटना आगामी घटना की आधारशिला बन जाती है।

टिप्पणी

2. **तुलनात्मक विधि :** दीर्घावधि से इस विधि को सामाजिक अध्ययन में एक आधार–विधि माना जाता है। इसका प्रयोग सर्वप्रथम उद्वैकासिक समाज–अध्येताओं द्वारा किया गया था किन्तु इसके उपयोग में उद्वैकासिक प्रयास करना आवश्यक नहीं। दुर्खीम ने *सामाजिक अध्ययन–विधि के परिनियम* में विधि की महत्ता का वर्णन किया है। सामाजिक अध्ययन संबंधी व्याख्या में नैमित्तिक (कारणात्मक) सम्पर्कों की समग्र स्थापना के समावेश का दावा करने के बाद इन्होंने पाया कि एक परिघटना से दूसरी परिघटना उपजी है। इसे तभी दर्शाया जा सकता है जब दोनों परिघटनाएं एकसाथ घटित हो रही हों अथवा एक के बाद एक लगातार घटी हों अथवा अनुपस्थित रही हों। फिर निर्धारित किया जा सकता है कि एक परिघटना दूसरी पर अथवा एक–दूसरे पर निर्भर हैं अथवा नहीं। अनेक प्राकृतिक विज्ञानों में नैमित्तिक सम्पर्कों की स्थापना को प्रयोग द्वारा समझा जाता है। चूंकि सामाजिक अध्ययन में प्रयोग असम्भव है, अतः दुर्खीम ने परोक्ष प्रयोग की विधि अपनाने का सुझाव दिया जो कि तुलनात्मक विधि है।

3. **क्रियात्मक विधि :** सामाजिक अध्ययन में इस विधि का प्रयोग सर्वप्रथम उद्विकासविदों के प्रयास व दावों से प्रतिक्रिया के रूप में किया गया था। इसमें तुलनात्मक विधि एवं 'अनुमानात्मक इतिहास' की विधियों के अपरिपक्व व बाहरी अनुप्रयोग की आलोचना की गयी। इन विधियों में ऐसे आंकड़ों का प्रयोग किया जाता है जो न तो सत्यापित किये गये हैं, न ही क्रमबद्ध हैं। ये प्राचीन समाज से संबंधित हैं जिनके प्रलेख (डॉक्यूमेंट्स) भी उपलब्ध नहीं, जिससे कि स्पष्ट हो कि मानव के सामाजिक जीवन की आरम्भिक अवस्थाओं का पुनर्निर्माण कैसे हुआ।

   क्रियात्मक विधि में भी वैज्ञानिक सन्दर्भों में मानवता के सम्पूर्ण सामाजिक इतिहास को प्रस्तुत करने में उद्विकासविदों द्वारा किये गये वस्तुपरक दावे का खण्डन किया गया। सामाजिक क्रिया की धारणा को उन्नीसवीं शताब्दी में हर्बर्ट स्पेन्सर द्वारा बनाया गया था। दुर्खीम ने सामाजिक संस्थान की क्रिया को सामाजिक जीव की आवश्यकताओं एवं इसके मध्य के पारस्परिक व्यवहार के रूप में परिभाषित किया।

4. **औपचारिक अथवा क्रमबद्ध विधि :** औपचारिक अथवा क्रमबद्ध समाज–अध्ययन में आरम्भिक समाज अध्येताओं के उद्वैकासिक व विश्वकोशीय (एन्सायक्लोपेडिक) विज्ञान से प्रतिक्रिया के रूप में अध्ययन किया जाता है। इसके प्रख्याता जियॉर्ज सिम्मेल थे। इसके तहत सामाजिक अध्ययन में मुख्यतः जर्मन प्रस्ताव पर आधारित रहा जाता है। सिम्मेल ने तर्क दिया कि सामाजिक अध्ययन एक नवीन विधि है, ऐसे तथ्यों को नवरूप से देखने के उपाय हैं, जिन्हें अन्य सामाजिक विज्ञानों द्वारा पहले ही अपने–अपने प्रयोग में लाया जा चुका है। सिम्मेल के अनुसार इस नवीन प्रयास में साहचर्य अथवा अन्योन्य क्रिया के 'रूपों' को ऐतिहासिक विषयवस्तु से पृथक माना जाता है। इसीलिए सामाजिक अध्ययन का संबंध अन्योन्य क्रिया के ऐसे रूपों से भी है जिनका पारम्परिक सामाजिक विज्ञानों द्वारा अध्ययन नहीं किया

टिप्पणी

गया है। ये रूप मुख्य संस्थानों (यथा– आर्थिक तन्त्र, राज्य अथवा अन्य) में नहीं दिखायी देते अपितु व्यक्तियों के मध्य गौण व अस्थायी संबंधों में दिखायी देते हैं।

5. **संरचनात्मक विधि :** क्लाउड लेवि–स्ट्रॉस नामक एक फ्रान्सीसी नृविज्ञानी व मानवजाति विज्ञानी ने संरचनात्मक विधि प्रस्तावित की। लेवि–स्ट्रॉस ने विश्लेषण के नवीन बोध का समावेश किया। ब्रिटिश सामाजिक नृविज्ञानी एडमंड लीच के अनुसार, "लेवि–स्ट्रॉस ने हमें पूर्वविदित विषय के बारे में नवीन परिकल्पनाओं से अवगत कराया है। हम पुनः यह देख सकते हैं कि हमने क्या सोचा था व क्या समझा एवं क्या पूर्णतया नवीन बोध लायें।" संरचनात्मक विधि में सामाजिक संरचना की अवधारणा की परिचर्चा के नवीनीकरण विशेष में किसी प्रभाव के साथ आरम्भ करना होता है।

## सामाजिक अध्ययन की वैज्ञानिक स्थिति

विज्ञान के रूप में सामाजिक अध्ययन का स्वरूप एक विवादास्पद विषय है। कुछ आलोचकों द्वारा सामाजिक अध्ययन की विचारधारा को अन्य सामाजिक विज्ञानों की भांति विज्ञान के रूप में माने जाने का समर्थन नहीं किया जाता है। सामाजिक अध्ययन को विज्ञान इसलिए माना जा सकता है क्योंकि इसमें परीक्षण व मूल्यांकन की वस्तुविषयक एवं क्रमबद्ध विधि–पद्धतियों का समावेश किया जाता है। आनुभविक आंकड़ों व व्याख्या के आधार पर इसे सामाजिक यथार्थता के रूप में भी मूल्यांकित किया जा सकता है।

वैसे इसकी प्रत्यक्ष तुलना प्राकृतिक विज्ञानों से नहीं की जा सकती क्योंकि मानव–व्यवहार प्राकृतिक विज्ञानों के समान नहीं है। विज्ञान को कम से कम निम्नांकित दो प्रकारों से परिभाषित किया जा सकता है–

(अ) संगठित व सत्यापित ज्ञान का संग्रह जिसे वैज्ञानिक छानबीन द्वारा सुरक्षित रखा गया हो।

(आ) अध्ययन की ऐसी विधि जिसके माध्यम से संगठित व सत्यापित ज्ञान के संग्रह की खोजबीन की जाती है।

यदि पहली परिभाषा को स्वीकार किया जाता है तो सामाजिक अध्ययन को इस आधार पर विज्ञान कहा जा सकता है कि वैज्ञानिक छानबीन के बाद इससे संगठित व सत्यापित ज्ञान का संग्रह तैयार होता है। इसमें सामाजिक अध्ययन से किंवदंतियां, लोककथा व ऐच्छिक विचारधारा को हटा दिया जाता है एवं वैज्ञानिक साक्ष्य को आधार बनाया जाता है।

यदि विज्ञान को अध्ययन की विधियों के रूप में परिभाषित करें तो समाज–अध्ययन को विज्ञान के रूप में परिभाषित किया जा सकता है क्योंकि इसमें अध्ययन की वैज्ञानिक युक्तियों का उपयोग किया जाता है।

मानव विचारधारा के इतिहास में हमारे कुछ कार्य सत्यापित ज्ञान पर आधारित रहे हैं। अधिकांश लोग युगों–युगों तक मुख्यतया लोकगीतों, रीति–रिवाजों, मूल्यों व पूर्वानुमान पर आश्रित रहे हैं। हाल ही में और वह भी बहुत कम लोगों ने क्रमबद्ध अवलोकनों व विश्लेषण का विचार अपनाया है।

टिप्पणी

अमेरिकन समाज अध्येता डब्ल्यू. एफ. ऑग्बर्न ने अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत किया कि सामाजिक अध्ययन एक विज्ञान है। इनके अनुसार विज्ञान का निर्णय निम्नांकित तीन कसौटियों द्वारा किया जाता है–

(क) इसके ज्ञान–संग्रह की विश्वसनीयता

(ख) इसका संगठन

(ग) इसकी विधि।

सामाजिक अध्ययन विश्वसनीय ज्ञान पर निर्भर है। जनसंख्या व परिवारों के समूह–व्यवहार, संस्थानों के उद्विकास, समाज–परिवर्तन की प्रक्रिया में सामाजिक अध्ययन को विश्वसनीय माना जाता है। दूसरा बिन्दु यह है कि तथ्यों के बिखरे संग्रह को विज्ञान नहीं कहा जा सकता। विज्ञान संगठित होना चाहिए। विज्ञान का संगठन संबंधों पर आश्रित होता है। सामाजिक अध्ययन में अंतर्संबंधों का विस्तार–क्षेत्र होता है जो कि अधिक खोजें करने को प्रेरित करने में पर्याप्त है। इसके अतिरिक्त विधि के सन्दर्भ में सामाजिक ज्ञान की शाखा को विज्ञान कहा जा सकता है यदि इसके अध्ययन व छानबीनों में वैज्ञानिक विधि का अनुकरण किया जाता हो तो सामाजिक अध्ययन में विभिन्न विधियां अपनायी जाती हैं, यथा– ऐतिहासिक विधि, प्रकरण–अध्ययन विधि, सामाजिक सर्वेक्षण विधि, क्रियात्मक विधि एवं सांख्यिकीय विधि।

भले ही सामाजिक अध्ययन को विज्ञान माना जा सकता हो किन्तु इसका वैज्ञानिक रूप स्थापित नहीं किया जा सकता क्योंकि यह प्राकृतिक विज्ञानों के समान सटीक नहीं है। इसमें कोई मतभेद अथवा विरोध नहीं है कि सामाजिक अध्ययन में क्रियाकलाप व पूर्वानुमान उस प्रकार नहीं किये जा सकते जिस प्रकार भौतिक विज्ञानों में किये जा सकते हैं क्योंकि मानव–व्यवहार व संबंध विलक्षण एवं अनिश्चित रहते हैं। समाज–अध्ययन में विषयपरकता संभव नहीं क्योंकि मनुष्य के अपने पूर्वाग्रह व पक्षपातपूर्ण विचार होते हैं। सामाजिक परिघटना एकदम सटीक नहीं हो सकती क्योंकि यह अति व्यापक होती है एवं मानव–अभिप्रेरणाएं जटिल हैं। मानव–व्यवहार के विषय में पूर्वानुमान लगाने भी कठिन हैं।

समाज–अध्ययन की विषयवस्तु में अध्ययन की वैज्ञानिक विधि का उपयोग किया जाता है। वैसे सामाजिक अध्ययन में प्रयोगशालयी क्रियाकलाप नहीं किये जाते तथापि इसमें विज्ञान की युक्तियों का प्रयोग किया जाता है, यथा– समाज–मापन के विविध मापक– परिकलित सूची, प्रश्नावली, साक्षात्कार एवं प्रकरण–अतीत। ये सामाजिक परिघटना से मात्रा के मापन को सम्बद्ध करते हैं। इसके अतिरिक्त सामाजिक अध्ययन में अवलोकन एवं तुलना का भी उपयोग किया जाता है।

समाज–अध्ययन में कारण–प्रभाव संबंध का चित्रण किया जाता है। अतः सामाजिक अध्ययन एक वैज्ञानिक विषय है जिसमें प्रामाणिकता की मांगों का अनुसरण किया जाता है जो कि 'विज्ञान' में किया जाता है। इसमें सामाजिक संबंधों के रूप को वर्गीकृत किया जाता है तथा सामाजिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों के मध्य सम्पर्कों का निर्धारण किया जाता है। रॉबर्ट बिएरस्टेड नामक एक अमेरिकन समाज अध्येता ने अपनी पुस्तक *'द सोशल ऑर्डर'* में सामाजिक अध्ययन को सामाजिक विज्ञान माना है, न कि प्राकृतिक विज्ञान।

टिप्पणी

ऐसा कहा जा सकता है कि विज्ञान वह उपाय है जिससे सत्य को ज्ञात किया जाता है। यदि सामाजिक अध्ययन में युक्तियों व विधियों का प्रयोग समुचित रूप से किया जाये तो इसे वैज्ञानिक रूप मिल जाता है।

अन्य प्राकृतिक परिघटनाओं की ही भांति मानव की सामाजिक गतिविधियों का भी अवलोकन वैज्ञानिक खोजबीन द्वारा किया जा सकता है।

वैज्ञानिक युक्तियों का प्रयोग करने से सामाजिक परिघटनाओं में मात्रात्मक मापन किये जा सकते हैं। इसी कारण इनकी तुलना क्रियाकलाप की युक्ति से की जा सकती है। सामाजिक अध्ययन में सामाजिक संबंधों के प्रकारों व रूपों की पहचान करने की चेष्टा की जाती है, विशेषतः संस्थानों व संघों के।

इसमें सामाजिक जीवन के विभिन्न कारकों के मध्य संबंधों को ज्ञात करने का प्रयास किया जाता है। इसकी सामग्री के क्रमबद्ध अध्ययन द्वारा साधारण नियम बनाये जाते हैं। सामाजिक अध्ययन में सिद्धांतों के अध्ययन के परिणामों का प्रयोग सामाजिक समस्याओं को सुलझाने में किया जाता है। परिणामस्वरूप सामाजिक अध्ययन की तुलना सामाजिक मनोविज्ञान, नैदानिक मनोविज्ञान एवं अन्य विज्ञानों से की जा सकती है जो मानवता के अस्तित्व से सम्बद्ध होते हैं।

### 1.5.3 समाज के अध्ययन हेतु पहला दृष्टांत : कार्यात्मक दृष्टिकोण

कारण–कार्य संबंधों पर आधारित परस्पर जुड़ाव को प्रकार्यवाद कहते हैं। इसकी शुरुआत जैविकीय प्रकार्यवाद से हुई थी। इस वाद का मत है कि सामाजिक संसार एक संपूर्ण व्यवस्था है, जिसमें मतैक्य होने के बावजूद सर्वसम्मति भी होती है।

प्रकार्यवादी परिप्रेक्ष्य को विविध रूपों में समझने के साथ–साथ इसमें अनेक विचारकों के पक्ष को भी समावेशित किया गया है।

#### प्रकार्यवाद

जिस प्रकार शरीर का एक भाग दूसरे भाग अथवा अंग से तथा अगली प्रक्रिया में परोक्ष शरीर के अन्य अंगों से जुड़ा होता है; परस्पर जुड़ने की इस प्रक्रिया को ही प्रकार्यवाद कहते हैं। यह पूरी प्रक्रिया कारण–कार्य संबंधों पर आधारित होती है। प्रकार्यवाद की शुरुआत जैविकीय प्रकार्यवाद से हुई है। जब प्राकृतिक विज्ञान में जैविकीय विज्ञान का विकास हुआ तो समाज के वैज्ञानिकों ने जैविकीय सावयववाद को समाजशास्त्रीय सिद्धांतों पर भी लागू किया। किंग्सले डेविस का मानना है कि व्यवस्था के नाम पर प्रकार्यवाद समाज की गति को रोकता है। इस सिद्धांत का लक्ष्य समाज में ऐसे भ्रम को पैदा करना है जिससे यथास्थिति बनी रहे। उनके अनुसार प्रकार्यवाद सिद्धांत न होकर एक विचारधारा है जो पूंजीपतियों के शोषण को सही ठहराती है।

प्रकार्यवादियों का मानना है कि सामाजिक संसार एक संपूर्ण व्यवस्था है, जिसमें सर्वसम्मति अथवा मतैक्य होता है, परंतु इस सर्वसम्मति वाली व्यवस्था में भी संघर्ष और अव्यवस्था पायी जाती है। व्यवस्था में विरोध के कारण हिंसा और तोड़–फोड़ भी होती है। इस प्रकार प्रकार्यवादियों का मानना है कि ''प्रत्येक व्यवस्था की कुछ आवश्यकताएं होती हैं तथा इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सामान्य एवं विघटनकारी शक्तियों में ऐसा तालमेल स्थापित हो जाता है कि व्यवस्था का संतुलन और उसकी सजातीयता बनी रहती है।'' प्रकार्यवादियों का यह भी मानना है कि समाज के विभिन्न अंग जैसे–

टिप्पणी

राजनीति, शिक्षा, अर्थ, विकास, राजस्व आदि एक–दूसरे से परस्पर संबद्ध हैं अथवा जुड़े हैं। यह संबद्धता अथवा जुड़ाव मात्र संयोग नहीं है, बल्कि इसके पीछे कार्य–कारण संबंध है। प्रकार्यवाद के कई प्रकार हैं, जैसे– सावयवी प्रकार्यवाद, मानवशास्त्रीय प्रकार्यवाद, विश्लेषणात्मक प्रकार्यवाद, समाजशास्त्रीय प्रकार्यवााद। प्रकार्यवाद के प्रमुख विचारक किंग्सले डेविस, ऑगस्ट कॉम्टे, हर्बर्ट स्पेंसर, टालकोट पारसंस, रॉबर्ट मर्टन आदि हैं।

रॉबर्ट मर्टन ने अंग्रेजी के इस शब्द ' Function' को कई अर्थों में प्रयुक्त किया है। उनका मानना है कि फंक्शन शब्द के पांच अर्थ निकलते हैं– पहला अर्थ सार्वजनिक सभा अथवा त्योहार से संबंधित है। दूसरा अर्थ किसी व्यवस्था के संदर्भ में होता है। तीसरा अर्थ राजनीति विज्ञान में क्रियाकलापों से है। इसका चौथा अर्थ राज्यपालों के फंक्शन से है, तथा पांचवां अर्थ वह है जिसे समाजशास्त्री काम में लेते हैं। उनके अनुसार फंक्शन वह गतिविधि है जिससे समाज में संपूर्ण व्यवस्था बनी रहती है।

## प्रकार्यवादी परिप्रेक्ष्य का विकास

प्रकार्यवादी परिप्रेक्ष्य समाजशास्त्र में उतना ही प्राचीन है जितना स्वयं समाजशास्त्र। इसकी उत्पत्ति 19वीं सदी के अंतिम दशक से मानी जाती है। इस सिद्धांत में अनेक उतार–चढ़ाव भी हुए हैं। वर्तमान प्रकार्यवादी परिप्रेक्ष्य इसका संशोधित रूप है। प्रकार्यवादी परिप्रेक्ष्य को यहां तक पहुंचाने में अथवा इसके संशोधित स्वरूप के विकास में विभिन्न सामाजिक चिंतकों ने अपना विशिष्ट योगदान दिया है। प्रकार्यवादी परिप्रेक्ष्य के विकास में विभिन्न सामाजिक विचारकों का योगदान इस प्रकार है–

## ऑगस्ट कॉम्टे का सावयवी प्रकार्यवाद

फ्रांस की क्रांति के बाद समाज में अव्यवस्था और अशांति फैल गयी थी। ऐसी स्थिति में समाजशास्त्र के जनक ऑगस्ट कॉम्टे ने ऐसे दर्शन पर जोर दिया जो लोगों में भाइचारे का विकास कर सके। लोगों में भाईचारे की समझ को विकसित करने के लिए कॉम्टे ने प्रकार्यवाद को परिभाषित किया। वे पहले समाजशास्त्री हैं जिन्होंने सावयव और समाज को समान स्तर पर रखा। उनका मानना था कि जिस प्रकार शरीर के विभिन्न अंग प्रकार्यों द्वारा एक–दूसरे से जुड़े रहते हैं, उसी प्रकार समाज के विभिन्न अंग भी आपस में जुड़े रहते हैं।

## हर्बर्ट स्पेन्सर का विश्लेषणात्मक प्रकार्यवाद

हर्बर्ट स्पेन्सर अन्य प्रकार्यवादी विचारकों की तरह ही ब्रह्माण्ड को कई खण्डों में बंटा हुआ देखते हैं। हर्बर्ट स्पेन्सर का मानना है कि मुख्य तौर पर इस ब्रह्माण्ड के तीन खण्ड हैं– कार्बनिक, अकार्बनिक तथा अधि–सावयवी। स्पेन्सर ने इन तीनों खण्डों का विशद् विश्लेषण किया है। स्पेन्सर के अनुसार अधि–सावयवी खण्ड का संबंध कार्बनिक तथा अकार्बनिक खण्डों के साथ है अर्थात् इनमें प्रकार्यात्मक संबंध है। स्पेन्सर के शब्दों में प्रकार्यवाद वह सिद्धांत है जो ब्रह्माण्ड के तीनों खण्डों के पारस्परिक संबंधों को प्रकार्यात्मक दृष्टि से देखता है।

## इमाइल दुर्खीम का सामाजिक तथ्यों का प्रकार्यवाद

दुर्खीम ने स्पेन्सर की जैविकीय व्यवस्था की सामाजिक व्यवस्था से तुलना की कटु आलोचना की है। अपनी पुस्तक 'दि डिविजन ऑफ लेबर इन सोसाइटी' में दुर्खीम ने

टिप्पणी

सामाजिक तथ्यों का प्रकार्यात्मक विश्लेषण किया है। उनके अनुसार समाज की कुछ प्रकार्यात्मक आवश्यकताएं होती हैं जिनमें सबसे महत्वपूर्ण सामाजिक व्यवस्था का बना रहना है। उनके अनुसार सर्वसम्मति से समाज में व्यक्तियों को एकीकृत रखा जा सकता है और सामूहिक चेतना का विकास किया जा सकता है। उनके अनुसार जब तक समाज में बुनियादी नैतिक मुद्दों पर सर्वसम्मति नहीं बन जाती है, समाज में सुदृढ़ता नहीं आ सकती है। दुर्खीम ने धर्म का भी प्रकार्यात्मक विश्लेषण किया है। दुर्खीम के अनुसार सामाजिक तथ्य ही समाज के विभिन्न व्यक्तियों को एकसूत्रता में बांधते हैं, यही प्रकार्यवाद है।

### टालकोट पारसंस का बुनियादी पूर्व आवश्यकताएं–सिद्धांत

अन्य प्रकार्यवादियों की तरह ही पारसंस समाज में मूल्यों के प्रति सर्वसम्मति को आवश्यक मानते हैं। यदि समाज के सदस्य परस्पर एक–दूसरे के मूल्यों के प्रति आस्था रखते हैं तो समाज सुचारू रूप से चलता है और समाज में एकता बनी रहती है। पारसंस समाज को एक व्यवस्था मानकर चलते हैं। उनके अनुसार सामाजिक व्यवस्था की चार प्रकार्यात्मक पूर्व आवश्यकताएं हैं– अनुकूलन, लक्ष्य–प्राप्ति, एकीकरण तथा प्रतिमान अनुरक्षण। पारसंस के अनुसार यदि पूर्व आवश्यकताएं पूरी नहीं की जाती हैं तो व्यवस्था का अस्तित्व खतरे में पड़ जाएगा।

### रॉबर्ट मर्टन का प्रकार्य व्यवस्था में अनुकूलन की आवश्यकता का सिद्धांत

मर्टन ने प्रकार्यों को तीन वर्गों में विभाजित किया है– प्रकार्य, दुष्प्रकार्य तथा अप्रकार्य।

**(क) प्रकार्य**– प्रकार्य ऐसी गतिविधियों को कहते हैं जो व्यवस्था को बनाये रखने के लिए व्यवस्था से अनुकूलन करती हैं। सड़क पर चलते समय सुरक्षा के लिए हेलमेट का पहनना प्रकार्य है, सेना में वर्दी का पहनना प्रकार्य है।

**(ख) दुष्प्रकार्य**– मर्टन के अनुसार व्यक्ति की ऐसी गतिविधि जो व्यवस्था को बनाये रखने के लिए अनुकूलन नहीं करती है, दुष्प्रकार्य है।

**(ग) अप्रकार्य**– वैसी गतिविधि जिसके होने अथवा नहीं होने से व्यवस्था पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ता है, अप्रकार्य कहलाती है। जैसे– किसी छात्रावास में रातभर जागकर किसी छात्र का पढ़ना अथवा चाय–पानी पीना।

## प्रकार्यवादी परिप्रेक्ष्य संबंधी विभिन्न चिंतकों के सिद्धांत

प्रकार्यवाद के प्रमुख विचारक किंग्सले डेविस, ऑगस्ट कॉम्टे, हर्बर्ट स्पेंसर, टालकोट पारसंस, रॉबर्ट मर्टन, ब्रोनिसलॉ मैलिनॉस्की, रैडक्लिफ ब्राउन आदि हैं। इनके विचारों का उल्लेख निम्न प्रकार से किया जा सकता है–

### ब्रोनिसलॉ मैलिनॉस्की का प्रकार्यवाद

ब्रोनिसलॉ मैलिनॉस्की प्रथम सामाजिक–सांस्कृतिक–मानवशास्त्री थे जिन्होंने प्रकार्यवादी विचार को व्यवस्थित किया। मैलिनॉस्की को सामाजिक सांस्कृतिक मानवशास्त्र में क्षेत्रकार्य को प्रारंभ करने का श्रेय दिया जाता है। इन्होंने प्रशांत महासागर के ट्रॉबियाण्ड द्वीप समूह के जनजातीय समुदायों के अपने अध्ययन में बताया कि आदिम संस्कृतियों के लोगों की भी अपनी मान्यताएं और मूल्य होते हैं तथा इन संस्कृतियों का विश्लेषण उनकी मान्यताओं एवं मूल्यों के अनुसार ही होना चाहिए। जनजातियों की

टिप्पणी

संस्कृति के अध्ययन में मैलिनॉस्की ने संस्कृति को पूर्णता के रूप में देखा है और उसके विभिन्न अंगों के मध्य प्रकार्यात्मक एकीकरण की अनिवार्यता को स्वीकार किया है।

मैलिनॉस्की के अनुसार किसी संस्कृति के सभी तत्व परस्पर संबंधित होते हैं तथा इनमें से किसी एक में होने वाला परिवर्तन अन्य तत्वों को भी प्रभावित करता है। संस्कृति के विभिन्न अंगों के मध्य इस तालमेल अथवा संगति को प्रकार्यात्मक समाकलन कहा जाता है। इस तरह समाकलन की स्थिति संस्कृति को पूर्णता के रूप में प्रस्तुत करती है। मैलिनॉस्की का कहना है कि किसी भी संस्कृति में ऐसा कुछ नहीं होता जो सार्थक रूप में संस्कृति के अन्य तत्वों से किसी प्रकार से संबद्ध नहीं हो या उसमें संस्कृति की कोई भूमिका नहीं हो।

मैलिनॉस्की ने अपने प्रकार्यवादी विचारों में संस्कृति को वृहद् पर्यावरण का अनुकूल साधन माना है। उनके अनुसार अन्य सभी प्राणियों की तरह मनुष्य के जन्मजात शारीरिक उपागम उसकी जीविता को सुनिश्चित नहीं कर पाते हैं, परंतु विकसित मस्तिष्क और शरीर के विशेष लक्षणों के कारण मनुष्य में संस्कृति–सृजन की क्षमता विकसित होती है। इसी संस्कृति के माध्यम से मनुष्य अपना अनुकूलन निश्चित करता है। इस प्रकार संस्कृति पर्यावरण से अनुकूलन का साधन होती है।

मैलिनॉस्की ने अपने प्रकार्यवाद को 'आवश्यकताओं का सिद्धांत' के रूप में स्थापित किया है। उनका मानना है कि मनुष्य की मूल जैविकीय आवश्यकताएं संस्कृति के लिए आवश्यक दशाएं निर्धारित करती हैं। सार्वभौमिक स्तर पर सभी संस्कृतियों की कुछ आवश्यकताएं होती हैं जो मनुष्य की संतुष्टि के लिए आवश्यक होती हैं। उनके अनुसार सामाजिक संस्थाओं के प्रकार्य तथा मनुष्य की इन प्राथमिक जैव–मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं के बीच गहरा संबंध होता है। इसे मैलिनॉस्की ने निम्नलिखित प्रकार से प्रस्तुत किया है–

**प्राथमिक आवश्यकताएं सांस्कृतिक प्रत्युत्तर**

1. पोषण खाद्य आपूर्ति
2. प्रजनन विवाह और परिवार
3. सुरक्षा और संरक्षण आवास एवं आवरण
4. विश्राम–मनोरंजन के साधन
5. गतिशीलता–कार्यकलाप एवं संचरण
6. वृद्धि प्रशिक्षण

इस प्रकार मैलिनॉस्की ने प्रदर्शित किया है कि किसी भी संस्कृति में अनेक सांस्कृतिक व्यवहारों को जैविकीय एवं मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं से संबंधित किया जा सकता है, परंतु मनुष्य की सभी आवश्यकताएं केवल जैविकीय या मनोवैज्ञानिक नहीं होती हैं। मनुष्य के लिए प्राथमिक जैव–मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए संस्कृति स्वयं अपनी कुछ आवश्यकताओं को जन्म देती है, जिसे व्युत्पन्न आवश्यकताएं कहा जाता है, जैसे–

**व्युत्पन्न आवश्यकताएं सांस्कृतिक प्रत्युत्तर**

1. सांस्कृतिक साधनों का पुनर्नवीनीकरण–अर्थव्यवस्था
2. व्यवहारों के नियमन की आवश्यकता–सामाजिक नियंत्रण

टिप्पणी

3. मानव संसाधनों का पुनर्नवीनीकरण–शिक्षा
4. शक्ति का संगठन–राजनीतिक संगठन

सभी संस्कृतियों में पायी जाने वाली इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मनुष्य प्राकृतिक पर्यावरण के अलावा एक अन्य कृत्रिम वातावरण का भी निर्माण कर लेता है, जिसे संस्कृति कहते हैं। इस संस्कृति को समाकलित करने में कुछ सांस्कृतिक तत्व क्रियाशील होते हैं। आर्थिक विनिमय के स्वरूप तथा आनुष्ठानिक विनियमों में निहित पारस्परिकता संस्कृति के ऐसे पक्ष होते हैं जो संस्कृति की समाकलित आवश्यकताओं को पूरा करते हैं और उसकी पूर्णता को बनाये रखते हैं। इस प्रकार विभिन्न सांस्कृतिक तत्वों के अस्तित्व और उनकी सार्थकता को उपर्युक्त आवश्यकताओं के संदर्भ में समझा जा सकता है। प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रयत्न द्वितीयक अथवा व्युत्पन्न आवश्यकताओं को जन्म देता है। व्यक्तियों द्वारा संस्कृति का सृजन होता है और उसको समाकलित स्वरूप प्रदान किया जाता है।

मैलिनॉस्की का मानना है कि प्राथमिक आवश्यकताएं मौलिक होती हैं और उनकी संतुष्टि अनिवार्य होती है लेकिन, यह व्यक्तिगत स्तर पर संभव नहीं होती है। इन आवश्यकताओं की पूर्ति संगठन के प्रयासों से होती है जो समाज में पाये जाते हैं। मैलिनॉस्की इन्हें संस्थाएं कहते हैं। उनका कहना है कि संस्थाओं की जड़ें मानव स्वभाव की गहराइयों में होती हैं यानी वे मानव स्वभाव को प्राथमिक जैविकीय आवश्यकताओं के पर्याय के तौर पर देखते हैं।

मैलिनॉस्की के सिद्धांत की कई आधारों पर आलोचना की जाती है, जैसे– उनके सिद्धांत में संरचना का विचार नहीं है, परंतु मैलिनॉस्की का कहना है कि प्रकार्य की परिभाषा में एक प्रकार की परिभाषा सन्निहित है। मैलिनॉस्की के सिद्धांत की दूसरी आलोचना यह है कि इसमें ऐतिहासिकता को महत्व प्रदान नहीं किया गया है। उन्होंने क्षेत्र–अध्ययन और एथनोग्राफी पर आधारित अध्ययन किया है, जो केवल वर्तमान संस्कृति के अध्ययन तक सीमित है, उसमें अतीत का विचार सम्मिलित नहीं है। इसकी तीसरी आलोचना यह है कि इस सिद्धांत में समाज और संस्कृति के विघटनात्मक तत्वों पर विचार नहीं किया गया है।

इन आलोचनाओं के बाद भी कहा जा सकता है कि मैलिनॉस्की आधुनिक सांस्कृतिक–सामाजिक मानवशास्त्र के एक नये युगप्रवर्तक थे। उनके प्रकार्यवादी सिद्धांतों के कारण वे युगों–युगों तक याद किये जाते रहेंगे।

## रैडक्लिफ ब्राउन का प्रकार्यवाद

रैडक्लिफ ब्राउन का मानना है कि प्रकार्य की निरंतरता के माध्यम से संरचना की निरंतरता बनी रहती है। यदि किसी एक अंग अथवा भाग की विवेचना की जाए तो प्रकार्य वह भूमिका अथवा योगदान है जो समग्र रूप में सावयव के जीवन को देता है। ब्राउन ने प्रकार्य की अवधारणा के प्रयोग के लिए समाज तथा जीवित सावयव को समान माना है। ब्राउन का सोचना है कि सावयवी व्यवस्थाओं द्वारा तीन प्रश्नों को संदर्भित किया गया है– रचनाशास्त्र के तौर पर संरचना का अध्ययन, शरीरशास्त्र के तौर पर प्रकार्य का अध्ययन एवं उद्विकास का अध्ययन। ये तीनों विषय सामाजिक जीवन पर लागू होते हैं।

ब्राउन ने भी मैलिनॉस्की की तरह सांस्कृतिक तत्वों पर जोर दिया है, परंतु मैलिनॉस्की ने सांस्कृतिक तत्वों के कार्यों के द्वारा 'व्यक्ति' के अस्तित्व पर अधिक जोर दिया है, लेकिन ब्राउन ने 'समाज' पर अधिक जोर दिया है। ब्राउन के अनुसार सांस्कृतिक तत्व जो कार्य करते हैं, उसके अंतिम परिणामस्वरूप समाज का अस्तित्व बना रहता है।

ब्राउन के प्रकार्यवाद संबंधी सिद्धांत की निम्नलिखित आधारों पर आलोचना की जाती है–

- मर्टन का कहना है कि ब्राउन का यह विश्वास गलत है कि सामाजिक व्यवस्था की सभी इकाइयां किसी–न–किसी महत्वपूर्ण प्रकार्य को पूरा करती हैं। संभव है कि समाज की कुछ इकाइयां प्रकार्य के स्थान पर अकार्य करती हों, यानी समाज के संगठन के स्थान पर विघटन की दिशा में प्रयत्नशील हों।
- यह सिद्धांत तुलनात्मक अध्ययन के लिए उपयुक्त नहीं है, क्योंकि दो इकाइयों के प्रकार्यों की तुलना संरचनात्मक संदर्भ की अवहेलना करके किये जाने से अध्ययनों के निष्कर्ष यथार्थ नहीं हो सकते हैं।
- ब्राउन का मानना है कि एक सामाजिक इकाई के द्वारा एक ही सामाजिक कार्य को किया जाता है, भ्रमपूर्ण विश्लेषण है, क्योंकि एक इकाई के द्वारा एकाधिक प्रकार्य किये जाते हैं।
- मर्टन ने ब्राउन के सिद्धांत की आलोचना करते हुए कहा है कि ब्राउन ने एक इकाई के एक प्रकार्य को सभी समाजों पर लागू करने की गलती की है। किसी एक समाज की विभिन्न इकाइयों के प्रकार्यात्मक परिणाम दूसरे समाजों पर लागू नहीं भी हो सकते हैं।

आलोचनाओं के बाद भी कहा जा सकता है कि ब्राउन ने प्रकार्यवाद के क्षेत्र में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है तथा आधुनिक समय में इसे पुनर्जीवित करने का प्रयास किया है।

## रॉबर्ट के. मर्टन का प्रकार्यवाद

रॉबर्ट के. मर्टन ने आधुनिक समाजशास्त्र में प्रकार्यवाद का संशोधित अध्ययन कर उसको एक व्यवस्थित पद्धति के रूप में विकसित करने का कार्य किया है। मर्टन से पूर्व दुर्खीम, मैलिनॉस्की और रैडक्लिफ ब्राउन जैसे विचारकों ने प्रकार्यवाद अथवा शास्त्रीय प्रकार्यवाद की जो मान्यताएं निर्धारित की थीं, उनमें व्यापक संशोधन किया है। इन संशोधनों को निम्नलिखित बिन्दुओं के अंतर्गत रखा जा सकता है–

- मर्टन ने पूर्व प्रकार्यवादियों का विचार कि सामाजिक व्यवस्था का प्रत्येक अंग संपूर्ण व्यवस्था के लिए प्रकार्यात्मक होता है, को अस्वीकार करते हुए कहा कि समाज की सभी इकाइयां सभी सदस्यों के लिए और संपूर्ण समाज के लिए समरूप नहीं होती हैं। एक इकाई किसी एक सदस्य के लिए प्रकार्यात्मक हो सकती है तो दूसरे सदस्य के लिए दुष्प्रकार्यात्मक हो सकती है।
- पूर्व प्रकार्यवादियों की मान्यता कि समाज की सभी इकाइयां प्रकार्यात्मक हैं, को मर्टन ने अस्वीकृत करते हुए कहा कि इकाई का परिणाम प्रकार्यात्मक

(सकारात्मक) के साथ ही दुष्प्रकार्यात्मक (नकारात्मक) अथवा अकार्यात्मक भी होता है, क्योंकि इकाइयों के कुछ कार्य प्रकट होते हैं तो कुछ कार्य अप्रकट भी होते हैं।

टिप्पणी

- मर्टन ने पूर्व–प्रकार्यवादियों के विचार कि प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था के लिए कुछ प्रकार्य अथवा आवश्यकताएं अनिवार्य होती हैं, को नकारते हुए कहा कि समाज में वैकल्पिक संरचनाएं और संस्थाएं विद्यमान होती हैं जो सामाजिक व्यवस्था के विशिष्ट प्रकार्यों को पूरा करती हैं।

इस प्रकार मर्टन ने पारंपरिक अथवा शास्त्रीय प्रकार्यवाद की उपर्युक्त मान्यताओं का खण्डन करते हुए इसका संशोधित रूप प्रस्तुत किया। मर्टन ने अपना 11 सूत्रीय पैराडाइम प्रस्तावित किया है जिसके प्रमुख विचार इस प्रकार हैं–

1. प्रकार्यात्मक विश्लेषण के लिए उन इकाइयों को निर्धारित करना, जिनसे प्रकार्य होते हैं।
2. सामाजिक घटनाओं की वस्तुनिष्ठ घटनाओं का पता करना।
3. किसी इकाई का प्रकार्यात्मक प्रभाव कहां तक और किन इकाइयों पर पड़ रहा है, इसका पता लगाना।
4. प्रकार्यात्मक विकल्पों की खोज करना।
5. प्रकार्यात्मक विश्लेषण की वैचारिकी विश्लेषण को किस प्रकार प्रभावित कर रही है, इसका पता लगाना।
6. किसी व्यवस्था के जीवित रहने के लिए वास्तव में किन आवश्यताओं की पूर्ति आवश्यक है, इसका पता करना।
7. समाज में गतिशीलता एवं परिवर्तन कैसे हो रहे हैं, इसका पता लगाना।

मर्टन ने प्रकार्यात्मक विश्लेषण के लिए प्रस्तावित अपने पैराडाइम के प्रयोग के कई लाभ बताए हैं, जैसे– इसकी सहायता से आधार तत्वों तक सीधे पहुंचा जा सकता है। इससे समाजशास्त्री प्रकार्यात्मक विश्लेषण के परिणामों के प्रति संवेदनशील हो जाते हैं। इससे सिद्धांत को उचित तरीके से नियमित करने में सहायता मिलती है इससे समाजशास्त्रीय विश्लेषण में प्रयुक्त मान्यताएं, अवधारणाएं आदि हमारे समक्ष आ जाती हैं। इससे विश्लेषण का तरीका क्या हो, किन बातों का और कितना अध्ययन हो आदि के निर्धारण में सहायता हो जाती है।

मर्टन ने पारंपरिक प्रकार्यवादियों के विश्लेषण का खण्डन करते हुए सामाजिक व्यवस्था की इकाइयों के 'प्रकट और अप्रकट प्रकार्यों' पर जोर दिया है। मर्टन के अनुसार प्रकट कार्य किसी घटना के वैसे परिणाम होते हैं जिनके घटित होने का अनुमान पहले से ही होता है। दूसरी तरफ अप्रकट कार्य किसी घटना के वैसे परिणाम हैं जिन्हें न तो कर्ता जानता है और न ही चाहता है। मर्टन ने प्रकट और अप्रकट प्रकार्यों को प्रकार्यवादी विश्लेषण के दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण माना है, क्योंकि–

(क) इससे तर्कहीन लगने वाली घटनाओं के पीछे छिपे उद्देश्यों का पता लगता है।

(ख) इससे समाज के वैज्ञानिक ज्ञान का विस्तार होता है।

(ग) इससे स्थापित नैतिक मूल्यों को चुनौती मिलती है।

टिप्पणी

(घ) इससे सार्थक सैद्धांतिक खोज की ओर ध्यान जाता है और अनुसंधान के नये प्रश्नों की उत्पत्ति संभव होती है।

मर्टन ने प्रकार्यवाद के सिद्धांत को बहुत व्यवस्थित किया है और उसे संशोधित करके आधुनिक स्वरूप प्रदान किया है, तथापि उनके सिद्धांत की निम्नलिखित आधारों पर आलोचना की जाती है–

(क) गोल्डनर के अनुसार, मर्टन के प्रकार्यवाद पर रूढ़िवाद और क्रांतिकारी होने का आरोप लगाया गया है, वह कमजोर नींव पर आधारित है।

(ख) मर्टन का प्रकार्यवाद भी अन्य प्रकार्यवादियों की तरह उद्देश्यपरकता से ग्रसित है, क्योंकि मर्टन ने किसी इकाई के प्रभाव को ही कारण के तौर पर स्वीकार किया है।

(ग) मर्टन के प्रकार्यवादी विश्लेषण के पैराडाइम में तुलना और सामान्यीकरण की भूमिका का अभाव है।

(घ) आलोचकों के अनुसार पारसंस की तरह मर्टन ने भी सामाजिक व्यवस्था में असहमति और संघर्ष के पहलू पर अधिक जोर नहीं दिया है।

(ङ) कोहेन का कहना है कि मर्टन ने अपने सिद्धांत में जिन प्राक्कल्पनाओं को शामिल किया है, उन्हें प्रमाणित करना बहुत कठिन है। मर्टन अपने नियमों को पूरी तरह से स्पष्ट करने में असफल रहे हैं।

(च) मर्टन द्वारा अपने पूर्ववर्ती प्रकार्यवादियों के विचारों में संशोधन करने के संबंध में डेहरेंडार्फ का कहना है कि प्रकार्यवाद के सभी स्वरूप यूटोपिया हैं, क्योंकि इन्हें समाज पर लागू करते समय वास्तविकता कम और कल्पना अधिक होती है।

(छ) होमन्स, टर्नर जैसे आलोचकों का कहना है कि मर्टन के प्रकार्यवाद को सिद्धांत के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता है, क्योंकि प्रत्येक सिद्धांत में एक कथन और एक निष्कर्ष अवश्य होता है, परंतु मर्टन के प्रकार्यवाद में ऐसा कुछ नहीं है।

उपर्युक्त आलोचनाओं के बावजूद कहा जा सकता है कि मर्टन ने प्रकार्यवाद के पारंपरिक कमियों को उजागर करते हुए उसे नया परिप्रेक्ष्य प्रदान करने की कोशिश की है और प्रकार्यवाद को सुदृढ़ता प्रदान की है।

### 1.5.4 भारतीय समाज के अध्ययन में प्रकार्यात्मक परिप्रेक्ष्य का प्रयोग

प्रारंभ में भारतीय समाज के विश्लेषण में उद्विकासवाद से प्रभावित ऐतिहासिक पद्धति अथवा भारतीय विद्याशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य का प्रभाव रहा था और इन्हीं के आधार पर भारतीय समाज का अध्ययन और विश्लेषण का प्रयास किया जाता था, परंतु इन विश्लेषणों की प्रमुख कमी यह थी कि इनमें संस्थाओं के बीच के पारस्परिक संबंधों पर ध्यान नहीं दिया जाता था और प्रकार्यात्मक पक्षों को उपेक्षित कर दिया जाता था। भारतीय समाज के विश्लेषण के क्रम में आने वाली इन समस्याओं अथवा कमियों को दूर करने के लिए संरचनात्मक प्रकार्यात्मक परिप्रेक्ष्य अस्तित्व में आया अथवा विद्वानों ने इसका प्रयोग करना शुरू कर दिया।

टिप्पणी

भारतीय समाज के संदर्भ में प्रकार्यात्मक परिप्रेक्ष्य को प्रारंभ करने का श्रेय औपनिवेशिक काल में ब्रिटिश मानवशास्त्रियों को दिया जा सकता है। औपनिवेशिक काल के दौरान अब्बे डुब्बाय ने 'राजनीतिक स्थिरीकरण' अथवा 'भारत की पूर्ण बर्बरता से रक्षा' के तौर पर जाति व्यवस्था के प्रकार्यों को वर्णित किया था। हट्टन ने जाति व्यवस्था का प्रकार्यात्मक दृष्टि से अध्ययन करके उसके तीन प्रकार्य बताये हैं – व्यक्तिगत, सामुदायिक और सामाजिक।

यद्यपि ब्रिटिश शासनकाल के दौरान भारतीय समाज के संदर्भ में इस परिप्रेक्ष्य का प्रयोग शुरू हो गया था, तथापि इसका व्यवस्थित प्रयोग स्वतंत्रता के बाद ही भारतीय समाजशास्त्रियों ने किया है। भारतीय समाज के संदर्भ में संरचनात्मक–कार्यात्मक परिप्रेक्ष्य का प्रयोग करने वाले समाजशास्त्रियों में एम. एन. श्रीनिवास अग्रणी विचारक हैं। उन्होंने रेडक्लिफ ब्राउन और घुर्ये के दिशा–निर्देश में दक्षिण भारत में कुर्ग समाज और उनके धर्म के अध्ययन में इसी परिप्रेक्ष्य का प्रयोग किया, जिसमें कुर्ग समाज के अंतर्जातीय संबंध और जाति पदक्रमों के साथ उनके धार्मिक संस्कारों एवं कर्मकाण्डों के प्रकार्यात्मक पक्षों का भी अध्ययन किया है। श्रीनिवास ने दक्षिण भारत के मैसूर जिले के रामपुरा गांव के एक अन्य अध्ययन में भी इसी परिप्रेक्ष्य का प्रयोग किया है, जिसमें उन्होंने रामपुरा गांव की जाति और धर्म के संरचनात्मक प्रकार्यात्मक पक्षों के विश्लेषण के साथ ग्रामीण परिवेश में जाति व्यवस्था में हो रहे परिवर्तन और गतिशीलता को दर्शाया है।

संरचनात्मक–कार्यात्मक परिप्रेक्ष्य के भारतीय समाज के संदर्भ में प्रयोग के अन्य प्रमुख विचारक एस. सी. दुबे हैं। उन्होंने समीरपेट गांव के अपने अध्ययन में इस उपागम का प्रयोग करते हुए बताया कि सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षों, जैसे–आर्थिक, पारिवारिक, धार्मिक, सामुदायिक, सांस्कारिक, कर्मकाण्डीय जीवन आदि किस तरह से समाज और संस्कृति का निर्माण करते हैं। इस अध्ययन में दुबे ने हेनरी मैन और चार्ल्स मेटकॉफ के विचारों के विरुद्ध जाते हुए यह प्रतिपादित किया कि भारत में कोई गांव स्वायत्त अथवा आत्मनिर्भर नहीं है, क्योंकि गांव हमेशा वृहद् सामाजिक व्यवस्था की एक इकाई ही होता है। कोई भी व्यक्ति केवल अपने गांव का सदस्य ही नहीं होता है, अपितु वह एक जाति, जनजाति, धर्म और राजनीतिक व्यवस्था से भी जुड़ा होता है और समग्र तौर पर वह भारतीय समाज से संबद्ध होता है। दुबे ने अपने अध्ययनों के माध्यम से यह चित्रित किया है कि किस प्रकार ग्रामीण भारतीय अर्थव्यवस्था जाति पर आधारित प्रकार्यात्मक विशिष्टीकरण, आत्मनिर्भरता और व्यावसायिक गतिशीलता से परिचालित होती है। दुबे ने भारत के गांव में धर्म के प्रकार्यात्मक पक्षों को स्पष्ट करने के लिए तीन तरह के त्योहारों और उत्सवों को प्रमुख माना है। ये त्योहार और उत्सव हैं – पारिवारिक संस्कार, ग्रामीण त्योहार और जातीय उत्सव।

भारतीय समाज के विश्लेषण के परिप्रेक्ष्य में एक अन्य विचारक आंद्रे बेते का नाम लिया जा सकता है। उन्होंने क्षेत्रीय अध्ययनों द्वारा भारत के ग्रामीण भागों में कृषक संबंधों का सूक्ष्म विवेचन किया है। अपने अध्ययन में बेते ने ग्रामीण भारत में कृषक असंतोष के लिए सुसंगत सामाजिक संरचना से परिवर्तित होकर असंगत सामाजिक संरचना को दोषी माना है। बेते का मानना है कि परंपरागत असमानता को परंपरागत मूल्यों में वैधता प्रदान कर दी गई थी, इसलिए सामाजिक व्यवस्था सुसंगत थी, जबकि

टिप्पणी

वर्तमान सामाजिक व्यवस्था में आर्थिक और सामाजिक असमानताओं को आधुनिक मूल्यों में अवैध माना गया है, इसलिए यह सामाजिक व्यवस्था असंगत सामाजिक संरचना का निर्माण करती है, जिससे भारत के ग्रामीण कृषकों में असंतोष पैदा हो रहा है। भारत में जाति व्यवस्था के स्तरीकरण का अध्ययन करने में बेते ने इस परिप्रेक्ष्य का प्रयोग करते हुए बताया है कि आज से 50 वर्ष पूर्व जाति की संरचना में आमतौर पर राजनीतिक और आर्थिक श्रेणीकरण भी होता था, लेकिन वर्तमान में विभिन्न व्यवसायों तथा भूमिका के अतिरिक्त संसाधनों पर अधिकार के लिए सत्ता की सोच पैदा हो जाने से जाति, वर्ग और सत्ताधिकार के मध्य संगतता कम हो गयी है और ये एक–दूसरे से पृथक अस्तित्व कायम रखे हुए हैं।

इस परिप्रेक्ष्य के अध्ययन को आगे बढ़ाने के क्रम में ए. एम. शाह का नाम भी लिया जा सकता है, जिन्होंने श्रीनिवास की पद्धति को आगे ले जाते हुए गुजरात के एक गांव के अध्ययन के आधार पर 'भारत में परिवार' की व्याख्या इसके बदलते परिप्रेक्ष्य में की है। 'परिवार' और 'घर' को दो अलग शब्द मानते हुए शाह ने कहा कि घर से तात्पर्य आवासीय समूह से है, जबकि परिवार से तात्पर्य नातेदारी, भावनाएं और रिवाज आदि से संबंद्ध समूहों से है। कैथलीन गफ ने तंजौर के गांव में इसी परिप्रेक्ष्य का प्रयोग करते हुए ग्रामीण जाति समूह की एकता का उल्लेख करते हुए बताया कि कुंबपेट्टे के ब्राह्मणों के देवताओं से अलग कोनारो अथवा गोपालक जाति में 'कोनार ग्राम माता' की उपस्थिति जातीय एकता की द्योतक है। आर. पी. देसाई जैसे विचारक ने विकासात्मक चक्र के आधार पर 'विलय' और 'विखंडन' की अवधारणा के माध्यम से परिवार के घरेलू आयामों में होने वाले परिवर्तनों को विश्लेषित किया है।

संरचनात्मक–कार्यात्मक परिप्रेक्ष्य का प्रयोग करते हुए मैकिम मेरियट ने किशनगढ़ी के ग्रामीण समुदायों के अध्ययन के दौरान उन उपस्थित एकता और प्रकार्यात्क संबंधों के विभिन्न पक्षों के विश्लेषण के साथ–साथ अन्य गांव के लोगों के साथ इस गांव के लोगों के प्रकार्यात्मक संबंधों की भी विस्तृत चर्चा की है। इस परिप्रेक्ष्य में अध्ययन को आगे बढ़ाने के क्रम में बी. एस. बबिस्कर और एन. आर. सेठ का नाम भी लिया जा सकता है। बी. एस. बबिस्कर ने सहकारी चीनी मिल की संगठनात्मक संरचना के तहत शक्ति–संरचना में जाति की भूमिका का विश्लेषण प्रस्तुत किया है तथा एन. आर. सेठ ने औद्योगिक श्रमिकों के कार्यस्थल और निवास के सामाजिक और सांस्कृतिक आयामों और उसके पारस्परिक संबंधों का अध्ययन किया है।

## अपनी प्रगति जांचिए

7. सर्वप्रथम उद्विकासविदों के प्रयास व दावों से प्रतिक्रियास्वरूप सामाजिक अध्ययन में प्रयुक्त विधि है–

   (क) ऐतिहासिक (ख) क्रियात्मक

   (ग) संरचनात्मक (घ) क्रमबद्ध

8. कार्य–कारण संबंधों पर आधारित पारस्परिक जुड़ाव क्या कहलाता है?

   (क) प्रकार्यवाद (ख) उदारवाद

   (ग) आदर्शवाद (घ) भौतिकवाद

टिप्पणी

## 1.6 मानव बनाम पशु समाज

समाज केवल मनुष्यों तक ही सीमित नहीं है, अपितु बहुत सारे दूसरे जीवधारियों (चींटियों, दीमकों, चिड़ियों, बंदरों इत्यादि) के समूहों में भी समाज की विशेषताएं पाई जाती हैं। डार्विन के अनुसार 'निम्न स्तर के जीवधारियों की शारीरिक रचना में होने वाले क्रमिक परिवर्तनों के माध्यम से ही मनुष्य अपने वर्तमान रूप तक पहुंच सका है। इस आधार पर यह आवश्यक हो जाता है कि मानव व पशु समाज की अवधारणा, प्रकृति, समानताओं तथा विषमताओं का समुचित प्रकार से चिंतन किया जाए।

मानवविहीन समाज का तात्पर्य उन समाजों से है जिनका निर्माण मनुष्य द्वारा नहीं होता है अथवा जिनसे मनुष्यों का कोई भी प्रत्यक्ष संबंध नहीं होता है। ऐसे समाजों के सदस्यों की शारीरिक बनावट और उनके द्वारा किए गए अधिकांश कार्य उनके वंशानुक्रम द्वारा निर्धारित होते हैं। समस्त मानव–विहीन समाज भी समान प्रकृति के नहीं होते बल्कि उनमें भी वंशानुक्रम पर निर्भरता पृथक–पृथक मात्रा में होने के कारण एक स्पष्ट भिन्नता पायी जाती है। प्रमुख मानव–विहीन समाज निम्नांकित हैं–

### I. स्तनपायी और कीट समाज

मानव–विहीन समाजों में स्तनपायी प्राणियों का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है। ऐसा माना जाता है कि दूध पीने वाले जीवधारियों की प्रारंभिक अवस्था के क्रमिक विकास से ही मनुष्य अपनी वर्तमान स्थिति तक पहुंच सका है। स्तनपायी पशुओं तथा कीटों की विशेषताएं निम्नलिखित हैं–

- स्तनपायी समाज तथा कीट समाज में प्रमुख अंतर शारीरिक बनावट के आधार पर किया जा सकता है। दूध पीने वाले पशुओं में नर और मादा की शारीरिक बनावट, शारीरिक शक्ति, आकार और आकृति में इतना कम अंतर होता है कि कभी–कभी तो बिना सूक्ष्म परीक्षा के नर और मादा के मध्य अंतर करना भी कठिन हो जाता है। उदाहरणार्थ– गाय व बैल, बिल्ली व बिलाव तथा भैंस व भैंसा इत्यादि। कुछ कीड़ों के समाज में नर व मादा का अंतर स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। कभी–कभी तो कीड़ों में नर व मादा के समूह ही भिन्न–भिन्न होते हैं, अकेले मादा कीड़े ही कभी कभी 'मुख्य' व 'अधीन' दो भागों में विभाजित हो जाते हैं और ये दोनों समूह एक–दूसरे से इतने भिन्न होते हैं कि अधिकतर उन्हें दो विभिन्न जातियां तक समझ लिया जाता है। जैसे– 'कैरेवरा' जाति की चींटी में 'मुख्य चींटी' 'अधीन चींटी' की तुलना में सैकड़ों गुना बड़ी होती है। इसी प्रकार प्रजनन के अयोग्य चींटियों के अपने अलग समूह होते हैं। स्तनपायी समाज में ऐसा कोई बहु–आकृतिवाद नहीं होता है।
- स्तनपायी तथा कीट समाज में प्रजनन की शक्ति के आधार पर विभेदीकरण किया जा सकता है। स्तनपायी प्राणियों में समस्त मादा पशुओं में बच्चे को जन्म देने की क्षमता होती है, लेकिन एक साथ कम बच्चों को जन्म देने के कारण इनके परिवार का आकार छोटा होता है। इसके विपरीत कीट समाज में सभी मादा कीड़ों में प्रजनन की क्षमता नहीं होती, मात्र कुछ ही कीड़ों में यह क्षमता होती है। साथ ही वे एक समय पर सैकड़ों और हजारों की संख्या में बच्चों को

टिप्पणी

जन्म देते हैं, कभी–कभी तो यह संख्या दस हजार अथवा इससे ऊपर पहुंच जाती है, परिणामस्वरूप इनके परिवार का आकार बहुत विशाल हो जाता है।

- स्तनपायी तथा कीट समाज का एक महत्वपूर्ण अंतर सामाजिक सीख और आनुवांशिकता के आधार पर देखा जा सकता है। स्तनपायी पशुओं के अधिकांश कार्य एक–दूसरे को देखकर किये जाते हैं, जबकि कीड़े उसी प्रकार कार्य करते हैं, जिस प्रकार उनकी जाति के सभी दूसरे कीड़े जन्मजात विशेषताओं के कारण करते हैं अर्थात् पशुओं की सामाजिक सीख सांस्कृतिक व्यवहारों द्वारा प्रभावित नहीं होती बल्कि वह प्रत्यक्ष अनुभव पर आधारित होती है।
- अंतिम विभेदीकरण सामाजिक अनुकूलन और सम्बन्धों के आधार पर किया जा सकता है। स्तनपायी पशुओं की जीव रचना जटिल तथा कुछ हद तक परिवर्तनशील होती है। दूध पीने वाले पशुओं की आयु अपेक्षाकृत अधिक होती है, इसलिए इनका शिशु काल भी अधिक लंबा होता है। इसके परिणामस्वरूप इन्हें जन्मजात विशेषताओं से अनुकूलन करने के लिए अधिक अवधि प्राप्त होती है। शिशुकाल में मां और बच्चे के सम्बन्ध भी अधिक दिनों तक बने रहते हैं। इस प्रकार कीट समाज के विपरीत स्तनपायी समाज मात्र जन्मजात लक्षणों पर ही निर्भर नहीं रहता अपितु 'त्रुटि तथा सीख' की प्रक्रिया द्वारा कुछ सीमा तक अपने व्यवहारों में परिवर्तन कर सकता है। कभी–कभी तो स्तनपायी पशुओं के व्यवहार इतने संतुलित और व्यवस्थित प्रतीत होते हैं कि उन्हें 'सामाजिक वर्ग' में भी सम्मिलित कर लिया जाता है। इसके विपरीत 'कीट समाज' में सदस्यों की जीवन अवधि बहुत अल्प होने के कारण उन्हें बाह्य दशाओं से अनुकूलन स्थापित करने का अवसर प्राप्त नहीं होता है। साथ ही, एक साथ हजारों बच्चों को जन्म देने के कारण उनमें से बहुत कम के जीवित रहने की संभावना रहती है। इस प्रकार उनका सामाजिक अनुकूलन संभव नहीं हो पाता है।

### II. नर–वानर समाज

समस्त नर–वानर दूध पीने वाले पशुओं की विकसित अवस्था की ओर संकेत करते हैं। किंग्सले डेविस ने नर–वानर समाज में बंदर तथा बिना पूंछ वाले नर–वानरों (गिब्बन, गोरिल्ला, ओरंग उटान तथा चिंपाजी) आदि को सम्मिलित किया है। यद्यपि नर–वानर समाज तथा स्तनपायी समाज में बहुत अधिक अंतर नहीं है लेकिन निम्नलिखित कारकों के कारण इनमें स्पष्ट भेद किया जा सकता है–

- नर–वानर और स्तनपायी समाज का सर्वप्रथम अंतर उनके मध्य पाये जाने वाले यौन–सम्बन्धों के आधार पर है। नर–वानरों की आंखें तेज, व्यवहार अधिक लोचदार और मस्तिष्क अधिक विकसित होता है। शिशुकाल लंबा होने के कारण उन्हें अपने पर्यावरण से अनुकूलन करने का अधिक अवसर मिलता है। नर–वानर समाज में स्तनपायी पशुओं के समान यौन संबंध स्थापित करने का कोई निश्चित समय अथवा ऋतु भी नहीं होती बल्कि उनके यौन–सम्बन्ध बहुत कुछ मनुष्य की तरह यौन रहित प्रेरणाओं से प्रभावित होते हैं। इन व्यवहारों का आरंभ मानव के समान क्रीड़ा के दौरान शिशु काल में स्पष्ट होने लगता है और आयु वृद्धि के साथ इनमें परिपक्वता आती जाती है। इन विशेषताओं का

टिप्पणी

स्तनपायी समाज में कोई स्थान नहीं है और इस प्रकार नर–वानर समाज अपेक्षाकृत एक उच्च स्थिति की ओर संकेत करता है।

- अनेक बुद्धिजीवियों ने प्रभुत्व की भावना के आधार पर नर–वानर तथा स्तनपायी समाज में विभेदीकरण किया है। नर–वानरों में समूह के प्रत्येक सदस्य को एक विशेष सदस्य के अंतर्गत रहकर उसी के निर्देशानुसार कार्य करना होता है। हाथियों के समूह में तो प्रभुत्व का रूप बहुत ही अधिक स्पष्ट होता है। यहां प्रत्येक हाथी को अपने नेता हाथी का आदेश मानना आवश्यक होता है। नेता हाथी समूह में सबसे आगे चलता है। उसकी शक्ति में कमी हो जाने पर समूह के दूसरे हाथी किसी नए हाथी को अपना नेता बना लेते हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि स्तनपायी समाज में प्रभुत्व और शक्ति का कोई भी स्थान नहीं है। अंतर केवल इतना है कि नर–वानर समाज में प्रभुत्व की इस भावना का रूप कहीं अधिक स्पष्ट होता है।
- नर–वानर समाज के सदस्यों का शैशव काल दीर्घ होने के कारण मादा व बच्चों के सम्बन्ध अधिक स्पष्ट व स्थायी होते हैं। एक समय में सामान्यतः एक ही बच्चे को जन्म देने के कारण नर–वानर समाज में परिवार का आकार बहुत छोटा होता है। कभी–कभी तो उनके समाज की विशेषताएं मानव–समाज के समान ही प्रतीत होती हैं। इसके विपरीत, स्तनपायी जीवधारियों के मध्य सम्बन्धों का स्थायी होना और टूटना पूर्णतया यौन–संबंधों पर ही निर्भर होता है। यहां यौन इच्छा संबंधों की सूत्रपात होती है और यौन सम्बन्धों के पश्चात् उनका प्रभाव भी समाप्त हो जाता है। कभी–कभी गर्भकाल और अधिक से अधिक प्रसव के बाद नर का मादा से कोई संबंध नहीं रह जाता है। इस प्रकार स्तनपायी समाज में समूह का संगठन मादा व उसके छोटे बच्चों द्वारा ही निर्मित होता है और यह भी बहुत अल्प अवधि का होता है क्योंकि बच्चों में भोजन प्राप्त करने की क्षमता विकसित होते ही वे मादा से अलग हो जाते हैं।
- संचार की प्रक्रिया के आधार पर भी स्तनपायी और नर–वानर समाज में अंतर किया जा सकता है। यह प्रक्रिया नर–वानर समाज में अधिक विकसित होती हैं। नर–वानर समाज के सदस्य एक विशेष प्रकार की बोली बोलते हैं जिसे दूसरे सदस्य सरलतापूर्वक समझ लेते हैं। इसके साथ ही उनके भावों, शारीरिक क्रियाओं व मुख मुद्राओं को दूसरे सदस्य शीघ्र समझ जाते हैं।

विभिन्न समाजों की प्रकृति को प्रतीकों के आधार पर संचार सम्बन्धी प्रतीकों को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है :

(क) पूर्व–ज्ञान सम्बन्धी प्रतीक

(ख) अभिव्यक्ति सम्बन्धी प्रतीक

(ग) स्वैच्छिक प्रतीक

## मानव तथा पशु समाज में अंतर

स्तनपायी पशुओं तथा नर–वानरों की अनेक विशेषताएं 'सामाजिक' होते हुए भी मानव समाज से बहुत भिन्न हैं। पशु समाज जैविक–सामाजिक गुणों को प्रदर्शित करता है, जबकि मानव–समाज में सामाजिक–सांस्कृतिक गुणों की प्रधानता है। मानव तथा

पशु समाज में मुख्यतः शारीरिक तथा सामाजिक–सांस्कृतिक आधार पर अंतर स्पष्ट किए जा सकते हैं–

टिप्पणी

### I. मानव और पशु समाज में शारीरिक अंतर

जैविकीय रूप से मानव को पशुओं से भिन्न कुछ ऐसी शारीरिक विशेषताएं प्राप्त है जो उसे विकासशील व सांस्कृतिक प्राणी बनाने में सहायक होती हैं जो निम्नलिखित हैं–

- **विकसित मस्तिष्क**– मनुष्य की शारीरिक रचना सम्बन्धी विशेषताओं में विकसित मस्तिष्क प्रमुख है। अध्ययनों से यह सिद्ध हुआ है कि बड़े से बड़े व चतुर पशु का मस्तिष्क भी मनुष्य के मस्तिष्क से बहुत छोटा होता है। मानव मस्तिष्क में लगभग 10 अरब नाड़ियों के सिरे प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से सम्बद्ध रहते हैं और इसी के द्वारा मनुष्य के लाखों प्रकार के व्यवहार और क्रियाएं संचालित होती हैं। मस्तिष्क की इन्हीं विशिष्ट क्षमताओं के कारण मानव में एक जटिल संस्कृति का निर्माण करने की अद्‌भुत क्षमता है।
- **सम्भाषण की क्षमता**– स्पष्ट बोलने की क्षमता मनुष्य का एक प्रमुख प्राणीशास्त्रीय गुण है। संभाषण की क्षमता का संबंध मस्तिष्क के साथ–साथ संतुलित जबड़े में मुंह के अंदर पतली जीभ को सरलतापूर्वक घुमाया जाना भी है। इन विशेषताओं के कारण मनुष्य किसी भी प्रकार की आवाज निकालने में सफल हो जाता है। चिंपाजी का मस्तिष्क मनुष्य के समान विकसित न होने के कारण वह मनुष्य के समान स्पष्ट स्वर नहीं निकाल पाता है। मनुष्य में न केवल सम्भाषण की क्षमता है अपितु अपनी भाषा को मधुर और प्रभावपूर्ण बनाने की भी कुशलता है जिससे वह स्तनपायी जीवधारियों से बिल्कुल अलग हो जाता है।
- **सीधे खड़े होने की क्षमता**– मनुष्य अपने पैरों पर अधिक संतुलित रूप से खड़ा हो सकता है और इस प्रकार मनुष्य के दोनों हाथ किसी भी कार्य को करने के लिए पूरी तरह से स्वतंत्र हो जाते हैं। मनुष्य प्रत्येक वस्तु को हाथों की सहायता से परीक्षण करके उसे प्रयोग में ला सकता है। कुछ विद्वानों का मत है कि आदिकाल में पशु और मनुष्य की शारीरिक रचना समान थी किंतु बाद में मनुष्य में सीधे खड़े होने के कारण उसके शरीर में अनेक सकारात्मक परिवर्तन हो गए।
- **हाथों का लचीलापन**– शरीर रचना में दो हाथ प्रत्येक प्राणी में पाए जाते हैं। लेकिन पशुओं के दोनों हाथ पैरों के समान ही शरीर को संतुलित रखने और उसे क्रियाशील बनाने के काम आते हैं। मानव के हाथ बिल्कुल स्वतंत्र हैं और इतने लचीले हैं कि उन्हें किसी भी प्रकार घुमाया जा सकता है और छोटी–बड़ी वस्तुओं को सरलता से पकड़ा जा सकता है।
- **अन्य शारीरिक विशेषताएं**– उपरोक्त भिन्नताओं के अतिरिक्त भी मनुष्य में कुछ ऐसी शारीरिक विशेषताएं हैं जो पशुओं से बिल्कुल भिन्न होने के कारण मनुष्य की कार्यक्षमता तथा कुशलता में वृद्धि करती हैं।

– मानव शरीर पर बाल कम होने के कारण वह किसी भी कार्य को अधिक सावधानी व फुर्ती से कर सकता है।

टिप्पणी

– मनुष्य की नाक की बनावट, बाहर को निकले हुए कान, केन्द्रित की जा सकने वाली दृष्टि और आगे को निकला हुआ चौड़ा माथा मानव को वे समस्त सुविधाएं प्रदान करते हैं जो पशुओं को प्राप्त नहीं हैं।

– पशुओं की अपेक्षा मनुष्य के दांत छोटे और कम शक्तिशाली होते हैं जिससे वह पशुओं के समान भोजन नहीं कर सकता और उसे कृत्रिम साधनों पर अधिक निर्भर रहना पड़ता है।

**II. मानव और पशु समाज में सामाजिक–सांस्कृतिक अंतर**– मानव और पशु समाज का वास्तविक अंतर सामाजिक–सांस्कृतिक आधार पर समझा जा सकता है जो इस प्रकार है–

- **जागरुकता** : मानव में जागरूकता का गुण उसे अन्य प्राणियों से पृथक तथा विशेष बनाता है। उसमें अपने समूह, संस्कृति तथा पारस्परिक सम्बन्धों के प्रति एक विकसित जागरूकता पायी जाती है। यह सत्य है कि पशुओं में भी अपने समूह के प्रति कुछ जागरूकता होती है लेकिन पशुओं की जागरूकता मनुष्य के समान सामाजिक और सांस्कृतिक आधार पर विकसित नहीं होती। मनुष्य केवल अपने अधिकारों के लिए ही जागरूक नहीं होता बल्कि उसमें कर्तव्य की भावना भी होती है, जबकि पशुओं में अधिकार की भावना तो होती है लेकिन कर्तव्य जैसी कोई विशेषता नहीं होती। मनुष्यों की जागरूकता पशुओं से कहीं अधिक परिवर्तनशील व गत्यात्मक भी होती है।
- **यौन सम्बन्धों की नियमबद्धता** : मानव समाज में यौन–सम्बन्धों की नियमबद्धता एक आधारभूत तत्व है। ये सम्बन्ध ऐच्छिक न होकर अनेक मूल्यों, परम्पराओं और नियंत्रणों से इस प्रकार बंधे रहते हैं कि इनकी अवहेलना करने पर मनुष्य अपनी सामाजिक स्थिति तक समाप्त कर डालता है। पशु समाज में ऐसे कोई मूल्य अथवा नियम नहीं होते। पशुओं के यौन–सम्बन्धों को प्रभावित करने वाला एक मात्र महत्वपूर्ण कारक ऋतु सम्बन्धी और पर्यावरण सम्बन्धी है, जबकि मनुष्यों को ऐसे सम्बन्धों हेतु विशेष समय या ऋतु की आवश्यकता नहीं होती है।
- **प्रतीकात्मक अंतर** : पशु समाज में केवल पूर्व ज्ञान सम्बन्धी प्रतीक और अभिव्यक्ति सम्बन्धी प्रतीक ही पाये जाते हैं लेकिन मानव समाज की एक महत्वपूर्ण विशेषता स्वैच्छिक प्रतीकों के द्वारा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक अपने अनुभवों तथा संस्कृति का हस्तान्तरण करके ज्ञान का संचय करना है। इस कार्य में मनुष्य को भाषा से विशेष सहायता प्राप्त होती है। क्योंकि भाषा की सहायता से मनुष्य भविष्य की सम्भावनाओं को स्पष्ट रूप से समझ सकता है। स्वैच्छिक प्रतीक सामाजिक सीख को सरल बनाते हैं तथा साथ ही लेखन, भाषा व वाणी के कारण मनुष्य द्वारा कला, साहित्य तथा विज्ञान का प्रगतिशील विकास संभव हो पाया है।
- **विशेषीकरण** : एक व्यक्ति को अपनी संस्कृति और आवश्यकताओं से सम्बन्धित सभी कार्य स्वयं सीखने नहीं पड़ते बल्कि श्रम विभाजन द्वारा किसी एक कार्य में विशेष योग्यता प्राप्त कर लेने से मनुष्य अपनी समस्त आवश्यकताओं को पूर्ण कर सकता है। पशु समाज में प्रत्येक प्राणी अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने

के लिए सभी कार्य स्वयं करते हैं तथा संस्कृति जैसा कोई तत्व नहीं होने के कारण जीवन रक्षा से सम्बन्धित आवश्यक कार्य भी उन्हें स्वयं ही करने पड़ते हैं।

टिप्पणी

- **संस्कृति की संपूर्णता** : संपूर्णता अथवा सामूहिकता संस्कृति की प्रमुख विशेषता है। संस्कृति मात्र एक व्यक्ति विशेष से नहीं, अपितु संपूर्ण समाज के जागरूक प्रयत्नों पर निर्भर होती है। मानव समाज में किसी एक व्यक्ति के विचार का कोई महत्व नहीं होता बल्कि संस्कृति सभी सदस्यों को एक विशेष प्रकार से व्यवहार करने को बाध्य करती है। पशु समाज में इस प्रकार की कोई व्यवस्था नहीं होती है। पशु समाज का अस्तित्व 'मत्स्य–न्याय' पर आधारित होता है अर्थात् शारीरिक रूप से जो जितना बलशाली होता है वह उतना ही श्रेष्ठ माना जाता है। मानव समाज में व्यक्ति की श्रेष्ठता उसकी सांस्कृतिक योग्यता पर निर्भर होती है।
- **सामूहिक निर्णय** : मानव समाज में सदस्यों द्वारा सामूहिक निर्णयों के अनुसार कार्य करना होता है। इसी कारण मानवीय सामाजिक संरचना व्यवस्थित होती है। मनुष्य दूसरे व्यक्तियों के विचारों तथा निर्णयों को भी महत्व प्रदान करता है। सामूहिक निर्णयों के आधार पर कार्य करने से सभी सदस्य पारस्परिक निर्भर तथा सम्बन्धित रहते हैं। पशु समाज में ऐसी विशेषता नहीं होती है। यदि किसी समय संघर्ष की स्थिति आ जाती है तो पशु समाज में बहुत कम समय के लिए यह सामूहिकता दिखाई देती है।
- **सांस्कृतिक विरासत** : मानव अपने अनुभवों और विचारों को अगली पीढ़ी को हस्तांतरित करके सांस्कृतिक विरासत को स्थायी बनाने के कारण विशेष समझा जाता है। इस कार्य हेतु भाषा और लेखन उसके प्रमुख उपकरण हैं। पशु समाज में सांस्कृतिक या अन्य विरासत नहीं होती है। प्रत्येक जीवधारी अपनी परिस्थिति के अनुसार व्यवहार करता है। 'त्रुटि और सुधार' द्वारा उसे कुछ नवीन अनुभव भी होते हैं लेकिन अपने बच्चों को वह उन अनुभवों का लाभ नहीं पहुंचा पाता है।
- **नैतिकता** : मानव समाज में व्यक्ति नैतिकता तथा अनैतिकता की धारणा से बंधे रहते हैं। मानव समाज अनेक प्रथाओं, कानूनों, परम्पराओं, धार्मिक विश्वासों और लोकाचारों के द्वारा कुछ विचारों को अपने लिए आदर्श मानकर उन्हें प्रोत्साहित करता है और कुछ को अनैतिकता कहकर उन पर प्रतिबंध लगाता है। नैतिकता मानव समाज को नियंत्रित करने वाला प्रमुख आधार है। इसके विपरीत पशु समाज में वैधता, नैतिकता और आदर्शों का कोई महत्व नहीं होता है।
- **सम्बन्धों की जटिलता** : स्तनपायी नर–वानर तथा कभी–कभी कीड़ों में कुछ हद तक पारस्परिक सम्बन्धों और जागरूकता की स्थिति पायी जाती है लेकिन इसके पश्चात् भी यह समाज अत्यन्त अस्पष्ट और अस्थायी है। मानव समाज का निर्माण सामाजिक सम्बन्धों की व्यवस्था से हुआ है। इन सम्बन्धों का रूप अत्यन्त जटिल होता है। जबकि पशु समाज में इस प्रकार की कोई जटिलता दिखाई नहीं देती है।

टिप्पणी

मानव समाज में जागरूकता, नियमबद्धता, संचार, विशेषीकरण, संस्कृतीकरण, नैतिकता, सम्बन्धों की सामूहिकता तथा जटिलता इस समाज को सर्वोत्तम तथा विशेष बनाती है। इस आदर्श व विशेष समाज के स्थायित्व तथा विकास हेतु इसमें निरंतर प्रयत्नशील होना नितांत आवश्यक है।

## 1.7 संस्कृति की भूमिका

डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य जानकारी नहीं, बल्कि तकनीकी कौशल का अधिग्रहण है जो कि आधुनिक समाज में महत्वपूर्ण है। हमें परोपकार की भावना से जिम्मेदार नागरिक बनना होगा। एक व्यापक शिक्षा प्रणाली, एक नैतिक आधार और सामाजिक जिम्मेदारी को मजबूत आधार प्रदान करने में सहायक होती है जिससे कि समाज में युवा पीढ़ी को आकार देने में मदद मिलती है। संस्कृति और शिक्षा अविभाज्य और एक–दूसरे के पूरक हैं। शिक्षा, जीवन में सांस्कृतिक मूल्यों को उपयोगी बनाने के लिए सहायक है, जबकि संस्कृति शिक्षा के लिए मार्ग प्रशस्त करती है।

मनुष्य के जीवन में प्रतिदिन प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अभिप्रेरणा पाई जाती है। विद्यालय जाना, पढ़ाई करना, व्यवसाय करना, भोजन करना, संगीत सुनना, सिनेमा देखना, खेल–खेलना आदि सभी कार्यों के पीछे कहीं न कहीं कोई न कोई अभिप्रेरणा विद्यमान रहती है। उदाहरण के लिए विद्यालय जाने के पीछे शिक्षा ग्रहण करके जीवन में सफलता हासिल करना एक अभिप्रेरणा है। इसी प्रकार मनुष्य का व्यवहार हमेशा ही कुछ प्रेरकों या तत्वों द्वारा नियंत्रित और दिशानिर्देशित होता है तथा ये प्रेरक तत्व आंतरिक होते हैं।

इस प्रकार समाजीकरण व्यक्ति को समाज का प्रकार्यात्मक सदस्य बना कर समाज की क्रियाओं में भाग लेने में समर्थ बनाता है। समाजीकरण की एक सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि यह जीवनपर्यंत चलने वाली प्रक्रिया है। व्यक्ति की परिस्थितियां व सामाजिक भूमिकाएं बदलती रहती हैं और उनके अनुरूप व्यवहार के लिए उसे आचरण तथा व्यवहार के नये प्रतिमान सीखने पड़ते हैं। उदाहरण के लिए बचपन में जहां बच्चा समाजीकरण के माध्यम से माता–पिता, संबंधियों व बुजुर्गों से व्यवहार करना सीखता है, वहीं युवावस्था में उसे नये सिरे से दफ्तर में अपने सहयोगियों, वरिष्ठों, पड़ोसियों आदि से व्यवहार के तौर–तरीकों को सीखना पड़ता है। समाजीकरण को विभिन्न विचारकों और समाजशास्त्रियों ने सिद्धांतों के आधार पर समझाने का प्रयास किया है जिनमें जी.एच. मीड, चार्ल्स कूले, इमाइल दुर्खीम प्रमुख हैं। मजबूत सांस्कृतिक मूल्यों को स्थापित करके शिक्षा से छात्रों को समाज को समझने में मदद मिलेगी और वे विकास के संदर्भ में संस्कृति के महत्व को स्वीकार कर सकेंगे।

### सांस्कृतिक क्षमता–प्रसार

जिन शिक्षकों में सांस्कृतिक क्षमता होती है, वे जानने, देखने और जीवन जीने के लिए बहुत से सांस्कृतिक तरीकों का सम्मान करते हैं, विविधता के लाभों से खुश रहते हैं और उनमें समाज के अंतर को समझने की क्षमता होती है। यह हर रोज की कार्यप्रथा में स्पष्ट होता है, जब शिक्षक परिवारों और समुदायों के साथ एक दो–तरफा प्रक्रिया से अपनी स्वयं की सांस्कृतिक क्षमता विकसित करने के लिए अनवरत प्रतिबद्धता प्रदर्शित करते हैं।

टिप्पणी

शिक्षक को संस्कृति और परिवार के संदर्भ में बच्चों की सफलता के केंद्र के रूप में देखा जाता है। शिक्षक बच्चों की सांस्कृतिक क्षमता को बढ़ावा देने के लिए भी प्रयत्न करते हैं।

सांस्कृतिक क्षमता सांस्कृतिक मतभेदों के बारे में जागरूकता से कहीं अधिक बढ़कर होती है। यह विभिन्न संस्कृतियों के लोगों को समझने के साथ संवाद करने और प्रभावी रूप से उनके साथ बातचीत करने की क्षमता है। सांस्कृतिक क्षमता में निम्नलिखित शामिल हैं–

- संसार के प्रति अपने स्वयं के दृष्टिकोण के बारे में जागरूक होना।
- सांस्कृतिक मतभेदों के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोणों का विकास करना।
- विभिन्न सांस्कृतिक प्रथाओं और संसार के दृष्टिकोणों का ज्ञान प्राप्त करना।
- विभिन्न संस्कृतियों के आर–पार संचार और परस्पर व्यवहार की कुशलताओं का विकास करना।

## भावनात्मक एकता

विश्व का समाज भिन्न–भिन्न राष्ट्रों, भूखंडों, धर्मों, वर्णों और जातियों में विभक्त है। हर राष्ट्र और समाज की अपनी भाषिक, सांस्कृतिक तथा सामाजिक पहचान होती है। राष्ट्र की पहचान उसकी अपनी राष्ट्रभाषा से होती है। इस विभाजित मानव समुदाय को भावात्मक और भावनात्मक धरातल पर जोड़कर उनके मध्य बनी हुई विषमता की खाई को पाटना ही भारत की संस्कृति का प्रधान लक्ष्य है।

## राष्ट्रीय एकात्मकता

राष्ट्रीय एकात्मकता आज की अनिवार्य आवश्यकता है। भारत जैसे बहुभाषी देश के लिए संस्कृति अत्यंत प्रभावी और उपयोगी माध्यम है जिससे कि देश में व्याप्त भाषिक विभेद को दूरकर जनसामान्य में परस्पर एक–दूसरे की भाषा और संस्कृति के प्रति सद्भावना जागृत की जा सके। भारत आज भाषिक और सांस्कृतिक विखंडन की प्रक्रिया से गुजर रहा है जिसका एक प्रमुख कारण वैश्वीकरण (बाजारवाद या भूमंडलीकरण) की प्रक्रिया से उत्पन्न सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्यों का ह्रास है। संस्कृति जैसे सशक्त और कारगर माध्यम की आवश्यकता सबसे अधिक भारत को ही है। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर समूचे विश्व को इसकी आवश्यकता है।

## वैश्वीकरण का परिदृश्य

आज विश्व की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक परिस्थितियां तेजी से बदल रही हैं। द्वितीय विश्व युद्ध के महाविनाश के बाद भी विश्व में स्थायी रूप से शांति स्थापित नहीं हो सकी। आज भी महाशक्तियों के बीच परस्पर वर्चस्व की होड़ लगी है। अमेरिका, चीन और रूस जैसे सामरिक बल से लैस देश समस्त विश्व पर अपना प्रभाव जमाना चाहते हैं। इसी के परिणामस्वरूप इन देशों ने समस्त विश्व की आर्थिक व्यवस्था को अपने वश में करने के लिए वैश्वीकरण का एक नया सिद्धांत प्रतिपादित किया जिसके अनुसार राष्ट्रों की संस्कृतियां, व्यापार, बाजार, भाषाएं, संचार–माध्यम, शिक्षा–व्यवस्था आदि में एकरूपता लाने के प्रयास होने लगे। वैश्वीकरण की सोच ने उत्तर–आधुनिक सोच को जन्म दिया। आज सारा विश्व एक वृहत बाजार में तब्दील हो गया है। मनुष्य

की प्राथमिकता केवल धनोपार्जन ही हो गयी है। आज संपन्न देश अपने उत्पाद बेचने के लिए बाजार ढूंढ रहे हैं। आज का वैश्वीकरण भारतीय संस्कृति की 'वसुधैव कुटुंबकम्' की विचारधारा से नितांत भिन्न है।

टिप्पणी

भारतीय विचारधारा, शताब्दियों से समस्त मानव समाज को भावनात्मक रूप से एकता के सूत्र में बांधने का संदेश देती है। भारतीय मनीषा मानवीय धरातल पर असमानताओं को दूर कर सारे विश्व में सुख, शांति और समृद्धि के प्रचार व प्रसार के लिए तत्पर रही। आज के वैश्वीकरण की सोच ने मनुष्य को स्वार्थी और आत्मकेंद्रित बना दिया जिससे समाज में नैतिक और सांस्कृतिक मूल्यों का ह्रास बहुत तेजी से हुआ। आज विश्व में प्रौद्योगिकी, विज्ञान, जनसंचार, व्यापार, वाणिज्य और प्रबंधन का क्षेत्र सबसे अधिक विकासशील है। निगमित व्यापार और प्रबंधन प्रणालियों ने एक नई नव–धनाढ्य सभ्यता को विकसित किया है। संचार क्रांति ने मनुष्यों को उपग्रहों के माध्यम से जोड़ दिया है। भौगोलिक दूरियां समाप्त हो गई हैं, लेकिन भावात्मक और भावनात्मक दूरियां बढ़ गईं, लोग अति व्यावहारिक हो गए हैं। इस भाषिक विभेद और भिन्नता को दूर करने का एक मात्र उपाय है, वास्तविक सत्य पर आधारित संस्कृति। अतः संचार क्रांति का प्राणतत्व मानवीय मूल्यों में ही है।

## संस्कृति और बाजारवाद

भारत में वैश्वीकरण की बाजारवादी नीति के अंतर्गत बड़ी तेजी से आर्थिक विकास हो रहा है। व्यापार एवं वाणिज्य का सबसे बड़ा क्षेत्र भारत है जहां इन उत्पादों की सर्वाधिक मांग पैदा की जा रही है। भारत जैसे बहुभाषी देश में विदेशी और स्वदेशी उत्पादों की बिक्री केवल किसी उत्पाद के माध्यम से नहीं की जा सकती, वरन् संस्कृति के माध्यम होती है। बाजार में किसी उत्पाद को खपाने के लिए लोगों में संस्कृति के रूप में विज्ञापन प्रणाली के द्वारा उस उत्पाद का प्रचार किया जाता है। इस प्रचार–सामग्री को अनेक भाषाओं में पेशेवर विज्ञापन विशेषज्ञ तैयार करते हैं। विज्ञापन का बाजार, संस्कृति एवं उसकी उपयोगिता पर ही आधारित होता है।

## संस्कृति और मीडिया

आज का युग संचार क्रांति का युग है। संचार के माध्यम मानव जीवन पर हावी हो गए हैं। टीवी, इंटरनेट, समाचार–पत्र, पत्र–पत्रिकाएं, फिल्म आदि आधुनिक मानव जीवन के अनिवार्य अंग बन गए हैं। विश्व में आज हर देश और हर समाज में इनका प्रवेश हो गया है। आज समाचार और संदेश चौबीसों घंटे प्राप्त होते हैं। टीवी के चैनल और रेडियो के कार्यक्रम चौबीसो घंटे चलते हैं। समाचार–पत्र के एकाधिक संस्करण हर रोज निकाले जाते हैं। संस्कृति के प्रसार में मीडिया का कुछ योगदान रहा है परंतु इसकी दोहरी मानसिकता से संस्कृति का लाभ कम परंतु विज्ञापन के बाजार का कुछ अधिक ही होता है।

## शिक्षा और अनुसंधान के क्षेत्र में संस्कृति

संस्कृति की सबसे अधिक उपयोगिता वैश्वीकृत परिदृश्य में शिक्षा और अनुसंधान के क्षेत्र में है। शिक्षा के क्षेत्र में ज्ञान और विज्ञान की सामग्री अंतर्राष्ट्रीय धरातल पर विश्व के सभी देश और शिक्षण संस्थाएं आपस में बांटती हैं। यह आदान–प्रदान संस्कृति के माध्यम से ही होता है। अनुसंधान के परिणामों को अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर आपस में संस्कृति के द्वारा ही साझा करते हैं।

टिप्पणी

## राष्ट्र के निर्माण में शिक्षा और संस्कृति

किसी भी राष्ट्र का आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक विकास उस देश की शिक्षा, संस्कृति पर निर्भर करता है। शिक्षा के अनेक आयाम हैं जो राष्ट्रीय विकास में शिक्षा के महत्व को रेखांकित करते हैं। भारत में शिक्षा–व्यवस्था को संचालित करने वाली प्रबंधन इकाई के रूप में प्रशासन नाम की नई चीज जुड़ने से शिक्षा ने व्यावसायिक रूप ले लिया है। शिक्षण को आधुनिक घटना के रूप में देखा जा रहा है। इतिहास में भारत में ज्ञान प्रदान करने वाले गुरु होते थे, अब शिक्षक हैं। शिक्षक और गुरु में भिन्नता है। गुरु के लिए शिक्षण व्यवसाय नहीं बल्कि आनंद था। शिक्षक अतीत से प्राप्त सूचना या जानकारी को आगे बढ़ाता है, जबकि गुरु ज्ञान प्रदान करता है। सूचना एवं ज्ञान में भिन्नता है। शिक्षा विकास की कुंजी है, वह विश्वास जैसे आवश्यक गुणों के जरिए लोगों को अनुप्राणित कर सकती है। विकसित एवं विकासशील दोनों वर्ग के देशों में शिक्षा की महत्वपूर्ण भूमिका समझी गई है। भारत में राष्ट्रीय शिक्षा–नीति को लेकर समय–समय पर बहस होती रही है।

देश के शिक्षण संस्थान प्रतिवर्ष बेरोजगार नौजवानों की फौज तैयार करते जा रहे हैं, परिणामस्वरूप मानव समाज आत्मकेंद्रित और स्वार्थकेंद्रित होता जा रहा है। आज देश की राजनीति में काम और योग्यता का मूल्यांकन न होकर धन का वर्चस्व हो रहा है।

पूंजीवाद से मानवीय संवेदनाएं ध्वस्त हो रही हैं और हमारा शिक्षक समाज इस भयावह परिस्थिति को निरीह और असहाय प्राणी बनकर मूकदर्शक की भांति देखने को विवश है।

आज का शिक्षक शिक्षण छोड़कर अन्य समस्त सरकारी योजनाओं व गतिविधियों में संलग्न है। वह प्राथमिक स्तर का हो अथवा विश्वविद्यालयीन, उनसे लोकसभा, विधानसभा सहित अन्य स्थानीय चुनाव, जनगणना, प्रधानमंत्री, मुख्यमंत्री अथवा अन्य इस श्रेणी के नेताओं के आगमन पर सड़क किनारे बच्चों की प्रदर्शनी लगवाने के अतिरिक्त अन्य सरकारी कार्य संपन्न कराए जाते हैं। देश की शिक्षा–व्यवस्था एवं शिक्षकों की मौजूदा चिंतनीय दशा के लिए हमारी राष्ट्रीय और प्रादेशिक सरकारें सीधे तौर पर जिम्मेदार हैं, जिन्होंने शिक्षक समाज को अपने हितों की पूर्ति का साधन बना लिया है। शिक्षा वह है, जो जीवन की समस्याओं को हल करे, जिसमें ज्ञान और काम का योग है। सुख और दुख की भांति मनुष्य ज्ञान को भी दूसरों के साथ बांट लेना चाहता है। जो वह स्वयं जानता है उसे दूसरों तक पहुंचाना चाहता है और जो दूसरे जानते हैं उसे स्वयं जानना चाहता है। सांस्कृतिक मानकीकरण की अभिव्यक्ति को अलग–अलग संदर्भों में अलग–अलग तरीके से महसूस किया जा सकता है। प्रायः उन्हें पश्चिमी या लोकप्रिय सांस्कृतिक व्यवहारों के दायरे से निकाल कर स्थानीय पारंपरिक संस्कृति को पुनर्सृजित किया जा सकता है।

## संस्कृति और भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण

भारत सरकार द्वारा 'भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण' विभाग की स्थापना सन् 1861 में हुई थी। यह पर्यटन एवं संस्कृति मंत्रालय के अंतर्गत संस्कृति विभाग के संलग्न कार्यालय के रूप में कार्य करता है। भारत सरकार के द्वारा विद्या, पुरालेख शास्त्र, सांस्कृतिक समाजशास्त्र, सांस्कृतिक अर्थशास्त्र, स्मारकों की संरचना और अभियांत्रिकी से जुड़े

टिप्पणी

पहलुओं, मुद्राशास्त्र, संरक्षण के वैज्ञानिक और तकनीकी पहलुओं, कला और सांस्कृतिक धरोहर के प्रबंधन से जुड़े पहलुओं तथा संस्कृति और सृजनशीलता से संबद्ध विज्ञान प्रौद्योगिकी के प्रयोगों के अध्ययन जैसे क्षेत्रों में फेलोशिप प्रदान की जाती है। इस विभाग की प्रमुख गतिविधियां (संस्कृति को बचाने के लिए) निम्नलिखित हैं–

- केंद्र सरकार की सुरक्षा वाले स्मारकों, स्थलों और अवशेषों का रखरखाव और परिरक्षण।
- स्मारकों और भग्नावशेषों का रासायनिक बचाव।
- स्मारकों का पुरातात्विक सर्वेक्षण।
- शिलालेख संबंधी अनुसंधान का विकास और मुद्राशास्त्र का अध्ययन।
- स्थल संग्रहालयों की स्थापना और पुनर्गठन।
- विदेशों में संस्कृति अभियान।
- पुरातत्व विज्ञान में प्रशिक्षण।
- तकनीकी रिपोर्ट और अनुसंधान कार्यों का प्रकाशन करना।

## राष्ट्रीय पांडुलिपि मिशन एवं राष्ट्रीय संग्रहालय

हमारी सांस्कृतिक विरासत में सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं पांडुलिपियां। इनके संरक्षण के उद्देश्य से ही भारत सरकार के संस्कृति मंत्रालय ने 2003 में राष्ट्रीय पांडुलिपि मिशन का शुभारंभ किया। यह मिशन पांच वर्ष की महत्वाकांक्षी योजना है और इसके अंतर्गत पुस्तक सूचियों को खोजकर भारत की पांडुलिपियों का संरक्षण ही नहीं किया जाता बल्कि शैक्षिक उद्देश्यों के लिए उन तक आसानी से पहुंच उपलब्ध कराने, जागरूकता बढ़ाने और बढ़ावा देने पर भी जोर दिया जाता है।

राष्ट्रीय संग्रहालय की स्थापना 1949 में की गई थी और 1960 के बाद से यह भारत सरकार के संस्कृति मंत्रालय के अधीनस्थ कार्यालय के रूप में काम कर रहा है। इसमें प्रागैतिहासिक काल से लेकर आज तक की दो लाख साठ हजार से ज्यादा वस्तुएं संग्रहीत हैं। वर्ष 2004–05 के दौरान कुल 1,95,083 लोग इस संग्रहालय को देखने पहुंचे थे। इसकी मुख्य गतिविधियां हैं–

- प्रदर्शनियां लगाना।
- वीथियों का पुनर्गठन/आधुनिकीकरण।
- शैक्षिक गतिविधियां।
- जनसंपर्क।
- प्रकाशन।
- पुस्तकालय, संरक्षण प्रयोगशाला और अध्यापन कार्यशाला चलाना।

## कला, संरक्षण व संग्रहालय विज्ञान के इतिहास का राष्ट्रीय संग्रहालय संस्थान

कला, संरक्षण व संग्रहालय विज्ञान के इतिहास का राष्ट्रीय संग्रहालय संस्थान एक स्वायत्त संगठन है और उसके लिए धन का पूरा प्रबंध संस्कृति मंत्रालय करता है। 1989 में उसे समकक्ष विश्वविद्यालय घोषित किया गया था। यह भारत का एकमात्र संग्रहालय/विश्वविद्यालय है। इसके मुख्य उद्देश्य इस प्रकार से हैं–

टिप्पणी

- कला, इतिहास, संस्कृति संरक्षण और संग्रहालय विज्ञान के क्षेत्रों में एम. ए. और पी.एच.डी की उपाधियों के लिए विशेषज्ञ शिक्षण व प्रशिक्षण उपलब्ध कराना।
- भारतीय संस्कृति को लोकप्रिय बनाने के उद्देश्य से यह संस्थान कुछ अल्पावधि पाठ्यक्रम चलाता है।
- इन क्षेत्रों में नई संभावनाओं के विकास के लिए उपयुक्त ढंग से संगोष्ठियां/कार्यशालाएं, सम्मेलन और विशेष व्याख्यान आयोजित करना।

## सांस्कृतिक संसाधन व प्रशिक्षण केंद्र

भारत में सांस्कृतिक संसाधन व प्रशिक्षण केंद्र संस्कृति से शिक्षा को जोड़ने के क्षेत्र में कार्यरत अग्रणी संस्थानों में से हैं। इसकी स्थापना मई, 1979 में भारत सरकार द्वारा एक स्वायत्त संस्था के रूप में की गई थी और अब यह भारत सरकार के संस्कृति मंत्रालय के प्रशासनिक नियंत्रण में है। इसका उद्देश्य विद्यार्थियों में भारत की क्षेत्रीय संस्कृतियों की विविधता के प्रति समझ बढ़ाकर शिक्षा प्रणाली को सशक्त बनाना और इस ज्ञान का शिक्षा के साथ समन्वय स्थापित करना है। इसमें शिक्षा और संस्कृति के बीच समन्वय करने और विद्यार्थियों को सभी विकास कार्यक्रमों में संस्कृति के महत्व से अवगत कराने हेतु गतिविधियां चलाई जाती हैं। प्रशिक्षण कार्यक्रमों में संस्कृति के शिक्षण पर बल दिया जाता है। विज्ञान और प्रौद्योगिकी, आवास, कृषि, खेल, आदि के क्षेत्रों में संस्कृति की भूमिका पर ध्यान देकर ही इसे समझा जा सकता है।

सांस्कृतिक संसाधन व प्रशिक्षण केंद्र विशेष अनुरोध पर विदेशी शिक्षकों तथा विद्यार्थियों के लिए भारतीय कला और संस्कृति के बारे में शिक्षण कार्यक्रम भी चलाता है।

यह सांस्कृतिक केंद्र अपने विस्तार तथा सामुदायिक समीक्षा कार्यक्रमों के द्वारा छात्रों, अध्यापकों और सरकारी तथा स्वैच्छिक संगठनों के छात्रों के लिए विभिन्न शैक्षिक गतिविधियां आयोजित करता है जिनमें प्राकृतिक और सांस्कृतिक संपदाओं के संरक्षण के बारे में शिविर लगाना शामिल है।

सांस्कृतिक संसाधन व प्रशिक्षण केंद्र ने शिक्षक पुरस्कार आरंभ किया है जो हर वर्ष शिक्षा और संस्कृति के क्षेत्रों में उल्लेखनीय कार्य करने वाले शिक्षकों को प्रदान किया जाता है। इस पुरस्कार में प्रशस्तिपत्र, स्मृति पट्टिका, अंगवस्त्रम् और 10,000 रुपये दिए जाते हैं।

### अपनी प्रगति जांचिए

9. मानव मस्तिष्क में लगभग कितनी नाड़ियों के सिरे प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से संबद्ध रहते हैं?

   (क) 10 करोड़ (ख) 10 लाख

   (ग) 10 हजार (घ) 10 अरब

10. संस्कृति संरक्षण–संवर्धन के लिए भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण विभाग की स्थापना कब हुई?

    (क) सन् 1850 (ख) सन् 1857

    (ग) सन् 1861 (घ) सन् 1947

## 1.8 समाज के घटक

टिप्पणी

सामाजिक अध्ययन में मानव समाज अथवा समाजों का अध्ययन किया जाता है परन्तु इस विषय की आरम्भिक परिभाषा में यह प्रश्न उठता है कि मानव समाज है क्या? समाज के एकल रूप व इसके बहुवचन के मध्य जोर दिये जाने का अंतर है : एकल रूप में यह साधारण व असीमित है। बहुवचन में समाजों का तात्पर्य एक–दूसरे से भिन्न पृथक इकाइयों का समूह है जिनके अवयवों के निरीक्षण के दौरान एक–एक करके आप इन्हें देख सकते हैं।

वस्तुतः सामाजिक अध्ययन में सदा से समाजों का अध्ययन किया जाता रहा है। उपरोक्त दोनों को 'मानव समाज' के रूप में पृथकतया व एकसाथ जोड़कर देखा जाता है। दो परिप्रेक्ष्यों के मध्य संतुलन भिन्न हो सकता है किन्तु अंत में एक के अध्ययन में दूसरे के अध्ययन की आवश्यकता होती ही है। इनमें से किसी एक को विलग रखने पर दूसरे की सार्थकता नहीं रह जाती। उदाहरण हेतु भारत को एक समाज के रूप में मानने से इसका विचार नगरों, कारखानों, शालाओं, खेतों व कारागारों के सन्दर्भों में करना होगा। इसे राजनीति, मीडिया अथवा दिव्यता के सन्दर्भों में भी सोचा जा सकता है। इन समस्त कारकों को जोड़ना सरल है। इन्हें भारतीय राज्यों की सीमाओं में बंधे हुए रूप में भी देखा जा सकता है तथा भारतीय समाज के साधारण शीर्षक से जाना जा सकता है।

मानव समाज का आशय इस जन्तु प्रजाति अर्थात होमो सेपियन्स के समस्त सदस्यों से है। वैसे हम सभी मनुष्यों को मानव समाज में एकसार नहीं मान सकते क्योंकि अन्य जन्तु प्रजातियों की भांति ही मानव जाति के गुण सदस्यों में बिखरे हुए हैं। ये सब समग्रता में मानवता का निर्माण करते हैं। अपने सामाजिक संबंधों के माध्यम से ये समाजों का निर्माण करते हैं। किसी समय संबंधों का पूर्ण समूह विश्व समाज का निर्माण करता है। किसी भी जन्तु प्रजाति के लिए जीवित रहने हेतु आवश्यक तत्वों में वंशानुगतिकी, जीवों की प्रकार्यात्मकता, अनुकूल परिवेश एवं सामाजिक संबंध सम्मिलित हैं। समाज यथावत रूप में मानव नहीं है। यदि हम अपने निकटतम संबंधी चिम्पेन्जीज को देखें तो स्पष्ट होता है कि ये अफ़्रीका में अपने नैसर्गिक पर्यावास में विखण्डन–संलयन की पद्धतियों के आधार पर सामाजिक संबंधों का निर्माण व पुनर्निर्माण करते रहते हैं; विशेष समुदायों पर आधारित बड़े–बड़े अधिकार क्षेत्रों में नर प्रधान समाज होते हैं। प्रणय–बंधन में नर–मादाओं के अस्थायी मेल–मिलाप से नर–प्रधानता घटती है। वैसे सामान्यतया हर स्थिति में चिम्पेन्जीज अपने सामाजिक व्यवहार में वैविध्य व अनुकूलनशीलता लिये हुए रहते हैं जिससे तात्कालिक सामाजिक संबंधों में व्यापक अंतर सम्भव होता है।

मानव समाजों में भी पायी जाने वाली इस अनुकूलनशीलता से यह दर्शाना असम्भव हो जाता है कि समाज का कोई प्रकार जैविकी द्वारा निर्धारित है। अपने–अपने जीवन के दौरान व्यक्ति अत्यधिक भिन्न–भिन्न प्रकारों के सामाजिक संबंधों को बनाता व क्रियाकलाप करता है। समाजों में सामाजिक कायापलट हो सकती है, जैसा कि क्रान्तियों के इतिहास में परिलक्षित होता दिखायी देता है। उद्वैकासिक सन्दर्भों में मानवरूपी जीव मात्र अनुकूलित नहीं हुआ है अपितु अनुकूलित रूप से उद्विकसित भी हुआ है। इससे भिन्न–भिन्न स्थितियों में सम्भावित सामाजिक व्यवहारों का विस्तृत

समुच्चय तैयार करने में स्वतन्त्रता व समेकित अनुमति मिल जाती है। मानव व्यवहार में सामाजिक संबंधों का विस्तार 'चयन में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता' से लेकर दूसरों पर कुछ के निरंकुश शासन तक हो सकता है। इसी कारण मानव समाज में वैविध्य व्यापक है जबकि जैविकी तुलनात्मक रूप से स्थिर है। इन विविधताओं के स्रोतों की व्याख्या करने से विमर्श का एक भिन्न क्षेत्र सामने प्रस्तुत हो जाता है।

संस्कृति का विकास, कार्य करने की रीतियां, विचारण एवं अनुभूति से मानव समाज अन्य प्रजातियों के समाजों से भिन्न एक विशेष प्रकरण बन जाता है। ये विशेषताएं एक से भावी पीढ़ियों में एवं एक से अन्य समाजों में सीखों के माध्यम से हस्तान्तरित की जाती हैं, न कि वंशानुगतिकी के माध्यम से स्वतः हस्तान्तरित होती जाती हैं।

संस्कृति में भाषा व प्रौद्योगिकी दोनों का समावेश रहता है, ये दोनों घटक विचारों के प्रवाह एवं कार्य के परिष्कृत समन्वय की सम्भावना में भागीदार हैं। इससे अनुकूलनशीलता बहुत बढ़ जाती है।

जब अनुसंधान–पद्धतियों व विचारों के विनिमय का संयुक्त स्वरूप सामने आता है एवं सदस्यों में संगठित रूप से प्रस्तुत किया जाता है तभी सामाजिक अध्ययन को किसी विषय के रूप में देखा जाने लगता है।

### 1.8.1 समुदाय

मानव समाज ऐसे लोगों का समूह है जो लगभग स्थायी संबंधों के माध्यम से परस्पर जुड़े हुए होते हैं। ऐसे व्यक्तियों के मध्य संबंधों के प्रारूपों से समाजों की पहचान होती है जो एक पृथक संस्कृति व संस्थानों को साझा कर रहे होते हैं।

सामाजिक व राजनैतिक जीवन में समुदाय भी एक महत्वपूर्ण अवधारणा है। सामाजिक जीवन में व्यक्ति उस समुदाय से स्वयं को व उसे प्रभावित करता है जिसमें वह रह रहा होता है। समुदाय शब्द में सामूहिकता का भाव समाहित है। इस प्रकार समुदाय का तात्पर्य मिलजुल कर दायित्वों का निर्वाह करना हुआ। 'समुदाय' का आशय ऐसे मनुष्यों के संगठन से है जो साझे (अथवा एक–दूसरे के) ध्येय के लिए एकजुट हुए हों। प्रचलित परिभाषानुसार– "समुदाय एक ऐसी स्थानीय समूहबद्धता है जिसमें लोग दिनचर्या की अधिकांश गतिविधियां साथ में पूर्ण करते हैं।"

समुदाय की अन्य परिभाषाएं निम्नांकित हैं–

> "समुदाय का आशय ऐसे लोगों की मण्डली से है जो आपस में इस प्रकार जुड़े हुए हों कि एक ही नहीं अपितु कई विषय परस्पर साझे करते हों।"
>
> – कार्ल मेनहीम

> "समुदाय का तात्पर्य साझा जीवन जी रहे सामाजिक लोगों के ऐसे समूह से है जिसमें इस साझे जीवन से निर्मित समस्त अंतहीन व जटिल संबंध समाहित हैं।"
>
> – मोरिस गिन्सबॅर्ग

> "समुदाय का अभिप्राय ऐसा लघुतम क्षेत्रीय समूह है जिसमें सामाजिक जीवन के सभी परिप्रेक्ष्य समाविष्ट हो सकते हों।"
>
> – किंग्स्ले डेविस

टिप्पणी

## मैक्लेवर की संकल्पना

आर.एम मैक्लेवर ने समुदाय की विशेष परिभाषा प्रस्तुत करने के साथ समुदाय का विश्लेषण किया। इनके अनुसार– "छोटे अथवा बड़े समूह के सदस्य मिलकर इस प्रकार रहते हों कि ये रुचि–विशेष को ही साझा न करते हुए साझे जीवन की मूलभूत स्थितियों को भी साझा करते हों तो इस समूह को हम समुदाय कहेंगे।"

समुदाय के उदाहरणों में ग्राम, नगर, जनजाति व राष्ट्र सम्मिलित हैं। मैक्लेवर के अनुसार समुदाय की पहचान यह है कि व्यक्ति के पूरे जीवन का निर्वाह उसमें हो सकता हो। कोई भी व्यक्ति किसी व्यापारिक संगठन अथवा साम्प्रदायिक संस्थान में पूरा जीवन नहीं जी सकता परन्तु जनजाति अथवा नगर में पूरा जीवन जी सकता है। समुदाय की मूलभूत कसौटी यह है कि व्यक्ति के समस्त सामाजिक संबंध इसके भीतर समाये हो सकते हैं। वैसे कोई समुदाय स्व–समर्थ हो सकता है अथवा नहीं भी।

प्राचीन मानवों में कई समुदाय सर्वसमावेशी हुआ करते थे व अन्यों से स्वतन्त्र भी, परन्तु आधुनिक काल में किसी बड़े समुदाय में भी स्वावलम्बन का स्तर कम ही होता है। आर्थिक व राजनैतिक अंतर्निर्भरता आधुनिक समुदायों का मुख्य अभिलक्षण है। जैसा कि मैक्लेवर ने कहा था– "कई समुदाय कुछ बड़े समुदायों के भीतर होते हैं: अंचल में कोई कस्बा, राष्ट्र में वह अंचल एवं विश्व में राष्ट्र, ये कदाचित् विकास की प्रक्रिया में हैं।"

मैक्लेवर के अनुसार समुदाय की आधारशिला स्थानीयता एवं सामुदायिक भावना है। समुदाय किसी स्थान–विशेष में फैला होता है। समुदाय के सदस्य अपनी स्थानीयता की स्थितियों से एकजुटता का एक मजबूत संबंध बना लेते हैं। वैसे स्थानीयता समुदाय के निर्माण में पर्याप्त नहीं होती। समुदाय तो साझे जीवन का क्षेत्र है। साझे जीवन के साथ इस जीवन की जागृति व धरा के प्रति भी साझापन होना चाहिए जिसे सामुदायिक भावनाएं कहते हैं।

## परम्परागत, समाजवादी एवं उदारवादी संकल्पनाएं

पारम्परिक अर्थात पुराने मत में इस विचार पर बल दिया जाता है कि समुदाय उद्‌गम की समता पर आधारित होता है– रक्त की समता, रिश्तेदारी की समता, ऐतिहासिक संबंधों में समता अथवा अन्य समता जिससे वे किसी स्थान में साथ रहते हैं। ग्रामीण स्थानीयता व राष्ट्रीय समूहों का अस्तित्व भी इसी आधार पर माना जाता है। उद्‌गम की यह समता अन्य स्थानीयता से व्युत्पन्न हो सकती है अथवा मातृभूमि से आयी हुई हो सकती है।

समाजवादी धारणा में समुदाय के पुराने रूपों को अधिपति (शासक) रूप में मान देकर विभिन वर्गों के सदस्यों को पूंजीवादी समाज में आबद्ध कर लिया जाता है जिससे ये आर्थिक स्वार्थों के पारस्परिक वास्तविक टकराव को नहीं देख पाते। इस प्रकार ये सामाजिक संघर्ष से बचे रहते हैं क्योंकि टकराव को न देख पाने के कारण विरोध की इच्छा ही नहीं रहती। अनुदारतावादी एवं समाजवादी तो समुदाय के अस्तित्व के लिए भिन्न–भिन्न आधारों पर जोर दे सकते हैं किन्तु दोनों के द्वारा सामाजिक संबंधों को समुदाय में ही सन्निहित माना जाता है क्योंकि समुदाय वर्ग व्यक्ति–विशेष के स्वार्थों व प्रसंगों से ऊपर है। सभी को एकजुट ही रहना है और यही समुदाय के टिके रहने की आधारशिला है।

टिप्पणी

उदारवादी तो उपरोक्त आधारों पर समुदाय की संकल्पना करना चाहते ही नहीं क्योंकि इनका जोर व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की ओर रहता है। ये तो समुदाय को एक समान रुचियों व आवश्यकताओं वाले व्यक्तियों के स्वतन्त्रतया चयनित संघों पर आधारित मानते हैं।

## सामुदायिक भावनाओं के तत्व

- **अहंभाव का त्याग :** 'मैं' के स्थान पर 'हम' पर जोर देने से मनुष्य दूसरों से जुड़ता चला जाता है। 'मैं' में विभाजन छलकता है जबकि 'हम' में सबके एकाकार होने की भावना निहित होती है।
- **भूमिका अनुभूति :** इसमें समुदाय के प्रति व्यक्ति अपनी भूमिका अर्थात इसके घटक के रूप में अपने कार्यों की महत्ता को स्वीकारता व निभाता है।
- **निर्भरता अनुभूति :** इसका तात्पर्य अपने जीवन की आवश्यक स्थिति के रूप में समुदाय पर अपनी निर्भरता का बोध व्यक्ति को होता है।

## समुदाय के अभिलक्षण

सामाजिक अध्ययन के अधिकांश शब्दों की भांति 'समुदाय' को भी सटीकता से अथवा सर्वमान्य रूप से परिभाषित करना कठिन है। यह शब्द एक निर्माण है, एक प्रतिरूप है। समुदाय विभिन्न आकारों, भेदों इत्यादि में पाये जा सकते हैं। इस प्रकार दो समुदाय पूर्णतः समान नहीं हो सकते।

समुदाय एवं इसमें पहले से ही रह रहे घटक सदस्यों में भी पारस्परिक आंतरिक रूप से होते हैं। प्रायः समुदाय वहां जन्मे निवासियों के पहले से अस्तित्व में होते हैं व इनके मरणोपरान्त भी अस्तित्व में रहते हैं। समुदाय में ऐसे भी सदस्य होते हैं जो कभी अन्यत्र चले जाते हैं व वापस लौट भी सकते हैं।

कभी–कभी ऐसा हो सकता है कि 'समुदाय' का तात्पर्य कोई स्पृश्य (जिसे छुआ जा सके) स्थान न हो वरन समान रुचियों वाले लोगों का समूह हो। यहां हम समुदाय में कुछ अभिलक्षणों को देखते हैं–

1. **सामाजिकी–रचना :** समुदाय एक 'सामाजिकी–रचना' है। अन्य शब्दों में, यह ऐसे मानवीय अन्योन्य क्रियाओं व व्यवहार का समुच्चय है; सदस्यों के लिए जिनका कुछ न कुछ अर्थ हो। इनके कार्य व्यक्तियों की साझी धारणाओं, अपेक्षाओं व मूल्यों पर आधारित होते हैं।
2. **अस्पष्ट सीमारेखाएं :** समुदाय यदि किसी छोटे–से गांव के रूप में हो, अन्य गांवों से कुछ किलोमीटर दूर देहाती अंचल में हो तो उसकी सीमारेखा सरल प्रतीत होती है। यहां मानवीय अंतर्क्रियाओं का प्रारूप गांव के भीतर सामुदायिक सदस्यों के मध्य के संबंधों तक सीमित लग सकता है। वैसे यहां के निवासी गांव के बाहर के लोगों से भी सम्पर्क साधे हुए हो सकते हैं। यहां की स्त्रियां समुदाय से बाहर ब्याहकर अन्य समुदायों से एक प्रकार की साझेदारी बना सकती हैं अथवा यहां के पुरुष समय–समय पर अन्य गांवों में प्रवास करते हुए अंतर्सामुदायिक सम्पर्क स्थापित कर सकते हैं। किसी समय गांव के कई अथवा कुछ निवासी कहीं और रह रहे हो सकते हैं।

टिप्पणी

3. **समुदायों के भीतर समुदाय :** जिला, संभाग व राष्ट्र इत्यादि जैसे विशाल समुदायों में अनेक लघु समुदाय हो सकते हैं, यथा तहसील व ग्राम। पारस्परिक क्रिया–व्यवहार के ऐसे अनेक रूप हो सकते हैं जिनसे विभिन्न देशों के गांवों के आपसी संबंधों का निर्माण व अनुरक्षण किया जा सकता है।

4. **समुदायों का आवागमन :** एक समुदाय के निवासी चरवाहों के रूप में अपने पशुओं को चराने के लिए अन्य समुदायों के क्षेत्रों में भ्रमण कर सकते हैं। ये खानाबदोश (यायावर) हो सकते हैं। यह सामुदायिक आवागमन स्थायी व अस्थायी प्रकार का हो सकता है। राजस्थान के रेतीले मरुस्थल व लद्दाख के हिम मरुस्थल में भी उपरोक्त प्रकारों के समुदायों का आंचलिक आवागमन देखा जा सकता है। झूम की खेती करने वाले समुदाय भी इसका एक उदाहरण हैं।

5. **नगरीय समुदाय :** नगरीय क्षेत्रों में भी छोटे समूह के रूप में समुदाय का अस्तित्व हो सकता है जो समान उद्गम के कुछ लोगों का बना हो सकता है। कोई समुदाय पड़ोसी समुदाय का एक उपभाग हो सकता है अथवा स्थानीय नगरीय प्रभाग। सीमारेखाएं बड़ी होती जाने के सापेक्ष उद्गम, भाषा, सम्प्रदाय इत्यादि में अंतर अधिक व स्पष्ट होने लगते हैं। साधारणतया नगरीय समुदायों को सीमांकित करना अधिक कठिन होता है क्योंकि ये ग्रामीण समुदायों की अपेक्षा अधिक बहुमिश्रित व भिन्नतापूर्ण होते हैं, जैसे कि भारत की हृदयस्थली मध्यप्रदेश की राजधानी भोपाल में शिक्षा व जीविका के लिए उत्तर–दक्षिण व पूर्व–पश्चिम भारत के लोग आकर निवास करते हैं। मानव समुदाय का तात्पर्य विभिन्न प्रकार के घरों के संग्रह तक सीमित नहीं है। यह एक सामाजिक व सांस्कृतिक संगठन है। यह मनुष्यों का एकत्रण मात्र नहीं है वरन् एक सामाजिक–सांस्कृतिक तन्त्र है।

6. **सामाजिक सम्बद्धता :** समुदाय का एक मुख्य अभिलक्षण इसकी सामाजिक सम्बद्धता एवं साझे लक्ष्यों को निर्धारित व इन्हें पूर्ण करने की इच्छा है। यह अनेक कारकों पर निर्भर हैः ऐतिहासिक, सामाजिक, आर्थिक व सांस्कृतिक।

इन अभिलक्षणों से ऐसे आवश्यक प्रोत्साहन मिल पाते हैं जिनसे सामुदायिक नियमों का समन्वय व अनुपालन सहज हो पाता है तथा समुदाय की भावी पीढ़ियों की आवश्यकताओं का भी विचार किया जाता है।

### सामुदायिक गतिविधियों को प्रभावित करने वाले कारक

**ऐतिहासिक कारक :** समुदाय की समस्त गतिविधियां ऐतिहासिक तारतम्य में घटित होती हैं। सामुदायिक कार्य किस प्रकार किये जायेंगे व इसके सदस्य साझे लक्ष्यों की ओर कैसे अग्रसर होंगे, यह सब कई कारकों पर निर्भर होगा; यथा– जनसंख्या–इतिहास एवं संघर्ष भरा अतीत इत्यादि।

**सामाजिक कारक :** इनमें जातीयता, भाषा, जाति, वर्ग इत्यादि मानव निर्मित सामाजिक विभाजन एवं पारिवारिक संरचना (एकल/संयुक्त व अन्य कसौटियां) व लिंग–संबंध सम्मिलित हैं।

**आर्थिक कारक :** इनके अंतर्गत आजीविकाओं में अंतर अथवा समानताएं एवं समुदाय में आर्थिक स्तरण की स्थिति इत्यादि सम्मिलित हैं।

**सांस्कृतिक कारक :** सम्प्रदाय, परम्परा व रीति–रिवाज जैसे सांस्कृतिक कारक यह निर्धारित करेंगे कि समुदाय के सदस्यों के साझे लक्ष्य क्या होंगे एवं वे इस दिशा में किस प्रकार साथ बढ़ेंगे।

टिप्पणी

### राज्य एवं समुदाय

राज्य व समुदाय को कई बार एक–दूसरे का पर्याय मान लिया जाता है। मैक्लेवर ने राज्य के संघीय स्वरूप पर जोर दिया। राज्य वास्तव में सामाजिक संगठन का एक रूप हुआ, न कि समस्त परिप्रेक्ष्यों में एक सम्पूर्ण समुदाय। राज्य विशेष विस्तार का एक अभिकरण है तथापि मात्र एक अभिकरण नहीं है। ऐसा माना जा सकता है कि कई बार निरंकुशवादी अथवा अधिनायकवादी रूप में हम मानव–जीवन के प्रत्येक परिप्रेक्ष्य पर नियन्त्रण करने का दावा करने लग जाते हैं। यदि इस दावे को पूर्णतया वास्तविक रूप प्रदान कर भी दिया जाये तो भी कभी ऐसा प्रकरण नहीं आ सकता जब कोई राज्य एक समुदाय न माना जा सके अथवा संघ द्वारा समुदाय पर नियन्त्रण स्थापित किया जा सके।

जनता निश्चय ही राज्य के नागरिक अथवा व्यक्ति हैं। वैसे स्मरण रहे कि नागरिक की महत्वपूर्ण भूमिका क्या हो सकती है?

'समुदाय' शब्द का प्रयोग ऐसी पहचान अथवा सम्बद्धता के अर्थ को स्पष्ट करने में किया जाता रहा है जो भौगोलिक स्थान से जुड़ा हो भी सकता है और नहीं भी। इस अर्थ में समुदाय का निर्माण तब किया जाता है जब लोगों के पास ऐसा कोई स्पष्ट विचार हो कि उनमें से किस–किस में कौन–सी समानताएं हैं व किन में नहीं हैं। संचार–प्रौद्योगिकी में विपुल उन्नति कर लेने से भूखण्डीय सीमाओं का महत्व घट गया है। समूचा संसार अब वैश्विक ग्राम कहलाया जाने लगा है। भारत की प्राचीन परम्परा 'वसुधैव कुटम्बकम्' पुनर्जीवित होने लगी है। सूचना–प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में प्रगति से सायबर समुदाय बढ़े हैं। इसीलिए समुदाय निश्चय ही समूहों में मध्य कल्पित सीमा–रेखाओं द्वारा निर्मित मानसिक रचनाएं हैं।

### सामुदायिक सत्ता

सामुदायिक सत्ता ऐसा सत्तावाद है जिसमें इस दृष्टिकोण को बढ़ावा दिया जाता है कि निर्णय–क्षमता का एकाधिकार तथाकथित अभिजात्य वर्ग के पास अधिक समय तक न रहे। इसमें दावा किया जाता है कि लोकतन्त्र में संसाधनों का नियन्त्रण 'समुदाय' में प्रकीर्णित कर दिया (फैला दिया) जाता है। भांति–भांति के स्वैच्छिक संघों का निर्माण किया जाता है तथा स्थानीय लाभ–समूहों द्वारा सर्वसम्मति अथवा बहुमत से निर्णय किये जाते हैं। इसमें दृढ़ता से कहा जाता है कि सत्ता–अधिकार का प्रयोग राज्य व अधिकारीतन्त्र (लालफीताशाही) से जुड़ी केन्द्रीयकृत प्रक्रियाओं के माध्यम से विशेष रूप में न किया जाये। सामुदायिक सत्ता के अध्ययन में हम निर्णयन व इसके परिणामों तक पहुंचाने वाले कारकों का अवलोकन करते हैं।

## 1.8.2 समूह

समूह ऐसे होते हैं जो निर्णय इतनी शीघ्रता से करते हैं कि एकता तो बनी रहती है परन्तु समूह की ओर से त्रुटि की आशंका उत्पन्न हो जाती है। इस अनुभाग में चैलेन्जर

टिप्पणी

एक्स्प्लोजन को उदाहरण के रूप में समझाते हुए समूह–विचार की अवधारणा की व्याख्या की जायेगी।

ऐसा कई बार देखा जाता है कि समूह के अधिकांश सदस्यों के एकमत हो जाने पर उस निर्णय का पालन सभी के लिए बाध्यकारी कर दिया जाता है फिर चाहे कुछ सदस्य उसका पालन करने के प्रति अनिच्छुक हों, अर्थात उस प्रस्ताव से सहमत न होते हुए भी इन सदस्यों से अपेक्षा की जाती है कि ये उसका आज्ञापालन करें। ऐसी स्थिति आपके समक्ष भी आयी होगी जब दूसरों को कोई बात सही व आपको ग़लत लग रही हो जिससे आप अकेले पड़ गये अथवा असहाय हो गये हों। इसका एक और कारण यह हो सकता है कि यह समूह कोई कठोर अथवा निर्देश प्रधान समूह हो जहां का नेता अन्य सदस्यों के विचारों के दमन को सदा आतुर रहता हो एवं इससे आप उस समूह से निकल जाने को तैयार हो गये हों। इससे समूह के समक्ष अपने विचार प्रस्तुत करना आपके लिए कठिन हो सकता है। इस अनुभव को समूह–विचार कह दिया जाता है।

उदाहरणार्थ यदि आप यात्रा के दौरान एक भोजनालय पहुंचते हैं व समूह के अधिकांश सदस्य दाल–चावल मंगाना पसन्द करते हैं (बहुमत) किन्तु आप सब्जी–रोटी खाना चाह रहे हैं तो आप न चाहते हुए भी बहुमत को स्वीकृति दे देते हैं। यदि आपने अपना पक्ष रखा अथवा बहुमत का विरोध किया तो आपको दूसरों के खिन्न हो जाने का संदेह रहेगा अथवा आप समूह द्वारा स्वयं को असहयोगी रूप में समझे जाने की चिंता से ग्रसित हो जायेंगे। ऐसा भी हो सकता है कि बहुमत आपके पक्ष में आ जाये, अर्थात वे सदस्य आपका मन रखने के लिए आपकी पसन्द में हामी भर दें।

समूह–विचार कब किया जाता है? इस प्रश्न का उत्तर यह होगा कि समूह जब सर्वसम्मति तक न पहुंच पा रहा हो अथवा निर्णय के लिए बहुमत एकत्र न हो पा रहा हो तो समूह–विचार के कारण अल्पमत सदस्यों के विचारों का दमन कर दिया जाता है व इनकी रचनात्मकता को भी समाप्त कर दिया जाता है। एकमत भले ही सम्भव न हो किन्तु बहुमत तक लाने के लिए शेष सदस्यों का महत्व क्षीण समझ लिया जाता है व समूह में उनके रहते हुए भी उनसे समूह के बाहरी तत्व जैसा व्यवहार किया जाता है। समूह–विचार के कारण अपने विचार रखने व सहज–बुद्धि जैसे कई विषयों की अनसुनी कर दी जाती है। अलोकप्रिय मत प्रस्तुत करने से रोका जाता है व स्वयं में परिवर्तन लाने का परामर्श दे दिया जाता है। इस तरह सृजनशीलता की मानसिकता को क्षीण कर दिया जाता है। इस दमन से समूह की समस्या–समाधान क्षमता व निर्णयन–योग्यता का लोप होने लगता है। समूह में एकता व समरसता बनाये रखने के प्रयास से इतर समूह किसी यथार्थवादी विकल्प का विचार नहीं करता व अविवेकी प्रस्तावों को स्वीकारता चला जाता है। फलस्वरूप समूह–विचार द्वारा किये गये निर्णयों के परिणामों में सार्थकता कम रहती है। यह निष्कर्ष भी निकलता है कि यदि समूह के सदस्य समान पृष्ठभूमि के हुए तो समूह समूह–विचार से अधिक ग्रसित रहेगा। निर्णयन के लिए सटीक प्रक्रिया अथवा स्पष्ट नियमों का अभाव होगा। वास्तविकताओं से दूर एक अदूरदर्शी नेता होगा। समूह–विचार की आशंकाओं को घटाने के लिए निम्नांकित कुछ उपाय अपनाये जा सकते हैं–

- निर्णय करने के नियमों को सुस्पष्ट कर लिया जाये जिन्हें व्यक्ति मान सके।

टिप्पणी

- समूह में पूर्ण सहभागिता को प्रोत्साहित किया जाये।
- विशाल समूहों को लघु समूहों में विभक्त कर लिया जाये एवं तदुपरान्त दृष्टिकोणों व विचारों को विशाल समूह से साझा किया जाये।
- वाद–संवाद सहित सहायक तर्कों एवं विरोधाभासों को प्रोत्साहित किया जाये।
- नेता द्वारा समस्त सदस्यों को सुना जाये एवं अन्तिम निर्णय से पूर्व सदस्यों के सभी दृष्टिकोणों को परखा जाये।
- विशेषज्ञों द्वारा बाहरी सहायता प्राप्त की जाये ताकि सामूहिक निर्णय व विचारों में ज्ञान का समावेश किया जा सके।
- नेता अपना दृष्टिकोण व अपने विचार तब व्यक्त करे जब सम्पूर्ण समूह व इसके सदस्य समूह को अपने–अपने मत बता चुके हों।
- एक मूल्यांकनकर्ता हो जो समूह के विचारों व निर्णयों को चुनौती दे व प्रश्न करे।

## सामाजिक आवारगी

समूह–विचार का एक और नकारात्मक प्रभाव यह पड़ता है कि सदस्य समूह के कार्य करते समय पूर्ण समर्पण नहीं करते। शालेय जीवन में ऐसे उदाहरण कई लोगों ने देखे होंगे जहां सामाजिक आवारगी स्पष्ट दिख जाया करती थी। कई शिक्षार्थी ऐसे होते हैं जो स्वयं बैठकर दूसरों को परिश्रम करते देखते रहते हैं।

सामाजिक आवारगी के संबंध में एक क्रियाकलाप प्रसिद्ध हैः रस्सी खींचने की एक साधारण गतिविधि करायी गयी जहां प्रतिभागियों से रस्साकशी जैसा करने को कहा गया। प्रथम परिदृश्य में प्रतिभागियों ने रस्सी को एक–एक प्रतिभागी के रूप में खींचा एवं बाद में पूरे समूह ने रस्सी खींची। इस क्रियाकलाप से यह निष्कर्ष निकाला गया कि जब प्रतिभागी समूह में प्रयास करते हैं तो वे अकेले प्रयास किये जाने की तुलना में कम बल लगाते हैं।

सामाजिक आवारगी भीड़ के किसी व्यक्ति अथवा विचार को तुच्छ समझे जाने के परिणामस्वरूप उपज सकती है। इसका एक उदाहरण मतदान के समय देखा जाता है जब लोग यह सोचते हैं कि उनके एक मत से क्या हो जायेगा! इस प्रकार कई लोग मतदान करने नहीं जाते जिससे वयस्क मताधिकार प्राप्त लोगों का एक भाग मतदान नहीं करता। वास्तव में किसी भी दल को पूर्ण बहुमत न मिल पाने के कारणों में से एक कारण इसे भी माना जा सकता है। इसी तरह सामाजिक आवारगी के अन्य अनेक कारण हो सकते हैं।

वैसे हर बार सभी सामूहिक कार्यों का परिणाम सामाजिक आवारगी के रूप में नहीं आता। सामाजिक आवारगी प्रायः तब नहीं पायी जाती जब सामूहिक कार्य महत्वपूर्ण हो एवं प्रत्येक सदस्य के लिए निर्णायक अथवा चुनौतीपूर्ण हो अथवा सभी सदस्य एक–दूसरे का सम्मान करते हों। इसी प्रकार मित्रमण्डली में सामाजिक आवारगी की आशंका बहुत कम रहती है क्योंकि ये मित्रों को नीचा दिखाना व मित्रों की दृष्टि में स्वयं नीचा देखना नहीं चाहते।

## सामाजिक सरलीकरण

समूहों में कार्य करने से सामाजिक सरलीकरण सम्भव है। यह सरलीकरण नकारात्मक अथवा सकारात्मक दोनों प्रकार का हो सकता है। यहां दूसरों की उपस्थिति का महत्व

टिप्पणी

होता है जिससे आपका व्यवहार आप स्वयं निर्धारित करते हैं। उदाहरणार्थ यदि कोई आप पर नजर रखे हुए हो तो आपसे त्रुटि की सम्भावना घट जाती है (यह सोचकर कि किसी के सामने कहीं मुझसे कोई गलती न हो जाये अथवा दूसरों के साथ से मन बलवान होने लगता है), जैसे कि कम्प्यूटर अथवा लैपटॉप में कार्य करते समय यदि कोई हमें कीबोर्ड–टंकण गति परखने की दृष्टि से देखने लगे तो सम्भव है कि हमारी गति हमारी सामान्य क्षमता से बढ़ जायेगी अथवा हम ग़लतियां कम करने लगेंगे किन्तु उस अंशकालिक निरीक्षक के दूर होते ही सब पूर्ववत् होने लगेगा। ऐसा ही तब भी देखा जाता है जब अकेले गाते समय लड़खड़ाने वाला व्यक्ति समूह में ठीक गाने लगता है। किन्तु व्यक्ति की मनोस्थिति के अनुरूप इसका विपरीत भी हो सकता है, जैसे कि किसी के सामने हमारी टंकण–गति घट सकती है अथवा त्रुटि–सम्भावना बढ़ सकती है (क्योंकि सावधानी में अति भी असावधानी का रूप ले सकती है कि कहीं मैं उसके सम्मुख कुछ ग़लत न कर दूं अथवा मैं उसे अपनी गति से अवगत कराना चाहता हूं)।

अनुसंधाताओं ने बताया है कि प्रायः दूसरों की उपस्थिति से व्यक्ति की कार्य–दक्षता बढ़ जाती है अथवा क्षीण हो जाती है अर्थात प्रभाव की दिशा चाहे जो हो प्रभाव तो पड़ता ही है। ऐसा देखा गया है कि साधारणतया सीखे अथवा कई बार किये जा चुके कार्य दूसरों द्वारा देखे जाने पर बेहतर परिणाम देने लगते हैं जबकि कार्य जटिल होने के प्रकरण में दूसरों द्वारा देख लिये जाने पर परिणाम बिगड़ जाते हैं। उदाहरणार्थ अकेले साईकिल चलाने की तुलना में समूह में साईकिल चलाने के दौरान दूरी कम समय में तय कर ली जाती है। अकेले पदयात्रा करने की अपेक्षा साथ पदयात्रा करना सरल लगता है। इसका कारण यह है कि चाहे अघोषित प्रतिस्पर्द्धा हो अथवा साथ निभाने की चाह, दूसरों की उपस्थिति से हममें उत्साह व ऊर्जा का संचार होता रहता है। इस धारणा के अपवाद भी हैं, जैसे कि तीव्र गति से चलने वाला व्यक्ति यदि समूह के साथ चलने लगे तो उसकी गति भी औसत हो जाती है क्योंकि समूह के साथ चलना होता है, उसे पीछे छोड़कर वह आगे नहीं बढ़ना चाहता।

### 1.8.3 संस्थान

साधारणतया 'संस्थान' शब्द का आशय ऐसे लोगों के समूह से है जिनका कोई विशिष्ट प्रयोजन हो परन्तु सामाजिक अध्ययन हेतु इसका प्रयोग साधारण प्रयोग से सर्वथा भिन्न है। हर समाज को किन्हीं सामाजिक रिवाजों से पहचाना जाता है। अंतर्क्रियाशील सामाजिक प्रणालियों में ये रिवाज अत्यन्त महत्वपूर्ण होते हैं। वस्तुतः ये रिवाज संस्थानीकृत किये गये होते हैं अर्थात ये समाज के सदस्यों में व्यापक रूप से स्वीकार किये गये होते हैं। इस परिदृश्य में ऐसा कहा जा सकता है कि संस्थान रिवाजों का ऐसा तन्त्र है जिसका लक्ष्य उसे पाना अथवा ऐसी गतिविधि संचालित करना होता है जिसे वहां के लोग महत्वपूर्ण समझते हों। इसमें मुख्य मानवीय कार्यकलापों पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है। संस्थान सुघड़ प्रक्रियाएं हैं जिनके माध्यम से लोग अपने कार्यकलाप संचालित करते हैं।

संस्थानों को मैक्लेवर द्वारा इस प्रकार परिभाषित किया गया है– "सामूहिक गतिविधि के लिए अभिलाक्षणिक कार्यविधि की स्थितियों अथवा रूपों का स्थापन।" अतः ऐसा कह सकते हैं कि संस्थान सामाजिक संरचनाएं व संचालनात्मक साधन हैं जिनके द्वारा समाज को संगठित रखा जाता है। बहुत सारी ऐसी गतिविधियां निर्दिष्ट व

टिप्पणी

कार्यान्वित की जाती हैं जो मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु आवश्यक हैं। संस्थान ऐसे सामाजिक संबंधों की संगठित प्रणाली होती हैं जिनमें साझे मूल्यों व कार्यविधियों का समावेश रहता है एवं इनसे समाज की कुछ मूलभूत आवश्यकताओं को पूर्ण किया जाता है।

प्रत्येक संगठन किन्हीं स्थापित रिवाजों पर निर्भर होता है जो समाज द्वारा स्वीकार्य व अभिमान्य किये गये होते हैं। इन रिवाजों द्वारा सामाजिक–आर्थिक व अंतर्वैयक्तिक संबंधों का संचालन किया जाता है। ये रिवाज ऐसे संस्थान हैं जो विभिन्न रूपों में होते हैं, यथा– विवाह, परिवार, अर्थव्यवस्था, राजनीति, धर्म इत्यादि। इन संस्थानों से सामाजिक जीवन का संचालन किया जाता है।

## सामाजिक संस्थानों की विशेषताएं

कोई सामाजिक रिवाज किसी सामाजिक तन्त्र–विशेष में तब संस्थानीकृत कर दिया जाता है जब अग्रलिखित तीन शर्तों की पूर्ति हो रही हो–

- सामाजिक तन्त्र के कई लोगों को वह रिवाज स्वीकार हो।
- जिन लोगों ने उस रिवाज को स्वीकार किया है उनमें से अधिकांश इसके प्रति गम्भीर हों। मनोवैज्ञानिक भाषा में बोलें तो इन्होंने इसे हृदयंगम कर लिया हो।
- रिवाज को स्वीकृति प्रदान की जा चुकी हो, अर्थात तन्त्र के कुछ लोग उपयुक्त परिस्थितियों में रिवाज से दिशा–निर्धारक भूमिका निभाने की अपेक्षा कर रहे हों।

संस्थानीकरण की प्रक्रिया में निम्नांकित अभिलक्षण सम्मिलित होते हैं–

1. सामाजिक जीवन के अत्यधिक अनियोजित उत्पादों के रूप में संस्थानों को व्युत्पन्न किया जाता है। लोग अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण करने के सम्भव उपाय खोजने के लिए संघर्ष करते रहते हैं। इन्हें ऐसा कोई प्रारूप मिल जाता है जिसे ये आवर्तित (रिपीटेड) पद्धति के रूप में नियमित प्रयोग में लाने के इच्छुक हो जाते हैं। इन प्रारूपों को मानकीकृत प्रथाओं में परिणत कर दिया जाता है। कालचक्र का पहिया घूमता जाता है व ये प्रारूप प्रथाओं व साम्प्रदायिक क्रियाओं के भाग बना लिये जाते हैं जो उनकी स्वीकृति को तर्कसंगत प्रमाणित करने का प्रयास करते हैं। उदाहरण हेतु ऋण–प्रदान (उधारी) की प्रणाली से बैंकों का निर्माण कर लिया गया ताकि ऋण के आदान–प्रदान व धन–हस्तान्तरण के विविध प्रकारों हेतु मानकीकृत संस्थान बनाये जा सकें।
2. संस्थान व्यक्तियों को नियन्त्रित करने के साधन होते हैं।
3. संस्थानीभूत भूमिका या व्यवहार का निर्धारण उसकी अपेक्षाओं द्वारा किया जाता है, न कि व्यक्तिगत वरीयताओं द्वारा। उदाहरण के लिए न्यायाधीशों से न्याय–निर्णय के समय समान रीति से कार्य करने की अपेक्षा की जाती है किन्तु इसी रीति में कार्य–व्यवहार अन्य परिस्थितियों में भी करना इनके लिए आवश्यक नहीं होता।
4. संस्थानों में कुछ पूर्वनिर्धारित कार्यविधियां होती हैं जिनका निर्माण किन्हीं रिवाजों के आधार पर किया गया होता है।

टिप्पणी

5. संस्थानों के कुछ सांस्कृतिक प्रतीक होते हैं। इन प्रतीकों के कारण उस संस्थान की पहचान लोगों के लिए सहज हो जाती है। उदाहरणार्थ देश का राष्ट्र–ध्वज, राष्ट्र–वाक्य, राष्ट्र–गान, राष्ट्र–गीत, राष्ट्र–पक्षी, राष्ट्र–पशु, राष्ट्र–पुष्प, राष्ट्र–वृक्ष घोषित किया गया होता है जिनसे संस्थान के सुदृढ़ीकरण व सोद्देश्यता की पुष्टि होती है।
6. संस्थानों में व्यवहार की कुछ संहिताएं होती हैं। संस्थान में भूमिका निभाने वाले लोगों से कुछ नियमों के पालन की अपेक्षा की जाती है जिन्हें बहुधा औपचारिक संहिताओं में दर्शाया जाता है, जैसे कि विवाह की सप्तपदी, राजकीय निष्ठा शपथ–ग्रहण एवं नामकरण इत्यादि।
7. प्रत्येक संस्थान कुछ विचारधारागत सिद्धांतों पर आधारित होता है। विचारधारा को ऐसे विचारों के समुच्चय के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिनसे किसी सामाजिक व्यवस्थापन, सत्तात्मक संरचना अथवा जीवन की रीतियों की व्याख्या की जा सकती हो अथवा उन्हें तर्कसम्मत बताया जा सकता हो। इनका वर्णन समूह अथवा गतिविधियों की सामाजिक स्थिति, लक्ष्यों अथवा ध्येयों के सन्दर्भों में किया जाता है जिनमें ये संयुक्त रूप में सामने आते हैं। संस्थान की विचारधारा में संस्थान की प्रमुख मान्यताओं के संग जीवन की समस्याओं में संस्थागत रिवाजों के अनुप्रयोग का तार्किक स्पष्टीकरण भी समाहित किया जाता है।
8. संस्थानों का निर्माण समाज के सदस्यों की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किया जाता है तथा इन्हें सामाजिक अभिमान्यता प्रदान की गयी होती है।

## सामाजिक संस्थानों के कार्य

समाज इतना जटिल व अंतर्सम्बद्ध है कि इससे जुड़े किसी कृत्य के सभी परिणामों को देख पाना असम्भव है। संस्थानों के कार्यों की सूची होती है जिसमें संस्थान के उद्देश्यों का प्रकटन होता है। इनके कुछ कार्य गुप्त होते हैं जो अनभिप्रेत (अनजाने) में किये जाते हैं एवं हो सकता है कि इन्हें पहचान न मिले। यदि इन्हें पहचान मिल जाये तो भी ये उप–उत्पाद ही कहे जा सकते हैं।

सामाजिक संस्थानों के कार्यों को हम निम्न रूपों में समझ सकते हैं–

### (अ) सामाजिक संस्थानों के सुस्पष्ट कार्य

ये ऐसे कार्य हैं जिनकी पूर्ति की अपेक्षा लोग संस्थान से करते हैं। उदाहरणार्थ परिवार में संतानों की देखभाल की जानी चाहिए, आर्थिक संस्थान सामग्रियों का उत्पादन व वितरण करें एवं पूंजी का प्रवाह उस ओर निर्दिष्ट करें जहां उसकी आवश्यकता हो, शालाएं शिक्षार्थियों को शिक्षित करें इत्यादि। सुस्पष्ट कार्य प्रकट, जताये गये व साधारणतया अनुशंसित होते हैं।

### (ब) सामाजिक संस्थानों के गुप्त कार्य

ये संस्थानों के अनभिप्रेत (गैर–इरादतन) व अनदेखे परिणाम होते हैं। आर्थिक संस्थान सामग्रियों का उत्पादन व वितरण तो करते ही हैं किन्तु कभी–कभी प्रौद्योगिकीय परिवर्तन व परोपकार को भी बढ़ावा देते हैं। कभी–कभी संस्थान बेरोजगारी व विषमता

को भी उपजा देते हैं। ऐसा भी सम्भव है कि गुप्त कार्य सुस्पष्ट कार्यों का समर्थन कर रहे हों।

### (स) सामाजिक संस्थानों के अन्य कार्य

टिप्पणी

उपरोक्त कार्यों के अतिरिक्त सामाजिक संस्थानों के कुछ अन्य साधारण कार्य भी होते हैं, यथा– खाद्यान्न की व्यवस्था, विद्युत–उत्पादन व वितरण, विधि व विधान व्यवस्था का अनुरक्षण, व्यक्तियों के व्यक्तित्वों को गढ़ना, वस्तुओं और सेवाओं का निर्माण व आपूर्ति, सीखों का विनिमयन इत्यादि।

पोलैण्ड निवासी नृविज्ञानी मेलिनोव्स्की ने कहा है, "प्रत्येक संस्थान के केन्द्र में कोई आधारभूत आवश्यकता होती है जिससे लोगों के समूह एक सहकारी कार्य में स्थायीरूपेण एकजुट होते हैं एवं इनमें अपने कुछ मत व युक्तियां अथवा पटुता होती है। संस्थान सरलता से व प्रत्यक्षतः नवीन कार्यों से सहसम्बद्ध नहीं होते। एक संस्थान में संतोषप्राप्ति की आवश्यकता नहीं होती।"

## 1.8.4 सामाजिक समूह

सामाजिक समूहों का अध्ययन समाज अध्येताओं के लिए एक मुख्य विषय है। समाज अध्येताओं ने विभिन्न प्रकारों के सामाजिक समूहों का उल्लेख किया है।

### परिभाषा एवं स्वरूप

सामाजिक समूह को विचारकों ने विभिन्न तरह से परिभाषित किया है–

गिडेन्स के अनुसार– "एक सामाजिक समूह केवल व्यक्तियों का योग है, जो नियमित रूप से एक–दूसरे के साथ अन्तःक्रिया करते हैं।"

मैकाइवर और पेज के शब्दों में– "समूह से तात्पर्य ऐसे संकलन से है जिसके सदस्य एक–दूसरे के साथ सामाजिक संबंध स्थापित करते हैं।"

फिशर के विचारानुसार– "मनुष्यों के बीच पारस्परिक संबंधों को एक समूह कहा जाता है।"

सामाजिक समूह प्रत्येक नगर से लेकर गांव–गांव तक मिल जाते हैं जो कि मानव–जीवन के महत्वपूर्ण तत्व हैं। हमें चारों ओर लोगों के समूहों के रूप में विभिन्न सामाजिक समूह दिख जाते हैं। सामाजिक समूह दो अथवा अधिक व्यक्तियों के बनाये गये होते हैं जो एक–दूसरे से सतत् संवाद करते हैं एवं ऐक्य व साझी पहचान के भाव को साझा करते हैं। इसी कारण लोगों के समूह में सदस्य एक–दूसरे को अपनत्व की दृष्टि से देखते हैं व स्वयं को इस समूह का एक भाग समझते हैं। हम में से प्रत्येक व्यक्ति भिन्न एवं समान कालखण्ड में भी विभिन्न प्रकार के सामाजिक समूहों का भाग होता है। उदाहरणार्थ व्यक्ति कक्षा, कार्यस्थल, परिवार इत्यादि का एक भाग हो सकता है।

### सामाजिक समूहों के प्रकार

समूह की रचना करते समय विभिन्न बिन्दुओं को ध्यान में रखना होता हैः समूह कितना बड़ा हो, समूह में कौन–कौन से व्यक्ति सम्मिलित किये जायेंगे आदि। समूह के आकार का प्रभाव सामूहिक गतिकी व संबंधों पर पड़ता है। सामाजिक समूहों के स्वरूप व

टिप्पणी

महत्व इत्यादि भी अन्य सामाजिक समूहों से भिन्नतापूर्ण होते हैं। दो सदस्यों से लेकर दस या अधिक सदस्यों वाले भी परिवार होते हैं।

सामाजिक समूहों के कुछ प्रकार निम्नांकित हैं–

### 1. प्राथमिक समूह

प्रत्येक समूह अद्वितीय होता है जिसके अपने प्रयोजन, संस्कृति, रिवाज इत्यादि होते हैं। समाज अध्येताओं ने सामाजिक समूहों के विभिन्न प्रकारों में अंतर किये हैं। प्राथमिक समूह ऐसे समूहों को कहा जाता है जिनके सदस्यों में घनिष्ट संबंध होता है। ये साधारणतः छोटे पैमाने पर होते हैं एवं स्थायी प्रवृत्ति लिये होते हैं। प्राथमिक समूह के सदस्य समूह से सुदृढ़ व्यक्तिगत पहचान की अनुभूति करते हैं। प्राथमिक समूह का एक उदाहरण एकल परिवार है जहां पति–पत्नी व सन्तानें होती हैं। एकल परिवार के सदस्य साथ रहते व दिनचर्या के अधिकांश कार्य साथ–साथ करते हैं। इसके सदस्यों के लिए परिवार इनकी पहचान का एक मूल स्रोत है।

प्रेम, स्नेह व आदर से समस्त परिजन परस्पर प्रगाढ़ता से जुड़े रहते हैं एवं इनके संबंध आजीवन स्तर के होते हैं। यहां तक कि परिवार से दूर जाने पर भी लोग परस्पर जुड़े रहते हैं एवं स्वयं को परिवार का अविभाज्य भाग समझते हैं।

वैसे प्राथमिक समूह के अन्य उदाहरण भी हैं। दो व्यक्ति घनिष्ठ मित्र भी हो सकते हैं। इस प्रकार ये घनिष्ठ मैत्रीरूपी समूह के दो सदस्य हुए। यह समूह साधारणतया अत्यन्त लघु होता है एवं इसमें संबंध चिरस्थायी अथवा दीर्घस्थायी होते हैं। इन समूहों के लिए शब्द 'प्राथमिक' का उपयोग इसलिए किया जाता है क्योंकि ये संबंधों व समाजीकरण के आधारस्रोत होते हैं। हमारे प्राथमिक समूहों में संबंधों का आधार प्रेम, करुणा व सीधी साझेदारी के कारण होता है। इस प्राथमिक समूह में व्यक्ति मूल्यों, रिवाजों व अन्य महत्वपूर्ण विशेषताओं को भी सीख पाते हैं।

### 2. द्वितीयक समूह

द्वितीयक समूह भी एक प्रकार के सामाजिक समूह हैं। ये प्राथमिक समूह के विलोम होते हैं। ये छोटे अथवा बड़े हो सकते हैं तथा अधिकांशतः अव्यक्तिगत व साधारणतया अल्पकालिक होते हैं। ये समूह प्रायः शालाओं व कार्यस्थल पर पाये जाते हैं। द्वितीयक समूह का एक उदाहरण समिति है जहां समिति के सदस्य निर्धारित अथवा अनिर्धारित अंतरालों में पाक्षिक अथवा मासिक रूप से मिलते हैं एवं कुछ घण्टों की भेंट में आगामी योजना तैयार करके पुनः अलग हो जाते हैं। यद्यपि समूह के सदस्यों की रुचियों में समानता हो सकती है किन्तु फिर भी समूह का प्रयोजन ध्येय केन्द्रित होता है, न कि संबंध केन्द्रित। यदा–कदा द्वितीयक समूह अनौपचारिक बन जाते हैं एवं सदस्य एक–दूसरे को सामान्य स्तर की तुलना में अधिक जानने लगते हैं। इनमें कुछ सीमा तक मैत्री जैसा भाव भी उत्पन्न हो सकता है। ये समिति की कार्य–आवश्यकता के अतिरिक्त भी परस्पर सम्पर्क बनाये रख सकते हैं।

द्वितीयक समूहों के अन्य उदाहरणों में परियोजना–समूह, शोध–दल आदि हो सकते हैं। अधिकांशतया ये समूह अस्थायी ही होते हैं। यदि इनके मध्य के संबंध एक वर्ष तक रहें व समूह में कोई क्लेश न हो तो भी इनमें स्थायित्व नहीं आ पाता, न ही ये घनिष्ठता की श्रेणी में आते हैं। निश्चय ही कभी–कभी ऐसे प्रकरण होते हैं जब द्वितीयक समूहों में मिले सदस्य हमारे प्राथमिक समूह के सदस्य बन जाते हैं। इससे

स्पष्ट होता है कि प्राथमिक व द्वितीयक समूहों के मध्य के भेद सदैव इतने स्पष्ट नहीं होते। उदाहरणार्थ एक इंटरनेट कैफे में बरसों पहले अकस्मात मिले प्रशान्त व सुमित नामक दो अपरिचित अब घनिष्ठ मित्र अथवा संबंधी हैं।

टिप्पणी

### 3. सन्दर्भ समूह

सामाजिक समूह का एक और स्वरूप सन्दर्भ समूह है। ये ऐसे समूह होते हैं जो क्षणिक होते हैं क्योंकि इसमें दो अथवा अधिक व्यक्ति अपने व्यवहार अथवा अभिवृत्तियों के मूल्यांकन अथवा विचार–विमर्श के लिए ही मिलते हैं। ये निश्चय ही प्रेरणास्रोत (रोल–मॉडल्स) के साधारणीकृत रूप होते हैं। यह व्यक्ति समूह से जुड़ा हो सकता है अथवा नहीं परन्तु यह सन्दर्भ की रीति के रूप में मापन के अपने मापदण्ड का उपयोग करता है। उदाहरण हेतु अपनी तोंद घटाने का इच्छुक दूसरे नगर में रह रहे स्वस्थ व्यक्ति से कभी–कभी भेंट कर सकता है व उसके आहार–विहार की पूछताछ कर सकता है ताकि सोच सके कि मैं अपनी तोंद कैसे घटाऊं। यदि कोई व्यक्ति स्नातक पाठ्यक्रम में प्रवेश कर रहा है तो वह स्नातक उत्तीर्ण शिक्षार्थियों से सम्पर्क करके यह जानने का प्रयास कर सकता है कि स्नातक अध्ययन के दौरान कौन–कौन से घटनाक्रम अधिक महत्वपूर्ण हो सकते हैं।

कई बार ऐसे प्रकरण आते हैं जहां लोग अपने सन्दर्भ समूहों से पहचाना जाना पसन्द करते हैं। उदाहरणार्थ यदि आप पर्यावरण संरक्षण संबंधी किसी स्वयंसेवी समूह से जुड़े हों तो हो सकता है कि आपको उस संस्था का नाम लिखी टोपी व अन्य परिधान पहनकर घर से निकलना पसन्द हो किन्तु यदि आप परिवार–नियोजन के लिए किसी विभाग से प्रत्यक्षतः जुड़ चुके हो तो आप 'छोटा परिवार, सुखी परिवार' अथवा 'हम दो– हमारा एक' जैसे नारे लिखे स्टीकर अथवा बैनर अपने साथ रखना पसन्द कर सकते हैं। सन्दर्भ समूह के माध्यम से व्यक्ति अपनी अपेक्षाओं की रूपरेखा एवं दृष्टिकोण तैयार करता है तथा साथ ही में अपना रूपरंग व अपनी शैली को भी बदलकर स्वयं को उस समूह के अनुरूप ढाल लेता है।

### 4. इन–ग्रुप्स व आउट–ग्रुप्स

समूह का आकार चाहे जो हो हमारी सीमा–रेखाएं व सदस्यता–कसौटियां होती हैं जिनसे हम सदस्यों व असदस्यों के मध्य भेद कर पाते हैं। ये सीमा–रेखाएं भौतिक सीमाओं के रूप में हो सकती हैं। समान मानसिक लक्षणों की उपस्थिति भी एक कसौटी हो सकती है।

वैसे सभी समूह 'हम' व 'वे' में दृढ़ भेद विकसित करते हुए भौतिक अथवा अंतर्निहित सीमा–रेखाओं व सदस्यता कसौटियों को बनाये रखते हैं। 'हम' में सम्मिलित व्यक्ति 'इन–ग्रुप' कहलाते हैं। इन–ग्रुप ऐसे समूह हैं जिसके लोग इसके भीतर माने जाते अथवा इससे पहचाने जाते हैं। इसी प्रकार 'वे' में सम्मिलित व्यक्तियों से आउट–ग्रुप बनता है जो ऐसा समूह होता है जिससे 'व्यक्ति' की सम्बद्धता नहीं होती, अर्थात उससे इसे नहीं पहचाना जाता।

इन–ग्रुप्स व आउट–ग्रुप्स की आकार–सीमा नहीं होती। इन–ग्रुप द्विक् समान छोटा हो सकता है (सामाजिक समूह का लघुतम प्रकार व आधारभूत इकाई जिसमें दो ही व्यक्ति हों उसे द्विक् कहा जाता है) अथवा यह विश्व जितना विशाल भी हो सकता है। आउट–ग्रुप में कोई व्यक्ति उस द्विक् में सम्मिलित नहीं होता अथवा विश्व से बाहर

टिप्पणी

होता है। लोगों में स्वयं को किसी इन–ग्रुप में सम्मिलित रख कर भिन्न मानने की प्रवृत्ति होती है। इन–ग्रुप का पक्ष लेने की प्रवृत्ति को इन–ग्रुप अभिनति अथवा इन–ग्रुप पक्षपात कहा जाता है। दूसरी ओर लोगों में आउट–ग्रुप को कम महत्व का अथवा साधारण–सा मानने की प्रवृत्ति होती है। ये आउट–ग्रुप के सदस्यों को विरोधी भी समझ सकते हैं।

### 5. त्रिक्

द्विक् में एक और व्यक्ति के समावेश से त्रिक् का निर्माण होता है। त्रिक् ऐसा सामाजिक समूह होता है जिसमें तीन व्यक्ति होते हैं। मात्र इस एक व्यक्ति के योग से भी पूरे समूह की अंतर्क्रियाओं व गतिकी पर बहुत प्रभाव पड़ता है। यह समूह साधारणतया द्विक् से तुलना में अधिक स्थिर हो सकता है। उदाहरणार्थ पति–पत्नी व एक सन्तान। किन्हीं दो सदस्यों के मध्य कोई कलह पनप जाने की स्थिति में तीसरा सदस्य उन दोनों के मध्य एक सेतु का कार्य करते हुए सुलह करा सकता है। वैसे ऐसा भी सम्भव हो सकता है कि एक सदस्य द्वारा समूह छोड़ जाने पर भी समूह का अस्तित्व बना रहे।

### 6. वृहद सामाजिक समूह

बहुत कुछ बदल जाता है यदि समूह का आकार तीन सदस्यों से अधिक हो जाये। सदस्यों में कमी से सदस्यों में घनिष्ठता व निष्ठा बढ़ने की सम्भावना रहती है। सामूहिक संबंध कम मैत्रीपूर्ण हो अथवा मैत्री क्षीण हो जाये तो समूह के सदस्य समूह में अपनी सम्बद्धता घटी हुई अनुभव करते हैं एवं संबंध न होकर एक बन्धन लगने लगता है: जैसा कि अरेन्ज मैरिज के प्रकरणों में देखा जाता है। इस समय ये समूह में व इसके सदस्यों के प्रति अपने उत्तरदायित्व को कम अनुभव करते हैं। ऐसे समूह में सदस्यों की निष्ठा व योगदान छोटे समूह की अपेक्षा निश्चय ही कम रहेगा। विशाल समूहों (जैसे कि संयुक्त परिवार व लोकतन्त्र) को संभालना कठिन रहता है क्योंकि विभिन्न विचारों व मतों के प्रकरण में सर्वसम्मति की सम्भावना लगभग असम्भव रहती है। यदि बहुमत मिल भी जाये तो भी कुछ व्यक्ति असंतुष्ट बने रहते हैं। बड़े समूह की एक सकारात्मकता यह रहती है कि समूह जितना विशाल होगा उसमें से कुछ अथवा कई सदस्यों के निकल जाने के उपरान्त भी वह अस्तित्वमान बना रहेगा।

### सामाजिक अनुरूपता : मानदण्डात्मक बनाम सूचनात्मक

सामाजिक अध्ययन एवं मानव व्यवहार में दो प्रमुख परिघटनाएं सामाजिक अनुरूपता व आज्ञाकारिता हैं। सोलोमन एस्स द्वारा सन् 1951 में किये गये क्रियाकलाप में सामाजिक अनुरूपता का अध्ययन करने के लिए उस व्यक्ति का अध्ययन किया गया जहां एक व्यक्ति उस पंक्ति के छोर पर बैठा था जिस पंक्ति में चार अन्य प्रतिभागी थे। प्रस्तुतकर्ता व्यक्ति ने सभी प्रतिभागियों को दो–दो काड्र्स दिये। एक कार्ड में एकल रेखा व दूसरे कार्ड में तीन रेखाएं थीं। प्रतिभागियों से कहा गया कि इस एकल रेखा की लम्बाई की तुलना अन्य तीन रेखाओं से करें ताकि यह निर्धारित किया जा सके कि यह लम्बाई मूल रेखा की लम्बाई के समान है या नहीं। एक के बाद एक, चारों प्रतिभागियों ने अपने–अपने उत्तर व्यक्त किये जो कि स्पष्टतः ग़लत थे। जब सबसे पीछे बैठे व्यक्ति की बारी आयी तो अध्ययन में यह विश्लेषण करने का प्रयत्न किया गया कि यह व्यक्ति अन्य के उत्तरों से मिलान के लिए अपने उत्तर को बदल देता है अथवा अपने उसी उत्तर पर अडिग रहता है जिसे वह स्वयं सही समझता है।

यहां सामाजिक अनुरूपता को सामाजिक प्रभाव के उस प्रकार के रूप में सोचा जा सकता है जब समूह के समरूप स्वयं को करने के लिए अथवा स्वयं को उस समूह का भाग बनाने के प्रयास में व्यक्ति अपने व्यवहार अथवा विचार को किस प्रकार बदल लेता है, अर्थात अपने कार्यकलाप दूसरों का चश्मा लगाकर सोचने व करने लगता है। एस्स ने जानना चाहा कि लोग यह अनुरूपी अनुकरण कैसे व क्यों करते हैं? अपने क्रियाकलाप में पंक्ति के छोर पर बिठाया गया वह व्यक्ति ही वास्तविक प्रतिभागी था जबकि शेष सभी चार तो मात्र अभिनय के लिये बुलाये गये थे ताकि उनसे जानबूझकर ग़लत उत्तर लिखवाया जा सके। एस्स ने बाद में पुष्टि करनी चाही कि कितने प्रतिशत प्रतिभागी ग़लत उत्तर का अनुकरण कर लेते हैं (अनुरूपिता की ओर भागते हैं, अर्थात स्वविवेक का प्रयोग न करते हुए दूसरे से समरूप हो जाना चाहते हैं)। इस क्रियाकलाप का परिणाम यह आया कि लगभग 25 प्रतिशत प्रतिभागियों ने अधिकांशतः अनुरूपण किया एवं अतिरिक्त 50 प्रतिशत प्रतिभागियों ने अल्पतम एक बार अनुरूपण (अनुकरण) किया अर्थात 25 प्रतिशत प्रतिभागी ही ऐसे थे जिन्होंने कभी अनुरूपण नहीं किया।

यह क्रियाकलाप एक प्रसिद्ध अध्ययन रहा। इसने सामाजिक वर्चस्व/प्रभाव की शक्ति को दर्शा दिया। जानबूझकर गलत उत्तर लिखने/सौंपने के सन्दर्भ में जब उनसे कारण पूछा गया तो अधिकांश ने बताया कि उन्हें दूसरों द्वारा उपहास किये जाने का भय था। कुछ ने यह तक स्वीकारा कि उन्हें यह लग रहा था– "ग़लत उत्तर सही है।" ये उत्तर दो प्रकार की सामाजिक अनुरूपता को स्पष्ट कर देते हैं– मानदण्डात्मक एवं सूचनात्मक।

### मानदण्डात्मक अनुरूपता

अन्यों द्वारा पसन्द अथवा दूसरों द्वारा स्वीकार किये जाने की इच्छा के वशीभूत होकर क्रिया करने की प्रवृत्ति मानदण्डात्मक अनुरूपता कहलाती है। इसका एक प्रत्यक्ष उदाहरण किशोर्य (टीनेज) में संगी–साथियों का परोक्ष दबाव है। इस अवस्था से गुजर रहे अधिकांश मनुष्य दूसरों की देखा–देखी अथवा सुनी–सुनायी बातों पर स्वयं के कार्यों का निर्धारण कर लेते हैं क्योंकि ये दूसरों (अपने सहचरों, सहपाठियों) के प्रभाव अथवा बहुमत में आकर स्वयं निर्णय करने लगते हैं। संगी–साथियों की देखा–देखी उस राह पर स्वयं चल देने वालों (विशेषतया किशोर–किशोरियों के सन्दर्भ में) से ऐसा पूछा जाता है– "दूसरों को कुएं में कूदते देख कर तुम भी कूद पड़ोगे क्या?" दूसरों के मतों अथवा दृष्टिकोणों के आधार पर स्वयं के जीवन के निर्णय करने की यह प्रवृत्ति वयस्कों में भी खूब प्रचलित है। उदाहरणार्थ यदि किसी विषय में 10 में से 7 लोग किसी की प्रशंसा कर रहे हों तो सम्भावना यही है कि शेष व्यक्ति भी उस व्यक्ति की प्रशंसा में हां में हां मिलाने लगेंगे (भले ही उन्हें व्यक्ति का कार्य प्रशंसनीय न लग रहा हो) क्योंकि उनमें स्वयं को 'अलग–थलग' कहलाने की इच्छा नहीं होती है।

### सूचनात्मक अनुरूपता

सूचनात्मक अनुरूपता एक और प्रकार की अनुरूपता है जहां दूसरों की दृष्टि में स्वयं को सही समझे जाने की इच्छा बलवती रहती है। एस्स के क्रियाकलाप में एक अनुरूपता यह थी कि कई प्रतिभागियों ने अपने उत्तर इसलिए बदल दिये क्योंकि उन्हें लगा कि वे ग़लत उत्तर लिख रहे थे एवं अपने उत्तर बदलते हुए वे 'सही' कहलाये जायेंगे (क्योंकि बहुमत वाले उत्तर को सही समझ लेना लोगों की एक प्रवृत्ति होती है

टिप्पणी

तथा वे सही कहलायें अथवा ग़लत, सबके जैसा अथवा समरूप अवश्य कहलाना चाहते हैं। विशेषतया सही कहलाने की इच्छा अधिक रहती है)। इस प्रकार की अनुरूपता को सूचनात्मक कहा गया क्योंकि इसमें व्यक्ति को यह जानकारी मिलती है कि व्यक्ति पहले भी ऐसा ही था (अर्थात उसने उत्तर नहीं बदला है, सामने वाले को ऐसा लगे)। उदाहरणार्थ सम्भव है कि यदि आपको बाजार में किसी सब्जी वाले के पास भीड़ अलग–से दिखे तो आपको लगने लगेगा कि वहां एकदम ताजी सब्जियां मिल रही होंगी, इसलिए आप भी उस भीड़ में सम्मिलित हो जायेंगे (स्पष्ट कारण का विचार न करके, मात्र प्रभाव में आ जायेंगे)।

"मैं जैसा नहीं चाहता हूं वैसा कोई न मान ले" अथवा "कहीं कोई मेरी ग़लती न पकड़ ले" अथवा "कहीं कोई मेरी वास्तविकता न जान ले" अथवा "कोई मुझे इस दृष्टि से न देखे" जैसे मंतव्यों के आधार पर लोग अपने निर्णय करते हैं। इसी से सूचनात्मक अनुरूपता आती है। जब कोई दिशा से अनभिज्ञ रहकर किसी पथ पर जा रहा होता है व पड़ाव का पता न हो तो पड़ाव पूछने के लिए पथिकों से पूछता है एवं यदि तीन, पांच अथवा सात लोगों से पूछ लिया हो तो बहुमत का विचार करता है कि अधिक लोगों से क्या कहा। फिर बहुमत के वचन पर विश्वास करके उसी वचन को अपना लेता है। इस प्रकार वह बहुमत में सम्मिलित हो जाता है एवं उस दिशा में बढ़ जाता है। यह भी सूचनात्मक अनुरूपता का एक उदाहरण हुआ। यहां बहुमत अथवा दूसरों के दृष्टिकोण को सही मान लिया गया।

## आज्ञाकारिता

उपरोक्त प्रकारों की अनुरूपताओं व आज्ञाकारिता को एक मान लेने के असमंजस में नहीं पड़ना चाहिए। अनुरूपता व आज्ञाकारिता में यह अंतर है कि अनुरूपता समूह/व्यक्ति से की गयी प्रतिक्रिया होती है जबकि आज्ञाकारिता सत्ता (बड़े–बुजुर्ग इत्यादि) से की गयी प्रतिक्रिया होती है। आज्ञाकारिता में व्यक्ति/समूह के संकेत/संदेश को बिना प्रश्न किये मान लिया जाता है। स्टैन्ले मिल्ग्राम ने सन् 1963 में यॅल में एक प्रसिद्ध आज्ञाकारिता–अध्ययन किया ताकि यह जाना जा सके कि सत्तात्मक स्थिति से आदेश मिलने पर कितने लोग अन्य लोगों को कष्ट पहुंचाना चाहेंगे। इस अध्ययन में प्रतिभागियों को अध्यापक की भूमिका निभाने के लिए बोला गया जबकि एक व्यक्ति उनके नेत्रों से परे था जिसे शिक्षार्थी की भूमिका निभानी थी। अध्यापक का कार्य एक प्रश्नोत्तरी आयोजित करना था एवं ग़लत उत्तर देने वाले शिक्षार्थियों को विद्युत–आघात पहुंचाना था। जितनी बार ग़लत उत्तर, उतने अधिक वोल्टेज। क्रियाकलापकर्ता अथवा सत्ताधारी व्यक्ति प्रयोगशालेय परिधान में था एवं भयावह प्रकार से आदेश जारी कर रहा था। यह सत्ताधारी व्यक्ति अध्यापक को तब कभी–भी (अथवा हर बार?) आदेश दे सकता है जब अध्यापक अपने सम्मुख शिक्षार्थियों को आघात देने में संकोच कर रहा हो। जब प्रतिभागियों अथवा दर्शकों/श्रोताओं को ऐसा लगने लगा कि शिक्षार्थियों को वास्तविक आघात पहुंचाये जा रहे हैं तो ये शिक्षार्थी क्रियाकलाप में साथ निभाने लग गये, अर्थात अभिनय करते हुए ऐसा आभास कराने लगे मानो आघात पहुंच रहा हो। अध्ययन के उपरान्त इस निष्कर्ष पर आया गया कि 40 में से 26 प्रतिभागियों को अधिकतम आघात दिया गया जो प्राणघातक हो सकता था। 14 को ही उच्चतम स्तर आने से पहले रोका गया था। अधिकांश घबराये हुए एवं क्रियाकलापकर्ता से क्रुद्ध थे, स्वेद (पसीना) निकल रहा था व रुदन कर रहे थे।

टिप्पणी

आज्ञाकारिता के स्वरूप की शक्ति व अनुरूपता से इसके भेद को समझने की दिशा में इस अध्ययन ने महती भूमिका निभायी। अनुरूपता से व्यक्ति अपने व्यवहार को इसलिए परिवर्तित कर लेता है क्योंकि यह दूसरों द्वारा स्वीकार किया जाना अथवा अपना लिया/पसन्द किया जाना चाहता है। व्यक्ति को ऐसा लगता है कि उसे आदेश का पालन करना ही पड़ेगा एवं तदनुरूप ही व्यवहार दर्शाना होगा क्योंकि सत्ता से आदेश दिया गया है।

### अपनी प्रगति जांचिए

11. सामुदायिक भावना का तत्व नहीं है–

(क) अहंभाव का त्याग (ख) भूमिका अनुभूति

(ग) अहंकारिता (घ) निर्भरता अनुभूति

12. मनुष्यों के बीच पारस्परिक संबंधों को समूह कहकर किसने परिभाषित किया?

(क) फिशर (ख) गिडेंस

(ग) मैकाइवर और पेज (घ) एडम स्मिथ

## 1.9 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (घ)
2. (ख)
3. (ख)
4. (घ)
5. (ग)
6. (ग)
7. (ख)
8. (क)
9. (घ)
10. (ग)
11. (ग)
12. (क)

## 1.10 सारांश

जनजाति का अर्थ सामान्यतया ऐसे लोगों से है जो निश्चित भू–भाग पर निवास करते हैं तथा विकास की दृष्टि से काफी पिछड़े हुए होते हैं। इनके निवास स्थान सामान्यतया पहाड़ी या पठारी क्षेत्र होते हैं। इनके अपने रीति–रिवाज होते हैं जो ग्रामीण एवं नगरीय क्षेत्रों में रहने वाले लोगों से काफी सीमा तक भिन्न होते हैं। इसे हम ऐसा क्षेत्रीय समूह

टिप्पणी

कह सकते हैं जो सामान्य भाषा, सामाजिक नियमों एवं आर्थिक कार्यों इत्यादि में समानता के आधार पर एक सूत्र में बंधा हुआ है।

गांव उस क्षेत्र को कहा जाता है जहां पर आर्थिक एवं सामाजिक दृष्टि से लोग पिछड़े हुए होते हैं। कुछ विद्वान उनको गांव मानते हैं जिनका व्यवसाय प्रमुख रूप से कृषि होता है। इसी कारण कृषक एवं ग्रामीण को पर्याय रूप में प्रयोग किया जाता है।

समाज की गतिविधियाँ कभी भी समान नहीं होती। यह इसलिये कि समाज की आवश्यकताएँ भी विविध होती हैं। कुछ लोग खेतों में काम करते हैं और बहुत थोड़े लोग उद्योगों में जुटे होते हैं। सच यह है कि समाज में शक्ति होती है। इस शक्ति का बंटवारा कभी भी समान रूप से नहीं हो सकता। सभी व्यक्ति एक जैसा व्यवसाय या नौकरी नहीं कर सकते जैसे सभी व्यक्ति डॉक्टर नहीं बन सकते और सभी व्यक्ति इंजीनियर नहीं बन सकते। यही कारण है कि शक्ति के बंटवारे का यह सिद्धांत ही समाज में गैर–बराबरी पैदा करता है। यह अवश्य है कि किसी समाज में गैर–बराबरी थोड़ी होती है और किसी में अधिक।

मानव समाज उन लोगों का एक समूह है जो एक सामान्य जीवन शैली और संगठन साझा करते हैं। अन्य प्रजातियों के विपरीत, हम समय के साथ सामाजिक व्यवहार और संगठन में जानबूझकर बदलाव के साथ समाजीकरण को जोड़ते हैं।

पशु समाज मुख्य रूप से वृत्ति या प्रतिवर्त व्यवहार पर आधारित है, पशु समाज उन प्राणियों का समाज है जिनके पास बुद्धि, कारण, संस्कृति की कमी है और हजारों वर्षों की उन्नति के बावजूद वे समान स्तर पर बने रहते हैं। यह वृत्ति पर आधारित है। प्रतीकात्मक संचार में असमर्थ होने के कारण, जानवर अपनी संस्कृति को अगली पीढ़ी तक पहुंचाने में असमर्थ हैं।

एक व्यापक शिक्षा प्रणाली, एक नैतिक आधार और सामाजिक जिम्मेदारी को मजबूत आधार प्रदान करने में सहायक होती है जिससे कि समाज में युवा पीढ़ी को आकार देने में मदद मिलती है। संस्कृति और शिक्षा अविभाज्य और एक–दूसरे के पूरक हैं। शिक्षा, जीवन में सांस्कृतिक मूल्यों को उपयोगी बनाने के लिए सहायक है, जबकि संस्कृति शिक्षा के लिए मार्ग प्रशस्त करती है।

समुदाय के उदाहरणों में ग्राम, नगर, जनजाति व राष्ट्र सम्मिलित हैं। मैक्लेवर के अनुसार समुदाय की पहचान यह है कि व्यक्ति के पूरे जीवन का निर्वाह उसमें हो सकता हो। कोई भी व्यक्ति किसी व्यापारिक संगठन अथवा साम्प्रदायिक संस्थान में पूरा जीवन नहीं जी सकता परन्तु जनजाति अथवा नगर में पूरा जीवन जी सकता है। समुदाय की मूलभूत कसौटी यह है कि व्यक्ति के समस्त सामाजिक संबंध इसके भीतर समाये हो सकते हैं। वैसे कोई समुदाय स्व–समर्थ हो सकता है अथवा नहीं भी।

साधारणतया संस्थान शब्द का आशय ऐसे लोगों के समूह से है जिनका कोई विशिष्ट प्रयोजन हो परन्तु सामाजिक अध्ययन हेतु इसका प्रयोग साधारण प्रयोग से सर्वथा भिन्न है। हर समाज को किन्हीं सामाजिक रिवाजों से पहचाना जाता है। अंतर्क्रियाशील सामाजिक प्रणालियों में ये रिवाज अत्यन्त महत्वपूर्ण होते हैं। वस्तुतः ये रिवाज संस्थानीकृत किये गये होते हैं अर्थात ये समाज के सदस्यों में व्यापक रूप से स्वीकार किये गये होते हैं। इस परिदृश्य में ऐसा कहा जा सकता है कि संस्थान

रिवाजों का ऐसा तन्त्र है जिसका लक्ष्य उसे पाना अथवा ऐसी गतिविधि संचालित करना होता है जिसे वहां के लोग महत्वपूर्ण समझते हों।

टिप्पणी

सामाजिक समूह प्रत्येक नगर से लेकर गांव–गांव तक मिल जाते हैं जो कि मानव–जीवन के महत्वपूर्ण तत्व हैं। हमें चारों ओर लोगों के समूहों के रूप में विभिन्न सामाजिक समूह दिख जाते हैं। सामाजिक समूह दो अथवा अधिक व्यक्तियों के बनाये गये होते हैं जो एक–दूसरे से सतत् संवाद करते हैं एवं ऐक्य व साझी पहचान के भाव को साझा करते हैं। इसी कारण लोगों के समूह में सदस्य एक–दूसरे को अपनत्व की दृष्टि से देखते हैं व स्वयं को इस समूह का एक भाग समझते हैं। हम में से प्रत्येक व्यक्ति भिन्न एवं समान कालखण्ड में भी विभिन्न प्रकार के सामाजिक समूहों का भाग होता है।

## 1.11 मुख्य शब्दावली

- **समन्वय** : सामंजस्य।
- **स्वैच्छिक** : स्वयं की इच्छा पर आधारित।
- **अप्रत्यक्ष** : जो दिखाई न दे।
- **परिप्रेक्ष्य** : संदर्भ।
- **कार्यिकी** : क्रियात्मकता।
- **प्रणाली** : प्रक्रिया, विधि।
- **विशिष्टता** : विशेषता।
- **वैयक्तिकता** : निजता।

## 1.12 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

### लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. सामाजिक संरचना से क्या आशय है?
2. समाजशास्त्र को आप विज्ञान कैसे कह सकते हैं?
3. मानव समाज से क्या तात्पर्य है?
4. ऑगस्ट कॉम्टे का सावयवी प्रकार्यवाद क्या है?
5. मानव समाज व पशु समाज में अंतर–निर्धारण के मूलभूत आधार क्या हैं?

### दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. भारतीय सामाजिक संरचना के प्रमुख आधारों का विश्लेषण कीजिए।
2. मानव व पशु समाज में अंतर–निर्धारण कीजिए।
3. समाजशास्त्र के अन्य प्रमुख विषयों से संबंध की विवेचना कीजिए।
4. मानव समाज की प्रकृति का रेखांकन कीजिए।

5. समाज के अध्ययन के दृष्टिकोणों पर प्रकाश डालिए।
6. संस्कृति की भूमिका पर सारगर्भित टिप्पणी लिखिए।

टिप्पणी

## 1.13 सहायक पाठ्य सामग्री

1. Heath Anthony, Ermisch John and Duncan Gallie. 2005. *Understanding Social Change*. Oxford: Oxford University Press.
2. Ahuja, Ram. 2001. *Social Problems in India.* New Delhi: Rawat Publications.
3. Cuber, John. F and Robert A. Harper. 1948. *Problems of American Sociology: Values or Conflict*. New York: Holt.
4. Cooley, Charles Horton. 2019. *Social Process*. Mountain View, California: Creative Media Partners.
5. Berger, P., & Luckmann, T. (1966). The Social Construction of Social Reality. Harmondsworth: Penguin.
6. Blau, P. (ed.). (1975). Approaches to the Study of Social Structure. New York: Free Press.
7. Callinicos, A. (2007) Social theory: a historical introduction. (2nd ed.) Cambridge: Polity.
8. Crothers, Charles (1996) Social Structure. Routledge, London.
9. Dahrendorf, R. (1968). Essays in the Theory of Society. London: Routledge and Kegan Paul.
10. Granovetter, Mark (1995/1973) Getting a job: a study of contacts and careers. 2nd ed. Chicago : University of Chicago Press
11. Giddens, A. (1984). The Constitution of Society. Oxford: Polity Press.
12. Hindess, B. (1989). Political Choice and Social Structure: an analysis of actors, interests and rationality. Aldershott, Hants, UK: Edward Elgar.
13. Lin, N. (2001) Social capital: a theory of social structure and action Cambridge, UK; New York:
14. Martin, Peter J. and Alex Dennis (eds.) (2010) Human Agents and Social Structures
15. Merton, R. K. (1968). Social Theory and Social Structure. Glencoe, Illinois: Free Press.
16. Nadel, S. F. (1957). The Theory of Social Structure. Melbourne: Melbourne University Press.
17. Porpora, D. (1987). The Concept of Social Structure. Westport, CT: Greenwood Press.
18. Searle, John R. (2010) Making the social world: the structure of human civilization. Oxford; New York: Oxford University Press.

# इकाई 2 संस्कृति और समाज

टिप्पणी

## संरचना

2.0 परिचय
2.1 उद्देश्य
2.2 संस्कृति और समाज : मानदंडों की प्रणाली के रूप में संस्कृति एवं संस्कृति की संरचना
  2.2.1 मानदंडों की प्रणाली के रूप में संस्कृति
  2.2.2 संस्कृति की संरचना
2.3 संस्कृति एवं स्वजातीयता
2.4 परसंस्कृति ग्राह्यता
2.5 सांस्कृतिक सापेक्षवाद
2.6 वास्तविक एवं आदर्श संस्कृति
2.7 संस्कृति एवं मानव समायोजन
2.8 व्यक्तित्व और समाजीकरण
2.9 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
2.10 सारांश
2.11 मुख्य शब्दावली
2.12 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
2.13 सहायक पाठ्य सामग्री

## 2.0 परिचय

समाजशास्त्र का संस्कृति (अर्थात् मनुष्य का समाजीकरण) से अटूट संबंध है। भारत विश्व की सबसे प्राचीन एवं समृद्ध संस्कृति वाला देश है। संस्कृति शब्द, संस्कार या संस्कृत शब्द से बना माना जाता है। जन्म से मृत्युपर्यन्त की शुद्धि के आवश्यक संस्कार संस्कृति कहलाते हैं। मनुष्य को समाज में ढालने की प्रक्रिया संस्कृति के अनुसार ही होती है। सामाजिक परिवर्तन लाने में भी संस्कृति का योगदान महत्वपूर्ण है। संस्कृति का अध्ययन स्वजातीयता, सापेक्षवाद एवं मनुष्य के गुणों–संस्कारों के साथ जोड़कर भी किया गया है।

प्रस्तुत इकाई में उपरोक्त बिंदुओं पर प्रकाश डालते हुए उन्हें समाजशास्त्र की विषय–वस्तु की सीमा में विश्लेषित किया गया है ताकि छात्रों को समाजशास्त्र से संबंधित ज्ञान प्राप्त हो सके।

## 2.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- संस्कृति और समाज से जुड़े तथ्यों को समझ पाएंगे;
- मानदंडों की प्रणाली के रूप में संस्कृति का अध्ययन कर पाएंगे;
- संस्कृति की संरचना का विश्लेषण कर पाएंगे;
- संस्कृति एवं स्वजातीयता की व्याख्या कर पाएंगे;

- परसंस्कृति ग्राह्यता एवं सांस्कृतिक सापेक्षवाद का मर्म समझ पाएंगे;
- वास्तविक एवं आदर्श संस्कृति में भेद कर पाएंगे;
- संस्कृति एवं मानव समायोजन का विवेचन कर पाएंगे;
- व्यक्तित्व एवं समाजीकरण की समीक्षा कर पाएंगे।

टिप्पणी

## 2.2 संस्कृति और समाज : मानदंडों की प्रणाली के रूप में संस्कृति एवं संस्कृति की संरचना

समाजशास्त्र का मूल अभिप्राय समाज एवं ज्ञान का संगम है। 'समाजशास्त्र' को एक विज्ञान के रूप में भी समझा जा सकता है तथा इसके अध्ययन की सीमा भी विस्तृत है। समाजशास्त्र को एक पृथक विषय के रूप में समझने के लिए यह आवश्यक है कि उन स्थितियों को समझ लिया जाए जो उस विषय की आवश्यकता की द्योतक होती हैं। स्पष्ट है कि मानव समाज में, मानव का व्यवहार एवं विचार ही दूसरे मानवों को प्रभावित करते हैं। यह प्रभाव स्पष्ट या अस्पष्ट रूप, या दोनों प्रकार से हो सकता है। इस प्रकार मानव अन्य मानवों के साथ अनेक प्रकार के संबंधों को स्थापित करते हुए उन संबंधों का निर्वहन भी करता रहता है। समाजशास्त्र का विषय क्षेत्र बहुत ही विशाल है। समाजशास्त्र में मानव को अनेक तत्वों के साथ भी संयोजित करके देखा जाता है जिससे इस पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव पड़ने की संभावना होती है। इस प्रकार से समाजशास्त्र की सीमा अन्य समाजशास्त्रीय विषयों के साथ भी संबंध स्थापित करती है। इस कारण से समाजशास्त्र का सामाजिक विज्ञान की अन्य शाखाओं के साथ संयुक्त रूप से ही विषय–वस्तु के रूप में अध्ययन करना श्रेयस्कर बन जाता है। सामाजिक विज्ञान की अन्य प्रमुख शाखाएं, जैसे–मानवशास्त्र, मनोविज्ञान, इतिहास एवं अर्थशास्त्र का समाजशास्त्र के साथ समन्वय करते हुए अध्ययन करना नितांत आवश्यक बन जाता है क्योंकि इनके अध्ययन के बिना समाज की वास्तविक स्थिति का आकलन एवं समीक्षा करना बहुत ही कठिन हो जाता है।

### संस्कृति

संस्कृति एक व्यवस्था है, जिसमें व्यक्ति के जीवन के प्रतिमानों, व्यवहारों, अनेकानेक भौतिक एवं अभौतिक प्रतीकों, परंपराओं, विचारों, सामाजिक मूल्यों, मानवीय अंतःक्रियाओं और आविष्कारों को सम्मिलित किया जाता है। वस्तुतः भारत विश्व की सर्वाधिक प्राचीन एवं समृद्ध संस्कृति वाला देश है। अन्य देशों की संस्कृतियां तो समय की धारा के साथ–साथ लुप्त होती रहीं परंतु भारतीय संस्कृति आदिकाल से ही अपने परंपरागत अस्तित्व के साथ कायम रही है। इसकी उदारता तथा समन्वयवादी गुणों ने अन्य संस्कृतियों को समाहित तो किया है, किंतु अपने अस्तित्व के मूल को सुरक्षित रखा है। तभी तो पाश्चात्य विद्वान अपने देश की संस्कृति को समझने हेतु भारतीय संस्कृति को पहले समझने का परामर्श देते हैं।

सामाजिक परिवर्तन लाने में संस्कृति का योगदान महत्वपूर्ण होता है। संस्कृति समाज की ही उपज है और समाज से घुली–मिली धारणा है। कुछ समाजशास्त्रियों ने सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन में अंतर ही नहीं किया है। वेबर एवं सोरोकिन

टिप्पणी

जैसे अनेक विद्वानों ने सामाजिक परिवर्तन में सांस्कृतिक कारकों को महत्वपूर्ण माना है। संस्कृति द्वारा जिस पर्यावरण का निर्माण होता है इसमें उन वस्तुओं को सम्मिलित किया जाता है जिन्हें मानव ने स्वयं बनाया है। संस्कृति एक जटिल अवधारणा है जिसे एक ऐसी व्यवस्था माना जाता है जिसमें व्यवहार के ढंग भौतिक तथा अभौतिक प्रतीक, परंपराएं, ज्ञान, विश्वास, अविश्वास आदि सन्निहित होते हैं। हमारे समाज को क्या शिक्षा दी जाए एवं उस शिक्षा का उद्देश्य क्या हो? इसको निर्धारित करने के अनेक मानदंड हैं।

मनुष्य के व्यक्तित्व की दिशा को संस्कृति ही निश्चित करती है। हालांकि संस्कृति सार एवं निर्देशों को ही इंगित करती है। ये सार एवं निर्देश सामाजिक अन्तर्क्रियाओं के रूप में प्रदर्शित होते हैं। मनुष्य का व्यवहार समाज की संस्कृति के द्वारा ही परिभाषित होता है। समाज की संस्कृति के अनुरूप ही उस समाज के सदस्यों एवं व्यक्तियों का व्यवहार भी होगा। भारतीय समाज में स्त्रियों को सम्मान देने की संस्कृति है जिस कारण व्यक्तियों को स्त्रियों को सम्मान, चाहे या अनचाहे सार्वजनिक रूप से देना ही होता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि मनुष्यों के जीवन निर्वाह की पद्धति के रूप में संस्कृति को लिया जा सकता है। यह मनुष्य को एक सामाजिक प्राणी बनाने के लिए आवश्यक भी होती है। मनुष्य संस्कृति को फिर अपने दैनिक जीवन के व्यवहार में ले आते हैं।

मनुष्य को सामाजिक प्राणी बनाने के लिए, कुछ मूलभूत प्रक्रियाएं अवश्य ही करनी पड़ती हैं। इस संदर्भ में समाज में व्यक्ति, समाज एवं इसकी संस्कृति का अध्ययन करना आवश्यक है। मनुष्य का जन्म तो एक भौतिक शरीर के रूप में इस पृथ्वी पर होता है परंतु जन्म के समय वह एक प्राणी या स्थूल शरीर मात्र है जो पशुवत होता है। उसे यह नहीं पता होता है कि अपनी दैनिक क्रियाएं किस मान्यता के आधार पर संपादित करनी हैं। जन्म के पश्चात समाज में आने पर बच्चा अपने आस–पड़ोस में हो रही क्रियाओं को सीख कर ज्ञान प्राप्त करता है कि किस कार्य को किस प्रकार से करना सामाजिक क्रिया है अथवा उससे एक मान्यता प्राप्त होती है। इससे स्पष्ट है कि मनुष्य को संस्कृति के द्वारा सभ्य एवं सामाजिक बनाया जाता है।

## संस्कृति का अर्थ एवं परिभाषा

संस्कृति शब्द संस्कृत भाषा के 'संस्कृत' शब्द से बना है। सम+कृ+क्तिन् = संस्कृति। संस्कृति को संस्कार का रूपांतरित शब्द मानते हैं। संस्कृति मनुष्य की अमूल्य निधि होती है। संस्कृति एक पर्यावरण है, जिसमें रहकर मनुष्य एक सामाजिक प्राणी बन जाता है एवं प्रकृति को स्वयं के अनुकूल बनाने की क्षमता अर्जित करता है।

संस्कृति का अर्थ है– 'मनुष्य का समाजीकरण'। अतः मनुष्य को समाज के अनुसार ढालने की प्रक्रिया संस्कृति के अनुसार होती है। जब सामाजिक परिवर्तन में

टिप्पणी

सांस्कृतिक एवं संस्कृतिमूलक कारकों की निर्णायक भूमिका होती है तो इसे सांस्कृतिक सामाजिक परिवर्तन कहते हैं।

यह तो स्पष्ट हो गया है कि मनुष्य की समाजीकरण की प्रक्रिया में संस्कृति का योगदान बहुत ही महत्वपूर्ण है। संस्कृति के कारण ही मनुष्य मनुष्यत्व को प्राप्त करता है अन्यथा वह पशुवत रह जाएगा। मनुष्य के व्यक्तित्व को विकसित करने के लिए ही संस्कृति का उपयोग किया जाता है अर्थात व्यक्ति को व्यक्तिवत बनाने की प्रक्रिया में संस्कृति की अंतःक्रियाओं को अनिवार्य रूप से संपादित करना होता है। कुछ विद्वानों के अनुसार संस्कृति की परिभाषाएं निम्न प्रकार हैं–

लिंटन के अनुसार, "संस्कृति समाज के व्यक्तियों के जीवन जीने के मार्ग को प्रशस्त करके जीवन जीने में सहायता करती है। यह प्रक्रिया जीवनपर्यंत चलती रहती है।"

किम्बले यंग के अनुसार, "समाज में पारस्परिक अंतःक्रियाएं करने के लिए संस्कृति दिशा एवं सार प्रदान करने का कार्य करती है।"

रूथ बेनेडिक्ट ने संस्कृति को मनुष्य के व्यक्तित्व के लिए कच्चा माल उपलब्ध करवाने वाला माना है।

लिन्टन ने मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास में संस्कृति की निम्नांकित मान्यताओं को महत्वपूर्ण स्थान दिया है–

- बचपन में बालक जो सीखते हैं वे अनुभव जीवनपर्यंत उनके व्यक्तित्व पर प्रभाव डालते रहते हैं।
- प्रत्येक समाज की संस्कृति दूसरे समाजों से भिन्न होती है।
- समाज में अधिकांश व्यक्ति प्रारंभिक अनुभवों को समान रूप से अनुभव करते हैं।
- एक समान अनुभव, एक समान व्यक्तित्व को उत्पन्न करते हैं।
- समाज में बच्चों के पालन–पोषण की विधियां प्रत्येक समाज में भिन्न–भिन्न होती हैं।
- संस्कृति के अलग होने के कई कारण होते हैं– जैसे भौगोलिक, आर्थिक आदि।
- बाल्यकाल के अनुभव बालक के संभावित व्यक्तित्व को निर्देशित करते हैं।

उपरोक्त आधार पर कहा जा सकता है कि समाज में संस्कृति के अनुरूप ही इसके सदस्यों का व्यक्तित्व भी ढल जाता है।

क्लाइड क्लूकोन का कहना है कि– संस्कृति व्यक्ति द्वारा जीवन निर्वाह करने की एक पद्धति होती है। इस पद्धति को मनुष्य अपने सहयोगी व्यक्तियों के साथ पारस्परिक रूप से साझा करते हैं।

टिप्पणी

संस्कृति के आधार पर मनुष्य यह सोच पाता है कि उसके लिए क्या उपयोगी है अथवा क्या उपयोगी नहीं है। समाज की इसी संस्कृति के आधार पर मनुष्य अपनी जीवन पद्धति को अपनाकर जीवनयापन करते हैं। परंतु मनुष्य एवं पशु में अंतर यही होता है कि मनुष्य अपने व्यवहार का बुद्धि के बल पर उपयोग करता है जबकि पशु अपने मूल स्वभाव के आधार पर क्रियाएं करते हैं। मनुष्य एवं पशुओं में संवेदनाएं तो होती हैं पर मनुष्य अपनी संवेदनाओं के अनुसार सही–गलत का निर्णय करके ही व्यवहार करते हैं जबकि पशु अपने मूल व्यवहार के अनुसार ही क्रिया करते हैं।

मैकाइवर एवं पेज के अनुसार– "संस्कृति हमारे नित्य प्रतिदिन के रहन–सहन, साहित्य, धर्म, कला, मनोरंजन तथा आनंद में पाए जाने वाले विचारों के ढंग में हमारी प्राकृतिक अभिव्यक्ति है।"

संस्कृति की परिभाषा को निम्न प्रकार से सूचीबद्ध किया जा सकता है–

(क) संस्कृति सोचने, अनुभव करने तथा विश्वास करने का एक तरीका है।

(ख) संस्कृति लोगों के जीने का एक संपूर्ण तरीका है।

(ग) संस्कृति व्यवहार का सारांश है।

(घ) संस्कृति सीखा हुआ व्यवहार है।

(ङ) संस्कृति सीखी हुई चीजों का एक भंडार है।

(च) संस्कृति सामाजिक धरोहर है जो कि व्यक्ति अपने समूह से प्राप्त करता है।

(छ) संस्कृति बार–बार घट रही समस्याओं के लिए मानकीकृत दिशाओं का एक समुच्चय है।

(ज) संस्कृति व्यवहार के मानकीय नियमितीकरण हेतु एक साधन है। उपर्युक्त अर्थों में संस्कृति को सामाजिक धरोहर के रूप में स्वीकार करना उचित है जो पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित होती रहती है। यह सीखा हुआ व्यवहार है। मनुष्य भौतिक, मानसिक जगत तथा प्राणिशास्त्र में जो कुछ पर्यावरण से सीखता है उसी को संस्कृति कहा जाता है। संस्कृति में समस्त रीति–रिवाज, प्रथाएं, रूढ़ियां आदि आ जाती हैं, चाहे वे कल्याणकारी हों अथवा न हों।

होबेल की मान्यता है कि– 'वह संस्कृति ही है, जो एक मनुष्य को दूसरे मनुष्यों से, एक समूह को दूसरे समूहों से और एक समाज को दूसरे समाजों से अलग करती है।'

संस्कृति शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है– 'सम' तथा 'कृति'। 'सम' उपसर्ग का अर्थ है अच्छा तथा कृति का अर्थ है करना। इस अर्थ में यह संस्कार का समानार्थक है। हिंदू जीवन में जन्म से लेकर मृत्यु तक अनेक संस्कार होते हैं जिनमें जीवन परिशुद्ध होता है। व्यक्ति की आंतरिक व बाह्य क्रियाएं संस्कारों के अनुसार होती हैं।

टिप्पणी

कल्चर शब्द लैटिन भाषा के शब्द से बना है जिसका अर्थ जोतना अथवा भूमि पर हल चलाना है। जो व्यक्ति परिष्कृत अथवा पढ़ा–लिखा हो उसे सुसंस्कृत कहा जाता है। इस युग में यह शब्द अभिजात वर्गों के लिए प्रयोग किया जाता है जिन्हें असंस्कृत जनसाधारण से अलग किया जाता है।

संस्कृति एक जटिल अवधारणा है जिसे एक ऐसी व्यवस्था माना जाता है जिसमें व्यवहार के ढंग भौतिक तथा अभौतिक प्रतीक, परंपराएं, ज्ञान, विश्वास, अविश्वास आदि सन्निहित होते हैं। संस्कृति सदैव एक ऐसी वस्तु है जिसे अपनाया जा सके, जिसका उपयोग किया जा सके। जिस पर विश्वास हो, जिस पर अनेक व्यक्तियों का अधिकार हो तथा जो अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए संपूर्ण समूह के जीवन पर निर्भर करती है। टॉयलर के अनुसार– संस्कृति एक जटिल समग्रता है जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, आचार, कानून, प्रथा और ऐसी ही दूसरी क्षमताओं और आदतों का समावेश रहता है जिसे मानव समाज का सदस्य होने के नाते प्राप्त करता है।

संस्कृति का अभिप्राय निम्नलिखित बिंदुओं से अधिक स्पष्ट हो जाता है–

- सामान्यतः संस्कृति सीखे हुए व्यवहारों की एक संपूर्णता है। संस्कृति की अवधारणा इतनी विस्तृत है कि उसे परिभाषित करना जटिल है। व्यक्ति द्वारा प्राकृतिक शक्तियों को छोड़कर जितनी भी मानवीय परिस्थितियां हमें प्रभावित करती हैं, उन सभी की संपूर्णता को हम संस्कृति कहते हैं। अतः संस्कृति के इस घेरे का नाम ही 'सांस्कृतिक पर्यावरण' है।
- संस्कृति एक व्यवस्था है, जिसमें व्यक्ति के जीवन के प्रतिमानों, व्यवहार, अनेकानेक भौतिक एवं अभौतिक प्रतीकों, परंपराओं, विचारों, सामाजिक मूल्यों, मानवीय अंतःक्रियाओं और आविष्कारों को सम्मिलित किया जाता है।
- हिंदू दर्शन के अनुसार 'धर्म', 'अर्थ', 'काम' तथा 'मोक्ष' विषयक मानवीय घटनाओं को 'संस्कृति' के अंतर्गत समाहित किया गया। मानव जीवन के दिन–प्रतिदिन के आचार–विचार, जीवन शैली तथा कार्य–व्यवहार को ही संस्कृति कहा जाता है।
- मानव समाज के धार्मिक, दार्शनिक, कलात्मक, नीति विषयक कार्य–कलापों, परंपरागत प्रथाओं, खान–पान, संस्कार इत्यादि के समन्वय को संस्कृति कहा जाता है। अनेक विद्वानों ने संस्कार के परिवर्तित रूप को ही संस्कृति स्वीकार किया है।

## संस्कृति की व्यापकता

समाजशास्त्र में 'संस्कृति' शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में होता है। प्रसिद्ध मानव विज्ञानी 'मैलिनोव्स्की' के अनुसार–

टिप्पणी

मानव जाति की समस्त सामाजिक विरासत या मानव की समस्त संचित सृष्टि का नाम ही संस्कृति है। मानव के द्वारा निर्मित कृत्रिम जगत को ही संस्कृति की संज्ञा दी जाती है। इस कृत्रिम जगत को रचने की प्रक्रिया में संस्कृति के अंतर्गत विचार, भावना, मूल्य, विश्वास, मान्यता, चेतना, भाषा, ज्ञान, कर्म, धर्म आदि सभी अमूर्त तत्व स्वयमेव शामिल हैं, जबकि दूसरी ओर संस्कृति में विज्ञान और प्रौद्योगिकी एवं श्रम से सृजित भोजन, वस्त्र, आवास और भौतिक जीवन को सुविधाजनक बनाने वाले सभी मूर्त–अमूर्त स्वरूप भी शामिल हैं। मानवविज्ञान संस्कृति के अमूर्त स्वरूपों को आध्यात्मिक संस्कृति कहता है। मूर्त स्वरूपों को भौतिक संस्कृति कहा जाता है। इन दोनों संस्कृतियों के संयुक्त विकास से मनुष्य सुसंस्कृत एवं सामाजिक बनता है।

विभिन्न विद्वानों ने संस्कृति की परिभाषाएं निम्न प्रकार से दी हैं–

रेडफील्ड के अनुसार–

"संस्कृति कला और वास्तुकला में स्पष्ट होने वाले परंपरागत ज्ञान का संगठित रूप होती है। यह परंपरा के द्वारा संरक्षित होकर मानव समूह की विशेषता बन जाती है।"

व्हाइट के अनुसार–

"संस्कृति एक प्रतीकात्मक, निरंतर, संचयी एवं प्रगतिशील प्रक्रिया है।"

ई.बी. टेलर के अनुसार–

"उन सभी वस्तुओं के समूह को जिनमें ज्ञान, धार्मिक विश्वास, कला, नैतिकता कानून, परंपराएं तथा वे अन्य सभी योग्यताएं सम्मिलित होती हैं, जिन्हें कोई मनुष्य समाज का सदस्य होने के नाते सीखता है, संस्कृति कहते हैं।"

टी.एस. इलियट के अनुसार–

"शिष्ट व्यवहार, ज्ञानार्जन, कलाओं के आस्वादन इत्यादि के अतिरिक्त वे सब राष्ट्रीय क्रियाएं एवं कार्यकलाप, जो उसे विशिष्टता प्रदान करते हैं, संस्कृति के अंग हैं।"

ओसवाल्ड स्पेनलर के अनुसार–

"सभ्यता संस्कृति की अनिवार्य परिणति है। सभ्यता से किसी संस्कृति की बाहरी चरम एवं कृत्रिम अवस्था का बोध होता है। संस्कृति विस्तार है, तो सभ्यता उसकी कठोर स्थिरता होती है।"

बीरस्टीड के अनुसार–

"संस्कृति एक जटिल संपूर्णता है, जिसमें वे सभी बातें सम्मिलित हैं, जिन पर हम विचार करते हैं और समाज के एक सदस्य के रूप में अपने पास रखते हैं।"

टिप्पणी

ब्रानिस्ला मैलिनोव्स्की के अनुसार–

"संस्कृति एक सामाजिक विरासत होती है, जिसमें परंपरागत कला–कौशल, वस्तु–सामग्री, यांत्रिक कार्य–कलाप, आचार–विचार, प्रवृत्तियां तथा मूल्य समावेशित होते हैं।"

हर्सकोविट्स के अनुसार–

"संस्कृति समस्त सीखा हुआ व्यवहार है। वे चीजें जो मनुष्य के पास हैं, वे चीजें जो वे करते हैं और वह सब जो वे सोचते हैं, संस्कृति है।"

## संस्कृति के लक्षण

संस्कृति के प्रमुख लक्षण निम्नलिखित हैं–

1. **संस्कृति सीखा हुआ व्यवहार होता है**– मनुष्य समाज में रहकर जन्म से मृत्यु तक सीखता रहता है और समाज में अनुभव प्राप्त करता रहता है। यही आगे चलकर संस्कृति का रूप ले लेती है। संस्कृति सामूहिक होती है। समूह के सीखे हुए व्यवहारों को ही संस्कृति कहा जाता है।
2. **हस्तांतरणशीलता**– मानव द्वारा सीखा हुआ व्यवहार ही संस्कृति है, यह आने वाली पीढ़ियों को हस्तांतरित होता रहता है। मनुष्य एक बौद्धिक प्राणी भी होता है, वह इसी ज्ञान के आधार पर अपने सीखे हुए व्यवहार को आने वाली पीढ़ी को हस्तांतरित कर देता है और इस हस्तांतरण का आधार उस समूह के प्रतीक या चिह्न होते हैं, जो कि अत्यंत ही पवित्र समझे जाते हैं। इन प्रतीकों के प्रति समूह की गहरी श्रद्धा होती है। संस्कृति हजारों–लाखों वर्षों के बाद भी हस्तांतरणशीलता के कारण नष्ट नहीं होती है।
3. **सामाजिकता**– मनुष्य के द्वारा संस्कृति का निर्माण होता है और हर मनुष्य में संस्कृति के गुण पाए जाते हैं। प्रत्येक मनुष्य संस्कृति के संबंध में प्रयत्नशील रहता है, किंतु संस्कृति मनुष्यगत नहीं होती, वह सामाजिक होती है। किसी मनुष्य विशेष के गुण संस्कृति नहीं हो सकते। संस्कृति सामाजिक एवं सामूहिक व्यावहारिक गुणों का नाम है। संस्कृति में सभी सामाजिक गुणों का समावेश होता है, जैसे– धर्म, प्रथा, परंपरा, रीति–रिवाज, रहन–सहन एवं कानून आदि।
4. **आदर्शात्मक**– संस्कृति समूह के सदस्यों के व्यवहारों का एक आदर्श रूप होती है। समूह का प्रत्येक सदस्य उसे अपना आदर्श समझता है। संस्कृति में सामाजिक विचार, व्यवहार, प्रतिमान एवं आदर्श प्रारूप होते हैं और इन्हीं के अनुसार कार्य करना श्रेष्ठ समझा जाता है। प्रत्येक समाज अपनी संस्कृति को दूसरे समाजों की संस्कृति से श्रेष्ठ मानता है। इस श्रेष्ठता का आधार उसकी संस्कृति के आदर्श प्रतिरूप ही हैं।

टिप्पणी

5. **सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति**– हम जानते हैं कि आवश्यकता आविष्कार की जननी है और इन्हीं आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जो साधन या उपकरण अपनाए जाते हैं, वे साधन ही संस्कृति का रूप धारण कर लेते हैं। अनेक आवश्यकताएं ऐसी होती हैं, जिनकी पूर्ति अन्य साधनों से न होकर संस्कृति के माध्यम से होती हैं। सामाजिक और प्राणिशास्त्रीय दोनों प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति संस्कृति के द्वारा ही होती है।
6. **संस्कृति में अनुकूलन की क्षमता होती है**– मानव समाज परिवर्तनीय है और इसी के साथ संस्कृति में भी परिवर्तन होता रहता है। इन परिवर्तनों के बीच प्रत्येक संस्कृति को अपने पर्यावरण से अनुकूलन करना पड़ता है। इसके साथ ही, समय की मांग के अनुसार भी संस्कृति को परिवर्तित होना पड़ता है। यह परिवर्तन सतत चलता रहता है।
7. **संस्कृति में समाज के एकीकरण की क्षमता होती है**– संस्कृति के विभिन्न अंग मिलकर सामाजिक समग्रता का निर्माण करते हैं। संस्कृति के कुछ प्रतिमान स्थिर और दृढ़ होते हैं। प्रत्येक संस्कृति अपने अवयवों को एक सूत्र में बांधे रहती है और साथ ही दूसरी संस्कृति के तत्वों को आत्मसात करती रहती है। चूंकि संस्कृति के तत्व एकीकृत रहते हैं अतः इनमें शीघ्र परिवर्तन नहीं हो पाता है।
8. **पृथकता या भिन्नता**– संस्कृति का निर्माण देश, काल और परिस्थिति के माध्यम से होता है। प्रत्येक देश के मनुष्यों की भौतिक आवश्यकताएं अलग होती हैं। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए साधन भी अलग ही होते हैं। विभिन्न देशों के निवासियों की आवश्यकताएं अलग–अलग होती हैं, इस कारण से उनके आचार–विचार और व्यवहार भी अलग–अलग होते हैं। इसी कारण से एक समाज की संस्कृति दूसरे समाज की संस्कृति से पृथक होती है।
9. **अतिवैयक्तिक**– संस्कृति मनुष्यों के आचार–व्यवहार का परिणाम होती है इसीलिए संस्कृति मनुष्य की शक्ति के ऊपर होती है। यह सामूहिक व्यवहार एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक हस्तांतरित होता है। संस्कृति द्वारा मनुष्य के आचार–विचार, रहन–सहन, वेशभूषा प्रभावित होते हैं, जबकि अकेला मनुष्य संस्कृति के मानकों को बदल नहीं सकता है।

## संस्कृति का निर्माण

विश्व की पुरातन एवं समृद्ध संस्कृति भारत की है। विश्व की अन्य संस्कृतियां तो समय की धारा के साथ–साथ लोप होती रहीं, परंतु भारत की संस्कृति आदिकाल से ही अपने परंपरागत अस्तित्व के साथ अजर–अमर बनी हुई है। इसकी उदारता तथा समन्वयवादी गुणों ने अन्य संस्कृतियों को समाहित तो किया है, किंतु अपने अस्तित्व के मूल को सुरक्षित रखा है। तभी तो पाश्चात्य विद्वान अपने देश की संस्कृति को समझने हेतु भारतीय संस्कृति को पहले समझने का परामर्श देते हैं।

टिप्पणी

संस्कृति का निर्माण जिन छोटी–बड़ी इकाइयों से होता है, उन्हीं को संस्कृति के निर्माणक तत्व या उपादान कहा जाता है।

होबेल के अनुसार– "एक संस्कृति–तत्व व्यवहार का रूप या इस व्यवहार से उत्पन्न एक भौतिक वस्तु है, जिसे सांस्कृतिक व्यवहार की सबसे छोटी इकाई माना जाता है।"

संस्कृति–तत्व के महत्व को बताते हुए थोबेन्क ने लिखा है–

"संस्कृति–तत्व उन ईंटों के समान हैं, जिनके द्वारा संपूर्ण समाज की संस्कृति का निर्माण होता है। भौतिक अभौतिक क्षेत्र में संस्कृति–तत्व उन सभी वस्तुओं, जिनका कार्यात्मक दृष्टिकोण से और अधिक विभाजन नहीं किया जा सकता है, संस्कृति–तत्व में परिवर्तन तथा गतिशीलता होती है। लेकिन केवल अकेला संस्कृति–तत्व मनुष्य की किसी आवश्यकता की पूर्ति करने में सक्षम नहीं होता। जब अनेक संस्कृति–तत्व परस्पर उद्देश्यपूर्ण तरीके से संयुक्त हो जाते हैं, तभी वे मनुष्य की किसी विशेष आवश्यकता को पूर्ण कर पाते हैं।"

## संस्कृति की समग्रता

जब अनेक संस्कृति–तत्व व्यवस्थित रूप से संयुक्त होकर मनुष्य की किन्हीं आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं, तब संस्कृति–तत्वों के इस संयुक्त रूप को संस्कृति की समग्रता कहते हैं।

होबेल के अनुसार– "मानव संस्कृति समग्रता पारस्परिक घनिष्ठ रूप से संबंधित संस्कृति–तत्वों का एक जाल है।"

सदरलैण्ड एवं वुडवर्ड के अनुसार– "मानव संस्कृति समग्रता अनेक संस्कृति–तत्वों की वह संपूर्णता है, जो अर्थपूर्ण संबंधों द्वारा परस्पर समावेष्टित रहते हैं।"

इस प्रकार संस्कृति की समग्रता तत्वों की एक कड़ी होती है। यह कड़ी अनेक सांस्कृतिक नियमों के अनुसार व्यवस्थित होती है। इसका निर्माण करने वाले सभी तत्व आपस में संबंधित होते हैं।

## संस्कृति के प्रतिमान

हर्सकोविट्स के मतानुसार– "संस्कृति शब्दों का वह रूप, जो एक समाज के सदस्यों के व्यवहार–प्रतिमानों के माध्यम से व्यक्त होते हुए जीवन की विधि को एकरूपता, निरंतरता और विशिष्ट रूप देते हैं, संस्कृति के प्रतिमान कहलाते हैं।"

रूथ बेनेडिक्ट के अनुसार– "संस्कृति के अनेक उपविभागों से बनने वाले महत्वपूर्ण अंगों को ही संस्कृति के प्रतिमान कहते हैं।"

सदरलैण्ड एवं वुडवर्ड कहते हैं– "जब अनेक संस्कृति–समग्रता परस्पर संबंधित होकर एक विशेष संस्कृति का सामान्य रूप प्रस्तुत करने लगती है, तब इसी संबद्धता को हम संस्कृति के प्रतिमान कहते हैं।"

टिप्पणी

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि संस्कृति के प्रतिमान अनेक संस्कृति समग्रों का एक व्यवस्थित संगठन है। उदाहरण के लिए भारत में जाति प्रथा, संस्कार, कर्म सिद्धांत जैसे कुछ विशेष संस्कृति–प्रतिमान हैं, जो एक बड़ी सीमा तक भारतीय संस्कृति के एक सामान्य रूप को प्रस्तुत करते हैं।

## संस्कृति–क्षेत्र

क्लार्क विसलर के अनुसार– "संस्कृति–क्षेत्र का अर्थ उस भौगोलिक प्रदेश से है, जिसमें अनेक जनजातियां तुलनात्मक रूप से समान सांस्कृतिक विशेषताओं के साथ स्वतंत्र रूप से निवास करती हैं।"

अर्थात प्रत्येक संस्कृति से संबंधित संस्कृति–समग्रों तथा संस्कृति–प्रतिमानों का एक निश्चित क्षेत्र एवं सीमा होती है। इसी सीमा क्षेत्र से उसका प्रसार एक विशेष भौगोलिक क्षेत्र में हो जाता है। जिस भौगोलिक क्षेत्र में लगभग समान सांस्कृतिक विशेषताएं विद्यमान होती हैं, उसको हम एक संस्कृति–क्षेत्र कहते हैं।

## संस्कृति की विशेषताएं

संस्कृति को समाज का दर्पण एवं आधार के रूप में देखा जाता है। संस्कृति के द्वारा ही व्यक्ति एवं व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास होता है। ऐसी स्थिति में संस्कृति, इसकी विशेषताओं एवं चरित्र का सम्यक ज्ञान, समाजशास्त्रीय एवं सामाजिक दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण होता है। संस्कृति की प्रकृति का ज्ञान होने पर हम यह जान सकते हैं कि समाज के विभिन्न अंगों में विभिन्नता के क्या कारण हैं अर्थात समाज में सांस्कृतिक विभिन्नता क्यों होती है। अतः हम कह सकते हैं कि विभिन्न समाजों की संस्कृतियों में विभिन्नता पाई जाती है। संस्कृति का चरित्र यह होता है कि वह समाज में एकजुटता एवं सामूहिक समूह भावना को बनाए रखने में योगदान करती है।

संस्कृति के द्वारा मनुष्य की पहचान होती है। संस्कृति की विभिन्न प्रकार की विशेषताएं निम्नलिखित हैं–

1. संस्कृति मनुष्य के समाजीकरण की एक प्रक्रिया होती है।
2. संस्कृति में निरंतरता होती है।
3. संस्कृति एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक चलती रहती है।
4. समाज में अलग–अलग संस्कृतियां पाई जाती हैं।
5. समाज की पहचान उसके द्वारा अपनाई गई संस्कृति के आधार पर की जाती है।
6. अलग–अलग समाज की संस्कृतियों में पारस्परिक संघर्ष होता रहता है।
7. संस्कृति सामाजिक नियंत्रण के साधन के रूप में कार्य करती है।
8. संस्कृति के द्वारा मनुष्य अपने पूर्वजों द्वारा सीखे गए ज्ञान का उपयोग, अपने जीवन को सरल एवं सुखमय बनाने के लिए करते हैं।

टिप्पणी

9. शिक्षा के कारण स्थापित सांस्कृतिक मान्यताओं में परिवर्तन होते रहते हैं।
10. प्रत्येक समाज अपनी संस्कृति का पोषण एवं निर्वाह करना चाहता है।
11. संस्कृति एक सामूहिक प्रक्रिया है जिसको सामाजिक समूह अपने आचरण, व्यवहार एवं रहन–सहन में निर्वाहित करते हैं।
12. संस्कृति, ज्ञान के आधार पर स्थापित की गई मान्यताएं हैं जो मनुष्य को एक सामाजिक प्राणी बनाकर रखने में सहायक होती हैं।
13. संस्कृति का प्रसार होता है।
14. संस्कृति अगर परिवर्तनशील एवं ग्राह्य हो तो इसका प्रसार बड़े पैमाने पर एवं वैश्विक हो सकता है।
15. समाज में वही संस्कृति अपना अस्तित्व बनाकर रख सकती है जो समस्त मानव समाज के सर्वथा हित एवं कल्याण में है।
16. जो संस्कृति बिना वैज्ञानिक आधार वाली एवं शोषण पर केंद्रित होती है उसका धीरे–धीरे विलोप हो जाता है।
17. उच्च वर्ग की संस्कृति का अनुमान निम्न जातियां करना चाहती हैं।

संस्कृति समाज में एकजुटता बनाकर रखती है एवं जो व्यक्ति एक ही संस्कृति से संबंधित होते हैं उनमें पारस्परिक मैत्रीपूर्ण क्रियाएं होती हैं।

उपरोक्त के साथ यह भी सत्य है कि संस्कृति की कुछ कमियां भी होती हैं। भारतीय समाज इसका एक विशेष उदाहरण है। भारत की संस्कृति में अनेक ऐसी मान्यताएं एवं प्रथाएं प्रचलन में रही हैं जो सभ्य समाज में स्वीकार्य नहीं हैं। इन सांस्कृतिक विशेषताओं एवं इन पर आधारित मान्यताओं का विज्ञान के विकास के साथ–ही पतन एवं विलोप होता चला गया। अब संस्कृति से संबंधित हमारी कतिपय मान्यताएं अतीत का अंग मात्र हैं, जैसे–

- बाल विवाह।
- सती प्रथा।
- स्त्रियों में पर्दा प्रथा।
- छुआछूत एवं अस्पृश्यता।
- अंधविश्वासों पर आधारित प्रथाएं– भूत–प्रेत आदि में विश्वास।
- बहुपत्नी विवाह।
- विधवा विवाह निषेध।
- भूदासों की परंपरा।
- रजवाड़े।

टिप्पणी

- दलितों का मंदिरों में वर्जित प्रवेश।
- जातिगत व्यावसायीकरण।
- जनजातीय एवं वन्य समाज।
- जादू–टोना।
- कुलीन समुदायों का समाज पर सर्वथा वर्चस्व।
- धर्मभीरुता।
- जड़ता।

संस्कृति समाज का समाजीकरण करती है इसमें किसी प्रकार का कोई संदेह नहीं है एवं इसके द्वारा समाज में निरंकुशता समाप्त होकर नागरिक कल्याण की भावना निहित होती है। संस्कृति की विशेषता इसी में है कि यह समाज को सामाजिक जीवंतता प्रदान करे, मनुष्य को पशु भाव से मुक्ति दिलाए। संस्कृति के कारण ही मनुष्य समाज में अपना आचरण निर्धारित करता है। भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषता यह रही है कि इसमें मानवीय मूल्यों एवं संवेदनाओं को सदैव प्राथमिकता दी गयी है। भारतीय संस्कृति का उदय ही धार्मिक आधार पर हुआ है। प्राचीन भारतीय मानवीय व्यवस्था में यही संस्कृति आरूढ़ रही कि समस्त विश्व का कल्याण हो, प्राणियों में सौहार्द्र एवं प्रेम की भावना प्रबल हो। इस संस्कृति के वाहक भारतीय दर्शनशास्त्र एवं वेद–पुराण भी हैं। 'वसुधैव कुटुंबकम्' की संस्कृति भारतीय समाज की ही परिकल्पना है जिसमें मनुष्यों को यही शिक्षा दी जाती रही है कि समस्त विश्व के प्राणियों को इस प्रकार से प्रेम करो जैसे आप स्वयं से एवं अपने परिवार के सदस्यों के साथ करते हैं।

## संस्कृति के प्रकार

सोरोकिन के अनुसार संस्कृति के तीन स्वरूप निम्नलिखित हैं–

### 1. भावात्मक संस्कृति

मनुष्य के विचार, भावना, नैतिकता, सामाजिक मूल्यों एवं आदर्शों का भावात्मक विकास भावात्मक संस्कृति के ही कारण होता है।

भावात्मक संस्कृति का उद्देश्य मनुष्य को भौतिक सुख के स्थान पर भावनाओं से जुड़े हुए सुख को प्रदान कराना है। इस संस्कृति की विशेषता यह है कि इससे मनुष्य को यह शिक्षा दी जाती है कि भौतिक सुख तो क्षणिक होता है परंतु भावनाओं के साथ जुड़ा हुआ सुख निरंतर एवं स्थायी प्रकृति का होता है। इस संस्कृति का निर्धारक तत्व आध्यात्मिकता है। आध्यात्मिकता में मनुष्य का भौतिकता से दूर रहने की शिक्षा दी जाती है। भावात्मक संस्कृति का लक्ष्य, मनुष्य का परमानंद या परमात्मा या परमशक्ति के साथ एकाकार करा देना है। वास्तव में देखा जाए तो भारतीय आध्यात्मिक दर्शनशास्त्र का भी यही उद्देश्य है जिसमें मनुष्य को एक नाशवान या नश्वर जीव की संज्ञा दी गई है। जब मनुष्य है ही नाशवान तो फिर भौतिक सुख का क्या प्रयोजन?

टिप्पणी

इसलिए आध्यात्मिकता मानव को यही ज्ञान देती है कि किसी ऐसे सुख की कल्पना की जाए जो कालातीत हो, निरातीत हो अर्थात जिसकी कोई समयबद्ध सीमा नहीं हो। भावात्मक संस्कृतिमूलक ज्ञान का प्रयोजन मनुष्य को ईश्वरीय शक्ति में आस्था रखने के बारे में सचेत करना होता है। यह संस्कृति इस तथ्य पर विश्वास करती है कि सत्य वही है जिसे मानव आत्मा सहर्ष स्वीकार कर ले। इसी प्रकार ज्ञान भी वही होता है जिससे ईश्वर का बोध हो। कानून भी ऐसा होना चाहिए जो कि मनुष्य के नैतिक आदर्शों से पूर्ण हो। दर्शनशास्त्र, कला एवं साहित्य ईश्वर तक पहुंचाने में सहायक सांस्कृतिक तत्व हैं। इस संस्कृति की ठोस एवं प्रबल मान्यता यही है कि यह ईश्वर के परम सत्य को प्राप्त करने के लिए विभिन्न मार्गों का उल्लेख करके उन पर चलने के उपयुक्त मार्ग भी सुझाती है। कहा भी गया है कि– 'जिन खोजा तिन पाइयां'।

भावनाओं एवं भावों का संबंध मन एवं हृदय से है, इस कारण इस मनोवैज्ञानिक अवधारणा को ध्यान में रखते हुए इस संस्कृति का कायाकल्प, समयांतर में हुआ। मानव में इच्छाएं उत्पन्न करने के स्रोत मन एवं हृदय हैं। इसी कारण यह संस्कृति मन पर विजय प्राप्त करने की आवश्यकता पर बल देती है। भारत के प्राचीन समाज में व्यक्तियों को यही शिक्षा दी जाती थी कि मानसिक शांति ही परम शांति एवं परमानंद की स्थिति है। अतः मन को सांसारिकता एवं भौतिकता से दूर रहने की सीख दी जाती थी। भारत के प्राचीन समय में राम राज्य की कल्पना का भी संभवतः यही आधार था कि उस समय की सामाजिक शिक्षा आदर्श एवं नैतिक मूल्यों पर आधारित थी। संस्कृति के निर्वहन के लिए मनुष्यों को उन सभी प्रकार के प्रपंचों से दूर रखने की शिक्षा दी जाती थी जो उन्हें सांसारिकता एवं भौतिकता के मायाजाल में फंसाने का कार्य करते थे। परंतु यह आवश्यक भी नहीं कि समाज के सभी व्यक्ति एक जैसा आचरण करें। व्यक्ति का आचरण एवं व्यवहार तो मनुष्य की मूल प्रवृत्ति के द्वारा ही निर्धारित होता है। तथापि संस्कृति आधारित इस प्रकार की आध्यात्मिक शिक्षा ने समाज पर बहुत महत्वपूर्ण–नियंत्रण स्थापित करके रखा। अशोक महान एवं सिकंदर जैसे राजाओं का हृदय परिवर्तन भी इसी विचारधारा का फल है वरना कौन जानता है कि इन राजाओं की महत्वाकांक्षा के कारण समाज एवं सभ्यता की क्या स्थिति होती?

## 2. संवेदनात्मक संस्कृति

सोरोकिन ने 'समाज एवं सामाजिक गतिशीलता' नामक पुस्तक के चार खंड प्रकाशित किए जिसमें उन्होंने संस्कृति एवं सांस्कृतिक परिवर्तन पर बहुत गहरा वैज्ञानिक शोध कार्य किया। संभवतः इसी कारण उन्होंने 1946 में परमार्थवाद को अपना अध्ययन क्षेत्र बना लिया एवं मनुष्य की पुनर्रचना के संबंध में लिखने लगे।

सोरोकिन ने संवेदनात्मक संस्कृति को भौतिकवादी संस्कृति की श्रेणी में रखकर अपने तथ्य एवं तर्क प्रस्तुत किए।

सोरोकिन एवं लुंडेन के अनुसार– "संवेदनात्मक संस्कृति में सत्य, वास्तविकता एवं मूल्य इंद्रियजनक या भौतिक आधार पर होते हैं। इस संस्कृति में यह मान्यता है कि मानव द्वारा ज्ञानेंद्रियों के द्वारा अनुभव किए गए वास्तविक मूल्यों एवं वास्तविकता से बढ़कर कोई अन्य सत्य नहीं है।" (पी.ए. सोरोकिन एवं डब्ल्यू. लुडेन, 'पावर एंड मोरालिटीः हू शैल गार्ड द गार्जियंस', पेज–110)

टिप्पणी

संवेदनात्मक या संवेदनाओं पर आधारित संस्कृति में अध्यात्मवाद को रुकावट माना जाता है। संवेदनात्मक संस्कृति के प्रमुख उपादान निम्नलिखित हैं–

- विकास पर आधारित विज्ञान
- विधि एवं सूत्र
- कला एवं साहित्य
- विचार एवं आचार
- सामाजिक आदर्श
- वास्तविकता पर आधारित यथार्थवादी आचरण।

संवेदनात्मक संस्कृति में मानव की आवश्यकताओं को भौतिक साधनों के द्वारा पूर्ण किया जाता है, अर्थात् शरीर के द्वारा ही मनुष्य अपनी संवेदनाओं को महसूस कर सके। शरीर के संवेदनशील अंगों जैसे–जैसे नाक से सूंघना, त्वचा से स्पर्श करना, जिह्वा से चखकर, नेत्रों से देखकर एवं कानों से सुनकर यथार्थ का वास्तविक बोध कर पाए। मनुष्य की संवेदनाएं मानव शरीर से संबंधित होती हैं। जब मनुष्य अपने शरीर से विश्व की भौतिक वस्तुओं का बोध करता है तो उसे ही वास्तव में सुख एवं आनंद समझता है। इस प्रकार की संस्कृति में सभी मनुष्य यही सोचकर सीखते एवं शिक्षा ग्रहण करते हैं जिससे भौतिक एवं वास्तविक आधार पर जीवन यापन किया जाए। तदनुसार भौतिक आवश्यकताएं भी भौतिक वस्तुओं के द्वारा ही अर्जित की जाती हैं। मनुष्य भौतिकवादी सोच एवं आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए आजीवन संसाधन एवं सुविधाएं जुटाते रहते हैं, संचय करते हैं एवं उपभोग करते हैं। जब मनुष्य इस प्रकार की भौतिक आवश्यकताओं पर आधारित जीवन पद्धति अपनाते हैं तो उनकी पूरी शिक्षण व्यवस्था एवं ज्ञानार्जन भी इसी आधार पर निर्मित होता है। हमारा वर्तमान पूंजीवादी समाज इसी अवधारणा की संस्कृति की पद्धति में जीवनयापन कर रहा है।

व्यक्ति को इसका आभास कराया जाता है कि यह संसार भौतिक है एवं इस संसार में कुछ भी पारलौकिक नहीं है। इसलिए व्यक्तियों में व्यक्तिवाद एवं स्वार्थ की भावना का आधिक्य हो जाता है। व्यक्ति समाज में व्यक्ति केंद्रित होकर रहते हैं। समाज में यह संस्कृति हावी होती है कि पहले स्वयं का स्वार्थ पूरा करो फिर दूसरों के बारे में सोचना चाहिए। आधुनिक नगरीय सामाजिक व्यवस्था में यही देखने को मिलता है तो उन लोगों की भावनात्मक सोच एवं भावनाओं को ठेस पहुंचती है। इस समय भावनात्मक संस्कृति के आधार पर पले–बढ़े व्यक्तियों को अपार मानसिक कष्ट होता है। इसी कारण से हम देखते हैं कि आज की युवा पीढ़ी तो भौतिकवादी संस्कृति को अपना कर अपना जीवनयापन कर रही है एवं भौतिकता के आधार पर अपने जीवन स्तर में परिवर्तन भी कर लेती है, वहीं पर जब युवा पीढ़ी का संपर्क अपने बाबा–दादी से होता है, जो भारत की परंपरागत जीवन–शैली एवं संस्कृति के वाहक रहे हैं, तो पुरानी पीढ़ी अवाक रह जाती है। तब बुजुर्गों की भावनाओं को ठेस पहुंचती है और वे कहते हैं कि आजकल की पीढ़ी निरंकुश, नास्तिक एवं संस्कृतिविहीन हो गई है। हमने अपने बच्चों को तो धार्मिक एवं भावनात्मक आधार पर शिक्षा व नैतिक ज्ञान दिया था परंतु हमारी संतान तो नाकारा निकल गई और पाश्चात्य संस्कृति एवं आधुनिकता को

अपना रही है। परंतु पुरानी पीढ़ी के लोग यदि यह समझ लेते कि यह दोष इस युवा पीढ़ी का नहीं है वरन् समय एवं सामाजिक परिवर्तन की अनिवार्य प्रक्रिया का है, तो वे उसके साथ एक अनुकूल संबंध विकसित कर सकते थे।

टिप्पणी

भौतिकवादी समाज के अंदर कानून व्यवस्था भी वैधानिक हो जाती है अर्थात समाज का नियंत्रण प्रत्यक्ष रूप से भौतिक एवं व्यवहारगत हो जाता है। यदि समाज में किन्हीं दो व्यक्तियों के मध्य कोई विवाद है तो उसे सामूहिकता एवं सामूहिक बीच–बचाव के द्वारा हल करने के प्रयास नहीं किए जाते वरन् दोनों पक्ष तुरंत कानून एवं पुलिस का आश्रय लेते हैं। सरकार ने भी ऐसी संस्थाएं बना दी हैं जो इस भौतिकवादी समाज के ही अनुरूप हों। हमें यह सिखाया जाता है कि कोई विवाद या झगड़ा या दुर्घटना घटित हो तो उसकी सूचना तुरंत ही पुलिस कंट्रोल रूम को दी जाए या '100' नंबर डायल करो पुलिस तुरंत कार्यवाही सुनिश्चित करेगी।

### 3. आदर्शात्मक संस्कृति

समाज में एक पीढ़ी का दूसरी पीढ़ी के साथ संघर्ष देखने को मिलता है। जैसा कि हमने पहले देखा कि दादी–दादा अपने नाती–पोतों के व्यवहार से आहत होते हैं एवं इसका उत्तरदायित्व आज की गिरती हुई संस्कृति एवं आधुनिकता पर डालते हैं, परंतु वास्तविकता यह है कि इन दोनों पीढ़ियों की सांस्कृतिक शिक्षण प्रणाली में संस्थागत भिन्नता होती है। दादा–दादी ने सरकारी विद्यालयों में गुरु–शिष्यों की परंपरा के माध्यम से शिक्षा कार्य संपन्न किया जहां पर शिक्षक को विशेष स्थान प्राप्त था एवं पूरा समाज उन्हें सम्मान देता था। 'मास्टर साहब' का पूरे समाज में अद्‌भुत सम्मान था। 'मास्टर साहब' अपने छात्रों को शिक्षा के साथ–साथ नैतिक मूल्यों, आचरण, उच्च विचार एवं धार्मिक संस्कृति पर आधारित हर प्रकार का ज्ञान देने का प्रयास करते थे। ये शिक्षक छात्रों को उचित शारीरिक दंड भी देते थे। इससे छात्र एवं अभिभावक को किसी प्रकार की कोई आपत्ति नहीं होती थी। दोनों पक्षों की इस पर समझ थी कि 'गुरुजी' जो भी करेंगे छात्र हित में ही करेंगे। परंतु आज स्थिति पूर्णतया भिन्न है। बच्चे कान्वेंट स्कूलों में भारी–भारी बैग टांगकर जाते हैं और 'मैडम' एवं 'सर' से कोचिंग लेते हैं। ये टीचर बच्चों को विषय का अध्ययन करवाते हैं, उन्हें बच्चों की नैतिकता एवं व्यावहारिकता से कोई सरोकार नहीं होता। अंतर पीढ़ी का यह संघर्ष संस्कृति की भिन्नता के कारण से होता है।

सोरोकिन का विचार यह है कि कोई ऐसी व्यवस्था भी विद्यमान है जो भावात्मक और संवेदनात्मक संस्कृतियों के बीच की संस्कृति हो। इसी तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए सोरोकिन ने आदर्शात्मक संस्कृति की व्यवस्था का उल्लेख किया है। यह व्यवस्था दो विपरीत संस्कृतियों के मध्य समन्वय स्थापित करने में सहायक भूमिका का निर्वाह करती है। जब किसी एक बिंदु पर मतैक्य नहीं होता तो हम ऐसा प्रयास करते हैं कि दो विपरीत अवधारणाओं में से मध्यस्थ–भूमिका का चयन कर लेते हैं। यही समन्वय एवं सामंजस्य होता है। हमें पता है कि मनुष्य को सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने के लिए अनेक प्रकार के समायोजन स्थितियों के अनुसार करने ही पड़ते हैं। उदाहरण के लिए आज की भारतीय संस्कृति एक मिश्रित प्रकार की संस्कृति है। जिस प्रकार से

टिप्पणी

भारतीय भाषा में हिंदी का स्थान खिचड़ी–स्वरूपा हो गया है, ठीक उसी प्रकार से भारतीय संस्कृति भी मिश्रित हो गई है। यह कहना कि कौन–सी संस्कृति भारतीय है एवं कौन–सी विदेशी है, मुश्किल है। उदाहरण के लिए आज का लगभग संपूर्ण युवावर्ग विदेशी परिधान पहनता है एवं हेयर स्टाइल रखता है। भारतीय संस्कृति में शुद्ध एवं सात्विक भोजन की परंपरा थी। भारतीय संस्कृति में भोजन करने एवं परोसने के विशेष विधान थे। परंतु समय चक्र के परिवर्तन के साथ भारतीय भोजन की संस्कृति भी मिश्रित हो चली है। अब समाज में भोजन का कोई नियम, समय एवं स्थान निश्चित नहीं है।

उपरोक्त उदाहरण से सोरोकिन की आदर्शात्मक संस्कृति की अवधारणा की पुष्टि भी हो जाती है और संस्कृतियों के आदान–प्रदान एवं प्रसार की अव्यवस्था भी स्पष्ट हो जाती है। सोरोकिन ने व्यवहार में उस संस्कृति का उल्लेख किया है जो भावात्मक एवं संवेदनात्मक संस्कृति के मध्य एक असंतुलित योग को प्रकट करती है। अर्थात यह एक बेमेल बंधन होता है जो एक स्पष्ट विभाजक रेखा द्वारा देखा जा सकता है। यदि संस्कृतियों में संतुलन उचित रूप से हो जाए तो ऐसी संस्कृति को मिश्रित नहीं कहा जा सकता वरन आदर्शात्मक संस्कृति कहा जाएगा। आप देखते हैं कि शहरी जीवन में व्यक्तियों को रहन–सहन, खान–पान, महिलाओं के प्रति सोच, शिक्षा के प्रति जागरूकता एवं अपने अन्य अधिकारों के बारे में पता है। इसी के साथ शहरी लोग अपने पैतृक स्थानों को भी नहीं भूलते। वर्ष में जब भी कोई तीज–त्योहार आता है तो उसे धूमधाम से मनाते हैं। उदाहरण के लिए महाराष्ट्र की राजधानी मुम्बई, भारत की राजधानी दिल्ली, कर्नाटक की राजधानी बेंगलूरू में आधुनिक पाश्चात्य संस्कृति पर आधारित जीवनशैली पर जीवन जीने वाले उच्चवर्ग, मध्यमवर्ग हैं। वहां पर गणेश उत्सव, दुर्गा पूजा, राम लीला एवं दशहरे का पारंपरिक भारतीयपन अभी भी बना हुआ है। यह एक वास्तविक आदर्शात्मक संस्कृति की अद्‌भुत मिसाल है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि कोई भी संस्कृति पूर्णतः विलुप्त नहीं होती और न ही पूर्ण रूप से हावी होती है। अगर ऐसा होता तो आधुनिकता के समय में भारतीय त्योहारों का महत्व समाप्त हो जाता।

यहां यह स्पष्ट करना भी अनिवार्य है कि जिस संस्कृति में मानव का हित नहीं होगा या आंशिक हितार्थ होगा एवं कुछ अवैज्ञानिक आधार होंगे तो वह संस्कृति क्षय को प्राप्त हो जाएगी जैसे कि कुछ स्वार्थी समूह अपने एवं अपने समूह के हितों के लिए समाज में कुछ भ्रांतियां फैलाकर लोगों की भावनाओं का शोषण करते हैं। परंतु समय एवं शिक्षा के परिवर्तन के कारण इन भ्रांतियों का लोगों को ज्ञान हो जाता है। उस स्थिति में समाज इन भ्रांतियों को त्याग देता है। अनेक समाजों में जादू–टोना, ताबीज एवं मंत्रादि के प्रभाव से बीमारियां ठीक करना एक सामान्य संस्कृति का अंग है। परंतु शिक्षा के प्रसार एवं वैज्ञानिक आविष्कारों ने इन भ्रांतियों को गलत सिद्ध कर दिया। शहरी एवं शिक्षित समाज अब झूठे जादू–टोने, तांत्रिकों के चंगुल में नहीं फंसता। भारत गांवों का देश है एवं भारत की पहचान गांवों से ही होती है। अभी भी ग्रामीण समाज की शिक्षा का स्तर अत्यंत अवैज्ञानिक है जिस कारण से अंधविश्वासों पर आधारित अनेक बातें अक्सर सुनने में आती रहती हैं। इसका कारण लोगों में इन अवैज्ञानिक क्रियाओं की व्यावहारिकता है।

टिप्पणी

सोरोकिन ने इन्हीं उतार–चढ़ावों के संदर्भ में सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या की है। उनका कथन है कि–

"विकास की चरम सीमा के पश्चात भी, विकास की गति थमती नहीं है, वरन और बेहतर की तरफ अग्रसर रहती है।"

उपरोक्त व्याख्या के आधार पर निम्नलिखित बिंदु उभरकर सामने आते हैं–

- सोरोकिन ने परिवर्तन की स्वाभाविकता की व्याख्या की है।
- परिवर्तन के स्रोत के रूप में सोरोकिन ने अंतःस्थ परिवर्तन का सिद्धांत चिह्नित किया है। इसके अनुसार उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि परिवर्तन का स्रोत प्राकृतिक है।
- परिवर्तन की समस्त शक्ति स्वयं पदार्थ अर्थात भौतिक वस्तुओं के अंदर ही निहित रहती है।
- समाज एवं संस्कृति के अंदर विकास की अनन्य क्षमताएं निहित होती हैं।

मनुष्य का प्राकृतिक स्वभाव है जन्म लेना, युवा होना एवं वृद्धावस्था के पश्चात मृत्यु को प्राप्त हो जाना। इसी तर्ज पर सोरोकिन ने संस्कृति में होने वाले परिवर्तनों को भी देखा है, अर्थात् किसी संस्कृति का उदय होता है, उत्थान होता है और अंत में पतन भी हो जाता है।

- मनुष्य के बाह्य स्वभाव संस्कृति को प्रभावित करते रहते हैं जो कि मनुष्य की मूल प्रवृत्ति से संबंधित होते हैं।
- संस्कृति में उतार–चढ़ाव होते रहना एक वास्तविक एवं यथार्थ घटनाक्रम है।

सोरोकिन के विचार मार्क्स, एंजेल्स के प्राकृतिक एवं भौतिक द्वंद्वात्मकता के सिद्धांतों से मेल खाते हैं। परंतु सोरोकिन के विचारों एवं अध्ययनों को लेकर अनेक समाजशास्त्रियों ने अनेक प्रश्न भी उठाए हैं एवं उनके मॉडल की कमियों को भी प्रस्तुत किया है। इन वैज्ञानिकों की निम्नांकित आलोचनाएं हैं–

- ऐतिहासिक घटनाओं में उनके वास्तविक ऐतिहासिक संदर्भ के साथ कृत्रिमता का समावेश किया गया है। परंतु घटनाक्रम का समय परिवर्तित कर देने से घटना का न होना सिद्ध नहीं होता है अतः सोरोकिन ने कृत्रिमता के आरोप को खंडित कर दिया।
- परिवर्तन के स्रोत के रूप में सोरोकिन ने अंतःस्थ परिवर्तन का सिद्धांत बताया है। इस सिद्धांत में बताया गया है कि परिवर्तन संस्कृति का प्राकृतिक गुण होता है एवं संस्कृति में निहित शक्तियां ही परिवर्तन के लिए उत्तरदायी होती हैं। परंतु सोरोकिन इन शक्तियों को सूक्ष्मता से परिभाषित करने में असफल रहे।
- सोरोकिन द्वारा पश्चिमी संस्कृति के बारे में दिए गए कथनों पर गंभीर आपत्तियां हैं।

यह कहा जाता है कि सोरोकिन भौतिकवादी पश्चिमी संस्कृति के समर्थक नहीं थे। इसलिए सोरोकिन के तर्कों को मनुष्य की भावनाओं को समझने में असमर्थ बताया

गया है। यदि मनुष्य में से संवेदनहीनता, भावहीनता, पारस्परिक सहयोग, परोपकार की भावनाएं एवं आचरण ही समाप्त हो जाएं तो मनुष्य को सामाजिक प्राणी कहा ही क्यों जाएगा? वह तो साधारण रूप से एक पशु, मशीन या रोबोट जैसा हो जाएगा।

टिप्पणी

## सभ्यता और संस्कृति में अंतर

सभ्यता और संस्कृति में निम्नलिखित अंतर पाए जाते हैं–

- मानव सभ्यता का संबंध जीवनयापन एवं भौतिक सुख–सुविधाओं की बाहरी वस्तुओं से है, जबकि संस्कृति का संबंध जीवनयापन की आंतरिक या भावनात्मक वस्तुओं से होता है।
- सभ्यता को मापा जा सकता है, किंतु संस्कृति की माप नहीं की जा सकती। उदाहरण के लिए यह बताना आसान है कि कच्चा मांस खाने की अपेक्षा पक्का खाना अधिक लाभदायक है, किंतु इसका सही–सही प्रमाण प्रस्तुत करना कठिन है कि पश्चिमी संस्कृति की अपेक्षा भारतीय संस्कृति श्रेष्ठ है अथवा नहीं। इसके लिए कोई निर्धारित मानदंड नहीं हो सकता है। दोनों ही अपने स्थान पर सही हैं।
- सभ्यता की उन्नति अल्पकाल में होती है, जबकि संस्कृति दीर्घकालिक सभ्यता का परिणाम होती है।
- सभ्यता का प्रसार तेजी से होता है, परंतु संस्कृति का प्रसार धीरे–धीरे एवं निरंतर होता रहता है।
- सांस्कृतिक वस्तुएं प्रतियोगिता रहित होती हैं, किंतु सभ्यता का आधार प्रतियोगिता है। दो आविष्कारों में प्रतियोगिता होती है, परंतु सामान्य रूप से आध्यात्मिकता में प्रतियोगिता नहीं होती है।
- सभ्यता एक साधन है, जबकि संस्कृति एक साध्य है। साध्य का अर्थ अंतिम लक्ष्य से है, जिसमें आंतरिक संतुष्टि होती है और इस संतुष्टि की प्राप्ति के लिए जो विधि अपनाई जाती है, उसे साधन कहा जाता है।
- समाजशास्त्री कॉम्टे ने सभ्यता और संस्कृति के अंतर को स्पष्ट करते हुए कहा है कि, "सभ्यता एक बाह्य व्यवहार की वस्तु है, परंतु संस्कृति में मानव नैतिकता की आवश्यकता होती है तथा यह आंतरिक मानव व्यवहार की वस्तु होती है।"
- जिसबर्ट ने कहा है कि "सभ्यता यह बताती है कि 'मानव के पास क्या है', और संस्कृति यह बताती है कि, 'मानव क्या हैं'।"
- समय के साथ सभ्यता में सुधार किया जा सकता है, किंतु संस्कृति में सुधार नहीं किया जा सकता है। कोई भी साधारण मनुष्य आविष्कारों में सुधार कर सकता है, किंतु प्रतिष्ठित कवि और कलाकार की कविता व कलाकृति में साधारण मनुष्य सुधार नहीं कर सकता।
- मानव की संस्कृति में गहराई होती है, जबकि सभ्यता में गहराई का अभाव होता है। गाड़ी या कोई मशीन कोई भी चला सकता है, किंतु संस्कृति की गहराई तक सभी मनुष्य नहीं पहुंच सकते।

टिप्पणी

- समाजशास्त्री ग्रीन ने सभ्यता एवं संस्कृति के बीच अंतर स्पष्ट करते हुए कहा है कि, "कोई संस्कृति तभी सभ्यता बनती है, जब उसके पास एक लिखित भाषा, दर्शन, विशेष श्रम–विभाजन, एक जटिल विधि और राजनीतिक प्रणाली हो।"
- गिलिन व गिलिन के अनुसार, "सभ्यता संस्कृति का अधिक जटिल तथा विकसित रूप है।"

## संस्कृति का मानव जीवन पर प्रभाव

अभौतिक संस्कृति का भौतिक संस्कृति के सामने आगे बढ़ने का प्रयास सामाजिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी माना जाता है। जब हम दूसरी संस्कृतियों के तत्वों से परिचित होते हैं तो उनकी नवीनता एवं उपयोगिता से प्रभावित होकर उन्हें अपनाने का प्रयास करते हैं। इसी से सामाजिक परिवर्तन होता है। दूसरी संस्कृति के तत्व अपनाने के प्रयास से हम अपनी मूल संस्कृति के प्रतिमानों को भी बनाए रखना चाहते हैं। यह द्वैधवृत्ति सामाजिक परिवर्तन का कारण मानी जाती है। सामाजिक परिवर्तन लाने में संस्कृति का योगदान महत्वपूर्ण होता है। संस्कृति समाज की ही उपज है और समाज से घुली–मिली धारणा है। सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन में यह संबंध है कि कुछ समाजशास्त्रियों ने सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन में अंतर ही नहीं किया है। वेबर एवं सोरोकिन जैसे अनेक विद्वानों ने सामाजिक परिवर्तन में सांस्कृतिक कारकों को महत्वपूर्ण माना है। संस्कृति द्वारा जिस पर्यावरण का निर्माण होता है उसमें उन वस्तुओं को सम्मिलित किया जाता है जिन्हें मानव ने स्वयं बनाया है। ऐसा नहीं है कि प्राकृतिक पर्यावरण का सामाजिक पर्यावरण से प्रत्यक्ष संबंध ही नहीं है। प्रत्येक समाज में संस्कृति के दोनों अंग विद्यमान हैं। भौतिक एवं अभौतिक संस्कृति व्यक्ति के जीवन को पूर्ण रूप से नियंत्रित करती है।

संस्कृति और सांस्कृतिक कारकों की सामाजिक परिवर्तन में भूमिका को इनके सामाजिक जीवन पर पड़ने वाले निम्नलिखित प्रमुख प्रभावों द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है–

1. **प्रौद्योगिकीय विकास पर प्रभाव**– संस्कृति प्रौद्योगिक विकास की दिशा तथा गति निर्धारित करती है। वैज्ञानिक आविष्कारों ने व्यक्ति के जीवन को पूर्ण रूप से घेर लिया है। विकसित समाजों में तो इन आविष्कारों की सहायता से संपूर्ण मानव जीवन नियंत्रित होता है। अनुकूल सांस्कृतिक पर्यावरण प्रौद्योगिकी के विकास में सहायक होता है।
2. **आर्थिक जीवन पर प्रभाव**– संस्कृति व्यक्तियों के आर्थिक विकास में सहायक होती है। दूसरी ओर आधुनिक युग में आर्थिक संस्थाएं भी मानव जीवन को एक सीमा तक प्रभावित करती हैं। मार्क्स, वेब्लन आदि विचारकों का मत है कि आर्थिक संस्थाएं व्यक्ति को ही नहीं संपूर्ण समाज को प्रभावित करती हैं।
3. **राजनीतिक संगठन तथा संस्थाओं पर प्रभाव**– संस्कृति राजनीतिक संगठन तथा संस्थाओं को भी प्रभावित करती है। किसी देश में किस प्रकार का शासनतंत्र पाया जाएगा यह सांस्कृतिक मूल्यों पर निर्भर करता है। दूसरी ओर राजनीतिक संस्थाएं भी व्यक्ति के जीवन पर गहरा प्रभाव डालती हैं।

टिप्पणी

4. **सामाजिक संगठन तथा संस्थाओं पर प्रभाव**– संस्कृति सामाजिक संरचना, संगठन तथा संस्थाओं को प्रभावित करती है। उदाहरण के लिए, परिवार तथा विवाह का क्या रूप होगा? यह सांस्कृतिक मूल्यों और आदर्शों पर आधारित है। इस कारण परिवार तथा विवाह का स्वरूप प्रत्येक समाज में एक जैसा नहीं है। किस देश में किस तरह की सामाजिक संस्थाएं पाई जाएंगी? यह सब सांस्कृतिक पर्यावरण निर्धारित करता है।
5. **व्यक्तित्व पर प्रभाव**– व्यक्तित्व तथा संस्कृति का घनिष्ठ संबंध है। व्यक्ति का व्यक्तित्व किसी समाज की संस्कृति द्वारा पूर्ण रूप से प्रभावित होता है। व्यक्ति की समाजीकरण की प्रक्रिया में संस्कृति का ही समावेश होता है। व्यक्ति उन्हीं बातों का अनुकरण करता है जो उसके समाज में प्रचलित होती हैं। प्रथाओं, लोकाचारों, परंपराओं एवं त्योहारों आदि का भी व्यक्ति के जीवन पर प्रभाव पड़ता है।
6. **धार्मिक जीवन पर प्रभाव**– संस्कृति व्यक्तियों के धार्मिक जीवन को भी प्रभावित करती है। धार्मिक संस्थाओं का व्यक्ति के जीवन में महत्वपूर्ण स्थान होता है। धर्म द्वारा व्यक्ति का संपूर्ण जीवन एवं व्यवहार निर्दिष्ट होता है। मैक्स वेबर जैसे विचारकों का कथन है कि धर्म संपूर्ण आर्थिक एवं सामाजिक ढांचे को बनाता है। धर्म स्वयं सांस्कृतिक पर्यावरण पर आधारित है तथा निरंतर इससे प्रभावित होता है।
7. **समाजीकरण पर प्रभाव**– संस्कृति का व्यक्ति के समाजीकरण पर गहरा प्रभाव पड़ता है। जब बच्चा जन्म लेता है तब वह पशु के समान होता है। धीरे–धीरे परिवार, पड़ोस, स्कूल आदि से वह सामाजिक गुण सीखता है। व्यक्ति का समाजीकरण कैसे होगा यह सांस्कृतिक पर्यावरण की मान्यताओं पर निर्भर करता है। बच्चा निरंतर समाजीकरण की प्रक्रिया में संस्कृति से प्रभावित होता है। यही कारण है कि एक भारतीय, फ्रांसीसी तथा अमेरिकी बच्चे में अलग–अलग गुण विकसित हुए मिलते हैं। इन दोनों के सामाजिक जीवन में पर्याप्त भिन्नता पाई जाती है जिसका कारण केवल सांस्कृतिक पर्यावरण ही है।

संस्कृति में धर्म, कला, विज्ञान, विश्वास, रीति–रिवाज, रहन–सहन तथा मानव द्वारा निर्मित सभी वस्तुएं सम्मिलित की जाती हैं। भौगोलिक पर्यावरण के विपरीत सांस्कृतिक पर्यावरण निर्मित होता है। प्रत्येक समाज की अपनी सामूहिक जीवन प्रणाली होती है। संस्कृति में परंपराओं, जनरीतियों एवं लोकाचारों का महत्वपूर्ण स्थान होता है। इन्हीं सभी से किसी देश की सांस्कृतिक विरासत का पता चलता है। समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा सांस्कृतिक परंपराओं, जनरीतियों एवं लोकाचारों का वृत्तांतरण पीढ़ी–दर–पीढ़ी होता रहता है।

## 2.2.1 मानदंडों की प्रणाली के रूप में संस्कृति

किसी देश की संस्कृति उस राष्ट्र विशेष के आदर्शों, प्रतिमानों तथा विचारधाराओं को सूचित करती है। समस्त व्यक्ति अपनी सामर्थ्य और योग्यता के अनुसार संस्कृति के

टिप्पणी

निर्माण में सहयोग प्रदान करते हैं। जिस प्रकार बालक का विकास शनैः–शनैः होता है, उसी प्रकार संस्कृति भी धीरे–धीरे निर्मित होती है तथा यह कार्य हजारों वर्षों में संपन्न होता है। मनुष्य विभिन्न स्थानों पर रहकर विशेष प्रकार के सामाजिक वातावरण, संस्थाओं, प्रथाओं, व्यवस्थाओं, धर्म, दर्शन, लिपि, भाषा और कलाओं का निर्माण करते हैं तथा अपने आदर्शों के अनुरूप संस्कृति के निर्माण व विकास में अपना उच्चतम योगदान प्रदान करते हैं।

संस्कृति सामाजिक अंतःक्रियाओं एवं सामाजिक व्यवहारों के उत्प्रेरक प्रतिमानों का समुच्चय है। इस समुच्चय में ज्ञान, विज्ञान, कला, आस्था, नैतिक मूल्य एवं प्रथाएं समाविष्ट होती हैं। संस्कृति भौतिक, आर्थिक, सामाजिक, सार्वजनिक तथा आध्यात्मिक अभ्युदय के लिए उपयुक्त है। यह मनुष्य की श्रेष्ठ साधनाओं और सम्यक चेष्टाओं की समष्टिगत अभिव्यक्ति है। संस्कृति द्वारा मनुष्य के वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन के स्वरूप का निर्माण, निर्देशन, नियमन तथा नियंत्रण संभव हो पाता है। अतः संस्कृति मनुष्य की आदर्शात्मक जीवन पद्धति, वैचारिक दर्शन एवं सामाजिक क्रियाकलाप में उसके समष्टिवादी दृष्टिकोण की अभिव्यंजना है।

संस्कृति समूह के सदस्यों के व्यवहारों का आदर्श रूप होती है और प्रत्येक सदस्य उसे आदर्श मानता है। संस्कृति में सामाजिक विचार, व्यवहार, प्रतिमान एवं आदर्श प्रारूप समाहित होते हैं और इन्हीं के अनुसार कार्य संपन्न करना श्रेष्ठ समझा जाता है। प्रत्येक समाज अपनी संस्कृति को दूसरे समाजों की संस्कृति से श्रेष्ठ मानता है। इस श्रेष्ठता का आधार उसकी संस्कृति का आदर्श प्रतिरूप ही है।

संस्कृति एक ऐसा गुण है जो मानव जीवन को निर्देशित करता है। यह मनुष्य के स्वभाव में व्याप्त आत्मिक गुण है जिसका निर्माण युग–युगांतर में संभव हो पाता है।

प्रत्येक समूह की संस्कृति उस समूह के लिए आदर्श होती है। संस्कृति इसलिए भी आदर्श होती है क्योंकि उसका व्यवहार प्रतिमान किसी व्यक्ति विशेष का न होकर समस्त समूह का व्यवहार होता है।

संस्कृति के अंतर्गत अभिवृत्ति, आदर्श, ज्ञान एवं भौतिक पदार्थ सम्मिलित हैं जिन्हें समाज के सदस्य परस्पर एक–दूसरे को प्रदान करते हैं। सांस्कृतिक एकता एक आदर्शात्मक रूप में राष्ट्रीय एकता स्थापित करने में बहुत सहायक होती है, एक संस्कृति वाले समाज के सदस्य अपनी परंपराओं, विश्वासों, मूल्यों और आदर्शों आदि पर बहुत आस्था रखते हैं, उनसे उनका लगाव होता है और वे उनकी रक्षा करने तथा प्रचार और प्रसार करने में संलग्न रहते हैं, इससे राष्ट्रीय एकता को प्रोत्साहन मिलता है।

संस्कृति जीवन से निकटता से जुड़ी है। यह एक ऐसा गुण है जो मानव को मानव बनाता है। यह परंपराओं, विश्वासों, जीवन शैली, आध्यात्मिक पक्ष, नैतिक पक्ष तथा भौतिक पक्ष से निरंतर जुड़ी होती है। यह हमें जीवन का अर्थ तथा जीवन जीने का तरीका सिखाती है। संस्कृति के द्वारा मानव अपने संपूर्ण परिसर में समवस्थित होता है और उसे रचनात्मक अभिव्यक्ति का साधन प्राप्त होता है।

संस्कृति परंपराओं व रीतिरिवाजों का एक साधारण संचय नहीं है, अपितु यह व्यवहार की एक संगठित प्रणाली है। संस्कृति विभिन्न तत्वों का एक संयोजन है।

संस्कृति को आदर्शात्मक व्यवहार के रूप में निम्न प्रकार से वर्णित किया जा सकता है–

टिप्पणी

- संस्कृति मानव निर्मित है।
- संस्कृति सीखी जा सकती है।
- संस्कृति का संचार होता है।
- संस्कृति प्रत्येक समाज हेतु विशिष्ट होती है।
- संस्कृति व्यक्तिवादी न होकर, सामाजिक होती है।
- संस्कृति एक समूह के लिए आदर्श होती है।
- संस्कृति मानवीय आवश्यकताओं को संतुष्ट करती है।
- संस्कृति में अनुकूलन क्षमता होती है।
- संस्कृति में एकीकृत गुण होता है।
- संस्कृति मानव व्यक्तित्व को आकार प्रदान करती है।

## 2.2.2 संस्कृति की संरचना

संस्कृति शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में होता है। मानवशास्त्र में इसका उपयोग एक विशिष्ट अर्थ में होता है। इसके आधारभूत सिद्धांत निम्नलिखित हैं–

- मानव संस्कृति के साथ जन्म नहीं लेता, लेकिन उसमें संस्कृति ग्रहण करने की क्षमता होती है। वह उसे सीखता है। इस प्रक्रिया को संस्कृतिकरण कहते हैं।
- संस्कृति का उद्‌भव मानव जीवन के प्राणी शास्त्रीय परिसरीय मनोवैज्ञानिक और ऐतिहासिक अंगों से होता है। उसके निरूपण और विकास में इन तत्वों का बहुमूल्य योगदान होता है।
- संस्कृति की संरचना एक विशिष्ट भाग है। सबसे छोटे भाग को सांस्कृतिक तत्व कहते हैं। अनेक तत्वों को मिलाकर समूह होता है। एक संस्कृति में अनेक सांस्कृतिक तत्व समूह होते हैं। इसके अतिरिक्त अनेक संस्कृतियों में एक या अधिक प्रेरक सिद्धांत होते हैं जो उन्हें विशिष्टता प्रदान करते हैं।
- संस्कृति अनेक भागों में विभक्त होती है उदाहरणार्थ, भौतिक संस्कृति, सामाजिक संस्थाएं, धर्म और विश्वास, कला एवं लोककर्ता, भाषा इत्यादि।
- संस्कृति में विभिन्नताएं होती हैं जो कभी–कभी एक ही समाज के व्यक्तियों के व्यवहार में प्रदर्शित होती हैं। समाज की इकाई जितनी छोटी होती है, उसके सदस्यों के आचार–विचार में उतना ही कम अंतर होता है।
- संस्कृति के स्वरूप, प्रक्रियाओं और गठन में एक नियमबद्धता होती है जिससे उसका वैज्ञानिक विश्लेषण संभव होता है।

अमेरिकन समाजशास्त्री ऑगबर्न ने संस्कृति को भौतिक और अभौतिक दो भागों में वर्गीकृत किया है। उनके इस वर्गीकरण को अन्य वैज्ञानिकों ने भी स्वीकार किया है।

टिप्पणी

1. **भौतिक संस्कृति** : भौतिक संस्कृति के अंतर्गत मानव द्वारा निर्मित समस्त भौतिक एवं मूर्त वस्तुओं को सम्मिलित किया जाता है। आदिकाल से ही मनुष्य ने प्राकृतिक वस्तुओं एवं शक्तियों को परिवर्तित एवं नियंत्रित करके अपनी आवश्यकता की पूर्ति हेतु अनगिनत वस्तुओं को निर्मित किया है, जिनका एक भौतिक आधार होता है जिन्हें हम देख सकते है, स्पर्श कर सकते हैं और इंद्रियों द्वारा इनका एहसास कर सकते हैं। ये सभी भौतिक संस्कृति के तत्व हैं। भौतिक संस्कृति में पंखा, घड़ी, मोटर, मशीन, औजार, वस्त्र, वाद्य–यंत्र, रेल, जहाज, वायुयान, टेलीफोन, पुस्तक आदि वस्तुएं सम्मिलित हैं।

   बीरस्टीड ने भौतिक संस्कृति में मशीनों, उपकरणों, बर्तनों, इमारतों, सड़कों, पुलों, शिल्पवस्तुओं, कलात्मक वस्तुओं, वस्त्रों, गाड़ियों, फर्नीचरों, खाद्य पदार्थों एवं औषधियों इत्यादि को सम्मिलित किया है। सरल एवं आदिम समाजों की अपेक्षा जटिल एवं आधुनिक समाजों में इनकी संख्या अत्यधिक है। विभिन्न प्रकार की कलात्मक वस्तुएं, औषधियां और खाद्य पदार्थ भी इन्हीं आविष्कारों से संबंधित हैं। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि मानव द्वारा निर्मित भौतिक पदार्थों की संपूर्णता को ही हम भौतिक संस्कृति कहते हैं। इस संस्कृति की प्रमुख विशेषताएं इस प्रकार हैं–

   - भौतिक संस्कृति मापनीय होती है। इसका तात्पर्य यह है कि इसमें होने वाली वृद्धि अथवा कमी को सरलता से मापा जा सकता है।
   - भौतिक संस्कृति का रूप सरल होता है क्योंकि कोई भी व्यक्ति इसकी उपयोगिता को सरलता से समझ सकता है।
   - भौतिक संस्कृति में होने वाली वृद्धि संचयी होती है, अर्थात जैसे–जैसे सभ्यता का विकास होता है, भौतिक पदार्थों की संख्या में निरंतर वृद्धि होती रहती है।
   - इस संस्कृति में ग्रहणशीलता का गुण होता है। हम भौतिक संस्कृति से संबंधित किसी भी विशेषता को उसमें कोई भी परिवर्तन किये बिना ग्रहण कर सकते हैं।
   - यह संस्कृति वैकल्पिक होती है। इसमें इतने अधिक विकल्प उपस्थित होते है कि अपने साधनों और आवश्यकताओं के अनुसार हम कुछ वस्तुओं को उपयोग में लाते हैं, तथा अनेक दूसरी वस्तुओं को इच्छानुसार प्रयोग में नहीं लाते हैं।
   - भौतिक संस्कृति में परिवर्तनशीलता होती है। मनुष्य की आवश्यकताओं के अनुसार नये–नये आविष्कार होने के साथ ही भौतिक संस्कृति की प्रकृति में भी परिवर्तन हो जाता है।

2. **अभौतिक संस्कृति** : मैकाइवर के अनुसार, अभौतिक संस्कृति, संपूर्ण संस्कृति का वह भाग है जो अमूर्त होता है। इस प्रकार मनुष्य जिन विभिन्न विश्वासों, विचारों, नियमों, प्रथाओं, परंपराओं और शिष्टाचारों के तरीकों में जीवन व्यतीत करता है, वे सभी अभौतिक संस्कृति का निर्माण करते हैं। आरंभ में मनुष्य का जीवन बहुत सरल व साधारण था। वह थोड़ी सी परंपराओं और विश्वासों में ही अपना जीवन व्यतीत कर लेता था। सभ्यता के विकास के साथ ही मानव के

विश्वास और विचारों में इतनी जटिलता उत्पन्न हो गई कि इनके द्वारा नीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र और कानूनशास्त्र जैसी शाखाओं का विकास हो गया।

टिप्पणी

राबर्ट बीरस्टीड का कथन है कि आज अभौतिक संस्कृति का वेग इतना व्यापक है कि इसमें विभिन्न प्रकार के विश्वासों, लोकाचारों, पौराणिक कथाओं, साहित्य, वैज्ञानिक ज्ञान, कानूनों, प्रथाओं, जनरीतियों, संस्कारों, कर्मकाण्डों, शिष्टाचार के तरीकों और सदाचार के नियमों का समावेश देखने को मिलता है। स्पष्ट है कि किसी समाज की अभौतिक संस्कृति ही अपने सदस्यों के व्यक्तित्व का निर्माण करने में सर्वाधिक योगदान करती है। निम्नलिखित विशेषताओं के आधार पर अभौतिक संस्कृति की प्रकृति को और अधिक स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है–

- अभौतिक संस्कृति अमूर्त होती है। इससे संबंधित तत्वों को किसी स्थूल रूप में नहीं देखा जा सकता है।
- इस संस्कृति का संबंध हमारे ज्ञान, विश्वास और विचारों से होने के कारण इसकी उपयोगिता की कोई स्पष्ट माप नहीं हो सकती है।
- तुलनात्मक रूप से अभौतिक संस्कृति जटिल होती है। कोई भी व्यक्ति न तो इसकी श्रेष्ठता और उपयोगिता को प्रमाणित कर सकता है और न ही इसके संपूर्ण रूप को समझ लेने का दावा कर सकता है।
- अभौतिक संस्कृति के विकास की कोई निश्चित दिशा नहीं होती है। यह संस्कृति एक बार बहुत आगे बढ़ने के पश्चात पुनः स्थिर हो सकती है या पीछे की ओर लौट सकती है।
- किसी दूसरे समूह की अभौतिक संस्कृति को विशुद्ध रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता। उदाहरणार्थ, जब हम पाश्चात्य संस्कृति के अनुसार व्यवहार करने का प्रयत्न करते हैं तो इसमें हमारी संस्कृति के कुछ तत्वों का भी मिश्रण हो जाता है।
- यह संस्कृति वैकल्पिक नहीं होती है। इसमें बाध्यता का गुण होता है। प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह आवश्यक होता है कि वह अपनी अभौतिक संस्कृति से संबंधित विशेषताओं के अनुसार ही व्यवहार करे।
- अभौतिक संस्कृति की प्रकृति तुलनात्मक रूप से अधिक स्थायी होती है। समाज की परिस्थितियों में बहुत अधिक परिवर्तन न होने के पश्चात ही हमारे विचारों में कोई परिवर्तन संभव हो पाता है।
- इस संस्कृति का विकास बहुत धीरे–धीरे एक लंबी अवधि में होता है। जब अनेक पीढ़ियों के अनुभवों को उपयोगी समझा जाने लगता है, तभी उन्हें एक प्रथा अथवा लोकाचार के रूप में मान्यता मिलती है।
- यह संस्कृति आत्मिक प्रकृति की होती है, क्योंकि एक समूह के समस्त सदस्य इसके अनुसार कार्य करना अपना भौतिक दायित्व मानते हैं।

### भौतिक और अभौतिक संस्कृति में अंतर

संस्कृति के इन दोनों स्वरूपों की प्रकृति के आधार पर इनके मध्य अनेक अंतर स्पष्ट होते हैं, जो कि निम्नांकित हैं–

टिप्पणी

| | भौतिक संस्कृति | अभौतिक संस्कृति |
|---|---|---|
| 1. | यह मूर्त होती है। इसके विभिन्न तत्वों को देखा जा सकता है। | यह अमूर्त होती है। इसके तत्वों का कोई स्थूल रूप नहीं होता है। |
| 2. | भौतिक संस्कृति में सम्मिलित तत्व मापनीय होते हैं। | अमूर्त होने के कारण इस संस्कृति की कोई माप संभव नहीं है। |
| 3. | यह संस्कृति सरल होती है, क्योंकि इसकी उपयोगिता को समझा जा सकता है। | अभौतिक संस्कृति जटिल होती है क्योंकि किसी भी विश्वास को दूसरे से अधिक उपयोगी नहीं कहा जा सकता है। |
| 4. | भौतिक संस्कृति सदैव विकास की दिशा में अग्रसर रहती है। | इसकी कोई विकास की निश्चित दिशा नहीं होती है। उच्च ज्ञान के बाद किसी समाज में ज्ञान की कमी की दशा भी उत्पन्न हो सकती है। |
| 5. | भौतिक संस्कृति की विशेषताओं को बाह्य समूह का कोई भी सदस्य बिना परिवर्तन के ग्रहण कर सकता है। | अपने से भिन्न समूह की अभौतिक संस्कृति को विशुद्ध रूप से ग्रहण नहीं किया जा सकता है। |
| 6. | यह वैकल्पिक होती है। सभी व्यक्ति अपनी रुचि और आवश्यकता के अनुसार किसी भी वस्तु को उपयोग में ला सकते हैं और किसी को भी छोड़ सकते हैं। | अभौतिक संस्कृति में बाध्यता का गुण होता है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने समूह के विश्वासों और परंपराओं के अनुसार व्यवहार करना आवश्यक है। |
| 7. | भौतिक संस्कृति परिवर्तनशील होती है। आवश्यकताएं बदलने के साथ ही व्यक्ति नयी वस्तुओं का उपयोग करने लगते हैं। | अभौतिक संस्कृति अपने नियमों और व्यवहारों के तरीकों में किसी परिवर्तन की सुविधा नहीं देती है। इसमें परिवर्तन बहुत कम अथवा एक लंबी अवधि में होता है। |
| 8. | भौतिक संस्कृति का विकास बहुत कम समय में और योजनाबद्ध रूप से किया जाता है। | अभौतिक संस्कृति का विकास एक लंबी अवधि में बहुत धीरे–धीरे होता है। |
| 9. | उपयोग के दृष्टिकोण से भौतिक संस्कृति का क्षेत्र सीमित है क्योंकि कुछ साधन संपन्न व्यक्ति ही इसका अधिक लाभ उठा पाते है। | अभौतिक संस्कृति सार्वभौमिक होती है क्योंकि समस्त व्यक्ति इसके अनुसार एक विशेष ढंग से जीवन व्यतीत कर सकते है। |
| 10. | यह संस्कृति व्यक्तिवादिता को प्रोत्साहित करती है। | अभौतिक संस्कृति के प्रसार से सामूहिक कल्याण को प्रोत्साहन मिलता है। |

संस्कृति का रूप चाहे भौतिक हो अथवा अभौतिक, यह अपने संयुक्त रूप में व्यक्तित्व का निर्माण करने में सबसे अधिक मौलिक है।

## संस्कृति के अंग

संस्कृति की प्रकृति को समझने के लिए यह आवश्यक है कि इसका निर्माण करने वाली समस्त इकाइयों की प्रकृति को समझा जाए। संस्कृति के विभिन्न अंगों को समझने के पश्चात ही संस्कृति के वास्तविक रूप को समझा जा सकता है। संस्कृति के विभिन्न अंगों को ही हम 'संस्कृति का उपादान' कहते हैं। संस्कृति के ये अंग संस्कृति–तत्व, संस्कृति–संकुल, संस्कृति–प्रतिमान तथा संस्कृति–क्षेत्र हैं। इनकी प्रकृति को निम्नांकित रूप से समझा जा सकता है–

1. **संस्कृति–तत्व** : संस्कृति की वह सबसे छोटी इकाई जिसका कार्यात्मक आधार पर पुनर्विभाजन नहीं किया जा सकता, उसे संस्कृति–तत्व कहते हैं। संस्कृति–तत्व,

टिप्पणी

संस्कृति की सबसे छोटी इकाई है। संस्कृति–तत्व भौतिक व अभौतिक दोनों प्रकार के हो सकते हैं। संस्कृति–तत्व को परिभाषित करते हुए हॉबेल ने लिखा है, "एक संस्कृति–तत्व व्यवहार का एक विशेष प्रकार अथवा इस व्यवहार से उत्पन्न एक भौतिक वस्तु है, जिसे सांस्कृतिक व्यवस्था की सबसे छोटी इकाई माना जा सकता है।" हर्सकोबिट्स के शब्दों में, "संस्कृति–तत्व को संस्कृति की सबसे छोटी पहचानी जा सकने वाली इकाई कहा जा सकता है।" इन दोनों परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि संस्कृति–तत्व मनुष्य द्वारा निर्मित अनेक छोटी–छोटी वस्तुओं, व्यवहार के तरीकों, विचारों, विश्वासों और प्रतीकों से संबंधित होते हैं। स्पष्ट है कि जिस वस्तु, विचार अथवा व्यवहार के ढंग को पुनर्विभाजित न किया जा सके, उसी को संस्कृति–तत्व कहा जा सकता है। संस्कृति के तत्वों में समय के अनुसार परिवर्तन होता रहता है तथा समस्त संस्कृति–तत्व परस्पर संबंधित रहकर मानव आवश्यकताओं को पूर्ण करते हैं।

क्लार्क विसलर, टॉयलर, बोआस और क्रोबर वे प्रमुख विद्वान हैं, जिन्होंने संस्कृति–तत्वों के आधार पर विभिन्न संस्कृतियों का तुलनात्मक अध्ययन किया।

2. **संस्कृति–संकुल**– जिस तरह अनेक गुणसूत्रों से एक कोष्ठ का निर्माण होता है तथा अनेक व्यक्तियों से एक परिवार की रचना होती है, उसी प्रकार अनेक संस्कृति–तत्व मिलकर एक संस्कृति–संकुल का निर्माण करते हैं।

   सदरलैंड तथा वुडवर्थ के अनुसार, 'संस्कृति–संकुल अनेक संस्कृति तत्वों की वह समग्रता है जो अर्थपूर्ण संबंधों के द्वारा एक–दूसरे से जुड़े रहते हैं।'

   डॉ. एस.सी. दुबे के शब्दों में, 'जैसा कि नाम से स्पष्ट है, संस्कृति–संकुल संस्कृति–तत्वों का वह समग्र समूह है जो उनके अर्थपूर्ण ढंग से परस्पर संबंधित होने से बनता है।

   स्पष्ट है कि संस्कृति–संकुल का निर्माण अनेक संस्कृति–तत्वों से मिलकर बनने वाली विशेषता से होता है। संस्कृति–तत्वों का यह सम्मिलन सांस्कृतिक नियमों और मूल्यों के अनुसार होता है। जब अनेक संस्कृति–तत्व एक संस्कृति–संकुल के रूप में व्यवस्थित हो जाते हैं, तब कार्यात्मक आधार पर वे व्यक्ति और समाज के लिए उपयोगी हो जाते हैं। उदाहरणार्थ– अनेक शब्दों के परस्पर मिलने से 'भाषा–संकुल' का निर्माण होता है, उसी प्रकार संस्कृति का निर्माण करने में संस्कृति–संकुल तुलनात्मक रूप से वह बड़ी इकाई है जो मानवीय आवश्यकताओं को व्यवस्थित ढंग से पूर्ण करती है।

3. **संस्कृति–प्रतिमान** : रूथ बेनेडिक्ट ने अपनी पुस्तक 'पैटर्न्स ऑफ कल्चर' में संस्कृति–प्रतिमान की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए बताया है कि जब अनेक संस्कृति–संकुल एक विशेष ढंग से व्यवस्थित हो जाते है, तब उनमें एक विशेष संस्कृति–प्रतिमान का निर्माण होता है। इसका अर्थ है कि संस्कृति संकुल स्वतंत्र रूप से कार्य नहीं करते। एक विशेष संस्कृति में प्रत्येक संस्कृति–संकुल की एक विशेष स्थिति होती है। इस प्रकार जब अनेक संस्कृति–संकुल मिलकर किसी

टिप्पणी

संस्कृति की आधारभूत विशेषताओं को स्पष्ट करने लगते हैं, तब संस्कृति–संकुलों की इस व्यवस्था को संस्कृति प्रतिमान कहा जाता है।

भारत की संस्कृति में प्रारब्ध, पुनर्जन्म, संचित कर्म, भक्ति तथा ज्ञान आदि कुछ प्रमुख संस्कृति–संकुल हैं, जिनके मिलने से 'कर्म के सिद्धांत' का निर्माण होता है। इस आधार पर 'कर्म का सिद्धांत' एक विशेष संस्कृति–प्रतिमान है जिसकी सहायता से भारतीय संस्कृति की प्रकृति को समझा जा सकता है। संस्कृति–प्रतिमान के संबंध में रूथ बेनेडिक्ट ने लिखा है, 'संस्कृति के अनेक उपभागों से बनने वाले महत्वपूर्ण 'अंगों को ही संस्कृति–प्रतिमान के नाम से संबोधित किया जाता है। इसी आधार पर भारतीय समाज में संयुक्त परिवार, जाति व्यवस्था, विवाह संस्कार तथा अध्यात्मवाद आदि कुछ प्रमुख संस्कृति प्रतिमान हैं।

4. **संस्कृति–क्षेत्र**– एक संस्कृति–क्षेत्र वह भौगोलिक क्षेत्र होता है। जिसमें समान प्रकार के संस्कृति–तत्व, संस्कृति–संकुल तथा संस्कृति–प्रतिमान विद्यमान होते हैं।

डॉ. एस.सी. दुबे के शब्दों में, 'कुछ संस्कृति–तत्व और संस्कृति–संकुल एक विशेष भौगोलिक क्षेत्र में विस्तारित होकर एक संस्कृति–क्षेत्र का निर्माण करते हैं।'

हर्सकोविट्स के अनुसार, 'वह क्षेत्र जिसमें समान सांस्कृतिक विशेषताएं पाई जाती हैं, एक संस्कृति–क्षेत्र कहलाता है। इस संबंध में मजूमदार ने लिखा है कि यदि हम एशिया या यूरोप महाद्वीप का अवलोकन करते हैं तो अनेक क्षेत्रों में संस्कृति–क्षेत्रों की प्रकृति एक–दूसरे से भिन्न हो जाती है।

बोआरन द्वारा संस्कृति–क्षेत्र की अवधारणा का उपयोग सर्वप्रथम यह स्पष्ट करने के लिए किया गया था कि एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में संस्कृति का प्रसार क्यों और किस प्रकार होता है?

क्लार्क विसलर ने रेड इण्डियन जनजाति का अध्ययन करके संस्कृति–क्षेत्र की अवधारणा को व्यवस्थित रूप से विकसित किया।

हर्सकोविट्स ने भी अफ्रीका की जनजातियों के अध्ययन के आधार पर नौ संस्कृति–क्षेत्रों का वर्णन किया है।

हॉबेल के अनुसार यह निष्कर्ष दिया जा सकता है कि 'एक संस्कृति–क्षेत्र को किसी भौगोलिक क्षेत्र के उस भाग के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिसकी सांस्कृतिक विशेषताएं इतनी अधिक समान हों कि उनके आधार पर उसे उन संस्कृतियों से पृथक किया जा सके, जो उस क्षेत्र से बाहर की हैं।

अंततः यह कहा जा सकता है कि संस्कृति बहुत से भौतिक तथा अभौतिक तत्वों की एक जटिल संपूर्णता है। समाज का सदस्य होने के नाते व्यक्ति इसे सामाजिक सीख की प्रक्रिया के द्वारा प्राप्त करता है तथा उसमें अपने अनुभवों को भी समाहित करके इसे भावी पीढ़ियों के लिए संचारित कर देता है।

टिप्पणी

### अपनी प्रगति जांचिए

1. किसने संस्कृति को मनुष्य के व्यक्तित्व के लिए कच्चा माल उपलब्ध कराने वाला माना है?

   (क) रूथ बेनेडिक्ट ने (ख) लिंटन ने

   (ग) किम्बले यंग ने (घ) वेबर ने

2. 'संस्कृति एक प्रतीकात्मक, निरंतर, संचयी एवं प्रगतिशील प्रक्रिया है।' यह कथन किसका है?

   (क) टॉयलर का (ख) सोरोकिन का

   (ग) रेडफील्ड का (घ) व्हाइट का

## 2.3 संस्कृति एवं स्वजातीयता

संस्कृति के अन्तर्गत स्वजातीयता (Ethnocentrism) एक ऐसी अवधारणा है जिसमें कोई जाति स्वयं को, अन्य जातियों से बेहतर समझती है। इसे नृजातीयता, सजातीयता आदि भी कहा जाता है। स्वजातीयता शब्द जातीय शब्द से बनाया गया है– Ethnic = जातीय तथा Ethnicity = जातीयता। जातीयता शब्द का अर्थ समझ लेने पर स्वजातीयता का आशय इस प्रकार से स्पष्ट होता है कि स्वजातीयता एक ऐसा सिद्धांत है जिसके अंतर्गत, जातीयता से संबंधित अध्ययन किया जाता है। हिंदी में इसका अर्थ 'प्रजाति केंद्रित' के रूप में लिया जाता है, अर्थात् यह मनुष्य की वह प्रवृत्ति है जिसमें वह अपनी स्वयं की प्रजाति को अन्य से श्रेष्ठ समझते हुए इसका पक्ष लेता है तथा अपनी संस्कृति का निर्माण करता है। उदाहरण के लिए श्वेत वर्ण के व्यक्ति सदियों से स्वयं को श्याम वर्ण के व्यक्तियों से श्रेष्ठ समझते आए हैं एवं अपनी श्वेत वर्ण की प्रजाति को ही सर्वश्रेष्ठ स्थापित करते रहे हैं। स्वयं को श्रेष्ठ करने की यही प्रवृत्ति या अवधारणा को समाजशास्त्रीय अध्ययन विषय–वस्तु में प्रजाति केंद्रित कहा जाता है।

समाज में अनेक प्रकार के जातीय समूह या जातीयता या नृजातीयता के समूह लंबे समय से विद्यमान रहे हैं। नृजातीय समूहों के व्यक्ति स्वयं की सामाजिक, सांस्कृतिक, राष्ट्रीय, वर्णात्मक जाति या क्षेत्र के आधार पर पहचान बनाते हैं। अन्य सामाजिक समूहों के उलट, स्वजातीयता एक ऐसा समूह होता है जो कि वंशानुगत के आधार (विरासत) पर जन्म लेता है। स्वजातीयता की संस्कृति जाति विशेष या क्षेत्र विशेष तक भी सीमित हो सकती है परन्तु अन्य समाज या जातियां इनकी संस्कृति से कुछ हद तक प्रभावित अवश्य होती हैं।

टिप्पणी

### अपनी प्रगति जांचिए

3. संस्कृति के अंतर्गत क्या ऐसी अवधारणा है, जिसमें कोई जाति स्वयं को अन्य जातियों से बेहतर समझती है?

(क) ग्राह्यता (ख) जातीयता

(ग) स्वजातीयता (घ) सापेक्षवाद

4. स्वजातीयता के अंतर्गत किससे संबंधित अध्ययन किया जाता है?

(क) राष्ट्र से (ख) जातीयता से

(ग) धर्म से (घ) शिक्षा से

## 2.4 परसंस्कृति ग्राह्यता

'जेनोफोबिया' शब्द की उत्पत्ति ग्रीक भाषा के जेनो तथा फोबिया से हुई है। जेनो का अर्थ है 'अजनबी या विदेशी लोग' तथा फोबिया से आशय है 'भय'। इस प्रकार जेनोफोबिया का अर्थ है, 'विदेशी लोगों का भय' अथवा 'विदेशी लोगों का पसंद न करना।'

जेनोफोबिया रीति–रिवाजों, संस्कृतियों और असामान्य या अज्ञात माने जाने वाले लोगों के प्रति अत्यधिक तीव्र भय और नापसंदगी है।

यह आंतरिक तथा बाहरी समूह के मध्य कथित संघर्ष की अभिव्यक्ति है और दूसरों की गतिविधियों में से एक समूह द्वारा संदेह में प्रकट हो सकता है। यह विदेशियों की उपस्थिति को समाप्त करने की इच्छा और राष्ट्रीय, जातीय या नस्लीय पहचान को खोने के भय के रूप में प्रदर्शित होती है।

इतालवी समाजशास्त्री गुइडो बोलाफी के अनुसार, जेनोफोबिया को 'एक अन्य संस्कृति के गैर–आलोचनात्मक उत्थान' के रूप में भी प्रदर्शित किया जा सकता है, जिसे 'एक असत्य और विदेशी गुणवत्ता' कहा जाता है।

जेनोफोबिया पर एक समीक्षात्मक लेख में कहा गया है कि 'यह राजनीतिक संघर्ष का एक तत्व है जो कि आधुनिक राज्य की सामूहिक भलाई के लिए एक लड़ाई के रूप में वर्णित है।'

पश्चिमी संस्कृति में जेनोफोबिक भावना का एक उदाहरण 'बर्बर' के रूप में विदेशियों का प्राचीन यूनानी अपमान है, उनका विश्वास था कि ग्रीक लोग और उनकी संस्कृति अन्य सभी से श्रेष्ठ थे। प्राचीन रोम के लोग भी अन्य व्यक्तियों पर श्रेष्ठता की धारणा रखते थे।

टिप्पणी

### अपनी प्रगति जांचिए

5. किस शब्द की उत्पत्ति ग्रीकभाषा के जेनो तथा फोबिया से हुई है?

(क) जेनोफोबिया (ख) भय

(ग) अजनबी (घ) विदेशी

6. कहां के लोग अन्य व्यक्तियों पर श्रेष्ठता की धारणा रखते थे?

(क) प्राचीन रोम के (ख) इंग्लैंड के

(ग) भारत के (घ) आस्ट्रेलिया के

## 2.5 सांस्कृतिक सापेक्षवाद

सांस्कृतिक सापेक्षवाद को समझने से पूर्व, 'सापेक्षवाद' का अर्थ मालूम होना अनिवार्य हो जाता है। सापेक्षवाद (Relativism) एक ऐसा सिद्धांत या अवधारणा है जो यह मानता है कि 'कुछ भी सत्य नहीं है' अर्थात किसी भी तथ्य या विचार को 'पूर्ण सत्य' नहीं कहा जा सकता है। इसके विपरीत सापेक्षवादियों का यह भी विचार होता है कि 'जो भी हम देखते या फिर समझ पाते हैं वह सब कुछ किसी न किसी वस्तु के संदर्भ या सापेक्ष में ही देखते हैं।' उदाहरण के लिए यदि हम किसी सीधी रेखा की सत्यता की जांच करते हैं तो किसी अन्य वस्तु के ही सापेक्ष कर पाते हैं। इस प्रकार हम कहते हैं कि कोई रेखा सीधी है अथवा नहीं। इस रेखा का सीधा होना पहली रेखा के सापेक्ष ही है।

पूर्ण सत्य या परम सत्य को इस आधार पर अस्वीकृत करते हुए सापेक्षवादी सांस्कृतिक सापेक्षवाद को भी तार्किकता के साथ जोड़ते हैं। इस प्रकार से यह कहा जा सकता है कि सापेक्षवादियों का सांस्कृतिक सापेक्षवाद तार्किक परिणाम होता है। कोई व्यक्ति तर्क के आधार पर यह कह सकता है–

- अमुक संस्कृति बुरी है।
- अमुक संस्कृति अच्छी है।
- अमुक संस्कृति कभी अस्तित्व में नहीं थी।
- मेरी संस्कृति ही पुरातन एवं सत्य पर आधारित है।
- मेरी संस्कृति ही विश्व की सर्वश्रेष्ठ संस्कृति है।
- दूसरे लोगों या समाज ने हमारी संस्कृति की नकल की है।
- आपकी संस्कृति हमारी ही देन है।
- भारत ही संपूर्ण विश्व का योग गुरु है।

टिप्पणी

उपरोक्त प्रकार के अनेक अन्य तर्क भी दिये जा सकते हैं परंतु इन सभी की सत्यता प्रमाणित करना अत्यंत कठिन एवं जटिल कार्य होगा। इससे भी कठिन कार्य है तार्किकता का उत्तर ढूंढ़ना। तर्क के आधार पर कभी भी सत्य को स्थापित नहीं किया जा सकता है वरन् मानसिक संतुष्टि प्राप्त की जा सकती है कि हमने अपने अहम एवं ज्ञान का पांडित्य प्रदर्शित करके तर्क या कुतर्क के आधार पर अपनी बात को सापेक्षतः बड़ा सिद्ध कर लिया है, परंतु ऐसा तो सभी संस्कृतियों के लोग करते ही हैं तथा सांस्कृतिक गतिरोध एवं विचलन को बढ़ावा देते हैं।

### अपनी प्रगति जांचिए

7. कौन–सा सिद्धांत यह मानता है कि 'कुछ भी सत्य नहीं है'?

   (क) सत्यवाद (ख) सापेक्षवाद

   (ग) समाजवाद (घ) आपेक्षवाद

8. यह किनका विचार होता है कि 'जो भी हम देखते या फिर समझ पाते हैं, वह सब कुछ किसी न किसी वस्तु के संदर्भ या सापेक्ष में ही देखते हैं?'

   (क) सापेक्षवादियों का (ख) समाजवादियों का

   (ग) उग्रवादियों का (घ) धर्मवादियों का

## 2.6 वास्तविक एवं आदर्श संस्कृति

आदर्श संस्कृति में वे मूल्य और मानदंड सम्मिलित होते हैं जो एक संस्कृति होने का दावा करते हैं, जबकि वास्तविक संस्कृति में वे मूल्य और मानदंड होते हैं, जिनका वास्तव में एक संस्कृति द्वारा पालन किया जाता है।

आदर्श संस्कृति उन प्रथाओं, मूल्यों या मानदंडों को संदर्भित करती है जिनका समाज पालन करता है या प्राप्त करने की इच्छा रखता है। यह उन लक्ष्यों को संदर्भित करता है जिन्हें एक समाज आदर्श संस्कृति के योग्य मानता है।

आदर्श संस्कृति अधिक उत्साही, आशावादी और चमकदार प्रतीत होती है, जो वास्तविक संस्कृति से इसको भिन्न बनाती है, जो कि समाज की वास्तविक तस्वीर है। आदर्श और वास्तविक संस्कृति में एक आदर्श और दृढ़ मूल्य प्रणाली शामिल होती है, जो पूर्ण व्यवहार को नियंत्रित करती है। वास्तविक संस्कृति में एक मूल्य प्रणाली सम्मिलित होती है जो अनुकूलनीय होती है और उपयुक्त दिशा निर्देश के रूप में कार्य करती है, आदर्श मूल्य निरपेक्ष होते हैं, जिनमें अपवाद नहीं होता है। लेकिन वास्तविक संस्कृतियों में आदर्श मूल्यों और व्यावहारिक वास्तविकताओं के मध्य के अंतर्विरोधों को समाप्त करने के लिए अपवाद होते हैं। अमेरिकी मूल्यों को अधिकतर सर्वोत्तम मानकर आदर्श बनाया जाता है। जबकि जिन मूल्यों को हम दैनिक जीवन में कायम रखते हैं, वे वास्तविक संस्कृति से संबंधित होते हैं।

टिप्पणी

### अपनी प्रगति जांचिए

9. किस संस्कृति में वे मूल्य और मानदंड होते हैं, जिनका वास्तव में एक संस्कृति द्वारा पालन किया जाता है?

   (क) आदर्श संस्कृति में (ख) वास्तविक संस्कृति में

   (ग) भ्रष्ट संस्कृति में (घ) अवास्तविक संस्कृति में

10. कौन–सी संस्कृति अधिक उत्साही, आशावादी और चमकदार प्रतीत होती है?

   (क) आदर्श (ख) भ्रष्ट

   (ग) वास्तविक (घ) पारंपरिक

## 2.7 संस्कृति एवं मानव समायोजन

मानव की श्रेष्ठतम धरोहर उसकी संस्कृति है, जिसकी सहायता से मानव पीढ़ी दर पीढ़ी आगे बढ़ता रहता है, प्रगति की ओर उन्मुख रहता है। संस्कृति के कारण ही मानव समस्त प्राणियों में श्रेष्ठ माना जाता है। संस्कृति के अभाव में मानव को पशु के समान समझा जाता है, यह ही मनुष्य का पर्यावरण है। संस्कृति में रहकर मनुष्य उन सभी क्षमताओं को प्राप्त कर सका है जिनकी सहायता से उसके जीवन पर प्राकृतिक दशाओं का प्रभाव लगातार कम होता जा रहा है। इसलिए व्यक्ति को एक सामाजिक प्राणी बनाने, सामाजिक संगठन के रूप का निर्धारण करने, प्रौद्योगिकी विकास को एक दिशा प्रदान करने तथा आर्थिक व्यवस्था का निर्माण करने में संस्कृति के योगदान की अवहेलना नहीं की जा सकती है। इसी कारण से मानव जीवन को प्रभावित करने वाली शक्तियों में संस्कृति को सर्वाधिक प्रभावशाली शक्ति माना जाता है। मानव ही विश्व का ऐसा प्राणी है जो अपनी विशिष्ट क्षमताओं के कारण संस्कृति का निर्माण कर पाया है, भौतिक क्षेत्र में अनेक वस्तुओं को निर्मित कर पाया है एवं अभौतिक क्षेत्रों में अनेक विश्वासों तथा व्यवहारों के तरीकों को जन्म दे पाया है। संस्कृति परंपराओं, विश्वासों, जीवन–शैली, आध्यात्मिक पक्ष तथा भौतिक पक्ष से निरंतर जुड़ी रहती है। यह हमें जीवन का अर्थ और जीवन जीने का तरीका सिखाती है। मानव ही संस्कृति का निर्माता है और साथ ही संस्कृति मानव को मानव बनाती है।

संस्कृति का एक मौलिक तत्व है, धार्मिक विश्वास और उसकी प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति। सत्य, शिव और सुन्दर, ये तीन शाश्वत मूल्य हैं, जो संस्कृति से निकटतम संबंधित हैं। यह संस्कृति ही है जो मनुष्य को दर्शन और धर्म के माध्यम से सत्य के निकट लाती है। संस्कृति मानव जीवन में कलाओं के माध्यम से सौंदर्य प्रदान करती है और सौंदर्यानुभूतिपरक मानव बनाती है तथा दूसरे मनुष्यों के निकट संपर्क में लाती है। इसी के साथ प्रेम, सहिष्णुता तथा शांतियुक्त समाज का निर्माण संभव हो पाता है।

मैकाइवर व पेज ने कहा है कि 'मनुष्य न तो स्वयं में प्रारंभ है और न ही अंत। वरन् जीवन के कार्यक्रम में एक कड़ी है। वह एक समाजशास्त्रीय व प्राणीशास्त्रीय सत्य है।' वास्तव में, मानव संस्कृति की देन है। संस्कृति के साथ मानव का संबंध बीज के

टिप्पणी

धरती के साथ संबंध से भी अधिक घनिष्ठ है। संस्कृति के आधार पर ही मानव के विश्वास, मूल्य, प्रवृत्तियां आदि निर्मित होते हैं। इसी आधार पर हम अपने समाज की परंपराओं, प्रथाओं और आचरण संबंधी नियमों से परिचित होते हैं। व्यक्ति संस्कृति का निर्माता है, उसने अपने चिंतन, मनन, अनुभव और प्रयत्न के आधार पर संस्कृति का विकास किया है।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह अंत समय तक समाज में रहना चाहता है। वह उसी समय अधिक प्रसन्न दिखाई देता है, जब वह स्वयं की रुचि, पसंद और अभिवृत्तियों वाले समूह को प्राप्त कर लेता है। इस व्यावहारिक गतिशीलता का ही नाम समायोजन है। जब व्यक्ति अप्रसन्न दिखाई देता है तो यह उसके व्यवहार का कुसमायोजन होता है।

मानव शरीर की संरचना में यह विशिष्टता रहती है कि वहां विभिन्न अंगों की क्रियाओं में एक प्रकार का संतुलन रहता है। इसे समावस्थान कहा जाता है। इस विशिष्टता के कारण ही शरीर प्रतिकूल परिस्थितियों में भी समस्याओं का समाधान स्वयं करता रहता है। सामाजिक व सांस्कृतिक पर्यावरण के संदर्भ में समावस्थान समायोजन का रूप धारण कर लेता है। व्यक्ति को निरंतर दबावों का सामना करना पड़ता है। दबावों से सफलतापूर्वक निबटने के लिए यह आवश्यक है कि वह अपनी इच्छाओं और सामाजिक मांगों के मध्य समायोजन स्थापित करे। इस बात को बल देकर व्यक्तित्व की समायोजन संबंधी परिभाषाएं निर्मित की गई हैं।

व्यक्ति के ऐसे गुण जो उसको समायोजित करने में उसकी सहायता करते हैं, चाहे वे शारीरिक हों या मानसिक, उन सबका गठन इस प्रकार का होता है कि वे निरंतर गतिशील रहते हैं। इन गुणों की गत्यात्मकता के कारण ही एक विशेष प्रकार की अनन्यता व्यक्ति में पैदा हो जाती है। बोरिंग के अनुसार, 'व्यक्तित्व व्यक्ति का उसके वातावरण के साथ अपूर्व व स्थायी समायोजन है।'

ऑलपोर्ट के अनुसार, 'व्यक्तित्व व्यक्ति के उन मनोदैहिक गुणों का गत्यात्मक संगठन है जो उसके विशिष्ट व्यवहार, समायोजन और विचारों को प्रभावित करता है।' जब मनुष्य सामान्य से हटकर व्यवहार करने लगता है तो उसकी समायोजन की शक्ति का ह्रास होने लगता है। समायोजन वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा प्राणी अपनी आवश्यकताओं और इन आवश्यकताओं की पूर्ति को प्रभावित करने वाली परिस्थितियों में संतुलन रखता है।

विभिन्न क्षेत्रों के संबंध में, समायोजन निरंतर चलने वाली प्रक्रिया है, जिसके द्वारा व्यक्ति अपने सामाजिक व सांस्कृतिक वातावरण के मध्य संतुलित संबंध रखने के लिए अपने व्यवहार में वांछित परिवर्तन करता है। सामाजिक व्यक्तियों के लिए जीव का व्यवहार ग्राह्य और अग्राह्य हो सकता है, जिसे समायोजन और कुसमायोजन की संज्ञा दी जाती है। जीव के व्यवहार का परिक्षेत्र सामाजिक नियम, आदत, स्तर, रूढ़ियों एवं व्यवहार के विभिन्न तरीकों से लगाया जाता है।

मनुष्य अपने जीवन को समाज व संस्कृति के परिवेश के साथ समायोजित करने का प्रयास करता है और इसके पश्चात वह अपने व्यवहार में सामाजिक व सांस्कृतिक स्तर के अनुसार आंशिक अथवा पूर्ण परिवर्तन करता है। अतः जैविक व्यवहार की

गतिशीलता की सामाजिक मान्यता या सामाजिक अमान्यता ही उसके समायोजन एवं कुसमायोजन की द्योतक होती है।

टिप्पणी

### अपनी प्रगति जांचिए

11. किसके अभाव में मानव को पशु के समान समझा जाता है?

(क) सींगों के (ख) पूंछ के

(ग) संस्कृति के (घ) धन के

12. 'व्यक्तित्व व्यक्ति का उसके वातावरण के साथ अपूर्व व स्थायी समायोजन है।' यह किसका कथन है?

(क) बोरिंग का (ख) वेबर का

(ग) लिंटन का (घ) व्हाइट का

## 2.8 व्यक्तित्व और समाजीकरण

शिक्षा जगत में 'व्यक्तित्व' शब्द अपना एक विशेष स्थान रखता है। शिक्षा बालक के व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास का संपूर्ण प्रयोजन रखती है। अतः भावी अध्यापकों को 'व्यक्तित्व' के अर्थ प्रकृति एवं उसकी अवधारणा से परिचित होना अत्यन्त आवश्यक है।

### व्यक्तित्व : अर्थ एवं परिभाषाएं

मनोवैज्ञानिक भाषा में व्यक्ति अपने आप में जो कुछ भी है वही उसका व्यक्तित्व है। अपने प्रति और दूसरों के प्रति किए जाने वाले व्यवहार का यह एक समग्र चित्र है। इसमें व्यक्ति के पास शारीरिक, मानसिक, संवेगात्मक, सामाजिक और आध्यात्मिक रूप से जो कुछ भी होता है वह सभी सम्मिलित होता है। थोड़े शब्दों में व्यक्तित्व वह सब कुछ है जो एक व्यक्ति के पास होता है।

इस प्रकार निश्चित रूप से 'व्यक्तित्व' शब्द बाह्य रूप, आकृति और व्यवहार से अधिक गूढ़ अर्थ संजोये हुए है, जिसे निश्चित शब्दों में परिभाषित करना एक कठिन कार्य है। फिर भी बहुत से मनोवैज्ञानिकों ने अपनी तरह से इसे परिभाषा में बांधने का प्रयत्न किया है। इनमें से कुछ प्रयत्नों की चर्चा नीचे की जा रही है।

वॉटसन– 'विश्वसनीय सूचना प्राप्त करने के दृष्टिकोण से काफी लम्बे समय तक वास्तविक निरीक्षण या अवलोकन करने के पश्चात् व्यक्ति में क्रियाओं अथवा व्यवहार का जो भी रूप पाया जाता है, उसे उसका व्यक्तित्व कहा जाता है।'

इस प्रकार वॉटसन ने व्यवहारवादी होने के कारण व्यवहार पक्ष पर बल देते हुए किसी व्यक्ति के घनिष्ठ सम्पर्क में आने पर हम उसके ऊपर जो भी प्रभाव छोड़ते हैं अर्थात वह जैसा भी हमें समझता है, उसी को व्यक्तित्व कहा है।

मार्टन प्रिंस ने वंशानुक्रम और वातावरण दोनों की भूमिका को स्वीकार करते हुए व्यक्तित्व की इस प्रकार परिभाषा दी है, 'व्यक्तित्व व्यक्ति की सभी प्रकार की जन्मजात प्रकृतियों, आवेगों, प्रवृत्तियों, इच्छाओं एवं मूल-प्रवृत्तियों और अनुभवों के द्वारा अर्जित बातों का योग है।'

व्यक्तित्व की 49 विभिन्न परिभाषाओं की समीक्षा करने के बाद ऑलपोर्ट ने अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किए–'व्यक्तित्व व्यक्ति में उन मनोदैहिक व्यवस्थाओं का गतिशील संगठन है जो वातावरण के साथ उसके अपूर्व समायोजन का निर्धारण करता है।'

टिप्पणी

यद्यपि ऑलपोर्ट ने व्यक्तित्व की एक पूर्ण परिभाषा देने का दावा किया है, लेकिन उसने भी संगठन, गतिशील, मनोदैहिक व्यवस्था, अपूर्व समायोजन और वातावरण आदि शब्दों का प्रयोग कर दूसरों की तरह व्यक्तित्व का केवल वर्णन ही किया है। केवल सिद्धांत पक्ष पर बल देने और व्यावहारिक अथवा गतिशील प्रत्ययों के रूप में इसका वर्णन करने से व्यक्तित्व को सही रूप में समझना कठिन है।

आर.बी.कैटल और आईजेन्क जैसे आधुनिक मनोवैज्ञानिकों का भी यही दृष्टिकोण है। वे पूरी तरह यह अनुभव करते हैं कि अगर व्यक्तित्व का प्रदर्शन, मापन और अंकन नहीं किया जा सकता तब इसे मनोविज्ञान के स्थान पर दर्शनशास्त्र अथवा कला का विषय माना जाना चाहिए। व्यक्तित्व के अर्थ को स्पष्ट करने के सन्दर्भ में उन दोनों के विचार निम्न हैं–

आर.बी.कैटल–'व्यक्तित्व वह है, जिसके द्वारा हम यह भविष्यवाणी कर सकते हैं कि कोई व्यक्ति किसी परिस्थिति में क्या करेगा।'

आईजेन्क–'व्यक्तित्व व्यक्ति के चरित्र, स्वभाव, बुद्धि और शारीरिक बनावट का ऐसा स्थायी और स्थिर संगठन है, जो वातावरण के साथ उसके अपूर्व समायोजन को निर्धारित करता है।'

आईजेन्क ने अपनी परिभाषा में शामिल कुछ शब्दों का अर्थ स्पष्ट करने का प्रयास कुछ इस प्रकार से किया है–

**चरित्र :** व्यक्ति के क्रियात्मक व्यवहार के स्थिर और स्थायी संगठन को प्रकट करता है।

**स्वभाव :** व्यक्ति के भावात्मक व्यवहार के थोड़े-बहुत स्थिर और स्थायी संगठन को अभिव्यक्त करता है।

**शारीरिक बनावट :** इससे तात्पर्य व्यक्ति के जन्मजात शारीरिक ढांचे और उसके स्नायु संस्थान एवं नलिका विहीन ग्रन्थियों के स्थिर संगठन से है।

## आइजेन्क की परिभाषा की विशेषताएं एवं सीमाएं

आईजेन्क की परिभाषा की विशेषताएं एवं सीमाएं निम्न हैं–

### विशेषताएं

1. यह परिभाषा व्यक्तित्व के निर्माण में वंशानुक्रम और वातावरण के सन्तुलित महत्व को सामने लाती है।
2. इसके माध्यम से आइजेन्क ने व्यक्तित्व के लिए व्यवहार संबंधी विशेषताओं को गिनाने की बजाय (व्यक्तित्व) संगठन और संरचना को अधिक महत्व दिलाने का प्रयत्न किया है। व्यवहार संबंधी विशेषताओं को गिनाने की तुलना वे एक भवन के लिए उसकी ईंटों को गिनाने से करते हैं।
3. यह परिभाषा व्यक्तित्व को शरीर विज्ञान संबंधी आधार प्रदान करती है।

टिप्पणी

4. क्रियात्मक, ज्ञानात्मक, भावात्मक और रचनात्मक पक्षों को लेकर यह व्यक्ति के व्यवहार का सम्पूर्ण चित्र प्रस्तुत करने का प्रयत्न करती है।
5. व्यक्तित्व को मापन एवं मूल्यांकन की वस्तु बनाकर यह उसे वैज्ञानिक आधार भी प्रदान करने की चेष्टा करती है।

उपरोक्त विशेषताओं के आधार पर नहीं समझा जाना चाहिए कि आइजेन्क द्वारा दी गई यह परिभाषा सभी दृष्टि से पूर्ण है। अन्य परिभाषाओं की तरह इसमें भी कुछ कमियां हैं जो आगे दी जा रही हैं-

**सीमाएं**

1. यह परिभाषा व्यक्तित्व को शरीर विज्ञान संबंधी आधार प्रदान करती है लेकिन व्यक्तित्व की अपनी जटिल प्रकृति के कारण सदैव ऐसा करना सम्भव नहीं हो पाता।
2. यह परिभाषा हमें यह विचार करने पर मजबूर करती है कि व्यक्तित्व निश्चित एवं स्थिर है और उसमें किसी भी प्रकार का कोई परिवर्तन नहीं लाया जा सकता।

वास्तव में 'व्यक्तित्व' जैसे प्रत्यय और धारणाओं का स्पष्टीकरण एक कठिन कार्य है। ध्वनि, विद्युत आदि संप्रत्ययों की तरह इसके प्रभाव को भलीभांति अनुभव किया जा सकता है परन्तु इसकी वास्तविक प्रकृति की थाह पाना कठिन है। इसके स्वरूप की कुछ जानकारी इसकी विशेषताओं का वर्णन करने के माध्यम से ही हो सकती है।

## व्यक्तित्व की प्रकृति एवं स्वरूप

अधिकतर बोलचाल की भाषा में 'व्यक्तित्व' शब्द का प्रयोग शारीरिक डील-डौल, स्वास्थ्य, सौन्दर्य, रूप-लावण्य आदि बाहर से दिखाई पड़ने वाले तत्वों के संदर्भ में किया जाता है। किसी के गठीले बदन और चमकते चेहरे को देखकर हम कह उठते हैं कि देखो उसका व्यक्तित्व कितना आकर्षक है और किसी की कमजोर कद-काठी, पिचके गाल या निस्तेज चेहरे को देखकर अथवा उसके कपड़ों और जूतों की खस्ता हालत देखकर हम उसके व्यक्तित्व की उपेक्षा या तिरस्कार करते हैं। खाने-पीने, बोलने-चालने और चलने-फिरने के अच्छे और बुरे ढंग के माध्यम से भी हम व्यक्तित्व संबंधी अच्छे-बुरे लेबल चिपकाने का प्रयत्न करते हैं। बाहरी तौर पर व्यक्तित्व का अनुमान लगाने का यह ढंग व्यक्तित्व का सही अर्थ न जानने का ही परिणाम है।

प्राय: हम व्यक्तित्व शब्द को व्यक्ति के चरित्र या नैतिकता के पर्यायवाची शब्द के रूप में भी प्रयोग करते हैं। चरित्र संबंधी कुछ गुणों से युक्त होने पर व्यक्ति को अच्छे व्यक्तित्व वाला और कुछ अवगुणों या सामाजिक बुराइयों में ग्रस्त होने पर बुरे व्यक्तित्व वाला कहा जाता है। व्यक्तित्व शब्द का यह प्रयोग भी अपूर्ण और अनुचित है। चरित्र सभी प्रकार से केवल नैतिकता और आचार संहिता से अपना संबंध रखता है जबकि व्यक्तित्व में मानव को सम्पूर्ण बनाने से संबंधित सभी पक्षों की समष्टि होती है।

इस प्रकार से व्यक्तित्व शब्द को बाह्य रूप एवं आकृति, चरित्र और बाह्य व्यवहार के समान अर्थों में प्रयुक्त नहीं किया जा सकता। किसी भी अवस्था में व्यक्ति के 'व्यक्तित्व' के आंतरिक पक्ष की अवहेलना नहीं की जा सकती। व्यक्तित्व में व्यक्ति के

व्यवहार का समग्र रूप सामने आता है। अत: व्यवहार के बाह्य और आंतरिक दोनों ही पक्षों के अध्ययन को इसमें स्थान मिलना चाहिए।

टिप्पणी

## व्यक्तित्व संबंधी महत्वपूर्ण तथ्य

जो कुछ ऊपर कहा गया है उसे आधार बनाते हुये व्यक्तित्व के बारे में निम्न निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं-

1. व्यक्तित्व में व्यक्ति के बारे में सब कुछ निहित होता है। इसमें व्यवहार के तीनों पक्ष–ज्ञानात्मक, क्रियात्मक और भावनात्मक पक्ष सम्मिलित हैं तथा इसका क्षेत्र केवल चेतन अवस्था में किए गए व्यवहार तक ही नहीं बल्कि अर्धचेतन और अचेतन व्यवहार तक फैला हुआ है।
2. व्यक्तित्व की दूसरी विशेषता उसकी आत्मचेतना के गुण को लेकर है। जब व्यक्ति में आत्मचेतना जैसी वस्तु घर करने लगती है, तभी से उसके व्यक्तित्व का अस्तित्व प्रकाश में आना आरंभ होता है। एक छोटे बच्चे में आत्मचेतना या व्यक्तिगत परिचय का भाव उदय न होने पर व्यक्तित्व जैसी वस्तु नहीं होती।
3. विभिन्न गुणों अथवा विशेषताओं के संग्रह मात्र को व्यक्तित्व की संज्ञा नहीं दी जा सकती। किसी दीवार के बारे में उसकी ईंटों को गिनकर ही यह नहीं कहा जा सकता कि वह किस प्रकार की है। इसी दृष्टिकोण से व्यक्तित्व के स्पष्टीकरण के लिए भी विशेषताओं और गुणों के संग्रह के अतिरिक्त कुछ अन्य विशेषताएं भी होनी चाहिए। व्यक्तित्व कुछ मनोवैज्ञानिक व्यवस्थाओं अथवा व्यवहार संबंधी विशेषताओं और क्रियाकलापों का एक संयुक्त संगठन है। जिस प्रकार हाथी की टांगों को देखने मात्र से यह नहीं कहा जा सकता कि हाथी खम्बे जैसा होता है, उसी प्रकार किसी के डील-डौल, बोलने-चालने और खाने-पीने के आधार पर उसके व्यक्तित्व के बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता है। जब तक व्यक्ति के जैविक और सामाजिक अथवा वंशानुक्रम और वातावरण संबंधी पक्षों में पूरी तरह झांक नहीं लिया जाए तब तक उसके व्यक्तित्व के बारे में ठीक विचार नहीं बनाया जा सकता।
4. व्यक्तित्व जड़ नहीं बल्कि गतिशील और निरन्तर परिवर्तित एवं परिमार्जित होने वाली वस्तु है। अपने समायोजन के लिए जो कुछ भी आवश्यक होता है, व्यक्ति का व्यक्तित्व उसे वह सब कुछ देता है। समायोजन की प्रक्रिया एक सतत प्रक्रिया है। व्यक्ति को जब से वह जन्म लेता है तब से लेकर अपनी आखिरी सांस तक समायोजन के लिए संघर्षरत रहना पड़ता है। इस संघर्ष के लिए उसे अपने व्यवहार और व्यक्तित्व संबंधी गुणों में आवश्यक परिवर्तन लाने होते हैं।
5. व्यक्तित्व वंशानुक्रम और वातावरण की संयुक्त उपज है। बच्चे के व्यक्तित्व का समुचित विकास करने में दोनों ही अपनी-अपनी भूमिका निभाते हैं।
6. सीखना और अनुभवों का अर्जन दोनों व्यक्तित्व के विकास में पूरी तरह से सहायक होते हैं। सीखने और अर्जन संबंधी प्रक्रिया के फलस्वरूप व्यक्तित्व का निर्माण होता है।
7. प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तित्व एक और अनूठी विशेषता रखता है कि वह किन्हीं विशेष लक्ष्यों की पूर्ति के लिए संघर्षरत रहता है। इस दृष्टिकोण पर एडलर ने

टिप्पणी

अपनी पुस्तक में खुल कर चर्चा की है। उनके अनुसार एक व्यक्ति जिस तरह अपनी समस्याओं को सुलझाता है और जीवन के जो भी उद्देश्य उसने निर्धारित किए हैं उनका भलीभांति अध्ययन करके ही उसके व्यक्तित्व के बारे में कुछ कहा जा सकता है। इस प्रकार से व्यक्तित्व को 'व्यक्ति के जीने का ढंग' नाम देकर उन्होंने उसको बहुत ही सारगर्भित अर्थ देने की चेष्टा की है। इसके द्वारा व्यक्तित्व की समग्रता का पूरा चित्र सामने आ जाता है। इसका अर्थ व्यक्ति द्वारा अपने साथ और दूसरों के साथ किए जाने वाले व्यवहार के सभी प्रकार के ढंगों से लगाया जा सकता है। इसके द्वारा किसी एक परिस्थिति में व्यक्ति कैसा व्यवहार करेगा, इसका अनुमान लगाने के साथ-साथ बदलती हुई परिस्थितियों में उसकी समायोजन करने की क्षमता का भी पता चल सकता है।

## व्यक्तित्व के निर्धारक तत्व

व्यक्ति सम्पूर्ण रूप से अपने आप में जो कुछ भी होता है वही उसका व्यक्तित्व कहलाता है। इसमें व्यक्ति की सभी बातें सम्मिलित होती हैं, जैसे- उसका रंग-रूप, आकृति, शारीरिक बनावट, डील-डौल, बाह्य शारीरिक अंग, आन्तरिक अवयव उनकी संरचना एवं कार्य प्रणाली, बाह्य-आन्तरिक व्यवहार, उसके द्वारा की गयी ज्ञानात्मक, क्रियात्मक एवं भावात्मक व्यवहार संबंधी क्रियाएं, उसका चेतन, अर्ध-चेतन एवं अचेतन व्यवहार आदि।

इन सभी बातों और विशेषताओं से युक्त हमारा व्यक्तित्व किसी एक दिन और घटना का परिणाम नहीं है। इस तरह से हमारा व्यक्तित्व वृद्धि और विकास की एक ऐसी सतत प्रक्रिया का परिणाम कहा जाता है जिसकी शुरुआत मां के गर्भ में गर्भाधान के तुरन्त बाद ही शुरू हो जाती है।

गर्भाधान के समय होने वाले वंशानुक्रम संबंधी हस्तान्तरण से प्रारम्भ होकर बालक की वृद्धि एवं विकास को जो कुछ भी प्रभावित करता है तथा उसकी व्यवहार संबंधी बातों को एक विशेष प्रकार के सांचे में ढालने का प्रयत्न करता है, उन कार्यों में जिनमें बहुत से तत्वों, कारकों एवं परिस्थितियों की भूमिका रहती है उन्हें ही व्यक्तित्व निर्धारकों की संज्ञा दी जाती है।

व्यक्तित्व संबंधी निर्धारक तत्व बालक के वंशक्रम और वातावरण दोनों में ही समान रूप से उपस्थित रहते हैं और व्यक्ति अपने वंशक्रम तथा वातावरण की संयुक्त उपज के रूप में ही जाना जाता है। व्यक्तित्व निर्धारकों द्वारा व्यक्तित्व का निर्धारण करने अथवा उसका निर्माण करने की प्रक्रिया उसके सम्पूर्ण जीवन में अनवरत चलती रहती है। बालक आगे जाकर किस प्रकार के व्यक्तित्व के गुणों से विभूषित होगा यह सभी कुछ व्यक्तित्व निर्धारकों पर निर्भर करता है जो व्यक्ति के व्यक्तित्व को अच्छा या बुरा, भव्य या साधारण, रोबीला या दब्बू, बहिर्मुखी या अन्तर्मुखी, सामाजिक या असामाजिक, सामान्य या असामान्य के रूप में ढालने की पूरी क्षमता रखते हैं।

व्यक्तित्व का निर्धारण करने वाले तत्वों, कारकों अथवा परिस्थितियों का मुख्य रूप से निम्न दो प्रकार से वर्गीकरण किया जा सकता है :

टिप्पणी

**आंतरिक निर्धारक :** व्यक्तित्व के आन्तरिक निर्धारक एक तरह से व्यक्तिगत गुण होते हैं। दूसरे शब्दों में वे सभी बातें और कारण जो स्वयं व्यक्ति में ही निहित होते हैं और जिनके लिए व्यक्ति स्वयं ही उत्तरदायी होता है आन्तरिक निर्धारकों की श्रेणी में आते हैं। व्यक्ति की शारीरिक संरचना उसका बौद्धिक एवं मानसिक विकास, अभिप्रेरणा तथा महत्त्वाकांक्षा का स्तर, इच्छा शक्ति, रुचियां, अभिरुचियां, दृष्टिकोण, स्वभाव तथा संवेगात्मक विकास, सामाजिक कुशलता आदि बातें इन्हीं आन्तरिक निर्धारकों के अन्तर्गत आती हैं।

**बाह्य निर्धारक :** व्यक्तित्व के बाह्य निर्धारक, व्यक्ति के भीतर निहित न होकर व्यक्ति के वातावरण में निहित रहते हैं और इसी दृष्टि से इन्हें बाह्य कहा जाता है। मां के गर्भ में पालन-पोषण के लिए मिलने वाली सुविधाएं एवं वातावरण के माध्यम से ही वातावरण की शक्तियों के रूप में बाह्य कारकों का खेल शुरू हो जाता है। इस तरह जन्म के बाद बालक को मिलने वाला भौतिक वातावरण-जलवायु, वायु, जल, भोजन तथा अन्य प्रकार की भौतिक सुविधाएं एवं परिस्थितियां तथा परिवार, विद्यालय और सामाजिक संस्थाओं आदि के रूप में उपलब्ध सामाजिक और सांस्कृतिक वातावरण को व्यक्तित्व के बाह्य निर्धारकों की संज्ञा दी जाती है।

व्यक्तित्व के निर्धारकों को वर्गीकृत करने का दूसरा तरीका उन सभी सिद्धांतों एवं दृष्टिकोणों पर आधारित है जिनसे व्यक्तित्व की संकल्पना की जाती है और उसका वर्णन किया जाता है। इन्हें मुख्य रूप से शारीरिक या जैविक, मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक एवं सांस्कृतिक दृष्टिकोणों के रूप में जाना जाता है और इस दृष्टि से व्यक्तित्व के निर्धारकों को निम्न तीन मुख्य वर्गों में विभाजित किया जा सकता है-

- जैविक निर्धारक
- मनोवैज्ञानिक निर्धारक
- सामाजिक एवं सांस्कृतिक निर्धारक

## ( अ ) जैविक निर्धारक

जैविक निर्धारक कारक निम्न हैं-

1. **वंशक्रम संबंधी निर्धारक (Hereditary determinant) :** गर्भाधान के समय में मां और बाप द्वारा जिन क्रोमोसोम तथा जीन्स का बालक को हस्तान्तरण होता है और उनसे पैतृक एवं वंशक्रम संबंधी जो गुण एवं विशेषताएं विरासत के रूप में बालक को प्राप्त होती हैं वे सभी तरह से व्यक्तित्व रूपी भवन के लिए ठोस बुनियाद का कार्य करती हैं। यह वह पूंजी है जिसे लेकर बालक अपना जीवन व्यापार शुरू करता है। यह विरासत की पूंजी तथा बुनियाद जितनी कम या अधिक तथा कमजोर या पुख्ता होगी, व्यक्तित्व संबंधी निर्माण कार्य में उतनी ही असफलता या सफलता मिलेगी। दूसरे शब्दों में उतनी ही कम या अधिक मेहनत व्यक्तित्व निर्माण में करनी होगी, जितनी अधिक या कम पूंजी बालक को विरासत के रूप में अपनी वंशक्रम धरोहर से प्राप्त होगी। इस तरह वंशक्रम संबंधी धरोहर का बालकों के व्यक्तित्व निर्माण में जीवन के प्रथम चरण से ही स्पष्ट प्रभाव पड़ना प्रारम्भ हो जाता है।

टिप्पणी

2. **स्नायु संस्थान (Nervous system) :** हमारा स्नायु संस्थान हमारे अपने व्यवहार को नियंत्रित करने की दिशा में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। किस समय व्यक्ति कैसा व्यवहार करेगा, यह उसके अपने मस्तिष्क द्वारा लिए जाने वाले निर्णय के ऊपर ही निर्भर करता है। हमें अपनी ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से जो भी संवेदना होती है, वह स्नायु संस्थान द्वारा ही अर्थपूर्ण बनती है। हमारे कान सुनते हैं, परन्तु उन्होंने क्या सुना, यह मस्तिष्क ही बताता है। इसी तरह जो भी गन्ध हमारी नासिका ग्रहण करती है, वह सुगन्ध है या दुर्गन्ध, इसका निर्णय मस्तिष्क ही लेता है। इस प्रकार से इन्द्रियों के माध्यम से रस, रंग-रूप, गन्ध, ध्वनि और स्पर्श का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने में स्नायु संस्थान हमारी पूरी सहायता करता है। बहुत कुछ सीमा तक हमारी सीखने की प्रक्रिया भी स्नायु संस्थान द्वारा ही नियंत्रित होती है। सीखने की प्रक्रिया में मानसिक शक्तियों की कुंजी हमारे स्नायु संस्थान और विशेष रूप से मस्तिष्क के पास है। उचित मानसिक और बौद्धिक विकास के लिए स्नायु संस्थान के सभी महत्वपूर्ण अवयवों का ठीक प्रकार से विकसित होना तथा भलीभांति कार्य करते रहना अत्यन्त आवश्यक है। मस्तिष्क में अगर कहीं किसी तरह थोड़ा-बहुत दोष पैदा हो जाए तो बच्चे के मानसिक विकास पर उसकी गम्भीर प्रतिक्रिया होती है। इसके अतिरिक्त हमारे शरीर की शारीरिक और संवेगात्मक क्रियाओं के संचालन में भी स्नायु संस्थान महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। रक्त संचार, पाचन, श्वसन और ग्रन्थियों के स्राव से संबंधित क्रियाएं जिनके बिना हमारा जीवित रहना भी कठिन ही है, हमारे स्वतंत्र स्नायु संस्थान द्वारा ही नियंत्रित होती हैं। व्यक्ति की संवेगात्मक और शारीरिक क्रियाओं को नियंत्रित करने के अतिरिक्त स्नायु संस्थान उसके संवेगात्मक और शारीरिक विकास में भी पूरा-पूरा सहयोग देता है। रस ग्रन्थियों के स्राव पर भी नाड़ी तन्तु पूरा-पूरा प्रभाव रखते हैं और इस तरह से व्यक्ति के संवेगात्मक व्यवहार को दिशा प्रदान करना इनके हाथ में ही होता है। इसे अतिरिक्त स्नायु संस्थान अपने नाड़ी जाल और अन्य महत्वपूर्ण अवयवों के माध्यम से मानव शरीर द्वारा किए जाने वाले सभी महत्वपूर्ण बाह्य और अन्तःक्रिया-कलापों को संयोजित और संगठित करने का प्रयास करता है।

   इसके इतने सारे महत्वपूर्ण कार्यों को देखते हुए यह अच्छी तरह कहा जा सकता है कि स्नायु संस्थान मानव शरीर रूपी मशीन का एक बहुत ही उपयोगी कल-पुर्जा है, जो इसके ठीक प्रकार कार्य करने के लिए बहुत ही आवश्यक है और बच्चे के व्यक्तित्व के समुचित विकास में यह बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

3. **प्रणालिका विहीन ग्रन्थियां (Ductless glands) :** हमारे शरीर में कई ऐसी ग्रन्थियां हैं जिनके द्वारा आन्तरिक और बाह्य रूप में विभिन्न रासायनिक रस स्रावित होते रहते हैं। लार ग्रन्थियों की तरह कई ग्रन्थियां जो अपने द्वारा बनाये गये रसों को बारीक नलिकाओं या प्रणालियों के द्वारा बाहर निकालती हैं, प्रणालिका युक्त ग्रन्थियां कहलाती हैं।

इसके विपरीत ऐसी ग्रन्थियां जिनमें उत्पन्न होने वाले रस किसी प्रणालिका द्वारा बाहर की ओर नहीं बहते बल्कि ग्रन्थि से निकल कर सीधे रक्त में मिल जाते हैं, प्रणालिका

विहीन ग्रन्थियां कहलाती हैं। इन ग्रन्थियों द्वारा निर्मित रसों को हारमोन कहा जाता है। मानव शरीर में ये ग्रन्थियां अपने-अपने निश्चित स्थानों पर क्रियाशील रहती हैं।

आइए, अब इन कुछ महत्वपूर्ण ग्रन्थियों का संक्षिप्त रूप में कुछ परिचय प्राप्त किया जाए-

टिप्पणी

**( क ) चुल्लिका ग्रन्थि (Thyroid gland) :** यह श्वास नली के सामने गर्दन के मूल में स्थित होती है। यह थायरोक्सिन नामक हारमोन का निर्माण करती है। यह ग्रन्थि ऑक्सीकरण प्रक्रिया को तेज करके भोजन को शक्ति के रूप में बदलने में सहायक होती है। शरीर में ऑक्सीजन की खपत और सभी प्रकार की टूट-फूट तथा सृजन के कार्य को सन्तुलित और नियमित करने के कार्य में भी यह बहुत सहायता करती है। इस ग्रन्थि के ठीक प्रकार से विकसित न होने या इसमें कोई विकार आने पर शरीर में बहुत से दोष पैदा हो जाते हैं तथा शरीर के अवयवों का पूर्ण विकास भी नहीं हो पाता। चुल्लिका ग्रन्थि की क्रिया में शिथिलता आने से शारीरिक वृद्धि के कार्य में पर्याप्त शिथिलता आ जाती है और व्यक्ति आरामतलब तथा सुस्त बन जाता है। साथ ही उसकी बुद्धि, स्मृति और अन्य मानसिक शक्तियां भी निष्क्रिय और निर्बल हो जाती हैं। दूसरी ओर इस ग्रन्थि का आवश्यकता से अधिक सक्रिय हो जाना भी ठीक नहीं रहता। इससे व्यक्ति बहुत अशान्त और चिड़चिड़े स्वभाव का हो जाता है।

**( ख ) उपचुल्लिका ग्रन्थियां (Parathyroid glands) :** ये ग्रन्थियां चुल्लिका ग्रन्थियों के पीछे स्थित होती हैं। इनकी संख्या प्राय: चार होती है। इनके द्वारा उत्पन्न हारमोन चुल्लिका ग्रन्थियों द्वारा उत्पन्न हारमोन की सक्रियता को कम करके ठीक सन्तुलन बनाये रखने में सहयोग देते हैं। ये ग्रन्थियां शरीर में से उत्तेजक द्रव्यों को बाहर निकाल कर स्नायु संस्थान को अधिक शान्त और सहज बनाने में सहायता करती हैं। इनकी क्रिया शिथिल होने से मांसपेशियां बिना किसी प्रयोजन के उत्तेजना का अनुभव करती रहती हैं जबकि इनकी अति सक्रियता से शरीर शिथिल और निष्क्रिय हो जाता है।

**( ग ) पीयूष ग्रन्थि (Pituitary gland) :** पीयूष ग्रन्थि मस्तिष्क के नीचे की तली के लगभग मध्य में स्थित होती है। यह मटर के दाने के बराबर अंडाकार होती है। इस ग्रन्थि द्वारा स्रवित हारमोन अन्य सभी ग्रन्थियों को बहुत अधिक प्रभावित करते हैं। अत: इसे 'स्वामिनी ग्रन्थि' (सब पर शासन करने वाली ग्रन्थि) कहा जाता है। इस ग्रन्थि को दो अलग-अलग भागों अगले और पिछले में बांटा जा सकता है।

अगला भाग हड्डियों के विकास में बहुत सहयोग देता है। इस भाग से लगभग छह प्रकार के हारमोन उत्पन्न होते हैं। इनकी कमी से शरीर का विकास ठीक तरह से नहीं होता। आदमी बौना या नाटा रह जाता है। इनकी अत्यधिक मात्रा भी हानिकारक है। उससे शरीर के विभिन्न भागों की बिना किसी अनुपात में अस्वाभाविक वृद्धि हो जाती है और मनुष्य कुरूप लगने लगता है। अगले भाग में उत्पन्न ये छह प्रकार के हारमोन्स चुल्लिका ग्रन्थियों, उपवृक्क ग्रन्थियों और यौन ग्रन्थियों को अपने कार्य में पर्याप्त सहयोग देते हैं।

टिप्पणी

पीयूष ग्रन्थि का पिछला भाग भी उपयोगी हारमोन्स उत्पन्न करता है। इनमें से पिट्यूटरी नामक हारमोन शरीर की जलधारण शक्ति और रक्तचाप पर नियंत्रण रखता है। इसकी कमी होने से बहुमूत्रता (जल्दी-जल्दी पेशाब करना) का रोग हो जाता है तथा रुधिर का दबाव भी कम हो जाता है।

**(घ) उपवृक्क ग्रन्थियां (Adranal glands/Suprarenal glands) :** नोकदार टोपियों जैसी लगने वाली ये ग्रन्थियां संख्या में दो होती हैं। दोनों गुर्दों में से प्रत्येक को ये दोनों ग्रन्थियां अलग-अलग घेरे रहती हैं तथा दो अलग-अलग, कॉर्टिन तथा एड्रीनेलिन नाम के हारमोन्स का निर्माण करती हैं। कॉर्टिन की उपयोगिता का कोई विशेष अनुमान नहीं लगाया जा सका है परन्तु एड्रीनेलिन निश्चित रूप से स्नायु संस्थान, मांसपेशियों और यौन अंगों की कार्यप्रणाली पर गहरा प्रभाव डालता है। उपवृक्क ग्रन्थियों को प्राण रक्षा ग्रन्थियों की संज्ञा दी जा सकती है क्योंकि इनकी थोड़ी-सी भी शिथिलता हमारे शरीर को दिन प्रतिदिन दुर्बल बनाती जाती है। इन ग्रन्थियों का मुख्य कार्य संकट के समय शरीर की रक्षा करना है। इनमें उत्पन्न हारमोन्स संकट के समय हमें डटकर मुकाबला करने या प्राण रक्षा के निमित्त भाग निकलने की शक्ति और प्रेरणा देते हैं। इन ग्रन्थियों में बनने वाला एड्रीनेलिन नामक हारमोन शरीर को किसी भी संवेगात्मक अवस्था क्रोध, चिन्ता, भय, आदि के लिए विशेष रूप से तैयार होने में सहायता प्रदान करता है।

उपवृक्क ग्रन्थियों की अतिक्रियाशीलता व्यक्ति को बहुत अधिक क्रियाशील, उत्तेजित और लड़ाकू प्रवृत्ति का बना देती है। समय से पहले ही यौन परिपक्वता भी इसी कारण आती है। इन ग्रन्थियों के आवश्यकता से अधिक विकसित होने पर कुछ स्त्रियां पुरुषों जैसी दिखने लगती हैं। उनमें नारी सुलभ कोमलता और सहनशीलता नहीं रहती। दूसरी और पुरुषों में इनका कम विकास होने पर ये स्त्रियों जैसी आकृति और स्वभाव वाले (दब्बू एवं भीरु) बन जाते हैं और उनके चेहरे पर दाढ़ी-मूंछ कम उगती है।

**(ङ) यौन ग्रन्थियां (Gonads) :** यौन ग्रन्थियां जिन्हें गोनेड्स भी कहा जाता है, स्त्री और पुरुष, दोनों में भिन्न प्रकार की होती हैं। पुरुषों में यौन ग्रन्थियों की स्थिति अंडकोषों में तथा स्त्रियों में अंडाशयों में होती है। पुरुषों की यौन ग्रन्थियां एन्ड्रोजन नामक हारमोन तथा स्त्रियों की यौन ग्रन्थियां एस्ट्रोजन नामक हारमोन उत्पन्न करती हैं। यौन ग्रन्थियों का समुचित विकास केवल यौन अंगों के विकास के लिए ही आवश्यक नहीं बल्कि व्यक्तित्व का सम्पूर्ण विकास और व्यवहार भी इनके ऊपर निर्भर करता है। पुरुषों के स्वभाव में उनकी यौन ग्रन्थियों के हारमोन्स के प्रभाव से ही विभिन्नता पाई जाती है। जहां ये हारमोन्स ठीक सन्तुलित रूप से विद्यमान होते हैं वहां स्वभाव ठीक रहता है। इनकी अधिक सक्रियता और निष्क्रियता दोनों ही हमारे लिए समान रूप से अहितकर सिद्ध होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सभी प्रणालिका विहीन ग्रन्थियां वृद्धि और विकास के हर पहलू को पूरी तरह प्रभावित करती हैं। ये ग्रन्थियां संवेगात्मक व्यवहार और शारीरिक क्रियाओं को नियंत्रित कर हमारे सम्पूर्ण व्यवहार को निर्देशित करती हैं और इस प्रकार से हमारे सम्पूर्ण व्यक्तित्व को दिशा प्रदान करती हैं। इन ग्रन्थियों द्वारा उत्पन्न हारमोन्स (रासायनिक द्रव्य) ही हमारे व्यक्तित्व की विशेषताओं और

टिप्पणी

गुणों के लिए उत्तरदायी ठहराये जा सकते हैं। ये हारमोन्स रक्त में घुले होने के कारण शरीर के कोने-कोने में पहुंचते हैं और इसलिए जो कुछ भी हम करते हैं, सोचते हैं और अनुभव करते हैं, उसे प्रभावित करने का पूरा-पूरा अवसर इन्हें प्राप्त होता है। गार्डनर मर्फी ने इनके बारे में निष्कर्ष निकालते हुए लिखा है, "अन्तिम रूप से यह माना जा सकता है कि हारमोन्स अपने-अपने विशेष यथोचित रसायनिक द्रव्यों से मस्तिष्क सहित सारे स्नायु संस्थान तथा शरीर के अन्य सभी अवयवों को स्नान कराते रहते हैं।"

इसी प्रकार प्रणालिका विहीन ग्रन्थियों से उत्पन्न विभिन्न हारमोन्स व्यक्ति के व्यवहार और उसके व्यक्तित्व के विकास को समग्र रूप से प्रभावित करते हैं।

4. **शारीरिक ढांचा एवं बनावट (Physical structure and appearance) :** शारीरिक ढांचा एवं बनावट किसी के व्यक्तित्व का आवश्यक अंग होने के अतिरिक्त उसके सम्पूर्ण व्यवहार या व्यक्तित्व के निर्धारण करने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

   बालक का कद, भार, रंग, रूप शारीरिक शक्ति और स्वास्थ्य, शारीरिक न्यूनताएं और असमानताएं आदि शारीरिक विशेषताएं व्यक्तित्व के विकास को बहुत अधिक प्रभावित करती हैं। इस प्रभाव के दो रूप हो सकते हैं–

   1. बालक शारीरिक विशेषताओं के दृष्टिकोण से जितना अधिक सम्पन्न अथवा अभावग्रस्त होता है, उसका जीवन के प्रति दृष्टिकोण, आपसी व्यवहार करने का ढंग मूल्य और मान्यताएं उसी के अनुकूल बन जाती हैं।
   2. बालक की अपनी शारीरिक बनावट के प्रति दूसरे व्यक्ति जिस प्रकार की भावनाओं का प्रदर्शन करते हैं और बालक उसके आधार पर अपने बारे में जो भी धारणाएं बनाता है, उनका प्रभाव उसके व्यक्तित्व के निर्माण में अवश्य पड़ता है। आत्महीनता या आत्मगौरव की प्रवृत्तियां तथा विभिन्न कुंठाओं और व्यावहारिक चेष्टाओं आदि को इसी से जन्म मिलता है।

5. **शरीर रसायन (Body chemistry) :** बालक के व्यवहार एवं व्यक्तित्व के विकास को प्रभावित करने में उसके शरीर रसायनों का भी काफी महत्वपूर्ण सहयोग रहता है। हमारे शरीर को कार्य करने के लिए जो शक्ति मिलती रहती है उसे प्रदान करने में शरीर के भीतर चल रही रासायनिक क्रियाओं का सहयोग रहता है। शर्करा को ग्लूकोज में बदलना, भोजन का पचना, सांस के अन्दर और बाहर जाने के रूप में ऑक्सीजन का कार्बन-डाईआक्साईड के रूप में बाहर आना, ऑक्सीकरण की क्रिया का सम्पन्न होना, दिन-रात हमारे शरीर में चलते रहते हैं। ये क्रियाएं जिस ढंग से हमारे शरीर में सम्पन्न होती हैं उसी रूप में हमारा व्यवहार व्यक्तित्व के विकास और व्यवहार को बुरी तरह प्रभावित करता है। उदाहरण के लिए स्नायु द्रव्य की मात्रा अधिक होने से व्यक्ति में घबराहट बढ़ जाती है। इसी प्रकार शरीर में शर्करा की निश्चित मात्रा विद्यमान रहने से ही व्यक्ति स्वस्थ रहता है और उसका व्यवहार सामान्य रहता है। इसकी मात्रा में कमी तथा अधिकता दोनों ही व्यक्ति के व्यवहार और व्यक्तित्व को असामान्य बनाने का सामर्थ्य रखते हैं।

## ( ब ) मनोवैज्ञानिक निर्धारक

टिप्पणी

मानव व्यवहार तथा व्यक्तित्व को प्रभावित करने की दृष्टि से मनोवैज्ञानिक कारक काफी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। कुछ उल्लेखनीय मनोवैज्ञानिक कारकों का वर्णन नीचे किया जा रहा है-

1. **बुद्धि और मानसिक विकास :** बालक की बुद्धि और मानसिक विकास का उसके व्यक्तित्व के निर्धारण में महत्वपूर्ण हाथ रहता है। कोई कैसे व्यवहार करता है यह उसकी बुद्धि और मानसिक क्षमताओं पर बहुत कुछ निर्भर करता है। व्यक्ति का सम्पूर्ण समायोजन, सीखने की प्रक्रिया और उसमें सफलता, ज्ञान तथा कौशलों का अर्जन, निर्णय लेने की क्षमता, समस्याओं को सुलझाने की योग्यता तथा व्यक्तियों और परिस्थितियों से तालमेल रखने का कौशल तथा समझदारी सभी कुछ उसके बौद्धिक विकास पर ही निर्भर करता है। एक तरह से व्यक्ति का सम्पूर्ण व्यवहार उसकी बुद्धि से ही नियमित रहता है और व्यक्ति का व्यवहार वही बनता है जो उसकी बुद्धि और मानसिक क्षमता द्वारा बनाया जाता है।

2. **रुचियां एवं दृष्टिकोण :** व्यक्ति की रुचियां और दृष्टिकोण उसके व्यवहार करने के तरीकों तथा व्यक्तित्व पर काफी प्रभाव डालते हैं। हम उन्हीं बातों को कहना, सुनना तथा करना चाहते हैं जिनमें हमारी किसी न किसी तरह से कोई रुचि होती है। जिनके प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण होता है, उन बातों तथा व्यक्तियों को पसन्द किया जाता है। उनका सामीप्य हमें अच्छा लगता है और जिनके प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण होता है उनसे हम दूर भागना चाहते हैं। इस तरह हमारा व्यवहार किन्हीं वस्तुओं, विचारों या व्यक्तियों के प्रति जैसा रहता है, यह बहुत कुछ हमारी रुचियों तथा दृष्टिकोणों पर निर्भर करता है। इस बात में कोई सन्देह नहीं है और इस तरह रुचियां और दृष्टिकोण, मनोवैज्ञानिक निर्धारकों के रूप में सशक्त भूमिका निभाने की पूरी क्षमता रखते हैं।

3. **महत्वाकांक्षा का स्तर एवं उपलब्धि अभिप्रेरणा :** व्यक्ति की महत्वाकांक्षा एवं उपलब्धि अभिप्रेरणा का स्तर उसके व्यक्तित्व के निर्धारण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। जिनकी कोई महत्वाकांक्षा ही नहीं वह कुछ पाने के लिए प्रयत्न ही क्यों करेगा तथा जो इस प्रकार किसी उपलब्धि के लिए अभिप्रेरित नहीं रहेगा उसका व्यक्तित्व भी पूरी तरह निकम्मा, आलसी और सुस्त व्यक्ति के रूप में ही बन जाएगा। ऐसा व्यक्ति भाग्य को कर्म से अधिक प्रधानता देगा तथा जो कुछ प्राप्त होता रहेगा उसी में सन्तुष्टि अनुभव करेगा। दूसरी और जहां महत्वाकांक्षा अधिक होगी, उपलब्धि अभिप्रेरणा का स्तर अधिक होगा, वहां व्यक्ति संघर्षशील बनेगा, सक्रिय होकर जीवन में कुछ प्राप्त करना चाहेगा, आत्मविश्वासी होगा तथा भाग्य से अधिक कर्म पर भरोसा करेगा। निस्सन्देह इस प्रकार का व्यक्तित्व महत्वाकांक्षाहीन तथा निम्न अभिप्रेरणा उपलब्धि वाले व्यक्तित्व से सर्वथा पृथक ही होगा। इस तरह जिस प्रकार की उपलब्धि, अभिप्रेरणा और महत्वाकांक्षा का स्तर व्यक्ति का होगा उसी रूप में उसका व्यवहार और व्यक्तित्व भी ढल जाएगा।

4. **इच्छाशक्ति :** इच्छा शक्ति को व्यवहार की नियंत्रक और चालक शक्ति कहा जाता है। दृढ़ इच्छा शक्ति वाले व्यक्ति जो ठान लेते हैं उसे पूरा करने में जी जान लगा

टिप्पणी

देते हैं। उनमें पर्याप्त निर्णय क्षमता तथा गजब का धैर्य देखने को मिलता है। इसके विपरीत कमजोर इच्छा शक्ति वाले व्यक्ति का व्यक्तित्व भी कमजोर सांचे में ढला रहता है व सर्वथा असमंजस की स्थिति में रहता है, अपने पर उसे विश्वास नहीं होता। अतः कुछ विशेष सफलता प्राप्त करने की बात उसके जीवन में कम ही होती है। इस तरह इच्छा शक्ति की सबलता और निर्बलता व्यक्ति के व्यक्तित्व निर्माण में काफी अन्तर पैदा कर देती है।

5. **संवेगात्मक और स्वभावगत विशेषताएं :** व्यक्ति का स्वभाव तथा संवेगात्मक विशेषताएं उसके व्यवहार एवं व्यक्तित्व को दिशा प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। व्यक्ति में जिस प्रकार के सकारात्मक एवं नकारात्मक संवेगों की अधिकता होगी, संवेगात्मक परिपक्वता का जो स्तर होगा, स्वभावगत जैसी प्रकृति और विशेषताएं होंगी और आदतों, भावनाओं तथा स्थायी भावों का जिस प्रकार का संगठन होगा, उसका व्यक्तियों, विचारों एवं वस्तुओं के प्रति वैसा ही दृष्टिकोण बनेगा तथा उसका व्यवहार और व्यक्तित्व उसी प्रकार के रंग में रंगा दिखाई देगा। एक क्रोधी और ईर्ष्यालु व्यक्तित्व कुछ और ही तरह का बनेगा जबकि शान्त प्रकृति वाले, सबके हित की बात सोचने वाले व्यक्ति का व्यवहार और व्यक्तित्व एक अलग ही खूबसूरत सांचे में ढला प्रतीत होगा। इसी प्रकार स्वभावगत विशेषतायें व्यक्तित्व को सांचों में ढालने की भूमिका निभाती रहती हैं।

## (स) सामाजिक एवं सांस्कृतिक निर्धारक

व्यक्ति के व्यक्तित्व में बहुत कुछ व्यवहार अर्जित ही होता है और इस अर्जन के पीछे वातावरणजन्य अनुभव अपना पूरा प्रभाव दिखाते हैं।

वातावरण संबंधी इस अनुभवों को प्रदान करने में व्यक्ति के सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवेश में निहित शक्तियां, संस्थाएं तथा परिस्थितियां काफी सशक्त भूमिका निभाती हैं जिनका संक्षेप में वर्णन निम्नलिखित है-

1. **घर एवं परिवार :** व्यक्तित्व के निर्माण में पारिवारिक जीवन का बहुत अधिक महत्व है। घर और परिवार के स्वस्थ वातावरण में बच्चे को अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए समुचित अवसर प्राप्त हो सकते हैं जबकि घर का बिगड़ा हुआ वातावरण उसके व्यक्तित्व को गलत दिशा प्रदान कर सकता है। घर और परिवार में बच्चे के व्यक्तित्व के विकास को प्रभावित करने वाले कुछ उल्लेखनीय तत्व निम्न हैं–

   (क) **माता-पिता :** माता-पिता की शिक्षा, उनके व्यक्तित्व संबंधी गुण, संवेगात्मक और सामाजिक व्यवहार, उनके आपसी संबंध, रुचि और अभिरुचि तथा चरित्र का बच्चों के व्यक्तित्व पर प्रभाव पड़ता है।

   (ख) **परिवार में बच्चों की संख्या और उनका जन्म क्रम :** परिवार में कितने बच्चे हें, वे कितने भाई-बहिन हैं, वह सबसे पहला बच्चा है अथवा अन्तिम, इन बातों पर भी बच्चे के व्यक्तित्व का विकास निर्भर करता है।

   (ग) **पारिवारिक स्थिति और आदर्श :** परिवार की सामाजिक व आर्थिक स्थिति कैसी है, वे किन मान्यताओं, विश्वास अथवा मूल्यों में श्रद्धा रखते हैं, किस

संस्कृति व धर्म को अपनाते हैं, इसका प्रभाव भी बच्चे के व्यक्तित्व पर पड़ता है।

टिप्पणी

(घ) **परिवार के सदस्यों का व्यक्तित्व और व्यवहार :** माता-पिता का आपसी व्यवहार तथा उनका बालक के प्रति दृष्टिकोण और व्यवहार ही बालक के व्यक्तित्व को प्रभावित नहीं करता बल्कि घर में रहने वाले परिवार के प्रत्येक व्यक्ति का व्यवहार और व्यक्तित्व बालक के व्यक्तित्व पर प्रभाव डालने की पूरी क्षमता रखता है। बालक जाने-अनजाने में वही सब कुछ करने या बनने का प्रयत्न करता है जैसा आचरण और व्यवहार वह अपने परिवार के सदस्यों को करते देखता है।

2. **विद्यालय का वातावरण :** बच्चे के व्यक्तित्व के विकास में विद्यालय के वातावरण का भी विशेष महत्व है। अध्यापक, प्रधानाध्यापक सहपाठियों के व्यक्तित्व संबंधी गुण, शिक्षण विधियां, पाठ्यक्रम, पाठान्तर क्रियाओं का आयोजन, विद्यालय द्वारा बनाकर रखे हुए ऊंचे आदर्श तथा मूल्य और विद्यालय का सामान्य वातावरण आदि सभी तत्व बच्चे के व्यक्तित्व के विकास को प्रभावित करते हैं।

यही कारण है कि जिन विद्यालयों की परिवेश एवं परिस्थितियों तथा पढ़ाई-लिखाई के स्तर के बारे में काफी प्रसिद्धि होती है उनमें प्रवेश पाने के लिए काफी भीड़ रहती है और उन विद्यालयों से निकले हुए विद्यार्थियों की व्यक्तित्व संबंधी एक विशेष छाप या पहचान होती है।

अच्छे, सामान्य तथा निम्न दर्जे के विद्यालयों और उनमें प्राप्त वातावरण संबंधी अनुभवों में से निकले हुये विद्यार्थियों के व्यक्तित्व संबंधी अन्तरों को बड़े ही स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है और यही बात यह सिद्ध करने में पूरी तरह समर्थ है कि विद्यालय का वातावरण व्यक्तित्व निखारने के रूप में काफी अहम भूमिका निभाता है।

3. **सामाजिक परिवेश में विद्यमान अन्य कारक :** घर, परिवार और विद्यालय के प्रभाव के अतिरिक्त बालक के सामाजिक परिवेश में और भी बहुत सी संस्थायें, संगठन तथा अन्य सामाजिक अनुभव प्रदान करने वाले कई स्त्रोत होते हैं जिनसे बालक के व्यक्तित्व के विकास पर प्रभाव पड़ता है। इन्हें संक्षिप्त रूप में निम्न प्रकार से वर्णित किया जा सकता है-

(क) **पास-पड़ोस :** पास-पड़ोस में जो व्यक्ति रहते हैं, जिन बालकों के साथ बालक खेलता है तथा अपना समय व्यतीत करता है, उन सभी का व्यवहार और व्यक्तित्व बालक के व्यक्तित्व के विकास को पूरी तरह प्रभावित करता है। यही कारण है कि एक अच्छे पड़ोस की ओर ध्यान दिया जाना बालकों के व्यक्तित्व के सही विकास के लिए सबसे आवश्यक बात मानी जाती है।

(ख) **धार्मिक संस्थाएं :** गुरुद्वारे तथा चर्च आदि धार्मिक स्थान, उनमें चलने वाली धार्मिक तथा सामाजिक गतिविधियां आदि बालक के दिल और दिमाग पर शुरू से ही बड़े ही शान्त रूप में गम्भीर एवं स्थायी प्रभाव छोड़ने की क्षमता रखते हैं और इस तरह उसके व्यवहार एवं व्यक्तित्व के निर्धारण में अपनी शक्तिशाली भूमिका निभाते हैं।

टिप्पणी

**(ग) अन्य सामाजिक संस्थाएं, संगठन एवं साधन :** बालक के सामाजिक परिवेश में सभी अन्य कई तरह की संस्थायें, समूह, संगठन तथा साधन निहित होते हैं जो बालक के व्यक्तित्व पर गहरी छाप अंकित करने की क्षमता रखते हैं। कई तरह की सामाजिक संस्थायें, क्लब, मनोरंजन तथा संप्रेषण के साधन (रेडियो, टेलीविजन, फिल्म आदि) साहित्यिक तथा ललित कलाओं से संबंधित संस्थायें, प्रचार के साधन, समाचार पत्र-पत्रिकायें, पुस्तकें तथा अन्य सभी तरह का साहित्य आदि सभी किसी न किसी रूप में बालक के व्यक्तित्व को मोड़ने में काफी प्रभावकारी सिद्ध हो सकते हैं। सामाजिक वातावरण में सीखे जाने वाले पाठ उनके व्यक्तित्व के निर्धारक ही कहे जाएंगे। किशोर बालक और बालिकाओं पर सिनेमा और उपन्यास के नायक और नायिकाओं का जो प्रभाव पड़ता है वह उनके व्यवहार और व्यक्तित्व को प्रभावित करने में कितना समर्थ सिद्ध हो सकता है, यह बात किसी से छुपी नहीं है। इस तरह बालक अपने चारों और फैले सामाजिक वातावरण में जो कुछ भी देखते हैं उसे अपने जीवन में उतारने का प्रयत्न करते हैं और उसी के अनुकूल उनका व्यक्तित्व भी इसी सांचे में ढलता चला जाता है।

4. **सांस्कृतिक वातावरण :** बालक का सांस्कृतिक परिवेश भी बालक के व्यक्तित्व संबंधी विकास पर विशेष प्रभाव डालता है। बालक जिस समाज में रहता है उसका सांस्कृतिक स्वरूप क्या है, इस बात का बालक के व्यवहार, आचार, विचार तथा व्यक्तित्व पर गहरा प्रभाव पड़ता है। लोग कैसे रहते हैं, कैसे सोचते हैं, क्या खाते-पीते हैं, आपस में किस तरह व्यवहार एवं आचरण करते हैं, किस तरह के वस्त्र आदि पहनते हैं, उनका जीवन दर्शन क्या है, सामाजिक एवं धार्मिक मान्यतायें किस प्रकार की हैं, दूसरी, जाति, वर्ण, धर्म तथा प्रान्त संबंधी मान्यतायें किस प्रकार की हैं, दूसरी जाति, वर्ण, धर्म, प्रान्त तथा देशों के नागरिकों के प्रति उनका कैसा व्यवहार है उनके किस प्रकार के संस्कार तथा आस्थायें हैं, दूसरे लिंग के प्रति उनका क्या दृष्टिकोण है और उनके जीवन यापन की क्या शैली है आदि इस प्रकार की सभी बातें जो सांस्कृतिक परिवेश का प्रतिनिधित्व करती हैं, बालक को प्रारम्भ से ही अपने रंग में रंगना प्रारम्भ कर देती हैं। एक विशेष सांस्कृतिक वातावरण में पला हुआ व्यक्ति अपनी व्यक्तित्व संबंधी विशेषताओं में दूसरों से काफी भिन्न इसीलिए ही नजर आता है। एक ऐसा सांस्कृतिक वातावरण जहां महिलाओं को निम्न श्रेणी का स्तर दिया जाता है, उस वातावरण में बड़े होने वाले बालक से महिलाओं के प्रति यथेष्ट सम्मान प्रदर्शित करने की अपेक्षा कम ही होती है। एक दूसरा ऐसा सांस्कृतिक वातावरण जहां बुजुर्गों की विशेषकर वृद्धावस्था में उनकी देखभाल तथा सेवा करना आदि जैसी बातें आचरण में नहीं होती वहां बुजुर्गों तथा नवयुवकों का व्यवहार व आचरण उसी रूप में ढल जाता है। यूरोपीय देशों में वृद्ध और लाचार मां-बापों को अपने परिवार से अलग होकर एकाकी जीवन बिताने के लिए मजबूर होना इसी प्रकार के सांस्कृतिक कारकों का ही प्रतिफल है। वहां के परिवेश में पले युवा दंपत्तियों को अपने वृद्ध मां-बाप तथा सास-ससुर को इस तरह तिरस्कृत कर देने में कोई भी अपराध भावना का अनुभव नहीं होता क्योंकि उनके व्यक्तित्व का निर्माण उस सांस्कृतिक परिवेश में वैसा ही हो जाता है। दूसरी ओर भारतीय परिवेश

टिप्पणी

में पले हुए व्यक्तित्व में अपने बुजुर्गों के प्रति सम्मान प्रकट करना तथा वृद्ध माता-पिता की सेवा करना आदि बातें शुरू से घर कर लेती हैं और इस प्रकार के दृष्टिकोण और विचारों से युक्त व्यक्तित्व का निर्माण कार्य सांस्कृतिक परिवेश के प्रभाव स्वरूप ही होता है। इस तरह यह भलीभांति कहा जा सकता है कि व्यक्ति के व्यक्तित्व को निर्धारित करने में उसके सांस्कृतिक परिवेश एवं वातावरण का काफी हाथ रहता है।

इस तरह से व्यक्ति के व्यक्तित्व के निर्धारण में उसके जैविक, मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक एवं सांस्कृतिक कारकों की यथेष्ट भूमिका होती है।

इनमें से जहां जैविक कारकों को वंशक्रम से पूरी तरह जुड़ा हुआ माना जाता है वहीं सामाजिक एवं सांस्कृतिक कारकों की पूरी तरह वातावरण और परिवेश संबंधी कारकों व शक्तियों के रूप में गिनती की जाती है। मनोवैज्ञानिक कारक जैसे बुद्धि तथा स्वभाव आदि वंशक्रम से भी आ जाते हैं और वातावरण से भी। इस तरह से इनकी स्थिति वंशक्रम और वातावरण के मध्य ही होती है और उन्हें दोनों प्रकार की शक्तियों के संयुक्त प्रभाव क्षेत्र के रूप में स्वीकृति दी जा सकती है। इस प्रकार से भलीभांति निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि व्यक्तित्व निर्धारण का कार्य वंशानुक्रम तथा वातावरण संबंधी शक्तियों के अदम्य सहयोग द्वारा ही सफल होता है।

## व्यक्तित्व के प्रकार एवं विशिष्टता के सिद्धांत

व्यक्तित्व की प्रकृति को समझने का हमारा प्रयास तब तक अधूरा ही रहेगा जब तक हम इसकी संरचना से परिचित कराने वाले व्यक्तित्व संबंधी कुछ महत्वपूर्ण सिद्धांतों का अध्ययन नहीं कर लेंगे। इन सिद्धांतों के द्वारा हमें व्यक्तियों के व्यक्तित्व संबंधी गुणों के आधार पर वर्गीकरण करने में सुविधा होती है तथा ये उनके व्यक्तित्व के मूल्यांकन में भी सहायक होते हैं। इन सिद्धांतों को व्यक्ति की प्रकृति को ध्यान में रखते हुए निम्न चार श्रेणियों में वर्गीकृत किया जा सकता है–

**( अ ) व्यक्तियों को निश्चित समूह या वर्गों में रखने वाले सिद्धांत :** हिप्पोक्रेट्स, क्रेशमर, शेल्डन और युंग के विचार इसी श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं। उनके अनुसार व्यक्तियों के व्यक्तित्व को कुछ निश्चित प्रकारों या वर्गों में वर्गीकृत किया जा सकता है और प्रत्येक व्यक्ति को उसके अपने व्यक्तित्व संबंधी गुणों के आधार पर किसी एक या दूसरे वर्ग में रखा जा सकता है।

**( ब ) विकासवादी या विश्लेषणवादी दृष्टिकोण को अपनाने वाले सिद्धांत :** ये सिद्धांत व्यक्तित्व के विकास को स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं। फ्रायड का मनोविश्लेषणवाद और एडलर का व्यक्तित्ववाद इसी प्रकार के सिद्धांत हैं।

**( स ) गुणों की संख्या ज्ञात करके व्यक्तित्व आंकने वाले सिद्धांत :** इस श्रेणी में विशेष रूप से कैटल के सिद्धांत की चर्चा की जा सकती है। इस दृष्टिकोण के द्वारा व्यक्तित्व के आन्तरिक अवयवों का गणितीय और सांख्यिकीय विश्लेषण कर एक परिस्थिति में व्यक्ति द्वारा किये जाने वाले व्यवहार के संबंध में भविष्यवाणी की जा सकती है।

**( द )** विशिष्ट समूहों या वर्गों में रखने तथा गुणों के आधार पर व्याख्या करने, इन दोनों दृष्टिकोणों का समन्वय करने वाले सिद्धांत इस श्रेणी में आते हैं।

टिप्पणी

आईजेन्क द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत इसी श्रेणी में आता है। ये कैटल से कुछ और आगे बढ़े हैं। वे किसी के व्यक्तित्व के मूल्यांकन के लिए व्यक्तित्व संबंधी गुणों की ही चर्चा नहीं करते बल्कि वे इन गुणों के आधार पर व्यक्तियों को निश्चित वर्गों या समूहों में विभक्त करने की चेष्टा भी करते हैं।

1. **क्रेशमर का वर्गीकरण :** क्रेशमर ने शारीरिक बनावट के दृष्टिकोण से मनुष्य मात्र को कुछ जैविक समूह या वर्गों में बांटने का प्रयत्न किया है और प्रत्येक वर्ग की मुख्य विशेषताओं को प्रकाश में लाया है–

| व्यक्तित्व के प्रकार | व्यक्तित्व संबंधी विशेषताएं |
|---|---|
| 1. पिकनिक प्रकार अर्थात मिलन-सार व्यक्ति छोटा कद, मोटा शरीर और चर्बी वाला | सामाजिक, विनोद प्रिय, बहिर्मुखी आरामतलब और लोकप्रिय। |
| 2. एथलेटिक प्रकार अर्थात खिलाड़ी प्रवृत्ति वाले सशक्त अस्थि-पंजर, बलवान मांस पेशियां, चौड़ा सीना तथा सन्तुलित शरीर | सुखी, दृढ़ निश्चयी, चुस्ती एवं फुर्तीलापन, आशावादी एवं समायोजित। |
| 3. लेप्टोसोमेटिक प्रकार अर्थात निर्बल शरीर वाले (लम्बे और दुबले-पतले, सीना छोटा, पेट पीठ से लगा हुआ) | शर्मीले और एकान्तप्रिय, निराशा वादी, सामाजिक रूप से असमायोजित। |

2. **शेल्डन का वर्गीकरण :** क्रेशमर की भांति शेल्डन ने व्यक्तियों को उनकी शारीरिक बनावट के अनुसार वर्गों में विभाजित किया और उनके विभिन्न गुणों और विशेषताओं की निम्न प्रकार से चर्चा की:–

| व्यक्तित्व के प्रकार | शारीरिक बनावट और ढांचा | व्यक्तित्व संबंधी विशेषताएं |
|---|---|---|
| 1. एन्डोमोरफिक | शक्तिहीन, मोटे तथा कोमल शरीर वाले (क्रेशमर के पिकनिक प्रकार जैसे) | आरामतलब, सामाजिक और स्नेहशील |
| 2. मीसोमोरफिक | शारीरिक रूप से संतुलित अच्छा स्वास्थ्य और फुर्तीला बदन (क्रेशमर के एथलेटिक प्रकार जैसे) | साहसी, निडर, फुर्तीले, आशावादी तथा कर्मठ |
| 3. एक्टोमोरफिक | कमजोर एवं शक्तिहीन, लम्बे दुबले-पतले शरीर तथा अविकसित सीने वाले (क्रेशमर के लेप्टोसोमेटिक प्रकार जैसे) | निराशावादी, आसामाजिक, एकान्तप्रिय और चिड़चिड़ा स्वभाव। |

हिप्पोक्रेटस, क्रेशमर और शेल्डन आदि उपरोक्त मनोवैज्ञानिकों ने शारीरिक बनावट और व्यक्तित्व संबंधी विशेषताओं में निश्चित रूप से जो संबंध स्थापित करने का

प्रयत्न किया है। वह अपने आप में बहुत भ्रामक है। इस प्रकार का संबंध अवश्य होता है, यह बात वास्तविकता से बहुत दूर है।

टिप्पणी

3. **युंग का वर्गीकरण :** युंग ने सभी व्यक्तियों को उनके सामाजिक कार्यों में भाग लेने अथवा रुचि प्रदर्शित करने के दृष्टिकोण से अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी दो निश्चित वर्गों में वर्गीकृत करने का प्रयत्न किया। बाद में वर्गों को उसने फिर उपवर्गों में विभक्त किया। इस प्रक्रिया में उसने चिंतन, भावना, संवेदन और अन्तर्दृष्टि नामक मनोवैज्ञानिक क्रियाओं को अपने अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी वर्गों के साथ जोड़ने का प्रयत्न किया। चित्रात्मक रूप से इस वर्गीकरण को व्यक्तित्व संबंधी विशेषताओं सहित चित्र में दिखाया गया है।

युंग द्वारा दिए हुए इस वर्गीकरण की काफी आलोचना की गई। कहा गया कि सामान्यतया व्यक्तियों को इस प्रकार के समूहों में विभक्त नहीं किया जा सकता। पूर्णत: अन्तर्मुखी अथवा बहिर्मुखी होने के स्थान पर अधिकांश व्यक्तियों में दोनों ही प्रकार के लक्षण पाए जाते हैं।

अत: अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी होने के स्थान पर उभयमुखी प्रकार का व्यक्तित्व अधिक देखने को मिलता है। इस प्रकार से युंग द्वारा मनोवैज्ञानिक क्रियाओं के आधार पर व्यक्तियों को दो निश्चित उपवर्गों में विभाजित करने का औचित्य ही लगभग समाप्त सा हो जाता है।

## विकासवादी या विश्लेषणवादी दृष्टिकोण

विकासवादी या विश्लेषणवादी दृष्टिकोण को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है–

**फ्रायड का मनोविश्लेषणवाद**–फ्रायड के अनुसार मानव व्यक्तित्व का निर्माण इड, ईगो

ब हम इनके बारे में कुछ और विचार करेंगे जो हमारे जीवन से जुड़ा होता है। आइये ...

**इड**–इस पक्ष में व्यक्तित्व से संबंधित पाशविक प्रवृत्तियों और अनैतिक भावनाओं का संग्रह होता है। इसके माध्यम से मनुष्य इन्द्रियजनित सुखों की खोज करता रहता है। अपनी इच्छाओं की तृप्ति इसीलिए ही सब कुछ है और अपनी इस तृप्ति के लिए वह किसी भी नियम अथवा रीति-रिवाज का उल्लंघन कर सकता है।

**ईगो या साधारण अन्त:करण**–यदि इड को अपनी इच्छा पर ही छोड़ दिया जाए तो इसका परिणाम दुखदायी होता है। इसलिए इड के असामाजिक व नियम विरुद्ध कार्यों को रोकने के लिए ईगो अर्थात साधारण अन्त:करण, पुलिसमैन का कार्य करता है। व्यक्ति द्वारा क्या किया जाना चाहिए और क्या नहीं, यह इसके द्वारा निश्चित किया जाता है। एक प्रकार से यह व्यक्ति की विवेचन शक्ति है जो वास्तविकता के धरातल पर अपना कार्य करती है। मनुष्य की कौन-सी इच्छाओं की कैसे और कितनी सन्तुष्टि होनी है यह इसी के द्वारा तय किया जाता है।

**सुपर ईगो या उच्च अन्त:करण**–यह व्यक्तित्व के आदर्श और नैतिक स्वरूप का प्रतिनिधित्व करता है। इसके द्वारा वास्तविकता की परवाह न कर आदर्शों पर जोर दिया

टिप्पणी

जाता है। सुख और आनन्द की प्राप्ति के स्थान पर नैतिक और आदर्श मूल्यों की प्राप्ति ही इसका उद्देश्य होता है। क्या अच्छा है और क्या बुरा, क्या पुण्य है और क्या पाप, इस सबका सामाजिक मान्यताओं के आधार पर व्यक्तित्व के इसी पक्ष द्वारा निर्णय किया जाता है।

व्यक्तित्व के ये तीनों पक्ष एक-दूसरे से बहुत अधिक संबंधित हैं और तीनों के सम्मिलित रूप के क्रियान्वित होने पर ही व्यक्तित्व का निर्माण होता है।

**फ्रायड द्वारा व्यक्तित्व संबंधी विशेषताओं की व्याख्या**

(अ) फ्रायड के अनुसार जिन व्यक्तियों का साधारण अंत:करण शक्तिशाली होता है उनका व्यक्तित्व भी सन्तुलित और प्रभावशाली होता है क्योंकि उनके ईगो में इड और सुपर ईगो में उचित सन्तुलित बनाए रखने की क्षमता होती है।

(ब) अगर किसी व्यक्ति की ईगो कमजोर होती है तो उसका व्यक्तित्व भी असन्तुलित और असमायोजित होता है। इस सन्दर्भ में दो परिस्थितियां उत्पन्न हो सकती हैं।

**सुपर ईगो का ईगो पर हावी होना**–जब सुपर ईगो, ईगो से अधिक शक्तिशाली होती है तो वह इच्छाओं और प्रवृत्तियों की सन्तुष्टि के लिए उचित अवसर प्रदान नहीं करती, व्यक्ति अन्दर ही अन्दर ही घुटता रहता है और वह विक्षिप्तावस्था को जन्म देती है।

**इड का ईगो पर हावी होना**–इन्द्रियजनित सुखों की अभिलाषा करने वाली इड, ईगो पर पूरी तरह हावी हो जाती है। परिणामस्वरूप व्यक्ति अनैतिक और असामाजिक कार्यों में फंसकर अपराधी प्रवृत्ति का हो जाता है।

(स) फ्रायड ने मनुष्य के व्यक्तित्व को काम प्रेरणाओं के चारों ओर केन्द्रीभूत करने का प्रयत्न किया है। उसके लिए काम जीवनदायिनी शक्ति है। व्यक्तित्व के सन्तुलित विकास के लिए व्यक्ति की यौन आवश्यकताओं की पूर्ति होना अत्यन्त आवश्यक है। यदि किसी कारणवश कामेच्छाओं और यौन आवश्यकताओं की पूर्ति ठीक ढंग से नहीं हो पाती तो व्यक्ति का व्यक्तित्व अविकसित और असमायोजित हो जाता है।

**एडलर का वैयक्तिक दृष्टिकोण**–एडलर ने फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद और काम-केन्द्रित दर्शन का विरोध किया। उसने बताया कि काम अथवा यौन को जीवनदायिनी शक्ति अथवा मानव व्यवहार की केन्द्रीभूत शक्ति मानना ठीक नहीं है। वस्तुत: व्यक्तियों में महत्वपूर्ण बनने अथवा शक्ति ग्रहण करने की बहुत अधिक अभिलाषा होती है। इसी महत्वाकांक्षा को मानव-शक्ति का पुंज या स्रोत कहा जा सकता है। हममें से प्रत्येक व्यक्ति श्रेष्ठ और महत्वपूर्ण बनने का प्रयत्न करता है परन्तु इस प्रकार के प्रयत्न सभी अपने अपने ढंग से करते हैं। उसने अपने-अपने ढंग से किए जाने वाले इस वैयक्तिक प्रयास को 'व्यक्ति के जीने का ढंग' नाम से सम्बोधित किया है। इसलिए व्यक्ति के व्यक्तित्व को उसके जीने के ढंग अर्थात व्यक्ति द्वारा जीवन लक्ष्यों और उन लक्ष्यों की पूर्ति के लिए किये जा रहे प्रयत्नों द्वारा अच्छी तरह आंका जा सकता है।

टिप्पणी

इस प्रकार से एडलर ने व्यक्तित्व के अध्ययन में वैयक्तिक दृष्टिकोण को जन्म दिया। उसने बताया कि प्रत्येक व्यक्ति के अपने जीवन दृष्टिकोण और लक्ष्य होते हैं जिनकी पूर्ति वह अपने एक विशेष तरीके से करना चाहता है। फलस्वरूप प्रत्येक व्यक्ति अपने आप में एक विलक्षणता और अनोखापन लिए होता है। अतः व्यक्तियों को किन्हीं विशेष समूहों या वर्गों में वर्गीकृत करना ठीक नहीं है।

## व्यक्तित्व के गुणों से संबंधित सिद्धांत

व्यक्तित्व के गुणों से तात्पर्य हमारे व्यक्तित्व और व्यवहार के उन गुणों तथा विशेषताओं से है जिनके आधार पर हमारे व्यक्तित्व की पहचान होती है। एक व्यक्ति का व्यक्तित्व और व्यवहार दूसरे से किस प्रकार भिन्न है यह उन व्यक्तियों के व्यक्तित्व के गुणों के आधार पर ही कहा जाता है।

बहुत से व्यक्ति शांत, शर्मीले और डरपोक प्रकृति के होते हैं, वहीं दूसरे बहुत उग्र, अधिक खुले हुए तथा निडर प्रकृति के होते हैं। कई एकान्त में रहना पसन्द करते हैं तो कुछ को मेल-जोल बढ़ाना अच्छा लगता है। इस प्रकार व्यवहार एवं व्यक्तित्व को परिभाषित करने, उनकी एक पहचान तथा छवि बनाने तथा एक व्यक्तित्व को दूसरों से पृथक कराने के कार्य में अच्छी तरह सहयोगी होते हैं। ये एक प्रकार से व्यक्ति के व्यक्तित्व का वर्णन करने वाले वैसे ही गुण एवं विशेषताएं हैं जिस प्रकार के गुण एवं विशेषताओं द्वारा हम पशु, पक्षी तथा पेड़-पौधों को एक-दूसरे से पृथक करते हैं। सभी पौधे एक जैसे नहीं होते हैं। हम उन्हें उनकी पत्तियों, टहनियों, तने, जड़, तथा फल-फूल आदि की सहायता से अलग-अलग करते हैं। पक्षियों को उनकी चोंचों, पंजों, परों के रंगों तथा अन्य व्यावहारिक बातों के आधार पर अलग किया जाता हैं। इसलिए व्यक्तित्व के गुण भी व्यक्ति के इसी प्रकार के गुण हैं जिनके आधार पर व्यक्ति की पहचान और उसे दूसरों से अलग करके देखा जाना सम्भव हो पाता है।

## व्यक्तित्व संबंधी गुणों की संख्या

व्यक्तित्व संबंधी गुणों की संख्या कितनी हो जिनसे सभी व्यक्तियों के व्यक्तित्व और उनके व्यवहार का वर्णन किया जा सके? यह प्रश्न शुरू से ही मनोवैज्ञानिकों के लिए समस्या पैदा करता रहा। व्यवहारजनित क्रियाएं और व्यक्तित्व संबंधी भेद कम नहीं होते। इस अवस्था में व्यक्तित्व संबंधी गुणों पर सीमा रेखा खींचना असम्भव नहीं तो कठिन कार्य अवश्य है। फिर भी इस दिशा में प्रयत्न किए गए। इस प्रकार का पहला उल्लेखनीय प्रयत्न सन् 1936 में गार्डन ऑलपोर्ट नामक मनोवैज्ञानिक द्वारा किया गया। उसने अपने एक अन्य सहयोगी के साथ काम करते हुए आंग्ल भाषा के शब्द कोषों में से 17,953 शब्दों की एक सूची बनाई जिनसे मानव व्यक्तित्व तथा व्यवहार संबंधी विशेषताओं या गुणों को प्रकट किया जा सकता था। इस दिशा में दूसरा सही प्रयत्न मनोवैज्ञानिक कैटल द्वारा 1956 में किया गया। उसने ऑलपोर्ट द्वारा की गई 17,953 शब्दों की सूची में से 4000 शब्दों को छांटकर अपना कार्य शुरू किया। व्यक्तित्व तथा व्यवहार संबंधी जन्म के गुणों को प्रकट करने वाले इन शब्दों में वह समानता तथा संबंध देखता गया और इस तरह अंत में उसने मात्र 171 शब्दों की एक सूची प्रस्तुत की और इस प्रकार वह ऑलपोर्ट

टिप्पणी

के 17,953 व्यक्तित्व के गुणों के स्थान पर इनकी संख्या मात्र 171 निश्चित करने में सफल हुआ।

उसने आगे इन 171 शब्दों में भी पारस्परिक समानता तथा अन्त: संबंध तलाश करने का काम जारी रखा और कारक विश्लेषण की तकनीक का प्रयोग करते हुये अंत में उसने व्यक्तित्व को भलीभांति परिभाषित करने और वर्णन करने में समर्थ 16 व्यक्तित्व कारकों को सामने रखा तथा इन कारकों में समाहित विभिन्न प्रकार के व्यक्तित्व संबंधी गुणों से भी परिचय कराया। इन कारकों में से प्रत्येक कारक को उससे जुड़े हुए पारस्परिक विरोधी व्यक्तित्व संबंधी गुणों के सन्दर्भ में निम्न तालिका में देखा जा सकता है:–

*कैटल के 16 व्यक्तित्व कारकों में विद्यमान विभिन्न व्यक्तित्व गुण*

| कारक क्रमांक | व्यक्तित्व संबंधी गुण | परस्पर विरोधी व्यक्तित्व संबंधी गुण |
|---|---|---|
| 1. | भावुक/संवेगात्मक रूप से अस्थिर | शांत/ संवेगात्मक रूप से स्थिर |
| 2. | विवेकशील | अविवेकपूर्ण |
| 3. | स्वयं में सीमित/मित्रता रहित | मेलजोल वाला/मित्रतापूर्ण |
| 4. | दबंग/अधिकार जमाने वाला | दृढ़ता का अभाव/नम्र |
| 5. | सादा एवं संयमी/गम्भीर | मस्त-मौला |
| 6. | अन्तर्आत्मा से प्रेरित | स्वहित से प्रेरित |
| 7. | शर्मीला/डरपोक | साहसी |
| 8. | नाजुक | सख्त |
| 9. | शंकालु | विश्वास करने वाला |
| 10. | व्यवहारशील | कल्पनाशील |
| 11. | चालाक/हेराफेरी वाला | सीधा/बिना हेराफेरी वाला |
| 12. | आत्मविश्वासी/सन्तोषी | शंकित |
| 13. | रूढ़िवादी | प्रगतिशील |
| 14. | दूसरों पर निर्भर | आत्मनिर्भर |
| 15. | अनुशासनहीन | स्व-अनुशासित |
| 16. | चिंतामुक्त | चिंतित/बेचैन |

व्यक्तित्व संबंधी गुणों के क्षेत्र में किये गए अनुसंधानों ने कैटल द्वारा सुझाये गये 16 व्यक्तित्व संबंधी कारकों अथवा व्यक्तित्व संबंधी गुणों में काफी अन्त:निर्भरता की ओर संकेत किया है। उदाहरण के तौर पर यह बात कारक 1 तथा 16 और कारक 3 तथा कारक 7 में वर्णित व्यक्तित्व संबंधी गुणों में स्पष्ट दिखाई पड़ती है। वह व्यक्ति जो शान्त प्रकृति का है वह चिन्तामुक्त रहेगा ही और जो चिन्तित तथा बेचैन रहने वाला है वह संवेगात्मक रूप से अस्थिर और अशान्त होगा। इसी प्रकार जो शर्मीला और डरपोक है उसे अपने आप में सिमट कर बिना मेलजोल और दोस्ती रहित बनना ही पड़ता है तथा बिना झिझक सबसे मेलजोल बढ़ाने वाले मित्र बालक का साहसी होना भी स्वाभाविक है। इस रूप में कैटल द्वारा सुझाये

टिप्पणी

गये व्यक्तित्व संबंधी गुणों और व्यक्तित्व संबंधी कारकों में काफी अधिक पुनरावृत्ति और समानता नजर आती है। अत: व्यक्तित्व का वर्णन करने वाले व्यक्तित्व संबंधी गुणों तथा व्यक्तित्व संबंधी कारकों की सूची का और भी संक्षिप्त होना आवश्यक है। इसी मार्ग पर चलते हुए कुछ समकालीन मनोवैज्ञानिकों जैसे- गोल्डवर्ग, पीडमोन्ट, मक्रे तथा कोस्टा (1991) ने व्यक्तित्व संबंधी कारकों की संख्या 5 तक सीमित कर दी है। इन कारकों को इनमें निहित विभिन्न व्यक्तित्व संबंधी गुणों के साथ निम्न तालिका में देखा जा सकता है-

*व्यक्तित्व का वर्णन करने वाले कारक*

| क्र. | व्यक्तित्व संबंधी कारक | व्यक्तित्व संबंधी गुण |
|---|---|---|
| 1. | बहिर्मुखी | बातूनी, मेलजोल वाला, साहसी |
| 2. | सहमति या समझौतावादी प्रकृति | भलापन, सहयोगी और दूसरों के द्वारा पसन्द |
| 3. | अन्तर्आत्मा की आवाज | जिम्मेदारी निभाना, पवित्र आचरण तथा कार्य के प्रति सजगता |
| 4. | संवेगात्मक स्थिरता | शान्त, धैर्यवान तथा स्थिर |
| 5. | संस्कृति | बुद्धिमान, कला-दर्शन तथा साहित्यिक विषयों में पारंगत |

## व्यक्तित्व संबंधी गुण

हमें किसी दूसरे व्यक्ति के व्यक्तित्व संबंधी गुणों का आभास, उसके व्यवहार का भलीभांति निरीक्षण करके ही हो सकता है। जब किसी के व्यवहार में व्यक्तित्व संबंधी गुण लक्षित हों तभी उसका निरीक्षण किया जाना आवश्यक है। व्यक्तित्व संबंधी गुण का लक्षित होना भी परिस्थिति विशेष पर निर्भर करता है।

यदि, इस संबंध में व्यक्तित्व संबंधी गुणों और परिस्थिति विशेष के बीच पाये जाने वाले संबंध की चर्चा की जाये तो इससे व्यक्तित्व संबंधी गुणों को जानने के कार्य में उचित मदद मिल सकती है।

1. व्यक्तित्व संबंधी गुण किन्हीं विशेष परिस्थितियों में अपेक्षाकृत अधिक अच्छी तरह से लक्षित हो सकते हैं। बिना किसी झिझक, डर तथा अन्य बातों से प्रभावित हुए व्यवहार का स्वाभाविक रूप में निरीक्षण किया जाना सभी दृष्टियों से सफल होता है क्योंकि इसी प्रकार के निरीक्षण में व्यक्तित्व संबंधी गुणों के सही रूप के दर्शन हो सकते हैं।
2. व्यक्तित्व संबंधी गुणों के दर्शन के लिए व्यक्ति के अनुरूप परिस्थितियों का होना जरूरी है, जैसे- चिन्तित होना या भयभीत होना। इन गुणों की जानकारी तभी हो सकती है जब चिन्ता या भय पैदा करने वाली परिस्थितियों में उसी प्रकार का व्यवहार किया जाता है।

टिप्पणी

3. व्यक्तित्व संबंधी गुणों और उनके दर्शन से संबंधित व्यावहारिक परिस्थितियों में पारस्परिक निर्भरता पाई जाती है अत: दूसरे शब्दों में, वे एक-दूसरे को निम्न प्रकार से प्रभावित करते हुए दिखाई दे सकते हैं-

(अ) व्यक्तित्व संबंधी गुण परिस्थितियों को बदलने की पूरी क्षमता रखते हैं। जैसे ही कोई शैतान बच्चा घर में प्रवेश करता है तो घर की सारी शान्ति और साज-समान उल्टा-पुल्टा हो जाता है। झगड़ालू बच्चे, अच्छे-भले शान्त वातावरण को थोड़ी सी देर में लड़ाई का मैदान बना देते हैं।

(ब) परिस्थितियां भी व्यक्तित्व के गुणों में परिवर्तन लाने में पूरी तरह सक्षम सिद्ध होती हैं। एक झगड़ालू या समस्यात्मक बालक अनुकूल और स्वस्थ वातावरण में स्व-अनुशासित बना रह सकता है तो एक शान्त बालक प्रतिकूल वातावरण में विद्रोही बन जाता है।

इस प्रकार से व्यक्ति द्वारा प्रदर्शित उसके व्यक्तित्व संबंधी गुणों तथा परिस्थितियों में जिनमें व्यवहार और व्यक्तित्व संबंधी गुणों का प्रदर्शन होता है, गहरा संबंध पाया जाता है। इसलिए जब भी हमें व्यक्ति के व्यक्तित्व संबंधी गुणों के बारे में कोई धारणा बनानी हो तो हमें इन व्यक्तित्व संबंधी गुणों के प्रदर्शन के समय की परिस्थितियों का अवश्य ही ध्यान रखना चाहिये। उसी अवस्था में ही हम व्यक्तित्व संबंधी गुणों के सही रूप के दर्शन कर सकते हैं।

### गुण तथा वर्ग समूह संबंधित दृष्टिकोण

इस प्रकार के समन्वित दृष्टिकोण को लेकर व्यक्तित्व की व्याख्या करने में प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक आइजेन्क का नाम उल्लेखनीय है।

आइजेन्क ने व्यक्तित्व के बारे में प्रतिपादित सभी प्रकार के विचारों तथा सिद्धांतों से लाभान्वित होने की चेष्टा की है। जहां कैटल ने विशिष्ट गुणों या विशेषताओं को माध्यम बनाकर व्यक्तित्व को परिमाण देने की चेष्टा की, वहीं आइजेन्क ने उससे कुछ और आगे बढ़कर मानव व्यवहार की विशेषताओं को आधार बनाकर व्यक्तियों को विशिष्ट समूह या वर्गों में विभक्त करने का प्रयत्न किया। आइजेन्क ने व्यवहार संबंधी विशेषताओं को संगठित कर विशिष्ट वर्ग कैसे बनाए, यह निम्न प्रकार से स्पष्ट हो सकता है:-

व्यवहार संगठन की प्रक्रिया को आईजेन्क द्वारा चार स्तरों में विभाजित किया गया है-

1. सबसे निचले स्तर पर विशिष्ट अनुक्रियाएं आती हैं। ये किसी भी एक उद्दीपन के प्रति होने वाली विशेष अनुक्रिया को व्यक्त करती हैं। उदाहरण के रूप में शर्म के कारण चेहरे का लाल हो जाना एक विशिष्ट अनुक्रिया है।
2. दूसरे स्तर पर स्वाभाविक या आदत संबंधी अनुक्रियाएं आती हैं। अगर कोई व्यक्ति एक-सी परिस्थितियों में बार-बार एक जैसी अनुक्रिया व्यक्त करे तो हम उसे आदत संबंधी अनुक्रिया कहते हैं। उदाहरण के रूप में दूसरों को

शीघ्र मित्र न बना सकना, अपरिचितों से बात करने में हिचकिचाना आदि आदत संबंधी अनुक्रियाएं कही जा सकती हैं।

टिप्पणी

3. तीसरे स्तर पर आदत संबंधी अनुक्रियाओं का व्यक्तित्व संबंधी विशिष्ट विशेषताओं के रूप में संगठन होता है। व्यवहार संबंधी सभी एक-सी विशेषताओं को किसी एक विशेषता के रूप में संगठित कर लिया जाता है। ऊपर के उदाहरण में दी गई आदत संबंधी अनुक्रियाएं, शर्मीलापन नामक विशिष्ट गुण को जन्म देती हैं।
4. चौथे स्तर पर विशिष्ट विशेषताओं को एक सामान्य वर्ग या समूह का नाम दिया जाता है। प्रस्तुत चित्र में हठ, दृढ़ता, आत्मनिष्ठा, शर्मीलापन और चिड़चिड़ापन आदि विशेषताओं से मिलकर एक विशेष समूह या वर्ग का निर्माण हुआ है जिसे अन्तर्मुखी प्रवृत्ति का नाम दिया गया है।

इस प्रकार अन्तिम स्तर पर जाकर हमें निश्चित समूहों या वर्गों की प्राप्ति होती है। एक व्यक्ति को अन्तर्मुखी प्रवृत्ति वाला कहा जा सकता है अगर उसमें तीसरे स्तर पर दिखाई गई व्यक्तित्व संबंधी विशेषताएं हों, द्वितीय स्तर पर वर्णन की गई आदतें हों और प्रारम्भिक स्तर पर दिखाई जाने वाली विशिष्ट अनुक्रियाओं को वह अभिव्यक्त करता हो।

आईजेन्क ने निष्कर्ष रूप में व्यक्तियों को चार विभिन्न समूहों या वर्गों में विभाजित किया है ये वर्ग निम्न हैं–

1. अन्तर्मुखी प्रवृत्ति वाले व्यक्ति,
2. बहिर्मुखी प्रवृत्ति वाले व्यक्ति,
3. उन्मादावस्था वाले व्यक्ति,
4. साइकोटिसिज्म अवस्था वाले व्यक्ति।

उसने इन विभिन्न वर्गों के साथ अलग-अलग व्यक्तित्व संबंधी विशेषताओं और गुणों को बतलाने की चेष्टा भी की है।

## समाजीकरण

शिशु जन्म लेने के समय कुछ नहीं जानता, वह अबोध होता है, जैसे–जैसे उसकी आयु बढ़ती जाती है, वह अपने आसपास के वातावरण एवं क्रियाकलापों से सीखकर तदनुसार व्यवहार करने लग जाता है। यह एक सतत प्रक्रिया है एवं समाज का प्रत्येक व्यक्ति इस प्रक्रिया को चाहे–अनचाहे आत्मसात करते हुए समाज विशेष का अंग बन जाता है।

शिशु अपने बचपन में माता–पिता, परिवार, मित्रों से एवं तदोपरांत, विद्यालय, कॉलेज एवं अन्य सामाजिक संस्थाओं के माध्यम से सामाजिक होना सीखता है। जिस समाज में वह पलता–बढ़ता है उसी समाज से प्रेरणाएं लेकर युवावस्था तक पहुंचता है और अपनी सामाजिक जिम्मेदारियों का पालन करता है। इस प्रकार प्रत्येक सामाजिक व्यक्ति को अपने समाज की स्थापित मान्यताओं का पालन करना समाजीकरण के ही माध्यम से सिखाया जाता है।

## समाजीकरण की अवधारणा

टिप्पणी

मानव समाज में एक विरोधाभास होता है कि इसमें एकता एवं निरन्तरता दोनों ही साथ–साथ चलने वाली क्रियाएं हैं। इन विरोधाभासों का अस्तित्व केवल समाज के सदस्यों के मन में ही एवं इसकी प्रक्रियाओं व क्रियाओं में होता है। इन विरोधाभासों का समाधान उसी स्थिति में हो सकता है जब यह समझ लिया जाए कि कोई नवजात शिशु किस प्रकार से सामाजिक प्राणी के रूप में परिवर्तित हो जाता है। परिवर्तित करने की इसी प्रक्रिया को समाजीकरण कहते हैं। इसके बिना–

- समाज एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी की तरफ नहीं बढ़ सकता।
- संस्कृति जीवित नहीं रह पाएगी।
- मनुष्य सामाजिक प्राणी नहीं बन पाएगा।
- समाज की व्यवस्था चरमरा जाएगी।
- संस्कृति का नवीनीकरण नहीं होगा।
- पुरानी परंपराओं के स्थान पर संशोधित परंपराएं विकसित नहीं होंगी।
- मानवीय प्रवृत्ति का विकास रुक जाता है।
- मानव व्यक्तित्व का विकास रुक जाता है।
- मानसिक विकास रुक जाता है।
- मनुष्य अपनी क्षमताओं एवं आवश्यकताओं का सही आकलन नहीं कर सकता।

एन्थॉनी गिडेंस ने समाजीकरण की विस्तृत व्याख्या करते हुए अपनी परिभाषा में कहा है कि–

"समाजीकरण एक सामाजिक प्रक्रिया होती है जिसके द्वारा एक असहाय शिशु धीरे–धीरे स्वयं (Self) को पहचानने लगता है एवं जानवर से धीरे–धीरे मानव बन जाता है। वह उस संस्कृति को सीख लेता है जिस संस्कृति में उसका जन्म हुआ है। इसके उपरांत भी समाजीकरण कोई सांस्कृतिक कार्यक्रम नहीं होता है।"

गिडेंस पुनः स्पष्ट करते हैं कि– "समाजीकरण की प्रक्रिया में ऐसा भी नहीं है कि कोई व्यक्ति आंख बन्द करके कुछ भी सीख ले वरन् वह अपना विवेक उपयोग करते हुए सामाजिक प्राणी के रूप में परिवर्तित होता है अर्थात् ऐसा नहीं होता कि व्यक्ति किसी के भी सम्पर्क में आकर एवं निष्क्रिय होकर उससे प्रभावित हो जाए।"

रोज एवं गलेजर के अनुसार– "समाजीकरण वह प्रक्रिया होती है जिसमें, समाज एवं संस्कृति के मूल्य, विश्वास, प्रतिमान एवं सामाजिक भूमिकाओं को सीखा जाता है।"

गुडे का विश्वास है कि समाजीकरण मात्र सीखने की प्रक्रिया नहीं होती है वरन मनुष्य का आन्तरिकीकरण (Internalization) भी करती है।

गुडे के शब्दों में– "समाजीकरण के अंतर्गत वे प्रक्रियाएं सम्मिलित होती हैं जिन्हें कोई व्यक्ति बचपन से लेकर बुढ़ापे तक अपने सामाजिक कौशल, प्रतिमान, मूल्य, भूमिका एवं व्यक्तित्व के प्रतिरूप में लेता रहता है।"

जॉनसन (H.M. Johnson) के शब्दों में– "समाजीकरण वह शिक्षण है जो सीखने वाले को सामाजिक कार्य करने योग्य बनाता है।"

इस प्रकार से स्पष्ट हुआ कि समाजीकरण एक सामाजिक प्रक्रिया होती है जिसका मुख्य उद्देश्य मनुष्य को सामाजिक प्राणी बनने में सहायता करना होता है।

## समाजीकरण एवं स्वयं का विकास

टिप्पणी

किंग्सले डेविस ने समाजीकरण के केन्द्र बिन्दु के रूप में आत्म (Self) या अहम (ego) को रखा है।

डेविस के शब्दों में– "समाजीकरण का केन्द्र बिन्दु, आत्म (Self) या अहम (ego) का उद्भव एवं क्रमिक विकास करने में है। आत्म के पदों में ही व्यक्तित्व का एक रूप तय होता है एवं बुद्धि अपना कार्य करना प्रारंभ करती है।"

इस संदर्भ में देखने से स्पष्ट होता है कि समाजीकरण के फलस्वरूप मनुष्य स्वयं का ही विकास एवं उन्नति करता है। यह विकास क्रमिक रूप से होता है। इस क्रम का संबंध मनुष्य की आयु से है क्योंकि बच्चा, बचपन से लेकर वृद्धावस्था तक के अपने जीवन काल में शिक्षक कार्य ही करता रहता है एवं इस पूरे समयचक्र में वह उत्तरोत्तर विकास के मार्ग पर चलता रहता है। यह प्रक्रिया निरन्तर चलती है तथा मनुष्य अपने आत्म एवं अहम की सन्तुष्टि के लिए ही तमाम प्रकार के प्रयास किया करता है। इन प्रयासों में मनुष्य का प्राथमिक उद्देश्य स्वयं की समझ को विकसित करना होता है तथा इस समझ के आधार पर अपनी 'आत्म' शक्ति का विकास करना होता है। मानव का व्यक्तित्व इसी आत्म एवं अहम का सम्मिश्रण भी होता है जिसे प्रकट करने के लिए मनुष्य तदनुसार सामाजिक क्रियाएं करता रहता है और इस प्रक्रिया के क्रमिक चरण में कभी सहयोगात्मक एवं कभी असहयोगात्मक प्रक्रियाओं को करके समाज पर अपना प्रभाव डाला करता है।

डेविस का विचार है कि शिशु का अन्य व्यक्तियों एवं वातावरण से संवहनात्मक प्रकार का सम्पर्क होता है। आत्म विकास के क्रम में सर्वप्रथम मानव के भौतिक शरीर का विकास होता है इसके पश्चात्, शिशु के मस्तिष्क में विचारों का उद्भव प्रारंभ होता है। अतः आत्मविकास का प्रथम स्रोत मानव शरीर होता है जिसके माध्यम से अनेकानेक क्रियाएं मानव द्वारा की जाती हैं। इसके बाद मनुष्य का सम्पर्क अपने आसपास के व्यक्तियों एवं वातावरण के साथ होता है। ये दोनों मिलकर मनुष्य की इन्द्रियों को पालन–पोषण के अनेक आचरण सीखने को स्वयं ही प्रेरित करते हैं। शिशुकाल में शिशु अन्य सभी शिशुओं की हरकतों की नकल करने के भी प्रयास करते हैं एवं सम्भव है कि शिशुकाल में सीखने की यह प्रक्रिया, पूर्व से ही स्थापित, व्यवहार एवं प्रतिमानों की अनुष्ठान संबंधी एकता के प्रति अपनी प्रवृत्ति को स्पष्ट करने में सहायक बन जाती है। आत्म की धारणा में दृढ़ता एवं संरक्षण के रूप में ये आवश्यक तत्व हैं और आवश्यक होने के कारण मानव स्वभाव में जन्म से ही विद्यमान रहते हैं।

जन्म के समय, शिशु को 'आत्म' का ज्ञान नहीं होता वरन् सामाजिक अनुभवों की अंतःक्रीड़ा की प्रक्रिया में 'आत्म' का उद्भव धीरे–धीरे हो जाता है। शरीर के कई अंग, जैसे– बाल, नाखून, दांत, चमड़ी आदि नष्ट हो जाते हैं परंतु मानव का 'आत्म' कभी समाप्त नहीं होता।

आत्म का एक रूप स्वयं अपने विचारों का रूप होता है। वास्तव में यही सामाजिक संरचना होती है। इसका अनुभव मनुष्य सामाजिक अनुभव के दौरान करता

टिप्पणी

है। सामाजिक अनुभव के बाहर इसका स्वरूप स्पष्ट नहीं होता है, परंतु जब इसके स्वरूप का उदय हो जाता है तो यह सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था को अपने अन्दर आत्मसात भी करता है। इस प्रकार मानव का 'आत्म' स्वयं ही अपनी सामाजिक अंतःक्रिया का आधार बन जाता है। इस स्थिति में मनुष्य स्वयं से वार्तालाप भी कर सकता है या प्रश्न उत्तर कर सकता है। इस तरह समाजीकरण हो जाने के उपरांत यदि मनुष्य को एकान्त में छोड़ भी दिया जाए तो भी वह निष्क्रिय नहीं रहता वरन् कुछ न कुछ क्रियाएं अवश्य ही करता रहेगा। इसका कारण है कि मनुष्य ने अपने 'आत्म' तत्व का परिचय कर लिया है और वह स्वयं को आनंदित करने के किसी न किसी स्रोत को अवश्य ही तलाश कर लेता है।

## समाजीकरण की विशेषताएं

समाजीकरण की विशेषताएं निम्न प्रकार से हैं–

(i) समाजीकरण एक निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया होती है।

(ii) समाजीकरण प्रकृति एवं पर्यावरण के प्रभाव का परिणाम होता है।

(iii) समाजीकरण मूल्यों एवं मानदंडों को सीखने की एक प्रक्रिया है।

(iv) समाजीकरण के द्वारा मानव अपने स्वयं या आत्म का जागरण करता है।

(v) मनुष्य के 'आत्म' एवं 'अहम' (ego) का उद्‌भव समाजीकरण की ही प्रक्रिया में होता है।

(vi) स्थिति एवं पद के द्वारा समाजीकरण को सीमित किया जा सकता है।

(vii) अनेक पीढ़ियों एवं नस्लों को एक श्रृंखला में बांधने का महत्वपूर्ण प्रकार्य समाजीकरण के द्वारा सम्भव हुआ है।

(viii) समाजीकरण की प्रक्रिया में मनुष्य नित्य एवं निरंतर सीखता ही रहता है।

(ix) शिशु के सामाजिक प्राणी बनाने का उद्‌देश्य मात्र समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा ही सम्भव होता है।

(x) समाज के पारस्परिक व्यवहार की पारस्परिक प्रविधियों को समाजीकरण के माध्यम से सीखा जाता है।

## समाजीकरण के माध्यम

शिशु जब जन्म लेता है तो एक असहाय प्राणी मात्र होता है एवं वह कुछ भी नहीं जानता है, परंतु जन्म लेने के पश्चात उसकी मूल आवश्यकताओं की पूर्ति उस शिशु के परिवारीजन विशेषकर माता–पिता करते हैं। माता–पिता को भी किसी ने संभाला ही होगा एवं उनके माता–पिता को भी किसी ने पाल–पोसकर किसी योग्य अवश्य बनाया ही होगा। शिशु के पालन–पोषण की यह प्रक्रिया निरन्तर एवं प्राचीन काल से चली ही आ रही है। यह प्रक्रिया समाजीकरण का ही परिणाम है कि शिशु की देखभाल करना एवं उसे सामाजिक प्राणी बनाने का दायित्व भी मनुष्यों का ही होता है। हालांकि यह दायित्व स्वार्थपरक भी होता है क्योंकि मनुष्य सन्तान की उत्पत्ति सिर्फ आवश्यकता की पूर्ति हेतु नहीं करते वरन अपने वंशानुक्रम की बढ़ोतरी के लिए भी करते हैं। किसी

समय यह मान्यता थी कि जितने अधिक पुत्र होंगे व्यक्ति उतना ही शक्तिशाली एवं मजबूत होगा। अतः मनुष्य अधिकाधिक पुत्र उत्पन्न करके अपनी स्व की शक्ति को प्रबल बनाने का कार्य करता था।

टिप्पणी

समय के साथ यह प्रवृत्ति एवं विश्वास परिवर्तित होता चला गया क्योंकि कई अवसरों पर माता–पिता सन्तान के ही हाथों विवश हो गए एवं उनकी सन्तानों ने उनकी इच्छानुसार कार्य नहीं किया। यह मानव प्रकृति का पृथक विषय है।

समाजीकरण की प्रक्रिया एक विस्तृत प्रक्रिया है जो विविध माध्यमों से संचालित होती है। समाज की अनेक संस्थाएं या एजेंसियां इसके क्रियान्वयन का कार्य करती हैं। इनमें से प्रमुख इस प्रकार से हैं–

(i) **परिवार** (Family) : शिशु का सर्वप्रथम परिचय अपने परिवार से ही होता है। परिवार प्राथमिक समूह के रूप में शिशु का समाजीकरण करते हैं एवं अपने पूर्वजों के संस्कारों एवं परंपराओं को शिशु तक स्थानांतरण (transfer) करने की प्रक्रिया करते हैं। हिंदू धर्मशास्त्रों के अनुसार शिशु को अपने संस्कार देने की अनेक पद्धतियां परिवार के माध्यम से ही दी जाती हैं। इन संस्कारों में षोडश संस्कारों का विवरण मिलता है। एक निश्चित समय अवधि पर शिशु के वयस्क होने तक ये संस्कार सिखाए जाते हैं, ये सब संस्कार, वास्तव में समाजीकरण के ही अंग हैं जो हिंदू धर्म में प्राचीन समय से चले आ रहे हैं। इस शृंखला में शिशु को अपने पूर्वजों के बारे में बताया जाता है ताकि शिशु अपने इतिहास को जानकर अपने पूर्वजों की भांति बनने का प्रयास करे। इस कार्य में शिशु का प्रथम गुरु 'माता' को माना गया है। माता अपने ज्ञान एवं अनुभव के आधार पर सर्वप्रथम शिशु के साथ सम्पर्क एवं संचार करना प्रारंभ करती है। शिशु बोलना प्रारंभ करता है तो माता ही उसके साथ प्राथमिक शब्दों का उच्चारण करती है। इस क्रम में बच्चा अपनी माता की भाषा को सीखना प्रारंभ करता है। माता के ज्ञान एवं अनुभव का प्रभाव शिशु पर पड़ना आरम्भ हो जाता है। शिशुकाल में शिशु की समाजीकरण की प्रक्रिया अनेक मुख्य तथ्यों पर भी निर्भर करती है, जैसे–

- परिवार का प्रकार : एकाकी या संयुक्त परिवार
- माता–पिता का शैक्षिक स्तर
- माता–पिता का आर्थिक स्तर
- शहरी या ग्रामीण परिवेश का परिवार
- माता–पिता का व्यवसाय
- माता–पिता की महत्वाकांक्षाएं
- शिशुओं की संख्या
- परिवार के सदस्यों की संख्या एवं स्तर
- परिवार के पड़ोसियों से संबंध

उपरोक्त सभी तथ्य एक–एक करके गम्भीर चिन्तन एवं शोध के विषय हैं। इनमें से अधिकतर पर अनेक स्थानों पर शोध किए गए हैं। बच्चों पर परिवार की स्थिति के प्रभाव के विषय–क्षेत्र में अध्ययन भी किए जा रहे हैं। इन

टिप्पणी

अध्ययनों से स्पष्ट हो रहा है कि शहरी क्षेत्रों के शिशु कृत्रिम विधियों से समाजीकरण की प्रक्रिया सीखते हैं क्योंकि वहां पर कामकाजी माता–पिता होते हैं एवं आस–पड़ोस का वातावरण भी सौहार्दपूर्ण नहीं होता जैसा कि ग्रामीण परिवेश में होता है। परिणामस्वरूप शिशु, कम्प्यूटर या टेलीविजन के माध्यम से समाजीकरण सीखता है जो प्राकृतिक कम एवं कृत्रिम अधिक होता है। इसका परिणाम आने वाली पीढ़ियों पर एकाकीपन के रूप में देखने को मिलता है एवं यही संतान, वृद्ध माता–पिता का सहारा बनने के बजाय उन्हें वृद्धाश्रमों (Old age homes) में छोड़ने तक के कार्य करती है। जबकि ग्रामीण परिवेश में पूरा गांव सौहार्दपूर्ण माहौल में रहता है तथा बच्चे अपने आस–पड़ोस एवं अनेक परिवारजनों व नातेदारों के परोक्ष सम्पर्क में रहकर अपने पूर्वजों के संस्कार एवं परंपराएं सीखते हैं।

(ii) **शिशु की सम्पर्क सीमा एवं मित्र मंडली** (Contact Circle and role of Pears) : शिशु, बाल्यावस्था में घुटनों के बल चलता हुआ अपने पैरों पर झूल रहा होता है तो वह घर की चारदीवारी से बाहर झांकने की उत्सुकता प्रदर्शित करता है एवं जानना चाहता है कि चारों तरफ क्या हो रहा है। इसी प्रक्रिया में वह अनेक बच्चों के सम्पर्क में आता है (यदि हों तो) तथा इन बच्चों के साथ मिलना–जुलना प्रारंभ करता है। बच्चा थोड़ा और बड़ा होता है तो कुलांचे भरकर घर से बाहर निकलकर स्वतन्त्र जीवन की तलाश करता है। इस स्थिति में उसका सम्पर्क अपने हमउम्र बच्चों के साथ होता है। ये सब बच्चे साथ मिलकर खेलते हैं, बातें करते हैं। इन बच्चों के माता–पिता का एवं परिवार का प्रभाव इनके द्वारा अवश्य ही होता है। शिशु इन बच्चों से अन्य बातें भी सीखता है। यह मित्र मण्डली कहलाती है। शिशु विद्यालय जाना प्रारंभ करता है एवं इस मित्रमंडली के साथ अपनी बातों को साझा करता है, जैसे–

- एक–दूसरे का नाम जानना
- एक–दूसरे का धर्म जानना
- एक–दूसरे के परिवार के बारे में जानकारी प्राप्त करना
- एक–दूसरे के परिवार के सदस्यों का आपसी व्यवहार
- एक–दूसरे के परिवार की वस्तुओं एवं उपभोग की सूचना प्राप्त करना।

(iii) **विद्यालय** (School) : विद्यालय समाजीकरण करने की प्रमुख संस्था या एजेंसी के रूप में कार्य करता है। प्रत्येक विद्यालय राज्य या केन्द्र सरकार द्वारा मान्यता प्राप्त पाठ्यक्रम के अनुसार शिक्षा देने का कार्य करता है परंतु बालक, पाठ्यक्रम ही नहीं सीखता वरन् अन्य अनेक नई वस्तुओं की भी जानकारी प्राप्त करता है जिसका स्रोत, मित्रगण एवं अध्यापक होते हैं। बालक अपनी रुचि के अनुसार मित्र मंडली बनाता है एवं जो अध्यापक इन रुचियों में सहायक होते हैं उन्हीं के सम्पर्क में आकर अपना ज्ञानवर्द्धन करता रहता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक विद्यालय की अपनी व्यक्तिगत विचारधारा एवं पृष्ठभूमि होती है जिसके आधार पर छात्रों को अतिरिक्त ज्ञान प्राप्त कराया जाता है जिसे अतिरिक्त पाठ्यक्रम (Extra Curriculum activities) के नाम से जाना जाता है। भारत में अनेक प्रकार

टिप्पणी

की सामाजिक एवं धार्मिक संस्थाओं द्वारा अनेक प्रकार के विद्यालयों का संचालन किया जा रहा है, जैसे–

- सरस्वती विद्या मन्दिर विद्यालय
- नवोदय विद्यालय
- डी.ए.वी. कॉलेज
- मदरसे
- मिशनरी स्कूल

उपरोक्त विद्यालय, बच्चों का समाजीकरण तो करते हैं परंतु इस प्रक्रिया में बच्चों के अपने विद्यालय की मूल अवधारणा (सांस्कृतिक, धार्मिक) को भी बच्चों को प्रेषित करते हैं। परिणामस्वरूप बच्चा, समाज की अन्य आवश्यक प्रक्रियाओं एवं व्यवस्थाओं को भी जानता रहता है। परंतु यह आवश्यक नहीं कि बच्चा जिस प्रकार के विद्यालय में अध्ययन करता हो उस विद्यालय की मूल अवधारणाओं से वह पूर्णतः सहमत हो। उदाहरण के लिए अनेक बच्चे मिशनरी स्कूलों में पढ़ते हैं इनमें हिंदू, मुस्लिम एवं ईसाई धर्म के अतिरिक्त अन्य धर्मों के बच्चे भी पढ़ते हैं परंतु ये बच्चे ईसाइयत धर्म नहीं अपनाते क्योंकि इन बच्चों का उद्देश्य मात्र शिक्षा ग्रहण करना होता है। समाजीकरण की प्रक्रिया के मामले में ये बच्चे अपने परिवार के दबाव एवं प्रभाव में ही सीखते हैं।

(iv) **मीडिया एवं संचार** : वर्तमान समय मास मीडिया (Mass Media) का है एवं इनके माध्यम से अनेक प्रकार की सूचनाएं लेकर मनुष्य समाजीकरण की तरफ अग्रसर होता है परंतु यह अनिवार्य नहीं है कि व्यक्ति मास मीडिया द्वारा समाजीकृत हो ही जाए, यह तो मात्र सूचना का स्रोत है।

## समाजीकरण के सिद्धांत

समाजीकरण के कुछ मुख्य सिद्धांत इस प्रकार हैं–

**कूले का समाजीकरण का सिद्धान्त** (Socialization Theory of Cooley) : कूले ने अपने सिद्धांत को आत्म दर्पणदर्शन (Looking glass of self) का नाम देकर मनुष्य के सामाजिक होने की प्रक्रिया को स्पष्ट किया है। कूले भी अन्य विद्वानों की भांति मनुष्य में होने वाले 'मैं' के भाव के विकसित होने की प्रक्रिया को अपने आत्मदर्पण दर्शन सिद्धांत की सहायता से स्पष्ट करते हुए बताते हैं कि जब शिशु का जन्म होता है तो वह शिशु अबोध होता है एवं उसमें किसी प्रकार भी सामाजिक अभिव्यक्ति नहीं होती–

- न शिशु स्वयं (स्व) को जानता है
- और न ही समाज (आसपास) को जानता है।

यहां तक कि शिशु कोई भाषा नहीं जानता और उसकी स्वयं की कोई भी बोली या भाषा नहीं होती है। जिस परिवार या समाज में वह शिशु जन्म लेता है वह शिशु उसी की भाषा सीखता है। जब वह भाषा सीखता है तो अपने परिवार के सदस्यों की बातें समझने का प्रयास करना आरम्भ करता है। समाज की बोली एवं भाषा सीखते हुए उसे यह नहीं पता होता कि यह प्रक्रिया उसकी समाजीकरण की एक सीढ़ी है जिसके सहारे वह एक दिन पूर्ण समाजीकृत प्राणी के रूप में विकसित हो जाएगा।

टिप्पणी

कूले ने बताया कि नवजात शिशु को यह नहीं मालूम होता है कि उसे अपने आप या स्वयं को क्या कहकर सम्बोधित करना होता है अर्थात नवजात शिशु को ''स्व'' या 'मैं' के बारे में परिवार ही सिखाता है। शिशु में यह जानने की चेष्टा या इच्छा नहीं होती है कि वह स्वयं क्या है तथा उसे किस भाषा या संस्कार को ग्रहण करना है। मनुष्य का 'स्व' का विकास तो उसकी सामाजिक क्रिया समाजीकरण की प्रक्रिया का ही परिणाम होता है। शिशु जब बड़ा होने लगता है तब उसकी जागृति भी विकसित होने लगती है और वह स्तनपान व शयन में भी हाथ–पैर मारता रहता है। कुछ समय पश्चात, शिशु यह पहचानने लगता है कि अमुक व्यक्ति मेरी देखभाल करता है या मुझे स्तनपान कराता है। इसका कारण उस शिशु का स्वार्थ भाव ही होता है कि उसे–

- रोने पर चुप कराता है।
- उसके रोने का आशय भूख से लगाया जाता है।
- अधिकांश समय उसके समीप रहता है।
- भीग जाने पर कपड़े बदलने का कार्य करता है।
- उसके मुस्कराने पर उसे नजदीकी व्यक्ति (माता) की मुस्कराहट भाती है।

इस प्रकार से निरन्तर कुछ माह के सामीप्य से माता, बच्चे के साथ बात करने का भी क्रम प्रारंभ कर देती है तथा कुछ शब्दों का उच्चारण वह करने ही लगता है।

कूले ने इस प्रकार से बच्चे के 'स्व' की भावना के विकास को अपने मनोवैज्ञानिक अध्ययन के आधार पर स्थापित किया है। इस आधार पर उन्होंने यह स्थापित करने का प्रयास किया है कि 'स्व' या 'मैं' की भावना का विकास, मनुष्य, सामाजिक सम्पर्क में आने पर ही कर सकता है। जब वह अन्य व्यक्तियों के सम्पर्क में आता है तो उन व्यक्तियों की ही वृत्तियों को धारण करता है। चूंकि समाज में उसके सम्पर्क में आने वाले व्यक्ति पहले से ही समाजीकरण की प्रक्रिया से गुजर कर सामाजिक हो चुके होते हैं अतः शिशु भी वही ग्रहण करता है जो उसके सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों के पास होता है।

कूले ने स्पष्ट किया कि मनुष्य या शिशु का 'स्व' संबंधी विचार, उसकी प्रवृत्तियों एवं मनोभावों की एक प्रक्रिया होती है। इस प्रवृत्ति के कारण मनुष्य यह जानने का प्रयास करता है कि अन्य व्यक्ति, उस व्यक्ति के बारे में क्या राय या विचार रखते हैं। इस देखने एवं विचार करने की प्रवृत्तियों को कूले ने 'आत्म दर्पण दर्शन' के सिद्धांत का नाम दिया है।

कूले के सिद्धांत की विशेषताएं एवं प्रमुख तथ्य इस प्रकार से सूचीबद्ध किए जा सकते हैं–

- लोग, एक–दूसरे के प्रति किस प्रकार के विचार रखते हैं।
- मनुष्य के ''स्व'' को समाज ने उत्पन्न किया है।
- दूसरे लोग हमारे बारे में क्या सोचते हैं।
- लज्जा या गौरवयुक्त आत्म बोध।
- मनुष्य, जाग्रत होने पर ही 'स्व' का बोध कर पाता है।
- 'स्व' की धारणा, दूसरे व्यक्तियों के सम्पर्क में आने पर ही उत्पन्न होती है।

## मीड का सिद्धांत

टिप्पणी

जी.एच. मीड (G.H. Mead 1863-1931) ने भी समाजीकरण की प्रक्रिया पर अपने विचार प्रस्तुत किए हैं। मीड ने शिशु के अन्दर 'स्व' के विकास एवं उद्‌भव पर विस्तृत अध्ययन किए। मीड ने शिशु के उत्तरोत्तर विकास की प्रक्रियाओं का भी अध्ययन किया था। उनका यह अध्ययन उनके द्वारा किए प्रयोगों पर आधारित था जिसे वैज्ञानिक आधार कहा जाता है। उनका विश्वास था कि तथ्यों को व्यावहारिक रूप में देखकर विषय–वस्तु की बेहतर जानकारी ली जा सकती है। इसके लिए मीड ने अनेक बच्चों की दैनिक क्रियाओं एवं खेलकूद आदि की विधियों व इस काल में शिशु के हो रहे मानसिक विकास का अध्ययन किया और स्पष्ट किया कि शिशु अपने आस–पास की क्रियाओं को समझते हैं एवं प्रतिक्रिया स्वरूप उनमें से अनेक क्रियाओं का अनुकरण करते हैं। यह मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति भी है कि मनुष्य अपने आसपास की घटनाओं एवं प्रक्रियाओं से ही सीख लेता रहता है।

मीड ने देखा कि बच्चे घरौंदे बनाते हैं। इसका तर्क देते हुए मीड ने कहा कि बच्चों को अपने आसपास अनेक भवन एवं इमारतें दिखाई दीं जिसकी प्रेरणा लेकर उन्होंने रेत के घरौंदे बनाने की प्रक्रिया प्रारंभ कर दी। चूंकि भवन बड़े होते हैं एवं शिशु की कल्पना का स्तर एवं शारीरिक विकास उस स्तर का नहीं हो पाया है अतः उसने रेत के अपने स्तर के छोटे घर बनाना प्रारंभ कर दिया। इसका अर्थ स्पष्ट करते हुए मीड ने कहा कि बच्चे अपने आसपास की घटनाओं एवं प्रक्रियाओं से समाज की घटनाओं एवं अन्य तथ्यों की यथासम्भव जानकारी लेना प्रारंभ कर देते हैं। इसमें खेलकूद एवं उसके सहमित्रों के क्रियाकलाप भी सम्मिलित होते हैं। इसी समय शिशु अपना 'स्व' का विकास भी प्रारंभ कर देता है।

किंग्सले डेविस ने अपनी पुस्तक 'मानव समाज' में शिशु के समाजीकरण की प्रक्रिया को मीड के सिद्धांत से और अधिक स्पष्ट रूप दिया है।

मीड के अनुसार–

'आत्म' कोई ऐसी वस्तु नहीं होती जो अपने आप अपना प्रकटीकरण करे वरन् यह तो समाज की अंतर्क्रिया के माध्यम से ही प्रकट होती है। 'आत्म' का बोध मनुष्य को उसी स्थिति में होता है जब वह अन्य व्यक्तियों के सम्पर्क में आता है। यह प्रक्रिया परवर्ती चरित्रों को 'मैं' एवं 'मुझको' के पदों में भी अभिव्यक्त होने लगती है। 'मैं' की अभिव्यक्ति, अन्य व्यक्तियों के सापेक्ष स्वयं की अभिवृत्ति होती है। अतः आत्म का उद्‌भव, सामाजिक अंतःक्रिया के परिणामस्वरूप होता है। चूंकि समाज की अंतःक्रियाएं सदैव परिवर्तनीय रहती हैं, इस कारण से 'आत्मा' एवं 'स्व' के स्वभाव में भी परिवर्तन अभिलक्षित होते रहते हैं। इन परिवर्तनों की सीमा सामाजिक परिवर्तन पर भी निर्भर करती है। समाज के सभ्य होने के क्रम में मानव ने 'आत्म' पक्ष का अधिक अभियोजन करना प्रारंभ कर दिया तथा प्रतियोगिता एवं संघर्ष के कारण मनुष्य की सामूहिकता उसके स्वार्थ समूहों तक ही सीमित होती चली गई।

शिशु के खेलकूद की क्रियाओं में वह संगठित होने की प्रक्रियाएं सहज ही सीखता है। मीड ने बेसबाल के खेल का उदाहरण देते हुए कहा है कि खिलाड़ी को, अपनी स्थिति से संबंधित सभी स्थितियों के प्रति प्रयत्नशील रहना चाहिए। उसे यह भी अवश्य ही जान लेना चाहिए कि उसके खेल में अन्य व्यक्ति क्या करना चाहते हैं।

टिप्पणी

इसका आशय यह हुआ कि जब शिशु क्रीड़ा स्थल में कोई संगठित खेल खेलता है तो पक्ष–विपक्ष दो टीमें होती हैं। पक्ष एवं विपक्ष में दूसरी टीम का प्रयास पहली टीम को पराजित करना होगा। शिशु चाहे जिस भी टीम का सदस्य रहे, परंतु उसे पता चल जाता है कि इस खेल में उसकी भूमिका क्या रहेगी। इसी प्रक्रिया में शिशु यह भी सहज ही सीख लेता है कि अन्य खिलाड़ी खेलते समय उसके साथ किस प्रकार का व्यवहार रखेंगे। यह प्रतिद्वंद्वों की स्थिति होती है। एक ही खेल के मैदान में अपने ही मित्रों में वह अपने एवं पराये का अनुभव कर लेता है। यह उस बच्चे के मानसिक स्तर पर निर्भर करता है कि वह इस खेल में कितनी गहराई से सामाजिक प्रक्रियाओं, सहयोग या असहयोग को सीख लेता है।

मीड ने बेसबाल के उदाहरण को मानव समुदाय एवं समाज के साथ तुलनात्मक रूप से रखकर स्पष्ट किया कि जैसे बेसबाल के खेल में एक संगठित चरित्र होता है ठीक इसी प्रकार से सामाजिक जीवन में भी मनुष्यों के समुदाय एवं संगठन होते हैं। इस खेल की प्रक्रिया के माध्यम से शिशु 'आत्म' के संगठन का रूप ग्रहण कर लेता है। ठीक इसी समय समाजीकरण की प्रक्रिया का प्रादुर्भाव होता है।

मीड के सिद्धांत की प्रमुख विशेषताएं इस प्रकार से हैं–

- खेल के नियमों में पारस्परिक अनुक्रियाओं का संगठन विद्यमान होता है।
- खेल के नियमों से शिशु अपने अंदर, दूसरे व्यक्तियों के कार्यों की संगठित व्यवस्था को प्राप्त करता है।
- खेल के ही समान, सामाजिक समूह का भी संगठन चरित्र होता है।
- जो शिशु पहले कुछ विशेष व्यक्तियों की अभिव्यक्तियां ही समझ सकता था। वास्तव में वे ही अभिव्यक्तियां अन्य व्यक्तियों की भी हो सकती हैं। इसका आशय उसे यह सिखाता है कि अनेक व्यक्ति एक ही उद्देश्य के लिए क्रियाशील प्रयत्नशील हो सकते हैं।
- इस पद को मीड ने 'सामान्यीकृत अन्य व्यक्ति' की संज्ञा दी है।
- कोई एक व्यक्ति सामान्य क्रियाओं एवं उद्देश्यों के दृष्टिकोण से समुदाय के आपसी स्वरूप से जुड़ी अभिवृत्तियों की व्यवस्था का अपने आप समन्वय करना सीख जाता है। इस स्थिति में वह एक पूर्ण 'आत्म' का स्वरूप धारण कर लेता है।
- पूर्ण स्वरूप धारण कर लेने पर मनुष्य सामाजिक उपज हो जाता है।
- एक बार मनुष्य सामाजिक हो जाए तो वह स्वयं को कभी अकेला महसूस नहीं करता।
- मनुष्य स्वयं से वार्तालाप कर सकता है।
- मनुष्य को स्वयं की अनुभूति हो जाती है।
- समाजीकरण का कारण मानव की विकसित स्वचेतना की क्षमता है।

### फ्रायड का समाजीकरण का सिद्धांत

फ्रायड (1856–1939) ने समाजीकरण की प्रक्रिया को समझने के लिए थेरेपि (Therapy) का आविष्कार किया था। इस थेरेपि को मनोःविश्लेषण (Psycho-analysis) के नाम से

टिप्पणी

जाना जाता है। फ्रायड, वास्तव में बहुमुखी प्रतिभावान एवं मनोवैज्ञानिक थे। फ्रायड का मत था कि मानव के दैनिक व्यवहारों एवं क्रियाकलापों का सर्वाधिक नियंत्रण करने का कार्य उसका स्वयं का अचेतन मस्तिष्क (Unconscious mind) होता है। इस मस्तिष्क में मनुष्य के मन में वह सभी संस्मरण सुरक्षित होते हैं जो उसने अपने शिशुकाल में धारण किए थे। हमारा चेतन मस्तिष्क बाल्यकाल की स्मृतियां तो भुला देता है परंतु हमारा अचेतन मस्तिष्क उन सभी स्मृतियों को संगृहीत करके रखता है अर्थात् बचपन में शिशु जो कुछ भी देखता एवं सीखता है वे सभी संस्मरण वह भूलता नहीं है परंतु जब–जब तत्संबंधी दृष्टांत सामने आते हैं तो व्यक्ति के अचेतन मस्तिष्क से वे सभी घटनाएं तुरंत ही जाग्रत हो जाती हैं एवं पुनः मनुष्य को याद आ जाती हैं। बाल्यकाल में शिशु के सभी अनुभव उसके अचेतन मन में संचित रहते हैं। ये संचित संस्मरण ही उसके ज्ञान एवं अनुभव का अंग होते हैं।

इस अवधारणा को भारतीय हिंदू धार्मिक ग्रन्थों में अधिक विस्तार एवं स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किया गया है। हमारे उपनिषदों एवं स्मृतियों में मनुष्य की मानसिक स्थिति का वर्णन फ्रायड के विचारों का आधार माना जा सकता है क्योंकि हमारे शास्त्रों में बताया गया है कि मनुष्य जो भी क्रियाएं या व्यवहार करता है वह उसके 'संचित कर्मों' का ही फल होता है। इस आधार पर वह व्यवहार भी करता है क्योंकि ये 'संचित कर्म' मनुष्य को ऐसा करने की प्रेरणा देते हैं। हिंदू शास्त्रों में इनकी निम्नांकित अवस्थाएं बताई गई हैं–

1. अन्नमय कोश– अन्न और भोजन से निर्मित (शरीर)
2. प्राणमय– प्राणों से बना
3. ज्ञानमय कोश– अंतर्ज्ञान से बना
4. मनोमय कोश– मन से बना
5. आनंदमय कोश– आनंदानुभूति से बना।

(उपरोक्त का विस्तृत अध्ययन उपनिषदों एवं स्मृतियों में उपलब्ध है)

फ्रायड के समाजीकरण के विश्लेषण का अन्य महत्वपूर्ण आधार व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास से संबंधित है। व्यक्तित्व के विकास की प्रक्रिया भी मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया होती है। व्यक्तित्व के विकास का अर्थ व्यक्ति के शरीर के विकास से ही संबंधित नहीं होता वरन् इसमें मुख्य एवं निर्णायक भूमिका मनोवैज्ञानिक विकास की होती है। हम मनुष्यों के ही व्यक्तित्व की बात कर सकते हैं क्योंकि व्यक्तित्व का मापदंड मनोवैज्ञानिक विकास है। मनुष्य के मनोविज्ञान को पढ़ा एवं स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है क्योंकि मनुष्य के पास अभिव्यक्त करने की सामर्थ्य होती है जो कि पशुओं में नहीं पाई जाती है।

फ्रायड ने स्पष्ट किया है कि शिशु की मांगों की संख्या अनन्त होती है। वह अपनी मांगें पूरी कराने की जिद करता है, मांग पूरी न होने पर रूठ जाता है या रोने लगता है परंतु जब उसे पता चलता है कि अमुक मांग पूरी ही नहीं हो सकती है तो धीरे–धीरे वह इस कमी को 'सहन' करने की सहनशीलता को अपने अन्दर स्वयं ही विकसित कर लेता है। शिशु केवल, भोजन की ही मांग नहीं करता वरन् अन्य अनेक प्रकार की इच्छाएं एवं आवश्यकताएं प्रकट करता है। फ्रायड ने अपने प्रयोगों द्वारा यह भी सिद्ध किया कि शिशु कुछ व्यक्तियों से शारीरिक सम्पर्क प्राप्त हो जाने पर स्वयं

टिप्पणी

को सुखद स्थिति में प्रतीत करता है एवं निरन्तर चाहता है कि वह शारीरिक सुख उसे मिलता रहे। भारतीय संस्कृति में हम देखते हैं कि बच्चा अपनी माता, दादी या बहन की गोद में जाकर बहुत सुखी एवं आनंद का अहसास करता है। यदि बच्चे को यह 'एहसास' नहीं मिलता तो वह छटपटाता है एवं एहसास न मिल पाने के कारण चिड़चिड़ा भी हो जाता है। शिशु की इस चिड़चिड़ाहट एवं झुंझलाहट का कारण 'माता' सही ढंग से जानती है और बच्चे को कह भी देती है कि 'मैं जानती हूं तुम क्यों बेचैन हो', ''मैं तुम्हारी बेचैनी का कारण भलीभांति जानती हूं।" शिशु यह सुनकर शांत हो जाता है और इस उम्मीद में प्रतीक्षा करता रहता है कि 'माता' शीघ्र ही मुझे अपने आलिंगन में लेगी और मुझे शारीरिक सुख का 'एहसास' कराएगी। इसी बीच में बच्चा अपना 'मन' अन्यत्र लगाकर बहलाने का प्रयास करता है। खेलने लग जाता है या खिलौनों के साथ मन बहलाता है। खिलौनों के साथ खेलने या अन्यत्र मन बहलाने का अर्थ यह नहीं होता कि बच्चे के अचेतन मस्तिष्क से उस 'स्नेह' एवं 'प्यार भरे एहसास' की स्मृतियां नष्ट हो गई हैं वरन् शिशु ने सहनशीलता का परिचय दिया एवं 'अपने मन को मारना' सीख लिया। इस तरह शिशु बार–बार वह शारीरिक सम्पर्क पाने का प्रयास करता रहता है एवं सम्पर्क मिल जाने पर सुखद अनुभूति करता है। क्योंकि शारीरिक सम्पर्क से उसे आनन्द की अनुभूति होती है जो कि क्षुधा की आवश्यकता से भी अधिक महत्वपूर्ण स्थान रखती है क्योंकि शिशु की शारीरिक आवश्यकता का संबंध उसके 'मन' एवं जाग्रत चेतना के साथ होता है जिसे वह अपने आनंद के साथ जोड़कर देखता है। फ्रायड ने यह भी पूर्ण रूप से स्पष्ट कर देना उचित समझा है कि शिशु के शारीरिक सम्पर्क का अर्थ 'काम विषयक' में कदापि नहीं लेना चाहिए क्योंकि शिशु को तो अभी तक काम वासना एवं उसकी आवश्यकता का ज्ञान भी नहीं होता और न ही उसकी शारीरिक रचना उसे इस योग्य बनाती है।

समय बीतने के साथ शिशु की यह आवश्यकता परिवर्तित होने लगती है क्योंकि वह निरन्तर ही शारीरिक सम्पर्क में नहीं रह सकता है। जब उसे यह आभास एवं ज्ञान हो जाता है कि वह हमेशा शारीरिक सम्पर्क में रहकर आनंदमय नहीं रह सकता तब वह इस 'प्रेम भाव' के विकल्प के रूप में अपने मित्रों या अन्य प्रयोजकों द्वारा अपना समाजीकरण स्वयं ही करने लग जाता है। बच्चा चाहे कहीं भी रहे, कितनी भी आयु का क्यों न हो जाए वह अपने साथ उस शारीरिक रूप से लिए गए आनंद की अनुभूति कभी भी नहीं भूल सकता। जैसा कि फ्रायड ने बताया भी है कि ये सभी स्मृतियां मानव के अचेतन मस्तिष्क में संगृहीत होकर सुषुप्तावस्था में पड़ी रहती हैं।

फ्रायड का ध्यान मानव की मनोवैज्ञानिक आधार पर होने वाली प्रगति पर भी रहा है। उन्होंने कहा कि मनुष्य के मनोवैज्ञानिक विकास की प्रक्रिया में निरन्तर एक ही प्रकार का छंद एवं तनाव की स्थिति बनी रहती है। तनाव के इस व्यवहार को फ्रायड ने औडिपस कॉम्पलैक्स (Oedipus Complex) का नाम दिया है। इसमें उन्होंने बताया कि मानव का व्यवहार, मुख्यतः काम विषयक (Erotic) बातों द्वारा अधिक संचालित होता है। इस अवधारणा के द्वारा, फ्रायड ने शिशुओं में यौन भेद संबंधी समाजीकरण का विवरण स्पष्ट किया है कि संतान को अपने माता–पिता के यौन संबंधों के बारे में जानकारी होने पर उसके मन में एक अजीब–सा तनाव या उनके शब्दों में औपिडस कॉम्पलैक्स आ जाता है। यह समाज का अकाट्य सत्य है कि संतान की उत्पत्ति, स्त्री एवं पुरुष के यौन संबंधों के कारण ही सम्भव है। फ्रायड ने समाजीकरण की इस आवश्यकता को भी स्पष्ट किया है।

टिप्पणी

समाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा मनुष्य के स्वयं का विकास (Development of self) होता है। इस विकास में मनुष्य के नैतिक मूल्यों का भी विकास साथ ही साथ होता है। अतः समाज में समाजीकरण की व्यक्तिगत एवं सामाजिक दोनों ही रूप में बराबर की आवश्यकता होती है। स्पष्ट किया जा चुका है कि समाजीकरण की प्रक्रिया में संस्कृति का विशेष योगदान होता है। बालक जिस परिवार में जन्म लेता है अपने उस परिवार की सांस्कृतिक एवं पारंपरिक विरासत को अपनाता हुआ वयस्क होता है। यह सच है कि समाज में परिवर्तन निरंतर रूप से होते रहते हैं, इस कारण से समाजीकरण की प्रक्रिया प्रभावित होती रहती है तथा समाज में होने वाले परिवर्तनों के कारण समाजीकरण भी तदनुसार परिवर्तित होता है।

प्रारंभिक रूप से बालक अपने परिवार एवं अपने सह–मित्रों के माध्यम से समाजीकरण की प्रक्रिया को आत्मसात करते हैं। अतः यही उनके प्राथमिक समाजीकरण के स्रोत भी होते हैं। इन्हीं समूहों के साथ बालक अंतःक्रिया करता हुआ समाज का नागरिक बन जाता है। समाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके माध्यम से मनुष्य समाज के विभिन्न व्यवहार, रीति–रिवाज, गतिविधियां इत्यादि सीखता है। जैविक अस्तित्व से सामाजिक अस्तित्व में मनुष्य का रूपांतरण भी समाजीकरण के माध्यम से ही होता है। समाजीकरण के माध्यम से ही वह संस्कृति को आत्मसात करता है। हम यह कह सकते हैं कि समाजीकरण की प्रक्रिया एक सीखने की प्रक्रिया है जिसमें मनुष्य संस्कृति के भौतिक तथा सांसारिक रूपों का परिचय आत्मसात करता है। समाजीकरण अथवा सीखने की यह प्रक्रिया समाज के स्थापित नियमों एवं परंपराओं के अनुसार ही चलती है। समाजीकरण की प्रक्रिया में मनुष्य गतिशील होता है जिसके माध्यम से उसका विवेक विकसित होता है एवं सांस्कृतिक मूल्यों को आत्मसात करते हुए वह समाज का एक अभिन्न अंग बन जाता है तथा समाज के निर्माण में अपने व्यवहार के अनुसार समूह के अन्य व्यक्तियों के साथ अंतःक्रिया करता है। इस प्रकार से संस्कृति का समाजीकरण की प्रक्रिया में महत्वपूर्ण स्थान होता है।

समाजशास्त्री जी.एच. मीड (1934) ने माइंड, सेल्फ एंड सोसाइटी, नामक पुस्तक में समाजीकरण की प्रक्रिया एवं संस्कृति के प्रभाव तथा इसमें होने वाले परिवर्तनों के बारे में विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। इसी प्रकार डेविस ने अपनी पुस्तक 'मानव समाज' में भी समाजीकरण एवं संस्कृति का उल्लेख किया है।

सी.एच. कूले ने अपनी कृति 'मानव प्रकृति एवं सामाजिक क्रम' में इन्हीं प्रक्रियाओं का उल्लेख किया है। इन विचारकों का मत है कि मनुष्य समाज के समूह द्वारा बनाए गए निश्चित नियमों एवं नियंत्रण द्वारा बाद के रूप में नियंत्रित होते हैं तथा उन्हीं के तहत व्यक्ति समाजीकरण तथा सामूहिकता को आत्मसात करते हुए समाज की उपयोगी इकाई बनता है।

परंतु जैसे–जैसे समाज में परिवर्तन होता है, समाजीकरण एवं संस्कृति में परिवर्तन होते हैं। परिवार, समाजीकरण का प्रथम एवं मुख्य कारक है। अनेक समाजशास्त्रियों ने परिवार की संरचना में होने वाले परिवर्तन का अध्ययन किया है। इसके फलस्वरूप समाज पर पड़ने वाले प्रभाव तथा संस्कृति में होने वाले परिवर्तनों का भी अध्ययन किया है तथा इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि परिवार की परंपरागत संरचना में परिवर्तन के कारण समाजीकरण की प्रक्रिया में भी परिवर्तन होता है। जहां बालक

पूर्व में अपने बुजुर्ग रिश्तेदारों से समाजीकरण की प्रक्रिया को आत्मसात करता था वहीं अब आधुनिकता एवं वैश्वीकरण के समय में कॉन्वेंट स्कूल एवं आधुनिक शिक्षा पद्धति के माध्यम से शिक्षा प्राप्त करता है एवं तदनुसार उसका समाजीकरण होता है।

टिप्पणी

पश्चिमीकरण एवं उपभोक्तावाद के कारण बालक उसी संस्कृति को आत्मसात कर रहा है जो यूरोप एवं अमेरिका में वर्तमान समय में चलन में है। इस परिवर्तन का प्रमुख प्रभाव भारतीय संस्कृति एवं समाजीकरण की प्रक्रिया पर बहुत गहराई से बढ़ा है और नई पीढ़ी स्वयं को अमेरिका एवं यूरोपीय दिखाने की होड़ में अपनी परंपराओं एवं मूल्यों से दूर होती जा रही है। इसका अन्य कारण समाज में अपनी स्थिति को अन्य से कुछ अलग दिखाने की अंधाधुंध प्रतिस्पर्धा एवं बढ़ता हुआ बाजारीकरण भी है।

## भारतीय समाज का सामाजिक क्रम परिवर्तन

श्रीनिवास ने भारतीय समाज में संस्कृतिकरण की अवधारणा पर विस्तारपूर्वक लिखा है। उन्होंने प्रतिपादित किया कि भारतीय वर्ण व्यवस्था में निम्न जाति से उच्च जाति की ओर का परिवर्तन संस्कृतिकरण की अवधारणा के फलस्वरूप होता है। इसका आशय इस प्रकार से भी लिया जा सकता है कि भारत में जातिगत विविधता एवं तत्संबंधी सामाजिक संरचना में आधुनिकीकरण एवं औद्योगिकीकरण के पश्चात अनेक प्रकार के परिवर्तन देखने को मिले हैं। संस्कृतिकरण की अवधारणा में निम्न जाति के समूह उच्च जाति की तरफ अग्रसर होते हैं एवं इस प्रकार से समाज में उचित स्थिति प्राप्त करने की प्रतिद्वंद्विता में सम्मिलित होते हैं।

हालांकि, संस्कृतिकरण की यह अवधारणा भारतीय नगरीय समाज एवं इसकी संरचना में तो सत्य प्रतीत होती है परंतु भारतीय समाज ग्रामीण समाज होने के कारण इस अवधारणा से अभी भी काफी दूर है। इसका कारण यह है कि भारतीय सामाजिक संरचना का अधिकांश भाग गांव एवं ग्रामीण परिवेश से संबंधित है तथा यह समाज इस प्रकार की सामाजिक संरचना से बना हुआ है कि इसमें पारंपरिक रीति–रिवाज एवं संस्कृति का निर्वहन अभी भी उसी प्रकार से होता है जैसा कि प्राचीन भारतीय समाज में होता था। इस प्रकार की सामाजिक संरचना के रहने के अनेक प्रकार के सांस्कृतिक कारण हैं जिनमें शिक्षा एवं धर्म का प्रमुख स्थान है।

इसके विपरीत शहरी एवं आधुनिक समाज में समाजीकरण की प्रक्रिया तीव्र गति से होती है, जिसके निम्नलिखित कारण हैं–

- औद्योगिकीकरण
- वैश्वीकरण
- शिक्षा का उच्च स्तर
- तकनीकी विकास
- सूचना एवं प्रौद्योगिकी का प्रादुर्भाव
- इंटरनेट का बढ़ता उपयोग
- समाज में बढ़ती हुई जागरूकता एवं शिक्षा का प्रसार

टिप्पणी

इसके विपरीत भारतीय ग्रामीण परिवेश अभी भी पारंपरिक सांस्कृतिक परिवेश एवं सामाजिक संरचना को यथा पूर्व सहज गति से संचालित करते हुए चल रहा है जिसके निम्नलिखित कारण स्पष्ट रूप से समझ में आते हैं–

- अशिक्षा
- दरिद्रता
- धर्मभीरुता
- जातिगत समाज
- क्षेत्रीय मान्यताएं
- भाषाई सीमाएं
- अंधविश्वास
- रूढ़िवादिता

हम कह सकते हैं कि समाजीकरण एवं संस्कृति दोनों एक–दूसरे से संबंधित पद हैं। अन्य पदों में समाज में होने वाले परिवर्तनों का बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है एवं समाजीकरण की वह पद्धति जो कुछ पीढ़ियों से पूर्व भारतीय समाज में अपनाई जाती थी अब वह आधुनिकता के प्रभाव में अपने पारंपरिक स्वरूप में हो रही है। हालांकि भारतीय ग्रामीण परिवेश अभी भी अपनी पारंपरिक संस्कृति एवं सामाजिक संरचना को उसी प्रकार से यथावत बनाकर रखकर चल रहा है। वैश्वीकरण एवं पूंजीवाद के बदलते हुए स्वरूप के फलस्वरूप किसी भी समाज को अब इसके प्रभावों से अछूता रह पाना असंभव ही प्रतीत होता है। अतः समाजशास्त्र के परिदृश्य में देखने से यह पता चलता है कि समाजीकरण एवं संस्कृति दोनों ही प्रक्रियाओं में निरंतर परिवर्तन हो रहे हैं, जिनका वैज्ञानिक आधार पर अध्ययन किया जाना आवश्यक है।

समाजीकरण एवं संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में भारतीय समाज में होने वाले सामाजिक संरचना के परिवर्तन के संबंध में अनेक समाजशास्त्रियों ने अपने विचार प्रस्तुत किए हैं एवं अनेक प्रकार के शोधकार्य इस क्षेत्र में जारी हैं। जिनका निष्कर्ष इस प्रकार से निकलता है कि भारतीय एवं वैश्विक स्तर के ऊपर सामाजिक संरचना में अनेक प्रकार के परिवर्तन परिलक्षित हो रहे हैं जिनका प्रभाव समाजीकरण की प्रक्रिया के ऊपर पड़ रहा है। हालांकि भारतीय सामाजिक संरचना में परिवर्तन को नापने का कोई उचित मापदंड तो स्थापित नहीं हो पाया है क्योंकि भारतीय समाज की विविधता जिसका प्रमुख कारण है, जिसमें भारतीय समाज अनेक प्रकार के स्तरों में विभाजित है। यदि भारतीय नगरीय क्षेत्र का अध्ययन किया जाए तो यह एक मात्र अवलोकन हो सकता है परंतु संपूर्ण भारतीय परिवेश में इस शोधकार्य एवं अध्ययन को सत्य मान लेना न्यायोचित नहीं होगा क्योंकि भारतीय समाज ग्रामीण समाज द्वारा देखा जाता है।

यदि इसे हर्बर्ट स्पेंसर एवं मैक्स वेबर के समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तो चक्रीय परिवर्तन की अवधारणा के परिणामस्वरूप भारतीय ग्रामीण समाज में भी उसी प्रकार के परिवर्तन अवश्यंभावी रूप से परिलक्षित होंगे जैसे कि यूरोपीय एवं विकसित राष्ट्रों में हो चुके हैं। भारतीय नगरीय समाज में उस प्रकार के परिवर्तन परिलक्षित होने प्रारंभ हो चुके हैं। समाजशास्त्र का अध्ययन यह प्रतिपादित करने में सहायक होता है कि समाज में मानव की सीखने की प्रक्रिया में संस्कृति की भूमिका एवं इसमें होने वाले

परिवर्तनों का सामाजिक संरचना पर किस प्रकार से परिवर्तन होता है तथा उनको किस प्रकार से वैज्ञानिक दृष्टिकोण की केंद्रीय भूमिका में रखा जाए।

टिप्पणी

## व्यक्तित्व तथा समाजीकरण

समाजीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जो सामाजिक प्राणी बनाती है। इस प्रक्रिया के अभाव में बालक के समुचित व्यक्तित्व का विकास संभव नहीं हो पाता है। इसके द्वारा जैविकीय प्राणी में सामाजिक गुणों का विकास होता है तथा वह सामाजिक प्राणी बनता है। इस प्रक्रिया के द्वारा व्यक्ति समाज और संस्कृति के मध्य रहकर विभिन्न साधनों के माध्यम से सामाजिक गुणों को सीखता है तथा स्वयं के संपूर्ण व्यक्तित्व का विकास करता है।

समाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके परिणामस्वरूप व्यक्ति व्यवहारों को स्वीकार करता है और उसके साथ अनुकूलन करके स्वयं का व्यक्तित्व विकसित करता है।

जन्म के समय पर बालक समूह के कार्यों में सहभागिता करने में असमर्थ होता है, धीरे–धीरे अन्य व्यक्तियों के व्यवहारों को देखकर तथा उनसे अंतःक्रिया के द्वारा उसमें सामाजिकता का विकास होता है। इस दृष्टिकोण से समाजीकरण एक प्रकार का सामाजिक नियंत्रण है जिसका उपयोग समूह के जीवन को सशक्त बनाने तथा व्यक्तित्व के विकास हेतु किया जाता है। समाजीकरण द्वारा व्यक्ति न केवल अपनी क्षमताओं का विकास करता है अपितु यह प्रक्रिया अनेक दूसरे कार्यों के द्वारा भी व्यक्तित्व को संगठित करने का कार्य करती है। समाजीकरण तथा व्यक्तित्व निम्न रूपों में परस्पर संबंधित होते हैं–

1. **नियमबद्धता का विकास** : अनुशासन और नियमबद्धता सामाजिक जीवन की आधारभूत आवश्यकता है। व्यक्ति की नैसर्गिक प्रेरणाएं व्यक्ति को अधिकतर नियम विरुद्ध कार्य करने को प्रोत्साहित करती हैं। समाजीकरण के द्वारा व्यक्ति का जीवन नियमबद्ध होता है। यह प्रक्रिया व्यक्ति की विशेष परिस्थितियों में विभिन्न उचित निर्णय लेने की क्षमता को भी विकसित करती है। इसका उद्देश्य है कि व्यक्ति समाज के नियमों को जितना अधिक ग्रहण कर लेता है, उसके व्यक्तित्व का विकास भी उतना ही अधिक होने की संभावना होती है।
2. **आकांक्षाओं की पूर्ति** : नियमबद्धता और आकांक्षापूर्ति में घनिष्ठ संबंध होता है। अनुशासित व्यक्ति नियमबद्ध तथा सकारात्मक व्यक्तित्व वाला होता है। अनुशासन द्वारा व्यक्ति की आकांक्षाएं पूर्ण होती रहती हैं। आकांक्षाएं भी सामाजिक व्यवस्था के अनुसार एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को संचरित होती रहती हैं। समाजीकरण द्वारा व्यक्ति की आकांक्षाओं के रूप का निर्धारण करने तथा आदर्श पूर्ति में सहायता प्राप्त होती है।
3. **सामाजिक भूमिकाओं की पूर्ति का प्रशिक्षण** : समाज में प्रत्येक व्यक्ति को भिन्न–भिन्न भूमिकाओं का निर्वाह करना होता है। समाजीकरण की प्रक्रिया यह सिखाती है कि विभिन्न परिस्थितियों में व्यक्ति अनेक व्यक्तियों के साथ कैसे सामंजस्य स्थापित करता है तथा अन्य व्यक्तियों से अनुकूलन करने के लिए वह किस प्रकार की भूमिका निभाये, व्यक्ति की भूमिका ही व्यक्ति के गुण, विचार, मनोवृत्तियों और व्यक्तित्व संबंधी विशेषताओं को सुनिश्चित करती है।

टिप्पणी

4. **सामाजिक क्षमताओं का विकास** : सामाजिक क्षमताओं से तात्पर्य उन गुणों से है जो व्यक्ति का समाज से अनुकूलन कराने में सहायक होते हैं। समाजीकरण की प्रक्रिया का एक महत्वपूर्ण कार्य व्यक्ति में उन सामाजिक क्षमताओं को विकसित करना है जिनसे वह अन्य क्षेत्रों में भी अपने दायित्व का निर्वाह कुशलतापूर्वक कर सके।

   समाजीकरण की प्रक्रिया का व्यक्तित्व निर्माण से इतना घनिष्ठ संबंध है कि इसकी अनुपस्थिति में व्यक्ति किसी भी प्रकार से एक सामाजिक प्राणी नहीं बन सकता है। वस्तुतः इसके द्वारा ही बालक सांस्कृतिक विशेषताओं, नैतिकता और व्यक्तित्व को प्राप्त करता है।

### अपनी प्रगति जांचिए

13. शिक्षा जगत में कौन–सा शब्द अपना एक विशेष स्थान रखता है?

    (क) सौंदर्य (ख) व्यक्तित्व

    (ग) परिवार (घ) घर

14. व्यक्ति के क्रियात्मक व्यवहार के स्थिर और स्थायी संगठन को क्या प्रकट करता है?

    (क) चरित्र (ख) स्वास्थ्य

    (ग) पैसा (घ) घमंड

## 2.9 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (क)
2. (घ)
3. (ग)
4. (ख)
5. (क)
6. (क)
7. (ख)
8. (क)
9. (ख)
10. (क)
11. (ग)
12. (क)
13. (ख)
14. (क)

टिप्पणी

## 2.10 सारांश

संस्कृति एक व्यवस्था है, जिसमें व्यक्ति के जीवन के प्रतिमानों, व्यवहारों, अनेकानेक भौतिक एवं अभौतिक प्रतीकों, परंपराओं, विचारों, सामाजिक मूल्यों, मानवीय अंतःक्रियाओं और आविष्कारों को सम्मिलित किया जाता है। वस्तुतः भारत विश्व की सर्वाधिक प्राचीन एवं समृद्ध संस्कृति वाला देश है। अन्य देशों की संस्कृतियां तो समय की धारा के साथ–साथ लुप्त होती रहीं परंतु भारतीय संस्कृति आदिकाल से ही अपने परंपरागत अस्तित्व के साथ कायम रही है। इसकी उदारता तथा समन्वयवादी गुणों ने अन्य संस्कृतियों को समाहित तो किया है, किंतु अपने अस्तित्व के मूल को सुरक्षित रखा है। तभी तो पाश्चात्य विद्वान अपने देश की संस्कृति को समझने हेतु भारतीय संस्कृति को पहले समझने का परामर्श देते हैं।

सामाजिक परिवर्तन लाने में संस्कृति का योगदान महत्वपूर्ण होता है। संस्कृति समाज की ही उपज है और समाज से घुली–मिली धारणा है। कुछ समाजशास्त्रियों ने सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन में अंतर ही नहीं किया है। वेबर एवं सोरोकिन जैसे अनेक विद्वानों ने सामाजिक परिवर्तन में सांस्कृतिक कारकों को महत्वपूर्ण माना है। संस्कृति द्वारा जिस पर्यावरण का निर्माण होता है उसमें उन वस्तुओं को सम्मिलित किया जाता है जिन्हें मानव ने स्वयं बनाया है। संस्कृति एक जटिल अवधारणा है जिसे एक ऐसी व्यवस्था माना जाता है जिसमें व्यवहार के ढंग भौतिक तथा अभौतिक प्रतीक, परंपराएं, ज्ञान, विश्वास, अविश्वास आदि सन्निहित होते हैं। हमारे समाज को क्या शिक्षा दी जाए एवं उस शिक्षा का उद्देश्य क्या हो? इसको निर्धारित करने के अनेक मानदंड हैं।

संस्कृति के अन्तर्गत स्वजातीयता (Ethnocentrism) एक ऐसी अवधारणा है जिसमें कोई जाति स्वयं को, अन्य जातियों से बेहतर समझती है। इसे नृजातीयता, सजातीयता आदि भी कहा जाता है। स्वजातीयता शब्द जातीय शब्द से बनाया गया है– Ethnic = जातीय तथा Ethnicity = जातीयता। जातीयता शब्द का अर्थ समझ लेने पर स्वजातीयता का आशय इस प्रकार से स्पष्ट होता है कि स्वजातीयता एक ऐसा सिद्धांत है जिसके अंतर्गत, जातीयता से संबंधित अध्ययन किया जाता है। हिंदी में इसका अर्थ 'प्रजाति केंद्रित' के रूप में लिया जाता है, अर्थात् यह मनुष्य की वह प्रवृत्ति है जिसमें कि वह अपनी स्वयं की प्रजाति को अन्य से श्रेष्ठ समझते हुए इसका पक्ष लेता है तथा अपनी संस्कृति का निर्माण करता है। उदाहरण के लिए श्वेत वर्ण के व्यक्ति सदियों से स्वयं को श्याम वर्ण के व्यक्तियों से श्रेष्ठ समझते आए हैं एवं अपनी श्वेत वर्ण की प्रजाति को ही सर्वश्रेष्ठ स्थापित करते रहे हैं। स्वयं को श्रेष्ठ करने की इसी प्रवृत्ति या अवधारणा को समाजशास्त्रीय अध्ययन विषय–वस्तु में प्रजाति केंद्रित कहा जाता है।

समाज में अनेक प्रकार के जातीय समूह या जातीयता या नृजातीयता के समूह प्रत्येक समाज में लंबे समय से विद्यमान रहे हैं। नृजातीय समूहों के व्यक्ति स्वयं की,

टिप्पणी

सामाजिक, सांस्कृतिक, राष्ट्रीय, वर्णात्मक जाति या क्षेत्र के आधार पर पहचान बनाते हैं। अन्य सामाजिक समूहों के उलट, स्वजातीयता एक ऐसा समूह होता है जो कि वंशानुगत के आधार (विरासत) पर जन्म लेता है। स्वजातीयता की संस्कृति जाति विशेष या क्षेत्र विशेष तक भी सीमित हो सकती है परन्तु अन्य समाज या जातियां इनकी संस्कृति से कुछ हद तक प्रभावित अवश्य होती हैं।

सांस्कृतिक सापेक्षवाद को समझने से पूर्व, 'सापेक्षवाद' का अर्थ मालूम होना अनिवार्य हो जाता है। सापेक्षवाद (Relativism) एक ऐसा सिद्धांत या अवधारणा है जो यह मानता है कि 'कुछ भी सत्य नहीं है' अर्थात किसी भी तथ्य या विचार को 'पूर्ण सत्य' नहीं कहा जा सकता है। इसके विपरीत सापेक्षवादियों का यह भी विचार होता है कि 'जो भी हम देखते या फिर समझ पाते हैं वह सब कुछ किसी न किसी वस्तु के संदर्भ या सापेक्ष में ही देखते हैं।' उदाहरण के लिए यदि हम किसी सीधी रेखा की सत्यता की जांच करते हैं तो किसी अन्य वस्तु के ही सापेक्ष कर पाते हैं। इस प्रकार हम कहते हैं कि कोई रेखा सीधी है अथवा नहीं। इस रेखा का सीधा होना पहली रेखा के सापेक्ष ही है।

आदर्श संस्कृति में वे मूल्य और मानदंड सम्मिलित होते हैं जो एक संस्कृति होने का दावा करते हैं, जबकि वास्तविक संस्कृति में वे मूल्य और मानदंड होते हैं, जिनका वास्तव में एक संस्कृति द्वारा पालन किया जाता है।

आदर्श संस्कृति उन प्रथाओं, मूल्यों या मानदंडों को संदर्भित करती है जिनका समाज पालन करता है या प्राप्त करने की इच्छा रखता है। यह उन लक्ष्यों को संदर्भित करता है जिन्हें एक समाज आदर्श संस्कृति के योग्य मानता है।

आदर्श संस्कृति अधिक उत्साही, आशावादी और चमकदार प्रतीत होती है, जो वास्तविक संस्कृति से इसको भिन्न बनाती है, जो कि समाज की वास्तविक तस्वीर है। आदर्श और वास्तविक संस्कृति में एक आदर्श और दृढ़ मूल्य प्रणाली शामिल होती है, जो पूर्ण व्यवहार को नियंत्रित करती है। वास्तविक संस्कृति में एक मूल्य प्रणाली सम्मिलित होती है जो अनुकूलनीय होती है और उपयुक्त दिशा निर्देश के रूप में कार्य करती है, आदर्श मूल्य निरपेक्ष होते हैं, जिनमें अपवाद नहीं होता है। लेकिन वास्तविक संस्कृतियों में आदर्श मूल्यों और व्यावहारिक वास्तविकताओं के मध्य के अंतर्विरोधों को समाप्त करने के लिए अपवाद होते हैं। अमेरिकी मूल्यों को अधिकतर सर्वोत्तम मानकर आदर्श बनाया जाता है। जबकि जिन मूल्यों को हम दैनिक जीवन में कायम रखते हैं, वे वास्तविक संस्कृति से संबंधित होते हैं।

मानव की श्रेष्ठतम धरोहर उसकी संस्कृति है, जिसकी सहायता से मानव पीढ़ी दर पीढ़ी आगे बढ़ता रहता है, प्रगति की ओर उन्मुख रहता है। संस्कृति के कारण ही मानव समस्त प्राणियों में श्रेष्ठ माना जाता है। संस्कृति के अभाव में मानव को पशु के समान समझा जाता है, यह ही मनुष्य का पर्यावरण है। संस्कृति में रहकर मनुष्य उन सभी क्षमताओं को प्राप्त कर सका है जिनकी सहायता से उसके जीवन पर प्राकृतिक दशाओं का प्रभाव लगातार कम होता जा रहा है। इसलिए व्यक्ति को एक सामाजिक प्राणी बनाने, सामाजिक संगठन के रूप का निर्धारण करने, प्रौद्योगिकी विकास को एक

टिप्पणी

दिशा प्रदान करने तथा आर्थिक व्यवस्था का निर्माण करने में संस्कृति के योगदान की अवहेलना नहीं की जा सकती है। इसी कारण से मानव जीवन को प्रभावित करने वाली शक्तियों में संस्कृति को सर्वाधिक प्रभावशाली शक्ति माना जाता है। मानव ही विश्व का ऐसा प्राणी है जो अपनी विशिष्ट क्षमताओं के कारण संस्कृति का निर्माण कर पाया है, भौतिक क्षेत्र में अनेक वस्तुओं को निर्मित कर पाया है एवं अभौतिक क्षेत्रों में अनेक विश्वासों तथा व्यवहारों के तरीकों को जन्म दे पाया है। संस्कृति परंपराओं, विश्वासों, जीवन–शैली, आध्यात्मिक पक्ष तथा भौतिक पक्ष से निरंतर जुड़ी रहती है। यह हमें जीवन का अर्थ और जीवन जीने का तरीका सिखाती है। मानव ही संस्कृति का निर्माता है और साथ ही संस्कृति मानव को मानव बनाती है।

शिक्षा जगत में 'व्यक्तित्व' शब्द अपना एक विशेष स्थान रखता है। शिक्षा बालक के व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास का संपूर्ण प्रयोजन रखती है। अतः भावी अध्यापकों को 'व्यक्तित्व' के अर्थ प्रकृति एवं उसकी अवधारणा से परिचित होना अत्यन्त आवश्यक है।

मनोवैज्ञानिक भाषा में व्यक्ति अपने आप में जो कुछ भी है वही उसका व्यक्तित्व है। अपने प्रति और दूसरों के प्रति किए जाने वाले व्यवहार का यह एक समग्र चित्र है। इसमें व्यक्ति के पास शारीरिक, मानसिक, संवेगात्मक, सामाजिक और आध्यात्मिक रूप से जो कुछ भी होता है वह सभी सम्मिलित होता है। थोड़े शब्दों में व्यक्तित्व वह सब कुछ है जो एक व्यक्ति के पास होता है।

शिशु जन्म लेने के समय कुछ नहीं जानता, वह अबोध होता है, जैसे–जैसे उसकी आयु बढ़ती जाती है, वह अपने आसपास के वातावरण एवं क्रियाकलापों से सीखकर तदनुसार व्यवहार करने लग जाता है। यह एक सतत प्रक्रिया है एवं समाज का प्रत्येक व्यक्ति इस प्रक्रिया को चाहे–अनचाहे आत्मसात करते हुए समाज विशेष का अंग बन जाता है।

शिशु अपने बचपन में माता–पिता, परिवार, मित्रों से एवं तदोपरांत, विद्यालय, कॉलेज एवं अन्य सामाजिक संस्थाओं के माध्यम से सामाजिक होना सीखता है। जिस समाज में वह पलता–बढ़ता है उसी समाज से प्रेरणाएं लेकर वह युवावस्था तक पहुंचता है और अपनी सामाजिक जिम्मेदारियों का पालन करता है। इस प्रकार प्रत्येक सामाजिक व्यक्ति को अपने समाज की स्थापित मान्यताओं का पालन करना समाजीकरण के ही माध्यम से सिखाया जाता है।

## 2.11 मुख्य शब्दावली

- **अभिप्राय** : अर्थ, आशय।
- **पृथक** : अलग।
- **नितांत** : अत्यंत।
- **आकलन** : अनुमान।
- **आविष्कार** : खोज।
- **परामर्श** : राय।
- **पाश्चात्य** : पश्चिमी।

टिप्पणी

## 2.12 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

### लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. संस्कृति की क्या परिभाषा है?
2. समाज से आप क्या समझते हैं?
3. जेनोफोबिया का क्या अर्थ है?
4. वास्तविक एवं आदर्श संस्कृति की तुलना कीजिए।
5. व्यक्तित्व की प्रकृति एवं स्वरूप पर प्रकाश डालिए।
6. समाजीकरण क्या है?

### दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. संस्कृति की संरचना का विवेचन कीजिए।
2. संस्कृति तथा स्वजातीयता का विश्लेषण कीजिए।
3. सांस्कृतिक सापेक्षवाद की व्याख्या कीजिए।
4. संस्कृति और मानव समायोजन की समीक्षा कीजिए।
5. व्यक्तित्व के निर्धारक तत्वों का वर्णन कीजिए।
6. समाजीकरण के सिद्धांतों का विवेचन कीजिए।

## 2.13 सहायक पाठ्य सामग्री


1. Heath Anthony, Ermisch John and Duncan Gallie. 2005. *Understanding Social Change*. Oxford: Oxford University Press.
2. Ahuja, Ram. 2001. *Social Problems in India.* New Delhi: Rawat Publications.
3. Cuber, John. F and Robert A. Harper. 1948. *Problems of American Sociology: Values or Conflict*. New York: Holt.
4. Cooley, Charles Horton. 2019. *Social Process*. Mountain View, California: Creative Media Partners.
5. Berger, P., & Luckmann, T. (1966). The Social Construction of Social Reality. Harmondsworth: Penguin.
6. Blau, P. (ed.). (1975). Approaches to the Study of Social Structure. New York: Free Press.
7. Callinicos, A. (2007) Social theory: a historical introduction. (2nd ed.) Cambridge: Polity.
8. Crothers, Charles (1996) Social Structure. Routledge, London.

टिप्पणी

9. Dahrendorf, R. (1968). Essays in the Theory of Society. London: Routledge and Kegan Paul.
10. Granovetter, Mark (1995/1973) Getting a job: a study of contacts and careers. 2nd ed. Chicago : University of Chicago Press
11. Giddens, A. (1984). The Constitution of Society. Oxford: Polity Press.
12. Hindess, B. (1989). Political Choice and Social Structure: an analysis of actors, interests and rationality. Aldershott, Hants, UK: Edward Elgar.
13. Lin, N. (2001) Social capital: a theory of social structure and action Cambridge, UK; New York:
14. Martin, Peter J. and Alex Dennis (eds.) (2010) Human Agents and Social Structures
15. Merton, R. K. (1968). Social Theory and Social Structure. Glencoe, Illinois: Free Press.
16. Nadel, S. F. (1957). The Theory of Social Structure. Melbourne: Melbourne University Press.
17. Porpora, D. (1987). The Concept of Social Structure. Westport, CT: Greenwood Press.
18. Searle, John R. (2010) Making the social world: the structure of human civilization. Oxford; New York: Oxford University Press.

# इकाई 3 सामाजिक संरचना और सामाजिक स्तरीकरण

टिप्पणी

## संरचना

3.0 परिचय
3.1 उद्देश्य
3.2 सामाजिक संरचना और सामाजिक स्तरीकरण : कार्यात्मक परिप्रेक्ष्य, मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य, वेबेरियन परिप्रेक्ष्य
- 3.2.1 सामाजिक संरचना
- 3.2.2 सामाजिक स्तरीकरण
- 3.2.3 सामाजिक स्तरीकरण – प्रकार्यात्मक परिप्रेक्ष्य
- 3.2.4 सामाजिक स्तरीकरण – मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य
- 3.2.5 सामाजिक स्तरीकरण – वेबेरियन परिप्रेक्ष्य

3.3 जाति व्यवस्था : तीन परिप्रेक्ष्य
- 3.3.1 जाति : अर्थ, परिभाषाएं एवं उत्पत्ति
- 3.3.2 जाति की उत्पत्ति के प्रमुख सिद्धांत एवं विशेषताएं
- 3.3.3 जाति के परिवर्तनशील प्रतिमान
- 3.3.4 जाति व्यवस्था – तीन परिप्रेक्ष्य

3.4 सामाजिक प्रक्रियाएं
- 3.4.1 सामाजिक प्रक्रियाओं की प्रकृति, प्रतियोगिता एवं संघर्ष
- 3.4.2 प्रतियोगिता
- 3.4.3 संघर्ष
- 3.4.4 समाजीकरण
- 3.4.5 सामाजिक नियंत्रण

3.5 सामाजिक परिवर्तन और सामाजिक आंदोलन
- 3.5.1 सामाजिक आंदोलन का परिचय और सामाजिक परिवर्तन
- 3.5.2 सामाजिक परिवर्तन का परिचय, प्रवृत्तियां और प्रतिमान
- 3.5.3 सामाजिक आंदोलनों की उत्पत्ति
- 3.5.4 सामूहिक लामबंदी
- 3.5.5 संगठन और नेतृत्व
- 3.5.6 सामाजिक प्रभाव और परिवर्तन
- 3.5.7 प्रणाली संबंधी एक पद्धतिगत प्रश्न

3.6 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
3.7 सारांश
3.8 मुख्य शब्दावली
3.9 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
3.10 सहायक पाठ्य सामग्री

## 3.0 परिचय

सामाजिक संरचना की धारणा सामाजिक विज्ञान के विभिन्न मुख्य विषय–प्रसंगों से घनिष्ठता से संबंधित है जिनमें संरचना व अभिकरण में संबंध सम्मिलित है। अभिकरण से सामाजिक संरचना की अवधारणा को संयुक्त करने के सर्वाधिक प्रभावी प्रयास रहे– एंथॉनी गिड्डेन (ब्रिटिश समाज अध्येता) का संरचना–वाद एवं पियर्रे बौर्डिड (एक

टिप्पणी

समाज अध्येता, नृविज्ञानी व दार्शनिक) का पद्धति–वाद। गिड्डेन ने संरचना व अभिकरण के द्वैतभाव पर जोर इस सन्दर्भ में दिया कि संरचनाओं व अभिकरण को एक–दूसरे से पृथक नहीं समझा जा सकता। इससे ये यह तर्क रख पाये कि संरचना न तो कर्ताओं से स्वतन्त्र होती है, न ही इनके व्यवहार की निर्धारक होती है अपितु ऐसे नियमों व क्षमताओं का संग्रह होती है जिन्हें बनाकर कर्ता इन पर अपने कार्य करते हैं।

प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था में समाज के विभिन्न स्तर विद्यमान होते हैं। इन स्तरों की पहचान के साथ–साथ उनकी विशेषताओं, रूपों और आधार तत्वों से परिचित होना भी अत्यन्त आवश्यक है। समाज के इन स्तरों की तुलना भूमि की विभिन्न परतों से करना उचित है क्योंकि जिस प्रकार भूमि की हर परत या स्तर की अपनी भिन्न प्रकृति और अस्तित्व होता है, उसी प्रकार समाज के अन्तर्गत व्यक्तियों के जीवन स्तर में भी भिन्नता होती है। जहां भूमि के स्तरों की हर हलचल उस पर विशेष प्रभाव डालती है वहीं मानव जीवन की हर गतिविधि का उनके जीवन स्तर पर प्रभाव पड़ता है। सामाजिक स्तरीकरण का अध्ययन करने से वर्तमान की सामाजिक व्यवस्था का तो मूल्यांकन किया ही जा सकता है, सामाजिक गतिविधियों को भी भविष्य में नियंत्रित करने की प्रेरणा व सहायता मिलती है। समाज का उचित मार्गदर्शन कर उसे प्रगति के पथ पर अग्रसर किया जा सकता है।

सन् 1940 के दशक से सामाजिक स्तरीकरण का अस्तित्व सामने आया है। इस धारणा का बहुत से विद्वान समाजशास्त्रियों ने अपने कई सिद्धांतों से विश्लेषण किया है। सामाजिक स्तरीकरण की माप के आधारों में मतभेद हो सकते हैं पर इस विषय के महत्व को कम नहीं आंका जा सकता है। समाज के उठते या गिरते स्तर का मूल्यांकन देश की प्रगति या अवनति से भी जुड़ा होता है, इसलिए सामाजिक स्तरीकरण का महत्व और बढ़ जाता है।

आज के युग में तकनीकी एवं वैज्ञानिक उपलब्धियों ने सामाजिक स्तरीकरण में परिवर्तन की नई दिशाएं प्रदान की हैं। सामाजिक असमानता के परिदृश्य को बदला है। निम्न वर्ग या जाति के युवाओं का एक नया वर्ग 'ब्रेकथ्रू जेनेरेशन' के रूप में उदित हुआ है। शिक्षित शूद्र और अस्पृश्यों की यह नई पीढ़ी अपने जीवन–स्तर को उठाते हुए नई नौकरियों में स्थापित हो रही है। मार्क्सवादी अवधारणा ने, किसानों के आंदोलनों ने, महिलाओं के नारीवाद ने, आधुनिकता, औद्योगिकीकरण और वैश्वीकरण ने सम्मिलित रूप से मानव सामाजिक व्यवस्था को झकझोरा है। समाज को उत्थान की ओर उन्मुख किया है। कहीं–कहीं कुछ सामाजिक विषमताएं भी उत्पन्न हुई हैं, जैसे मशीनीकरण से रोजगार में कमी, पूंजीवाद का बाहुल्य, मादक–द्रव्यों की विविधता, नारी शोषण आदि। इन विषमताओं का निराकरण व नियंत्रण किया जा सकता है। सामाजिक व्यवस्था को नियंत्रित और व्यवस्थित करने की दिशा में सामाजिक स्तरीकरण का विषय उपयोगी सिद्ध होता है। देश के नव–निर्माण में भी समाज की दशा और दिशा का मार्गदर्शन इस प्रणाली से हुआ है।

प्रस्तुत इकाई में सामाजिक संरचना और सामाजिक स्तरीकरण के कार्यात्मक, मार्क्सवादी, वेबेरियन परिप्रेक्ष्य, जाति व्यवस्था के तीन परिप्रेक्ष्य, सामाजिक प्रक्रियाएं,

सामाजिक परिवर्तन और सामाजिक आंदोलन से संबंधित सभी तथ्यों का अध्ययन किया गया है।

टिप्पणी

## 3.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- सामाजिक संरचना व स्तरीकरण की अवधारणा एवं परिप्रेक्ष्यों को समझ पाएंगे;
- जाति व्यवस्था के तीनों परिप्रेक्ष्यों को समझ पाएंगे;
- सामाजिक प्रक्रियाओं की प्रकृति एवं समाजीकरण से अवगत हो पाएंगे;
- सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को समझ पाएंगे;
- सामाजिक आंदोलन की उत्पत्ति एवं सामूहिक गतिशीलता के बारे में जान पाएंगे।

## 3.2 सामाजिक संरचना और सामाजिक स्तरीकरण : कार्यात्मक परिप्रेक्ष्य, मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य, वेबेरियन परिप्रेक्ष्य

सामाजिक संरचना और सामाजिक स्तरीकरण के अंतर्गत कार्यात्मक, मार्क्सवादी व वेबेरियन परिप्रेक्ष्य को क्रमानुसार इस प्रकार समझा जा सकता है।

### 3.2.1 सामाजिक संरचना

सामाजिक संरचना का आशय सामाजिक व्यवहार के किसी आवर्ती (अधिक आवृत्ति युक्त) प्रारूप से है अथवा 'सामाजिक तन्त्र' या समाज के विभिन्न तत्वों के मध्य क्रमित अंतर्संबंधों से है। नृजातिविज्ञानी रेमॉण्ड फिर्थ के अनुसार सामाजिक संरचना एक विश्लेषकीय साधन है जिसे हमारे द्वारा यह समझने के लिए बनाया गया है कि मनुष्य अपने सामाजिक जीवन में किस प्रकार व्यवहार करता है। इस अवधारणा का सार यह है कि समाज के सदस्यों के व्यवहारों के लिए सामाजिक संरचना ऐसे सामाजिक संबंध हैं जिनका अत्यधिक महत्व प्रतीत होता है। इतने महत्वपूर्ण कि यदि ऐसे संबंध क्रियाशील न हों तो समाज को उस रूप में अस्तित्वमान नहीं माना जा सकता (*Elements of Social Organization*, 1951)। संरचनाओं से लोगों की जीवन–पद्धतियों को आकार मिलता है परन्तु इन पद्धतियों द्वारा सामाजिक प्रणालियों का गठन व उत्पत्ति भी की जाती है।

**सामाजिक संरचना के अवयव–** सामाजिक संरचना के प्रमुख अवयव निम्नानुसार हैं–

- आर्थिक
- धार्मिक
- राजनीतिक

टिप्पणी

- रिश्तेदारी
- समाज के वैधानिक व अन्य संस्थान।

सामाजिक संरचनाओं के अध्ययन ने आरम्भ से ही, निम्नांकित आयामों के अध्ययन में भी सहायता की है–

- संस्थान
- संस्कृति एवं अभिकरण
- सामाजिक अंतर्क्रिया एवं
- इतिहास।

फ्रान्सीसी राजनीतिक विचारक एवं इतिहासकार एलेग्जिस डि टोक्वेविले ने उपरोक्त का प्रत्यक्ष उपयोग करते हुए सामाजिक संरचना रूपी शब्द का प्रयोग किया। बाद में कार्ल मार्क्स, हर्बर्ट स्पेन्सर, मैक्सवेबर, फेर्डिनेन्द टोन्नीस एवं एमाइल दुर्खीम ने सामाजिक अध्ययन की संरचनागत अवधारणाओं में अपना–अपना योगदान दिया।

मैक्सवेबर ने आधुनिक समाज के संस्थानों की खोजबीन व विश्लेषण किया। ये संस्थान थे– बाजार, अधिकारीतन्त्र (निजी उद्यम व लोक प्रशासन), राजनीति (उदाहरणार्थ लोकतन्त्र) एवं धर्म। कार्ल मार्क्स ने सामाजिक संरचना एवं उत्पादन (वहां की आर्थिक संरचना) के रूप में तत्संबंधित राजनीतिक, सांस्कृतिक व साम्प्रदायिक जीवन का शुरुआती व अत्यन्त व्यापक अध्ययन प्रस्तुत किया। मार्क्स का तर्क था कि आर्थिक आधार द्वारा ही समाज की सांस्कृतिक व राजनीतिक महासंरचनाएं प्रधानता से निर्धारित की जाती हैं। मार्क्सवाद के बाद कई अध्येताओं (जैसे कि लुईस एल्थुस्सेर) ने अधिक जटिल संबंध प्रस्तावित किये जिनमें सांस्कृतिक व राजनीतिक संस्थानों की आपेक्षिक स्वायत्तता के बारे में दृढ़ता से कहा गया तथा आर्थिक कारकों द्वारा सर्वसाधारण के निर्धारण को अंत में रखा (only 'in the last instance') गया। सन् 1905 में फेर्डिनेन्द टोन्नीस नामक जर्मन समाज अध्येता ने तर्क रखा कि बहु–संयोजन से, एकता के गठन से ही 'सामाजिक संरचना' का निर्माण होता है।

एमाइल दुर्खीम (बाद में हर्बर्ट स्पेन्सर व अन्य ने जैविक एवं सामाजिक प्रणालियों के मध्य समानताओं के सन्दर्भ में) ने यह विचार प्रस्तुत किया कि विविध भागों को एकीभूत व स्व–उत्पत्तिक्षम समग्र में समाविष्ट करते हुए समाज के क्रियात्मक एकीकरण को सुनिश्चित करने में वैविध्यपूर्ण सामाजिक संस्थानों व पद्धतियों द्वारा अपनी–अपनी भूमिकाएं निभायी जाती हैं। इस परिदृश्य में दुर्खीम ने संरचनात्मक संबंधों का दो रूपों में भेद किया: यांत्रिक एकजुटता व जीवीय एकजुटता। यांत्रिक एकजुटता में ऐसी संरचनाएं बतायी जाती हैं जो साझी संस्कृति के माध्यम से समान भागों को एकजुट करती हैं। जीवीय एकजुटता में सामाजिक विनिमय व भौतिक अंतर्निर्भरता के माध्यम से भिन्नतापूर्ण भागों को एक किया जाता है।

सामाजिक संरचना की धारणा बीसवीं शताब्दी में अत्यधिक विकसित की गयी जिसमें कुछ के द्वारा मार्क्स का अनुसरण करते हुए समाज के मूलभूत आयामों की पहचान करने का प्रयास किया गया जो अन्य आयामों की व्याख्या करते हैं। अधिकांश के द्वारा आर्थिक उत्पादन अथवा राजनीतिक सत्ता पर जोर दिया जाता है। अन्यों के द्वारा लेवि–स्ट्रॉस का अनुसरण करते हुए सांस्कृतिक संरचनाओं में तार्किक क्रम ज्ञात करने

टिप्पणी

का प्रयास किया जाता है। वैसे अन्यों जिनमें पीटर ब्लाउ उल्लेखनीय हैं के द्वारा सिम्मेल का अनुसरण करते हुए संबंधों में संख्यात्मक प्रारूपों पर सामाजिक संरचना के औपचारिक वाद का आधार स्पष्ट करने का प्रयास किया गया, उदाहरणार्थ– समूह–आकार, अंतर्सामूहिक संबंधों जैसे कारकों का विश्लेषण करने की रीतियां।

## सामाजिक संरचना के अभिलक्षण

सामाजिक संरचना के अभिलक्षण निम्न प्रकार हैं–

- सुनिश्चित समुच्चयों अथवा समूहों का पारस्परिक संबंध।
- एक–दूसरे से संबंध में सामाजिक तन्त्र में सहभागियों द्वारा व्यवहार के आवर्ती प्रारूप।
- संस्थानीभूत रिवाज अथवा संज्ञानात्मक ढांचे जिनसे सामाजिक तन्त्र में कर्ताओं के कार्यों को रूप मिलता है।
- सामाजिक संरचनाओं की समझ में अनेक विचारशालाएं (स्कूल्स ऑफ थॉट) सामने आई, विशेषतया संरचनावाद एवं क्रियावाद।

## संरचनावाद

सामाजिक अध्ययन में संरचनावाद का समावेश मूलतः फेर्डिनेन्द डि सउस्योर के भाषायी वादों से क्लॉउड लेवि–स्ट्रॉस द्वारा किया गया। इस दृष्टिकोण में कार्य करने संबंधी व्यक्ति की योग्यता की अपेक्षा निर्धारणात्मक संरचनात्मक रूपों (जो बलों को परिभाषित करते हैं) का पक्ष लिया जाता है। चूंकि भाषाओं को इनके ऐसे तत्वों द्वारा निर्धारित नियमों द्वारा गढ़ा जाता है जिनका पालन मूल भाषियों द्वारा लगभग अचेतन रूप से किया जाता है, अतः समाजों को इन निहित नियमों के अनुसार गढ़ा देखा गया है। इस प्रकार ऐसा तर्क रखा जा सकता है कि संरचनात्मक दृष्टिकोण उस वस्तु अथवा विषय के 'गणितीयकरण' के निकट से उपजा है।

प्रत्येक संस्कृति में अर्थ की विभिन्न संरचनाओं के अनुसार विश्व का निर्माण कर लिया जाता है। स्ट्रॉस व अन्य द्वारा अध्ययन की गयी संरचनाओं में रिश्तेदारी के प्रारूप, भ्रांतियां, धर्म व दिनचर्या संबंधी विभिन्न सांस्कृतिक रिवाज सम्मिलित हैं। जिस प्रकार भाषायी संरचनावाद में यह दावा किया जाता है कि सभी भाषाओं में व्याकरण में 'गहन संरचनाएं' विद्यमान हैं उसी प्रकार स्ट्रॉस का दावा था कि सामाजिक संरचनाएं मानव–मन की गहन संरचनाओं से उपजी हैं एवं इस प्रकार मानवीय विचारधारा में एक सार्वभौमिकता झलकती है।

## क्रियावाद

क्रियावाद एमिल दुर्खीम के कार्य पर आधारित है। इसमें यह माना जाता है कि प्रत्येक सामाजिक व सांस्कृतिक परिघटना किसी क्रिया की पूर्ति करती है। यह प्रस्ताव रेडक्लिफ–ब्राउन व टैल्कोट पार्सन्स द्वारा सामाजिक संरचना की अवधारणा के संबंध में विकसित किया गया था। एक फिरंगी सामाजिक नृविज्ञानी के रूप में रेडक्लिफ–ब्राउन ने मानव अंतर्क्रियाओं की प्रणाली को समाज में क्रियावादी चेष्टा का केन्द्र माना। समाज को संगठित भागों के तन्त्र अथवा समग्र के अवयवों के रूप में देखा गया जिनमें से प्रत्येक दूसरों पर आश्रित है व समग्र में एकीभूत हो जाता है। ये भाग व्यक्ति हैं जो

टिप्पणी

सामाजिक जीवन में सहभागिता करते हैं, तन्त्र में कोई स्थान घेरते हैं। इसी के साथ वह व्यक्ति रिवाजों अथवा प्रारूपों द्वारा नियन्त्रित होता जाता है। कुछ पुरातन समाजों में इन रिवाजों व प्रारूपों को बनाये रखने का कार्य लोक–साहित्य द्वारा किया जाता है जबकि अन्य समाजों में इस भूमिका को शिक्षा, साम्प्रदायिक रीतियों अथवा अन्य परम्परागत प्रथाओं द्वारा निभाया जाता है। रेडक्लिफ–ब्राउन का विचार 'संरचनात्मक–क्रियावाद' कहलाया।

टैल्कोट पार्सन्स ने संरचनात्मक क्रियावाद को विकसित किया जिसमें इन्होंने दावा किया कि मनुष्य 'गैर–ऐच्छिक' रूप में 'क्रिया' कर रहे हैं। इनके अनुसार समाज लोगों को सांचे में ढालता है और बताता है कि किन–किन स्वीकार्य रीतियों में व्यवहार किया व जिया जा सकता है।

## विकास के अवरोधक व सहायक के रूप में सामाजिक संरचना

विकास को ऐसी प्रक्रिया के रूप में देखा जाता है जिसके परिणामस्वरूप विषमता (असमानता), निर्धनता, निरक्षरता व रोगों में कमी आती है एवं लोगों की वास्तविक प्रतिव्यक्ति आय बढ़ती है। 'संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम' (UNDP) रिपोर्ट में दर्शाया गया है कि विकास का मूलभूत प्रयोजन लोगों के पास विकल्पों को बढ़ाना है।

विकास विभिन्न संस्थानों पर निर्भर होता है; ये संस्थान सामाजिक संरचना के उप–भाग होते हैं। ये संस्थान विकास की प्रक्रिया में अवरोधक व सहायक किस प्रकार बनते हैं। इसे इस प्रकार समझा जा सकता है–

### (क) राजनीतिक संस्थान

#### सहायक

1. शासन के स्थानीय तन्त्र को ऐसा स्थिर राजनीतिक व सुरक्षित परिवेश तैयार करना चाहिए जिससे विकास की स्थितियों का सृजन हो सके।

#### अवरोधक

1. यदि समाज में अस्थिरता व अराजकता हो तो आर्थिक व राजनीतिक दोनों विकास प्रभावित हो जाते हैं।
2. देश के भीतर अथवा बाहर संघर्ष अथवा युद्ध की स्थिति आने पर विकास के लिए रखे धन सहित समस्त संसाधनों को रक्षात्मक बजट में लगा दिया जाता है।
3. अधिकारीतन्त्र (लालफीताशाही) एवं निवेश–प्रतिकूल नीतियों से भी विकास अवरुद्ध हो सकता है।
4. भ्रष्टाचार से विकास नीतिगत व क्रियान्वयन दोनों स्तरों पर प्रभावित हो जाता है। निर्धनों को समृद्ध करने के लिए बनायी गयी नीतियां नेताओं व अधिकारियों सहित कर्मचारियों के भ्रष्ट–आचरण के कारण निर्धनों को लाभान्वित नहीं कर पातीं।

### (ख) आर्थिक संस्थान

#### सहायक

1. स्थिर आर्थिक नीतियों से समाज के विकास में सहायता मिल जाती है।

2. उत्तम व सुघड़ अधोसंरचना, प्राकृतिक संसाधनों, कुशल कार्यबल से उद्योगों की स्थापना में सहायता मिलती है।

**अवरोधक**

टिप्पणी

1. विकासशील व अविकसित देश अंतर्राष्ट्रीय मौद्रिक निधि व विश्व बैंक जैसे अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक संस्थानों से ऋण लेकर विकसित देशों की अर्थव्यवस्थाओं से प्रतिस्पर्द्धा का प्रयास करते हैं। ये ऋण कई पूर्व–शर्तों अथवा मितव्ययिता उपायों के साथ दिये जाते हैं जिनसे अर्थव्यवस्था को क्षति पहुंचती है।
2. वैश्वीकरण से एकाधिकार के प्रकरण बढ़ते हैं एवं लघु व कुटीर उद्योग बहुराष्ट्रीय निगमों द्वारा निगल लिये जाते हैं। बेरोजगारी बढ़ती है व स्थानीयता सहित स्वदेशिता का हनन होता है।
3. विकसित देशों की बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा विकासशील व अविकसित देशों में सस्ते व सुलभ श्रम के लिए लोगों का शोषण किया जाता है।
4. मुक्त बाजार अर्थव्यवस्थात्मक सुविधाओं से निर्धन व धनाढ्य वर्गों के मध्य की खाई अभूतपूर्व रूप से बढ़ती ही जाती है।

## (ग) सामाजिक एवं सांस्कृतिक संस्थान

**सहायक**

1. सामाजिक मूल्यों व सीखों से लोग अपनी आजीविकाओं में प्रतिबद्धता व ईमानदारी ग्रहण करते हैं जिससे बढ़त व उत्पादकता में सहायता मिलती है।
2. मैक्सवेबर ने अपनी कृति *Protestant Ethic and Spirit of Capitalism* (1905) में कहा था कि कुछ सम्प्रदायों में सम्पदा–संचय को बढ़ावा दिया जाता है जिससे यूरोप में पूंजीवाद में वृद्धि हुई।
3. समाज में सामाजिक लगाव से उन्नति एवं विकास में सहायता मिलती है।

**अवरोधक**

1. नस्ल, वर्ग, जाति अथवा लिंग संबंधी किसी भी सामाजिक भेदभाव से उन्नति व प्रगति बाधित होती है एवं समाज में विषमताएं पनपती हैं। उदाहरणार्थ भारत में कई सम्प्रदायों में अंधविश्वास व परम्परागत रूढ़िवाद के कारण मासिक स्राव से गुजर रही स्त्रियों को पूजन व पाककार्य से वंचित रखकर उनके साथ अस्पृश्य–सा व्यवहार किया जाता है।
2. किसी प्रकार के सामाजिक कलह अथवा द्वेष से समाज का विकास प्रभावित हो जाता है। उदाहरणार्थ अंतर्जातीय अथवा प्रेम विवाह करने वालों को समाज से निर्वासित घोषित कर दिया जाता है।
3. तालिबान जैसे समूहों के सांस्कृतिक अथवा साम्प्रदायिक अतिवाद के कारण अफगानिस्तान व किसी भी देश का विकास सम्भव नहीं हो पाता।
4. कई अविकसित व विकासशील देशों में स्त्रियों को कार्यबल में सम्मिलित नहीं किया जाता जिससे समाज की आधी जनसंख्या का विकास प्रभावित होता है व सबका समान सशक्तिकरण नहीं हो पाता।

टिप्पणी

## (घ) अन्य कारक

### 1. जनसंख्या

**सहायक**

(क) विश्व में जनसंख्या वृद्धि से उद्योगों के लिए श्रम व मानव संसाधन की आपूर्ति सहज हुई है।

(ख) इससे उत्पादों के लिए उपभोक्ता एवं बाजार भी मिल जाता है।

**अवरोधक**

1. जनसंख्या में भीषण वृद्धि कर लेने से जनसंख्या विस्फोट से जुड़ी समस्याएं उपज आती हैं, जैसे बड़े पैमाने पर भुखमरी, बेरोजगारी इत्यादि।
2. अधिक जनसंख्या का तात्पर्य संसाधनों में हिस्सेदारी के लिए बहुत सारे लोगों का परस्पर जूझना है (आपूर्ति अल्प, मांग अधिक के कारण) जिससे समाज व परिवार में भी बैरभाव पनपता व बढ़ता है।

### 2. प्रौद्योगिकी

**सहायक**

1. विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी में नवाचारों से उद्योगों की प्रगति में सुविधा हो जाती है जिससे विकास होता है।
2. प्रौद्योगिकी में परिवर्तनों से समाज समय के पहिये पर सवार रहता है व अपनी बढ़ती जनसंख्या की पूर्ति करता रहता है।

**अवरोधक**

1. औद्योगिक प्रौद्योगिकी से वायु, जल व ध्वनि प्रदूषण होता है।
2. सम्पन्न देशों द्वारा प्रयुक्त प्रौद्योगिकी से सम्पन्न व निर्धन देशों के मध्य की खाई बढ़ती जाती है क्योंकि निर्धन देश प्रौद्योगिकी का व्यय नहीं उठा पाते।
3. प्रौद्योगिकी से उत्पादों का अधिशेष (आवश्यकता से अधिक) बना लिया जाता है जिससे साम्राज्यवादी सत्ताएं अपनी सीमाओं से पार जाकर बाजार व कच्चे मालों की ओर बढ़ने लगती हैं। इससे सत्रहवीं शताब्दी में ब्रिटिशर्स ने भारत को अपना उपनिवेश बना कर रख दिया।

### 3. भूत (अतीत)

**सहायक**

1. अतीत का अध्ययन करने से मनुष्यों को वर्तमान के प्रति स्पष्ट अंतःदृष्टि प्राप्त होती है। देश के इतिहास का विश्लेषण करने से राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक व पारिवेशिक कारकों का वर्णन संभव हो जाता है जो इसके विकास–स्तर में योगदान करते हैं।

**अवरोधक**

1. विकासशील देशों में जो कारक विकासरोधी अत्यधिक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक कारकों में गिना जाता है वह है– साम्राज्यवाद व औपनिवेशीकरण।

2. समाज में विभिन्न समूहों के मध्य क्लेश व द्वेष अथवा नागरिक संघर्ष के ऐतिहासिक कारकों से भी विकास प्रभावित होता है।

**4. पर्यावरण**

टिप्पणी

**सहायक**

1. इससे विकास हेतु आवश्यक कच्चे मालों व संसाधनों की आपूर्ति होती है।
2. तैल, कोयला, यूरेनियम इत्यादि में समृद्ध देश अपने इन प्राकृतिक संसाधनों का दोहन करते हुए कच्चे माल के उपयोग व निर्यात द्वारा विपुल धन–सम्पदा एकत्र कर सकते हैं। उदाहरणार्थ वेनेजुएला कल्याण योजनाओं के लिए तैल निर्यात के माध्यम से प्राप्त धन का उपयोग करते हुए बीते कुछ वर्षों में निर्धनता व निरक्षरता निवारण की दिशाओं में उल्लेखनीय उन्नति कर चुका है।

**अवरोधक**

1. भूकम्प, बाढ़, ज्वालामुखी विस्फोट इत्यादि जैसी प्राकृतिक आपदाओं से विकास में अवरोध पड़ सकते हैं तथा अर्थव्यवस्था में बोझ बढ़ सकता है।

## भारतीय सामाजिक संरचना

भारत विस्तृत भौगोलिक क्षेत्रफल वाला एक विशाल देश है जिसकी जनसंख्या विगत जनगणनानुसार सवा एक अरब कर ली गयी है। भारत में समाज अत्यन्त पुराना व जटिल स्वरूप लिये हुए है। भारतीय समाज के उद्‌गम के विषय में विभिन्न अध्येताओं के मतों में व्यापक भिन्नता है। भारतीय समाज की विरासत को समझने का प्रयास किया जाये तो पता चलेगा कि यह विभिन्न नस्लीय, जातीय व साम्प्रदायिक समूहों का एक सम्मिश्रण है। ईसापूर्व सहस्राब्दियों पहले यहां आर्यों का राज था, फिर मध्यकाल में मुगलों द्वारा आक्रमण किये जाने से हिन्दू व मुस्लिम समाज अस्तित्व में देखे गये, तदुपरान्त फिरंगियों द्वारा किये गए आक्रमण से ईसाइयों का आगमन हुआ।

पुरातन भारत आर्यावर्त कहलाता था। फिर प्राचीनकाल में ही राजकुमार दुष्यन्त व कण्व ऋषि की कन्या शकुन्तला के गन्धर्व विवाह से उत्पन्न भरत द्वारा शासित इस भूमि को भारत कहा जाने लगा। ग्यारहवीं–बारहवीं शताब्दी में मुगलों के आक्रमण के दौरान इसे हिन्दुस्तान व सत्रहवीं शताब्दी में फिरंगियों के आक्रमण के दौरान इसे इंडिया कहा जाने लगा। भारत विश्व की मानवता के इतिहास में सबसे प्राचीन समाज है। सकलभाषा–जननी संस्कृत में विश्व के प्राचीनतम लिखित ग्रंथ ऋग्वेद में इस तथ्य के साक्ष्य मिलते हैं कि आर्यकाल की भाषा संस्कृत थी।

भारतीयों व विदेशियों को बहुधा ऐसा कहते पाया जाता है कि कोई भी अन्य देश भारत के समान सांस्कृतिक वैविध्ययुक्त नहीं है। वस्तुतः भारत एक अनुपम देश कहलाता है जहां प्रत्येक राज्य की अमूमन अपनी सांस्कृतिक विशिष्टता है। सबका स्वरूप भिन्न परम्पराओं को समेटे हुए है। भांति–भांति की आंचलिक, सांस्कृतिक व सामुदायिक इत्यादि भिन्नताओं से यहां कि जनसंख्या सुसज्जित है। कहीं नीरसता अथवा एकरसता का आभास तक नहीं होता।

भौगोलिक व सांस्कृतिक वैविध्यों से भरा–पूरा भारत जैसा अन्य कोई राष्ट्र नजर नहीं आता। यूरोप व अन्य महाद्वीपीय देश भी भारत से बहुत ही कम वैविध्यपूर्ण हैं।

टिप्पणी

जम्मू–कश्मीर से अंडमान एवं निकोबार द्वीपसमूह तक तथा लक्षद्वीप समूह से अरुणाचल प्रदेश तक समूचा भारत विभिन्न बोलियों, परिवेशों व पहनावों से भरा–पूरा है। भारतीय समाज के संघटन में भारत का वैविध्य परिलक्षित होता है। भारतीय जनसंख्या में भिन्नतापूर्ण स्तरों पर जातीय मिश्रण भी स्पष्ट है। इसकी पहचान एवं स्व–छवि गढ़ने में इसने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। भारत में जाति, धर्म, भाषा, नस्ल व संस्कृति के सन्दर्भों में व्यापक वैविध्य विद्यमान है। समाज अध्येताओं का कहना है कि भारतीय एकता का स्वरूप राजनीतिक–भौगोलिक व सांस्कृतिक है।

## साम्प्रदायिक संगठन एवं वैविध्य

भारतीय समाज बहुत सारे धार्मिक समुदायों में विभक्त है। व्यापकरूपेण यहां मुख्य धर्म हैं– हिन्दु, इस्लाम, ईसाई, जैन, बौद्ध एवं सिक्ख। भारत हिन्दु बहुल राष्ट्र है जहां 80.5 प्रतिशत जनसंख्या हिन्दू है। मुस्लिम दूसरा सबसे बड़ा साम्प्रदायिक समूह है (13.4 प्रतिशत)। फिर क्रमशः ईसाई (2.3 प्रतिशत), सिक्ख (1.9 प्रतिशत), बौद्ध (0.8 प्रतिशत), जैन (0.4 प्रतिशत) हैं। पारसी इत्यादि का मिश्रित स्थान भारतीय जनसंख्या में 6 प्रतिशत है। इन सम्प्रदायों को पुनः विभिन्न पंथों में वर्गीकृत किया जाता है। वैसे अन्य साम्प्रदायिक समुदाय जनसंख्या में प्रतिशत की दृष्टि से चाहे नगण्य प्रतीत हों परन्तु भारत की सांस्कृतिक विरासत में इनका योगदान उल्लेखनीय है।

समस्त साम्प्रदायिक समूहों को आगे आन्तरिक रूप से भी वर्गीकृत किया जाता है। मुस्लिम जम्मू–कश्मीर की कुल जनसंख्या का एक बड़ा भाग हैं। तमिलनाडु व केरल के कुछ समुद्रतटीय जिलों में एवं लक्षद्वीप में तो प्रायः ईसाई ही ईसाई नजर आते हैं। पंजाब में सिक्खों का बाहुल्य है। महाराष्ट्र व अरुणाचल प्रदेश में बौद्ध पर्याप्त संख्या में हैं।

तमिलनाडु, केरल, आंध्रप्रदेश व पूर्वोत्तर अंचल में ईसाइयों की प्रचुरता है। पूर्वोत्तर में कुल जनसंख्या का एक बड़ा भाग ईसाई हैं। परम्परागत रूप से भारत में विभिन्न सम्प्रदायों के लोग शान्ति व सहिष्णुभाव से मिलजुलकर रहते आये हैं।

भारतीय समाज के सम्प्रदाय–निरपेक्ष स्वरूप को विश्वभर में सराहा गया है। वैसे 'फूट डालो, शासन करो' की ब्रिटिश नीति एवं देश के विभाजन के कारण विभिन्न साम्प्रदायिक तनाव पनपने लगे तथा अब तो देश आन्तरिक रूप से विभिन्न राज्यों में लगातार बांटा जा रहा है। साम्प्रदायिकता में किसी एक सम्प्रदाय के प्रति अंधानुकरण की दृष्टि अपना ली जाती है जिससे विभिन्न साम्प्रदायिक समुदायों में पारस्परिक विरोध व उपद्रव मचाये जाते हैं। सम्प्रदाय के नाम की आड़ लेकर की जाने वाली राजनीति से समस्या विकराल रूप धारण कर लेती है क्योंकि ऐसी राजनीति संकीर्ण निहित स्वार्थों पर आधारित होती है। संविधान के अनुच्छेद 25 में सभी सम्प्रदायों को 'व्यक्त होने, प्रसारित होने व अपने रीति–रिवाजों को मानने' का अधिकार दिया गया है। यह जानना प्रासंगिक होगा कि अपने सम्प्रदाय के प्रसार का अधिकार दिये जाने से अल्पसंख्यक समुदायों के लिए दुविधाएं उत्पन्न हो जाती हैं, विशेषतया मुस्लिमों व ईसाइयों के लिए जो अपनी साम्प्रदायिक धारणाओं का प्रचार–प्रसार करते रहने को अपने सम्प्रदाय का एक आवश्यक भाग समझते हैं।

हिन्दु विश्व का प्राचीनतम सम्प्रदाय है जो विभिन्न पंथों व उपसम्प्रदायों में विभक्त है। हिन्दुत्व मूलतः इन पंथों में विभक्त हैः शैव (शिव के उपासक), वैष्णव (विष्णु के

टिप्पणी

उपासक, शाक्त (शक्ति व इसके विभिन्न रूपों यथा दुर्गा, काली, पार्वती इत्यादि के उपासक) एवं स्मार्त (इन तीनों के उपासक)।

इनके अतिरिक्त अन्य प्रभाग भी हैं जिनसे हिन्दुत्व और अधिक जटिल हो जाता है। हिन्दुओं में कई गुरुओं, संतों एवं इनके अनुयायियों (यथा– स्वामी चिदानन्द, शिवानन्द इत्यादि) को भी मान्य स्थान दिया जाता है।

हिन्दुत्व में सतनामी, कबीरपंथी, राधास्वामी, स्वामीनारायण इत्यादि जैसे पंथ भी हैं। ब्रह्म समाज व आर्य समाज भी हिन्दुत्व के भाग हैं। इसीलिए वैविध्यपूर्ण पंथों, उप–सम्प्रदायों व मतों से भरा हिन्दुत्व विविध अनुकरणकर्ताओं को संजोये हुए है।

मुस्लिमों को दो मुख्य समूहों में वर्गीकृत किया जाता हैः सुन्नी व शिया जिनमें से सुन्नी जनसंख्या शिया जनसंख्या से अधिक है। भारतीय ईसाइयों को कैथोलिक व प्रोटेस्टेण्ट्स में विभाजित किया गया है जबकि बौद्ध भी साम्प्रदायिक मतान्तरों के कारण दो भागोंः महायान व हीनयान में विभक्त है। भारत में जैन श्वेताम्बर (सफेद परिधान) व दिगम्बर (निर्वस्त्र) में विभाजित हैं। जैनियों में अस्पृश्यत्व (अछूतपन) की प्रथा नहीं है एवं सहभोज व सामाजिक संसर्ग के सन्दर्भ में भी कोई प्रतिबन्ध दृष्टिगोचर नहीं होता। यह रोचक तथ्य उल्लेखनीय है कि बौद्ध व जैन दोनों सम्प्रदायों का उद्‌गम हिन्दूवादी वर्ण व्यवस्था (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, क्षूद्र की सन्तानें भी क्रमशः ऐसी ही बनेंगी/निकलेंगी ऐसा मानना) व सर्वोच्च समझी जाने वाली ब्राह्मणवादी मानसिकता के विरोध में हुआ था।

सिक्ख सम्प्रदाय अब भी एक निर्माणगत प्रक्रियाशील सम्प्रदाय है। अधिकांश सिक्ख पंजाब में हैं। वैसे पाकिस्तान विभाजन के उपरान्त बड़े पैमाने पर प्रवास किया गया था तथा अब सिक्खों की उपस्थिति लगभग पूरे भारत में है एवं यूनाइटेड किंगडम व संयुक्त राष्ट्र जैसे अन्य देशों में भी। इनकी अनोखी परम्परा 'लंगर' (सबको निःशुल्क भोजन कराना) में सभी साम्प्रदायिक समूह एक हो जाते हैं एवं स्वयंसेवक बनकर सब एक–दूसरे की सेवा करते हैं जिससे मानवता की सेवा का भाव मन–मस्तिष्क में घर कर जाता है। सिक्खों के आराधना–स्थल गुरुद्वारे समूचे देश में फैले दिख जाते हैं।

पारसी व यहूदी भारत के लघु साम्प्रदायिक समुदाय हैं जिन्होंने देश के औद्योगिक विकास में भरपूर योगदान किया है। पारसियों के लिए मुम्बई एवं यहूदियों के लिए केरल व महाराष्ट्र चर्चित क्षेत्र हैं।

भारतीय समाज का साम्प्रदायिक संगठन साम्प्रदायिक संगमों का एक परिणाम है। इस वास्तविकता से मुंह नहीं फेरा जा सकता कि किसी भी सम्प्रदाय की मूल भूमिकाओं में से एक भूमिका सबको जोड़कर रखने व सामुदायिक भाव जाग्रत करने की होती है। अधिकांश समाजों में व्यक्तियों को साम्प्रदायिक मान्यता का अधिकार प्रदान किया गया है अर्थात व्यक्ति जिस भी सम्प्रदाय का अनुयायी बनना चाहे बन सकता है। भारत में समुदायों को अपनी–अपनी पृथक साम्प्रदायिक रीतियां निभाने का अधिकार है।

कदाचित् इसका एक महत्वपूर्ण भाग यह है कि परिवार के लगभग सभी प्रसंगों में व्यक्तियों पर समुदाय के द्वारा रचे गये व्यक्तिगत विधानों का राज चलता है।

टिप्पणी

साम्प्रदायिक समुदायों को भी अपनी–अपनी साम्प्रदायिक व लोकोपकारी संस्थाएं गठित करने का अधिकार मिला हुआ है। ये अपने विलग शैक्षणिक संस्थान भी संचालित कर सकते हैं एवं इन समस्त संस्थानों को राज्य से वित्तीय सहायता भी मिल सकती है। ऊपर बताये गये उपाय कुछ ऐसे माध्यम हैं जिनसे विभिन्न साम्प्रदायिक समुदायों को लोक–मान्यता तथा इन्हें अपनी जीवन–शैली अपने अनुसार निर्धारित करने की छूट मिली है।

भारत में ऐसे भी कई साम्प्रदायिक पर्व हैं जो मूलतः किसी एक सम्प्रदाय के हैं परन्तु अब उन्हें मनाते सभी सम्प्रदाय हैं। यथा– दीपावली, क्रिसमस इत्यादि। बद्रीनाथ, रामेश्वरम् व अजमेर शरीफ जैसे जाने कितने तीर्थस्थल हैं जो भारत के कोने–कोने से सभी सम्प्रदायों के अनुयायियों को खींच लाते हैं एवं राष्ट्रीय एकीकरण की प्रक्रिया को गति प्रदान करते हैं। भारतीय वास्तुशिल्प भी विभिन्न कालक्रमों व सम्प्रदायों की पहचान को अब तक समेटे हुए हैं, उदाहरणार्थ– सोमनाथ ज्योतिर्लिंग, लाल किला इत्यादि।

## भाषायी वैविध्य

भारत जाने कब से सैकड़ों भाषाओं–विभाषाओं का गढ़ रहा है। इसका बहुभाषी स्वरूप वैविध्य एवं भारतीय एकता का सूत्र रहा है। ग्रियर्सन (भारत का भाषायी सर्वेक्षण : 1903–28) के अनुसार देश में 179 भाषाएं व 544 बोलियां हैं। भारतीय संविधान की आठवीं अनुसूची में 22 आधिकारिक भाषाओं सहित आंग्लभाषा को एक महत्वपूर्ण सहयोगी भाषा माना गया है। सभी मुख्य भाषाओं में आंचलिक भिन्नताएं व अपनी–अपनी अनेक बोलियां हैं। हिन्दी की कुछ बोलियों के उदाहरण भोजपुरी, राजस्थानी व हरियाणवी हैं। आठवीं अनुसूची में मूलतः 14 ही भाषाएं सम्मिलित की गयी थीं। बोडो, डोगरी, कोंकणी, मैथिली, मणिपुरी, नेपाली, संथाली व सिंधी को बाद में अभिमान्यता प्रदान की गयी। इस अनुसूची में सूचीबद्ध भाषाओं को विभिन्न अवधियों में एक वर्ग के रूप में विभिन्न नाम दिये गये। अब इन्हें अनुसूचीबद्ध भाषाएं कहा जाता है। 'The Programme of Action' Document, 1992 of the National Policy on Education, 1986 में इन्हें आधुनिक भारतीय भाषाएं माना गया है।

अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के अनुरक्षण व वाणिज्य सहित ज्ञान–प्रसार के लिए आंग्लभाषा को एक साधन–भाषा माना गया। आंग्लभाषा के प्रयोग व प्रसार के लिए संवैधानिक अनुच्छेद 343 में इसे संघ के समस्त कार्यालयीन प्रयोजनों के लिए 'संघ की आधिकारिक भाषा' के रूप में पन्द्रह वर्ष की अवधि के उपरान्त के लिए भी स्वीकार किया गया है। यहां तक कि यह प्रावधान भी रहेगा कि कथित अवधि में राष्ट्रपति आदेश जारी करके आंग्लभाषा के अतिरिक्त हिन्दी भाषा के उपयोग को अभिमान्य कर सकेगा।

मूलतः अनुसूचीबद्ध भाषाओं में हिन्दी भाषियों का प्रतिशत सर्वाधिक (41.03 प्रतिशत) था। वैसे ध्यान रहे कि देश में भाषागत अंचलों की कोई स्पष्ट सीमारेखा नहीं है वरन् भाषागत क्षेत्र अनेक स्थानों पर परस्पर अतिव्यापी हो जाते हैं।

भले ही भारत में बोली जाने वाली भाषाएं एक–दूसरे से भिन्न हों तथापि इन्हें चार भाषायी कुलों में वर्गीकृत किया जा सकता हैः निशाद (Austric Family), द्रविड़ (Dravidian family), किरात (Sino-Tibetan Family) एवं आर्य (Indo-European Family)।

टिप्पणी

निशाद कुल की भाषाएं मेघालय की जनजातियों में एवं मध्य भारतीय जनजातीय क्षेत्रों (रांची, मयूरभंज इत्यादि) में बोली जाती हैं। द्रविड़ कुल की भाषाएं देश के दक्षिणी भागों में बोली जाती हैं। किरात कुल की भाषाएं व बोलियां पूर्वोत्तर क्षेत्र की जनजातियों में, उत्तर में उप–हिमालयी क्षेत्र व पश्चिमोत्तर में बोली जाती हैं। लद्दाख अंचल व जम्मू–कश्मीर सहित हिमाचल प्रदेश में भी ये भाषाएं बोली जाती हैं। आर्य कुल की भाषाएं बोलने वाले उत्तर भारत में विशेष रूप से पाये जाते हैं। उत्तर भारत के मैदानी क्षेत्र के अधिकांश लोग आर्य कुल की भाषाएं बोलते हैं। महाराष्ट्र व मध्यप्रदेश में भी विशाल जनसंख्या द्वारा इन भाषाओं में संवाद किया जाता है।

भारत में भाषायी वैविध्य विस्मयकारी है, मात्र विदेशियों के लिए नहीं वरन् हम भारतीयों के लिए भी। भारत में भाषागत अवरोध बड़े जटिल हैं। हर भाषा का एक अद्वितीय लिखित रूप है। वर्ण–विन्यास ऐसा कि उस भाषा से अनभिज्ञ व्यक्ति को कुछ भी समझ न आये।

भारत भर में फैली भाषायी भिन्नता की जड़ें इतिहास से आती दिखायी देती हैं। भारतवर्ष ने जाने कितने साम्राज्य देखे हैं जिनमें से प्रत्येक की अपनी भाषा रही। संबंधित साम्राज्य के पतन के बाद भी ये भाषाएं उस स्थान पर अस्तित्व में रहीं।

औपनिवेशिक शासकों द्वारा बाद में खींच डाली गयी राज्य–रेखाओं ने बहुधा पूर्ववर्ती राजनीतिक व भाषागत सीमाओं को पार किया। स्वतन्त्रता के पश्चात कई दक्षिण भारतीय राज्यों ने हिन्दी को भारत की राष्ट्र–भाषा के रूप में अभिमान्य किये जाने का विरोध किया। साथ में ही देश के विभिन्न अंचलों में भाषागत आधार पर राज्यों के गठन की मांग की जाने लगी। इससे भाषायी वैविध्य को बचाने व बढ़ाने की दिशा में प्रयास किये जाने लगे।

भाषायी स्थिति के आधार पर समूहों के निर्माण से हर समूह को यह राजनीतिक अधिकार दिया गया कि वह संघीय प्रणाली की संरचना में स्वयं का संचालन कर सकेगा। इसके परिणामस्वरूप वह भाषायी समुदायविशेष उस विशिष्ट अंचल में प्रधान स्थान प्राप्त कर गया। नवीनतम प्रकरण में तेलंगाना एक महत्वपूर्ण उदाहरण है जहां पृथक भाषागत प्रान्त बनाने की मांग को पूर्ण किया गया।

भले ही भारत में भाषाओं व बोलियों में व्यापक वैविध्य हो परन्तु इन भाषाओं में व्यक्त विचारों व विषयों में आधारभूत एकता का भाव समाहित है। सकलभाषा जननी संस्कृत का प्रभाव संसार की, विशेषतः भारत की समस्त भाषाओं पर है। इन समस्त वैविध्यों के होते हुए भी हिन्दी राष्ट्र–भाषा बनी हुई है। इस प्रकार एक राज्य के लोग दूसरे राज्यों के लोगों से संवाद कर पाते हैं एवं राष्ट्र–भाषा से राष्ट्र–भावना पनपती है।

## सांस्कृतिक वैविध्य

भारत एक बहु–सांस्कृतिक समाज है एवं संस्कृतियों में ऐक्यभाव का उत्कृष्ट उदाहरण भी। यहां के सांस्कृतिक वैविध्य से आकर्षित हो विश्व के अनेक शक्तिशाली साम्राज्य भारत की ओर आकर्षित हुए एवं उन्होंने भारत में और अधिक सांस्कृतिक अंचलों की स्थापना में योगदान दिया। ऐतिहासिक विजयों के फलस्वरूप भी वैविध्य का विस्तार हुआ। भारत की जनसंख्या ऐसे बड़े–बड़े नस्लीय व जातीय भागों में विभक्त है जो भिन्नतापूर्ण पैमानों पर सांस्कृतिक वैविध्य धारण किये हुए हैं। विश्व के अधिकांश भागों

टिप्पणी

में जहां दूसरों का विरोध करने अथवा दूसरों में स्वयं को खो देने की प्रवृत्ति पायी जाती है वहीं भारत में शक्तिशाली व शक्तिहीन समस्त प्रकार की मानव–संस्कृतियां आपस में मिल–जुलकर रहते हुए पारस्परिक प्रोत्साहन का भाव धारण किए हुए हैं जिससे भारत का वैविध्य बना रहने में सहायता हो जाती है। बहुत पहले से भारत सांस्कृतिक दृष्टि से अत्यधिक बहुलतावादी सभ्यता को समेटे हुए है।

इस बहुल संस्कृति राष्ट्र का आधार वैदीय कालखण्ड में नजर आता है जो विभिन्न संस्कृतियों का मिश्रण थाः आर्य व अनार्य एवं साथ में जनजातीय तत्व; तदुपरान्त बौद्ध व जैन सम्प्रदायों के उद्‌गम से पूरा भारत सांस्कृतिक सम्मिश्रणों से भरता चला गया। आरम्भिक मध्यकाल में भक्ति आंदोलन के उठने से सभ्यतात्मक व सांस्कृतिक संगमों में तीव्रता आयी। फिर फिरंगियों द्वारा अतिक्रमण किया गया। भारत में अत्यधिक भिन्नतापूर्ण संस्कृतियां भी पर्याप्त मेलजोल से एकसाथ रहती आयी हैं, यह विश्व में भारत की विचित्रता है। भारत में निवासरत् समुदायों में सांस्कृतिक लक्षणों में अनेक समानताएं हैं फिर चाहे उनकी साम्प्रदायिक पृष्ठभूमि जो भी हो; यहां तक कि इन साम्प्रदायिक समूहों को आगे और वर्गीकृत कर दिया गया।

सांस्कृतिक वैविध्य–संबंधी कई अध्ययनों में समाज अध्येताओं व नृविज्ञानियों द्वारा सांस्कृतिक समन्वयवाद देखा गया हैः वाई. सिंह, एन.के. दास, मदन मजूमदार इत्यादि ने सामाजिक अध्ययन की दिशाओं में विभिन्न कार्य किये, जैसे कि मेलिनोव्स्की का क्रियावाद अथवा रेडक्लिफ ब्राउन का संरचनात्मक क्रियावाद। वैसे इन समस्त अनुसंधानों से यही सिद्ध हुआ कि इतने विरोधाभासों व विस्तीर्ण वैविध्य के मध्य एकता का वह सूत्र भी विद्यमान है जो सांस्कृतिक व आंचलिक लक्षणों को परस्पर पिरोये हुए है। राजनीतिक स्वतन्त्रता से अब तक भारतवर्ष ने लगभग हर दशक में तीव्र सांस्कृतिक परिवर्तनों की श्रृंखला देखी है। नृजातीय, नस्लीय व अन्य वर्गगत आधारों पर जनजातियों, अल्पसंख्यकों इत्यादि में अपनी–अपनी विशिष्ट पहचान के लिए संघर्ष–विरोध देखे गये किन्तु एकीभूत सांस्कृतिक प्रक्रियाओं में सौहार्द्र के लक्षण भी मिले। भारत में अब हम 'अंतरांचलिक प्रवास' बढ़ता देख रहे हैं जिससे आंचलिक सांस्कृतिक लक्षणों का समावेश अन्य स्थान पर होता जाता है। पाक–कलात्मक शैलियों, सम्प्रदायगत प्रथाओं व परिधान सहित अलंकारों का भी प्रचार–प्रसार होने लगता है। सामंजस्य का बोध विकसित हो रहा है जिससे मतभेदों से परे उठकर एकाकार हो जाने का भाव उपजता है एवं सांस्कृतिक समरूपता बढ़ती है।

वैसे भारतीय सम्प्रदायों, दर्शन, कला व साहित्य द्वारा भारत की एकता के सुदृढ़ीकरण में निभायी जाने वाली भूमिका प्रशंसनीय है। भारत में विभिन्न तीज–त्योहारों व अन्य समारोहों का आयोजन एकजुट होकर किया जाता है जिससे सांस्कृतिक वैविध्य के मध्य भारतीय जनों की एकात्मकता परिलक्षित होती है।

इस प्रकार यह उल्लेखनीय हो गया है कि भारत में वैविध्यपूर्ण समाजों का सम्मिश्रण विभिन्न स्तरों पर संवाद व अंतर्क्रियाओं के माध्यम से हुआ। भारत में बहु–सांस्कृतिक, बहु–नृजातीय व सम्प्रदाय–बहुल समाज का कारण विभिन्न समूहों में विचारों का अनवरत आदान–प्रदान रहा है।

## भारत की सामाजिक संरचना एवं स्वरूप

टिप्पणी

भारत के विभिन्न अंचलों में भिन्न–भिन्न संस्कृतियां व परम्पराएं हैं किन्तु इनमें समता भी स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। भारतीय समाज को विभिन्न अभिलक्षण प्रदान करने वाले भिन्न–भिन्न सामाजिक निर्माण निम्नांकित हैं–

- **वर्ण व्यवस्था :** भारत सहस्राब्दियों तक वर्ण व्यवस्था को मानता आया है जहां व्यक्ति अपने कर्म के अनुसार किसी एक वर्ण का चयन कर उसमें सम्मिलित हो सकता था। बौद्धिक कार्य करने वाले व्यक्ति ब्राह्मण वर्ण में, दैहिक बल का प्रयोग करने वाले क्षत्रिय वर्ण में, वाणिज्य (खेती व व्यापार) करने वाले वैश्य वर्ण में एवं सेवा कार्य करने वाले शूद्र वर्ण में सम्मिलित माने गये। इन चारों में से प्रत्येक वर्ण भारतीय समाज का अविभाज्य अंश हुआ करता था। महाभारत काल से भी पहले इस व्यवस्था को विकृत कर दिया गया एवं वर्ण व्यवस्था को कर्म आधारित न मानकर जन्म आधारित माना जाने लगा। इस प्रकार क्षत्रिय की संतान को क्षत्रिय व वैश्य की संतान को वैश्य समझा जाने लगा। अनेक भीषण सामाजिक विद्वेष पनपे जिनके फलस्वरूप वर्ण व्यवस्था भंग हो गयी किन्तु उसका कुछ भाग अब भी विद्यमान है। अब विकृत वर्ण व्यवस्था का भाग ही बचा है। उदाहरणार्थ ब्राह्मण का पुत्र ब्राह्मण माना जाता है (भले ही उसके विचार–आचार दानवी हों)। शूद्रों को सम्माननीय दृष्टि से देखा जाना चाहिए (जैसा कि वर्णव्यस्था के आरम्भ में देखा जाता था)। शूद्र सम्पूर्ण समाज के आधारतत्व हैं जिनके अभाव में देश उन्नति कर ही नहीं सकता। विभिन्न कार्यालयों व सार्वजनिक स्थानों पर यदि सेवाकार्य करने वाले ये व्यक्ति एक दिन के लिए भी अनुपस्थित हो जायें तो शेष सभी वर्गों के कार्य अवरुद्ध–से हो जाते हैं। फिर भी वर्तमान में शूद्रों को दलित स्थिति में पहुंचाकर समाज के हाशिये पर लाकर खड़ा कर दिया गया है। इनसे सामान्य मनुष्य जैसा व्यवहार नहीं किया जाता, कुछ पूजास्थलों से भी इन्हें दूर रखा जाता है। आरम्भिक सकारात्मक वर्ण व्यवस्था का विकृत रूप अब जातीय तन्त्र कहलाता है। भारत का जातीय तन्त्र यहां की सामाजिक संरचना में गहरी पैठ बनाये हुए है। वैसे अब अन्तर्जातीय विवाह नगरीय परिवेश में पुनः स्पष्ट देखे जाने लगे हैं किन्तु अस्पृश्यत्व की विकृत वर्ण व्यवस्थात्मक प्रथा अब भी पैर पसारे हुए है। आज भी कहीं–कहीं शूद्रों को दास जैसा बनाकर उनसे अमानवीय व्यवहार किया जाता है।
- **स्त्री :** आर्यावर्त (प्राचीन भारतवर्ष) में स्त्रियों की गरिमा कुन्ती व द्रौपदी जैसी सशक्त नारियों से स्पष्ट हो जाती है। मुगलों के आक्रमण के समय अर्थात मध्यकाल में स्त्रियों की दशा दयनीय बना दी गयी थी। अब नारी–सशक्तिकरण की ओर पुनः ध्यान केन्द्रित किया जाने लगा है। अब स्त्रियां मुगल काल व अंग्रेजों के काल की अपेक्षा अधिक महती भूमिकाएं सामाजिक व राष्ट्रीय परिदृश्यों में निभा रही हैं।
- **पुरुष :** मुगलों के दौर से लेकर भारतीय समाज अब भी बहुत सीमा तक पुरुष प्रधान बना हुआ है। यहां तक कि स्त्रियों के व्यवहार व उनके जीवन का निर्धारक भी पुरुष स्वयं को मान बैठा है। माता, बहन, पत्नी, पुत्री के बिना अधूरा

टिप्पणी

पुरुष स्वयं को परिवार का मुखिया समझता है एवं सब पर अपना नियंत्रण कायम रखने को प्रयासरत रहता है।

- **पितृसत्तात्मक व्यवस्था :** भारतीय समाज वर्तमान में पैतृक है जहां सम्पत्ति–उत्तराधिकार व घर सहित बाहर के अधिकांश निर्णयों पर पुरुषों का वर्चस्व है। परिवार के बड़े–बुजुर्ग पुरुष को परिवार के प्रसंगों में निर्णय करने का एकाधिकार–सा होता है।
- **मातृसत्तात्मक व्यवस्था :** केरल व मेघालय में अधिकांश पारिवारिक निर्णय मातृक आधार पर किये जाते हैं। इन समाजों को स्त्री प्रधान समाज कहा जाता है।

## वैविध्य में एकत्व

सन् 1947 में जब भारत स्वतन्त्र माना जाने लगा तो स्वतन्त्रता सेनानियों एवं संविधान निर्माताओं ने एक प्रलेख तैयार किया जिसमें भारत को सांस्कृतिक रूप से वैविध्यपूर्ण राज के रूप में स्वीकारा किया गया। स्वतन्त्र भारत में जनता को विश्वास दिलाने का प्रयास किया गया कि नेतृत्व सबको समता का अधिकार सौंपेगा। व्यक्ति का सम्मान तभी किया जा सकता है जब वह विविध लोगों की भिन्नतापूर्ण धारणाओं व मान्यताओं का सम्मान करे।

वैविध्य में एकत्व का भाव इस मत में झलकता है कि भारत में अपना सांस्कृतिक वैविध्य होते हुए भी यह राष्ट्र सबल व एकीकृत देश बना रह सकता है। लोगों के भौगोलिक आवागमन के परिणामस्वरूप देश के विभिन्न भागों की जीवन शैली में एक समत्व–सा आ गया है। साम्प्रदायिक समुदायों में अनेक सांस्कृतिक अधिकार समान हो गये। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि इन्हें पृथक राजनीतिक अधिकार मिल गये हों जबकि प्रधान भाषायी समुदायों को सांस्कृतिक व राजनीतिक अधिकार प्राप्त हुए। इन अधिकारों ने साथ ही साथ वैविध्य को प्रात्साहित किया व लोकतन्त्र को सुदृढ़ किया।

न्यायपालिका अथवा विधि जैसे अन्य क्षेत्र भी समता के सिद्धांत पर आधारित हैं। एक संविधान, एक राष्ट्र–ध्वज, एक मुद्रा, एक राष्ट्र–गान इत्यादि ने भारत की एकता को सुदृढ़ीकृत किया। सभी भारतीयों को विदित है कि विभिन्न वैविध्यों के मध्य इनकी राष्ट्रीय पहचान विशिष्ट व एक है। विभिन्न ऐतिहासिक स्मारकों, मंदिरों, मस्जिदों, गिरजाघरों व गुरुद्वारों में प्रतिवर्ष लाखों ऐसे लोग आते हैं जो उस सम्प्रदाय के नहीं हैं। इससे हमारी एकता के भाव की पुष्टि हो जानी चाहिए।

युद्ध व प्राकृतिक आपदाओं की परिस्थितियों में वैविध्य के मध्य प्रसुप्त यह ऐक्यभाव जाग्रत हो जाता है। समूचा देश परस्पर सहायता का भाव लिये, समस्त मतभेद भुलाकर कुछ समय के लिए ही सही, किन्तु एकजुट हो तो जाता है।

संकटकाल में किसी मुस्लिम परिवार/हिन्दू परिवार ने स्वयं आगे आकर क्रमशः किसी हिन्दू/मुस्लिम अनाथ बच्चे को ह्रदय से लगाकर पाला–पोसा हो व उसे उसके सम्प्रदाय के अनुरूप धारणाओं में बड़ा किया हो– ऐसे उदाहरण भारत में पर्याप्त संख्या में दिख जायेंगे। जातीय, साम्प्रदायिक व भौगोलिक भिन्नताएं भले ही बहुत हों किन्तु साझी सांस्कृतिक विरासत समेटे हुए भारत सर्वसम्प्रदाय समभाव का संदेश देता आया

टिप्पणी

है। भारत को अपना शत्रु मानने वाले पाकिस्तान तक को बारम्बार क्षमादान देना भारत की बहुमिश्रित सांस्कृतिक करुणा का परिचायक व प्रमाण है। भारत को भौगोलिक रूप में भी ऐसा देश माना जाता है जहां भूगोल के समस्त विषय एकसाथ दिख जाते हैं जैसे– हिमाच्छादित पर्वत, पहाड़ियों के दुर्गम स्थान, मैदान, समुद्र, सक्रिय ज्वालामुखी, थार मरुस्थल से लेकर सघन वन तक। भारत खाद्य–पदार्थों के क्षेत्र में भी इतना वैविध्यपूर्ण है कि वैश्वीकरण के इस युग में भी कहा जाता है कि किसी भी दिशा में 50 किलोमीटर आगे चल देने मात्र से खान–पान में परिवर्तन स्पष्ट हो जाता है।

भारत की संस्कृति सहिष्णु रही है। यहां के सांस्कृतिक इतिहास पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि विगत एक सहस्राब्दी में इस देश ने किसी देश पर स्वयं आक्रमण नहीं किया। विदेशियों के आगमन को चार शताब्दियों से अधिक का समय बीत जाने के बावजूद बहुत कुछ अब भी अपरिवर्तित है। वस्तुतः कहा जा सकता है कि विदेशी संस्कृतियां भारतीय संस्कृति में आकर मिल गयीं व यह देश उनके फलने–फूलने के लिए भी सर्वथा अनुकूल रहा। वैसे संकीर्ण मानसिकता से राष्ट्रीय एकता दुर्बल पड़ जाती है। यह तो लोगों पर निर्भर है कि वे चाहें तो 'मेरा सम्प्रदाय, मेरा राज्य, मेरी भाषा' की रट लगाकर स्वयं को दूसरों की दृष्टि से दूर करें अथवा समस्त वैविध्यों से भरा–पूरा 'भारतीय' कहलाकर स्वयं व स्वदेश को गौरवान्वित करें।

## 3.2.2 सामाजिक स्तरीकरण

आदिकाल से ही मानव समाज में असमानता व्याप्त रही है। मानव सभ्यता के संपूर्ण इतिहास में विभिन्न व्यक्तियों के अधिकारों और शक्तियों के मध्य कुछ न कुछ भेद सदैव बना रहता है। वास्तव में, प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में सबसे बड़ी आकांक्षा अपनी योग्यता और साधनों के अनुरूप पद प्राप्त करने की इच्छा का होना है। इसके परिणामस्वरूप सामाजिक व्यवस्था कुछ संस्थाओं और नियमों के द्वारा समाज में स्तरीकरण के एक विशेष रूप को विकसित करके व्यक्ति की प्रस्थिति का निर्धारण करती है। इसका उद्देश्य सामाजिक व्यवस्था में संतुलन कायम रखना तथा व्यक्तियों को अपनी योग्यता में वृद्धि करने की प्रेरणा देना है। यह सत्य है कि स्तरीकरण की व्यवस्था में विभिन्न व्यक्तियों की प्रस्थिति एक–दूसरे की तुलना में उच्च व निम्न होने के कारण एक असमानता विकसित हो जाती है, लेकिन यह असमानता प्रत्येक समाज का एक सार्वभौमिक नियम है। सामाजिक स्तरीकरण की अवधारणा को स्पष्ट करने में मार्क्स, वेबर, वेबलिन, सोरोकिन, डेविस, मूरे, लिप्सेट तथा पार्सन्स का प्रमुख योगदान है। मार्क्स मानते हैं कि सामाजिक स्तरीकरण के द्वारा समाज में कार्य विभाजन कर सामाजिक एकता एवं संगठन को बनाये रखना और योग्य तथा बुद्धिमान व्यक्तियों को प्रोत्साहन देना है। प्रत्येक समाज में स्तरीकरण के लिए प्रदत्त और अर्जित दोनों ही आधार पाये जाते हैं।

### सामाजिक स्तरीकरण का अर्थ एवं परिभाषा

प्रत्येक समाज अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति एवं अस्तित्व को बनाये रखने के लिए विभिन्न समूहों में कार्य का विभाजन करता है। इसके साथ ही उन्हें कुछ अधिकार, शक्तियां व पक्ष भी प्रदान करता है जो एक–दूसरे से भिन्न होते हैं। परिणामस्वरूप, समाज में उच्चता व निम्नता का एक क्रम बन जाता है, जिससे सामाजिक स्तरीकरण

टिप्पणी

उत्पन्न होता है। स्तरीकरण में समूह को विशेषाधिकार एवं निर्योग्यताएं दोनों ही प्राप्त होते हैं। समाजशास्त्र में, स्तरीकरण शब्द भू–गर्भशास्त्र से व्युत्पन्न है। भूगर्भशास्त्र में मिट्टी व चट्टानों को विभिन्न स्तरों में बांटा गया है। समाज में भी उसी प्रकार से अनेक सामाजिक परतें पायी जाती हैं। प्रत्येक समाज अपनी जनसंख्या को आय, व्यवसाय, संपत्ति, जाति, धर्म, शिक्षा, प्रजाति व पदों के आधार पर निम्न एवं उच्च श्रेणी में बांटता है। प्रत्येक विभाजन एक परत के समान है और ये समस्त परतें जब उच्चता व निम्नता के क्रम में रखी जाती हैं तो सामाजिक स्तरीकरण के नाम से जानी जाती हैं। विभिन्न विद्वानों द्वारा सामाजिक स्तरीकरण निम्न प्रकार से परिभाषित किया गया है–

- सोरोकिन के अनुसार, "सामाजिक स्तरीकरण का तात्पर्य है, एक जनसंख्या विशेष का एक–दूसरे से ऊपर, ऊंच–नीच स्तरणात्मक वर्गों में विभेदीकरण। इसकी अभिव्यक्ति उच्चतर एवं निम्नतर स्तरों के विद्यमान होने के माध्यम से होती है।"
- जिसबर्ट के शब्दों में, "सामाजिक स्तरीकरण समाज का उन स्थायी समूहों अथवा श्रेणियों में विभाजन है जो कि आपस में श्रेष्ठता व अधीनता के संबंध द्वारा संबद्ध होता है।"
- शलफाट पारसन स्तरीकरण की व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि, "मानवीय व्यक्तियों के भेदीय वर्ग जो एक विशेष सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करते हैं, एक निश्चित महत्वपूर्ण सामाजिक सम्मान के रूप में उनका व्यवहार उच्च एवं निम्न की भावना से परस्पर संबंधित होता है।"
- रेमण्ड मूरे के अनुसार, "स्तरीकरण उच्चतर व निम्नतर सामाजिक इकाइयों में समाज का क्षैतिज विभाजन है।"
- मेलविच के कथनानुसार, "स्तरीकरण, विभेदीकरण एवं मूल्य निर्धारण के संयोग का परिणाम है।" वास्तव में, स्तरीकरण का किसी भी व्यवस्था के कार्य में परिणत होने के लिए कम से कम चार प्रमुख प्रक्रियाएं हैं– विभेदीकरण, श्रेणीकरण, मूल्यांकन तथा पुरस्कार।
- सदरलैण्ड व वुडवर्ड के शब्दों में, "स्तरीकरण केवल अंतःक्रिया अथवा विभेदीकरण की ही प्रक्रिया है जिसमें कुछ व्यक्तियों को दूसरे व्यक्तियों की तुलना में 'उच्च स्थिति प्राप्त होती है।"
- बरट्रेण्ड रसेल ने कहा है, "सामाजिक स्तरीकरण एक प्रकार से किया गया समाज में व्यक्तियों का विभाजन है जैसे– उच्च, मध्यम तथा निम्न वर्ग।"
- टालकॉट पारसन्स के अनुसार, "किसी समाज व्यवस्था में व्यक्तियों का ऊंचे और नीचे क्रम–विन्यास में विभाजन ही स्तरीकरण है।"
- थियोडोर कैपलो ने कहा है, "संस्तरण किसी सामाजिक व्यवस्था के सदस्य को ऊंच–नीच के क्रम में सजाना है, जिनमें प्रतिष्ठा, संपत्ति, प्रभाव तथा सामाजिक स्थिति की अन्य विशेषताओं में काफी विभिन्नताएं देखने को मिलती है।"

टिप्पणी

- ऑगबर्न तथा निमकॉफ के शब्दों में, "वह प्रक्रिया जिसके द्वारा व्यक्तियों एवं समूहों को थोड़े बहुत स्थायी प्रस्थितियों के उच्चता व निम्नता के क्रम में श्रेणीबद्ध किया जाता है, स्तरीकरण के नाम से जानी जाती है।"

  इन परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि सामाजिक स्तरीकरण एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें संपूर्ण समाज उच्च व निम्न प्रस्थिति वाली अनेक श्रेणियों में विभाजित हो जाता है। इसके बाद भी विभिन्न प्रस्थितियों वाली सभी श्रेणियां एक दूसरे से संबंधित रहती है तथा अपने अपने कार्यों के द्वारा सामाजिक व्यवस्था को बनाये रखने में योगदान करती है।

## सामाजिक स्तरीकरण की आवश्यकता

मानव ने आदिकाल से ही समाज में समानता पैदा करने एवं विभिन्नता को समाप्त करने का प्रयास किया है। समाजवादी समाज की स्थापना उसकी इसी कल्पना पर आधारित है, किंतु वास्तव में ऐसे समाज की स्थापना संभव नहीं है क्योंकि सामाजिक संरचना का निर्माण विभिन्न उच्च एवं निम्न प्रस्थितियों से होता है। समाज में स्तरीकरण की आवश्यकता निम्न कारणों से उत्पन्न होती है–

- समाज अपनी आवश्यकता पूर्ति हेतु विभिन्न पदों को निर्मित करता है। विभिन्न पदों के लिए विभिन्न प्रकार की योग्यता एवं क्षमता की आवश्यकता होती है। किसी पद के लिए अधिक प्रशिक्षण देना होता है तो किसी के लिए कम। कोई पद बहुत उत्तरदायित्व वाला होता है तो कोई कम। पद एवं दायित्व के अनुसार ही पुरस्कार वितरित किया जाता है। इस कारण समाज में भेदभाव एवं उच्चता–निम्नता का क्रम उत्पन्न होता है और समाज विभिन्न स्तरों में विभाजित हो जाता है। इस स्तरीकरण को रोकना संभव नहीं होता है।
- प्रत्येक पद हेतु परिश्रमी, लगनशील, कर्तव्यपरायण तथा महत्वाकांक्षी व्यक्ति की आवश्यकता होती है जो विभिन्न सामाजिक पक्षों के साथ न्याय कर सकें। इसलिए समाज विभिन्न पदों के लिए विभिन्न प्रकार के पुरस्कारों की व्यवस्था करता है और लोगों को उनकी योग्यता, बुद्धि एवं रुचि के अनुसार विभिन्न पद आवंटित करता है। इस प्रकार का विभाजन एवं प्रत्येक पद के लिए विशिष्ट पुरस्कार समाज का आवश्यक अंग है और इसे ही स्तरीकरण कहते हैं।

  स्तरीकरण के द्वारा समाज यह विश्वास दिलाता है कि सबसे अधिक महत्वपूर्ण पदों पर योग्य व्यक्तियों को रखा जाएगा। इस प्रकार व्यक्तियों में निहित योग्यता एवं बुद्धि की भिन्नता को समाज संस्थात्मक रूप प्रदान करता है।

## सामाजिक स्तरीकरण की विशेषताएं

सामाजिक स्तरीकरण की ट्यूमिन ने निम्नांकित विशेषताएं वर्णित की है–

- **सामाजिक प्रकृति** : सामाजिक स्तरीकरण कुछ व्यक्तियों तक ही सीमित नहीं होता वरन् संपूर्ण समाज में व्याप्त होता है। समाज के समस्त व्यक्ति समान मूल्यों एवं व्यवहार के समान प्रतिमानों को स्वीकार करते हैं। सामाजिक स्तरीकरण की आयु, रंग एवं यौन भेद के आधार पर ही नहीं, वरन् समाज में व्यक्तियों को प्राप्त विभिन्न पदों एवं प्रस्थितियों के आधार पर ही समझा जा

टिप्पणी

सकता है। समाजीकरण के द्वारा व्यक्ति सामाजिक मानदंडों को सीखता है और अचेतन रूप में स्तरीकरण को स्वीकार करता है। सामाजिक संस्थाएं जैसे धर्म, शिक्षा, परिवार, विवाह एवं राजनीति आदि भी समाज में स्तरीकरण उत्पन्न करती है।

- **पुरातनता** : आदिकाल से लेकर वर्तमान समय तक स्तरीकरण विहीन समाज कभी भी नहीं रहा है। इसके आधारों एवं स्वरूपों में अंतर हो सकता है, किन्तु सामाजिक स्तरीकरण सर्वत्र ही विद्यमान रहा है। 'बॉटोमोर के कथनानुसार, 'समाजों का वर्गों एवं स्तरों में, विभाजन जिससे 'प्रतिष्ठा एवं शक्ति का सोपान बनता है, सामाजिक संरचना का एक सार्वभौतिक तत्व है।'
- **विभिन्न स्वरूप** : विश्व के सभी समाजों एवं सभी कालों में सामाजिक स्तरीकरण का समान स्वरूप नहीं रहा है, अपितु देश एवं काल के अनुसार इसके अनेक स्वरूप देखे जा सकते है। अति प्राचीनतम काल में सामाजिक स्तरीकरण का सरलतम आधार यौन भेद, आयु भेद और शारीरिक शक्ति था। भारत में जाति–प्रथा के आधार पर भी स्तरीकरण पाया जाता है, तो यूरोप में वर्ग व्यवस्था एवं अर्जित गुणों को अधिक महत्व दिया गया है। मध्य रूप में स्तरीकरण 'दास एवं स्वामी' स्वरूप में होते थे। इस प्रकार सभी समाजों में स्तरीकरण का प्रचलन किन्हीं सामान्य नियमों द्वारा न होकर स्थान, परिस्थिति एवं संस्कृति द्वारा प्रभावित रहा है।
- **परिमाणिकता** : ट्यूमिन कहते हैं कि सामाजिक स्तरीकरण परिमाणिक है। यह समाज में असमानता उत्पन्न करता है। इस असमानता को हम जीवन जीने के अवसर तथा जीवन शैली में देख सकते हैं। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन जीने के अवसर एवं शैली स्तरीकरण के स्वरूपों के आधार पर भिन्न–भिन्न होते हैं। किसी व्यक्ति की कितनी शक्ति, संपत्ति एवं मानसिक संतोष प्राप्त होगा, यह समाज में उसके स्तर पर निर्भर करता है। विभिन्न स्तरों में मृत्यु दर, लंबी आयु, शारीरिक व मानसिक रोग, संतानों की संख्या, वैवाहिक संघर्ष, तलाक, पृथकता आदि की मात्रा में भिन्नता पायी जाती है। एक व्यक्ति के मनोरंजन के साधन, उसका मकान व पड़ोस, माता–पिता से संबंध, शिक्षा एवं पुस्तकों का चयन, यह सब उसके सामाजिक स्तर पर निर्भर करता है। प्रत्येक स्तर के जीवन अवसर एवं शैली में भिन्नता पायी जाती है।
- **कार्यों की प्रधानता** : सामाजिक स्तरीकरण में कार्यों को महत्व दिया जाता है।

## सामाजिक स्तरीकरण के आधार

सामाजिक स्तरीकरण विभिन्न आधारों के साथ समस्त समाजों में पाया जाता है। पारसन्स ने व्यक्ति की प्रस्थिति निर्धारित करने वाले छह कारकों (नातेदारी समूह की सदस्यता, व्यक्तिगत विशेषताएं, अर्जित उपलब्धियां, द्रव्यजात, सत्ता तथा शक्ति), जो स्तरीकरण निर्धारित करते हैं, का उल्लेख किया है। सोरोकिन तथा वेबर के अनुसार स्तरीकरण के आर्थिक, राजनीतिक तथा व्यावसायिक आधारों का उल्लेख किया है,

टिप्पणी

जबकि कार्ल मार्क्स केवल आर्थिक आधार (पूंजीपति व श्रमिक) को ही महत्वपूर्ण माना है। स्तरीकरण के सभी आधारों को मुख्यतः दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है–

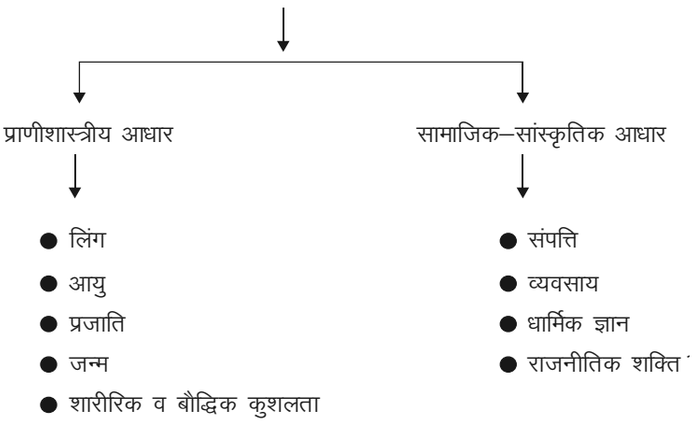


1. **प्राणीशास्त्रीय आधार** : समाज में व्यक्तियों एवं समूहों के उच्च व निम्न स्तर का निर्धारण प्राणीशास्त्रीय आधार पर ही किया जाता है जो इस प्रकार है–
   - **लिंग** : लिंग के आधार पर स्त्री एवं पुरुष के रूप में समाज का स्तरीकरण सबसे प्राचीन है। लगभग सभी समाजों में पुरुषों की स्थिति स्त्रियों से उच्च मानी जाती है।
   - **आय** : प्रत्येक समाज में अनेक ऐसे पद होते हैं जो एक निश्चित आयु के व्यक्तियों को ही प्रदान किये जाते हैं। आयु के आधार पर समाज में प्रमुख चार स्तर (शिशु, किशोर, प्रौढ़ तथा वृद्ध) पाये जाते है। सामान्यतः महत्वपूर्ण पद बड़ी आय के लोगों को प्रदान किये जाते हैं। भारत में परिवार, जाति एवं पंचायत का मुख्य पद वरिष्ठतम व्यक्ति को ही प्रदान किया जाता रहा है, क्योंकि आयु व अनुभव का घनिष्ठ संबंध होता है।
   - **प्रजाति** : जहां अनेक प्रजातियां होती है वहां पर प्रजाति के आधार पर स्तरीकरण होता है। जिस प्रजाति के लोग शासन एवं सत्ता में होते है तथा संपन्न होते हैं, वह प्रजाति स्वयं को दूसरी प्रजातियों से श्रेष्ठ मानती हैं।
   - **जन्म** : जो लोग उच्च कुल, वंश एवं जाति में जन्म लेते हैं, वे स्वयं को दूसरों से श्रेष्ठ मानते हैं।
   - **शारीरिक व बौद्धिक कुशलता** : आधुनिक समय में व्यक्ति की प्रस्थिति व स्तर का निर्धारण उसकी शारीरिक व मानसिक कुशलता, योग्यता एवं क्षमता के आधार पर होने लगा है। बुद्धिमान, परिश्रमी, हृष्ट–पुष्ट व कुशल व्यक्तियों का स्तर अकुशल, क्षीणकाय, मंदबुद्धि, आलसी व अयोग्य व्यक्तियों की अपेक्षा उच्च होता है।
2. **सामाजिक–सांस्कृतिक आधार** : सामाजिक–सांस्कृतिक आधार पर सामाजिक स्तरीकरण निम्नांकित हैं–
   - **संपत्ति** : प्राचीन काल से ही संपत्ति के आधार पर उच्च नीच का भेद पाया जाता है। अधिक संपत्ति वाले गरीब एवं संपत्तिहीन व्यक्तियों की तुलना में ऊंचे माने जाते हैं। संपत्ति के घटने एवं बढ़ने के साथ–साथ समाज में व्यक्ति का स्तर भी घटता बढ़ता रहता है।

टिप्पणी

- **व्यवसाय** : व्यवसाय भी सामाजिक स्तरीकरण का प्रमुख आधार है। चिकित्सक, इंजीनियर, प्रशासक व प्राध्यापक का व्यवसाय, धोबी, मोची व नाई की अपेक्षा श्रेष्ठ व सम्मानीय माना जाता है।
- **धार्मिक ज्ञान** : धर्म प्रधान समाजों में धर्म द्वारा भी स्तरीकरण उत्पन्न होता है। जो लोग धार्मिक कर्मकाण्डो में संलग्न होते हैं, धार्मिक उपदेश देते हैं एवं धर्म के अध्ययन में रत रहते हैं, उन्हें सामान्य लोगों से उच्च माना जाता है। वर्तमान समय में धर्म के महत्व के घटने के कारण स्तर निर्धारण में इसका प्रभाव भी कमजोर होता जा रहा है।
- **राजनीतिक शक्ति** : सत्ता एवं अधिकारों के आधार पर भी समाज में संस्तरण पाया जाता है। जिस व्यक्तियों के पास सैनिक शक्ति, सत्ता और शासन की बागडोर होती है, उनकी स्थिति सत्ताविहीन व शक्तिविहीन लोगों से उच्च होती है।

## सामाजिक स्तरीकरण का स्वरूप/प्रकार

मानव इतिहास में मुख्यतः चार स्तरीकरण स्वरूपों– दास प्रथा, जागीरें, जाति और सामाजिक वर्ग का वर्णन किया गया है। कुछ समाजशास्त्रियों के अनुसार स्तरीकरण के दो स्वरूप (खुला स्तरीकरण और बंद स्तरीकरण) हैं। मुख्य सामाजिक स्तरीकरण का वर्णन निम्नांकित है–

- **दास प्रथा** : यह असमानता के चरम रूप का प्रतिनिधित्व करती है जिसमें व्यक्तियों के कुछ समूह पूर्ण रूप से अधिकारों से वंचित रहते हैं। अनेक स्थानों पर दास प्रथा का प्रचलन रहा है, किंतु प्राचीन समय में यूनान और रोम में 18वीं एवं 19वीं शताब्दी में दक्षिणी अमेरिका में इसका अत्यधिक चलन रहा है।

  दास प्रथा औद्योगिक व्यवस्था के समान ही रही है। दास प्रथा के उदय के साथ–साथ कुलीनतंत्र भी प्रकट होता है जो दास के श्रम पर जीता है। आधुनिक युग में समाजवाद, मानव अधिकार एवं जनतंत्र के विचारों के विपरीत होने के कारण यह प्रथा सभी देशों में लगभग समाप्त हो गयी है।
- **जागीरें** : जागीर प्रथा का प्रचलन मध्यकालीन यूरोप में हो रहा है जिसे प्रथा एवं कानून की मान्यता प्राप्त थी। जागीर प्रथा में तीन वर्ग प्रमुख थे– पादरी, सरदार एवं साधारणजन। प्रत्येक वर्ग की जीवन शैली एवं संस्कृति भिन्न थी। सामाजिक स्तरीकरण में सर्वोत्तम स्थान पादरियों का था क्योंकि उस समय राज्य भी चर्च के अधीन था। नियमानुसार जो पादरी सर्वोच्च थे, किंतु उन्हें कोई पद प्राप्त नहीं था। इसलिए वे व्यावसायिक रूप से राजवंश के सरदारों से नीचे समझा जाता था। जिन पादरियों को उपाधि दी गई थी वे सरदारों से कोई संबंध नहीं रखते थे। अनेक पादरी अविवाहित थे, अतः उनका कोई परिवार नहीं था। परिवार के अभाव में पादरियों की स्थिति स्पष्ट नहीं थी। फिर भी उनके माता–पिता के परिवारों के आधार पर उनकी स्थिति का निर्धारण किया जा सकता है। बॉटोमोर ने जागीर प्रथा की निम्न तीन विशेषताओं का उल्लेख किया है–

टिप्पणी

– प्रत्येक जागीर की एक वैधानिक परिभाषा थी उनके अधिकार, कर्तव्य, विशेषाधिकार और दायित्वों के आधार पर समाज में उनकी एक निश्चित प्रस्थिति होती थी।

– जागीरों में स्पष्ट श्रम–विभाजन पाया जाता था।

– राजनीतिक शक्ति होने के कारण वे एक राजनीतिक समूह थी।

इनका स्वरूप आर्थिक व सैनिक रहा है और यह जाति की विशेषताओं से युक्त रही है।

- **जाति प्रथा (बंद स्तरीकरण)** : भारत में जाति प्रथा स्तरीकरण की पराकाष्ठा है। जाति एक ऐसा समूह है जिसकी सदस्यता जन्मजात होती है, प्रत्येक जाति का एक नाम और व्यवसाय होता है। एक जाति के लोगों का एक वंशगत व्यवसाय होता है और एक जाति के सदस्य अपनी ही जाति में विवाह करते हैं। इस प्रकार प्रत्येक जाति की एक जीवनशैली होती है। जाति की विशेषताएं निम्नलिखित हैं–

  – जन्मजात सदस्यता होती है।

  – जाति समाज का खण्डात्मक विभाजन है।

  – जाति व्यवस्था में उच्चता एवं निम्नता का क्रम पाया जाता है।

  – प्रत्येक जाति एक अंतर्विवाही संबंधों का समूह है।

  – प्रत्येक जाति का एक वंशानुगत व्यवसाय होता है।

  – जाति के सदस्य खानपान एवं सामाजिक सहवास संबंध नियम का पालन करते हैं।

  – प्रत्येक जाति का एक राजनीतिक स्वरूप होता है। इस रूप में जाति पंचायत जाति के नियमों का पालन करवाती है। जाति की सदस्यता संपूर्ण जीवन के लिए होती है। कोई भी व्यक्ति प्रयत्न द्वारा जाति की सदस्यता नहीं बदल सकता है।

जाति व्यवस्था से पूर्व भारत में वर्ण व्यवस्था का प्रचलन था। वर्ण प्रमुख रूप से चार (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) थे। वर्णों का निर्माण कर्मों के आधार पर किया गया था। ब्राह्मण पठन–पाठन, पूजा, शिक्षा दीक्षा का कार्य करते थे, क्षत्रिय शासन एवं युद्ध कार्य करते थे। वैश्य कृषि एवं व्यापार करते थे तथा शूद्र तीनों वर्णों की सेवा करते थे। प्रारंभ में वर्णों में परिवर्तन किया जा सकता था, किंतु धीरे–धीरे इनमें कठोरता आयी और प्रत्येक वर्ण में अनेक उपजातियां बन गई। लेकिन वर्णों के पश्चात जातियां अस्तित्व में आयी तो जातीय आधार पर संस्तरण होने लगा। वर्तमान समय में नगरीकरण, औद्योगीकरण, यातायात एवं संचार के नवीन साधनों, नवीन शिक्षा, प्रजातंत्र, नवीन सामाजिक विधान, पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव, समाज सुधार के आंदोलन आदि के कारण जाति–व्यवस्था में काफी परिवर्तन आये हैं। अब जातीय आधार पर बने छुआछूत व्यवसाय एवं खानपान के नियमों में शिथिलता आयी है। अनेक बार कुछ जातियों ने

टिप्पणी

सामाजिक संस्तरण में सामाजिक रूप से ऊंचा उठाने का प्रयास भी किया है। इसको संस्कृतीकरण के नाम से जाना जाता है।

- **सामाजिक वर्ग (खुला स्तरीकरण)** : वर्ग सामाजिक स्तरीकरण का एक प्रमुख स्वरूप है। लगभग सभी समाजों में वर्ग व्यवस्था पायी जाती है। समान प्रस्थिति वाले व्यक्तियों के समूह को एक वर्ग कहा जाता है। जन्म के अतिरिक्त किसी भी आधार पर समाज में समूहों का निर्माण वर्ग कहलाता है। वर्गों का आधार आर्थिक ही नहीं, अपितु सामाजिक–सांस्कृतिक भी है। वर्ग की विशेषताएं निम्नलिखित हैं–
  - वर्ग में समूहों का उतार चढ़ाव पाया है, सभी वर्ग समान नहीं होते हैं, वरन् उनमें उच्चता एवं निम्नता का क्रम पाया जाता है।
  - एक वर्ग के व्यक्तियों की सामाजिक प्रस्थिति समान होती है।
  - एक वर्ग के व्यक्ति दूसरे वर्ग के प्रति उच्चता या निम्नता की भावना रखते हैं।
  - प्रत्येक वर्ग में 'वर्ग चेतना' पायी जाती है। यह वर्ग चेतना उनके व्यवहारों एवं वर्गों के पारस्परिक संबंधों को भी तय करती है। एक वर्ग के लोग अपने अधिकारों के प्रति सजग होते है।
  - एक वर्ग के व्यक्तियों के संबंध प्रायः अपने ही वर्ग के व्यक्तियों तक सीमित होते हैं और अन्य वर्गों से एक निश्चित दूरी बनाये रखते हैं।
  - वर्ग व्यवस्था एक मुक्त व्यवस्था है। एक व्यक्ति इसमें आ–जा सकता है।
  - वर्ग में जन्म का महत्व नहीं होता है।
  - प्रत्येक सामाजिक वर्ग के अनेक उपवर्ग भी होते हैं।
  - एक वर्ग के व्यक्तियों को जीवन के कुछ विशिष्ट अवसर एवं सुविधाएं समान रूप से प्राप्त होती हैं।
  - वर्ग की सदस्यता पूर्णतः अर्जित है।
  - एक वर्ग के व्यक्तियों का जीवनयापन का तरीका लगभग समान होता है।
  - वर्ग कम स्थिर होते है, उनमें परिवर्तन होता रहता है।
  - एक वर्ग को पहचानने एवं दूसरे वर्ग से भिन्न होने के लिए बाह्य लक्षणों (वस्त्र, मकान, शिक्षा, आय, बोलने का तरीका, खानपान) की सहायता ली जाती है।

    वर्गों का निर्धारण एवं विभाजन अनेक आधारों पर किया जाता है जैसे–
    - सम्पत्ति, धन और आय
    - परिवार एवं नातेदारी
    - निवास की स्थिति

टिप्पणी

– व्यवसाय की प्रकृति

– शिक्षा

– निवास स्थान की अवधि

– धर्म।

आधुनिक औद्योगिक समाजों में वर्ग ही सामाजिक स्तरीकरण का प्रमुख आधार है।

## सामाजिक स्तरीकरण का महत्व

सामाजिक स्तरीकरण सार्वभौमिक तथ्य है। यह किसी न किसी रूप में सभी समाजों में सभी कालों में पाया जाता रहा है, इसी से इसका महत्व स्पष्ट होता है। ऐसा माना जाता है कि यदि किसी समाज में असमानता नहीं पाई जाती है तो वह समाज मुश्किल से जीवित रह सकता है। प्रत्येक समाज में पदों के महत्व में अंतर होने के कारण तथा व्यक्तियों की योग्यता, बुद्धि एवं कुशलता में भेद होने के कारण कुछ व्यक्ति प्रगतिशील होते हैं और कुछ पीछे रह जाते हैं। जिससे समाज में स्वतः ही स्तरीकरण उत्पन्न हो जाता है। व्यक्ति एवं समाज के लिए स्तरीकरण का महत्व इस प्रकार है–

## व्यक्ति के लिए सामाजिक स्तरीकरण का महत्व

- **आवश्यकता पूर्ति में सहायक** : मानव की आवश्यकताएं असंख्य होती हैं इनकी पूर्ति के लिए उसे अनेक व्यक्तियों की सहायता लेनी होती है। स्तरीकरण द्वारा समाज में कार्य विभाजन हो जाता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने निश्चित कार्य को कुशलता से पूर्ण करके मानव की आवश्यकता पूर्ति में सहयोग प्रदान करता है।
- **अधिक कार्य के लिए प्रोत्साहन** : सामाजिक स्तरीकरण का एक महत्वपूर्ण कार्य यह है कि वह व्यक्ति को अधिक कार्य करने के लिए प्रोत्साहित करता है। समाज में महत्वपूर्ण पदों हेतु समाज द्वारा अधिक पुरस्कार की व्यवस्था की जाती है जो एक उत्प्रेरक का कार्य करती है जिससे वह कठोर परिश्रम कर उच्च पद पाने का श्रेष्ठतम प्रयास करता है।
- **सहयोग को बढ़ावा** : स्तरीकरण में विभिन्न योग्यता वाले व्यक्तियों को पद प्रदान किये जाते हैं। इससे समाज में संघर्ष की स्थिति उत्पन्न नहीं होती है और सभी व्यक्ति परस्पर सहयोग द्वारा समाज को सुचारू रूप से चलाने में सहयोग देते हैं।
- **मनोवृत्तियों का निर्धारण** : स्तरीकरण द्वारा मानव की मनोवृत्तियां भी निर्धारित होती हैं। जाति, वर्ग एवं प्रस्थिति समूह के अनुरूप ही व्यक्ति के विचार, क्रियाएं एवं मनोवृत्तियों में भिन्नता होती है।
- **शक्ति संतुलन** : स्तरीकरण समाज में शक्ति संतुलन बनाये रखता है। स्तरीकरण में कुछ व्यक्तियों के पास महत्वपूर्ण पद होते हैं। उनके पास शक्ति भी अधिक होती है। दूसरी ओर राजनीतिक अधिकार एवं शक्तिविहीन लोगों की संख्या अधिक होती है। ये लोग शक्ति संपन्न लोगों को शक्ति का उपयोग करने से रोकते हैं। शक्तिशाली लोग सामान्य लोगों पर नियंत्रण रखते हैं और उन्हें

टिप्पणी

निर्देशित करते हैं। इस प्रकार दोनों ही वर्ग परस्पर नियंत्रण रखकर शक्ति संतुलन कायम रखते हैं।

- **उत्तरदायित्व की भावना का विकास** : स्तरीकरण द्वारा जब एक व्यक्ति को एक निश्चित पद प्रदान कर दिया जाता है तो वह अपने पद को बनाये रखने के लिए अपने कर्तव्यों का निर्वाह पूर्ण कर्तव्यनिष्ठा से करता है।
- **व्यक्ति की प्रस्थिति एवं भूमिका का निर्वाह** : स्तरीकरण द्वारा प्रत्येक व्यक्ति का समाज में स्थान निर्धारित किया जाता है और व्यक्ति की प्रस्थिति के अनुसार ही उसे कार्य सौंपे जाते है।

### समूह के लिए महत्व

- **सामाजिक परिवर्तन** : एक सामान्य धारणा है कि स्तरीकरण परिवर्तन विरोधी है, किंतु इसके विपरीत स्तरीकरण परिवर्तन को प्रोत्साहित भी करता है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता व कुशलता में वृद्धि करके उच्च प्रस्थिति प्राप्त करने का प्रयास करता है और उसके द्वारा रिक्त किये हुए स्थानों को नये व्यक्ति ग्रहण करते हैं। साथ ही नये पदों के अनुरूप व्यक्ति अपने व्यवहार, संबंध, रहन–सहन, विचार, मनोवृत्तियों व दृष्टिकोणों में भी परिवर्तन लाते हैं।
- **सामाजिक संघर्षों से रक्षा** : सामाजिक स्तरीकरण में समाज के विभिन्न समूहों में अधिकारों एवं कार्यों का विभाजन कर दिया जाता है। इससे उनमें परस्पर संघर्ष नहीं होता है। स्तरीकरण इस बात का विश्वास दिलाता है कि महत्वपूर्ण पद योग्य व्यक्तियों को ही प्रदान किये जाएंगे।
- **सामाजिक एकीकरण** : सामाजिक स्तरीकरण में कार्यों का विभाजन कर दिया जाता है और प्रत्येक व्यक्ति एवं समूह अपने कार्यों का निर्वाह कर सामाजिक एकता एवं संगठन को बनाये रखने में योग देता है। इससे वे संघर्ष की स्थिति से बचे रहते हैं।
- **सामाजिक प्रगति** : सामाजिक स्तरीकरण में उच्च एवं निम्न पदों की व्यवस्था होती है। व्यक्ति उच्च पदों की प्राप्ति हेतु आपस में प्रतिस्पर्धा करते हैं, कठिन परिश्रम करते हैं। इससे समाज निर्माण का कार्य होता है, नवीन आविष्कार होते हैं और समाज में प्रगति संभव होती है।
- **सामाजिक संबंधों का निर्धारण** : एक स्तर एवं वर्ग के मध्य में परस्पर घनिष्ठ संबंध पाये जाते है, क्योंकि उनके स्वार्थ, उद्देश्य व रुचियां समान होती हैं।
- **श्रम–विभाजन** : स्तरीकरण में समाज के कार्यों का विभिन्न लोगों में विभाजन कर दिया जाता है। श्रम–विभाजन एवं विशेषीकरण के कारण कार्य–कुशलता में वृद्धि होती है, विभिन्न कार्य करने वालों में पारस्परिक निर्भरता एवं सहयोग बढ़ता है और अंततः यह सामाजिक एकता एवं संगठन को सुदृढ़ बनाता है।
- **सामाजिक मानदंडों का पालन करने की प्रेरणा** : सामाजिक स्तरीकरण में प्रत्येक व्यक्ति अपने पद को बनाये रखने के लिए जागरूक होता है और पद से संबंधित सामाजिक मानदंडों का पालन करता है। ऐसा न करने पर उसे

टिप्पणी

अपनी प्रतिष्ठा गिरने का भय रहता है। अतः स्तरीकरण में स्वतः ही अचेतन रूप में सामाजिक मानदंडों का पालन किया जाता है।

- **अनावश्यक प्रतिस्पर्द्धा एवं संघर्ष से रक्षा** : स्तरीकरण में समूहों के कार्यों, अधिकारों एवं व्यवसाय आदि का विभाजन होने के कारण प्रत्येक समूह अपना निर्धारित कार्य करता है। इससे अनावश्यक प्रतिस्पर्द्धा और संघर्षों से सुरक्षित रहा जा सकता है।

## सामाजिक स्तरीकरण के दोष

सामाजिक स्तरीकरण के जहां अनेक लाभ हैं, वहीं इसमें अनेक दोष भी सम्मिलित हैं, जो निम्न हैं–

- **निष्क्रियता** : स्तरीकरण में व्यक्ति अक्सर निश्चित पद प्राप्त कर लेता है और निष्क्रिय हो जाता है।
- **वर्ग चेतना और पक्षपात** : स्तरीकरण में विभिन्न वर्ग बन जाते हैं। इन वर्गों में वर्ग चेतना पनपने लगती है और वे अपने वर्गों के प्रति पक्षपात तथा अन्य वर्गों के हितों की उपेक्षा करने लगते हैं।
- **संघर्ष का जन्म** : स्तरीकरण के कारण कुछ वर्गों को कम और कुछ को अधिक अधिकार एवं सुविधाएं प्राप्त होती हैं। उच्च वर्ग निम्न वर्ग का शोषण करता है। इससे विभिन्न वर्गों में संघर्ष पनपने लगता है तथा सामाजिक एकता खतरे में पड़ जाती है। विभिन्न वर्गों के मध्य सामाजिक दूरी बढ़ जाती है और उनमें विरोधी भावना उत्पन्न हो जाती है। उच्च वर्ग के व्यक्ति धन संग्रह करते हैं तथा निम्न वर्ग के लोगों को उनके द्वारा किये गये कार्य का उचित पुरस्कार नहीं मिलता है।
- **निराशा का जन्म** : स्तरीकरण के कारण कुछ व्यक्तियों को महत्वपूर्ण कार्य सौंपे जाते हैं और कुछ को कम। जिससे असुरक्षा व असंतोष उत्पन्न होता है।
- **असुरक्षा** : स्तरीकरण में प्रतिस्पर्धा पायी जाती है, इसलिए व्यक्ति को सदैव असुरक्षा का एहसास होता रहता है। कई बार उच्च पद पर बने रहना संभव नहीं हो पाता है और व्यक्ति पुनः निम्न वर्ग में आ जाता है।
- **समानता का विरोधी** : असमानता के सिद्धांत पर आधारित होने के कारण स्तरीकरण समानता का विरोधी है।
- **व्यक्तित्व विकास में बाधक** : स्तरीकरण में निम्न वर्ग के व्यक्तियों में हीनता की भावना के कारण उनका संपूर्ण व्यक्तित्व का विकास संभव नहीं हो पाता है और व्यक्तित्व का विघटन होने लगता है।
- **जातिवाद को बढ़ावा** : जाति प्रथा पर निर्भर होने के कारण स्तरीकरण द्वारा ऊंच–नीच, छुआछूत, हीनभावना, सामाजिक सहवास पर प्रतिबंध एवं अंतर्जातीय विवाह पर रोक आदि बुराइयों को भी स्थान मिलता है।

## कार्यात्मक दृष्टिकोण

सामाजिक स्तरीकरण के प्रकार्यवादी सिद्धांत का प्रतिपादन किंग्सले डेविस तथा विलबर्ट मूरे ने किया है। उन्होंने अपने लेख 'सम प्रिंसिपल्स ऑफ स्ट्रेटीफिकेशन' में इस मान्यता

टिप्पणी

के इस सिद्धांत से प्रारंभ किया है कि कोई भी समाज वर्ग–विहीन नहीं है, सभी समाजों में संस्तरण पाया जाता है क्योंकि प्रत्येक समाज यह अनुभव करता है कि सामाजिक संरचना में व्यक्तियों का कोई न कोई स्थान निश्चित होना चाहिए तथा विभिन्न पदों को प्राप्त करने की प्रेरणा दी जानी चाहिए। इस प्रकार सामाजिक विषमता समाज में अचेतन रूप में विकसित होती है। इसके द्वारा समाज सबसे महत्वपूर्ण पदों पर सबसे महत्वपूर्ण व्यक्ति को पहुंचने की व्यवस्था सुनिश्चित करता है।

डेविस के अनुसार, "समाज के विभिन्न पदों हेतु विभिन्न योग्यताओं एवं बुद्धि की आवश्यकता होती है तथा कुछ व्यक्तियों का महत्व अधिक होता है।" जो पद सामाजिक दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण होते हैं, ऐसे पदों के लिए अधिक पुरस्कार की व्यवस्था की जाती है। महत्वपूर्ण कार्यों को करने के लिए विशेष प्रतिभा व प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है। कुछ प्रशिक्षण कठिन और खर्चीले होते हैं। अतः उन्हें सभी व्यक्ति प्राप्त नहीं कर सकते इसलिए इन पदों के लिए, समाज अधिक सुविधा व पुरस्कार की व्यवस्था करता है। विभिन्न पदों को धारण करने एवं उनके अनुरूप कार्य करने की प्रेरणा देने के लिए समाज व्यक्तियों को तीन प्रकार के पुरस्कार प्रदान करता है–

- समाज, व्यक्तियों को जीवन धारण एवं आराम हेतु आवश्यक वस्तुएं प्रदान करता हैं, अर्थात आर्थिक प्रोत्साहन।
- समाज मन बदलाव तथा सौंदर्य तथा बोधात्मक प्रकृति की वस्तुएं प्रदान करता है।
- समाज आत्म–सम्मान एवं अहं की तुष्टि करने वाली वस्तुएं प्रदान करता है अर्थात प्रतीकात्मक प्रोत्साहन।

इस प्रकार समाज में कुछ लोगों को अधिक पुरस्कार, अधिकार एवं सुविधाएं प्रदान की जाती है और कुछ को कम, जिससे समाज में स्वतः ही स्तरीकरण उत्पन्न हो जाता है। डेविस के अनुसार, प्रकार्यात्मक सिद्धांत बंद एवं मुक्त दोनों ही समाजों पर लागू होता है, क्योंकि स्तरीकरण में व्यक्तियों का ही नहीं अपितु पदों का भी क्रम–विन्यास होता है। भारत में भी पदों के महत्व एवं कार्यों की प्रकृति के अनुसार क्रम–विन्यास पाया जाता है। स्पष्ट है कि स्तरीकरण एक सार्वभौमिक तथ्य है।

### 3.2.3 सामाजिक स्तरीकरण – प्रकार्यात्मक परिप्रेक्ष्य

प्रकार्यात्मक सिद्धांत की मान्यता होती है कि समाज की कुछ निश्चित आवश्यकताएं होती हैं, जिन्हें प्रकार्यात्मक पूर्व आवश्यकता कहा जाता है। यदि इन आवश्यकताओं की पूर्ति न कि जाए तो समाज में निरंतरता समाप्त हो जाएगी एवं समाज का अस्तित्व तक समाप्त हो सकता है। इस सिद्धांत की अन्य विशेषता यह है कि समाज के सभी भाग, एकीकृत होकर एक सामाजिक व्यवस्था को बनाते हैं। प्रकार्यात्मक सिद्धांत की मान्यता यह भी है कि–

- समाज में एक निश्चित सीमा तक स्थायित्व एवं संतुलन बनाए रखने के लिए एक सामाजिक व्यवस्था का होना अनिवार्य होता है। इस प्रकार सामाजिक स्तरीकरण इस सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने के लिए प्रयत्न करता है।
- सामाजिक व्यवस्था एक सामाजिक व्यवस्था होती है जो कि समाज को जीवित रखने का सहयोगी कार्य करती है।

समाजशास्त्रियों ने प्रकार्यात्मक परिप्रेक्ष्य में स्तरीकरण की व्याख्या की है और यह प्रतिपादित करने का प्रयास किया है कि यह व्यवस्था समाज के हित में है। इनमें से प्रमुख समाजशास्त्री हैं– किंग्सले डेविस एवं मूरे, पारसन्स एवं माइकल यंग आदि।

टिप्पणी

## सामाजिक स्तरीकरण के विषय में किंग्सले डेविस एवं मूरे का प्रकार्यात्मक सिद्धांत

किंग्सले ने अमेरिका में 1945 में स्तरीकरण के प्रकार्यात्मक सिद्धांत को प्रस्तुत किया था। इनके अनुसार–

- सभी मानव समाज में किसी न किसी रूप में स्तरीकरण अवश्य ही पाया जाता है।
- सभी मानव समाजों में कुछ प्रकार्यात्मक पूर्व आवश्यकताएं होती हैं।
- समाज की जो भी अन्तःक्रियाएं हैं वे पूर्ण होनी चाहिए।
- स्तरीकरण समाज की आवश्यकता है।

इस आधार पर डेविस एवं मूरे के अनुसार, समाज की पूर्व आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए एक व्यवस्था बनाई जाती है। यही व्यवस्था 'स्तरीकरण' कहलाती है। इस व्यवस्था की प्रकार्यात्मक पूर्व आवश्यकताओं की निम्नांकित विशेषताएं भी बताई गई हैं–

1. समाज में कुछ भूमिकाएं होती हैं।
2. समाज की इन भूमिकाओं को पूर्ण करने के लिए कुछ विशेष व्यक्ति होते हैं।
3. समाज के व्यक्तियों को इस प्रकार का सामाजिक प्रशिक्षण दिया जाता है जिससे कि उन्हें अपनी भूमिका के बारे में पता होना चाहिए।
4. ये भूमिकाएं व्यक्तियों के द्वारा पूर्ण निष्ठा एवं ईमानदारी से निर्वाह की जानी चाहिए।

उपरोक्त विशेषताओं द्वारा किंग्सले डेविस एवं मूरे ने यह तथ्य स्थापित करने की चेष्टा की है कि समाज अपने लिए एक ऐसी व्यवस्था की स्थापना करे जिससे कि उसकी स्वयं की पूर्व आवश्यकताएं भलीभांति पूर्ण हों। उदाहरण के लिए यदि समाज में शिक्षा की आवश्यकता है तो शिक्षा की पूर्व आवश्यकताएं जैसे की विद्यालय भवन, अध्यापक एवं पुस्तकों की व्यवस्था करनी होगी। जब यह व्यवस्था बन जाएगी तो छात्रों एवं अध्यापकों की पूर्ण आवश्यकताएं होंगी कि वे अपनी–अपनी भूमिकाओं अर्थात् पढ़ना एवं पढ़ाना का निष्ठा से निर्वाह करें। इन्हीं भूमिकाओं के कारण ही समाज में कार्यों एवं पदों का विभाजन होता है। यह स्तरीकरण इसी आधार पर अस्तित्व में आता है। इन विद्वानों ने तर्क दिया कि यदि इन आपसी भूमिकाओं के कार्य–प्रकार में अंतर होता है तो कार्य अंतर के आधार पर ही भूमिकाओं को प्राथमिक एवं द्वितीयक के रूप में रखा जाता है। कहने का तात्पर्य है कि समाज में सभी व्यक्ति सभी कार्य नहीं कर सकते हैं। कार्य के आधार पर भूमिकाओं का विभाजन एक सीमा तक तार्किक लगता है। जैसे समाज में शिक्षक का कार्य ज्ञान एवं शिक्षा देना है। समाज में ऐसी मानसिकता है कि शिक्षकों की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। जो व्यक्ति शिक्षक का कार्य करते हैं उन्हें समाज सम्मान की दृष्टि से देखता है। यही इन शिक्षकों की

टिप्पणी

समाज में भूमिका उच्च बनाकर उन्हें प्रतिष्ठित एवं सम्मानित व्यक्ति बना देता है। इसी संदर्भ में यदि अध्यापक के साथ विद्यालय में अन्य कार्यालय का कार्य करने वाले, चपरासी, माली आदि भी होते हैं। ये भी अपनी स्थिति एवं भूमिका के अनुसार व्यवस्था में सहयोग करते हैं एवं व्यवस्था का अभिन्न अंग होते है। विद्यालय एवं शिक्षण संस्थाओं में शिक्षक सहित पूरा स्टाफ अपनी भूमिकाओं का निर्वाह करता है परंतु इन स्टाफ के सदस्यों को छात्र एवं समाज वह सम्मान या आदर प्रदान नहीं करता जो शिक्षकों को दिया जाता है।

अन्य उदाहरण के अंतर्गत डॉक्टर को समाज में सम्मान प्राप्त होता है क्योंकि डॉक्टर की भूमिका उपचार करने एवं जीवन बचाने की प्रक्रिया को लेकर महत्वपूर्ण हो जाती है। वहीं पर अस्पताल में नर्स, कम्पाउंडर आदि भी कार्य करते हैं। इन कर्मचारियों को डॉक्टर के समतुल्य सुविधाएं एवं वेतन नहीं दिया जाता, तदनुसार समाज में प्रतिष्ठा एवं सम्मान भी नहीं मिलता। यह असमानता, कार्य एवं भूमिकाओं के कारण है अर्थात् जो जिस प्रकार का कार्य करता है समाज उनको समाज में वैसी ही स्थिति प्रदान करता है। यही सामाजिक स्तरीकरण की प्रकार्यात्मक अवधारणा है अर्थात् कार्य के आधार पर समाज का वर्गीकरण नैसर्गिक प्रतीत होता है।

डेविस एवं मूरे ने तर्क दिया है कि समाज की सामाजिक संरचना में मनुष्यों के मध्य अन्तःक्रियाएं करने के लिए स्तरीकरण का होना आवश्यक है। इस स्तरीकरण के ही कारण व्यक्ति परस्पर अन्तःक्रियाएं करते हैं। ये अन्तःक्रियाएं, प्रतिस्पर्धा, होड़, सम्पर्क, संघर्ष या संवाद के रूप में हो सकती हैं। अंतःक्रियाओं के होने से ही समाज की व्यवस्था सुचारु रूप से अपना उद्देश्य पूर्ण करती है। प्रकार्यात्मक अवधारणा की महत्वपूर्ण बात यह है कि यह अपने संचालन के लिए समाज में से ही योग्य, उत्कृष्ट एवं निष्ठावान व्यक्तियों को ढूंढ भी लेती है। इन व्यक्तियों की निष्ठा से ही समाज उन्हें अपने अंदर उच्च स्थान उपलब्ध करवाता है, अर्थात् सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्था के पोषण करने वाले व्यक्तियों को यह पारितोषिक के रूप में उच्च भूमिकाओं के माध्यम से पद एवं प्रतिष्ठा देता है।

प्रकार्यात्मक स्तरीकरण पर माइकल यंग के विचार, डेविस एवं मूरे की अवधारणा यह है कि सामाजिक स्तरीकरण में जो व्यक्ति उच्च पदों पर आसीन होते हैं उनकी योग्यताएं एवं भूमिकाएं भी उतनी ही अधिक होती हैं। यदि कोई व्यक्ति विद्यालय में सभी शिक्षकों से उपर उठकर भूमिकाओं को निबाहता है तो वह व्यक्ति प्रधानाचार्य है। विद्यालय स्तर पर प्रधानाचार्य का पद सर्वोच्च है एवं उसे उसी के अनुसार सम्मान एवं अधिकार प्राप्त होते हैं।

परंतु माइकल यंग ने इस अवधारणा का खंडन किया है उनकी तार्किक व्याख्या भी बहुत महत्वपूर्ण है। यंग का तर्क है कि उच्च पदों का वास्तव में बंटवारा उचित नहीं है। यह आवश्यक नहीं है कि समाज में उच्च स्थान उन्हीं व्यक्तियों को प्राप्त हो तो वास्तव में इसके योग्य होते हैं। कई बार अनेक अयोग्य अधिकारी या व्यक्तियों का चयन भी उच्च पद पर हो जाता है। यंग का तर्क है कि, 'उच्च सामाजिक स्थिति में कार्य करने वाले व्यक्ति वास्तव में इस कार्य के योग्य हों ऐसा अनिवार्य नहीं है।'

टिप्पणी

सामंती व्यवस्था में इसके अनेक उदाहरण देखने को मिलते हैं जहां पर उत्तराधिकार की व्यवस्था थी। उत्तराधिकार की व्यवस्था में व्यक्ति की योग्यता को नहीं देखा जाता था वरन् जन्म के आधार पर व्यक्ति को अपने पूर्वजों की ही भांति समाज में उच्च स्थान प्राप्त था, अर्थात् यदि कोई व्यक्ति ब्राह्मण, क्षत्रिय या शूद्र के घर–परिवार में जन्म लेता था तो सामाजिक स्तरीकरण में इन व्यक्तियों को जन्म प्रदत्त अधिकार एवं सम्मान प्राप्त हो जाता था। इस सम्मान एवं प्रतिष्ठा को प्राप्त करने के लिए उस व्यक्ति ने कोई भी प्रयास या कार्य नहीं किया होता था। बस उच्च जाति वर्ग में जन्म ले लेना ही उस व्यक्ति को उच्च पद का उत्तराधिकारी बना देता है।

यंग ने स्पष्ट भी किया है कि– ''उच्च स्तर पर कार्य करने वाले व्यक्ति अन्यथा साधनों के द्वारा अपनी उच्च स्थिति में पहुंच सकते हैं या इनका जन्म ही ऐसे परिवारों में हुआ हो जिनके सदस्य पहले से ही समाज में उच्च स्थिति में रहते आए हैं।''

यंग की यह व्यवस्था सामंती समाज एवं पूंजीवादी व्यवस्था दोनों पर पूर्णतया लागू होती है। सामंती व्यवस्था में संपत्ति का स्वामित्व पीढ़ी–दर–पीढ़ी, वंशजों को मिलता है, अर्थात् पूर्वजों की पूर्ण संपदा के अधिकारी उनकी संतान होती है। इसमें संतान होना ही एक योग्यता है, अन्य कोई भी योग्यता अनिवार्य नहीं है। वह संतान चाहे जैसी हो यदि सम्पत्तिवान परिवार में जन्म लिया है तो वह सम्पत्तिवान व्यक्ति की पूर्ण संपदा का उपभोग करने के योग्य बन जाता है। आधुनिक पूंजीवादी समाज में भी बड़े–बड़े उद्योगपतियों के वंशज ही उनका पूरा का पूरा कारोबार संभालते हैं। इसके लिए उनमें कोई योग्यता होनी कतई आवश्यक नहीं होती है। ये उद्योगपति अपने साथ अपनी संतानों एवं उत्तराधिकारियों को ही अपने उद्योगों का कार्यवाहक बनाते हैं। यह सिद्धांत जो यंग ने दिया है इसे ''योग्यता–तंत्र'' कहा जाता है।

पारसंस का प्रकार्यात्मक स्तरीकरण उपागम– पारसंस का विचार है कि समाज में स्थायित्व एवं सहयोग होना आवश्यक होता है। इसके लिए यह भी आवश्यक है कि समाज के सदस्यों में कुछ सामान्य विषयों एवं मुद्दों पर मतैक्य स्थापित हो। समाज के मूल्यों पर मतैक्य के अभाव में समाज का विघटन हो सकता है, अर्थात् समाज के सदस्यों में इस पर सहमति होनी चाहिए कि समाज के हित में क्या है? इन मूल्यों के आधार पर समाज में स्तरीकरण एवं श्रेणीय या वर्गीय व्यवस्था की आवश्यकता पड़ती है।

पारसंस के विचार में, स्तरीकरण की व्यवस्था का उदय मूल्यों के अंदर मतैक्य होने के कारण होता है। इन्हीं मूल्यों के आधार पर ही समाज में पदों एवं प्रस्थितियों का निर्धारण होता है। समाज में स्थापित मूल्यों पर आधारित वर्गीकरण के कारण ही कुछ व्यक्तियों को उच्च एवं कुछ को निम्न श्रेणी में रखा जाता है। इन श्रेणियों एवं स्तरों को निर्धारित करने के लिए मूल्यों को आधार माना जाता है। पारसंस इस स्तरीकरण को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि– सामाजिक स्तरीकरण, इसके मूल्यात्मक परिप्रेक्ष्य में, सामाजिक व्यवस्था का सामान्य मूल्य एवं व्यवस्था के अनुरूप श्रेणीबद्ध करना होता है, अर्थात् यदि समाज के व्यक्ति, वर्तमान समाज के निश्चित एवं निर्धारित मूल्यों के आधार पर कार्य करेंगे तो मनुष्यों को समाज में उच्च श्रेणी में रखा जाएगा। जो व्यक्ति समाज के मानक मूल्यों के विरुद्ध कार्य करेंगे उन्हें निम्न श्रेणी में रखा जाएगा। उदाहरण के लिए हमारे समाज में मान्यता है कि व्यक्ति शिक्षित हो, साक्षर

टिप्पणी

हो, उदार हो, सहयोगी हो एवं अच्छी आजीविका अर्जित करे। ये समाज के स्थापित मानक मूल्य हैं। इन मूल्यों के अनुसार जो व्यक्ति साक्षर है, उच्च शिक्षा प्राप्त है एवं अच्छा व्यवसाय कर रहे हैं या नौकरी कर रहे हैं तो समाज उन्हें स्तरीकरण के क्रम में उच्च वर्ग में रखता है। इसके विपरीत घृणित कार्य करने वाले, अनपढ़ लोगों को निम्न श्रेणी में रखा जाता है। मूल्यों पर आधारित इस पद स्थिति के अनुसार ही व्यक्ति को सम्मान एवं प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। यह मानव स्वभाव है जिसमें अपनी प्रशंसा करवाना एवं सम्मान प्राप्त करने की प्रवृत्ति होती है, जैसे–कोई छात्र परीक्षा में अच्छे अंक प्राप्त करता है तो विद्यालय में उसकी प्रशंसा होती है। इस प्रशंसा से उस छात्र का पद अन्य सहपाठी छात्रों से उच्च हो जाता है। यदि छात्र कोई गलती भी कर दे तो उसके अध्यापकगण उसे क्षमा कर देते हैं। परंतु वही गलती यदि कोई ऐसा छात्र करे जो पढ़ाई में कमजोर हो तो वह दंडित किया जाता है। इसी कारण पारसंस इस बात पर बल देते हैं कि स्तरीकरण अटल है एवं सामाजिक आवश्यकता है।

स्तरीकरण के बारे में योगेंद्र सिंह की अवधारणा भारतीय समाजशास्त्र में भारतीय समाजशास्त्रियों का योगदान बहुत ही सीमित है इसी कारण से हमें विदेशी समाजशास्त्रियों पर आश्रित रहना पड़ता है। जितना शोधकार्य विदेशियों ने भारतवर्ष में किया है उसकी तुलना में भारतीयों ने ठोस कार्य इस दिशा में नहीं किया है। स्तरीकरण के बारे में जो भी अध्ययन–सामग्री उपलब्ध है वह भी मूलतः विदेशियों के कथनों का संकलन मात्र है। अतः इस दिशा में बहुत कार्य करने की आवश्यकता है जिससे भारतीय समाज के बारे में आंकड़ों पर आधारित शैक्षिक सामग्री उपलब्ध हो सके। स्तरीकरण की अवधारणा पर योगेंद्र सिंह ने अपने विचार दो पुस्तकों में व्यक्त किये हैं–'सोशल स्ट्रेटीफिकेशन एंड चेंज इन इण्डिया, 1977' तथा 'सोशियोलॉजी ऑफ सोशल स्ट्रेटीफिकेशनः ए रिपोर्ट'। योगेन्द्र सिंह के विचार विदेशी, प्रकार्यात्मक विचारकों की ही भांति हैं। सूक्ष्म अध्ययन करने पर यह स्पष्ट होता है कि इसमें कुछ नये तथ्य न के बराबर हैं जबकि अधिकतर अंश, पाश्चात्य समाजशास्त्रियों के ही उद्धरण हैं। हां एक बात अवश्य है कि यह स्तरीकरण पर भारतीय परिप्रेक्ष्य में एक अच्छा संकलन है।

योगेंद्र सिंह के अनुसार, 'भारत जैसे देश में सामाजिक स्तरीकरण, सामाजिक परिवर्तन एवं गतिशीलता साथ–साथ चलने वाली प्रक्रिया में हैं। भारत में स्तरीकरण का मूल कारण सामाजिक असमानता है जो कि एक सार्वभौमिक तथ्य है। सामाजिक स्तरीकरण उसी दशा में होगा जब समाज के सदस्यों के मध्य असमानता एवं वस्तुओं का असमान वितरण होगा।

योगेंद्र सिंह का यह आकलन है कि भारत में जो आज राजनीतिक विचारधारा दिखाई दे रही है वह 1970 के दशक में, समाजशास्त्रियों के अध्ययन का ही परिणाम है। इस अध्ययन सामग्री के परिणामस्वरूप भारत में सामाजिक न्याय, परिवर्तन एवं गतिशीलता की प्रक्रियाओं में बहुत तेजी से विकास हुआ है। भारत में स्तरीकरण का अन्य कारण भारत की जाति व्यवस्था में भी निहित है। भारतीय समाज एक जातीय समाज है। सामाजिक परिवर्तन के प्रभावों के कारण भारतीय जाति व्यवस्था में कुछ परिवर्तन देखने को मिलता है। जिसका कारण सरकारी नीतियां एवं निम्नवर्ग की जातियों को सुविधाओं एवं सेवाओं में दिया गया आरक्षण एवं विशेष सहयोग ही है। इसी आरक्षण के कारण भारतीय जातिय व्यवस्था में गतिशीलता देखने को मिलती है।

फलस्वरूप निम्न जाति के लोग समाज में उच्च स्थिति में पहुंचने में अल्प मात्रा में सफल हो सके हैं।

टिप्पणी

योगेंद्र सिंह का विश्वास है कि भारत में सामाजिक स्तरीकरण के समाजशास्त्रीय अध्ययन को प्रकार्यात्मक एवं संरचनात्मक आधार पर देखा जाना चाहिए। इसी कारण से उन्होंने अपने अध्ययन में भारतीय जाति व्यवस्था एवं परिवर्तन का प्रकार्यात्मक विश्लेषण प्रस्तुत किया है जो एक सराहनीय कार्य है। उनका यह भी विश्लेषण है कि भारत में जाति व्यवस्था, विजातीय प्रतीत होती है। परंतु वास्तव में यह निरंतरता एवं संतुलन की ही व्यवस्था है। उन्होंने प्रकार्यात्मक स्तरीकरण को गतिशीलता के संदर्भ में देखा है। 1970 के दशक में इन अध्ययनों के कारण भारतीय समाजशास्त्र ने सैद्धांतिक क्षेत्र में बहुत योगदान दिया जिसके फलस्वरूप भारतीय समाज में नये सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक विकास की अवधारणा का सूत्रपात होना संभव हो पाया। भारत में सामाजिक स्तरीकरण का प्रमुख कारण शासकीय विचारधारा भी है। इस विचारधारा में विद्यालयों एवं शैक्षिक संस्थानों में जातिय व्यवस्था को जिस प्रकार पढ़ाया जाता है उससे बदलते परिवेश में स्तरीकरण को और बढ़ावा ही मिलता है। यही कारण है कि भारतीय राजनीतिक विचारधारा एवं राजनीति, जाति, धर्म के ही आसपास घूमती हुई प्रतीत होती है। चुनावों में राजनीतिक स्तर पर जातिय एवं धार्मिक समीकरणों का उपयोग में लाकर सत्ता का मार्ग प्रशस्त किया जाता है। परंतु समाजशास्त्रीय अध्ययन सामग्री के उपलब्ध हो जाने के कारण समाज में पिछले कुछ दशकों में लोग कुछ मुद्दों पर जागरूक तो हुए हैं परंतु राजनीतिक ताना–बाना एवं सत्ता का लोभ इसमें बहुत बड़ी बाधा है।

प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण से स्तरीकरण की अवधारणा का सार– अध्ययन से एक तथ्य तो स्थापित हो चुका है कि सामाजिक स्तरीकरण का प्रमुख आधार सामाजिक असमानता है। इस सामाजिक असमानता का आधार आर्थिक है। इसके अतिरिक्त प्रकार्यात्मक समाजशास्त्रियों का मत भिन्न है एवं उनमें किसी एक तथ्य एवं उपागम को लेकर मतैक्य नहीं हो पाया है। प्रकार्यात्मक समाजशास्त्री एक तरफ तो यह मानते हैं कि समाज, अपने लिए योग्य व्यक्तियों को उच्च पदों पर स्वयं ही आसीन करता है। वहीं पर दूसरे विचारक यह मान्यता रखते हैं कि योग्यता के आधार पर समाज में उच्च स्थान मिलना एक संयोगमात्र है वास्तव में समाज में अनेक व्यक्ति कोई विशेष योग्यता न होने पर भी उच्च स्थिति में आ जाते हैं। उदाहरण के लिए, भारतीय जाति व्यवस्था में, यदि कोई शिशु ब्राह्मण या उच्च जाति में जन्म लेता है तो वह जन्मजात उच्च वर्ग का हो जाता है जिसमें योग्यता का कहीं योगदान नहीं है।

इन मतभेदों के उपरांत भी प्रकार्यात्मक समाजशास्त्री निम्नांकित बिंदुओं पर सहमति का भाव रखते हैं–

- सामाजिक व्यवस्था के अस्तित्व को बनाकर रखने के लिए इसमें निरंतरता एवं संतुलन होना अनिवार्य होता है।
- सामाजिक स्तरीकरण की मूल अवधारणा सामाजिक मूल्यों से संबंधित है। मूल्य ही समाज को जीवित रखने का कार्य करते हैं। समाज में व्यक्तियों को इन मूल्यों का निर्वाह करना होता है जो व्यक्ति इन मूल्यों का निर्वाह भली भांति करते हैं, समाज उन्हें उच्च पद देकर पुरस्कृत करता है एवं जो व्यक्ति इन मूल्यों

टिप्पणी

की कसौटी पर खरे नहीं उतरते समाज उन्हें हीन भावना से देखता है एवं उन्हें स्तरीकरण में समाज में निम्न स्तर पर रखता है।

- समाज की पूर्व अवस्थाएं होती हैं जिनको पूर्ण करना स्तरीकरण के लिए आवश्यक होता है।
- स्तरीकरण समाज के लिए अनिवार्य है।

### 3.2.4 सामाजिक स्तरीकरण – मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य

संघर्षवादी या मार्क्सवादी सिद्धांत के अंतर्गत कार्लमार्क्स एवं मैक्स वेबर के समाजिक स्तरीकरण का सिद्धांत निम्न प्रकार से है–

**कार्लमाक्स का सिद्धांत**–जर्मनी में जन्म लेने वाले महान दार्शनिक कार्लमार्क्स (1818–1883) को वैज्ञानिक साम्यवाद एवं अधिकांश समाजवादियों की विचारधाराओं का जनक कहा गया है। मार्क्स ने 1848 में सामाजिक स्तरीकरण के सिद्धांत का प्रतिपादन किया था। इस सिद्धांत की व्याख्या कुछ इस तरह से की गई थी–समाज के सभी प्रकार के स्तरीकरण में दो प्रमुख समूह या वर्ग होते हैं–

(अ) शासक वर्ग या पूंजीपति वर्ग या शोषक वर्ग (Capitalistic Class) और

(ब) मजदूर वर्ग या सर्वहारा या शोषित वर्ग (Working Class)।

मार्क्स ने, संघर्षवादी, सिद्धांत के रूप में संघर्षात्मक अवधारणा को प्रस्तुत किया है। मार्क्सवादी उपागम के अनुसार समाज का स्तरीकरण, समाज के एकीकरण के लिये कार्य नहीं करता। सामाजिक स्तरीकरण के फलस्वरूप समाज में विभाजन एवं बंटवारे की प्रवृत्ति का सृजन होता है। इस विभाजन के कारण समाज में कभी भी एकता एवं भाईचारा नहीं आ सकता है। उन्होंने सभी सुधारवादी एवं प्रकार्यवादी विचारकों के उपगमों का खण्डन किया एवं अपने तर्कों की सहायता से यह सिद्धांत स्थापित कर दिया कि सामाजिक स्तरीकरण; शासक वर्ग की भ्रांति है जिसमें, मात्र शासक वर्ग का ही हित लाभ होगा। जन सामान्य का हित तो वर्गों की समाप्ति में ही निहित हो सकता हैं शासक वर्ग, वर्गों के अस्तित्व को बनाकर रखना चाहता है जबकि समाज की आवश्यकता सामूहिकता में निहित है।

मार्क्सवादी विचारकों की अवधारणा यह है कि कुछ लोग, अपने सामूहिक हितों की चिंता करते हैं अपने समूहों की रक्षा करने के लिए वे दूसरे समूहों के हितों का हनन एवं शोषण करते हैं। इसी कारण इस अवधारणा में समाज के सभी प्रकार के स्तरों को समाप्त करने की बात कही जाती है। आज के पूंजीवादी युग में किसी भी समाज में पूंजीवादी संबंधों के कारण, उत्पादन संबंधों को लेकर जो भी स्तरीकरण पाया जाता है, उसका आधार संघर्ष ही है। यह संघर्ष शोषित एवं शोषक वर्ग के मध्य का स्पष्ट संघर्ष है जो इतिहास में होता चला आया है।

टिप्पणी

मार्क्सवादी अवधारणा, संघर्ष को पूर्ण रूप से समाप्त करने की भी पुष्टि नहीं करते हैं वरन् उनका मानना है कि संघर्ष भी एक निरंतर एवं सतत रूप से चलने वाली प्रक्रिया होती है।

कार्लमार्क्स के बाद समाज में अनेक प्रकार के मजदूर संघर्ष देखने को मिलते हैं। परंतु इन संघर्षों में वर्ग चेतना के अभाव के कारण, आशातीत सफलता नहीं मिली अर्थात् पूंजीवादी व्यवस्था का विनाश नहीं हो पाया क्योंकि सदियों की दासता, असमानता एवं स्तरीकरण को समाप्त होने में भी पर्याप्त समय तो अवश्य ही लगेगा। मार्क्स के पश्चात्, लेनिन, ने इस विचारधारा को प्रसारित करने का कार्य किया।

### 3.2.5 सामाजिक स्तरीकरण – वेबेरियन परिप्रेक्ष्य

जर्मन राजनीतिक, अर्थशास्त्री एवं समाजशास्त्री मैक्स वेबर (1864–1920) की सामाजिक व्यवस्था की व्याख्या 'शक्ति' की अवधारणा से प्रारंभ होती है। वेबर का मानना है कि हमारे समाज की सामाजिक व्यवस्था 'शक्ति' पर आधारित होती है। शक्ति का तात्पर्य उस अवसर से है जिसे एक व्यक्ति या व्यक्तित्वों का समूह, अपनी सामूहिक या वैयक्तिक क्रिया में अपनी इच्छापूर्ति के लिए, उस क्रिया में भाग लेने वाले दूसरे व्यक्तियों या समूहों द्वारा विरोध करने के उपरान्त भी प्राप्त कर लेते हैं। शक्ति के द्वारा समाज में व्यक्ति या समूहों को प्रतिष्ठा भी मिलती है। अतः समाज में व्यक्ति, शक्ति इसलिए प्राप्त करना चाहते हैं ताकि वे धन, मान, प्रतिष्ठा एवं अपनी इच्छानुसार जीवनयापन कर सकें। समाज में व्यक्तियों एवं समूहों की स्थिति का आधार यही शक्ति होती है। इस आधार पर वेबर ने समाज को दो प्रमुख वर्गों में विभाजित किया है परन्तु इसके अतिरिक्त अन्य वर्ग भी समाज में पाये जाते हैं। समाज में दो प्रमुख वर्ग, आर्थिक आधार पर बताए गये हैं–अमीर व गरीब वर्ग। मार्क्स ने इन्हें पूंजीपति वर्ग एवं मजदूर वर्ग की श्रेणी में रखा है। यह नितान्त सत्य है कि जब से समाजों का उदय हुआ है इनमें मनुष्यों के मध्य किसी आधार पर असमानता अवश्य ही पायी गयी है। परंतु इसका मूल आधार आर्थिक हो रहा है। समाज में सभ्यता के विकास एवं परिवर्तन के कारण, अनेक उप–वर्गों का उदय भी समय–समय पर होता रहा है। जिसके कारण समाजों में हमें अनेक प्रकार के विभाजन देखने एवं सुनने को मिलते हैं। धीरे–धीरे समाज में असमानता के आधार पर स्तरीकरण बढ़ता चला गया है एवं विभाजन होते चले गये। इस विभाजन की मूल अवधारणा में शक्ति एवं समाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने की इच्छा सर्वोपरि रही है। इस इच्छा ने व्यक्तियों को व्यक्तियों से दूर कर दिया। व्यक्ति किसी समूह में व्यक्तिगत कारणों से जुड़ते हैं एवं उद्देश्य पूर्ण होने की दशा में भी समूह से सम्बद्धता रखते हैं अन्यथा अन्य किसी समूह के साथ संबंधों को स्थापित कर लेते हैं। कार्लमार्क्स की ही भांति वेबर की स्तरीकरण की अवधारणा मुख्यतः आर्थिक कारकों पर ही केंद्रित है। मैक्स वेबर की अवधारणा यह है कि सामाजिक कर्म

टिप्पणी

का तात्पर्य समाज के उस वर्ग से है जिसे आर्थिक कारणों से कुछ निश्चित एवं समान अधिकार एवं जीवन संबंधी सुविधाएं प्राप्त होती हैं। वेबर का सिद्धांत ''सामाजिक वर्ग का सिद्धांत'' कहलाता है।

वेबर के अनुसार, ''हम किसी समूह को उस स्थिति में वर्ग कह सकते हैं जब उस समूह के व्यक्तियों के जीवन में कुछ विशेष प्रकार के अवसर एक समान रूप से प्राप्त हों।''

वे आगे स्पष्ट करते हैं कि, ''समूह के अधिकार, सुविधाओं से जुड़े हुए आर्थिक हितों के द्वारा पूर्णरूपेण निर्धारित हों एवं वस्तुओं के श्रमिक बाजारों की दशाओं के अनुरूप हों।' इस तरह से वेबर का वर्ग आधारित सिद्धांत, वर्ग विशेष की आर्थिक स्थितियों एवं दशाओं की सीमा में ही अध्ययन करता है। वेबर ने सामाजिक वर्ग की तीन प्रमुख दशाओं को स्पष्ट किया है–

- एक वर्ग विशेष को एवं इसके लगभग सभी सदस्यों को एक समान आर्थिक सुविधाएं एवं अवसर प्राप्त होते हैं।
- यह वर्ग पूर्णरूपेण पारस्परिक आर्थिक हितों के आधार पर बने होते हैं। इस वर्ग के सदस्यों को निश्चित अधिकार एवं अवसर प्राप्त होते हैं।
- इन अवसरों या अधिकारों को वस्तुओं एवं श्रमिक बाजार के बाजारभाव के अनुसार परिवर्तन पर निर्भर रहना होता है।

इस आधार पर वेबर ने संपूर्ण समाज को आर्थिक आधार पर स्तरीकरण या विभाजित करने की बात कही है। इस वर्ग विभाजन में एक वर्ग वह होगा जिसके पास आर्थिक अधिकार होंगे एवं दूसरा वह वर्ग जिसके पास आर्थिक आधार सीमित होंगे या नहीं होंगे।

1. सम्पत्ति पर अधिकार रखने वाला वर्ग
2. सम्पत्ति पर अधिकार न रखने वाला वर्ग

वेबर ने स्पष्ट किया कि व्यक्ति के पास संपत्ति होना या न होना 'वर्ग' परिस्थिति बताया है।

आर्थिक आधार पर ही व्यक्ति–

- संपत्ति का स्वामी होता है।
- अधिक धन कमाने में सरलता होती है
- अधिक वस्तुएं खरीदने में सरलता होती है।
- उच्चस्तर का जीवनयापन कर सकते हैं।

टिप्पणी

### अपनी प्रगति जांचिए

1. 'स्तरीकरण उच्चतर व निम्नतर सामाजिक इकाइयों में समाज का क्षैतिज विभाजन है।' यह परिभाषा किसने दी?

   (क) सोरोकिन (ख) मेलविच

   (ग) रेमण्ड मूरे (घ) टैलकॉट पारसन्स

2. किंग्सले ने अमेरिका में प्रकार्यात्मक सिद्धांत को कब प्रस्तुत किया था?

   (क) 1942 (ख) 1945

   (ग) 1947 (घ) 1950

## 3.3 जाति व्यवस्था : तीन परिप्रेक्ष्य

भारतीय समाज में सामाजिक स्तरीकरण की एक अनुपम व्यवस्था पाई जाती है जिसे जाति प्रथा कहते हैं। जाति की सदस्यता व्यक्ति को जन्म से ही मिल जाती है तथा वह संपूर्ण जीवन उसी का सदस्य बना रहता है अर्थात जाति की सदस्यता को किसी भी कार्य से बदला नहीं जा सकता। इसीलिए इसे सामाजिक स्तरीकरण की बन्द व्यवस्था भी कहा जाता है। जातियों की सामाजिक स्थिति में काफी अन्तर है अर्थात संस्तरण पाया जाता है।

### 3.3.1 जाति : अर्थ, परिभाषाएं एवं उत्पत्ति

समाज में व्यक्ति की स्थिति उसके जन्म लेने के स्थान व समूह से निर्धारित होती है। जाति भी व्यक्तियों का एक समूह है। यह कुछ विशिष्ट सांस्कृतिक प्रतिमानों को मानने वाला वह समूह है जिसके सदस्यों में रक्त शुद्धि होने का विश्वास किया जाता है, जिसकी सदस्यता व्यक्ति अर्जित नहीं करता है। इस प्रकार का समूह सामान्य संस्कृति का अनुसरण करता है। इस प्रकार के सदस्य अन्य किसी समूह के सदस्य नहीं होते हैं और न कोई बाहर के समूह के सदस्य इस समूह के सदस्य हो सकते हैं। इस प्रकार जाति एक बन्द वर्ग है।

'जाति' शब्द अंग्रेजी के 'कास्ट' (Caste) शब्द का हिन्दी अनुवाद है। अंग्रेजी के Caste शब्द की व्युत्पत्ति पुर्तगाली भाषा के 'Casta' शब्द से हुई है। जिसका शाब्दिक अर्थ है 'नस्ल', 'प्रजाति' या 'भेद'। इस शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम 1565 ई. में गार्सिया दी ओरटा 'Garcia de Orta' ने किया था। उसके बाद फ्रांस के अब्बे डुबॉय ने इसका प्रयोग प्रजाति के संदर्भ में किया। समाजशास्त्र में इस शब्द का प्रयोग विशिष्ट अर्थ में किया जाता है। इसके अर्थ को समझने के लिए विस्तृत रूप से इसकी परिभाषाओं को समझना आवश्यक है। प्रमुख विद्वानों ने जाति की परिभाषाएं भिन्न–भिन्न आधारों पर दी हैं। प्रमुख परिभाषाएं निम्न प्रकार हैं–

1. चार्ल्स कूले के अनुसार, "जब एक वर्ग आनुवंशिक होता है तो हम उसे जाति कहते हैं।"

टिप्पणी

2. मार्टिण्डेल एवं मेनेक्सी के अनुसार– ''जाति व्यक्तियों का ऐसा समूह है। जिसके दायित्व और अधिकार जन्म से निश्चित होते हैं तथा धर्म उनका समर्थन करता है।''
3. रिजले के अनुसार–''जाति एक ऐसे परिवारों तथा परिवार समूह का संकलन है, जिसका उसके विशिष्ट पेशों के अनुसार एक सामान्य नाम हो, जो एक ही पौराणिक पितामह–मनुष्य या देवता से अपनी उत्पत्ति मानते हों, तथा जो एक ही व्यवसाय करते हों।''
4. मैकाइवर एवं पेज के अनुसार–''जब सामाजिक पद पूर्णतः निश्चित हो, जो जन्म से ही मनुष्य के भाग्य को निश्चित कर दे, जीवनपर्यन्त उसके परिवर्तन की कोई आशा न हो, तब वह जन वर्ग, जाति का रूप धारण कर लेता है।''
5. केतकर के अनुसार–''जाति की सदस्यता उन्हीं व्यक्तियों तक सीमित होती है जो उसी जाति में जन्म लेते हैं तथा एक कठोर सामाजिक नियम, अपनी जाति से बाहर विवाह करने से रोकता है।"

जाति एक ऐसा सामाजिक समूह है जिसकी सदस्यता जन्म पर आधारित है। जो अपने सदस्यों पर खान–पान, विवाह, पेशा और सामाजिक सहवास सम्बन्धी अनेक प्रतिबन्ध लागू करती है। भारत में जाति का स्वरूप इतनी विभिन्नता लिए हुए है कि इसकी कोई भी सर्वमान्य परिभाषा देना कठिन है। यही कारण है कि अनेक विद्वानों जैसे हट्टन, दत्ता, घुरिये आदि ने जाति की परिभाषा देने के बजाय, विशेषताएं देना महत्वपूर्ण माना है।

## जाति व्यवस्था की उत्पत्ति

जाति जैसी जटिल एवं विचित्र व्यवस्था की उत्पत्ति कब और कैसे हुई, इस बात को लेकर विद्वानों में विवाद पाया जाता है। जाति सदैव परिवर्तनशील संस्था रही है, अतः इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ भी कहा नहीं जा सकता है। मैकाइवर कहते हैं, ''उत्पत्तियां सदैव अगम्य होती हैं।'' इस अर्थ में किसी भी संस्था की उत्पत्ति ढूंढना एक कठिन कार्य है।

मजूमदार कहते हैं कि जाति संरचना के सम्बन्ध में एक शताब्दी के परिश्रम और सावधानीपूर्वक किये गये अनुसंधान यह स्पष्ट नहीं कर पाये हैं कि वस्तुतः मूल रूप से किसने इस विशिष्ट व्यवस्था के निर्माण और विकास में योगदान दिया है। कितने ही भारतीय एवं विदेशी विद्वानों ने जाति–प्रथा के उद्भव के प्रश्न को सुलझाने के लिए अपने–अपने सिद्धांतों को जन्म दिया है। किसी ने जाति को कर्मकाण्डों का प्रतिफल माना तो किसी ने इसे ब्राह्मणों का स्वार्थ जाल, किसी ने आर्यों को इसके लिए उत्तरदायी ठहराया तो किसी ने आर्यों एवं अनार्यों के सांस्कृतिक संपर्क को। कुछ ने भारत में होने वाले प्रजातीय मिश्रण में जाति का उद्गम पाया तो कुछ ने पेशा एवं जाति की घनिष्ठता में।

कुछ विद्वानों ने धार्मिक विश्वासों, भौगोलिक पृथकता एवं सांस्कृतिक भिन्नता को, तो कुछ ने जनजातीय विश्वासों आदि को इसके लिए उत्तरदायी ठहराया। वेदों में श्रद्धा रखने वालों ने ब्रह्मा को ही जाति के उद्गम के लिए उत्तरदायी माना। इन विद्वानों ने तथ्यों एवं तर्कों के आधार पर अपने मत की पुष्टि करने का प्रयास किया है। जाति

व्यवस्था की ऐतिहासिकता को समझने के लिए इसकी उत्पत्ति के प्रमुख सिद्धांतों को समझना अत्यंत आवश्यक है।

टिप्पणी

### 3.3.2 जाति की उत्पत्ति के प्रमुख सिद्धांत एवं विशेषताएं

जाति प्रथा की उत्पत्ति से सम्बन्धित निम्नलिखित सिद्धांतों का प्रमुख रूप से प्रतिपादन किया गया है–

1. **परम्परागत सिद्धांत**– यह सिद्धांत वेदों, उपनिषदों, स्मृतियों और अन्य धार्मिक शास्त्रों पर आधारित है। इस सिद्धांत के अनुसार विद्वान लोग जाति की उत्पत्ति ब्रह्मा से मानते हैं। इस सम्बन्ध में 'ऋग्वेद' के सूक्त में लिखा है–

''ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहु राजन्यः कृतः।
उरु तदस्या यद्वैश्यः पदभ्यां शूद्रो जायत।।''

इसका तात्पर्य है कि ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मणों का, बाहु से क्षत्रियों का, उदर के निम्न भाग से वैश्यों का और पैरों से शूद्रों का जन्म हुआ। जाति की उत्पादिता के सम्बन्ध में परम्परागत सिद्धांत अलौकिक विश्वासों पर अधिक बल देता है। 'बृहदारण्यक उपनिषद्' में तो स्पष्ट रूप से लिखा है कि ब्रह्मा ने स्वयं सबसे पहले ब्राह्मणों की रचना की। जब ब्राह्मण लोग संपूर्ण समाज का कल्याण (अपने ही समाज का कल्याण, क्योंकि और कोई था ही नहीं) करने में कठिनाई समझने लगे तो ब्राह्मणों की सहायता के लिए क्षत्रियों को पैदा किया गया। जब समाज में कल्याणकारी कार्य ब्राह्मण और क्षत्रिय नहीं कर पाए तो क्रमशः वैश्यों व शूद्रों को जन्म दिया। महर्षि भृगु का 'महाभारत' में कथन है कि प्रारंभ में केवल एक ही वर्ण (ब्राह्मण) था, लेकिन ब्राह्मणों में से जब तेजस्वी, तपस्वी और अधिक क्रोधी ब्राह्मण अपने आपको व्यवसायों के आधार पर अलग करने लगे तो क्षत्रिय बन गए। जैसे–परशुराम ब्राह्मण थे पर उनका स्वभाव और व्यवसाय क्षत्रियों जैसा था। अर्थ यह है कि ब्राह्मणों में जिनका व्यवसाय अध्ययन–अध्यापन और स्वभाव शील था, वे ब्राह्मण, ब्राह्मण कहलाने लगे। परन्तु जिन ब्राह्मणों का स्वभाव तेज और व्यवसाय क्षत्रियों जैसा रहा, वे ब्राह्मण, क्षत्रिय कहलाने लगे। इतना ही नहीं, जिन ब्राह्मणों ने अपना व्यवसाय पशु–पालन व खेती चुना, वे ब्राह्मण वैश्य कहलाने लगे, परन्तु कुछ ब्राह्मण ऐसे भी थे जो व्यभिचारी और लोभी व पापी थे। उन ब्राह्मणों को शूद्र कहा जाने लगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि परम्परागत सिद्धांत के अनुसार चारों वर्णों के विभाजन का आधार मानव का व्यवसाय व गुण थे। संभवतः विभिन्न वर्णों के रंग और गुण भी परम्परागत सिद्धांत की देन हैं। ब्राह्मणों का रंग श्वेत और उनके गुण पवित्र, क्षत्रिय का रंग लाल तथा गुण पराक्रम, वैश्य का रंग पीला और गुण राजस् तथा शूद्रों का रंग काला तथा गुण तामस् है। 'गीता' में भगवान कृष्ण का हमें यह कथन मिलता है, ''चारों वर्णों का निर्माण मैंने स्वयं उनके गुण और कर्मों के आधार पर किया है।'' इस प्रकार हम देखते हैं कि परम्परागत सिद्धांत के सभी विचार जाति की उत्पत्ति के लिए वर्ण–व्यवस्था को ही आधार मानते हैं।

2. **प्रजातीय सिद्धांत**– इस सिद्धांत को प्रतिपादित करने में प्रमुख रूप से हरबर्ट रिजले, डी. एम. मजूमदार, जी. एस. घुरिये आदि का नाम उल्लेखनीय है। इन विद्वानों के विचार में जाति व्यवस्था की उत्पत्ति प्रक्रिया प्रजातीय कारकों (Racial Factors) में निहित है। जातियों में प्रजातीय विशेषताओं का कुछ सीमा तक पाया जाना इसका उदाहरण

है। आप लोगों का विचार है कि जाति व्यवस्था की उत्पत्ति के लिए भारत में तीन प्रजातीय आधार रहे हैं–प्रथम, प्रजातीय संपर्क, द्वितीय, संपर्क से उत्पन्न वर्ण संकरता और तृतीय वर्ग–भेद की भावना।

टिप्पणी

प्रारंभ में भारत के मूल निवासी द्रविड़ों पर आर्य जाति के लोगों ने बाहर से आकर आक्रमण किया, उन्हें पराजित किया और आर्य भारत भूमि में ही बस गये। इस सम्बन्ध में रिजले का मत है कि जहां कहीं भी विश्व के इतिहास में एक जन–समूह ने दूसरे जन–समूह पर आक्रमण किया वहां परास्त करने के बाद विजेताओं ने हारे हुए लोगों की स्त्रियों को रक्षिता अथवा पत्नी के रूप में स्वीकार किया, परन्तु अपने समूहों की स्त्रियों को हारे हुए लोगों के संपर्क में आने पर प्रतिबंध लगा दिया। परिणामस्वरूप लोभरहित अथवा कुलीन विवाह के नियमों को प्रोत्साहन मिला और वर्णसंकरता की उत्पत्ति हुई। विजेता लोगों ने अपने समूह की दूसरे (हारे हुए) समूह के साथ सामाजिक दूरी रखनी प्रारंभ कर दी। इसी प्रकार मानव–समूहों में एक–दूसरे के प्रति ऊंच–नीच भी भावना पैदा हो गई।

इस सम्बन्ध में डी. एन. मजूमदार का कथन है कि आर्य लोग द्रविड़ों को परास्त करने के पश्चात् स्वयं ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णों में विभक्त हो गए और भारत के मूलवासियों (द्रविड़ों) को शूद्र वर्ण में रखा गया। घुरिये के अनुसार, आर्यों ने अपनी पवित्रता और रक्त की शुद्धता बनाए रखने के लिए द्रविड़ लोगों को अपने घर से दूर रखा अथवा पृथकता की नीति अपनाई। समय के परिवर्तित चक्र के अनुसार धीरे–धीरे यह पवित्रता और रक्त की शुद्धता आगे चलकर विभिन्न जातियों की उत्पत्ति का आधार बन गई।

उपुर्यक्त कारणों के आधार पर जाति की उत्पत्ति सम्बन्धी प्रजातीय सिद्धांत को व्यावहारिक दृष्टि से अधिक महत्व नहीं मिल पाया है।

3. **ब्राह्मणवादी सिद्धांत**– इस सिद्धांत का प्रतिपादन प्रसिद्ध समाजशास्त्री डॉ. जी. एस. घुरिये द्वारा हुआ है। आपके अनुसार भारत में आने से पूर्व ही इण्डो–आर्यन (Indo-Aryan) प्रजाति के लोग रोमन संस्कृति से प्रभावित थे। रोमन संस्कृति में स्वयं की पवित्रता तथा निम्न वर्ग और कर्मकाण्डों को रखने या करने की अधिक सम्भावनाएं थीं। इण्डो–आर्यन्स ने भारत में आकर अपना वही रूप रखा। आपका यह भी मत है कि इण्डो–आर्यन्स, वैदिककालीन आर्यों के ही एक अंग थे और द्रविड़ों को परास्त करने के पश्चात् अपनी उपर्युक्त भावना को बनाये रखने के लिए अपने आपको द्विज (Twice born) कहने लगे और भारत के मूल निवासियों को दास अथवा शूद्र कहना प्रारंभ किया। धीरे–धीरे अपने अलौकिक अधिकारों को प्रदर्शित करने के लिए उन्होंने स्वयं को ब्राह्मण (ब्रह्मा का रूप) कहना प्रारंभ कर दिया। अन्तर्विवाह और कर्मकाण्डों की जटिलता की सहायता से द्रविड़ लोगों से स्वयं को सामाजिक दूरी पर रखा। इस सम्बन्ध में आपने लिखा है कि भारत की जाति व्यवस्था एक प्रकार से इण्डो–आर्यन संस्कृति तथा ब्राह्मणों की संतति है। जिसका पालन–पोषण गंगा–जमुना के मैदान पर हुआ और यहीं से देश के अन्य भागों में विस्तार हुआ। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि जाति–प्रथा की उत्पत्ति ब्राह्मणों ने अपनी चतुराई के आधार पर की है।

4. **व्यावसायिक सिद्धांत**– जाति की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रस्तुत किया गया समाजशास्त्रियों द्वारा व्यावसायिक सिद्धांत एक प्रकार से नवीन विचारधारा है। इस सिद्धांत का प्रतिपादन नेसफील्ड, दहलमन्न तथा ई. ए. एच. ब्लण्ट द्वारा दिया गया।

टिप्पणी

इन विद्वानों ने भारत में जाति व्यवस्था की उत्पत्ति का व्यावसायिक अथवा प्रकार्यात्मक आधार पर विश्लेषण करने का प्रयास किया। कुछ समाजशास्त्री इसे 'प्रकार्यात्मक सिद्धांत' भी कहते हैं। इस सिद्धांत के अनुसार, भारतीय समाज में जाति व्यवस्था, समाज के विभिन्न व्यवसायों या कार्यों के परिणामस्वरूप विकसित हुई।

नेसफील्ड का विचार है कि प्रारंभ में भारतीय समाज में कोई भी व्यक्ति कोई भी व्यवसाय कर सकता था। प्राचीनकाल में धर्म पर लोगों का इतना विश्वास था कि धर्म ने जीवन को पग–पग पर कठिन और जटिल बना दिया था। परिणामस्वरूप धर्म का कार्य करने के लिए एक विशेष प्रकार के व्यक्तियों की आवश्यकता पड़ी क्योंकि साधारण व्यक्ति के पास केवल धर्म में ही संपूर्ण दिन व्यतीत करने के लिए इतना अधिक समय नहीं था। फलतः जो लोग धर्म कार्य को नियमित व विधिवत रूप से पूरा करने लगे उन लोगों का व्यवसाय आनुवंशिक हो गया। ब्राह्मण लोगों ने धीरे–धीरे पुरोहितार्थ धर्म के कार्यों पर अपना आधिपत्य जमाना प्रारंभ कर दिया। प्रशासनिक व्यवस्था सरीखे कार्य समाज के एक–दूसरे वर्ग ने करना प्रारंभ कर दिया और ब्राह्मणों की तरह उस पर अपना आधिपत्य जमाया, ऐसे लोग क्षत्रिय कहलाए। इसी प्रकार जिन लोगों ने आर्थिक क्रियाओं पर आधिपत्य जमाया, वे वैश्य कहलाए। अंत में समाज का जो कार्य बच गया, उस पर बचे हुए लोगों ने आधिपत्य जमा लिया। उन्हें शूद्र कहा जाने लगा। इस प्रकार जाति व्यवस्था की उत्पत्ति व्यवसाय के आधार पर हुई। इस तरह उच्च व्यवसायों में लगे व्यक्तियों को उच्च श्रेणी तथा निम्न व्यवसायों में लगे लोगों को निम्न श्रेणी में रखा गया।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि प्राचीनकाल में समाज के विभिन्न वर्गों या मानव समूहों ने अपनी सुरक्षा के लिए वर्गों की तरह अनुकरण करते हुए भिन्न–भिन्न व्यवसायों पर अपना पूर्ण आधिपत्य जमा लिया। धीरे–धीरे यही आधिपत्य आनुवंशिक हो गया। एक पीढ़ी के बाद पूरी पीढ़ी को वही व्यवसाय अपनाना पड़ा।

5. **धार्मिक सिद्धांत**– जाति की उत्पत्ति में धार्मिक सिद्धांत को होकार्ट और सेनार्ट ने प्रतिपादित किया है। दोनों ही विद्वानों का मत है कि भारत में जाति व्यवस्था की उत्पत्ति धार्मिक क्रियाओं और कर्मकाण्डों पर आधारित है। इस सम्बन्ध में होकार्ट का मत है कि हिन्दू समाज में प्राचीनकाल में कर्मकाण्डों से सम्बन्धित विभिन्न क्रियाएं पवित्रता के आधार पर अनेक उच्च और निम्न स्तरों में विभाजित होती थीं। इन उच्च और निम्न स्तर की क्रियाओं को करने के लिए विशेष प्रकार के लोगों की आवश्यकता पड़ती थी। उदाहरणार्थ–मन्त्रोच्चारण के लिए पण्डित की आवश्यकता तथा सामान्य सेवा करने के लिए कहार की आवश्यकता पड़ती थी। इस प्रकार समाज में चारों वर्णों का विभाजन धार्मिक क्रिया–कलापों व संस्कारों के आधार पर था। धीरे–धीरे समयानुसार चारों वर्णों की समाज में स्थिति का निर्धारण हो गया। जाति व्यवस्था की उत्पत्ति का आधार धार्मिक मानकर सेनार्ट का यह कहना है कि कुल–देवता की पूजा और परिवार के भोजन सम्बन्धी निषेधों की विभिन्नता पर जाति की उत्पत्ति हुई। अपने इस सिद्धांत को और भी स्पष्ट करते हुए आपने कहा है कि भारत मे आर्यों के आक्रमण के पश्चात् व्यक्तियों में दो भाग स्वतः बन गए–एक ओर वे व्यक्ति जो अपनी वंश–परम्परा के आधार पर विशुद्धता का दावा करते थे तथा दूसरी ओर वे व्यक्ति जो अपने परम्परागत व्यवसाय के आधार पर स्वयं को विशुद्ध कहते थे। परिणामस्वरूप इन दोनों ही जन–समूहों का समयानुसार अन्य समूहों में विभाजन होता चला गया। पुरोहित का कार्य करने वाले सबसे अधिक संगठित बने रहे

और उन्होंने समाज में ऊंचा स्थान प्राप्त कर लिया। इस प्रकार धार्मिक आधारों पर एक जाति की स्थिति दूसरी जाति की तुलना में ऊंची या नीची होती चली गई।

टिप्पणी

6. **आदिम संस्कृति का सिद्धांत**– जाति व्यवस्था की उत्पत्ति में इस सिद्धांत का प्रतिपादन हट्टन द्वारा हुआ है। हट्टन 1931 ई. की जनगणना के समय भारतीय जनगणना विभाग के अध्येता थे। अपने इस सिद्धांत का प्रतिपादन उन्होंने जनगणना संबंधी आंकडों के आधार पर किया है।

इस सिद्धांत के निम्नांकित तीन आधार माने गये हैं–

(अ) जाति व्यवस्था में व्यवसाय का आनुवंशिक रूप,

(ब) विवाह, खान–पान तथा सहवास संबंधी प्रतिबन्ध, और

(स) भारतीय जातियों की ऊंच–नीच की व्यवस्था।

यह सिद्धांत जाति व्यवस्था की उत्पत्ति हेतु भारतीय परिस्थितियों पर ही बल देता है, क्योंकि ऐसी सामाजिक व्यवस्था का जन्म संसार के किसी भी राष्ट्र में नहीं हुआ है। आपका कथन है कि यदि भारतीय जनजातियों में किसी एक जनजाति की संस्कृति का विश्लेषण किया जाए तो यह देखने को मिलता है कि जनजातीय गांव प्रायः एक राजनीतिक इकाई है और एक गांव में सामान्यतया किसी एक व्यवसाय के व्यक्ति रहते हैं। इस तथ्य से यह स्पष्ट होता है कि भारत में ग्रामीण समाज में व्यावसायिक विभाजन आर्यों के भारत में प्रविष्ट होने से पूर्व से ही था। उदाहरणार्थ–कुछ गांवों में लोहे के बर्तन बनाने का व्यवसाय है तो किसी गांव में केवल बुनाई का ही कार्य होता है और कहीं पर लकड़ी का कार्य होता है। तथ्य की बात तो यह है कि जब आर्यों ने भारत के मूल निवासियों को परास्त किया तो उन्होंने पहले से ही प्रचलित सामाजिक विभाजन की व्यवस्था को और अधिक कठोर रूप दे दिया और स्वयं को इस व्यवस्था में सर्वोच्च घोषित किया। भारतीय जाति व्यवस्था में पाये जाने वाले खान–पान व विवाह इत्यादि पर प्रतिबन्ध जनजातियों में पाये जाने वाले 'टेबू' (Taboo) और 'माना' (Mana) जैसे विश्वासों के अनुकूल है। आपका मत है कि सभ्य समाज से दूर रहने वाली जनजातियों में विभिन्न प्रकार के व्यवहारों को शुभ तथा अशुभ माना जाता है। जनजातियों के शुभ व अशुभ व्यवहार 'माना' तथा 'टेबू' जैसे विश्वासों से स्पष्ट होते हैं। तात्पर्य यह है कि जनजातियां 'माना' को एक प्रकार की अलौकिक शक्ति मानती हैं। यह शक्ति प्रत्येक वस्तु और मनुष्य में निहित है और केवल स्पर्श मात्र से ही एक–दूसरे में आ जा सकती है। इस शक्ति का प्रभाव लाभकारी और हानिकारक दोनों प्रकार का हो सकता है। इसी विश्वास के आधार पर जनजातियां अपने समूह के अतिरिक्त सभी दूसरे जनजातीय समूहों के साथ सामाजिक दूरी बनाये रखती हैं। भारत के मूल निवासियों में 'टेबू' व 'माना' सम्बन्धी भेदभाव की भावना को देखकर बाहर से आने वाली प्रजातियों ने इसको और स्पष्ट रूप दे दिया, जिससे कि उसका (आर्य) सामाजिक और राजनीतिक प्रभाव स्थायी हो जाए।

संक्षेप में, आदिम सिद्धांत के अनुसार भारत की मूल प्रजाति और बाहर से आने वाली प्रजाति (आर्य) के लोगों ने अपनी संस्कृति की सुरक्षा के लिए भारत में पूर्व प्रचलित विश्वासों एवं ऊंच–नीच के विचारों को दृढ़ रूप दे दिया तथा इसके परिणामस्वरूप जाति–व्यवस्था में ऊंच–नीच की भावनाओं का जन्म हुआ। इसके अतिरिक्त अन्य

टिप्पणी

कारणों जैसे कर्मकाण्ड सम्बन्धी पवित्रता, पूर्वजों की पूजा, कर्म की धारणा, जादू–टोने में विश्वास, व्यावसायिक संघ, प्रजातीय संघर्ष, परस्पर विरोधी सांस्कृतिक तत्व, वर्गीय संरचना आदि ने जाति–व्यवस्था के अंतर्गत ऊंच–नीच की खाई को और अधिक गहरा और चौड़ा कर दिया है।

जाति प्रथा की उत्पत्ति को प्रकट करने के लिए अनेक सिद्धांतों का प्रतिपादन किया गया है। किन्तु सभी सिद्धांतों में एक या दो कारकों पर ही विशेष बल दिया गया है और अन्य कारकों की अवहेलना की गई है। जाति–प्रथा एक जटिल संस्था है। इसके उद्‌भव एवं विकास में अनेक तत्व उत्तरदायी रहे हैं। जाति–प्रथा एक लंबे विकास का परिणाम है जिस पर धर्म, प्रजाति, भौगोलिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक संपर्क, रक्त की शुद्धता की भावना, व्यवसाय एवं कर्मकाण्ड आदि सभी का प्रभाव रहा है। हट्‌टन ने इसी बात को स्पष्ट करते हुए लिखा है, "यह बात जोर देकर कही जा सकती है कि भारतीय जाति–प्रथा कई भौगोलिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और आर्थिक कारकों की अन्तःक्रिया का स्वाभाविक परिणाम है जो अन्यत्र कहीं भी इस प्रकार सम्मिलित रूप में नहीं पाये जाते।'' अतः स्पष्ट है कि जाति प्रथा को जन्म देने में किसी एक कारक का नहीं वरन् अनेक कारकों का योगदान रहा है। इस तथ्य को बहुकारक सिद्धांत कहा जा सकता है। वास्तव में जाति की उत्पत्ति नहीं वरन् उद्‌विकास हुआ है। इसीलिए कोई एक सिद्धांत इसकी पूरी तरह से व्याख्या करने में सफल नहीं है।

## जाति–प्रथा की विशेषताएं

हट्‌टन, दत्ता तथा घुरिये सरीखे विद्वानों ने जाति की प्रमुख सांस्कृतिक विशेषताओं का उल्लेख निम्नांकित प्रकार से किया है–

1. एक जाति के सदस्य अपनी जाति के बाहर विवाह नहीं कर सकते।
2. प्रत्येक जाति में दूसरी जातियों के साथ खान–पान के सम्बन्ध में कुछ प्रतिबंध होते हैं।
3. अधिकांश जातियों के पेशे निश्चित होते हैं।
4. जातियों में ऊंच–नीच का एक संस्तरण होता है, जिसमें ब्राह्मण की स्थिति सर्वमान्य रूप से शिखर पर है।
5. व्यक्ति की जाति उसके जन्म के आधार पर ही जीवन पर्यन्त के लिए निश्चित होती है। जाति के नियमों को तोड़ने पर उसे जाति से बहिष्कृत किया जा सकता है अन्यथा एक जाति से दूसरी जाति में जाना सम्भव नहीं है।
6. संपूर्ण जाति व्यवस्था ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा पर निर्भर है।

दत्ता द्वारा वर्णित जाति की विशेषताएं जाति की विस्तृत व्याख्या करती हैं। बहुत कुछ सही है किन्तु इसमें कुछ अपवाद भी हैं। ऐसे उदाहरण भी हैं जब राजाओं ने कुछ व्यक्तियों को जाति का दान देकर ऊंची जाति में रखा।

डॉ. घुरिये ने जाति की निम्नलिखित छह सांस्कृतिक संरचनात्मक विशेषताओं का उल्लेख किया है–

1. **समाज का खण्डात्मक विभाजन**– जाति व्यवस्था ने भारतीय समाज को विभिन्न खण्डों में विभाजित कर दिया और प्रत्येक खण्ड के सदस्यों की स्थिति,

टिप्पणी

पद और कार्य निश्चित हैं। घुरिये कहते हैं कि खण्ड विभाजन से तात्पर्य है कि एक जाति के सदस्यों की सामुदायिक भावना संपूर्ण समुदाय के प्रति न होकर अपनी जाति तक सीमित होती है। व्यक्ति की निष्ठा एवं श्रद्धा समुदाय के बजाय अपनी जाति के प्रति होती है। प्रत्येक जाति की एक जातीय पंचायत होती है जो जाति के सदस्यों पर नियंत्रण रखती है और उनसे जातीय नियमों का पालन करवाती है। जाति के नियमों का उल्लंघन करने वाले पर जुर्माना किया जाता है और कभी–कभी उसे जाति से बहिष्कृत भी कर दिया जाता है।

2. **संस्तरण**– समाज में सभी जातियों की सामाजिक स्थिति समान नहीं है वरन् उनमें ऊंच–नीच का एक संस्तरण अथवा उतार–चढ़ाव पाया जाता है। ऊंच–नीच की इस व्यवस्था में ब्राह्मणों का स्थान सबसे ऊंचा है और शूद्रों का सबसे नीचा। क्षत्रिय एवं वैश्य इनके मध्य में है। जन्म पर आधारित होने के कारण इस संस्तरण में स्थिरता एवं दृढ़ता पायी जाती है। यही कारण है कि निम्न जातियां साधारणतः उच्च जातियों में सम्मिलित नहीं हो सकतीं। जाति संस्तरण में मध्यवर्ती जातियों की तुलना में ब्राह्मणों एवं शूद्रों की स्थिति अधिक स्थिर है, क्योंकि ब्राह्मण का और अधिक ऊपर तथा शूद्रों का और अधिक नीचे जाना असम्भव है, जबकि मध्यवर्ती जातियां अपने को पास वाली जातियों से अधिक श्रेष्ठ एवं उच्च होने का दावा पेश करती रहती हैं।

3. **भोजन तथा सामाजिक सहवास पर प्रतिबन्ध**– जाति व्यवस्था में जातियों के परस्पर भोजन एवं व्यवहार से सम्बन्धित अनेक निषेध पाये जाते हैं। प्रत्येक जाति के ऐसे नियम हैं कि उसके सदस्य किसी अन्य जाति के यहां कच्चा, पक्का तथा फलाहारी भोजन कर सकते हैं। किनके हाथ का भोजन व किनके यहां का पानी पी सकते हैं, किनके साथ बैठकर हुक्का–बीड़ी पी सकते हैं, किनके यहां धातु या मिट्टी के बर्तनों का उपयोग अपने लिए किया जा सकता है, आदि। ब्राह्मणों के हाथ का बना कच्चा व पक्का खाना सभी जातियों के लोग ग्रहण कर लेते हैं, किन्तु शूद्रों के हाथ का बना किसी भी प्रकार का भोजन उच्च जातियों के लोग स्वीकार नहीं करते। सामान्यतः ऊंची जातियों के द्वारा बनाया गया भोजन निम्न जाति स्वीकार कर लेती है। किन्तु निम्न जातियों के द्वारा बनाया गया कच्चा व कभी–कभी पक्का भोजन भी उच्च जातियों द्वारा ग्रहण नहीं किया जाता है।

4. **सामाजिक व धार्मिक निर्योग्यताएं एवं विशेषाधिकार**– जाति व्यवस्था में उच्च जातियों को कई सामाजिक एवं धार्मिक विशेषाधिकार प्राप्त हैं जबकि निम्न एवं अछूत जातियों को उनसे वंचित किया गया है। खासतौर से दक्षिणी भारत में अछूत जातियों पर अनेक अयोग्यताएं लादी गई हैं। मालाबार के इजावाह लोगों को जूते पहनने, छाता लगाने एवं गाय का दूध निकालने की मनाही थी। पेशवाओं के राज्य पूना में महर एवं भंग अछूत जातियों को सांयकाल तीन बजे से नौ बजे तक शहर में प्रवेश की इजाजत इसलिए नहीं थी कि उस समय परछाई के लम्बी होने से उसके किसी द्विज पर पड़ जाने से वह अपवित्र हो जाता था। अछूतों को स्कूल, मंदिर, तालाब, कुओं एवं सार्वजनिक स्थानों व बगीचों के उपयोग की मनाही थी। अछूतों की बस्तियां गांव से दूर होती थीं।

टिप्पणी

इस प्रकार उच्च जातियों को सामाजिक एवं धार्मिक विशेषाधिकार प्राप्त रहे हैं और अछूतों को अनेक निर्योग्यताओं से पीड़ित रहना पड़ा है।

5. **पेशे के अप्रतिबन्धित चुनाव का अभाव**– प्रायः प्रत्येक जाति का एक परम्परागत व्यवसाय होता है जो पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तान्तरित होता रहता है। कई जातियों के नाम से ही उनके व्यवसाय का बोध होता है। प्रत्येक जाति यह चाहती है कि उसके सदस्य निर्धारित जातिगत व्यवसाय ही करें। अन्य जातियों के लोग भी किसी व्यक्ति को अपना जातीय व्यवसाय बदलने से रोकते हैं किन्तु कुछ व्यवसाय ऐसे हैं जैसे कृषि, व्यापार एवं शासकीय नौकरी जिनमें सभी जातियों के व्यक्ति काम करते हैं। मुगलकाल से ही जाति पर पेशे सम्बन्धी नियंत्रण शिथिल हो गये थे। बेन्स का मत है कि ''जाति का पेशा परम्परागत होता है, परन्तु यह किसी अर्थ में आवश्यक नहीं कि उसी के द्वारा सब या अधिकतर जातियां अपनी जीविका का निर्वाह करती हैं।

6. **विवाह सम्बन्धी प्रतिबन्ध**– जाति की प्रमुख विशेषता यह है कि इसके सदस्य अपनी जाति अथवा उपजाति में ही विवाह करते हैं। जाति या उपजाति से बाहर विवाह करने वाले को जाति से बहिष्कृत कर दिया जाता है। स्टरमार्थ ने तो जाति–अन्तर्विवाह को जाति का सारतत्व माना है। यद्यपि कुछ पर्वतीय जातियों एवं दक्षिण के नम्बूदी ब्राह्मणों में अपने से निम्न जातियों की लड़कियों से विवाह करने की प्रथा भी पायी जाती है, किन्तु यह अपवाद ही कहा जायेगा। जाति अन्तर्विवाह के प्रचलन के बारे में गेल का मत है कि इसका उद्देश्य जाति मिश्रण एवं उपजातियों की संख्या में वृद्धि को रोकना था।

उपर्युक्त विशेषताओं के अतिरिक्त जाति की कुछ अन्य विशेषताएं इस प्रकार हैं

7. **जन्मजात सदस्यता**– जाति की सदस्यता जन्मजात होती है। एक व्यक्ति जिस जाति में जन्म लेता है, मृत्युपर्यन्त उसी में बना रहता है। शिक्षा, धर्म, व्यवसाय एवं गुणों में वृद्धि करने से जाति नहीं बदली जा सकती। किन्तु हट्टन ने कुछ ऐसे उदाहरण भी दिये हैं जिनमें जाति की सदस्यता पूर्णतः जन्मजात नहीं होती है। ये जातियां हैं मालाबार की अम्लवासी व उड़ीसा की शर्दिग–पेशा, चासा आदि।

8. **जाति का राजनीतिक रूप**– डॉ. सक्सेना का मत है कि जाति एक राजनीतिक इकाई भी है, क्योंकि प्रत्येक जाति व्यावहारिक आदर्श के नियम प्रतिपादित करती है और अपने सदस्यों पर उनको लागू करती है। जाति पंचायत, उसके कार्य और संगठन जाति के राजनीतिक पक्ष के ही प्रतीक हैं। जाति के द्वारा विधायिका सरीखा, न्यायिक और निष्पादित इकाई का रूप मिलता है। उच्च जातियों की अपेक्षा निम्न जातियों में जाति पंचायतों का संगठन अधिक सुदृढ़ होता है। जाति पंचायत के सदस्य साधारणतः वंशानुगत होते हैं। ब्रिग्ज (Briggs) ने लिखा है कि जाति के कल्याण और सुरक्षा सम्बन्धी सभी कार्य जाति पंचायत के अधिकार क्षेत्र में आते हैं। वर्तमान में जाति पंचायतों का कार्य–क्षेत्र सीमित हो गया है। कुछ समय पूर्व तक ग्रामीण सामाजिक–आर्थिक प्रणाली में राजनीतिक सत्ता और विशेषाधिकार उन संप्रभु जातियों (Dominant Castes) के पास रहे हैं जिनके पास गांव की अधिकतम भूमि रही है और जो सामाजिक संस्तरण में भी उच्च स्थान पर रही हैं।

टिप्पणी

किन्तु जाति की इन विशेषताओं में वर्तमान समय में बहुत कुछ परिवर्तन आया है जिसके परिणामस्वरूप जाति के संरचनात्मक एवं सांस्कृतिक स्वरूप में परिवर्तन हुआ है।

### 3.3.3 जाति के परिवर्तनशील प्रतिमान

संसार परिवर्तनशील है। प्रत्येक सामाजिक संस्था अपने जन्म के पश्चात् से किसी–न–किसी रूप में परिवर्तित अवश्य होती आई है। अन्य शब्दों में, समय, आवश्यकताओं तथा परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ–साथ सामाजिक संस्थाओं में भी स्वरूपगत बदलाव होते रहते हैं। यदि जाति–व्यवस्था के इतिहास पर हम दृष्टि डालें तो हमें ज्ञात होगा कि वैदिक काल से आधुनिक काल तक जाति व्यवस्था के स्वरूपों में पर्याप्त अन्तर आ गया है। विभिन्न कालों में जाति का स्वरूप निम्न प्रकार का था–

1. **वैदिक काल में जाति–व्यवस्था**– वैदिक युग के समाज में जाति व्यवस्था का प्रचलन न होकर वर्ण व्यवस्था का प्रचलन था। 'ऋग्वेद' के अनुसार वर्ण का निर्धारण कर्म के आधार पर होता था। जो व्यक्ति जैसा कर्म करता था उसको वैसा ही वर्ण प्राप्त होता था। समाज में चार वर्ण थे–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र। इन चारों वर्णों का निर्धारण कर्म के द्वारा ही होता था। प्रत्येक ब्राह्मण अपने कर्म बदलकर दूसरे वर्ण में प्रवेश कर सकता था। अन्तरवर्णीय विवाह होते थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय कन्याओं से विवाह कर सकते थे। एक वर्ण के सदस्य दूसरे वर्ण के सदस्यों के यहां भोजन कर सकते थे। छुआछूत की भावना का अभी तक उदय नहीं हुआ था। शूद्रों के साथ अधिक बुरा व्यवहार नहीं होता था। उनके द्वारा बनाया गया भोजन भी खाने योग्य माना जाता था।
2. **उत्तर वैदिक काल में जाति व्यवस्था**–ऋग्वेदकाल के पश्चात् का युग उत्तर वैदिक काल कहलाता है। इस युग में सामाजिक जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। ऐसा माना जाता है कि वैदिक युग की वर्ण–व्यवस्था ने इस काल में जाति व्यवस्था का रूप धारण कर लिया। ब्राह्मणों व क्षत्रियों को विशेष अधिकार प्रदान किये गये। शूद्रों की दशा अत्यन्त शोचनीय हो गई। उच्च वर्ग उनके साथ कठोरता के साथ व्यवहार करने लगा। लुहार, बढ़ई, चमार, रथ निर्माता आदि अनेक उपजातियां अस्तित्व में आ गई। अन्तर्जातीय विवाहों को हेय दृष्टि से देखा जाने लगा। अनुलोभ विवाहों का प्रचलन अभी भी था, परन्तु उनसे उत्पन्न संतानों को हीन दृष्टि से देखा जाता था। इस पर भी जाति व्यवस्था में उतनी कठोरता नहीं आई थी।
3. **प्राचीनकाल में जाति–व्यवस्था**– सूत्रकाल से हर्षकाल तक जाति–व्यवस्था में अनेक परिवर्तन आये। अब जाति–व्यवस्था दिन–प्रतिदिन जटिल होती गई। पहले तो वर्ण व्यवस्था मुक्त थी, अब वह अमुक्त हो गई थी। शूद्रों के प्रति हीन भाव बढ़ता गया और ब्राह्मणों की स्थिति दिन–प्रतिदिन दृढ़तर होती गई। गुप्तकाल तक ब्राह्मणवाद का बोलबाला था। छुआछूत का प्रचलन भी बढ़ता गया। इस समय तक जाति व्यवस्था की जड़ें हिन्दू समाज में फैल गई।
4. **मध्य युग में जाति–व्यवस्था**–मध्यकाल में अनेक उपजातियों का जन्म हुआ। इस युग में मुसलमानों के आक्रमण हुए। परिणामस्वरूप ब्राह्मणों ने जाति व्यवस्था को दृढ़ बनाने का प्रयास किया। प्रादेशिक सीमाओं के आधार पर अनेक

टिप्पणी

जातियों ने जन्म लिया; जैसे कान्यकुब्ज, तेलुगु, गौड़ आदि। समाज में ब्राह्मणों को पर्याप्त आदर दिया जाने लगा। इस युग में क्षत्रिय स्वयं को ब्राह्मणों के समकक्ष समझने लगे। अलबरूनी के अनुसार क्षत्रियों को ब्राह्मणों से अधिक सुविधाएं प्राप्त थी। समाज में सबसे अधिक शोचनीय दशा शूद्रों की थी। शूद्र भी अनेक उपजातियों में विभक्त हो गए। इस काल में 'कायस्थ' नामक एक नवीन जाति का उदय हुआ। कायस्थ सम्भवतः पढ़ने लिखने का कार्य करते थे। कायस्थों की भी आगे चलकर अनेक उपजातियां हो गईं। जातियों और उपजातियों के कारण समाज में विघटन और विभाजन की प्रवृत्ति अधिक होने लगी। इस युग में जाति प्रथा कठोर व अनेक सामाजिक अवगुणों से युक्त हो गई।

5. **आधुनिक युग में जाति–व्यवस्था**–ब्रिटिश शासन काल में ब्राह्मणों को विशेष महत्व दिया जाने लगा, अतः वे अधिक शक्तिशाली हो हुए। अंग्रेजों ने सार्वजनिक प्रशासन में ब्राह्मणों को प्रत्येक प्रकार की सुविधाएं प्रदान कीं। इसका कारण यह था कि ब्राह्मण उनकी आय के प्रमुख साधन थे। 1767 में 'ईस्ट इंडिया कम्पनी' ने जाति अदालत लगाई, जिसमें ब्राह्मणों को और अधिक शक्ति प्रदर्शन का अवसर मिला। श्री नर्मदेश्वर प्रसाद के शब्दों में, 'ब्रिटिश शासन के अंतर्गत ब्राह्मणवाद अत्यधिक सुरक्षित हो गया। (Brahmanisma got fortified under the British Period – N. Prasad) परन्तु अनेक विद्वानों का कथन है कि अंग्रेजी शासनकाल में जाति प्रथा की संरचना में आधारभूत परिवर्तन होने लगे। आधुनिक युग में जाति व्यवस्था में परिवर्तन हुए हैं, जिनमें से प्रमुख परिवर्तन इस प्रकार हैं–

   - आज जातीय संस्तरण का रूप परिवर्तित होता जा रहा है; क्योंकि प्रदत्त स्थिति के स्थान पर अर्जित गुणों का महत्व बढ़ता जा रहा है।
   - जाति का परम्परागत व्यवसाय से जो सम्बन्ध था वह समाप्त हो गया है। आज किसी भी जाति का व्यक्ति कोई भी व्यवसाय अपना सकता है।
   - जातीय निषेधों में भी परिवर्तन हुए हैं, और विवाह, व्यवसाय, खान–पान तथा सहवास सम्बन्धी निषेध प्रायः समाप्त हो गये हैं।
   - निम्न जातियों की सामाजिक आर्थिक निर्योग्यताएं समाप्त हो गई हैं तथा उनकी सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति में सुधार हुआ है। भारतीय संविधान एवं कानून ने इस दिशा में विशेष योगदान दिया है।
   - प्रेम विवाहों तथा अन्तर्जातीय विवाहों के परिणामस्वरूप जाति की अन्तर्विवाही विशेषताएं समाप्त हो गई हैं।

## जाति–पोषक तत्व या सहायक दशाएं

समय के साथ–साथ प्रत्येक संस्था में कुछ न कुछ परिवर्तन होते हैं। आधुनिक भारत में जाति प्रथा के रूप में भी विभिन्न प्रकार के परिवर्तन हुए हैं तथा आज भी हो रहे हैं। इन परिवर्तनों के बावजूद हम ऐसा नहीं कह सकते हैं कि यह प्रथा हमारे समाज से समाप्त हो रही है। आज भी ऐसे तत्व हैं जो इसे बनाये रखने में सहायता प्रदान कर रहे हैं। भारत में जाति–प्रथा का पोषण या इसे स्थायी करने वाले प्रमुख तत्व निम्नलिखित हैं–

टिप्पणी

1. **अज्ञानता**–भारत में शिक्षा का अभाव रहा है। आज भी भारत की लगभग आधी जनसंख्या अशिक्षित है। विज्ञान के प्रति देशवासियों की भावनाओं का पूर्ण विकास नहीं हुआ है। अज्ञानता के कारण अनेक अंधविश्वासों ने जाति की नींव दृढ़ बना दी है।
2. **धर्म का प्रभाव**–भारतीय समाज का विश्वास है कि जाति की उत्पत्ति स्वयं ब्रह्मा जी ने अपने अंगों से की है। अतएव जाति प्रथा के विरुद्ध आवाज उठाना स्वयं भगवान का विरोध करना है। हिन्दुओं में यह मान्यता भी पाई जाती है कि अमुक जाति की सदस्यता उसके पिछले जन्मों का ही फल है।
3. **विदेशी आक्रमण**–भारत पर विदेशी जातियों ने आक्रमण किया, जिनसे सुरक्षा करने के लिए भारत में जाति के बंधन ढीले हो गए। भारतीय जातियों ने विदेशी रक्त से अपनी शुद्धता की रक्षा के लिए कठोरता से जाति के नियमों का पालन किया।
4. **भौगोलिक पृथकता**–भारत में यातायात के साधनों का अभाव रहा है, अतएव एक स्थान के निवासी भौगोलिक दूरी के कारण दूसरे स्थान के निवासियों से न मिल सकें। इसी कारण विभिन्न स्थानों पर जातीय संगठन दृढ़ हो गए।
5. **प्रजातियों में विभिन्नता**–देश में विभिन्न प्रजातियां निवास करती हैं। उनके रीति–रिवाजों व परम्पराओं में विभिन्नता पाई जाती है जिनको जाति प्रथा के द्वारा शक्ति मिलती है। अनेक विद्वानों का कहना है कि जाति–प्रथा की उत्पत्ति ही प्रजातीय भिन्नता से हुई है।
6. **ग्रामीण सामाजिक ढांचा**–भारत ग्रामीण समुदायों का देश है जहां पर प्राचीन रूढ़ियों व रीति–रिवाजों तथा जाति के कठोर नियमों का कठोरता से पालन किया जाता है। इससे भारत में जाति व्यवस्था का पाया जाना स्वाभाविक है।
7. **गतिहीन समाज**–भारत की राजनीति में धार्मिक व आर्थिक नीतियों में अंतर नहीं रहा है। इसलिए प्राचीन रूढ़ियां भारत में पनपती रही हैं। उनमें परिवर्तन के कारकों का भी विरोध रहा है। जिसके कारण जाति–प्रथा पनपती रही है।

### 3.3.4 जाति व्यवस्था – तीन परिप्रेक्ष्य

भारतीय जाति व्यवस्था विचित्र, जटिल तथा रोचक है। धर्म की सीमा से बाहर हिन्दुओं का जो कुछ अपनापन है, उसकी अनोखी अभिव्यक्ति ही जाति प्रथा है। जाति शब्द की उत्पत्ति पुर्तगाली शब्द कास्टा (Casta) से हुई है जिसका अर्थ प्रजाति, जन्म या भेद होता है। Caste शब्द का लैटिन शब्द 'Castus' से भी घनिष्ठ सम्बन्ध है और इसका अर्थ 'विशुद्ध' या 'अभिश्रित' या 'जाति' है। इस प्रकार जाति का अर्थ वंशानुक्रम है। स्पष्ट शब्दों में, जाति–प्रथा जन्मगत भेद के आधार पर एक व्यवस्था का नाम है। इसके अन्तर्गत ऊंच–नीच का जो संस्तरण होता है, उसका व्यवसाय, धन, शिक्षा या धर्म न होकर केवल जन्म होता है।

भारतीय जाति व्यवस्था में सावधानीपूर्वक अनुसंधान के पश्चात भी निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता है कि इस जटिल संस्था के निर्माण और विकास में किन–किन अवस्थाओं का योगदान रहा होगा? इतना अवश्य कहा जा सकता है कि

टिप्पणी

इस संस्था के सम्बन्ध में विभिन्न दृष्टिकोणों से अध्ययन भी सर्वाधिक हुआ है। वेद महाकाव्य, पुराण आदि के लेखकों से लेकर अनेक यूरोपीय तथा भारतीय विद्वानों तक ने जाति व्यवस्था के सम्बन्ध में अध्ययन किए हैं और अपने–अपने सिद्धान्त प्रस्तुत किए हैं, उनमें से कुछ परिप्रेक्ष्य इस प्रकार हैं–

• **इंडोलॉजिकल परिप्रेक्ष्य**– यह डा. घुरिये द्वारा प्रतिपादित किया गया था। आपका सिद्धान्त इस निष्कर्ष को लेकर प्रारम्भ होता है कि जाति व्यवस्था के कुछ पहलुओं का जन्म गंगा के मैदान में हुआ था क्योंकि यहां पर ब्राह्मणों से सम्बन्धित इण्डो–आर्यन सभ्यता का विकास हुआ था। इण्डो–आर्यन प्रजाति भारत में ईसा के 2500 वर्ष पूर्व आई और इसने यहां के आदिवासियों को हराकर पवित्रता की भावना और अपनी विजय पर गर्व होने के कारण इन लोगों ने यहां के आदिवासियों को सदैव ही अपने से दूर रखा।

इण्डो–आर्यन जब भारत में आए तो उनमें कम से कम तीन स्पष्ट वर्ग थे जिनमें आपस में प्रायः विवाह नहीं होता था। यद्यपि ऐसे विवाह बिल्कुल निषिद्ध नहीं थे। भारत में आने पर उन्होंने सर्वप्रथम यहां के आदिवासियों से बने शूद्रों को अपनी धार्मिक पूजा आदि से पृथक कर दिया और उनके साथ विवाह करने पर कठोर प्रतिबंध लगाया। इस प्रकार डा. घुरिये के मतानुसार जाति–प्रथा के विविध तत्व आर्यों के उन प्रयत्नों के परिणाम हैं जो उन्होंने भारत के आदिवासियों और शूद्रों को ब्राह्मण सभ्यता के धर्म और सामाजिक संसर्ग से पृथक रखने के लिए किए।

डा. घुरिये के अनुसार अन्तर्विवाह की उत्पत्ति सर्वप्रथम गंगा के मैदान में रहने वाले ब्राह्मणों में हुई थी और वहीं से अन्तर्विवाह की धारणा और जाति–प्रथा के अन्य तत्व ब्राह्मणों के अनुयायियों ने देश के दूसरे भागों में फैलाए। शारीरिक शुद्धता और सांस्कृतिक दृढ़ता को बनाए रखने के लिए ब्राह्मणों के द्वारा किए गए प्रयत्नों के फलस्वरूप ही विभिन्न वर्ग एक–दूसरे से अलग रहे और जाति–प्रथा की संरचना का निर्माण किया। इस प्रकार जाति–प्रथा को जन्म देने का श्रेय ब्राह्मणों को जाता है। दूसरे शब्दों में जाति प्रथा इण्डो–आर्यन संस्कृति के ब्राह्मणों का बच्चा है।

- **सामाजिक–मानव शास्त्रीय परिप्रेक्ष्य**– सामाजिक मानव शास्त्रियों द्वारा जाति व्यवस्था का सांस्कृतिक दृष्टि से अध्ययन किया गया है। हट्टन के संगठनात्मक तथा संरचनात्मक अध्ययनों द्वारा जाति प्रथा को केवल भारत में पाई जाने वाली व्यवस्था माना गया है। इसके विपरीत क्रोएबर और रिस्ले के संस्थागत दृष्टिकोण के अनुसार जाति व्यवस्था केवल भारत में ही प्रासंगिक नहीं है, अपितु यह प्राचीन मिस्र, मध्यकालीन यूरोप तथा वर्तमान दक्षिणी संयुक्त राज्य अमेरिका में भी पाई जाती है। सम्बन्धवाद दृष्टिकोण द्वारा जाति व्यवस्था आर्मी, व्यवसाय तथा फैक्ट्री में भी पाई जाती है। यह दृष्टिकोण पुनः वर्णित करता है कि किसी समाज में जाति व्यवस्था की उपस्थिति अथवा अनुपस्थिति वहां के समूहों की गतिशीलता की उपस्थिति अथवा अनुपस्थिति पर निर्भर करती है। अगर गतिशीलता सामान्य है तो उस समाज में कोई जाति व्यवस्था नहीं होगी अथवा किसी समाज में गतिशीलता नहीं होती है तो वहां जाति व्यवस्था उपस्थित होगी।
- **सामाजिक परिप्रेक्ष्य**– समाज शास्त्रियों ने जाति व्यवस्था का स्तरीकरण के अनुसार अध्ययन किया है। वे जाति व्यवस्था का एक समाज के सामाजिक

टिप्पणी

स्तरीकरण के अनुरूप ही अध्ययन करते हैं। वे जाति–व्यवस्था का सामाजिक असमानता के एक उपागम के रूप में अध्ययन करते हैं। उनके अनुसार समाज के अनेक संरचनात्मक पहलू होते हैं और ये अपने सदस्यों को सामाजिक पदों पर वितरित करते हैं। सामाजिक संरचना का मुख्य आधार अंतःक्रिया है तथा अंतःक्रियाओं के प्रकार सम्बन्धित मानदंडों के साथ सामाजिक संरचनाओं को वर्गीकृत करते हैं।

### अपनी प्रगति जांचिए

3. जाति व्यवस्था का डॉ. घुरिये द्वारा प्रतिपादित परिप्रेक्ष्य निम्न में से कौन–सा है?

   (क) सामाजिक परिप्रेक्ष्य (ख) इंडोलॉजिकल परिप्रेक्ष्य

   (ग) मानव शास्त्रीय परिप्रेक्ष्य (घ) इनमें से कोई नहीं

4. "जब एक वर्ग आनुवंशिक होता है तो हम उसे जाति कहते हैं।" जाति की यह परिभाषा किसने दी?

   (क) चार्ल्स कूले (ख) रिजले

   (ग) मैकाइवर व पेज (घ) केतकर

## 3.4 सामाजिक प्रक्रियाएं

मनुष्य समाज में रहते हुए अपना जीवनयापन करता है जिसके लिये उसे अनेक प्रकार के कार्य करने की जरूरत होती है। इन कार्यों में मनुष्य का अन्य मनुष्यों के साथ संपर्क होता है एवं संबंध भी बनते हैं। इसके फलस्वरूप मानवीय अंतर्क्रियाओं एवं प्रक्रियाओं का प्रादुर्भाव भी होता है। ऐसा नहीं है कि सब कुछ अच्छा–अच्छा ही चलता रहे।

### 3.4.1 सामाजिक प्रक्रियाओं की प्रकृति, प्रतियोगिता एवं संघर्ष

समाज में सिर्फ सामाजिक प्रक्रियाएं ही घटित नहीं होती हैं जो कि सहयोगात्मक एवं सृजनशील हों वरन् असहयोगात्मक भी होती हैं। हमारे समाज में अनेक व्यक्ति या समूह इस प्रकार की सामाजिक प्रक्रियाएं भी करते हैं जो कि असहयोगात्मक होती हैं। असहयोगात्मक सामाजिक प्रक्रियाएं आवश्यक नहीं है कि समाज के अहित में हों तथापि अनेक असहयोगात्मक प्रक्रियाएं समाज की वर्तमान एवं स्थापित मान्यताओं में वांछित परिवर्तन करने के उद्देश्य से भी की जाती हैं।

असहयोगात्मक सामाजिक प्रक्रियाओं का अर्थ एवं प्रकार समझना इसलिए भी आवश्यक है ताकि परिस्थितिजन्य विषमताओं का विशुद्ध रूप से आकलन किया जा सके। मनुष्य किन स्थितियों में संघर्ष एवं असहयोग की क्रियाएं करने पर विवश होता है? संघर्ष एवं प्रतियोगिता के समाज पर पड़ने वाले प्रभावों के परिप्रेक्ष्य में सामाजिक प्रक्रियाओं एवं उनकी अंतर्क्रियाओं का विस्तृत विवेचन करना अति महत्वपूर्ण विषय है जो समाजशास्त्र की गहनता का परिचायक है।

टिप्पणी

## सामाजिक प्रक्रिया की परिभाषाएं

मनुष्य समाज में रहकर अनेक प्रकार की क्रियाएं करते हुए जीवन व्यतीत करता है। समाज के व्यक्तियों एवं समाज के मध्य अनेक पारस्परिक अंतःक्रियाएं होती हैं जिनसे मनुष्यों के हितलाभ पूर्ण होते हैं। सभी मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति भी इन्हीं क्रियाओं एवं अंतःक्रियाओं के माध्यम से पूर्ण करते हैं। सामाजिक प्रक्रियाओं को समझने के लिए सामाजिक प्रक्रिया की परिभाषाओं को समझना अनिवार्य होता है। अनेक विद्वानों ने सामाजिक प्रक्रियाओं को अपने–अपने ढंग से परिभाषित किया है। कुछ परिभाषाएं निम्न प्रकार से हैं–

मैक्स लर्नर के अनुसार, "सामाजिक प्रक्रिया के मूल में, समाज के निरंतर रूप से परिवर्तित होने वाले परिवर्तन एवं प्रवाह का अभिप्राय होता है।"

गिलिन एवं गिलिन के अनुसार, "सामाजिक प्रक्रियाओं से हमारा अभिप्राय अंतःक्रियाओं की उन विधियों से होता है जिनसे, हम व्यक्तियों एवं समूहों के मिलने पर, संबंधों की एक व्यवस्था की स्थापना करते हैं, अर्थात् जीवन की प्रचलित विधियों में कुछ गलत होता है तो उन्हें हम देख सकते हैं।"

वॉन वीज़ के अनुसार, "सभी व्यक्ति या तो एक–दूसरे से संबंधित होते हैं या फिर आपस में जुड़े हुए होते हैं तथा एक–दूसरे पर निर्भर होते हैं। सामाजिक प्रक्रिया किसी भी सामाजिक संबंध का गतिशील पहलू होता है।"

उपरोक्त परिभाषाओं के माध्यम से स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य की सामाजिक प्रक्रिया का मूलतत्व 'अंतःक्रिया' होती है। अंतःक्रिया, समाज के मनुष्यों के परस्पर संपर्क में आने पर होने वाली क्रिया होती है।

गिलिन एवं गिलिन ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'सांस्कृतिक समाजशास्त्र' में स्पष्ट किया है कि सामाजिक प्रक्रिया वास्तव में असामाजिक अंतःक्रिया ही है। अंतःक्रिया एक से अधिक व्यक्तियों के मध्य हो सकती है या फिर एक से दूसरे समूह में भी हो सकती है। अंतःक्रिया का सबसे प्रमुख घटक एवं तत्व परस्पर संपर्क होता है। संपर्क के माध्यम से पारस्परिक सूचनाओं या क्रियाओं का आदान–प्रदान संचार के माध्यम से होता है। अतः सामाजिक प्रक्रिया का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष, संपर्क एवं संचार होता है। मनुष्य संपर्क एवं संचार के द्वारा ही एक–दूसरे के साथ अंतःक्रियायें एवं फलतः सामाजिक क्रियाएं करते हैं। संघर्ष भी एक सामाजिक प्रक्रिया होती है।

## सामाजिक प्रक्रियाओं हेतु आवश्यक स्थितियां

सामाजिक प्रक्रियाएं मनुष्यों द्वारा संपर्क करने एवं संचार के माध्यम से पूर्ण होती हैं। जब दो व्यक्ति आपस में बातचीत करते हैं या किसी वस्तु का आदान–प्रदान करते हैं तो एक अंतःक्रिया होती है जो कि सामाजिक प्रक्रिया है। अब यहां पर इस प्रश्न का उत्तर देना भी अनिवार्य हो जाता है कि सामाजिक प्रक्रियाएं किन स्थितियों में घटित होती हैं? या वे कौन–सी स्थितियां या दशाएं हैं जिनमें मनुष्य अन्य मनुष्यों के साथ सामाजिक क्रियाएं करते हैं? किंग्सले डेविस के अनुसार मनुष्यों के संबंधों की अर्थपूर्ण सूची बनाना एक ऐसा विषय है जो कभी समाप्त नहीं हो सकता इसलिए मानव की अंतःक्रियाओं का वर्गीकरण सामान्य आधार पर ही किया जाना चाहिए। इस आधार पर

टिप्पणी

हम सामाजिक प्रक्रिया को अंतःक्रिया के ही संबंध में रखकर समझने का प्रयास करेंगे। प्रमुख अंतर्क्रियाएं निम्नलिखित हैं–

- संघर्ष
- प्रतियोगिता
- सहयोग।

उपरोक्त अंतर्क्रियाओं को निम्नलिखित आधार पर समझते हुए हम यह जान सकते हैं कि सामाजिक प्रक्रियाओं के पूर्ण होने के लिए संपर्क एवं संचार प्रमुख हैं–

1. **सामाजिक संपर्क**– पारिभाषिक रूप से संपर्क में सामाजिक क्रिया का समावेश होता है एवं संपर्क के माध्यम से आवश्यक रूप से भौतिक एवं संवेगात्मक माध्यम की जरूरत होती है। संपर्क के लिए शरीर का एक अंग दूसरे व्यक्ति के शरीर के संपर्क में लाया जाना अनिवार्य होता है परंतु अनिवार्य रूप से, अंतःक्रिया करने वाले व्यक्तियों या समूहों के मध्य परोक्ष या अपरोक्ष रूप से संवेदनात्मक उद्दीपन का होना अनिवार्य होता है। जैसे कि–स्पर्श करना।
2. **संचार**–संचार या संवहन का अनिवार्य लक्षण यह है कि एक व्यक्ति, दूसरे व्यक्ति के व्यवहारों से यह अनुमान लगा सके कि वह व्यक्ति किस प्रकार के विचार या संवेदना प्रकट करना चाहता है। यह विचार उस व्यक्ति के व्यवहार को ही प्रकट नहीं करता वरन् यह भी प्रकट करता है कि अमुक व्यक्ति का अनुमानित विचार या भावना किस प्रकार की है? जैसे कि–संवाद करना या बोलना।

उपरोक्त दशाओं से स्पष्ट होता है कि अंतःक्रियाओं के वर्गीकरण के लिए सामाजिक संपर्क की प्रकृति को ध्यान में रखना भी अनिवार्य है।

हमारे समाज में मनुष्य आपस में बोलकर, हंसकर, गले मिलकर, हाथ मिलाकर या आंखों द्वारा देखकर एक–दूसरे व्यक्ति के साथ सामाजिक प्रक्रियाएं करते हैं।

## सामाजिक प्रक्रियाओं के प्रकार

हमारा संपूर्ण समाज पारस्परिक रूप से होने वाली सामाजिक क्रियाओं द्वारा एक–दूसरे में अंतर्निहित रहता है तथा हम एक–दूसरे की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं, उदाहरणार्थ– यदि हम किसी व्यक्ति को घूरकर देखते हैं तो एक घृणा एवं ऋणात्मक सोच का भाव उत्पन्न होता है तथा इस प्रक्रिया के स्वरूप में संघर्ष रूपी स्थिति उत्पन्न हो सकती है वहीं पर यदि हम किसी को देखकर प्यार से मुस्कराएं तो एक धनात्मक ऊर्जा का संचार होगा और एक पारस्परिक सहयोग की सामाजिक प्रतिक्रिया का संचार होगा।

मनुष्य समाज में रहकर दूसरे व्यक्तियों के साथ किस प्रकार की सामाजिक प्रक्रियाएं कर रहे हैं? इसको अनेक प्रकार से देखा एवं समझा जा सकता है। यह प्रक्रिया सहयोगात्मक अथवा असहयोगात्मक अथवा मिश्रित प्रकार की भी हो सकती है। अतः सामाजिक प्रक्रियाएं कभी भी एक ही निश्चित प्रकार एवं ढंग से नहीं हो सकती वरन किसी भी एक प्रकार या मिश्रित प्रकार की हो सकती हैं। कार्ल मार्क्स का सिद्धांत यह स्पष्ट करता है कि मनुष्य ने जो भी विकास किया है वह संघर्ष का ही परिणाम

टिप्पणी

है, क्योंकि मनुष्य का स्वभाव है कि वह अपने लिए सुखद स्थितियां तथा एक सौहार्दपूर्ण वातावरण बना कर रखे। प्रकृति के साथ मानव संघर्ष के ही परिणामस्वरूप मनुष्य अपने वर्तमान स्वरूप को प्राप्त कर पाता है।

डारविन का सिद्धांत भी इसी मत की पुष्टि करता है। वर्तमान समय में प्रकार्यवादी एवं संघर्षवादी सिद्धांतकारों में यह मतैक्य स्थापित है कि सामाजिक प्रक्रियाएं सहयोगात्मक एवं असहयोगात्मक दोनों प्रकार की होती हैं तथा समाज में साहचर्य एवं संघर्ष दोनों ही साथ–साथ चलते रहे हैं। उदाहरण के लिए, भारतीय परिवार में परिवार के सदस्यों के मध्य संबंध मधुरतापूर्वक होते हुए भी अक्सर किसी एक बात को लेकर विवाद या नोक–झोंक हो जाती है। परंतु इस मामूली विवाद या संघर्ष के कारण, परिवार या संबंधों में निकटता भी रहती है। यदि परिवार के सदस्यों की समझ उद्देश्य के प्रति जागरूकता की हो तो परिवार की एकता एवं माधुर्य बना रहता है वरना तो परिवारों के मध्य असहयोगात्मक प्रक्रियाएं घटित होने लगेंगी। फलस्वरूप संघर्ष, बिखराव एवं विचलन उत्पन्न होने पर, परिवार के सदस्यों में पृथकता आ जाएगी।

उपरोक्त आधार पर हम कह सकते हैं कि सामाजिक प्रक्रियाएं दो प्रकार की होती हैं–

1. सहयोगात्मक सामाजिक प्रक्रियाएं और
2. असहयोगात्मक सामाजिक प्रक्रियाएं।

### 1. सहयोगात्मक सामाजिक प्रक्रियाएं

जिन सामाजिक प्रक्रियाओं में पारस्परिक सहयोग एवं सहायता करने का भाव होता है उन्हें सहयोगात्मक सामाजिक प्रक्रियाएं कहा जाता है। जिस प्रकार माता–पिता अपनी संतान की भलाई के लिए अनेक प्रकार के प्रयास करते हैं ताकि उनकी संतान सुखी एवं समृद्धशाली भविष्य बना सके। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए माता–पिता अपनी संतान के समुचित पालन–पोषण की व्यवस्था तो करते ही हैं साथ ही यह भी प्रयास करते हैं कि संतान के लिए इस प्रकार की व्यवस्था बनाई जाये कि उद्देश्य प्राप्ति सरल हो जाए। घर में एक सकारात्मक माहौल बनाकर रहना भी सहयोग की भावना का एक प्रतीक है। इसी प्रकार से सामाजिक जीवन में यातायात के नियमों का पालन करना भी एक सामाजिक प्रक्रिया है जो सहयोगात्मक प्रकृति ही है। यदि हम इनके विपरीत आचरण करें तो वे प्रक्रियाएं असहयोगात्मक प्रकृति की होती हैं।

सहयोगात्मक सामाजिक प्रक्रियाएं अनेक प्रकार की हो सकती हैं। निम्नलिखित शीर्षकों की सहायता से सहयोगात्मक प्रक्रियाओं को स्पष्ट किया जा रहा है–

(क) सहयोग

(ख) व्यवस्थापन

(ग) एकीकरण

(घ) सात्मीकरण

टिप्पणी

## (क) सहयोग

मनुष्य अपने जीवन में सहयोग लेकर एवं देकर ही अपने लक्ष्यों की पूर्ति करता है क्योंकि कोई भी सामाजिक व्यक्ति, स्वयं में पूर्ण नहीं हो सकता तथा अपनी आवश्यकताओं के लिए अन्योन्याश्रित रहना ही पड़ता है। समाज में एक–दूसरे की सहायता करके ही समाज एवं स्वयं को लाभ एवं सुख पहुंचाया जा सकता है। वहीं समाज विकास के पथ पर अग्रसर होता है जहां आपस में सहयोग भाव अधिक मात्रा में पाया जाता है। उदाहरण के लिए यदि किसी हाइवे या रोड पर कोई वृक्ष टूटकर गिर गया हो तो कोई अकेला व्यक्ति, अन्य व्यक्तियों की सहायता से वह अवरोध हटा सकता है परंतु कोई अकेला व्यक्ति अन्य व्यक्तियों की सहायता के बिना नहीं हटा सकता। अतः स्पष्ट हुआ कि समाज में मानव क्रियाएं आपसी सहयोग पर ही आधारित हैं। मनुष्यों की अनेक शारीरिक एवं मानसिक आवश्यकताएं भी इसी सीमा में आती हैं। पुरुष या स्त्री का दैहिक सुख के लिए एक–दूसरे पर निर्भर होना एक प्राकृतिक आवश्यकता है। परिवार में आजीविका अर्जित करने वाले पुरुष के द्वारा सहयोग करना पूरे परिवार के सदस्यों के लिए एक सहयोग की भावना का द्योतक है। चूंकि इन सभी की आवश्यकताएं परस्पर एक–दूसरे पर निर्भर हैं अतः इससे सहयोग की भावना आ जाती है।

उपरोक्त आधार पर हम समझ सकते हैं कि सामाजिक क्रिया के अंतर्गत कोई भी सामाजिक व्यक्ति, अपने स्वार्थ एवं उद्देश्य की पूर्ति के लिए अन्य व्यक्तियों से सहायता लेकर या देकर प्रयोजन सिद्ध करता है। मेरिल एवं एल्ड्रिज ने सहयोग को इस प्रकार से परिभाषित किया है–

"सामाजिक अंतःक्रिया में यदि दो या दो से अधिक व्यक्ति किसी एक लक्ष्य की पूर्ति हेतु एक साथ मिलकर कार्य करते हैं तो इस रूप को सहयोग कहते हैं।"

फेयर चाइल्ड के अनुसार, "सहयोग एक प्रक्रिया होती है। इसके माध्यम से व्यक्ति या व्यक्तियों के कुछ संगठित समूह अपने सामूहिक प्रयासों को अपने सामान्य लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए संयुक्त रूप से करते हैं।"

## सहयोग की प्रकृति

उपरोक्त दी गई परिभाषाओं से स्पष्ट हुआ कि यदि कोई व्यक्ति या व्यक्तियों का कोई सूमह मिलकर किसी निश्चित कार्य को करते हैं या लक्ष्य की पूर्ति हेतु मिलकर एक साथ कार्य करते हैं तो यह प्रक्रिया सामाजिक सहयोग है। समाज में व्यक्तियों का एक साथ मिलकर कार्य करना सहयोग की प्रक्रिया होती है। यह एक प्राकृतिक एवं वांछित प्रक्रिया होती है तथा इस प्रकार से यह प्रक्रिया, मानव जीवन की एक नितांत महत्वपूर्ण एवं अनिवार्य दशा है। यदि मनुष्य, मनुष्य को सहयोग न करे तो मानव समाज, अपने वर्तमान स्वरूप में रह ही नहीं सकता वरन् समाज में एक अराजक एवं जंगलराज जैसी स्थिति उत्पन्न हो सकती है। सहयोग के द्वारा ही मनुष्य अपनी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं जैसे–

- भोजन, वस्त्र और आवास,
- मनोरंजन,
- चिकित्सा,

टिप्पणी

- स्वास्थ्य,
- विकास और
- शारीरिक सुख इत्यादि।

उपरोक्त वर्णित आवश्यकताओं के अतिरिक्त भी मनुष्य की अनेक स्वाभाविक जरूरतें समूह एवं सामूहिक रूप से कार्य करने पर पूर्ण होती हैं। मनुष्य स्वभाव से ही दूसरों पर निर्भर रहना चाहता है इसी कारण मनुष्य ने परिवार, समाज एवं कुटुम्ब आदि की रचना की है। मनुष्य समाज में रहकर बिना सहयोग लिये या दिये अपना जीवन सुचारु ढंग से नहीं चला सकता है। अतः सहयोग की प्रकृति वांछनीय एवं अनिवार्य प्रक्रिया है।

## (ख) व्यवस्थापन

जैसा कि नाम द्वारा ही स्पष्ट है कि यह एक ऐसी सहयोगात्मक सामाजिक प्रक्रिया है जिसमें समाज के व्यक्ति आपस में स्थितियों के अनुरूप ढालते हुए सहयोग करते हैं। अर्थात सभी मनुष्य, वास्तविक स्थितियों के अनुरूप सामंजस्य स्थापित करके सहयोग करते हैं। उदाहरण के लिए, किसी रेलगाड़ी के डिब्बे में यात्रा करते समय स्थान की उपलब्धता के अनुसार, यात्री स्वयं को समायोजित कर लेते हैं। यदि वे ऐसा नहीं करते तो यात्रियों द्वारा की गई क्रिया असहयोगात्मक प्रक्रिया कहलाती है। परंतु मानव स्वभाव में सहयोगात्मकता है तथैव यात्री, अधिकतर स्थितियों में स्वयं को स्थितियों के अनुसार परिवर्तित करके सहयोग कर लेते हैं। वर्तमान अवस्थाओं एवं स्थितियों के अनुसार अनुकूलन ही व्यवस्थापन होता है। जोन्स (Jones) के अनुसार, "व्यवस्थापन असहयोग करने के लिए एक प्रकार का समझौता है।"

अन्य समाजशास्त्रियों ने भी व्यवस्थापन की परिभाषाएं निम्नलिखित प्रकार से दी हैं–

पार्क एवं बर्गेस के अनुसार, "संपत्ति के अधिकार, मानव के प्रत्येक प्रकार के स्वार्थ, परिवार के संगठन एवं वर्ग एक प्रकार के संपूर्ण सामाजिक संगठन के व्यवस्थापन को ही प्रदर्शित करते हैं। इसका आशय यह हुआ कि प्राकृतिक रूप से उत्पन्न हुई मानव इच्छाओं की सीमाओं का निर्धारण किया जाता है।"

बीसेन्ज एवं बीसेन्ज के अनुसार, "एक अर्थ में, व्यवस्थापन समस्त औपचारिक सामाजिक संगठन का मूल होता है।"

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि व्यवस्थापन ऐसी सामाजिक प्रक्रिया होती है जिसके अंतर्गत मनुष्य समाज की यथास्थितियों के साथ समझौता करते हैं। इसका उद्देश्य सहयोग की भावना का प्रदर्शन किया जाना होता है। मानव समाज का विकास सहयोग की व्यवस्थापन प्रक्रिया द्वारा बहुत हद तक सहनशीलता पर निर्भर करता है। परंतु यह मानव विवेक पर निर्भर करता है कि वे दी गई वास्तविक एवं व्यावहारिक स्थितियों में किस सीमा तक अनुकूलन करके सहयोगात्मक रवैया अपनाते हैं। जब मनुष्यों की सहनशीलता टूटती है तो वे व्यवस्थापन के स्थान पर, संघर्ष या विरोध का मार्ग चुनते हैं। मार्ग समाज में अनेक प्रकार के संघर्षों या समस्याओं का उदय करने का कारण बनते हैं। परंतु यह देखा गया है कि हमारे समाज के व्यक्तियों में शिक्षा एवं संस्कृति के माध्यम से समाज के सभी व्यक्तियों को परोक्ष रूप से

टिप्पणी

व्यस्थापन करने की शिक्षा दी जाती है। गांधी जी का असहयोग आंदोलन इसी श्रेणी का आंदोलन था जिसमें स्थितियों के अनुसार समझौता करके सर्वसम्मति बनाये जाने पर अधिक विश्वास किया जाता है जो कि किसी हद तक मनुष्यों को स्वीकार्य भी रहा है।

## व्यवस्थापन के प्रकार

गिलिन एवं गिलिन के अनुसार व्यवस्थापन दो प्रकार के होते हैं–

1. समन्वित व्यवस्थापन और
2. प्रभुता अधीनस्थ व्यवस्थापन

1. **समन्वित व्यवस्थापन**– समाज में अनेक प्रकार से अनुकूलन करने की भी आवश्यकता रहती है। यह अनुकूलन यदि दो ऐसे व्यक्तियों या समूहों के मध्य हो रहा है जिनकी शक्ति एक समान हो तो इस प्रकार के व्यवस्थापन को समन्वित व्यवस्थापन कहते हैं। शक्ति का आकलन मनुष्यों की आर्थिक स्थिति या सामाजिक प्रतिष्ठा के अनुसार किया जाता है। यदि दो कंपनियां एक ही उत्पाद बनाकर बाजार में प्रतियोगिता करती हैं तो इनके मध्य समन्वित व्यवस्थापन हो सकता है। इसी प्रकार यदि दो समान शक्ति वाले राष्ट्रों को अनुकूलन करना हो तो वे इस प्रकार का व्यवस्थापन करके सहयोग की भावना द्वारा दोनों राष्ट्रों के हितों की रक्षा करते हैं तथा अनावश्यक टकराव को भी दूर कर सकते हैं। वर्तमान भारतीय समाज, विशेषकर नगरीय समाज में महिला के सशक्तिकरण के कारण, पति–पत्नी के मध्य, शक्ति संतुलन की स्थिति हो जाती है। इसमें पति या पत्नी दोनों ही पक्ष अपनी हार मानने को तैयार नहीं होते तथा संघर्ष का कारण बन जाते हैं। जब विवाद अधिक बढ़ जाता है तो पति–पत्नी न्यायालय की शरण लेते हैं। प्रथम दृष्टया, न्यायालय का प्रयास होता है कि दोनों पक्षों को समझा–बुझाकर या बातचीत के द्वारा व्यवस्थापन करा दिया जाए। यह व्यवस्थापन दोनों पक्षों की समान शक्ति के आधार पर किया जाता है। यदि दोनों पक्ष थोड़ा–थोड़ा अनुकूलन कर लेते हैं तो दाम्पत्य जीवन पुनः सुचारु रूप से चल सकता है।

2. **प्रभुता–अधीनस्थ व्यवस्थापन**– समाज में अनेक स्थितियां ऐसी भी आती हैं जब विपरीत शक्ति वाले व्यक्तियों या समूहों के मध्य अनुकूलन एवं सामंजस्य स्थापित करना पड़ता है। इस स्थिति में जिस पक्ष की शक्ति अधिक होगी वही व्यक्ति या समूह अपनी शर्तों के अनुरूप व्यवस्थापन की स्थिति बना लेता है, अर्थात इस स्थिति में निर्बल व्यक्ति या समूह के लिए, प्रबल व्यक्ति या समूह के लिए मान्य या अमान्य शर्तों को मानना मजबूरी हो जाता है। निर्बल व्यक्ति या समूह चाहकर भी शर्तों का विरोध नहीं कर पाता है। जिस प्रकार से ब्रिटिश शासनकाल में शासन द्वारा कृषक वर्ग से लगान के रूप में धन एवं अनाज वसूला जाता था। कृषक वर्ग की इच्छा के विरुद्ध तथा स्थिति के प्रतिकूल जाकर भी लगान देना विवशता ही होती थी।

   सामंती एवं पिछड़े हुए समाज में महिला को पुरुष की आधीनता स्वीकार करना इसी प्रकार के व्यवस्थापन का उदाहरण है।

टिप्पणी

## व्यवस्थापन की विधियां

समाज में अनेक विधियों एवं पद्धतियों के द्वारा व्यवस्थापन किया जाता है जिनमें से कुछ प्रमुख निम्नलिखित प्रकार से समझी जा सकती हैं–

- बल–प्रयोग द्वारा व्यवस्थापन करना,
- समझौते द्वारा व्यवस्थापन करना,
- पंचायत द्वारा व्यवस्थापन करना,
- सहिष्णुता द्वारा व्यवस्थापन करना,
- स्थिति–परिवर्तन द्वारा व्यवस्थापन करना,
- युक्तिकरण द्वारा व्यवस्थापन करना तथा
- उत्पाद द्वारा व्यवस्थापन करना।

उपरोक्त प्रकार के व्यवस्थापन, गिलिन एवं गिलिन द्वारा प्रस्तावित किये गए हैं। इसमें सहिष्णुता को रॉस ने नियमित परिवर्तन का नाम दिया है।

व्यवस्थापन के परिणामस्वरूप निम्नलिखित स्थितियां उत्पन्न हो सकती हैं–

- सामाजिक संस्थाओं के वर्तमान स्वरूप में आवश्यक परिवर्तन।
- समाज के विभिन्न व्यक्तियों या समूहों के मध्य समन्वय एवं अनुकूलन।
- संघर्ष की स्थिति को टालना।
- प्रतियोगितात्मकता को कम करना।
- सहिष्णु समाज का निर्माण।
- समाज में सौहार्द बढ़ाना।
- सात्मीकरण की रूपरेखा एवं भूमिका तैयार करना।
- संघर्ष के दुष्परिणामों को समय रहते नियंत्रित कर पाना।
- समाज में भाईचारा एवं ऊंच–नीच के मध्य सामंजस्य स्थापित करना।
- टकराव की स्थिति का दमन।
- सामाजिक नियंत्रण।
- समाजीकरण।

## (ग) एकीकरण

सभी प्रकार की सहयोगात्मक सामाजिक प्रक्रियाओं का उद्देश्य सामाजिक एकीकरण ही होता है। यह सर्वमान्य तथ्य है कि एकता में ही शक्ति होती है। एकीकरण वह सामाजिक प्रक्रिया होती है जोकि सभी प्रकार की सहयोगात्मक सामाजिक प्रक्रियाओं का परिणाम होती है। इसे सामाजिक एकता भी कहा जाता है। सभी समाज जो सभ्य हैं उन सभी में एक निश्चित सीमा तक एकता या एकीकरण पाया जाता है। हमारे समाज में कहा भी जाता है कि परिवार की एकता या राष्ट्र की एकजुटता महत्वपूर्ण है। अतः समाज को एक सूत्र में बांधकर रखने में अनेक तत्वों का योगदान होता है जिनमें

टिप्पणी

संस्कृति का स्थान भी महत्वपूर्ण है। भारतीय समाज अपनी सांस्कृतिक विशेषता के कारण एकीकरण की स्थिति में रहता है। किसी भी समाज की एकता के लिए सांस्कृतिक तत्व, प्रतीक, भाषा, जाति, वर्ण, नियम तथा आचार प्रमुख रूप से महत्वपूर्ण होते हैं।

गिलिन एवं गिलिन एकीकरण को 'व्यवस्था' के रूप में देखते हैं। उनका कहना है कि "एकीकरण, सजातीयता नहीं वरन, संगठन होता है।" किसी भी एकीकरण प्रक्रिया के प्रमुख लक्षण निम्नलिखित हैं–

1. सांस्कृतिक तत्वों का पारस्परिक संबंध,
2. एकीकृत समाज के सामान्य लक्ष्य,
3. एक समाजीकृत समाज
4. सौहार्दपूर्ण समाज और
5. संघर्षों की न्यूनता।

## (घ) सात्मीकरण

सात्मीकरण एक ऐसी सामाजिक प्रक्रिया है जो कि एकीकरण से भिन्न होती है परंतु इसका परिणाम लगभग एक समान ही होता है, जैसे–संस्कृतिकरण को सात्मीकरण की श्रेणी में रखा जा सकता है जिसमें निम्न वर्ग या जाति के व्यक्ति, उच्चवर्ग या जाति के क्रिया–कलापों या व्यवहारों को अपनाकर अपना अस्तित्व खो देते हैं। सात्मीकरण को समझने के लिए इसकी विभिन्न परिभाषाओं पर दृष्टिपात करना तर्कसंगत है–

बोगार्डस के अनुसार, "सात्मीकरण वह सामाजिक प्रक्रिया होती है जिसकी सहायता से अनेक प्रकार के व्यक्तियों की मनोदशाएं एकीकृत हो जाती हैं एवं परिणामस्वरूप, ये सभी व्यक्ति एक संयुक्त समूह के रूप में विकसित हो जाते हैं।"

ऑगबर्न एवं निमकॉफ के शब्दों में– "यह एक ऐसी प्रक्रिया होती है जिसके द्वारा, कभी असमान व्यक्ति या समूह, अपने स्वार्थ एवं दृष्टिकोण से एकरूप या एकीकृत हो जाते हैं।" इसका अभिप्राय यह हुआ कि समाज में व्यक्तियों का संगठित होकर एक लक्ष्य के लिये कार्य करना। हालांकि उनका मूल सिद्धांत एवं विचारधारा पृथक रही थी, परंतु वर्तमान समय में सभी व्यक्ति अपनी विचारधारा को स्थायी या अस्थायी तौर पर छोड़कर नये लक्ष्यों की पूर्ति हेतु एकजुट हो जाते हैं।

भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में चुनाव के समय अनेकानेक राजनीतिक दल इस प्रकार के गठबंधनों के रूप में एकीकृत हो जाते हैं कि समीक्षक भी अचरज में पड़ जाते हैं। भारत की संसद में जो राजनीतिक दल एक साथ मिलकर कार्य करते हैं वही राजनीतिक दल राज्य–स्तरीय, राजनीति में घुर विरोधी होते हैं। यह कठोर विरोधाभास ही भारतीय समाज एवं राजनीति को अद्वितीय बना देता है।

बीसेंज एवं बीसेंज के शब्दों में– "सात्मीकरण एक ऐसी सहयोगात्मक सामाजिक प्रक्रिया होती है जिसके द्वारा व्यक्ति एवं समूह, एक समान भावनाओं, मूल्यों एवं उद्देश्यों में सम्मिलित होते हुए, एक–दूसरे के समीप आ जाते हैं अर्थात एकीकरण कर लेते हैं।"

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि सात्मीकरण एक सामाजिक प्रक्रिया होती है जिसमें व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह, अपने स्वार्थ एवं उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए

टिप्पणी

एकजुट हो जाते हैं अर्थात समाज की विभिन्न ईकाइयां अपना स्वयं का अस्तित्व भुलाकर सजातीय हो जाती हैं। उदाहरण के तौर पर हम किसी प्राकृतिक आपदा के समय होने वाले सहयोग को देख सकते हैं। जब कोई प्राकृतिक आपदा आती है तो समाज के प्रत्येक वर्ग, जाति, धर्म, प्रांत या देश के लोग अपना–अपना वजूद भूलकर पीड़ितों की रक्षा करने को ही अपना लक्ष्य एवं स्वार्थ बना लेते हैं।

सात्मीकरण एवं एकीकरण में अंतर यह होता है कि सात्मीकरण, समाजीकरण की प्रक्रिया का एक प्रमुख सोपान है जिसमें व्यक्ति अपने मूल अस्तित्व को बरकरार रखकर भी संयुक्त उद्देश्य की प्राप्ति हेतु कर्म कर सकता है, जैसे– भारत की एकता और अखंडता बनाये रखने में सात्मीकरण का आश्रय लिया जाता है तथा यह सात्मीकरण की प्रक्रिया एकीकरण के मार्ग पर ही अग्रसर होती है।

## सात्मीकरण की विशेषताएं

सामाजिक सहयोग की एक प्रमुख प्रक्रिया सात्मीकरण होती है जिसके माध्यम से समाज अपना विकास तो कर ही सकता है तथा साथ ही साथ आपसी सामंजस्य स्थापित करके शांति व्यवस्था भी बनाकर रखी जा सकती है। सात्मीकरण की पूरी प्रक्रिया को अधिक विस्तारपूर्वक समझने के लिए इसकी विशेषताओं का अध्ययन अनिवार्य हो जाता है। सात्मीकरण की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित प्रकार से होती हैं–

(अ) **मद्धम प्रक्रिया**–सामाजिक परिवर्तन के रूप में सात्मीकरण बहुत ही धीमी गति से होने वाली प्रक्रिया होती है क्योंकि इसका स्वभाव प्राकृतिक होता है। सात्मीकरण का प्रभाव बहुत ही मंदगति से समाज में देखने को मिलता है। विशेषकर भारतीय समाज जो कि स्वयं ही विविधता का एक अथाह समुद्र है जिसमें अनेकों जातियां, धर्म, भाषाएं एवं सांस्कृतिक अंतर हैं, वहां पर सात्मीकरण की प्रक्रिया और भी मंदगति से कार्य करती है, क्योंकि विशाल देश में प्रत्येक व्यक्ति एवं समाज स्वयं की संस्कृति एवं स्थिति की रक्षा करने को तत्पर है तथा स्वयं की ही स्थिति को अन्य से बेहतर सिद्ध करने का प्रयास भी करता है। समाज के सभी व्यक्तियों का मानसिक एवं आर्थिक–स्तर भी असमान होता है तथा सभी व्यक्ति अपने पूर्व ज्ञान एवं अनुभव के आधार पर ही किसी नई प्रणाली या प्रक्रिया का अंग बनना पसंद करते हैं। ज्ञान के इस असमान विवरण के कारण भी यह प्रक्रिया मंदगति से घटित होती है।

(ब) **सात्मीकरण, आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक प्रक्रिया**– सभी मनुष्य किसी भी उद्देश्य या स्वार्थ की प्राप्ति के लिए चुनी गई प्रक्रिया या मार्ग का चयन, अपनी आर्थिक–स्थिति, सांस्कृतिक पृष्ठभूमि एवं समाज में स्वयं की स्थिति के अनुसार करते हैं, उदाहरण के लिए, उच्चवर्ग के व्यक्ति या समूह अपने से और उच्च एवं विकसित समाज व व्यक्तियों के द्वारा अपनाई गई सामाजिक प्रक्रियाओं का पालन करना पसंद करते हैं जबकि निम्नवर्ग के व्यक्ति या समूह अपने से ऊपर के समूहों या समाज के आचरण या आहार–विहार को अपनाते हैं।

वर्तमान समय में बहुउद्देश्यीय कंपनियों ने नई आर्थिक नीतियों के कारण अपनी वाणिज्यिक नीतियों में अनेक परिवर्तन कर लिए हैं तथा अपने इस आर्थिक

उद्देश्य एवं स्वार्थ की पूर्ति हेतु उन्होंने कई–कई कंपनियों से करार भी किये हुए हैं।

टिप्पणी

(स) **सजातीयता**–सात्मीकरण की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह होती है कि इसमें सजातीयता पाई जाती है। जिस प्रकार से छोटी–छोटी नदियां समुद्र में मिलकर एक हो जाती हैं उसी प्रकार से सात्मीकरण की प्रक्रिया को अपनाकर व्यक्ति या समूह अपना पूर्व का रूप खोकर नवीन रूप में एकाकार हो जाता है। यह नवीन रूप, पुरातन का स्थान ले लेता है तथा पुरानी परंपरा या संस्कृति पृष्ठभूमि में चली जाती है। यह एक ऐसी प्रक्रिया भी होती है जिसमें अनेक छोटे–छोटे समूह अपना अस्तित्व खोकर बड़े समूह में स्वयं का विलय कर लेते हैं। भारतीय राजनीति में चुनाव के समय बनने वाले गठबंधन में प्रायः देखा जाता है कि छोटे–छोटे क्षेत्रीय दल स्वयं का किसी बड़े राजनीतिक दल के साथ विलय कर लेते हैं तथा इस प्रकार ये छोटे प्रांतीय दल अपना अस्तित्व खो देते हैं और अंत में बड़े राजनीतिक दल को ही अपना दल मान लेते हैं। इस स्थिति में नये दल की विचारधारा एवं उद्देश्य ही इन दलों के भी उद्देश्य बन जाते हैं।

भारत एक विशाल राष्ट्र है जिसकी एकता एवं अखंडता की मिसाल अन्यत्र कहीं भी मिलना असंभव है। इसका कारण है भारत एक धर्मनिरपेक्ष प्रजातंत्रीय राष्ट्र है। राष्ट्र में रहने वाले विभिन्न जाति, धर्म व क्षेत्र के लोग एक देश एवं ध्वज के बीच सात्मीकरण कर चुके हैं। भले ही लोग पृथक–पृथक विचारधाराओं से संबंधित हैं पर फिर भी इन सभी का एक समान लक्ष्य, भारत को राष्ट्र के रूप में सुदृढ़ एवं विकसित करना ही है। इस सामान्य उद्देश्य में देश के किसी भी नागरिक को आपत्ति नहीं होती। यह देखा भी गया है कि राष्ट्र की अस्मिता पर प्रश्न आते ही सभी नागरिक अपने व्यक्तिगत मतभेद भुलाकर राष्ट्र रक्षा पर एकीकृत होकर सात्मीकरण की प्रक्रिया का सहयोगात्मक स्वरूप प्रदर्शित करते हैं।

## 2. असहयोगात्मक सामाजिक प्रक्रियाएं

जैसा कि हम समझ चुके हैं कि समाज में मनुष्य दो प्रकार की प्रक्रियाएं करते हैं, पहली सहयोगात्मक एवं दूसरी असहयोगात्मक। समाज में सभी व्यक्तियों का प्रथम उद्देश्य अपनी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति करना होता है। इनमें से अनेक आवश्यकताएं ऐसी होती हैं जो सरलता से प्राप्त हो जाती हैं तथा समाज के अधिकांश व्यक्तियों का इनमें सहयोग भी प्राप्त हो जाता है। परंतु सभी प्रकार के व्यक्तियों की हर प्रकार की आवश्यकताएं सरलतापूर्वक पूर्ण हो जाएं ऐसा हरगिज नहीं होता। जब मनुष्य अपने हितों एवं स्वार्थों की पूर्ति के लिए इस प्रकार की प्रक्रियाएं करे कि समाज की स्थापित व्यवस्था को चुनौती दी जाए एवं उनमें परिवर्तन करने की मांग की जाए तो यह प्रक्रिया असहयोगात्मक प्रक्रिया होगी। भारत में ब्रिटिश शासन को समाप्त करना एक असहयोगात्मक सामाजिक प्रक्रिया थी। इसी प्रकार से भारत में अनेक सामाजिक एवं राजनीतिक संगठन अपने–अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए असहयोगात्मक सामाजिक क्रियाएं करते हैं। भारतीय संसद की कार्यवाही को ठप्प करना भी इसी प्रकार की क्रिया है जिसका उद्देश्य समाज के समक्ष एवं संसद के समक्ष जनता की आवाज एवं मागों को उठाया जा सके। मजदूरों द्वारा अपने शोषण के खिलाफ किये गए धरने–प्रदर्शन एवं हड़तालें भी इसी तरह की क्रियाओं में सम्मिलित होती हैं।

टिप्पणी

जे.आर. कॉमन्स (1862–1945) के अनुसार, "सामाजिक जीवन व्यक्तियों के निर्णयों और क्रियाओं पर आधारित होता है। सभी प्रकार की सामाजिक घटनाओं का, व्यक्तिगत एवं समूहों के रूप में मानवीय इच्छा द्वारा ही निर्धारण होता है।" इस कथन से कॉमन्स ने स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि मनुष्यों की समूहों में की गई सभी सामूहिक क्रियाएं, व्यक्तिगत क्रियाओं का मागदर्शन और उन्हें नियंत्रित ही नहीं करती वरन् उन्हें विस्तृत एवं विमुक्त भी करती हैं।

मनुष्य द्वारा समाज में असहयोग करने का निर्णय, अकस्मात ही नहीं उत्पन्न हो जाता और न ही मनुष्य ऐसा चाहता है कि अनावश्यक रूप से व्यवस्था के संचालन में कोई अवरोध उत्पन्न किया जाए, वरन् जब मनुष्य निरंतर ही शोषण एवं अभावग्रस्त जीवन जी रहा होता है तो वह अपने जैसे अन्य लोगों के साथ संपर्क स्थापित करके, अपनी वर्तमान स्थिति में बेहतरी करने के उपाय स्वरूप सामाजिक क्रियाएं करने पर विवश होता है। जीवनशैली में बेहतरी की तुलना, मनुष्य अपने व्यक्तिगत जीवन एवं समाज के अन्य व्यक्तियों की जीवनशैली से करते हैं। भारतीय दलितों एवं महिलाओं की स्थिति के अनुसार उदाहरण लिया जा सकता है। निरंतर शोषण एवं उपेक्षा से त्रस्त होकर महिलाओं एवं दलित समाज में समाज की स्थापित मान्यताओं एवं नियमों से असहयोगात्मक सामाजिक प्रक्रिया का आश्रय लिया जाता है। परिणामस्वरूप उनकी स्थिति बेहतर हुई एवं यह प्रक्रिया एक निरंतर जारी रहने वाली प्रक्रिया का अंश भी बन जाती है।

इस प्रकार से हम कह सकते हैं कि सामाजिक असहयोग एक ऐसी सामाजिक प्रक्रिया है जो समाज के स्थापित नियमों एवं मानकों के विरुद्ध असहयोगात्मक रवैया अपनाकर की जाती है।

### असहयोगात्मक सामाजिक प्रक्रियाओं के प्रकार

समाज के सभी व्यक्ति अपने–अपने ढंग से अपने–अपने लक्ष्यों की प्राप्ति के प्रयोजन करते रहते हैं। मानव आवश्यकताओं की पूर्ति कभी भी सहजतापूर्वक नहीं होती वरन्, इसके लिए मानव को अनेक अन्य लोगों का सहयोग भी अपेक्षित होता है। कई बार तो सहयोग सरलतापूर्वक मिल जाता है परंतु यदि सहयोग आर्थिक हो तथा सहयोग करने वाले व्यक्ति का कोई स्वार्थ प्रभावित न हो रहा हो तो वह सहयोग कर सकता है परंतु यदि स्वार्थ में सभी पक्षों के हित–लाभ टकराव की स्थिति में हों तो वहां पर असहयोग की क्रिया उत्पन्न होगी।

## 3.4.2 प्रतियोगिता

### प्रतियोगिता का अर्थ

हम अक्सर कहते सुनते हैं कि वर्तमान समय, प्रतियोगिता का समय है और कोई भी लक्ष्य या सफलता बिना प्रतियोगिता किये प्राप्त नहीं की जा सकती है। इसका आशय यह हुआ कि प्रतियोगिता वर्तमान समय की एक आवश्यक सामाजिक क्रिया हो चली है जिसमें मनुष्य का मनुष्य के साथ द्वंद्व इस प्रकार से होता है कि प्रबल एवं निर्बल की संकल्पना के अनुरूप, प्रबल विजयी होकर समाज में उच्च स्थिति एवं आवश्यकताओं के उपभोग का आनंद प्राप्त कर सकते हैं जबकि निर्बल एवं असहाय व्यक्तियों को अन्य

टिप्पणी

पर आश्रित रहकर एक अभावपूर्ण जीवन व्यतीत करना उनकी नियति बन जाता है। यह स्थिति मात्र मनुष्यों पर ही लागू नहीं होती वरन्, पशु, पक्षी, राष्ट्र, भाषा, प्रांत, क्षेत्र, जाति एवं अन्य प्रकार के तत्वों पर भी समान रूप से लागू होती है। प्रतियोगिता का अर्थ समझने के लिए इसकी विभिन्न परिभाषाओं को भी समझना आवश्यक है–

फेयर चाइल्ड के कथनानुसार, "यह वह परिश्रम होता है जो सीमित वस्तुओं का उपभोग करने का अधिकार प्राप्त करने के लिए किया जाता है।"

ग्रीन के अनुसार, "प्रतियोगिता में दो या दो से अधिक समूह किसी एक ही ध्येय की प्राप्ति का प्रयास करते हैं। इस उद्देश्य या ध्येय को कोई भी समूह आपस में साझा करने को तैयार नहीं होता है।"

सदरलैंड के अनुसार, "व्यक्तियों या समूहों के बीच, उन संतुष्टियों को, जिन्हें कि सीमित होने के कारण सभी व्यक्ति प्राप्त नहीं कर सकते, एक अवैयक्तिक, अचेतन एवं निरंतर श्रम की प्रतियोगिता कहते हैं।"

उपरोक्त परिभाषाओं के अनुसार हम कह सकते हैं कि प्रतियोगिता, असहयोग की एक सामाजिक क्रिया है, जिसमें व्यक्ति, कम संसाधनों, वस्तुओं, या ध्येयों की प्राप्ति के लिए पारस्परिक संघर्ष करते हैं। प्रतियोगिता करने वाले व्यक्तियों या फिर समूहों की किसी व्यक्ति या समूह से कोई जान–पहचान या व्यक्तिगत शत्रुता भी नहीं होती वरन् एक स्थापित मान्यता के अनुसार ही प्रतियोगिताओं का घटनाक्रम इस प्रकार घटित होता है कि प्रतियोगिता के फलस्वरूप, प्रतियोगिता जीतने वाले व्यक्ति या समूह को उस अमुक वस्तु या पद का अधिकारी मान लिया जाता है। भारत में रोजगार प्राप्त करने के लिए अनेक प्रकार की प्रतियोगी परीक्षाओं को आयोजित किया जाता है क्योंकि–

- रिक्त पदों की संख्या सीमित होती है।
- आवेदन करने वालों की संख्या बहुत अधिक होती है।
- अच्छे उम्मीदवारों का चयन आवश्यक होता है।
- बिना प्रतियोगिता के श्रेष्ठ या सर्वश्रेष्ठ का चयन असंभव है।
- प्रतियोगी व्यक्तियों के मध्य तुलनात्मक अध्ययन सरल होता है।
- बिना किसी को मानसिक या शारीरिक क्षति पहुंचाये आवश्यकता की पूर्ति संभव है।
- व्यवस्था में विश्वास बना रहता है।
- स्थापित नियमों एवं आचारों का पालन सुनिश्चित होता है।
- योग्य को पुरस्कार एवं अयोग्य को सबक मिलता है।
- समाज में गतिशीलता बनी रहती है।

## प्रतियोगिता की प्रकृति

मानव इतिहास के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि मनुष्य सतत रूप से समर्थ बनना चाहता है अर्थात् निरंतर एवं सतत रूप से विकास करने का प्रयास करता ही रहता है। जैसे–जैसे मानव ने विकास किया, जनसंख्या बढ़ती चली गई और उपलब्ध संसाधन

टिप्पणी

सीमित होते चले गए। इन सीमित संसाधनों पर हक जताने वाले उम्मीदवारों की संख्या दिनों–दिन बढ़ती चली गई। अतः प्राचीन समय की प्रतियोगिता जो भोजन एवं आवास को लेकर थी आज के वैश्वीकरण के समय में अथाह एवं अनंत रूप धारण कर चुकी है जिसका सही से एवं पूर्णरूपेण अध्ययन कर पाना समाजशास्त्रियों एवं अन्य विद्वानों के लिए एक विकट चुनौती बन गया है। इसका परिणाम यह हो गया है कि आज के समाज में बच्चों से लेकर वृद्धों तक में प्रतियोगिता का भूत सवार हो गया है। यहां तक कि प्राथमिक विद्यालय में बच्चों की शिक्षा के लिए होने वाले प्रवेश में बच्चों एवं उनके माता–पिता की भी प्रतियोगिता कराई जा रही है। जहां पर बच्चे को बचपन का एहसास कराने की आवश्यकता थी वह एक ऐसे माहौल में आंखें खोल रहा है जहां उसे हर व्यक्ति के रूप में प्रतिद्वंद्वी ही नजर आ रहे हैं। कल्पना कीजिए कि आज जिस गति से प्रतियोगिता हमारे जीवन में उतरती जा रही है तो 20–30 वर्षों के पश्चात की स्थिति कितनी भयावह होगी।

प्रतियोगिता की प्रकृति को समझने के लिए कुछ मूल तत्वों को संकेत के रूप में लेकर समझा जा सकता है, जैसे–

1. प्रतियोगिता एक निरंतर चलने वाली प्रक्रिया है।
2. यह एक अचेतन प्रक्रिया होती है।
3. प्रतियोगिता एक अवैयक्तिक प्रक्रिया है।
4. प्रतियोगिता एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है एवं सभी समाजों में पाई जाती है।
5. यह एक असहयोगात्मक सामाजिक प्रक्रिया है।

### प्रतियोगिता के प्रकार

प्रतियोगिता एक निरंतर प्रक्रिया है एवं सतत रूप से चलती रहने वाली प्रक्रिया है, इस कारण ही इसके प्रकार भी परिवर्तनशील हैं और समय के साथ–साथ इनमें अनेकों प्रकार के बदलाव होते रहते हैं एवं आगे भी होते रहेंगे। यदि कुछ मूल बिंदुओं पर सहमति बन पाये तो प्रतियोगिता के निम्नलिखित प्रकार हो सकते हैं–

1. आर्थिक प्रतियोगिता,
2. खेल–कूद प्रतियोगिता,
3. सांस्कृतिक प्रतियोगिता,
4. शैक्षणिक प्रतियोगिता,
5. जातीय प्रतियोगिता
6. प्रजातीय प्रतियोगिता तथा
7. वर्गीय प्रतियोगिता आदि।

## 3.4.3 संघर्ष

**संघर्ष का अर्थ**– संघर्ष करना मानव समाज की एक प्रमुख प्रक्रिया है। संसार का प्रत्येक जीव, अपने अस्तित्व एवं स्वार्थवश, अन्य जीवों से टकराव की स्थिति में होता है। अपना अधिकार प्राप्त करना हो या अपने जीवनयापन की आवश्यकताओं की पूर्ति

टिप्पणी

करनी हो प्रत्येक स्तर पर प्राणियों को संघर्ष करना पड़ता ही है। संघर्ष, किसी व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह की इच्छा के विरुद्ध किया गया प्रयत्न होता है जिसमें एक पक्ष दूसरे पक्ष को दबाने या अपनी बात मनवाने का प्रयत्न करता है। मनुष्य का वर्तमान स्वरूप 'मनुष्य' भी संघर्ष का ही परिणाम है, क्योंकि वानर से मनुष्य बनने तक, हमने, प्रकृति के साथ एक लंबा संघर्ष किया है। ग्रीन के अनुसार, "संघर्ष, जानबूझकर किया गया एक ऐसा प्रयास होता है जो किसी की इच्छा के विरोध करने या उसकी इच्छा के आड़े आने पर या उसे दबाने के लिए किया जाता है।" स्पष्टतः यह एक प्रयास है जो दूसरों को अपनी बात मनवाने के लिए विवश करने का काम करता है। ए.डब्ल्यू. ग्रीन, 'सोशियोलॉजी।

गिलिन एवं गिलिन के अनुसार संघर्ष एक सामाजिक प्रक्रिया होती है जिसमें व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह अपनी बात मनवाने के लिए, दूसरे पक्ष को हिंसा करके, या हिंसा करने की धमकी देकर, अपना उद्देश्य पूर्ण करना चाहते हैं। संघर्ष में व्यक्ति या समूह हिंसा का आश्रय भी ले सकते हैं तथा हिंसात्मक प्रक्रिया करने की धमकी देकर भी अपनी बात मनवाने का प्रयास करते हैं। (जे.एल. गिलिन एवं जे.पी. गिलिन, 'कल्चरल सोशियोलॉजी')

## संघर्ष के कारण

संघर्ष किसी एक निश्चित कारण से नहीं होता वरन् परिस्थितिजन्य होता है। मनुष्य बुद्धिमान प्राणी है एवं अपने स्वार्थों एवं उद्देश्यों की पूर्ति करने के लिए अपने अनुभव एवं अपनी महत्वाकांक्षाओं के अनुरूप बुद्धि का प्रयोग करता है। जब मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती एवं स्वार्थ सिद्ध नहीं होता तो मनुष्य स्वयं ही टकराव एवं संघर्ष की स्थिति में आ जाता है। यह अनिवार्य नहीं है कि कोई मनुष्य सीधे–सीधे ही टकराव या संघर्ष के रास्ता का चयन करे। संघर्ष प्रारंभ होना भी एक सोपानदार प्रक्रिया होती है। कोई भी मनुष्य, यह प्रयास नहीं करना चाहता कि वह अनावश्यक किसी को हानि पहुंचाये, वरन प्रथमदृष्टया वह यही प्रयास करता है कि सरलतापूर्वक एवं बिना किसी को कोई हानि पहुंचाए अपना स्वार्थ पूर्ण हो जाए, परंतु जब वह वस्तु नहीं मिलती या आवश्यकता की पूर्ति नहीं होती तो मनुष्य संघर्ष को ही एकमात्र मार्ग समझता है। उदाहरण के लिए मजदूर, कारखाना मालिक से सुविधाएं बढ़ाने की जायज मांग करते हैं परंतु जब बार–बार आश्वासन मिलते हैं और वेतन बढ़ाया नहीं जाता तो मजदूरों को असहयोगात्मक सामाजिक प्रक्रियाओं का दामन ही थामना पड़ता है जो कि वे अपनी इच्छा या खुशी से नहीं करते हैं वरन् अपनी आवश्यकताओं से विवश होकर ही करते हैं। इस संघर्ष में भी मजदूर वर्ग कभी भी यह नहीं चाहेगा कि कारखाने या व्यवस्था को हानि हो, वरन् उसका मूल उद्देश्य व्यवस्था के संचालन में व्यवधान उत्पन्न करना होता है जिससे कि समाज के अन्य व्यक्तियों एवं संस्थाओं का ध्यानाकर्षण इनकी समस्याओं की तरफ खींचा जा सके।

संघर्ष के इसके अतिरिक्त भी अनेक कारण हैं जिनमें से प्रमुख हैं–

1. सामाजिक परिवर्तन,
2. आर्थिक तंगी एवं अभावग्रस्त जीवन,
3. समाज में व्याप्त असमानता,

टिप्पणी

4. व्यक्तिगत असमानताएं,
5. सांस्कृतिक असमानताएं,
6. धार्मिक असमानताएं,
7. स्वार्थों में भिन्नता एवं टकराव,
8. व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा,
9. लैंगिक संघर्ष तथा
10. अधिकारों के प्रति जारूकता आ जाना इत्यादि।

## संघर्ष के प्रकार

संघर्ष एक ऐसी सामाजिक प्रक्रिया है जो कि स्थितिजन्य है एवं इसका जन्म, स्थितियों के कारण ही होता है, अर्थात् कोई व्यक्ति या समूह जानबूझकर या स्वेच्छा से संघर्षपूर्ण स्थितियां उत्पन्न नहीं कर सकते, वरन् सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक या सांस्कृतिक कारक, मनुष्यों को संघर्ष करने हेतु विवश करते हैं। इन्हीं बिंदुओं के परिप्रेक्ष्य में गिलिन एवं गिलिन ने पांच प्रमुख प्रकार के संघर्षों का वर्णन किया है–

1. **व्यक्तिगत या वैयक्तिक संघर्ष**–यदि संघर्ष मात्र दो ही व्यक्तियों के मध्य सीमित हो तो यह व्यक्तिगत या वैयक्तिक संघर्ष कहलाता है। मनुष्य की अनेक मूल प्रवृत्तियां एवं महत्वाकांक्षाएं इस प्रकार के संघर्ष का मूल कारण होती हैं। हिंदू धर्मशास्त्रों में मनुष्य के पांच महान शत्रु बताए गए हैं जो कि– काम, क्रोध, मोह, लोभ एवं अहंकार हैं। मनुष्य इन्हीं शत्रुओं के मायाचक्र में उलझ कर अपने ही समान अन्य व्यक्तियों से विवाद एवं द्वेषभाव रखने लग जाता है। यह द्वेष, ईर्ष्या एवं घृणा, व्यक्ति को व्यक्ति से टकराव की स्थिति में ले आते हैं।
2. **प्रजातीय संघर्ष**–जब संघर्ष दो से अधिक व्यक्तियों के मध्य हो तो इसे सामूहिक संघर्ष कहते हैं जो कि अनेक प्रकार का हो सकता है। इसी संघर्ष का एक रूप, प्रजातीय संघर्ष के रूप में देखने को मिलता है। समाज की अनेक प्रजातियां स्वयं को अन्य से श्रेष्ठ समझती हैं इसी आधार पर ये जातियां या प्रजातियां आपस में एक–दूसरे के साथ संघर्ष करती हैं। इतिहास में अनेक प्रकार के प्रजातीय संघर्ष देखने को मिलते हैं जिनमें किसी एक प्रजाति ने अपने से हीन एवं कमतर समझी जाने वाली प्रजातियों के विरुद्ध अत्यंत ही हिंसक संघर्ष किये हैं। इन संघर्षों में उच्च समझने वाली जाति, निम्न–जाति पर अनेकों प्रकार के अत्याचार एवं शोषण भी करती है। विश्व में श्वेत–श्याम या गोरे–काले का भेदभाव इसी प्रकार के संघर्ष की श्रेणी में आता है।
3. **वर्ग–संघर्ष**–मानव समाज अनेक वर्गों में बंटा हुआ है परंतु प्रमुख रूप से दो ही वर्ग हैं– एक शासक वर्ग एवं दूसरा शासित वर्ग। वर्ग–संघर्ष की अवधारणा को कार्ल मार्क्स ने भलीभांति स्पष्ट किया है। इसमें इन्होंने स्पष्ट किया है कि किस प्रकार से संपूर्ण मानव इतिहास ही वर्गों के संघर्ष का ही इतिहास रहा है। एक वर्ग सदैव दूसरे से संघर्ष करता आया है। इसे और अधिक स्पष्ट करने के लिए मार्क्स एवं गेल्स लिखित 'कम्यूनिस्ट पार्टी के घोषणा पत्र' नामक पुस्तक से कुछ अंश यहां पर जस के तस दिये जा रहे हैं, क्योंकि वर्ग–संघर्ष की इससे बेहतर समीक्षा कहीं और मिलना कठिन है–

टिप्पणी

4. **राजनीतिक संघर्ष**–राज्यसत्ता की प्राप्ति ही प्रमुख रूप से राजनीतिक दलों का उद्देश्य होता है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अनेक व्यक्ति एक संगठन के रूप में एक दल स्थापित करते हैं जिनकी एक निश्चित विचारधारा होती है। जो व्यक्ति इस विचारधारा का समर्थन करते हैं एवं समझते हैं कि इससे उनका स्वार्थ सिद्ध हो रहा है तो वे इस दल का सदस्य बन जाते हैं। इसी प्रकार से अनेक दल हमारे समाज में पाये जाते हैं। चूंकि सभी दल अपनी अलग विचारधारा के ही आधार पर वजूद में आये हैं तथापि वे एक–दूसरे के विरोधी भी होंगे। यह विरोध ही संघर्ष का राजनीतिक रूप ले लेता है। वर्तमान समय में हम प्रजातांत्रिक शासन व्यवस्था में रहते हैं जिसमें नागरिकों को अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अधिकार है एवं राजनीतिक दल चुनावी संघर्ष के उपरांत सत्ता प्राप्त कर लेते हैं, परंतु हारे हुए दल अपना विरोध एवं संघर्ष जारी रखते हैं।

5. **अंतर्राष्ट्रीय संघर्ष**–यदि राजनीतिक संघर्ष दो राष्ट्रों के मध्य हो तो यह अंतर्राष्ट्रीय स्तर का संघर्ष बन जाता है। विश्व के अनेक राष्ट्र एक–दूसरे के साथ राजनीतिक संघर्ष में संलिप्त होते हैं। यह संघर्ष कई बार तो सदियों पुराना भी हो सकता है। येरूशलम को लेकर तीन राष्ट्रों के मध्य संघर्ष पिछले 2000 वर्षों से चल रहा है। इसमें फलस्तीन, येरुशलम एवं इजराइल का संघर्ष मुख्य है। भारत–चीन–पाकिस्तान भी अंतर्राज्यीय संघर्ष का शिकार हैं।

### संघर्ष के परिणाम

जैसा कि मार्क्स ने स्पष्ट किया है कि संघर्ष के अनेक परिणाम होते हैं, परंतु इनमें सबसे प्रमुख है जन–धन की हानि। विश्व इतिहास पर दृष्टि डालने पर हम पाते हैं कि उपरोक्त वर्णित पांच प्रकार के संघर्षों के कारण लाखों व्यक्ति अकारण मृत्यु का शिकार हुए हैं तथा अनेक सभ्यताएं, संस्कृतियां भी नष्ट हो गई हैं। इतिहास से सबक लेते हुए यही प्रेरणा मिलती है कि संघर्ष अनिवार्य है परंतु यह अहिंसक होना चाहिए। प्रजातांत्रिक शासन व्यवस्था में यदि शांतिपूर्वक विधि से संघर्ष किया जाता है तो संपूर्ण मानव समाज का हित होता है परंतु यदि हिंसक विधियों से असहयोग किया जाये तो यह मानव हित में नहीं है।

कार्ल मार्क्स के संघर्ष को हिंसा से संबंधित कर दिया जो कि स्वार्थपरक है। इसी प्रकार से गांधी जी का असहयोगात्मक संघर्ष भी पूर्णतः अहिंसक था जिसने भारत से ब्रिटिश शासन को समाप्त करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। अतः स्पष्ट है कि संघर्ष से मानव को लाभ होता है परंतु यह संघर्ष पूर्णतः अहिंसक होना चाहिए। इस तरह के अहिंसक असहयोग, धरना, प्रदर्शन एवं वार्ता द्वारा अपनी बातों को रखकर भी मनवाया जा सकता है।

## 3.4.4 समाजीकरण

व्यक्तियों के समूह या समाज में जुड़ने की प्रक्रिया 'समाजीकरण' कहलाती है। यह प्रक्रिया मनुष्य के जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त तक चलती रहती है। एक नवजात शिशु आयु के साथ–साथ सामाजिक प्राणी के गुण–धर्म सीखता हुआ जीवन की विभिन्न अवस्थाओं से गुजरता है। यह प्रक्रिया निर्बाध गति से निरन्तर चलती रहती है तथा उसे

सामाजिक मूल्यों, परिवेश, रीति–रिवाजों, गुणों–अवगुणों आदि से परिचित कराती हुई समाज से जोड़ती है।

टिप्पणी

## समाजीकरण का अर्थ

मानव एक सुव्यवस्थित मानव समाज का अभिन्न अंग है, परन्तु मानव को इसका अभिन्न अंग बनने के लिए एक सामान्य प्रक्रिया से होते हुए गुजरना ही पड़ता है। यही प्रक्रिया 'समाजीकरण' कहलाती है। वह प्रक्रिया जिसके द्वारा शिशु को जन्म से लेकर मृत्यु तक के क्रियाकलाप, भूमिकाएं, दायित्व एवं ध्येयों के बारे में स्पष्टीकरण देते हुए तैयार किया जाए, समाजीकरण की प्रक्रिया कहलाती है। समाज के लिए यह अनिवार्य प्रक्रिया है। मानव समाज में एक विरोधाभास होता है कि इसमें एकता एवं निरन्तरता दोनों ही साथ–साथ चलने वाली क्रियायें हैं। इन विरोधाभासों का अस्तित्व केवल समाज के सदस्यों के मन में ही इनकी प्रक्रियाओं एवं क्रियाओं में होता है। इन विरोधाभासों का समाधान उसी स्थिति में हो सकता है जब यह समझ लिया जाये कि कोई नवजात शिशु किस प्रकार से सामाजिक प्राणी के रूप में परिवर्तित हो जाता है। परिवर्तित करने की इसी प्रक्रिया को समाजीकरण कहते हैं। इसके बिना–

- समाज एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी की तरफ नहीं बढ़ सकता
- संस्कृति जीवित नहीं रह पाएगी,
- संतनन नहीं होगा,
- मनुष्य सामाजिक प्राणी नहीं बन पाएगा,
- समाज की व्यवस्था चरमरा जाएगी,
- संस्कृति का नवीनीकरण नहीं होगा,
- पुरानी परम्पराओं के स्थान पर संशोधित परम्परायें विकसित नहीं होगी,
- मानवीय प्रवृत्ति का विकास रुक जाता है,
- मानव व्यक्तित्व का विकास रुक जाता है,
- मानसिक विकास रुक जाता है तथा
- मनुष्य अपनी क्षमताओं एवं आवश्यकताओं का सही आकलन नहीं कर सकता है।

एन्थॉनी गिडेन्स ने समाजीकरण की विस्तृत व्याख्या करते हुए अपनी परिभाषा में कहा है कि–

"समाजीकरण एक सामाजिक प्रक्रिया होती है जिसके द्वारा एक असहाय शिशु धीरे–धीरे स्वयं (Self) को पहचानने लगता है एवं धीरे–धीरे मानव बन जाता है। वह उस संस्कृति को सीख लेता है जिस संस्कृति में उसका जन्म हुआ हो। इसके उपरान्त भी समाजीकरण कोई सांस्कृतिक कार्यक्रम नहीं होता है।"

गिडेन्स पुनः स्पष्ट करते हैं कि– "समाजीकरण की प्रक्रिया में ऐसा भी नहीं है कि कोई व्यक्ति आंख बन्द करके कुछ भी सीख ले वरन् वह अपना विवेक उपयोग करते हुए सामाजिक प्राणी के रूप में परिवर्तित होता है, अर्थात् ऐसा नहीं होता कि व्यक्ति किसी के भी सम्पर्क में आकर एवं निष्क्रिय होकर उससे प्रभावित हो जाए।"

टिप्पणी

समाजीकरण वह प्रक्रिया होती है जिसमें, समाज एवं संस्कृति के मूल्य, विश्वास, प्रतिमान एवं सामाजिक भूमिकाओं को सीखा जाता है।

गुडे का विश्वास है कि "समाजीकरण मात्र सीखने की प्रक्रिया नहीं होती है वरन मनुष्य का आन्तरिकीकरण (Internalization) भी करती है।"

गुडे के शब्दों में, "समाजीकरण के अन्तर्गत वे प्रक्रियायें सम्मिलित होती हैं जिन्हें कोई व्यक्ति बचपन से लेकर बुढ़ापे तक अपने सामाजिक कौशल, प्रतिमान, मूल्य, भूमिका एवं व्यक्तित्व के प्रतिरूप में लेता रहता है।"

जॉनसन (H.M. Johnson) के शब्दों में, ''समाजीकरण वह शिक्षण है जो सीखने वाले को सामाजिक कार्य करने योग्य बनाता है। इस प्रकार से स्पष्ट हुआ कि समाजीकरण एक सामाजिक प्रक्रिया होती है जिसका मुख्य उद्देश्य मनुष्य को सामाजिक प्राणी बनने में सहायता करना होता है।''

## समाजीकरण एवं स्वयं का विकास

किंग्सले डेविस ने समाजीकरण के केन्द्रबिन्दु के रूप में आत्म (Self) या अहम् (Ego) को रखा है।

डेविस के शब्दों में– ''समाजीकरण का केन्द्र बिन्दु, आत्म (Self) या अहम् (Ego) का उद्‌भव एवं क्रमिक विकास करने में है। आत्म के पदों में ही व्यक्तित्व का एक रूप तय होता है एवं बुद्धि अपना कार्य करना प्रारम्भ करती है।''

इस सन्दर्भ में देखने से स्पष्ट होता है कि समाजीकरण के फलस्वरूप, मनुष्य स्वयं का ही विकास एवं उन्नति करता है। यह विकास क्रमिक रूप से होता है। इस क्रम का संबंध मनुष्य की आयु से है क्योंकि बच्चा, बचपन से लेकर वृद्धावस्था तक के अपने जीवनकाल में शिक्षण कार्य ही करता रहता है एवं इस पूरे समय चक्र में वह उत्तरोत्तर विकास के मार्ग पर चलता रहता है। यह प्रक्रिया निरन्तर चलती है तथा मनुष्य आत्म एवं अहम की संतुष्टि के लिए ही तमाम प्रकार के प्रयास किया करता है। इन प्रयासों में मनुष्य का प्राथमिक उद्देश्य स्वयं की समझ को विकसित करना होता है तथा इस समझ के आधार पर अपनी 'आत्म' शक्ति का विकास करना होता है। मानव का व्यक्तित्व इसी आत्म एवं अहम का सम्मिश्रण भी होता है जिसे प्रकट करने के लिए मनुष्य तदनुसार सामाजिक क्रियायें करता रहता है एवं इस प्रक्रिया के क्रमिक चरण में कभी सहयोग एवं कभी असहयोगात्मक प्रक्रियाओं को करके समाज पर अपना प्रभाव डाला करता है।

डेविस का विचार है कि शिशु का अन्य व्यक्तियों एवं वातावरण से गहन प्रकार का सम्पर्क होता है। आत्म विकास के क्रम में सर्वप्रथम मानव के भौतिक शरीर का विकास होता है इसके पश्चात शिशु के मस्तिष्क में विचारों का उद्‌भव प्रारम्भ होता है। अतः आत्म विकास का प्रथम स्रोत मानव शरीर होता है जिसके माध्यम से अनेकानेक क्रियायें मानव द्वारा की जाती हैं। इसके बाद मनुष्य का सम्पर्क अपने आसपास के व्यक्तियों एवं वातावरण के साथ होता है। ये दोनों मिलकर मनुष्य की इन्द्रियों का पालन–पोषण करके अनेक प्रकार के आचरण सीखने को स्वयं ही प्रेरित करते हैं। शिशुकाल में शिशु अपने साथी शिशुओं की हरकतों की नकल करने के भी प्रयास करते

टिप्पणी

हैं तथा संभव है कि शिशुकाल में सीखने की यह प्रक्रिया, पूर्व से ही स्थापित, व्यवहार एवं प्रतिभावों की अनुष्ठान संबंधी एकता के प्रति अपनी प्रवृत्ति को स्पष्ट करने में सहायक बन जाती है।

जन्म के समय, शिशु को 'आत्म' का ज्ञान नहीं होता वरन् सामाजिक अनुभवों की अंतःक्रीड़ा की प्रक्रिया में 'आत्म' का उद्‌भव धीरे–धीरे हो जाता है। शरीर के कई अंग जैसे बाल, नाखून, दांत, चमड़ी आदि नष्ट हो जाते हैं परन्तु मानव का 'आत्म' कभी समाप्त नहीं होता। यह तभी समाप्त होता है जब मानव की मृत्यु हो जाती है।

आत्म का एक रूप स्वयं अपने विचारों का रूप होता है वास्तव में यही सामाजिक संरचना होती है। इसका अनुभव मनुष्य, सामाजिक अनुभव के दौरान करता है। सामाजिक अनुभव के बाहर इसका स्वरूप, स्पष्ट नहीं होता है। परंतु जब इसके स्वरूप का उदय हो जाता है तो यह सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था को अपने अंदर आत्मसात भी करता है। इस प्रकार मानव का 'आत्म' स्वयं ही अपनी सामाजिक अन्तःक्रिया का आधार बन जाता है। इस स्थिति में मनुष्य स्वयं से वार्तालाप भी कर सकता है या प्रश्न–उत्तर कर सकता है। इस तरह समाजीकरण हो जाने के उपरांत यदि मनुष्य को एकान्त में छोड़ भी दिया जाये तो भी वह निष्क्रिय नहीं रहता वरन् कुछ न कुछ क्रियाएं अवश्य करता ही रहेगा। इसका कारण है कि मनुष्य ने अपने 'आत्म' तत्व का परिचय कर लिया है और वह स्वयं को आनंदित करने के किसी न किसी स्रोत को अवश्य ही तलाश कर लेता है।

## समाजीकरण की विशेषताएं

समाजीकरण की विशेषताएं निम्न प्रकार से हैं–

(i) समाजीकरण एक निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया होती है।

(ii) समाजीकरण प्रकृति एवं पर्यावरण के प्रभाव का परिणाम होता है।

(iii) समाजीकरण मूल्यों एवं मानदण्डों को सीखने की एक प्रक्रिया है।

(iv) समाजीकरण के द्वारा मानव अपने या आत्म का जागरण करता है।

(v) मनुष्य के 'आत्म' एवं 'अहम' का उद्‌भव समाजीकरण की ही प्रक्रिया में होता है।

(vi) स्थिति एवं पद के द्वारा समाजीकरण को सीमित किया जा सकता है।

(vii) अनेक पीढ़ियों एवं नस्लों को एक शृंखला में बांधने का महत्वपूर्ण कार्य समाजीकरण के द्वारा संभव हुआ है।

(viii) समाजीकरण की प्रक्रिया में मनुष्य नित्य एवं निरंतर सीखता ही रहता है।

(ix) शिशु को सामाजिक प्राणी बनाने का उद्देश्य मात्र समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा ही संभव होता है।

(x) समाज के पारस्परिक व्यवहार की पारस्परिक प्रविधियों को समाजीकरण के माध्यम से सीखा जाता है।

टिप्पणी

## समाजीकरण संस्थाएं या एजेंसियां

शिशु जब जन्म लेता है तो एक असहाय प्राणी मात्र होता है और वह कुछ भी नहीं जानता है। परन्तु जन्म लेने के पश्चात उसकी मूल आवश्यकताओं की पूर्ति उस शिशु के पारिवारिक जन विशेषकर माता–पिता करते हैं। माता–पिता को भी किसी को सम्भालना ही होगा एवं उनके माता–पिता को भी किसी ने पालपोसकर किसी योग्य अवश्य बनाया ही होगा। शिशु के पालन–पोषण की यह प्रक्रिया निरन्तर एवं प्राचीनकाल से चली ही आ रही है। यह प्रक्रिया समाजीकरण का ही परिमाण है कि शिशु की देखभाल करना एवं उसे सामाजिक प्राणी बनाने का दायित्व भी मनुष्यों का ही होता है। हालांकि यह दायित्व स्वार्थपरक भी होता है क्योंकि मनुष्य सन्तान की उत्पत्ति सिर्फ आवश्यकता की पूर्ति हेतु नहीं करते वरन अपने वशांनुक्रम की बढ़ोतरी के लिए भी करते हैं। किसी समय यह मान्यता थी कि जितने अधिक पुत्र होंगे व्यक्ति उतना ही शक्तिशाली एवं मजबूत होगा। अतः मनुष्य अधिकाधिक पुत्र उत्पन्न करके अपनी स्व की शक्ति को प्रबल बनाने का कार्य करता था।

समय के साथ यह प्रवृत्ति एवं विश्वास, परिवर्तित होता चला गया क्योंकि कई अवसरों पर माता–पिता सन्तान के ही हाथों विवश हो गए एवं उनकी सन्तानों ने उनकी इच्छानुसार कार्य नहीं किया। यह मानव प्रकृति का पृथक विषय है।

समाजीकरण की प्रक्रिया एक विस्तृत प्रक्रिया है जिसे समाज की अनेक संस्थाएं या एजेंसियां लागू या क्रियान्वयन करने का कार्य करती हैं। इनमें से प्रमुख इस प्रकार हैं–

**(i) परिवार** : शिशु का सर्वप्रथम परिचय अपने परिवार से ही होता है। परिवार प्राथमिक समूह के रूप में शिशु का समाजीकरण करता है एवं अपने पूर्वजों के संस्कारों एवं परम्पराओं को शिशु तक अन्तरित (transfer) करने की प्रक्रिया करता है। हिन्दू धर्म शास्त्रों के अनुसार शिशु को अपने संस्कार देने की अनेक पद्धतियां परिवार के माध्यम से ही प्रथमतः दी जाती हैं। इन संस्कारों में षोडश संस्कारों का विवरण मिलता है। एक निश्चित समय अवधि पर शिशु के वयस्क होने तक ये संस्कार सिखाये जाते हैं। ये सब संस्कार, वास्तव में समाजीकरण के ही अंग हैं जो हिन्दू धर्म के प्राचीन समय से चले आ रहे हैं। इस शृंखला में शिशु को अपने पूर्वजों के बारे में बताया जाता है ताकि शिशु अपने इतिहास को जानकर अपने पूर्वजों की भांति बनने का प्रयास करे। इस कार्य में शिशु का प्रथम गुरु 'माता' को माना गया है। माता अपने ज्ञान एवं अनुभव के आधार पर सर्वप्रथम शिशु के साथ सम्पर्क एवं संचार करना प्रारम्भ करती है। शिशु बोलना प्रारम्भ करता है तो माता ही उसके साथ प्राथमिक शब्दों का उच्चारण करती है। इस क्रम में बच्चा अपनी माता की भाषा को सीखना प्रारम्भ करता है। माता के ज्ञान एवं अनुभव का प्रभाव शिशु पर पड़ना आरम्भ हो जाता है। शिशुकाल में शिशु की समाजीकरण की प्रक्रिया अनेक अन्य तथ्यों पर भी निर्भर करती है जैसे–

- परिवार का प्रकार– एकाकी या संयुक्त परिवार,
- माता–पिता का शैक्षिक स्तर,
- माता–पिता का आर्थिक स्तर,

टिप्पणी

- शहरी या ग्रामीण परिवेश का परिवार,
- माता–पिता का व्यवसाय,
- शिशुओं की संख्या,
- परिवार के सदस्यों की संख्या एवं स्तर तथा
- परिवार के पड़ोसियों से संबंध।

उपरोक्त सभी तथ्य एक–एक करके गम्भीर चिन्तन एवं शोध के विषय हैं, इनमें से अधिकतर पर अधिक स्थानों पर शोध किए गये हैं। बच्चों पर परिवार की स्थिति के प्रभाव के विषय क्षेत्र में अध्ययन भी किये जा रहे हैं। इन अध्ययनों से स्पष्ट हो रहा है कि शहरी क्षेत्रों के शिशु कृत्रिम विधियों से समाजीकरण की प्रक्रिया सीखते हैं क्योंकि वहां पर कामकाजी माता–पिता होते हैं एवं आस–पड़ोस का वातावरण भी सौहार्दपूर्ण नहीं होता जैसा कि ग्रामीण परिवेश में होता है। परिणामस्वरूप शिशु, कम्प्यूटर या टेलीविजन के माध्यम से समाजीकरण सीखता है जो प्राकृतिक कम एवं कृत्रिम अधिक होता है। इसका परिणाम आने वाली पीढ़ियों पर एकाकीपन के रूप में देखने को मिलता है एवं यही संतान, वृद्ध माता–पिता का सहारा बनने के बजाए उन्हें वृद्धाश्रमों (Old Age Home) में छोड़ने तक के कार्य करते हैं। जबकि ग्रामीण परिवेश में पूरा गांव सौहार्दपूर्ण माहौल में रहता है तथा बच्चे अपने आस–पड़ोस एवं अनेक पारिवारिकजनों एवं नातेदारों के परोक्ष सम्पर्क में अपने पूर्वजों के संस्कार एवं परम्पराएं सीखते हैं।

**(ii) शिशु की सम्पर्क सीमा एवं मित्रमण्डली** : शिशु, बाल्यावस्था में घुटनों के बल चलता हुआ अपने पैरों पर खड़ा होता है तो घर की चारदीवारी से बाहर झांकने की उत्सुकता प्रदर्शित करता है एवं जानना चाहता है कि चारों तरफ क्या हो रहा है? इसी प्रक्रिया में वह अनेक बच्चों के सम्पर्क में आता है (यदि हो तो) तथा इन बच्चों के साथ मिलना–जुलना प्रारम्भ करता है। बच्चा थोड़ा और बड़ा होता है तो कुलाचियां मारकर घर से बाहर निकलकर स्वतंत्र जीवन की तलाश करता है। इस स्थिति में उसका सम्पर्क अपने हम उम्र के बच्चों के साथ होता है। ये सब बच्चे साथ मिलकर खेलते हैं और बातें करते हैं। इन बच्चों के माता–पिता का एवं परिवार का प्रभाव इनके ऊपर अवश्य ही होता है। शिशु इन बच्चों से अन्य बातें भी सीखता है। यह मित्रमण्डली कहलाती है। शिशु विद्यालय जाना प्रारम्भ करता है एवं इस मित्रमण्डली के साथ अपनी निम्न बातों को साझा करता है जैसे–

- एक–दूसरे का नाम जानना,
- एक–दूसरे का धर्म जानना,
- एक–दूसरे के परिवार के बारे में जानकारी प्राप्त करना,
- एक–दूसरे के परिवार के सदस्यों का आपसी व्यवहार तथा
- एक–दूसरे की वस्तुओं एवं उपभोग की सूचना प्राप्त करना।

**(iii) विद्यालय** : विद्यालय समाजीकरण करने की प्रमुख संस्था या एजेंसी के रूप में कार्य करता है। प्रत्येक विद्यालय राज्य या केन्द्र सरकार द्वारा मान्यता प्राप्त पाठ्यक्रम के अनुसार शिक्षा देने का कार्य करता है परन्तु बालक, पाठ्यक्रम ही

टिप्पणी

नहीं सीखता वरन् अन्य अनेक नई वस्तुओं की भी जानकारी प्राप्त करता रहता है जिसका स्रोत, मित्रगण एवं अध्यापक होते हैं। बालक अपनी रुचि के अनुसार मित्रमण्डली बनाता है एवं जो अध्यापक इन रुचियों में सहायक होते हैं उन्हीं के सम्पर्क में आकर वह अपना ज्ञानवर्द्धन करता रहता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक विद्यालय की अपनी व्यक्तिगत विचारधारा एवं पृष्ठभूमि होती है जिसके आधार पर छात्रों को अतिरिक्त ज्ञान करवाया जाता है जिसे अतिरिक्त पाठ्यक्रम (Extra Curriculum Activities) के नाम से जाना जाता है। भारत में अनेक प्रकार की सामाजिक एवं धार्मिक संस्थाओं द्वारा अनेक प्रकार के विद्यालयों का संचालन किया जा रहा है जैसे–

- सरस्वती विद्या मन्दिर विद्यालय,
- नवोदय विद्यालय,
- डी.ए.वी. कालेज,
- मदरसे तथा
- मिशनरी स्कूल आदि।

उपरोक्त विद्यालय, बच्चों का समाजीकरण तो करते हैं परन्तु इस प्रक्रिया में बच्चों के अपने विद्यालय की मूल अवधारणा (सांस्कृतिक, धार्मिक) से भी बच्चों को पोषित करते हैं। परिणामस्वरूप बच्चा, समाज की अन्य आवश्यक प्रक्रियाओं एवं व्यवस्थाओं को भी जानता रहता है। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि बच्चा जिस प्रकार के विद्यालय में अध्ययन करता हो उस विद्यालय की मूल अवधारणाओं से पूर्णतः सहमत हो। उदाहरण के लिए, अनेक बच्चे मिशनरी स्कूलों में पढ़ते हैं लेकिन इनमें हिन्दू, मुस्लिम एवं ईसाइयत धर्म नहीं अपनाते क्योंकि इन बच्चों का उद्देश्य मात्र शिक्षा ग्रहण करना होता है। समाजीकरण की प्रक्रिया के मामले में ये बच्चे अपने परिवार के दबाव एवं प्रभाव में ही सीखते हैं।

**(iv) मीडिया एवं संचार** : वर्तमान समय, मास मीडिया (Mass Media) का है एवं इनके माध्यम से अनेक प्रकार की सूचनाएं लेकर मनुष्य समाजीकरण की तरफ अग्रसर होता है परन्तु यह अनिवार्य नहीं कि व्यक्ति मास मीडिया द्वारा समाजीकृत हो ही जाए यह तो मात्र सूचना का स्रोत है।

समाजीकरण की अन्य एजेंसियां–

- इलेक्ट्रॉनिक मीडिया,
- सन्दर्भ समूह,
- कारखाने,
- कार्यालय,
- बाजार, हाट,
- धार्मिक अनुष्ठान कराने वाले संगठन तथा
- रीतिरिवाज से सम्बन्धित समूह एवं संगठन आदि।

## समाजीकरण में सामाजिक समूहों की भूमिका

समाजीकरण में सामाजिक समूहों की भूमिका को जानने से पूर्व यह अनिवार्य है कि सामाजिक समूहों के बारे में अध्ययन किया जाये।

टिप्पणी

## सामाजिक समूह

एन्थोनी गिडेन के अनुसार– "सामाजिक समूह, व्यक्तियों का एकत्र होना है जो आपस में नियमित रूप से एक–दूसरे के साथ अन्तःक्रियायें करते हैं। इन सभी व्यक्तियों की पहचान, समूह के ही रूप में होती है व्यक्तिगत नहीं।"

ऑगबर्न एवं निमकॉफ के शब्दों में– "दो या दो से अधिक एकत्र हुए व्यक्ति एक–दूसरे को प्रभावित करके एक समूह का निर्माण करते हैं।"

रॉबर्ट मर्टन के अनुसार उपरोक्त परिभाषाएं अपूर्ण हैं क्योंकि एकीकरण तो राष्ट्र में भी होता है परन्तु राष्ट्र कोई समूह नहीं होता। मर्टन ने सुझाव दिया कि–

(i) समूह में दो या दो से अधिक व्यक्ति होते हैं।

(ii) समूह में अन्तःक्रियाओं का होना अनिवार्य होता है।

(iii) अन्तर्क्रियाओं में निरन्तरता होती है।

(iv) समूह के सदस्यों में 'हम' की भावना होती है।

सामाजिक समूहों को तीन प्रमुख श्रेणियों में विभक्त किया जाता है–

1. प्राथमिक समूह
2. द्वितीयक समूह
3. सन्दर्भ समूह

## प्राथमिक समूह

कूले के अनुसार– "प्राथमिक समूहों की विशेषता आमने–सामने के घनिष्ठ साहचर्य और सहयोग के रूप में अभिव्यक्त होती है। ये समूह प्राथमिक होते हैं क्योंकि वे व्यक्ति की सामाजिक प्रकृति एवं आदर्शों के निर्माण करने में मौलिक होते हैं।"

किंग्सले डेविस के अनुसार– प्राथमिक समूह के सदस्य आमने–सामने मिलते हैं एवं उनके बीच 'हम' की भावना होती है। वैसे तो हम अनेक लोगों से आमने–सामने मिलते हैं परन्तु इसमें कोई भावनात्मक संबंध नहीं होता। प्राथमिक समूह में लोग आमने–सामने मिलते हैं तो उनके मध्य भावनात्मक संबंध एवं संवेग होता है, प्राथमिक समूह के निम्न उदाहरण हैं–

- परिवार,
- मित्रमण्डली,
- जनजातीय समाज का कबीला,
- गांव,
- मोहल्ला तथा
- खेल के समूह आदि।

गांव एक प्राथमिक समूह होता है जिसमें लगभग सभी व्यक्ति एक–दूसरे को जानते हैं एवं उनमें पारस्परिक अंतःक्रियायें होती हैं।

टिप्पणी

प्राथमिक समूहों की विशेषताऐं निम्नलिखित प्रकार से हैः–

- इसमें एक से अधिक व्यक्ति होते हैं।
- संबंधों में संवेग होते हैं।
- सदस्यों में आपसी पहचान होती है।
- इन सदस्यों के मध्य शारीरिक विकटता पाई जाती है।
- ये समूह आत्मनिर्भर होते हैं।
- अधिकतर प्राथमिक समूहों में सजातीयता भी होती है।
- प्राथमिक समूह अपेक्षाकृत छोटे आकार के होते हैं।
- इनके संबंध एवं स्थान स्थायी प्रकार के होते हैं तथा इनके संबंधों में निश्चितता होती है क्योंकि छोटे समूह सरलता से स्थायित्व प्रकृति के होते हैं।
- प्राथमिक समूह के सदस्यों में आपसी 'अपनापन' पाया जाता है जो इनकी एकता का द्योतक होता है।
- प्राथमिक समूह के सदस्यों में पारस्परिक सहयोग एवं असहयोग साथ–साथ चलने वाली सामाजिक क्रियायें हैं। इनके मध्य संघर्ष एवं प्रतियोगिता दोनों ही पाये जाते हैं।
- प्राथमिक समूहों की प्रकृति में भी परिवर्तन होते रहते हैं।
- इन समूहों के एक समान लक्ष्य होते हैं।
- प्राथमिक समूहों के सांस्कृतिक गुण लगभग समान होते हैं।
- प्राथमिक समूहों में आत्मीयता की भावना होती है।

## द्वितीयक समूह

गिडेन्स ने द्वितीयक समूहों की परिभाषा इन शब्दों में दी हैः–

"द्वितीयक समूह, मनुष्यों की संख्या है जो नियमित रूप से मिलते हैं परंतु इन मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्ध अवैयक्तिक होते हैं। इन समूहों में व्यक्तियों के आपसी संबंध प्रगाढ़ भी नहीं होते। द्वितीयक समूह के व्यक्ति सिर्फ निश्चित उद्देश्य के लिए ही सम्पर्क में आते हैं।"

कूले के समय में द्वितीयक समूहों का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था, परंतु पूंजीवाद एवं आधुनिकता के प्रसार के कारण औद्योगिक समाजों में द्वितीयक समूहों का प्रसार 20वीं सदी में ही हुआ। अतः द्वितीयक समूह विकसित एवं औद्योगिक समाज में ही पाये जाते हैं।

द्वितीयक समूह का उदाहरण–संगठन

अतः संगठन ही द्वितीयक समूह होते हैं। जिसमें सदस्य संविदा द्वारा, संगठन के साथ सम्बद्ध होते हैं।

द्वितीयक समूहों की विशेषताएं निम्न प्रकार से हैं–

- इनमें अवैयक्तिक संबंध होते हैं।
- सदस्य संविदा द्वारा समूह (संगठन) के साथ जुड़े होते हैं।

टिप्पणी

- पारस्परिक संबंध औपचारिक होते हैं।
- संगठन का उद्देश्य निश्चित होता है।
- संगठन के स्थापित नियमों के उल्लघंन पर दण्ड का प्रावधान रहता है।

## सन्दर्भ समूह

मुजफ्फर शेरिफ एवं कैरोली शेरिफ के अनुसार– "सन्दर्भ समूह व्यक्तियों के वे समूह होते हैं जिनसे व्यक्ति स्वयं को समूह के एक अंग के रूप में जोड़ता है। (1956)"

दुबे के अनुसार – "सन्दर्भ समूह वह समूह होता है जिसका अस्तित्व, व्यक्ति के मस्तिष्क के अन्दर होता है। इसके नियम, व्यवहार, मनोवृत्तियों, आदर्श एवं मूल्यों को व्यक्ति, स्वयं के आदर्श मानकर, स्वयं के आचरण एवं व्यवहार में निखारने का कार्य करता है।"

सन्दर्भ समूहों की अवधारणा का सूत्रपात एच.एच. हाइमैन (H.H. Hymain) ने वर्ष 1942 में किया। इन्होंने कहा कि– सन्दर्भ समूह वह समूह है जिसके आचार–विचार, आदर्श मूल्यों, स्थिति एवं व्यवहार प्रतिमान के साथ व्यक्ति अपना समीकरण करता है। हाईमैन ने स्पष्ट किया कि हमें यह जानना आवश्यक होता है कि व्यक्ति किस समूह से जुड़ा हुआ है और वह किस समूह के आदर्शों का पालन कर रहा है अर्थात् यह आवश्यक नहीं कि व्यक्ति जिस समूह से जुड़ा हो उसके उद्देश्यों एवं आचार–विचारों का पूर्णतया पालन करे। वास्तव में मनुष्य अपने समूह के अतिरिक्त किसी अन्य समूह के साथ परोक्ष रूप से न जुड़ा होते हुए भी उस दूसरे समूह की मनोवृत्तियों एवं आचरण को किस सीमा तक अपने व्यवहार में लाता है। वास्तव में सन्दर्भ समूह, किसी भी व्यक्ति के लिए एक आदर्श समूह होता है जिसका अनुसरण करके यह व्यक्ति उसी समूह जैसा होना चाहता है। सन्दर्भ समूह काल्पनिक भी हो सकते हैं। एक व्यक्ति किसी परिवार का सदस्य है परन्तु वह दूसरे के परिवार का सदस्य न होते हुए भी दूसरे परिवार की अच्छी बातों का अनुसरण करके उनके जैसा बनने का प्रयास करता है। समूहों का समाजीकरण में योगदान या भूमिका का प्रभाव जानना भी आवश्यक है।

## प्राथमिक समूह का समाजीकरण पर प्रभाव

समाजीकरण करने की सबसे कारगर एवं सार्थक इकाई वास्तव में प्राथमिक समूह ही है। समाजीकरण कोई नई अवधारणा नहीं है। यह प्रक्रिया तो उस समय से वजूद में है जब प्राथमिक समूह की परिभाषा एवं अर्थ भी मानव को ज्ञात नहीं था।

प्राचीनकाल से ही परिवार एवं नाते रिश्तेदार, अपने बच्चों को समाज का योग्य नागरिक बनाने के प्रयास करते रहे हैं। इस दिशा में काम करते हुए प्राचीनकाल से ही बालक की उचित शिक्षण व्यवस्था भी की जाती थी क्योंकि व्यक्ति शिक्षा के द्वारा ही सरलतापूर्वक एवं सटीक ज्ञान अर्जित करता है।

हमारा भारतीय समाज गांव में ही बसता है या यह कहा जाए कि हम भारतीय लोग तो गांवों में ही निवास करते हैं। गांव सबसे महत्वपूर्ण प्रकार की प्राथमिक इकाई है। इसमें लोगों के मध्य पारस्परिक सौहार्द एवं भावपूर्ण संबंध होते हैं। आज भी भारतीय गांव में लगभग सभी व्यक्ति एक दूसरे को व्यक्तिगत रूप से जानते हैं, यदि किसी का बालक कोई सामाजिक कार्य करता देख लिया जाये तो कोई भी ग्रामीण, उस बालक

टिप्पणी

के घर तुरंत ही पहुंच जाता है तथा माता–पिता एवं परिवार को इसकी सूचना देता है ताकि वह बालक बिगड़े नहीं।

हालांकि उस बालक के बनने–बिगड़ने से उस शिकायतकर्ता को कोई परोक्ष–अपरोक्ष हानि नहीं होती तथापि वह यह सोचकर कि "यह बालक हमारे गांव का है।" यदि यह बिगड़ता है तो गांव का नाम खराब होगा एवं गांव की प्रतिष्ठा धूमिल होगी।

इसी प्रकार यदि गांव में कोई रिश्तेदार आता है तो सभी गांव वाले उस व्यक्ति का सम्मान करते हैं भले ही वे उसे जानते हों या न जानते हों भले ही वो उनकी जाति या धर्म से भी संबंध न रखता हो।

समाजीकरण करने में सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान ग्रामीण समुदाय एवं समाज का ही होता है। चूंकि ये संख्या में कम होते हैं इस कारण से लोग परस्पर एक दूसरे को व्यक्तिगत रूप से जानते हैं। अवसर देखा जाता है कि गांव के बुजुर्ग व्यक्तियों के सामने, युवा एवं बच्चे सम्मान का भाव इसी करण से रखते हैं कि ये बुजुर्ग इन बच्चों एवं युवाओं को आचार–विरुद्ध कार्य करने पर तुरंत ही टोक देते हैं ऐसा नहीं कि वे इनके रिश्तेदार हैं या उनके सगे संबंधी हो वरन् इस कारण से कि वे एक प्राथमिक समूह के स्थायी सदस्य होते हैं।

### द्वितीयक एवं सन्दर्भ समूहों का समाजीकरण पर प्रभाव

द्वितीयक एवं सन्दर्भ समूहों की अवधारणा अपेक्षाकृत नवीन (दोनों ही 20वीं सदी की) है। इस कारण इनकी भूमिका समाजीकरण के क्षेत्र में अत्यंत ही जटिल प्रकार की है। द्वितीयक समूह तो वास्तव में संगठन ही होते हैं जो किसी कार्य विशेष के लिये बनाये जाते हैं। द्वितीयक समूह का पारस्परिक सम्पर्क एवं संबंध भी निकटतम प्रकार का नहीं होता जिस कारण इनका समाजीकरण की प्रक्रिया का विशेषीकृत रूप या उद्देश्य बनाकर ही इस प्रक्रिया में सहयोग किया जा सकता है। उदाहरणार्थ कोई निजी सामाजिक संस्था या 'NGO' समाज के किसी वर्ग विशेष को भारतीय संस्कृति से परिचित कराने का प्रकार्य कर रहा है तो वह ऐसे समाज का चयन करता है जहां पर भारतीय संस्कृति का लोप हो रहा हो। इस चयन के पश्चात वह संगठन अपने सदस्यों के साथ, इस समाज के लोगों से सम्पर्क स्थापित करके उन्हें शिक्षित करने का कार्य करता है।

भारत में जनजातीय क्षेत्रों में रहने वाली जनजातियों के लोगों का समाजीकरण करने का कार्य अनेक NGO अपने स्तर पर कर रहे हैं ताकि इन जनजातियों के लोगों को समाज की मुख्य धारा में सम्मिलित किया जा सके। परंतु यहां पर अनेक महत्वपूर्ण प्रश्न उठते हैं जैसे–

- जिस समाज में हम रहते हैं क्या यह पूर्णतः सामाजिक है?
- जनजाति के लोग समाजीकृत होने के लिए उत्सुक हैं क्या?
- कहीं जनजाति के लोगों को जागरूक एवं समाजीकृत करके हम उनकी प्रकृति का हनन तो नहीं कर रहे?

अतः द्वितीयक और संदर्भ समूहों का समाजीकरण की प्रक्रिया में विशेष प्रभाव है।

## समाजीकरण के सिद्धान्त

समाजीकरण के सिद्धान्त निम्न प्रकार हैं–

### कूले का समाजीकरण का सिद्धान्त

टिप्पणी

कूले के सिद्धांत को 'आत्म दर्पण दर्शन' (Self mirror vision) का नाम देकर मनुष्य के सामाजिक होने की प्रक्रिया को स्पष्ट किया है। कूले भी अन्य विद्वानों की भांति मनुष्य में होने वाले 'मैं' के भाव के विकसित होने की प्रक्रिया को अपने आत्म दर्पण दर्शन 'सिद्धान्त' की सहायता से स्पष्ट करते हुए बताते हैं कि जब शिशु का जन्म होता है तो वह शिशु अबोध होता है एवं उसमें किसी प्रकार भी सामाजिक अभिव्यक्ति नहीं होती–

- न शिशु स्वयं (स्व) को जानता है और
- न ही समाज (आसपास) को जानता है।

यहां तक कि शिशु कोई भाषा नहीं जानता और उसकी स्वयं की कोई भी बोली या भाषा नहीं होती है। जिस परिवार या समाज में वह शिशु जन्म लेता है वह शिशु उसी की भाषा सीखता है। जब वह भाषा सीखता है तो अपने परिवार के सदस्यों की बातें समझने का प्रयास करना आरम्भ करता है। समाज की बोली एवं भाषा सीखते हुए उसे यह नहीं पता होता कि यह प्रक्रिया उसकी समाजीकरण की एक सीढ़ी है जिसके सहारे वह एक दिन पूर्ण समाजीकृत प्राणी के रूप में विकसित हो जाएगा।

कूले ने बताया कि नवजात शिशु को यह नहीं मालूम होता है कि उसे अपने आप या स्वयं को क्या कहकर सम्बोधित करना होता है अर्थात् नवजात शिशु को 'स्व' या 'मैं' के बारे में परिवार ही सिखाता है। शिशु में यह जानने की चेष्टा या इच्छा नहीं होती है कि वह स्वयं क्या है, तथा उसे किस भाषा या संस्कार को ग्रहण करना है? मनुष्य का 'स्व' का विकास तो उसकी सामाजिक क्रिया एवं समाजीकरण की प्रक्रिया का ही परिणाम होता है। शिशु जब बड़ा होने लगता है तब उसकी जागृति भी विकसित होने लगती है और वह स्तनपान, शयन एवं लेटकर ही हाथ–पैर मारता रहता है। कुछ समय पश्चात, शिशु यह पहचानने लगता है कि अमुक व्यक्ति मेरी देखभाल करता है या मुझे स्तनपान कराता है। इसका कारण उस शिशु का स्वार्थ भाव ही होता है जो उसे–

- रोने पर चुप कराता है।
- उसके रोने का आशय भूख से लगाता है।
- अधिकांश समय उसके समीप रहता है।
- भीग जाने पर कपड़े बदलने का कार्य करता है तथा
- उसके मुस्कराने पर नजदीकी व्यक्ति (माता) को मुस्कराहट आती है।

इस प्रकार से निरन्तर कुछ माह के समीप्य से माता, बच्चे के साथ बात करने का भी क्रम प्रारम्भ कर देती है तथा कुछ शब्दों का उच्चारण भी वह करने ही लगता है।

कूले ने इस प्रकार से बच्चे के 'स्व' की भावना के विकास को अपने मनोवैज्ञानिक अध्ययन के आधार पर स्थापित किया है। इस आधार पर उन्होंने यह स्थापित करने

टिप्पणी

का प्रयास किया है। कि 'स्व' या 'मैं' की भावना का विकास, मनुष्य, सामाजिक सम्पर्क में आने पर ही कर सकता है। जब वह अन्य व्यक्तियों के सम्पर्क में आता है तो उन व्यक्तियों की ही वृत्तियों को धारण करता है। चूंकि समाज में उसके सम्पर्क में आने वाले व्यक्ति पहले ही से समाजीकरण की प्रक्रिया से गुजर कर सामाजिक हो चुके होते हैं। अतः शिशु भी वही ग्रहण करता है जो उसके सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों के पास होता है।

कूले ने स्पष्ट किया कि मनुष्य या शिशु का 'स्व' सम्बन्धी विचार, उसकी प्रवृत्तियों एवं मनोभावों की एक प्रक्रिया होती है। इस प्रवृत्ति के कारण मनुष्य यह जानने का प्रयास करता है कि अन्य व्यक्ति, इस व्यक्ति के बारे में क्या राय या विचार रखते हैं। इसे देखने एवं विचार करने की प्रक्रिया को कूले ने 'आत्म दर्पण दर्शन' के सिद्धांत का नाम दिया है।

कूले के सिद्धांत की विशेषताएं एवं प्रमुख तथ्य इस प्रकार से सूचीबद्ध किये जा सकते हैं–

- लोग, एक–दूसरे के प्रति किस प्रकार के विचार रखते हैं?
- मनुष्य के 'स्व' को समाज ने उत्पन्न किया है।
- दूसरे लोग हमारे बारे में क्या सोचते हैं?
- लज्जा या गौरवयुक्त आत्मबोध।
- मनुष्य, जाग्रत होने पर ही 'स्व' का बोध कर पाता है तथा
- 'स्व' की धारणा, दूसरे व्यक्तियों के सम्पर्क में आने पर ही उत्पन्न होती है।

### मीड का सिद्धांत

जी.एच. मीड (1863-1931) ने भी समाजीकरण की प्रक्रिया पर अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। मीड ने शिशु के अन्दर 'स्व' के विकास एवं उद्‌भव पर सप्रमाण अध्ययन किये। मीड ने शिशु के उत्तरोत्तर विकास की प्रक्रियाओं का भी अध्ययन किया था। उनका यह अध्ययन उनके द्वारा किये प्रयोगों पर आधारित था जिसे की वैज्ञानिक आधार कहा जाता है। उनका विश्वास था कि तथ्यों को व्यावहारिक रूप में देखकर विषयवस्तु की बेहतर जानकारी ली जा सकती है। इसके लिए मीड ने अनेक बच्चों की दैनिक क्रियाओं एवं खेलकूद आदि की विधियों एवं इस काल में शिशु के हो रहे मानसिक विकास का अध्ययन किया और स्पष्ट किया कि शिशु अपने आस–पास की क्रियाओं को समझते हैं एवं प्रतिक्रिया स्वरूप उनमें से अनेक क्रियाओं का अनुकरण करते हैं। यह मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति भी है कि मनुष्य अपने आस–पास की घटनाओं एवं प्रक्रियाओं से ही सीख लेता रहता है।

मीड ने देखा कि बच्चे, घरोंदे बनाते हैं। इसका तर्क देते हुए मीड ने कहा कि बच्चों को अपने आस–पास अनेक भवन एवं इमारतें दिखाई दीं जिनसे प्रेरणा लेकर उसने रेत के घरोंदे बनाने की प्रक्रिया प्रारम्भ कर दी। चूंकि भवन बड़े होते हैं एवं शिशु की कल्पना का स्तर एवं शारीरिक विकास उस स्तर का नहीं हो पाया है। अतः उसने रेत के अपने स्तर के छोटे घर बनाना प्रारम्भ कर दिया। इसका अर्थ स्पष्ट करते हुए मीड ने कहा कि बच्चे अपने आस–पास की घटनाओं एवं प्रक्रियाओं से समाज की घटनाओं एवं अन्य तथ्यों की यथासंभव जानकारी लेना प्रारम्भ कर देते हैं। इसमें

टिप्पणी

खेलकूद एवं उसके सहमित्रों के क्रियाकलाप भी सम्मिलित होते हैं। इसी समय शिशु अपना 'स्व' का विकास भी प्रारम्भ कर देता है।

किंग्सले डेविस ने अपनी पुस्तक 'मानव समाज' में शिशु के समाजीकरण की प्रक्रिया को मीड के सिद्धान्त से और अधिक स्पष्ट रूप दिया है।

मीड के अनुसार 'आत्म' कोई ऐसी वस्तु नहीं होती जो अपने आप अपना प्रकटीकरण करे वरन् यह तो समाज की अन्तर्क्रिया के माध्यम से ही प्रकट होती है। 'आत्म' का बोध मनुष्य को उसी स्थिति में होता है जब वह अन्य व्यक्तियों के सम्पर्क में आता है। यह प्रक्रिया परवर्ती चरित्रों को 'मैं' एवं 'मुझको' के पदों में भी अभिव्यक्त होने लगती है। 'मैं' की अभिव्यक्ति, अन्य व्यक्तियों के सापेक्ष स्वयं की अभिवृत्ति होती है। अतः आत्म का उद्भव, सामाजिक अन्तःक्रिया के परिणामस्वरूप होता है। चूंकि समाज की अंतःक्रियायें सदैव परिवर्तनीय रहती हैं। इस कारण से 'आत्म' एवं स्वयं के स्वभाव में भी परिवर्तन अभिलक्षित होते रहते हैं। इन परिवर्तनों की सीमा सामाजिक परिवर्तन पर भी निर्भर करती है। समाज के सभ्य होने के क्रम में मानव ने 'आत्म' पक्ष का अधिक अभियोजन करना प्रारम्भ कर दिया तथा प्रतियोगिता एवं संघर्ष के कारण मनुष्य की सामूहिकता उसके स्वार्थ के समूहों तक ही सीमित होती चली गई।

शिशु अपनी खेलकूद की क्रियाओं में संगठित होने की प्रक्रियाएं सहज ही सीखता है। मीड ने बेसबाल के खेल का उदाहरण देते हुए कहा कि–"खिलाड़ी को अपनी स्थिति से सम्बन्धित सभी स्थितियों के प्रति प्रयत्नशील रहना चाहिए। उसे यह भी अवश्य ही जान लेना चाहिए कि उसके खेल में अन्य व्यक्ति क्या करना चाहते हैं। इसका आशय यह हुआ कि जब शिशु क्रीडा–स्थल में कोई संगठित खेल खेलता है तो पक्ष–विपक्ष दो टीमें होती हैं। पक्ष एवं विपक्ष में दूसरी टीम का प्रयास पहली टीम को पराजित करना होगा। शिशु जिस भी टीम का सदस्य हो, परंतु उसे पता चल जाता है कि इस खेल में उसकी भूमिका क्या रहेगी। इसी प्रक्रिया में शिशु यह भी सहज ही सीख लेता है कि अन्य खिलाड़ी खेलते समय उसके साथ किस प्रकार का व्यवहार करेंगे। यह प्रतिद्वंद्विता की स्थिति होती है। एक ही खेल के मैदान में अपने ही मित्रों में वह अपने एवं पराये का अनुभव कर लेता है। यह उस बच्चे के मानसिक स्तर पर निर्भर करता है कि वह इस खेल में कितनी गहराई से सामाजिक प्रक्रियाओं–सहयोग या असहयोग को सीख लेता है।

मीड में बेसबाल के उदाहरण को मानव समुदाय एवं समाज के साथ तुलनात्मक रूप से रखकर स्पष्ट किया कि जैसे बेसबाल के खेल में एक संगठित चरित्र एवं संगठन होते हैं। इस खेल की प्रक्रिया के माध्यम से शिशु 'आत्म' के संगठन का रूप ग्रहण कर लेता है। ठीक इसी समय समाजीकरण की प्रक्रिया का प्रादुर्भाव होता है।

मीड के सिद्धान्त की प्रमुख विशेषतायें इस प्रकार से हैं–

- खेल के नियमों में पारस्परिक अनुक्रियाओं का संगठन विद्यमान होता है।
- खेल के नियमों से शिशु अपने अन्दर, दूसरे व्यक्तियों के कार्यों की संगठित व्यवस्था को प्राप्त करता है।
- खेल के ही समान, सामाजिक समूह का भी संगठन चित्रित होता है

टिप्पणी

- जो शिशु पहले कुछ विशेष व्यक्तियों की अभिवृत्तियां ही समझ सकता था वास्तव में वे ही अभिव्यक्तियां अन्य व्यक्तियों की भी हो सकती हैं। इसका आशय उसे यह सिखाता है कि अनेक व्यक्ति एक ही उद्देश्य के लिये क्रियाशील एवं प्रयत्नशील हो सकते हैं।
- इस पद को मीड ने 'सामान्यीकृत अन्य व्यक्ति' की संज्ञा दी है।
- कोई एक व्यक्ति सामान्य क्रियाओं एवं उद्देश्यों के दृष्टिकोण से समुदाय के आपसी स्वरूप से जुड़ी अभिवृत्तियों की व्यवस्था का अपने आप समन्वय करना सीख जाता है। इस स्थिति में वह एक पूर्ण 'आत्म' का स्वरूप धारण कर लेता है।
- पूर्ण स्वरूप धारण कर लेने पर मनुष्य सामाजिक उपज हो जाता है।
- एक बार मनुष्य सामाजिक हो जाए तो वह स्वयं को कभी अकेला महसूस नहीं करता।
- मनुष्य स्वयं से वार्तालाप कर सकता है
- मनुष्य को स्वयं की अनुभूति हो जाती है।
- समाजीकरण का कारण मानव की विकसित स्वचेतना की क्षमता है।

- जी.एच. मीड का विचार है कि 'आत्म' की महत्वपूर्ण विशिष्टता उसका सहज क्रियात्मक चरित्र होता है एवं 'आत्म' स्वयं ही कर्ता भी हो सकता है।

## फ्राउड का सिद्धांत

फ्राउड (1856–1939) ने समाजीकरण की प्रक्रिया को समझने के लिए थेरेपि (Therapy) का आविष्कार किया था। इस थेरेपि को मनोविश्लेषण (Psycho-analysis) के नाम से जाना जाता है। फ्राउड, वास्तव में बहुमुखी प्रतिभावान एवं मनोवैज्ञानिक थे। फ्राउड का मत था कि मानव के दैनिक व्यवहारों एवं क्रिया–कलापों का सर्वाधिक नियंत्रण करने का कार्य उसका स्वयं का अचेतन मस्तिष्क (Unconscious Mind) होता है। इस मस्तिष्क में मनुष्य के मन में वह सभी संस्मरण सुरक्षित होते हैं जो उसने अपने शिशुकाल में धारण किये थे। हमारा चेतन मस्तिष्क बाल्यकाल की स्मृतियां तो भुला देता है परंतु हमारा अचेतन मस्तिष्क उन सभी स्मृतियों को संगृहीत करके रखता है, अर्थात् बचपन में शिशु जो कुछ भी देखता एवं सीखता है वे सभी संस्मरण वह भूलता नहीं है परंतु जब–जब तत्संबंधी दृष्टांत सामने आते हैं तो व्यक्ति के अचेतन मस्तिष्क से वे सभी घटनाएं तुरंत ही जाग्रत हो जाती हैं और पुनः मनुष्य को याद आ जाती हैं। बाल्यकाल में शिशु के सभी अनुभव उसके अचेतन मन में संचित रहते हैं। ये संचित संस्मरण ही उसके ज्ञान एवं अनुभव का अंग होते हैं। इस अवधारणा को भारतीय हिन्दू धार्मिक ग्रन्थों में अधिक विस्तार एवं स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किया गया है। हमारे उपनिषदों एवं स्मृतियों में मनुष्य की मानसिक स्थिति का वर्णन फ्राउड के विचारों का आधार माना जा सकता है क्योंकि हमारे शास्त्रों में बताया गया है कि मनुष्य जो भी क्रियायें या व्यवहार करता है वह उसके 'संचित कर्मों' का ही फल होता है। इसी आधार पर वह व्यवहार भी करता है क्योंकि ये 'संचित कर्म' मनुष्य को ऐसा करने की प्रेरणा देते हैं। हिन्दू शास्त्रों में मन की निम्नांकित अवस्थाएं बताई गई हैं–

अन्न या शरीरमय कोष,

टिप्पणी

ज्ञानमय कोष और

मनोमय कोष।

(उपरोक्त का विस्तृत अध्ययन उपनिषदों एवं स्मृतियों में उपलब्ध है।)

फ्राउड के समाजीकरण के विश्लेषण का अन्य महत्वपूर्ण आधार व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास से सम्बन्धित है। व्यक्तित्व के विकास की प्रक्रिया भी मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया होती है। व्यक्तित्व के विकास का अर्थ व्यक्ति के शरीर के विकास से ही सम्बन्धित नहीं होता वरन् इसमें मुख्य एवं निर्णायक भूमिका मनोवैज्ञानिक विकास की होती है। हम मनुष्यों के ही व्यक्तित्व की बात कर सकते हैं क्योंकि व्यक्तित्व का मापदण्ड मनोवैज्ञानिक है। मनुष्य के मनोविज्ञान को पढ़ा एवं स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है क्योंकि मनुष्य के पास अभिव्यक्त करने की सामर्थ्य होती है जो कि पशुओं में नहीं पाई जाती है।

फ्राउड ने स्पष्ट किया है कि शिशु की मांगों की संख्या अनन्त होती है। वह अपनी मांगें पूरी करने की जिद करता है। मांग पूरी न होने पर रूठ जाता है या रोने लगता है परन्तु जब उसे पता चलता है कि अमुक मांग पूरी नहीं हो सकती है तो धीरे–धीरे वह इस कमी को सहन करने की सहनशीलता को अपने अन्दर स्वयं ही विकसित कर लेता है। शिशु केवल, भोजन की ही मांग नहीं करता वरन् अन्य अनेक प्रकार की इच्छाएं एवं आवश्यकताएं प्रकट करता है। फ्राउड ने अपने प्रयोगों द्वारा यह भी सिद्ध किया कि शिशु कुछ व्यक्तियों के शारीरिक सम्पर्क प्राप्त हो जाने पर स्वयं को सुखद स्थिति में प्रतीत करता है एवं निरन्तर चाहता है कि वह शारीरिक सुख उसे मिलता रहे। भारतीय संस्कृति में हम देखते हैं कि बच्चा अपनी माता, दादी या बहन की गोद में जाकर बहुत सुखी एवं आनंद का अहसास प्राप्त करता है। यदि बच्चे को यह ''एहसास' नहीं मिलता तो वह छटपटाता है एवं एहसास न मिल पाने के कारण चिड़चिड़ा भी हो जाता है। शिशु की इस चिड़चिड़ाहट एवं झुंझलाहट का कारण 'माता' सही ढंग से जानती है और बच्चे को कह भी देती है कि 'मैं जानती हूं तुम क्यों बेचैन हो?' 'मैं तुम्हारी बेचैनी का कारण भलीभांति जानती हूं।' शिशु यह सुनकर शांत हो जाता है और इस 'उम्मीद' में प्रतीक्षा करता रहता है कि 'माता' शीघ्र ही मुझे अपने आलिंगन में लेगी और मुझे शारीरिक सुख का 'एहसास' कराएगी। इसी बीच में बच्चा अपना 'मन' अन्यत्र लगाकर बहलाने का प्रयास करता है। वह खेलने लग जाता है या खिलौनों के साथ मन बहलाता है। खिलौनों के साथ खेलने या अन्यत्र मन बहलाने का अर्थ यह नहीं होता कि बच्चे के अचेतन मस्तिष्क से उस 'स्नेह' एवं 'प्यार भरे एहसास' की स्मृतियां नष्ट हो गई हैं वरन् शिशु ने सहनशीलता का परिचय दिया एवं 'अपने मन को मारना' सीख लिया। इस तरह शिशु बार–बार शारीरिक सम्पर्क पाने का प्रयास करता रहता है एवं सम्पर्क मिल जाने पर सुखद अनूभूति करता है, क्योंकि शारीरिक सम्पर्क से उसे आनन्द की अनुभूति होती है जो कि क्षुब्ध की आवश्यकता से भी अधिक महत्वपूर्ण स्थान रखती है। शिशु की शारीरिक आवश्यकता का संबंध उस मन एवं जाग्रत चेतना के साथ होता है जिसे वह अपने आनंद के साथ जोड़कर देखता है। फ्राउड ने यह भी पूर्ण रूप से स्पष्ट कर देना उचित समझा है कि शिशु के शारीरिक सम्पर्क का अर्थ 'काम–विषयक' कदापि नहीं लेना चाहिए क्योंकि शिशु को तो अभी तक

टिप्पणी

कामवासना एवं उसकी आवश्यकता का ज्ञान भी नहीं होता और न ही उसकी शारीरिक रचना, उसे इस योग्य बनाती है।

समय बीतने के साथ शिशु की यह आवश्यकता परिवर्तित होने लगती है क्योंकि वह निरन्तर ही शारीरिक सम्पर्क में नहीं रह सकता है। जब उसे यह आभास एवं ज्ञान हो जाता है कि वह हमेशा शारीरिक सम्पर्क में रहकर आनन्दमय नहीं रह सकता तब वह इस 'प्रेम भाव' के विकल्प के रूप में अपने मित्रों, या अन्य प्रयोजनों द्वारा अपना समाजीकरण स्वयं ही करने लग जाता है। बच्चा चाहे कहीं भी रहे कितनी भी आयु का क्यों न हो जाये वह अपने साथ उस शारीरिक रूप से लिये गये आनन्द की अनुभूति कभी भी नहीं भूल सकता। जैसा कि फ्राउड ने बताया भी है कि ये सभी स्मृतियां मानव के अचेतन मस्तिष्क में संगृहीत होकर सुषुप्तावस्था में पड़ी रहती हैं।

फ्राउड का ध्यान मानव की मनोवैज्ञानिक आधार पर होने वाली प्रगति पर भी रहा है। उन्होंने कहा कि मनुष्य के मनोवैज्ञानिक विकास की प्रक्रिया में निरन्तर ही एक प्रकार का द्वंद्व एवं तनाव की स्थिति बनी रहती है। तनाव के इस व्यवहार को फ्राउड ने 'ऑडिपस कॉम्पलेक्स' (Oedipus Complex) का नाम दिया है। इसमें उन्होंने बताया कि मानव का व्यवहार, मुख्यतः काम विषयक (Erotic) बातों द्वारा अधिक संचालित होता है। इस अवधारणा के द्वारा, फ्राउड ने शिशुओं में यौन भेद संबंधी समाजीकरण का विवरण स्पष्ट किया है कि संतान को अपने माता–पिता के यौन संबंधों के बारे में जानकारी होने पर उसके मन में एक अजीब सा तनाव या उनके शब्दों में ऑडिपस कॉम्पलेक्स आ जाता है। यह समाज का यथार्थ सत्य है कि संतान की उत्पत्ति, स्त्री एवं पुरुष के यौन सम्बन्धों के कारण ही संभव है और फ्राउड ने समाजीकरण की इस आवश्यकता को भी स्पष्ट किया है।

फ्राउड ने समाजीकरण की सम्पूर्ण प्रक्रिया को बहुत ही वैज्ञानिक एवं मनोवैज्ञानिक आधार पर स्पष्ट किया है एवं बताया कि मानव मस्तिष्क में तीन प्रमुख भाग होते हैं। मनुष्य का व्यवहार इन तीनों मस्तिष्कों के विकास एवं स्थिति पर निर्भर करता है–

- अचेतन मस्तिष्क –इड (ID)
- अहं या इगो (Ego)
- परम अहं (Super Ego)

उपरोक्त आधार पर हम यह कर सकते हैं कि फ्राउड ने मानव समाजीकरण की पूर्ण प्रक्रिया को दो भागों में बांट कर स्पष्ट किया है–

(1) समाजीकरण एक मानसिक प्रक्रिया होती है।

(2) समाजीकरण एक सामाजिक प्रक्रिया होती है।

फ्रायड के समाजीकरण के सिद्धांत के आधार पर हम कह सकते हैं कि–

- मनुष्य का समाजीकरण जन्म के बाद बदलने वाली एक सतत प्रक्रिया होती है।
- शिशु अपने आप–पास की वस्तुओं एवं वातावरण से ही सब कुछ सीखता है।
- मानव व्यवहार को, आवेग, शक्ति, तनाव, भूख आदि से दृढ़ आधार मिलता है।
- प्रेरणाएं समाजीकरण का प्रारंभिक बिन्दु होती हैं।

टिप्पणी

- मनुष्य चार गुण लेकर जन्म लेता है–सामर्थ्य, सहजक्रियायें, मूलप्रवृत्तियां एवं प्रेरणायें।

## 3.4.5 सामाजिक नियंत्रण

मैक्लेवर ने सामाजिक नियन्त्रण को ऐसी रीति के रूप में परिभाषित किया जिसके द्वारा सामाजिक क्रम को जमाकर रखा जाता है, स्वयं को बनाये रखा जाता है एवं इसे समग्र रूप में संचालित किया जाता है। मेनहीम नामक एक समाज अध्येता ने सामाजिक नियन्त्रण को ऐसी विधियों का कुलयोग माना जिनसे समाज मानवीय व्यवहार को अंकुश में रखने का प्रयास करता है ताकि कोई क्रम बनाये रखा जा सके।

सामाजिक नियन्त्रण का प्रयास विभिन्न माध्यमों द्वारा किया जाता है, यथा लोकमत, सामाजिक व्यंजक, बल–प्रयोग व साम्प्रदायिक इत्यादि। समाज अपना प्रस्ताव व्यक्ति पर डालता है जो किसी व्यक्ति द्वारा डाले जाने वाले प्रभाव से अधिक सशक्त होता है। यह सामाजिक समूह कोई राज्य, परिवार अथवा व्यापारिक गुट हो सकता है। वैसे प्रभाव की सफलता विभिन्न कारकों पर निर्भर है। उदाहरणार्थ परिवार का प्रभाव मंदिर अथवा राज्य से अधिक सफल रह सकता है।

व्यक्ति की समाजीकरण की प्रक्रिया में सामाजिक नियन्त्रण एक महत्वपूर्ण परिप्रेक्ष्य है। समाज के सभी सदस्यों से नियमों व परम्पराओं के पालन की अपेक्षा की जाती है। इन नियमों की अवहेलना किये जाने की स्थिति को दण्ड योग्य समझा जाता है। सामाजिक नियन्त्रण से समरूपता प्रेरित होती है, समाज के सदस्य एक सूत्र में पिरोये–से रहते हैं। सामाजिक नियन्त्रण के दो प्रकार सर्वाधिक प्रचलित हैं: औपचारिक नियन्त्रण एवं अनौपचारिक नियन्त्रण। औपचारिक नियन्त्रण किसी विभाग अथवा अभिकरण द्वारा किया जाता है, यथा पुलिस, सेना इत्यादि द्वारा। यह तब किया जाता है जब अनौपचारिक नियन्त्रण द्वारा अनुशासन बनाये रखना सम्भव न हो। अनौपचारिक नियन्त्रण समाज द्वारा किया जाता है जिसमें किसी प्रविधि अथवा प्रावधान की व्यवस्था नहीं की गयी होती। यह नियन्त्रण विनियमों व स्थापित रिवाजों द्वारा किया जाता है। सामाजिक क्रम स्थापित करने में पारम्परिक समाजों द्वारा सामाजिक नियन्त्रण का उपयोग किया जाता है।

### सामाजिक नियन्त्रण का स्वरूप

औपचारिक नियन्त्रण में विकृत व्यवहार पर अंकुश लगाये रखने के लिए प्रविधियों, विनियमों व नियमों का निर्माण किया जाता है एवं इनका क्रियान्वयन कराया जाता है। उदाहरणार्थ हत्या–विरोधी प्रावधान अर्थात हत्या का निषेध करने के नियम से हर समाज में हत्या को हतोत्साहित किया जा सकता है। कुछ अधिनियम कुछ ही समूहों में लागू होते हैं, जैसे कि राष्ट्रीय उद्यान के सरोवर में औजारयुक्त मछुआरों का प्रवेश–निषेध। कॉर्पोरेट विधियां सामाजिक संस्थानों पर लागू हैं। औपचारिक नियन्त्रण विधि–प्रवर्तन क्रियाविधियों द्वारा भी औपचारिक नियन्त्रण किया जाता है। सामाजिक नियन्त्रण के लिए दण्डशुल्क व कारावास जैसी व्यवस्थाएं भी की जाती हैं।

अनौपचारिक दण्डव्यवस्था के कुछ उदाहरण कटाक्ष, आलोचना व उपहास हैं। अत्यधिक पथभ्रष्ट नागरिकों को समाज से बाहर करने के लिए समाज–निष्कासन व देश–बहिष्करण जैसे अन्य अनौपचारिक नियन्त्रण भी किये जाते हैं।

टिप्पणी

अनौपचारिक नियन्त्रण कार्यविधियों की गम्भीरता व उनका स्वरूप व्यक्तियों, समूहों व समाजों में भिन्नतापूर्ण हो सकता है। अनौपचारिक नियन्त्रण परिवार, मित्रमण्डली, आसपड़ोस, कार्य–समूह इत्यादि लघु समूह व्यवस्थापनों में प्रचलित है।

समाज–अध्येता Edward A. Ross के अनुसार सामाजिक नियन्त्रण में 'ऐसी कार्यविधियां आज़मायी जाती हैं जिनके द्वारा समाज अपने घटक सदस्यों पर अपना नियन्त्रण स्थापित किये रहता है एवं अपने नियमों अर्थात मूल्यों का पालन निष्पादित कराता' है।

बीसवीं शताब्दी में अध्ययन के एक क्षेत्र के रूप में सामाजिक नियन्त्रण प्रचलित हो गया। समाज अध्येताओं ने दो प्रकार के सामाजिक नियन्त्रण की पहचान कीः औपचारिक नियन्त्रण एवं अनौपचारिक नियन्त्रण। औपचारिक सामाजिक नियन्त्रण विकृत व्यवहार के विरुद्ध नियमों व परिनियमों के रूप में विधि के माध्यम से किया जाता है। औपचारिक नियन्त्रण साधारणतया शासन द्वारा किया जाता है परन्तु कॉर्पोरेट संगठनों में भी किया जा सकता है।

अनौपचारिक सामाजिक नियन्त्रण रीति–रिवाजों, लोकाचारों द्वारा किया जाता है जिन्हें साधारणतया व्यक्तियों द्वारा अंतर्भूत किया गया होता है। ये सामाजिक नियन्त्रण दृढ़ ढांचों (जैसे कि प्रावधान, अधिनियम) में गढ़े नहीं गये होते। रोज का मानना है कि ऐसी प्रणालियां शासन द्वारा निर्मित प्रविधियों से अधिक व्यापक रूप में सामाजिक नियन्त्रण कर सकती हैं।

अनौपचारिक नियन्त्रण का पालन न करने वाले व्यक्तियों को अर्थ–दण्डित नहीं किया जाता, न ही कारावास में भेजा जाता है वरन् आलोचना की जाती है, सार्वजनिक भर्त्सना की जाती है एवं सामाजिक रूप में लज्जित अनुभव कराया जाता है तथा समाज से निष्कासित घोषित कर दिया जाता है।

पारम्परिक समाजों में अनुरूपता (अथवा नियम–पालन) बनाये रखने के लिए सम्प्रदाय व रीति–रिवाज जैसे अनौपचारिक नियन्त्रण अधिक महत्वपूर्ण हो सकते हैं जबकि अन्य समाजों में औपचारिक नियन्त्रण महती भूमिका निभाता है।

## सामाजिक नियन्त्रण के अभिकरण

सामाजिक नियन्त्रण विविध अभिकरणों की शृंखलाओं द्वारा किया जाता है। सामाजिक नियन्त्रण के स्पष्ट माध्यम निम्नानुसार हैं–

### (अ) विधि

विधि के द्वारा एक प्राथमिक कार्यविधि का निर्माण किया जाता है जिसके माध्यम से सामाजिक नियन्त्रण को मूर्तरूप प्रदान किया जाता है। सरल समाज में सदस्यों में समांगता होती है व अनौपचारिक सामाजिक नियन्त्रण प्रभावी रहता है। वैसे समाज के आकार व जटिलता में वृद्धि होने के सापेक्ष संविधान का निर्माण आवश्यक हो जाता है एवं परिनियमों, नियमों व विनियमों का पालन न किये जाने की स्थिति में दण्ड व्यवस्था भी अनिवार्य होती है। श्रम के बढ़े विभेदन व विभाजन के कारण विषमजात संबंधों में बंधे विभिन्न व्यक्तियों के मध्य अंतर्निर्भरता रहती है। अत्यधिक विभेदन वाले समाज में

सामाजिक नियन्त्रण के पुराने अनौपचारिक साधन (जननीति, लोकाचार इत्यादि) सामाजिक नियन्त्रण रख पाने में अक्षम सिद्ध हो जाते हैं। इसलिए सब पर समान रूप से लागू किये जा सकने वाले विधानों को एक संविधान के रूप में तैयार करते हुए उनका पालन बलपूर्वक कराया जाता है जो उस राज्य के अधिकार–क्षेत्र के अधीन होता है।

सन् 1976 में प्रकाशित 'The Behaviour of Law' में ब्लैक ने विधि को 'शासकीय सामाजिक नियन्त्रण' के रूप में परिभाषित किया जो ऐसे परिनियम व प्रक्रियाएं हैं जिनके माध्यम से संगठित व व्यक्तिगत दोनों स्वार्थों के मध्य सामाजिक संघर्षों में राज्य द्वारा हस्तक्षेप किया जाता है। विधि ऐसे नियमों का संग्रह है जिनका निर्माण भारत में विधायिका द्वारा एवं क्रियान्वयन कार्यपालिका द्वारा किया जाता है तथा विधि–उल्लंघन के प्रकरणों की सुनवायी न्यायपालिका द्वारा की जाती है।

विधि रूप प्रदान किये जा चुके नियमों का पालन कराने के लिए पुलिस, न्यायालय अथवा सशस्त्र बलों का भी प्रयोग किया जा सकता है। विधि नियन्त्रण का ऐसा साधन है जो प्रायः व्यक्तियों की मानवघाती गतिविधियों को भंग एवं उनका दमन करता है। यह व्यक्तियों को दूसरों के अधिकार ध्यान में रखने के लिए प्रेरित भी करती है एवं समन्वय की ओर अग्रसर करती है। आधुनिक समाज में विधि सामाजिक नियन्त्रण का एक विस्तृत एवं अपरिहार्य भाग हो गयी है।

### (ब) शिक्षा

सामाजिक नियन्त्रण के महत्वपूर्ण अभिकरण के रूप में विधि(कानून) के अतिरिक्त शिक्षा भी महत्वपूर्ण है। दुर्खीम नामक फ्रान्सीसी समाज अध्येता, सामाजिक मनोविज्ञानी एवं दार्शनिक ने बच्चों के समाजीकरण के रूप में शिक्षा को महत्वपूर्ण माना। इन्होंने यह भी कहा– "यह देखने, अनुभूति करने व क्रिया करने की रीतियां बच्चे में समाने का वास्तव में एक सतत् प्रयास है।" शिक्षा का तात्पर्य जीवन की रीति को हस्तान्तरित कर देने तक सीमित नहीं है। आधुनिक काल में शैक्षणिक समुदाय का अधिकांश भाग अनुभवजन्य ज्ञान को भावी पीढ़ी तक प्रसारित करने की ओर वचनबद्ध है। शिक्षा के माध्यम से नवीन पीढ़ी सामाजिक नियमों व इनका पालन न किये जाने की स्थिति में आरोपित किये जाने वाले दण्ड के विषय में सीखती है। शिक्षा से सामाजिक नियन्त्रण को स्व–नियन्त्रण में परिणत किया जा सकता है। सुसंगठित शिक्षा–प्रणाली के अभाव

टिप्पणी

में सामाजिक नियन्त्रण एक निरंकुश दबाव मात्र बनकर रह जायेगा जो कदाचित् ही अधिक अवधि तक बना रहे।

## (स) बाध्यता

बाध्यता का अभिप्राय किसी विशिष्ट लक्ष्य को पाने के लिए विवश कर दिये जाने अथवा बल–प्रयोग करने से है। जब जनता को कुछ करने से रोकने का विचार किया जाता है तो बल का प्रयोग करते हुए उसे अपने नियन्त्रण में लिया जाता है अथवा भावी संकट का भय दिखाया जाता है, यथा लाठीचार्ज, आंसू गैस के गोले छोड़ना, भीड़ को खदेड़ना। यह उपाय अन्य उपायों के निष्प्रभावी हो जाने पर अंत में अपनाया जाता है। राज्य एकमात्र संघ है जिसे सामाजिक नियन्त्रण में बाध्यता का प्रयोग करने का अधिकार है। अन्य कोई भी संघ बल–प्रयोग नहीं कर सकता। अ–सामाजिक प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाने के लिए राज्य इसका प्रयोग कर सकता है जो भौतिक अथवा अन्य रूप में हो सकता है। भौतिक बल–प्रयोग में दैहिक हानि भी सम्मिलित की जा सकती है, कारावास–दण्ड देना अथवा प्राणहरण भी किया जा सकता है। भौतिक बाध्यता सामाजिक नियन्त्रण का अत्यन्त नृशंस रूप है जिससे बचने का यथासम्भव प्रयास हर समाज को करना चाहिए। वहीं दूसरी ओर अहिंसक बाध्यता में हड़ताल, चर्चा–पलायन अथवा असहयोग किया जा सकता है।

मानव–अनुभवों से स्पष्ट हुआ है कि राजनीतिक प्रविधियों को आश्वस्त करने के लिए बाध्यता आवश्यक है। इसका प्रभाव तब अधिक होता है जब इसे कम से कम प्रयोग में लाया जाये। जब सर्वमंगल के लिए किसी सर्वसाधारण नियम को लाभदायी अथवा आवश्यक माना जाता है तो किसी न किसी स्तर पर विवशता आवश्यक है। इसी कारण सर्वसाधारण नियम के पालन में बल आवश्यक हो जाता है। बल का प्रयोग सीमित रूप से किये जाने पर ही इससे लोगों पर नियन्त्रण रखा जा सकता है।

सामाजिक नियन्त्रण के अनौपचारिक साधनों का प्रयोग परिवार, संगी–साथी समूह, आस–पड़ोस इत्यादि जैसे अनौपचारिक संस्थानों द्वारा किया जाता है–

*सामाजिक नियन्त्रण के लिए कानून और पुलिस सक्रिय भूमिका का निर्वाह करते हैं*

## (द) लोकरीति

लोकरीतियां सामाजिक नियन्त्रण के अनौपचारिक साधन हैं जिनमें व्यक्तियों द्वारा पालन किये जाने के लिए कुछ प्रथागत नियम निहित होते हैं। ये वास्तव में सोचने, अनुभूति करने व मानव–सूमहों में क्रिया करने की शैलियां होती हैं जिन्हें आचार के विनिर्दिष्ट रूप कहा जाता है। विलियम ग्राहम समर (1906) ने अपनी पुस्तक 'Folkways: A Study of Mores, Manners, Customs and Morals' में लोकरीति को 'सामाजिक बल' के रूप में परिभाषित किया। इनको आदत बना लिया जाता है। लोकरीतियों से जीवन को संतुष्ट करने का प्रयास किया जाता है। एक समूह में ये समरूपी, वैश्विक व अनवरत् हो सकती हैं। समय बीतने के सापेक्ष लोकरीतियां छितर गयीं, ये रचनात्मक व अनिवार्य हो गयीं। लोकरीतियां बनाने की प्रक्रिया में ऐसे कार्यकलाप सम्मिलित किये जाते हैं जिन्हें संबंधित आवश्यकता होने पर हर बार दोहराया जाता हो।

समूह में व्यक्तियों में रिवाजों को एक आदत बना ली जाती है। आश्चर्य यह है कि कई प्रकरणों में बड़े होने के बाद भी बच्चों को पता नहीं चल पाता कि वे स्वयं व अन्य जन इन रिवाजों को मान क्यों रहे हैं। प्रवृत्ति व रिवाज को अपनाते हुए तत्संबंधी हर व्यक्ति एक दबाव का अनुभव करता है। इस प्रकार यह समाज में बल के रूप में व्याप्त होता है। लोकरीतियां मानव–समाज की रचनाएं नहीं मानी जातीं, इन्हें प्राकृतिक बलों से व्युत्पन्न माना जाता है जिन्हें निर्विचार रहते हुए कार्यकलाप के दौरान अपना लिया जाता है एवं परम्परा द्वारा प्रसारित कर दिया जाता है। इसके परिणामस्वरूप समूची मानवता का जीवन समस्त आयुवर्गों में एवं संस्कृति की सभी अवस्थाओं में प्रमुखतः विभिन्न लोकनीतियों के किसी संग्रह द्वारा शासित होता है। ये लोकरीतियां पुरातन नस्लों से पालन की जा रही हैं एवं मानव–दर्शन, नीति–नियम व सम्प्रदाय द्वारा रूपान्तरित भी की जाती रही हैं।

टिप्पणी

## (य) लोकाचार

लोकाचारों को समाज द्वारा स्थापित पद्धतियों के रूप में अपनाया जाता है, न कि लिखित विधियों के रूप में। ये मूलतः सामाजिक विनियमों के रूप में होते हैं एवं सामाजिक आचार पर अत्यन्त प्रभावी होते हैं। सम्नेर ने लोकरीतियों के लिए लोकाचार की अवधारणा प्रयोग की जो समूहों में अत्यधिक महत्वपूर्ण एवं उनके कल्याण के लिए भी अत्यन्त महत्वपूर्ण हुआ करती थीं। सम्नेर के अनुसार लोकाचार में प्रचलित प्रयोगों व परम्पराओं का समावेश रहता है जो तब अपनायी जाती हैं जब सामाजिक आचार–व्यवहार का प्रश्न आता है, तब इनका पालन कराने के लिए व्यक्तियों पर इनके द्वारा बल लगाया जाता है। इनका पालन किसी संस्था द्वारा नहीं कराया जाता है। सम्नेर का मानना था कि लोकाचारों में समूह का जीवन–स्वरूप छलकता है। लोकाचारों को मानने वाले लोग इन्हें सदा सही ही मानते हैं। लोकाचारों से व्यक्तियों को यह बोध होता रहता है कि समुदाय अथवा समूह में रहना तभी सम्भव है जब हर व्यक्ति उस समुदाय अथवा समूह के नियमों का अनुपालन करेगा।

## (र) रिवाज

रिवाज भी सामाजिक नियन्त्रण के अनौपचारिक साधन हैं। किंग्स्ले डेविस के अनुसार, "रिवाजों का अभिप्राय प्राथमिकतया ऐसी पद्धतियों से है जो पीढ़ियों से दोहरायी जाती रही हैं। ये पद्धतियां इसीलिए तो निभायी जाती हैं क्योंकि अतीत में भी इनका पालन किया जाता था। क्रिया करने की सामाजिकरूपेण प्रत्यायित (मान्य) इन रीतियों को समाज के

टिप्पणी

रिवाज कहा जाता है।" हमारी दिनचर्या की कई गतिविधियां रिवाजों द्वारा विनियमित की जाती हैं। रिवाज विस्तृत अर्थ से युक्त शब्द है जिसमें लोकरीतियां व आचार–विचार दोनों सम्मिलित हैं। रिवाज ऐसी सामाजिक प्रवृत्तियां हैं जो पुनरावर्तन के माध्यम से सामाजिक व्यवहार के क्रम की आधारशिला बन जाती हैं।

रिवाज दीर्घावधि से स्थापित प्रवृत्तियां हैं जिन्हें लोगों द्वारा बहुत समय से अपनाया जाता रहा है। व्यापक रूप से फैली आदत अथवा ऐसी किसी प्रवृत्ति को रिवाज माना जा सकता है। लुंदबर्ग नामक एक अमेरिकन समाज–अध्येता के मत में ये लोकरीतियां होती हैं जो समय की अपेक्षा सुदीर्घ अवधियों तक जारी रखी जाती हैं। इस प्रकार इन्हें औपचारिक अभिमान्यता मिली होती है, इससे ये पीढ़ियों तक निभायी जाती हैं। रिवाज का एक अभिलक्षण यह है कि यह व्यक्तियों के लिए बाह्य स्वीकृति एवं सामाजिक संबंध के रूप में ही पाया जाता है। रिवाजों से सामाजिक जीवन का विनियमन किया जाता है अपितु ये सामाजिक जीवन को बांधे भी रखते हैं।

रिवाजों से मानव–व्यवहार का पथ–प्रदर्शन होता है एवं सामाजिक जीवन में मानव को ज्ञान प्राप्त होता है।

रिवाजों का अनुपालन अधिकांशतया बिना विचारे किया जाता है। मनुष्य इनके विषय में अपने समाजीकरण के आरम्भिक वर्षों में सीख लेता है एवं लगन से इनका पालन करता है। रिवाजों का विरोध कम ही किया जाता है व अधिकांशतया आंखें बंद करके बस इनका अनुसरण किया जाता है। रिवाजों से संयुक्त मानवीय जीवन का आधार तैयार होता है एवं रिवाज लगभग हर समाज में पाये जाते हैं। आधुनिक समाज की तुलना में पुरातन समाज में रिवाज अधिक प्रभावी व प्रधान स्थान लिये हुए थे। अस्तित्व के संघर्ष में वे ही समाज टिक पाये जो ऐसे रिवाजों का अनुपालन कर रहे थे जो समाज को परस्पर जोड़े रखते थे, इनकी क्रियाएं स्वीकार्य मापदण्डों में थीं, ये पूर्ण अहंवादी आवेगों के नियन्त्रण को विवश करते थे एवं असंयमी जनों का पूर्ण बहिष्कार किया करते थे।

रिवाज का पालन स्वमेव किया जाता है क्योंकि ये धीमी गति से विकसित होते हैं। लोग अपने पूर्वजों की देखा–देखी अपने आप ही इन व्यवहार–प्रारूपों का अनुकरण करने लगते हैं। इस प्रकार रिवाज हमारे सामाजिक व्यवहार के विनियमन में महत्वपूर्ण

टिप्पणी

भूमिका का निर्वाह करते हैं। ये हमारी संस्कृति को निर्धारित करते हैं, इसे बचाते हैं एवं एक से भावी पीढ़ी में इसे हस्तान्तरित करते हैं।

### (ल) सम्प्रदाय

सम्प्रदाय का तात्पर्य दैवी शक्तियों पर मनुष्यों का किसी प्रकार से विश्वास है। समाज–अध्येताओं मैक्लेवर व पेज के अनुसार, "सम्प्रदाय में मनुष्यों के संबंध एवं मनुष्यों व दैवी शक्तियों के मध्य के संबंध समाहित हैं।" सम्प्रदाय से किसी विशिष्ट रीति में लोगों की गतिविधियों का विनियमन किया जाता है। इसमें साम्प्रदायिक संहिता के माध्यम से मानवीय आचार का नियन्त्रण किया जाता है। इसमें मानवों की सामाजिक, मानसिक व भावनात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति की व्यवस्था रहती है। सम्प्रदाय में परिवार, साम्प्रदायिक स्थल व शाला जैसे अभिकरणों के माध्यम से जीवन के नियमों व मूल्यों का संरक्षण किया जाता है। सम्प्रदाय के तहत जीवन के मूल्य बच्चों के मनों में शुरू से ही भरने आरम्भ कर दिये जाते हैं। सम्प्रदाय में साम्प्रदायिक मान्यताओं का उल्लंघन करने वालों को संभालने की अपनी रीतियां होती हैं। साम्प्रदायिक स्थलों ने इन सम्प्रदाय–रीतियों का पालन करवाने में प्रधान भूमिका निभायी है। सामाजिक समूह में लोगों को जोड़े रखने के लिए सम्प्रदाय में विशेष प्रथाएं होती हैं। वैसे नैतिक आचार व जन–पद्धतियों में साम्प्रदायिक स्वीकृति व्यापक रूप से प्रयोग की जाती रही है।

### (व) अन्य माध्यम

सामाजिक नियंत्रण के उपरोक्त अभिकरणों के अतिरिक्त, इस संबंध में महत्वपूर्ण अन्यान्य माध्यम भी हैं, जो निम्नांकित हैं–

1. **परिवार–** सामाजिक नियन्त्रण का एक महत्वपूर्ण अभिकरण परिवार है। यह प्रथम स्थान है जहां व्यक्ति को समाजीकरण की प्रक्रिया में प्रविष्ट करा दिया जाता है। व्यक्ति जीने की विधियों, व्यवहार–प्रारूपों, परम्पराओं इत्यादि को परिजनों से ही तो ग्रहण करता है। उसको सामाजिक नियन्त्रण का पालन करना सिखाया जाता है।
2. **पड़ोस–** यह समुदाय का सरल व विशिष्ट भाग है। इसमें स्थानीय इकाई–की अनुभूति होती है। आस–पड़ोस के प्रौढ़ सदस्य जीवन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं एवं समाज में सक्रियता बनाये रखते हैं।
3. **मंदिर इत्यादि–** मस्जिद, गुरुद्वारे, गिरजाघर इत्यादि साम्प्रदायिक स्थल सामाजिक नियन्त्रण के अति शक्तिशाली अभिकरण हुआ करते थे। राजा व प्रजा गुरुओं व पुरोहितों का बहुत मान हुआ करता था, इनके वचनों की अवहेलना अथवा इनकी आज्ञा की अवमानना करने वालों को परिवार, सम्प्रदाय, राज्य

टिप्पणी

अथवा देश से बहिष्कृत तक कर दिया जाता था। इनकी सत्ता इतनी प्रबल होती थी कि ये राजा तक को पदच्युत कर सकते थे।

4. **लोकमत–** वर्तमान जनतान्त्रिक समय में जनमत महत्वपूर्ण समझा जाता है। जनमत के माध्यम से राज्य प्रजा के व्यवहारों को अपने नियन्त्रण में रखता है।
5. **अधिप्रचार–** यह व्यक्तियों का एक क्रमबद्ध प्रयास होता है जिसके द्वारा सुझावों एवं प्रतिक्रियाओं के माध्यम से लोगों के आचरणों पर नियन्त्रण किया जाता है।

## सामाजिक नियन्त्रण एवं सामाजिक क्रम

समाज बना रहे इस हेतु सामाजिक एकजुटता अपेक्षित है। किन्हीं दो व्यक्तियों के विचारों, अभिदृष्टियों इत्यादि में पूर्ण समानता सम्भव नहीं। प्रत्येक व्यक्ति पृथक व्यक्तित्व वाला होता है। लोगों में भिन्नताएं पाई जाती है। यदि लोगों को कुछ भी करने दिया जाये तो वे तानाशाही अथवा उद्दण्ड हो जायेंगे जिससे दूसरों का जीवन कुप्रभावित होने लगेगा एवं सामाजिकता खण्डित हो जायेगी। सामाजिक जीवन को समन्वित रखने के लिए सामाजिक नियन्त्रण आवश्यक है तभी एकरूपता, एकजुटता व सामूहिक स्थिरता आ पाती है।

सामाजिक नियन्त्रण से समाज में सामाजिक क्रम बना रहता है जो कि किसी भी समाज अथवा समूह पर सामाजिक नियन्त्रण बनाये रखने में अति आवश्यक है; ऐसा तभी सम्भव है जब लोग समाज के सदस्य के रूप में समरसता व सामाजिक क्रम के अनुरूप आचरण करें। सामाजिक नियन्त्रण का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य स्थापित क्रम को बनाये रखना है। कोई यह कर सकता है कि पुराने क्रम का कार्यान्वयन कराने से प्रगति व आधुनिकता में बाधा पहुंचेगी, वैसे यह तो उस क्रम में परिवर्तन की सम्भावनाओं में निहित है।

सामाजिक नियन्त्रण के बिना सामाजिक क्रम एवं ऐक्यभाव एक दिवास्वप्न के समान हो जायेगा। सामाजिक नियन्त्रण से पूर्वस्थापित नियमों के अनुरूप व्यवहारों का नियमन किया जाता है जिससे समाज के सदस्यों में एकरूपता व एकजुटता आती है। परिवार अपनी एकता को बनाये रखता है ताकि इसके सदस्य पारिवारिक नियमों के अनुरूप व्यवहार करें।

प्रत्येक व्यक्ति अपने विचारों, रुचियों व प्रवृत्तियों में अद्वितीय होता है। दम्पति से उत्पन्न सन्तान अपने जनक–जननी के भी समान नहीं होती। मनुष्यों को विभिन्न सम्प्रदायों, विचारधाराओं, परिधानों इत्यादि का चयन करने का अधिकार है। जीवनयापन में इतनी विभिन्नताएं हैं कि बिना क्रम के विरोध व संघर्ष बहुव्यापी हो जायेंगे। आधुनिक काल में यह सम्भावना बढ़ चुकी है क्योंकि मनुष्य अधिक लोभी व स्वार्थी बन चुका है। इस प्रकार सामाजिक क्रम व्यक्तियों की ऐसी इच्छाओं का रक्षण करता है जो समाज के अन्य सदस्यों की इच्छाओं का दमन न करें। यदि सामाजिक नियन्त्रण समाप्त कर दिया जाये जो सामाजिकता का लोप हो जायेगा व मानवजाति किसी भूखे पशुसमूह की भांति झुण्डों में सब कुछ तितर–बितर कर देगी।

टिप्पणी

सामाजिक नियन्त्रण एवं क्रम के महत्व का विश्लेषण करने में निम्नलिखित बिन्दु सहायक सिद्ध होंगे–

- **पुराना क्रम बनाये रखना–** सामाजिक क्रम को बनाये रखना हर समाज के लिए आवश्यक है एवं इस हेतु सदस्य निर्धारित नियमानुसार व्यवहार करते हैं। यह सामाजिक नियन्त्रण का एक महत्वपूर्ण व विरोधाभासी उद्देश्य है, वैसे पुराने क्रम को पूर्णतया बनाकर नहीं रखा जाता। परिवार इस उद्देश्य को अधिक गहनता से समझ सकता है।
- **सामाजिक एकता की स्थापना–** सामाजिक नियन्त्रण के अभाव में सामाजिक एकता सम्भव न होगी। सामाजिक नियन्त्रण से पूर्वस्थापित नियमों के सन्दर्भ में व्यवहारों का विनियमन किया जाता है जिससे समाज के सदस्यों को एक करके रखने में सहायता होती है।
- **व्यष्टिगत व्यवहार का नियन्त्रण–** किन्हीं दो व्यक्तियों में भी 100 प्रतिशत समानता नहीं हो सकती। सामाजिक नियन्त्रण न किया जाये तो विधि की अवमानना व उद्दण्डता निश्चित है। लोगों को खुली छूट दे दी जाये तो वे किसी दैत्य के समान सब कुछ कुचलकर रख देंगे व सामाजिकता का स्वांग रचना बन्द कर देंगे। सामाजिक नियन्त्रण आवश्यक है, अन्यथा समाज में अराजकता व दुर्व्यवस्था फैला दी जायेगी।
- **सामाजिक स्वीकृति प्रदान करना–** सामाजिक नियन्त्रण से विकृत व्यवहारों पर अंकुश लगाया जाता है। हर व्यक्ति को इन निर्धारित रीति–रिवाजों का पालन करना होता है। इन नियमों का अनुपालन करने के लिए लोगों को वैधानिक अथवा सांस्कृतिक रूप से विवश किया जाता है। बाध्यकारी सामाजिक नियमों को सामाजिक स्वीकृति प्राप्त है।
- **सांस्कृतिक कुसमायोजन पर अंकुश–** परिवर्तनशील समाज के अनुरूप प्रत्येक व्यक्ति को अपना व्यवहार ढालना होता है। वैसे समायोजन सब नहीं करते। कुछ परिवर्तन के अनुसार बदलते चले जाते हैं तो कुछ इसका प्रतिकार करते हैं। बाल्यावस्था से सुदूर ग्रामीण अंचल में रही युवती यदि ब्याह कर किसी महानगर में आ जाती है तो अनुकूलन उसके लिए सहज नहीं होता।

## अपनी प्रगति जांचिए

5. "सामाजिक प्रक्रिया के मूल में, समाज के निरंतर रूप से परिवर्तित होने वाले परिवर्तन एवं प्रवाह का अभिप्राय होता है।" सामाजिक प्रक्रिया की यह परिभाषा किसने दी है?

(क) मैक्स लर्नर (ख) गिलिन एवं गिलिन

(ग) वॉन वीज (घ) मैक्सवेबर

टिप्पणी

6. सामाजिक प्रक्रियाएं कितने प्रकार की होती हैं?

(क) पांच (ख) चार

(ग) दो (घ) तीन

7. प्रतियोगिता के कितने प्रकार बताए गए हैं?

(क) छह (ख) सात

(ग) आठ (घ) नौ

8. हिंदू धर्मशास्त्रों में मनुष्य के कितने शत्रु बताए गए हैं?

(क) दो (ख) तीन

(ग) चार (घ) पांच

## 3.5 सामाजिक परिवर्तन और सामाजिक आंदोलन

किसी भी समाज में विकासक्रम और समय के साथ कुछ परिवर्तन अपेक्षित होते हैं। इस प्रकार समाज में संगठन और विघटन की स्थिति आती रहती है। इन परिवर्तनों को लाने अथवा रोकने के लिए समाज के सदस्यों द्वारा सामूहिक प्रयास किया जाता है, जिसे 'सामाजिक आंदोलन' कहा जाता है। भारतीय इतिहास की तरह ही यहां का सामाजिक आंदोलन भी बहुत पुराना है।

### 3.5.1 सामाजिक आंदोलन का परिचय और सामाजिक परिवर्तन

प्राचीन, मध्यकालीन तथा आधुनिक सामाजिक आंदोलनों के स्वरूप में परिवर्तन देखने को मिलता है। प्राचीनकाल में धर्म की प्रधानता के कारण प्रवचनों, उपदेशों एवं निर्देशों के द्वारा सामाजिक आंदोलन के लिए प्रेरित किया जाता था यानी आंदोलन का स्वरूप धार्मिक होता था। डॉ. आर. सी. मजूमदार के अनुसार, ''राजा, व्यापारी, जमींदार तथा अन्य सहायक संगठन अपने साधनों के अनुसार धर्म के पवित्र कार्य हेतु सहायता करने में एक–दूसरे से आगे बढ़ने का प्रयास करते थे।'' बौद्धकाल में बौधिसत्व के द्वारा सामाजिक आंदोलन की शुरुआत की गयी तथा इसके लिए बुद्ध ने गांव के तीस लोगों के समूह को एकत्रित किया था।

उपर्युक्त विश्लेषण के अनुसार सामाजिक आंदोलन के प्रमुख लक्षण हैं – सामान्य मूल्य, औपचारिक संरचना, 'हम' की भावना, सामान्य मानदण्ड, सामूहिक प्रयास, आपात स्थिति, परिवर्तन के प्रति प्रतिबद्धता।

सामाजिक व्यवस्था जड़ अथवा स्थिर न होकर एक गतिशील व्यवस्था है। इस गतिशीलता के दौरान समाज केवल अच्छे तत्वों को ही ग्रहण नहीं करता है, अपितु बुरे तत्वों को भी ग्रहण कर लेता है। अच्छे तत्व तो समाज की प्रगतिशीलता में सहायक बनते हैं, परंतु बुरे तत्वों से समाज का विकास अवरुद्ध हो जाता है। इन बुरे तत्वों का अर्थ कुरीतियां, कुप्रथाएं, धार्मिक अंधविश्वास, सामाजिक भेदभाव आदि हैं। चूंकि इन बुरे तत्वों की प्रकृति विभिन्न समाजों तथा कालों में अलग प्रकार की होती है, अतः इनके

टिप्पणी

सुधार के लिए किये गये सामाजिक आंदोलन की प्रकृति भी अलग–अलग होती है। समाज को फिर से गतिमान तथा प्रगतिशील बनाने के लिए जो आंदोलन किया जाता है, उसे हम 'सामाजिक आंदोलन' के नाम से जानते हैं।

गिडेन्स ने सामाजिक आंदोलन की परिभाषा इस प्रकार दी है, ''सामाजिक आंदोलन को एक ऐसे प्रयास के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, जिसका उद्देश्य सामान्य हित को बढ़ाना होता है। सामान्य हित को प्राप्त करने के लिए किया गया सामूहिक प्रयास कभी–कभी मान्य अथवा स्थापित संस्थाओं के दायरे से बाहर भी होता है।'' इस परिभाषा के अनुसार सामाजिक आंदोलन व्यक्तियों का ऐसा सामूहिक प्रयास है जिसका एक सामान्य लक्ष्य होता है और इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए वे संस्थागत सामाजिक नियमों का सहारा न लेकर, व्यवस्थित होकर किसी परंपरागत व्यवस्था को बदलने का प्रयास करते हैं।

## सामाजिक आंदोलन के प्रकार

आबर्ली ने सामाजिक आंदोलन को चार वर्गों में विभक्त किया है–

1. **रूपांतरकारी आंदोलन** – कुछ सामाजिक आंदोलनों का मुख्य उद्देश्य बुनियादी सामाजिक परिवर्तन लाना होता है, जिन्हें रूपांतरकारी आंदोलन कहते हैं। अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए कभी–कभार इनमें हिंसा का भी सहारा ले लिया जाता है, जैसे भारत में नक्सलवाड़ी आदोलन।
2. **सुधारात्मक आंदोलन** – कुछ सामाजिक आदोलन ऐसे होते हैं, जिनका उद्देश्य सीमित सामाजिक परिवर्तन लाना होता है। इन्हें सुधारात्मक आंदोलन कहा जाता है। समाज में व्याप्त बुराइयों को दूर करने के लिए इस प्रकार के आंदोलन चलाए जाते हैं, जैसे– सूफी आंदोलन, ब्रह्म समाज, आर्य समाज द्वारा चलाए गए आंदोलन, आदि।
3. **मुक्ति आंदोलन** – समाज में फैली वे बुराइयां जो पूरे समाज के लिए खतरा बनी हुई हैं, उनको दूर करने के लिए जब आंदोलन चलाया जाता है तो उसे मुक्ति आंदोलन कहा जाता है, जैसे– भारत में प्रचलित भ्रष्टाचार और घूसखोरी के खिलाफ यदि आंदोलन चलता है तो उसे मुक्ति आंदोलन कहा जा सकता है। कबीर द्वारा हिन्दुओं और मुस्लिमों के आडंबरों के खिलाफ चलाया गया आंदोलन, डॉ. अम्बेडकर का अछूतोद्धार आंदोलन आदि मुक्ति आंदोलन की श्रेणी में ही आते हैं।
4. **वैकल्पिक आंदोलन** – वैकल्पिक आंदोलन उस आंदोलन को कहा जाता है, जिसके द्वारा व्यक्ति के जीवन में आंशिक परिवर्तन लाने की कोशिश की जाती है। इसका दायरा बहुत सीमित होता है। नशाखोरी, धूम्रपान, बुरी लतों के खिलाफ स्वयंसेवी संगठनों द्वारा चलाया गया आंदोलन इसी श्रेणी में आता है।

टिप्पणी

## सामाजिक परिवर्तन लाने में सामाजिक आंदोलनों का महत्व

भारत में सामाजिक आंदोलनों के परिणामस्वरूप समाज में अनेक परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं, जैसे– (क) पर्दा–प्रथा में कमी, (ख) सती–प्रथा का उन्मूलन , (ग) बाल–विवाह में कमी, (घ) विधवा पुनर्विवाह, (ङ) अस्पृश्यता का समापन, (च) नशाखोरी पर रोक, (छ) अंतर्जातीय विवाह को प्रोत्साहन, (ज) धार्मिक अंधविश्वास तथा आडंबरों की घटना, (झ) दहेज प्रथा में कमी, (ड़) जातिवाद पर अंकुश, आदि।

### भारत के प्रमुख सामाजिक आंदोलन

भारत एक विविधतायुक्त समाज है जिसमें रहने वाले विभिन्न भागों के और विभिन्न संस्कृतियों के लोगों की विभिन्न प्रकार की समस्याएं होती हैं। इनके समाधान के लिए अलग–अलग आंदोलनों का तत्कालीन प्रादुर्भाव हुआ है, जिसे हम निम्न प्रकार से स्पष्ट कर सकते हैं–

- **ब्रह्म समाज**– 1928 में राजा राममोहन राय द्वारा स्थापित ब्रह्म समाज ने सामाजिक और धार्मिक सुधार के लिए सर्वप्रथम संगठित और सशक्त तौर पर कार्य किया। जिस समय हिन्दू समाज पर ईसाई धर्म का आक्रमण हो रहा था, उस समय ब्रह्म समाज ने हिन्दू समाज की विकृतियों को दूर करने का प्रयास किया। इस संगठन ने लोगों में राष्ट्रीयता की भावना का संचार किया। प्राचीन हिंदू धर्म की महत्ता को देखते हुए उसमें पुनः बौद्धिकता की स्थापना का प्रयास किया तथा हिंदू धर्म में प्रवेश कर चुकी विकृतियों का उन्मूलन कर समानता और मानवता के सिद्धांत का प्रतिपादन किया। इसने सामाजिक तौर पर जातिभेद और छुआछूत के उन्मूलन तथा रूढ़िवाद की समाप्ति के साथ ही भ्रूण हत्या, बाल विवाह, सती प्रथा जैसी कुरीतियों का समापन तथा विधवा विवाह का समर्थन जैसे उत्थानपरक प्रयासों द्वारा भारतीय समाज में सुधार के प्रयास किए और राष्ट्रीयता की उत्पत्ति में निर्णायक भूमिका अदा की है।
- **आर्य समाज**– 1857 में स्वामी दयानंद सरस्वती ने प्राचीन भारतीय परंपरा पर जोर देते हुए 'वेदों की ओर लौटो' सिद्धांत का प्रतिपादन किया। जिस प्रकार ब्रह्म समाज ने बंगाल में जागृति के प्रयास किए उसी प्रकार आर्य समाज ने महाराष्ट्र में सामाजिक जागृति लाने के प्रयास किए, आर्य समाज को सैनिक हिन्दुत्व का नाम भी दिया जाता है। इसने भारतीय परंपरा को श्रेष्ठ मानते हुए संस्कृत भाषा पर जोर दिया और अविद्या के विनाश के साथ अपनी उन्नति पर ध्यान देने का प्रतिपादन किया। इन चीजों ने राष्ट्रीयता की उत्पत्ति में आधार का काम किया। भारतीय समाज में व्याप्त जाति–पांति, मूर्तिपूजा, बाल विवाह जैसी प्रथाओं के उन्मूलन का इसने प्रतिपादन करते हुए स्वराज पर जोर दिया।
- **प्रार्थना समाज** – ब्रह्म समाज की तरह ही वर्ष 1867 में बंबई में प्रार्थना समाज की स्थापना रानाडे तथा भण्डारकर ने की थी। इस संस्था का उद्देश्य जाति–पांति के भेद–भाव को दूर कर समानता के आधार पर सामाजिक

टिप्पणी

कुरीतियों का समापन करना था। इस संस्था द्वारा अनेक अनाथालय, विधवाश्रम, बालिका विद्यालय खोले गए। दलितों के कल्याण के लिए एक दलितोद्धार मिशन भी इस संस्था द्वारा बनाया गया।

- **थियोसोफिकल सोसायटी** – इसकी स्थापना न्यूयॉर्क में मैडम ब्लेवेट्स्की तथा कर्नल अल्काट ने वर्ष 1875 में की थी। 1879 में स्वामी दयानंद के निमंत्रण पर भारत में मद्रास के अडयार नामक स्थान को इन्होंने अपना प्रमुख केन्द्र बनाया। 1893 में एनी बेसेंट इसकी सभापति बनी। उन्होंने होमरूल लीग में शामिल होकर संगठन को लोकप्रिय बना दिया। इस संगठन ने चरित्र निर्माण पर जोर देते हुए रूढ़िवाद और अंधविश्वास का विरोध किया तथा भारत की समृद्ध संस्कृति की तरफ सभी का ध्यान आकर्षित किया। मानवमात्र की समानता का सिद्धांत प्रतिपादित करके भारतीयों में इसने राष्ट्रीयता की भावना का संचार किया।
- **रामकृष्ण मिशन**– वर्ष 1899 में विवेकानंद ने इस संगठन की स्थापना करके भारतीयों को उनकी श्रेष्ठ सांस्कृतिक विरासत से अवगत कराने के प्रयास किए तथा देशहित में युवाओं का आह्वान किया। भारत में प्रचलित सामाजिक कुप्रथाओं जैसे– बाल विवाह, सती–प्रथा, पर्दा–प्रथा, आदि के प्रति लोगों को जागरूक करने में इस मिशन ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।
- **वहाबी आंदोलन** – सैयद अहमद बरेलवी ने इस आंदोलन के द्वारा मुस्लिम समाज से अनेक बुराइयों को निकालने का प्रयास किया।
- **अलीगढ़ आंदोलन** – जिस प्रकार राजा राममोहन राय ने हिन्दू समाज में सुधार लाने का प्रयत्न किया, उसी प्रकार सर सैयद अहमद खां मुस्लिम समाज में सुधार के लिए कटिबद्ध थे। इस आंदोलन की शुरुआत सैयद अहमद खां ने अलीगढ़ से की थी। इसलिए इसे अलीगढ़ आंदोलन के नाम से भी जाना जाता है।
- **राष्ट्रवादी नेताओं का प्रभाव** – प्रो. देसाई का मानना है कि भारत के राष्ट्रीय नेताओं ने, जिनमें उदारवादी नेताओं के साथ–साथ गरमपंथी नेता भी शामिल हैं, राष्ट्रीयता और समाज में आई विकृतियों को दूर करके विकास में महती भूमिका का निर्वहन किया है। तिलक जैसे नेता ने गीता पर जोर देते हुए हिंदुओं को राष्ट्र की स्वतंत्रता को लिए आंदोलित किया। प्रो. देसाई के अनुसार इन नेताओं ने जनता में यह संदेश फैलाने का काम किया कि स्वदेशी शासन कितना भी बुरा क्यों न हो, परंतु विदेशी शासन से अच्छा होता है। इस प्रकार इन नेताओं ने स्वशासन और स्वयं के समाज के लिए लोगों को प्रेरित किया।
- **सर्वोदय आंदोलन** – गांधीजी ने सर्वोदय आंदोलन का विचार दिया था। इस संबंध में गांधीजी रस्किन के 'अन्त्योदय' से प्रभावित थे। गांधीजी ने सर्वोदय के आधारभूत सिद्धांत बतलाये थे– (क) सबके भले में अपना भला है,

टिप्पणी

(ख) सबके श्रम का मूल्य एक समान होना चाहिए, वकील तथा नाई दोनों के काम की कीमत एक जैसी होनी चाहिए, क्योंकि आजीविका का अधिकार दोनों को है, तथा (ग) किसान और मजदूर का सादा जीवन ही सच्चा जीवन है। इस सिद्धांत में गांधीजी ने कहा कि श्रम सभी के लिए अनिवार्य है और जो श्रम नहीं करता है, उसे रोटी खाने का भी कोई अधिकार नहीं है।

- **भूदान आंदोलन** – भारतीय समाज में व्याप्त आर्थिक असमानता को दूर करने के लिए विनोबा भावे ने 1951 में भूदान आंदोलन की शुरुआत की। यह आंदोलन भूमिहीन कृषि मजदूरों की समस्याओं के समाधान के लिए चलाया गया था। विनोबा भावे के अनुसार, ''न्याय तथा समानता के सिद्धांत पर आधारित समाज में भूमि सबकी होनी चाहिए, इसलिए हम भूमि की भिक्षा नहीं मांग रहे हैं, बल्कि उन गरीबों का हिस्सा मांग रहे हैं, जो भूमि प्राप्त करने के सच्चे अधिकारी हैं।'' इसमें व्यावहारिक तौर पर लोगों से उनकी भूमि का 1/6 भाग स्वेच्छा से दान करने की अपील की गयी, ताकि उसे भूमिहीन कृषि मजदूरों में वितरित किया जा सके। अगस्त, 1970 तक इस आंदोलन के कारण 9 लाख दाताओं ने 67 लाख एकड़ भूमि दान की, जिसमें अकेले बिहार में 40 लाख एकड़ भूमि का दान किया गया। इस आंदोलन की कई आधारों पर आलोचना की गयी है, जैसे– जमीन के टुकड़े हो जाएंगे, जो खेती की दृष्टि से सही नहीं है। दान में दी गई अधिकांश जमीन बंजर और बेकार है, दान में प्राप्त जमीन का 20 प्रतिशत भाग ही कृषि श्रमिकों में वितरित किया जा सका है। आंदोलन की गति बहुत धीमी है। केवल जमीन से ही खेती नहीं हो जाती है। उसके लिए अन्य संसाधनों की व्यवस्था श्रमिक किस प्रकार करेंगे, स्पष्ट नहीं किया गया है।
- **समग्र क्रांति** – जयप्रकाश नारायण ने वर्ष 1974 में समग्र क्रांति का प्रारंभ भले ही राजनीति में नैतिकता और सुधार लाने के लिए किया था, परंतु वे इसके माध्यम से समाज में भी सुधार लाना चाहते थे। उनका कहना था कि समाज में परिवर्तन लोकतांत्रिक साधनों के प्रयोग द्वारा किया जाना चाहिए। समाज का पुनर्गठन इस प्रकार होना चाहिए कि किसी व्यक्ति को भूखा रहकर उत्पादन करने के लिए विवश नहीं होना चाहिए तथा उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत स्वामित्व न होकर सामुदायिक स्वामित्व होना चाहिए। इसके लिए सामूहिक खेती, राष्ट्रीय संपत्ति, शिक्षा तथा अन्य सेवाओं का समान वितरण होना चाहिए। इस आंदोलन अथवा क्रांति में पिछड़े तथा दलित वर्गों के समर्थन के साथ ही समाज के ऊपरी वर्ग के युवाओं का भी सहयोग होना चाहिए, यानी समाज के सभी वर्ग के युवाओं को इस आंदोलन में सम्मिलित होना चाहिए। इस क्रांति ने भारत के राजनीतिक क्षेत्र में उथल–पुथल मचा दी थी।
- **कृषक अथवा खेतीहर आंदोलन**– कृषक आंदोलन भारतीय कृषकों द्वारा कृषि की सामाजिक संरचना में परिवर्तन लाने के लिए अथवा परिवर्तन के

टिप्पणी

विरोध के लिए कृषकों का सामूहिक प्रयास था। ब्रिटिश शासन के दौरान कृषक तीन वर्गों में विभाजित थे– प्रथम, जिनका खेती के बड़े भूभाग पर कब्जा था और वे पट्टे पर दूसरों को खेत देते थे। दूसरा जो पट्टे पर जमीन लेकर खेती करते थे अथवा करवाते थे और तीसरा, जो उस जमीन पर काम करता था यानी श्रमिक। इसमें खेतीहर श्रमिकों अथवा मजदूरों का बहुत शोषण होता था जिस कारण इसके विरुद्ध आंदोलन का प्रादुर्भाव हुआ। इस आंदोलन का उद्देश्य था– कृषक समाज की संरचना को समतामूलक बनाकर शोषण का समापन करना, लगान के बढ़ते बोझ को कम करना, व्यापारी और ठेकेदारों के शोषण से मुक्ति पाना, कृषकों का शोषण समाप्त करना, राज्य से कृषि सुविधा पाना तथा कृषि उत्पादों का उचित मूल्य पाना, जमीन के स्वामित्व की मांग करना, आदि। 1980 तक आते–आते इस आंदोलन को दो भागों में बंटते देखा गया। एक तरफ कृषि मजदूरों द्वारा किसानों से अधिक पैसे की मांग की जाती रही तो दूसरी तरफ किसान अपने उत्पाद के उचित मूल्य और सुविधाओं के लिए सरकार से मांग करते रहे, हालांकि इसमें सरकार द्वारा कृषकों के सामूहिक कल्याण के लिए प्रयास किया गया है, फिर भी कृषि के क्षेत्र में अभी बहुत असमानता व्याप्त है।

- **नक्सलवाड़ी आंदोलन** – कृषि के क्षेत्र में व्याप्त शोषण को समाप्त करने के लिए पश्चिम बंगाल के दार्जिलिंग में नक्सलवाड़ी गांव में कान्हू सान्याल तथा पंचानन सरकार ने कृषक आंदोलन की शुरुआत की, जो नक्सलवाड़ी आंदोलन के नाम से प्रसिद्ध हुआ। 1946–47 में पश्चिम बंगाल में खेती करने वालों अथवा भूमिहीन कृषकों को अपने उपजाये अनाज का एक चौथाई से लेकर पांचवां भाग ही मिल पाता था, क्योंकि उपज का आधा भाग भूमि के मालिक को देना होता था और शेष आधे भाग में भी पशुधन, बीज, खलिहान आदि के रूप में उन्हें खर्च करना पड़ता था। उस पर से ऊंची ब्याज दरों पर खेती और अन्य कार्यों के लिए इन्हें कर्ज भी लेना पड़ जाता था और इसके बदले उन्हें अधिक श्रम भी करना पड़ जाता था। मार्क्सवादी, लेनिनवादी, माओवादी विचारधारा से प्रेरित इस आंदोलन में भूमि पर सभी के स्वामित्व को स्थापित करने के लिए गुरिल्ला युद्ध यानी छापामार युद्ध प्रणाली को अपनाया गया था। इस आंदोलन ने किसानों की स्थिति को बेहतर बनाने के लिए व्यावहारिक तौर पर अनेक उल्लेखनीय प्रयास किए और सरकार को सोचने पर विवश कर दिया। किसानों में भी अपने शोषण के विरुद्ध वर्ग चेतना उत्पन्न करवाई, परंतु गुरिल्ला युद्ध के माध्यम से हिंसा को प्रश्रय देने के कारण राज्य द्वारा इस आंदोलन को वैधता नहीं दी गयी। इस आंदोलन की कई कमियां थीं, जैसे– यह आंदोलन स्थानीय ग्रामीण, स्वीकृत ग्रामीण और नगरीय ग्रामीण इन तीन स्तरों पर चल रहा था और इन तीनों में समन्वय का अभाव था। कालांतर में आंदोलन नगरीय प्रवेश तक सिमट कर रह गया और ग्रामीण क्षेत्र

टिप्पणी

के किसान इससे कटने लगे। हालांकि इस आंदोलन ने उल्लेखनीय कार्य किया था।

- **तेलंगाना आंदोलन** – कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में 1946 से 1951 तक तेलंगाना में सामंतों के बिचौलियों, पुलिस और निजाम द्वारा क्रूर शोषण के विरुद्ध संचालित होने वाला यह एक कृषक आंदोलन था। इस आंदोलन का उद्देश्य रैयतवाड़ी जागीरदारी व्यवस्था में व्याप्त शोषण को समाप्त कर समता पर आधारित कृषि संबंधों की स्थापना करना था। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद की मुद्रास्फीति का बड़े किसानों के लिए लाभदायक परंतु छोटे किसानों के लिए हानिकारक सिद्ध होना ऐसी परिस्थितियां थीं जिसने इस आंदोलन को प्रोत्साहित किया। राजनीतिक तौर पर कांग्रेस की हैदराबाद इकाई ने वर्ष 1938 में सत्याग्रह आरंभ किया, परंतु 1940 तक आंध्र महासभा में कम्युनिस्ट हावी हो गये और 1946 में यह संघर्ष तेलंगाना आंदोलन के रूप में प्रसिद्ध हो गया।

  इस आंदोलन को तीन चरणों में बांटा जा सकता है। प्रथम चरण में नालकोण्डा जिले में मध्यमवर्गीय किसानों और मजदूरों ने शोषण के खिलाफ विद्रोह और असंतोष का प्रदर्शन किया और पुलिस से लड़ाई की। कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा आंदोलन को हवा देने के कारण निजाम द्वारा उस पर प्रतिबंध लगा दिया गया। द्वितीय चरण में 27 अगस्त, 1947 को निजाम ने स्वतंत्रता की घोषणा कर दी और दूसरी तरफ कम्युनिस्टों ने कर नहीं देने के लिए गुरिल्ला युद्ध का प्रारंभ कर दिया। हिंसक आंदोलन के कारण कांग्रेस ने अपने को इससे अलग कर लिया और इस आंदोलन को सख्ती से कुचलने का प्रयास किया गया। आंदोलन के तीसरे चरण में यह वर्ग संघर्ष के रूप में उभरा और गरीबों के शोषण के खिलाफ इसने हिंसक संघर्ष किया। भारतीय सेना द्वारा इससे सख्ती से निपटा गया और अंत में कम्युनिस्ट पार्टी ने सरकार से सुविधाओं को पाने और उनके अनुसार कार्य करके परिवर्तन का रास्ता अपनाने के लिए 1951 में आंदोलन को समाप्त कर दिया। इस आंदोलन के कारण कृषकों में वर्ग चेतना उत्पन्न हुई, समानतामूलक संबंधों पर जोर दिया गया, सरकार द्वारा भूमि सुधार कानूनों को लागू किया गया, कृषक संबंधों का राजनीतिकरण हुआ। इस आंदोलन की प्रमुख कमी थी कि इसने अपने को धर्म से संबंद्ध किया था और इसकी नीतियों के प्रति सभी राजनीतिक दलों में मतैक्य का अभाव था। हालांकि कृषकों की स्थिति में सुधार के लिए इस आंदोलन ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी।

- **पिछड़ा वर्ग आंदोलन** – सैद्धांतिक और व्यावहारिक तौर पर भारत में पिछड़ी जातियां उन जातियों को कहते हैं जो दलित अथवा अछूत जातियों से ऊपर होती हैं और उच्च जातियों ने नीचे होती हैं। यानी मध्यम जातियों को पिछड़ी जातियों की संज्ञा दी जाती है। ये जातियां शैक्षिक और सामाजिक तौर पर पिछड़ी होती हैं परंतु राजनीतिक और आर्थिक तौर पर इनकी स्थिति

टिप्पणी

बेहतर होती है। स्वतंत्रता के बाद पिछड़ी जातियां एक सशक्त राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक शक्ति के तौर पर उभरी हैं। अधिकांश पिछड़ी जातियां कृषक थीं और सरकारी भूमि सुधार व कल्याण संबंधी कार्यों का इन पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। हालांकि पिछड़ा वर्ग आंदोलन की स्थिति संपूर्ण भारत में एक समान नहीं रही है। उत्तर भारत की तुलना में दक्षिण और पश्चिम भारत में यह आंदोलन बहुत पहले प्रारंभ हो गया था। दक्षिण भारत में इ.वी. रामास्वामी नायकर यानी पेरियार के नेतृत्व में और पश्चिम भारत में ज्योतिबा फुले के नेतृत्व में यह आंदोलन प्रारंभ हुआ था। वर्तमान भारतीय राजनीति में पिछड़ी जातियां महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही हैं। चौधरी चरण सिंह ने पिछड़ी जातियों को राजनीतिक तौर पर लामबंद किया। 70 के दशक में पिछड़ा वर्ग आंदोलन को राजनीतिक संरक्षण प्राप्त हुआ, जिस कारण 1990 में मण्डल आयोग की अनुशंसा पर वी. पी. सिंह सरकार ने सरकारी नौकरियों में इनके लिए 27 प्रतिशत आरक्षण को लागू कर दिया।

- **महिला आंदोलन** – पाश्चात्य शिक्षा और आधुनिक मूल्यों के प्रसार के साथ महिलाओं में चेतना का विकास हुआ और वे अपने हितों को सशक्त आकार देने के लिए आंदोलन की राह पर चल पड़ीं। भारत में प्राचीन काल में महिलाओं की स्थिति अच्छी थी परंतु मध्य काल में उनकी स्थिति बद से बदतर हो गयी। ब्रिटिश काल में भी उनकी स्थिति खराब ही रही जिससे महिलाओं में असंतोष था और उनके कल्याण के लिए आंदोलन का सूत्रपात हुआ। भारत में महिला आंदोलन को चार चरणों में बांट सकते हैं। प्रथम चरण (1930–32) में महिलाओं के हितों के लिए तीन संगठन भारतीय महिला संघ, भारतीय महिला राष्ट्रीय परिषद तथा ऑल इण्डिया वूमन कांग्रेस सक्रिय थे। इस दौर में सरोजनी नायडू ने वांशिक अधिकार की मांग की तो कम्युनल अवॉर्ड में महिलाओं के आरक्षण की मांग की गई। महिला आंदोलन के द्वितीय चरण (1947–70) में यह आंदोलन निष्क्रिय रहा। हालांकि तेभागा, तेलंगाना, नक्सलवाड़ी और भूदान आंदोलन में महिलाएं प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष तौर पर भाग लेती रहीं। महिला आंदोलन के तृतीय चरण (1970–1985) में यह आंदोलन उभर कर सामने आया। वर्ष 1975 को संयुक्त राष्ट्र संघ ने अंतरराष्ट्रीय महिला वर्ष और 1975–85 के दशक को महिला दशक घोषित किया। इस दौर में महिलाओं के अत्याचार और शोषण के विरुद्ध आवाज तेज हुई तथा स्त्री स्वायतता, समान पारिश्रमिक, लैंगिक समानता के अधिकार को व्यावहारिक रूप देने पर जोर दिया गया। आंदोलन के चतुर्थ चरण (1985 से आगे) में देश के विभिन्न राज्यों और विभिन्न पार्टियों तथा स्वयंसेवी संगठनों ने अपने को महिला आंदोलन के लिए आगे किया। इस दौर में असंगठित क्षेत्र में कार्यरत महिलाओं को संगठित करने के लिए इला भट्ट की अध्यक्षता में 'सेवा' का गठन किया गया तो देविका जैन और बीना मजूमदार ने अवैतनिक और घरेलू काम करने वाली महिलाओं का मामला उठाया है। यह महिला

टिप्पणी

आंदोलन की उपलब्धि कही जा सकती है कि देश के सर्वोच्च पद तक महिलाएं पहुंच चुकी हैं और उनकी स्थिति पहले की अपेक्षा बहुत अच्छी है। हालांकि महिलाओं को पूर्ण समानता और अधिकार दिलाने के लिए अभी लंबा सफर तय करना है।

- **दलित आंदोलन** – भारत में 'दलित' समाज की सबसे निम्न जातियों को कहा जाता था, जिसे प्रत्येक तरह की सुविधाओं से वंचित कर दिया गया था। दलितों की स्थिति में सुधार के लिए महाराष्ट्र में ज्योतिबा फूले और केरल में श्रीनारायण गुरु के नेतृत्व में प्रारंभिक आंदोलन किया गया। इन लोगों ने सामाजिक सुधार के माध्यम से दलितों की स्थिति को सुदृढ़ करने का प्रयास किया। डॉ. अम्बेडकर ने दलितों को राजनीतिक तौर पर सशक्त कर उनकी स्थिति में सुधार लाने का प्रयास किया और उनके प्रयासों का परिणाम यह हुआ कि दलितों को अछूत मानकर तिरस्कार करने को संवैधानिक तौर पर गैर कानूनी माना गया और सजा का प्रावधान किया गया। दलितों को सरकारी नौकरियों और चुनावों में आरक्षण प्रदान किया गया। इस प्रकार दलितों की स्थिति में आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक तौर पर परिवर्तन लाने का श्रेय डॉ. अम्बेडकर को दिया जा सकता है। हालांकि उच्च जातियों द्वारा दलितों को समाज में अभी भी निम्न दृष्टि से देखा जाता है, भले ही कानून के डर से खुलकर लोग इसको व्यक्त नहीं करते हैं। दलितों को सामाजिक तौर पर पूर्ण समानता का स्तर दिलाने का काम अभी अधूरा है और इस दिशा में अभी और कार्य किया जाना है।
- **पर्यावरणीय आंदोलन** – देश में आधुनिकीकरण और औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप पर्यावरणीय असंतुलन पैदा हो गया और इस संबंध में लोगों में जब चेतना का विकास हुआ तो उन्होंने इसके लिए आंदोलन की शुरुआत कर दी। इस क्षेत्र के प्रमुख आंदोलन हैं– चिपको आंदोलन – यह आंदोलन वर्ष 1973 में हिमालयी क्षेत्र में तब प्रारंभ हुआ, जब वन विभाग ने एक निजी कंपनी को 'ऐष' नामक इमारती लकड़ी की कटाई का ठेका दे दिया और कंपनी अंधाधुंध इस वृक्ष की कटाई कराने लगी। स्थानीय लोगों द्वारा विरोध के बाद भी जब कटाई नहीं रुकी तो स्थानीय समाजसेवी चंडी प्रसाद भट्ट की प्रेरणा से लोग वृक्षों से चिपक गए और कंपनी को वहां से भागना पड़ा। अप्पिको आंदोलन– चिपको आंदोलन की तर्ज पर ही कर्नाटक में 1983 में अप्पिको आंदोलन प्रारंभ हुआ। इस आंदोलन में ठेकेदारों द्वारा वृक्षों की अंधाधुंध कटाई के कारण प्राकृतिक असंतुलन होने लगा। लोगों के चारा और झाड़ियां काटने पर भी रोक लगा दी गयी थी, परंतु प्राकृतिक असंतुलन कम नहीं हो रहा था। हारकर स्थानीय लोगों ने वृक्षों से लिपटकर उन्हें नहीं काटने देने का आंदोलन चलाया। 38 दिन तक चले आंदोलन के अंत में सरकार ने ठेकेदारों के वृक्ष काटने पर पाबंदी लगा दी और इस प्रकार आंदोलन सफल हो गया। नर्मदा बचाओ आंदोलन – गुजरात, मध्यप्रदेश और

टिप्पणी

महाराष्ट्र से संबंधित इस परियोजना का विरोध मेधा पाटकर द्वारा किया जाता रहा है, क्योंकि इस परियोजना के भयंकर दुष्परिणाम होंगे। नर्मदा नदी पर बनने वाले इस बांध से लगभग सैंतीस हजार हेक्टेयर भूमि डूब जाएगी और दो सौ अड़तीस गांवों में रहने वाले एक लाख लोग विस्थापित हो जाएंगे। 1988 में औपचारिक तौर पर इस परियोजना को रोकने की मांग की गयी और 1989 में विश्व बैंक ने लोगों के विरोध को देखते हुए अपना हाथ इससे खींच लिया। हालांकि इस पर अभी भी कार्य चल रहा है और साथ ही लोगों के विस्थापन पर भी विचार किया जा रहा है।

- **नृजातीय और अभिज्ञान आंदोलन** – भारत एक विविधताओं वाला देश है जिसमें विभिन्न संस्कृतियों, भाषाओं, जातियों के लोग रहते हैं। ये लोग जब अपनी विशेष पहचान को लेकर दूसरे समूहों से पृथकता का अनुभव करते हैं और अपनी जातीय पहचान के उन्नयन के लिए आंदोलन करते हैं तो इसे नृजातीय आंदोलन कहा जाता है। धर्म के नाम पर खालिस्तान की मांग हो अथवा जनजाति के आधार पर बोडोलैण्ड की, भाषा के आधार पर भी हो रही मांगों को इसी श्रेणी में रखा जा सकता है। इस प्रकार के आंदोलन से समाज का विकास नहीं, बल्कि ह्रास होता है, इसलिए ऐसे आंदोलन का समर्थन नहीं किया जा सकता है।

### 3.5.2 सामाजिक परिवर्तन का परिचय, प्रवृत्तियां और प्रतिमान

सामाजिक परिवर्तन समाज के आधारभूत परिवर्तनों पर प्रकाश डालने वाला एक विस्तृत एवं कठिन विषय है। इस प्रक्रिया में समाज की संरचना एवं कार्यप्रणाली का एक नया जन्म होता है। इसके अंतर्गत मूलतः प्रस्थिति वर्ग, स्तर तथा व्यवहार के अनेकानेक प्रतिमान बनते एवं बिगड़ते हैं। समाज गतिशील है और समय के साथ परिवर्तन अवश्यंभावी है।

आधुनिक समाज में प्रत्येक क्षेत्र में विकास हुआ है तथा विभिन्न समाजों ने अपने तरीके से इन विकासों को समाहित किया है, जो कि सामाजिक परिवर्तनों में परिलक्षित होता है। सामाजिक परिवर्तन में मुख्यतः तीन तथ्यों का अध्ययन किया जाता है–

- सामाजिक संरचना में परिवर्तन
- संस्कृति में परिवर्तन एवं
- परिवर्तन के कारक

मैकाइवर एवं पेज के अनुसार, 'समाजशास्त्री होने के नाते हमारा प्रत्यक्ष संबंध सामाजिक संबंधों से है और उसमें आए हुए परिवर्तन को सामाजिक परिवर्तन कहते हैं।

डेविस के शब्दों में, 'सामाजिक परिवर्तन का तात्पर्य सामाजिक संगठन अर्थात समाज की संरचना एवं प्रकार्यों में परिवर्तन हो।'

एम.एच. जॉनसन के विचारानुसार, 'सामाजिक परिवर्तन का अर्थ संरचनात्मक परिवर्तन है।'

टिप्पणी

समय के साथ–साथ समाज में भी कई परिवर्तन या बदलाव आते रहते हैं। कुछ बदलाव आंशिक व कुछ स्थायी होते हैं, फिर भी आंशिक परिवर्तन अधिक होते हैं क्योंकि कई विभिन्न कारक तीव्र गति से परिवर्तनशील होते हैं, जैसे–आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक व प्राकृतिक आदि। समाजशास्त्रियों ने सामाजिक परिवर्तन की प्रवृत्तियों का पता लगाने के लिए कई सिद्धांत या माडल स्थापित किए हैं, जैसे–विकासवादी, भौतिकवादी या आदर्शवादी संस्कृति, संरचनात्मक प्रकार्यवादी आदि। भारतीय सामाजिक परिवर्तन के संबंध में संस्कृतिकरण, पश्चिमीकरण, आधुनिकीकरण और धर्मनिरपेक्षता प्रतिमानों का विशेष प्रभाव है। जनसंख्या की वृद्धि से भी कई परिवर्तन आए हैं जिनसे सामाजिक मनोवृत्तियों एवं विश्वासों में फर्क पड़ा है। प्राकृतिक पर्यावरण प्रमुख रूप से सामाजिक स्थितियों को प्रभावित करता रहा है। समाज की संस्कृति प्राकृतिक परिवेश में ही विकसित होती है।

औद्योगिकीकरण, आधुनिकीकरण तथा वैश्वीकरण का प्रभाव समाज को द्रुतगति से परिवर्तित कर रहा है। संचार–साधनों और यातायात–साधनों का विकास सामाजिक मूल्यों और आदर्शों में क्रांतिकारी परिवर्तन लाया है। भौतिक आविष्कारों ने मानव और समाज में मशीनीकरण की चपलता भर दी है। इसके अतिरिक्त नागरीय जीवन की विषमताओं ने सामाजिक प्रणाली को जटिलता प्रदान कर दी है। वैज्ञानिक ज्ञान का द्रुतगति से विकास धार्मिक अंधविश्वासों को समाप्त कर रहा है। कृषि एवं व्यापारिक गतिविधियों में सहकारिता का विकास पनप रहा है। वैश्वीकरण प्रवास और पर्यटन ने यात्राओं को तेजी प्रदान की है। भारतीय धर्मनिरपेक्षता के दृष्टिकोण ने सम्पूर्ण विश्व के समाज का ध्यान आकृष्ट किया है।

## सामाजिक परिवर्तन की प्रवृत्तियां

सामाजिक परिवर्तन से किसी भी सामाजिक प्रणाली के ढांचे और कार्य में बदलाव या सुधार होता है। यह परस्पर संबंधों, सामाजिक संगठनों, सामाजिक परंपराओं और मूल्यों, अंतर्जातीय और अंतरसामुदायिक विवाह, तथा परिवार के प्रकार में संयुक्त से एकल परिवारों में परिवर्तन आदि हो सकता है।

समाजशास्त्रियों ने विभिन्न सिद्धांत या मॉडल दिए हैं जिनके माध्यम से वे सामाजिक परिवर्तन की प्रवृत्तियों का पता लगाते हैं। एक विषय के रूप में समाजशास्त्र के विकसित होने के साथ ही, समाजशास्त्रियों सहित इसके संस्थापकों ने सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या के लिए अन्य विषयों से काफी हद तक प्रेरणा ली है और उस दिशा की रूपरेखा तय की है जिससे समाज में परिवर्तन आता है। 19वीं सदी में, जीव विज्ञान में परिवर्तन की व्याख्या के लिए विकास प्रमुख मॉडल बना और समाजशास्त्रियों ने भी उसी दिशा में सामाजिक घटनाओं की व्याख्या की। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि समाज में परिवर्तन धीरे–धीरे और निरंतर होता है तथा यह एक क्रम में होता है। विकासवादी सिद्धांत देने वालों ने सामाजिक परिवर्तन की प्रवृत्तियों का पता दो भिन्न प्रकार से लगाया है– एकरेखीय और सार्वभौमिक। एकरेखीय विकासवादियों ने दावा किया कि समाज में परिवर्तन एक ही दिशा में होते हैं। उनके मुताबिक विकास एक अपरिवर्तनीय और एकलदिशात्मक प्रक्रिया है। समाज विभिन्न चरणों से गुजरता है और

टिप्पणी

प्रत्येक चरण पिछले चरण से उच्चतर और परिष्कृत होता है। ऑगस्ट कॉम्टे और कार्ल मार्क्स इस विचार के प्रतिपादक हैं। इस विषय के जनक, कॉम्टे ने विकास के तीन उत्तरोत्तर चरणों को देखा– धार्मिक, आध्यात्मिक और सकारात्मक चरण, जिसे आम तौर पर 'तीन चरणों के सिद्धांत' के रूप में जाना जाता है। मानवीय विचार और ज्ञान वे आधार हैं जिनके माध्यम से समाज एक चरण से दूसरे चरण में परिवर्तित होता है। धार्मिक चरण में, लोग अलौकिक शक्तियों पर विश्वास रखते थे। आध्यात्मिक चरण में, मनुष्य की बुद्धि अमूर्त शक्तियों का परिणाम थी। अंतिम चरण सकारात्मक चरण था। विकास के इस चरण में, तर्क और वैज्ञानिक सोच सभी सामाजिक घटनाओं पर हावी थी। लोग अंधविश्वास की बजाए तर्क के विषय में सोचने लगे। कॉम्टे के अनुसार, सभी समाज इन तीन सिलसिलेवार चरणों से गुजरते हैं तथा प्रत्येक चरण पिछले चरण से प्रगतिशील होता है।

कार्ल मार्क्स ने भी समाज के विकास की एकरेखीय पद्धति की बात की। उनका मत था कि पश्चिमी समाजों का विकास चार प्रमुख चरणों, अर्थात एशियाई, प्राचीन, सामंती और पूंजीवादी में हुआ है। परिवर्तन और विकास के चरणों से, समाजों की प्रगति एकरेखीय प्रकार से होती है और परिवर्तन का आधार उन वर्गों के बीच संघर्ष से होता है जो उत्पादन के साधन के मालिक होते हैं और जो नहीं होते। इस विचार और इसके विपरीत विचार के बीच एक टकराव होता है जिसके फलस्वरूप उसका मिलाजुला रूप सामने आता है। मार्क्स के मुताबिक, उत्पादन की एशियाई पद्धति आदिम समाजों की विशेषता थी जहां भूमि का स्वामित्व समुदाय का था और इस कारण किसी भी वर्ग का अस्तित्व नहीं था। अगला चरण उत्पादन की प्राचीन पद्धति का था जब गुलामी व्यापक थी। मालिक का गुलामों पर अधिकार था। मार्क्स के अनुसार इस चरण में दो प्रकार के वर्गों का अस्तित्व था– गुलामों के मालिकों का और गुलामों का। इसके बाद, उत्पादन का सामंती तरीका आया जिसमें एक बार फिर दो भिन्न वर्ग थे, सामंत और दास। दासों से संपत्ति छीन ली जाती थी और उन्हें अपना श्रम उन मालिकों के हवाले करना पड़ता था जो स्वयं निजी संपत्ति के स्वामी थे। इस चरण ने अगले चरण की बुनियाद रखी, यानी, उत्पादन का पूंजीवादी तरीका।

इस चरण में, पूंजी उत्पादन का प्रमुख साधन है। पूंजी धन या ऋण के रूप में हो सकती है। पूंजीवादी उत्पादन के सारे साधन जैसे भूमि व मशीनों के स्वामी होते हैं और मध्यवर्ग के पास केवल अपनी श्रम शक्ति होती है जिसे वे अपने गुजारे के लिए पूंजीपतियों को उपलब्ध कराते हैं। अन्य चरणों की भांति ही, उत्पादन के इस चरण में भी श्रेष्ठ वर्ग हीन वर्ग का शोषण करता है। मध्यवर्ग पूंजीपतियों के हाथों शोषित होता है जो पूरा मुनाफा और अतिरिक्त मूल्य अपनी जेब में डाल लेते हैं जिसके कारण श्रमिकों या मध्यवर्ग का उनसे मनमुटाव और अलगाव पैदा हो जाता है। इससे एक ऐसी स्थिति का निर्माण होता है जिसमें दुनिया भर का मध्यवर्ग एकजुट होता है और पूंजीपतियों के शोषण के विरुद्ध आवाज उठाता है। मार्क्स ने अनुमान लगाया कि इसके बाद पूंजीपतियों और मध्यवर्ग के बीच टकराव होगा। इसका परिणाम वर्ग विहीन समाजवादी उत्पादन की पद्धति के रूप में सामने आएगा। मार्क्स का कहना है कि वर्ग

टिप्पणी

संघर्ष या टकराव वह आधार है जिस पर समाज उत्पादन की एक पद्धति से दूसरी पद्धति में परिवर्तित होता है। उनके ही शब्दों में, 'अब तक अस्तित्व में आए सभी समाजों का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास रहा है।' इस कारण, उनका सिद्धांत इस मानी हुई बात पर आधारित है कि समाज विकास के चार चरणों से गुजरता है और प्रत्येक चरण पिछले से अधिक प्रगतिशील होता है।

विकासवादियों के दूसरे वर्ग को सार्वभौमिक विकासवादियों के रूप में जाना जाता है जो समाज के विकास का एक विशेष सामाजिक ढांचे से दूसरे में विकसित होने का पता लगाने पर ध्यान केंद्रित करते हैं। एमिल दुर्खीम, हरबर्ट स्पेंसर और फर्डिनेंड टोनीज इस सिद्धांत के प्रतिपादक हैं। एमिल दुर्खीम ने अपने विकास के सिद्धांत की व्याख्या अपनी किताब 'द डिविजन ऑफ लेबर' (1893) में की है। उन्होंने समाज के विकास की चर्चा 'यांत्रिक एकजुटता' से 'जैविक एकजुटता' तक की है। उनके अनुसार प्राचीन समाज 'यांत्रिक एकजुटता' प्रदर्शित करता है जबकि आधुनिक औद्योगिक समाज 'जैविक एकजुटता' को। प्राचीन काल में समाजों के बीच एकता की सुदृढ़ता एकरूपता, समानता और सदृश्यता से होती थी। इस प्रकार की दृढ़ता संभव थी क्योंकि लोगों में सामूहिक चेतना शक्तिशाली थी। व्यक्तिगत व्यवहार सामूहिकता से नियंत्रित होता था। कानून 'दमनकारी' प्रकृति का था। दूसरी तरफ, दुर्खीम ने कहा कि 'जैविक एकता' अनेकताओं पर आधारित एकता होती है। यह औद्योगिक समाजों की प्रमुख विशेषता होती है जिसमें उच्च श्रेणी का श्रम विभाजन और विशिष्टता दिखती है। इस प्रकार के समाज में सामूहिक चेतना अपेक्षाकृत कम प्रभावी होती है और इस कारण कानून 'जिससे जो लिया गया उसे लौटाने वाला' बन जाता है। यांत्रिक एकजुटता से जैविक एकजुटता में परिवर्तन के दौरान, श्रम विभाग एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है।

हरबर्ट स्पेंसर ने भी समाज में परिवर्तन को विकासवादी रूप में देखा है। जैसा कि उन्होंने कहा था, 'विकास तत्व का एकीकरण और प्रयास का सहवर्ती अपव्यय है जिसके दौरान तत्व एक अनिश्चित, अस्पष्ट समानता से निश्चित, स्पष्ट विभिन्नता में ढल जाता है।' पहली बार स्पेंसर ने समाजशास्त्र में 'स्वाभाविक चयन' के सिद्धांतों और 'योग्यतम की उत्तरजीविता' की परिकल्पना की चरणबद्ध रूप से शुरुआत की। अपनी किताब 'द प्रिंसिपल्स ऑफ सोश्योलॉजी' में उन्होंने जोर दिया कि मानव समाज छोटे समूहों से बड़े और सरल से जटिल तथा आगे चलकर दोगुने जटिल यानी समरूप से विजातीय रूप ले चुका है।

इसी प्रकार, फर्डिनेंड टोनीज का मत है कि समाजों का विकास 'जेमिनशाफ्ट'से 'गेसेलशाफ्ट' में हुआ है। उनके अनुसार 'जेमिनशाफ्ट' वह समाज है जिसमें सामुदायिक भावना और प्रत्यक्ष गहरे संबंध होते हैं। समुदाय के सारे सदस्य एक–दूसरे को व्यक्तिगत रूप से जानते हैं। इस कारण, उनके बीच सहयोग पूरे समुदाय को बांधकर रखता है। सदस्य नैतिकता, मूल्य, चर्चाओं और हाव–भावों जैसे अनौपचारिक माध्यमों से नियंत्रित किए जाते हैं। टोनीज ने कहा कि ग्रामीण समाजों ने 'जेमिनशाफ्ट' प्रकार के समाज को प्रदर्शित किया। दूसरी तरफ 'गिसेलशाफ्ट' आधुनिक शहरी जीवन को

दर्शाता है। इस प्रकार के समाज में सदस्यों के बीच अवैयक्तिक संबंध होते हैं और सामाजिक नियंत्रण औपचारिक साधनों जैसे कानून और कानून में दर्ज दंड के आधार पर लागू किया जाता है।

टिप्पणी

विकासवादियों के अतिरिक्त, दो अन्य सिद्धांतवादी भी हैं जो सामाजिक परिवर्तन को चक्रीय रूप में देखते हैं। सोरोकिन और विल्फ्रेड पेरेटो ऐसे ही दो समाजशास्त्री हैं। सोरोकिन के अनुसार, एक विशेष समाज और संस्कृति प्रगति के साथ अपने चरम पर पहुंचते हैं और फिर मूल स्थिति में लौट आते हैं। वे कहते हैं कि समाज 'विचारात्मक संस्कृति' से 'अनुभव करने वाली संस्कृति' और फिर वापस वैसी स्थिति में आ जाता है। चक्रीय रूप से बढ़ने के दौरान ये दो प्रकार की संस्कृतियां तीसरे प्रकार की संस्कृति, यानी 'आदर्शवादी' संस्कृति की संभावना पैदा करती हैं। 'आदर्शवादी संस्कृति' में अध्यात्मवाद और पारलौकिकता की विशेषता होती है। 'अनुभव करने वाली संस्कृति' मूल रूप से 'विचारात्मक संस्कृति' के विपरीत होती है। यहां लोग अपनी भौतिक समझ को महत्व देते हैं न कि आध्यात्मिक समझ को। दूसरी तरफ, 'आदर्शवादी संस्कृति' अन्य दो प्रकारों का मिश्रण है जहां भौतिकतावाद और अध्यात्मवाद के तत्व विद्यमान रहते हैं। मनुष्य का ज्ञान अलौकिक तथा आध्यात्मिक और संवेदी अनुभवों पर आधारित होता है।

विल्फ्रेड पेरेटो ने भी सामाजिक परिवर्तन का विश्लेषण चक्रीय रूप में किया। उनके सिद्धांत को 'कुलीन वर्ग का प्रचलन' नाम से जाना जाता है। पेरेटो के अनुसार, किसी भी समाज में कुलीन और सामान्य जन रहते हैं और कुलीन ही समाज में परिवर्तन लाते हैं। पेरेटो के अनुसार किसी समाज में दो प्रकार के कुलीन हो सकते हैं– शासन करने वाले और अशासकीय कुलीन। शासन करने वाले कुलीन वे हैं जो सरकार में एक भूमिका अदा करते हैं और सत्ता में रहते हैं। अशासकीय कुलीन वे होते हैं जिनके पास सत्ता नहीं होती और वे सरकार से बाहर रहते हैं। पेरेटो की मानें तो कुलीन 'लोमड़ियों' और 'शेरों' के प्रकार के होते हैं। पहले प्रकार के कुलीन धूर्तता, छल और प्रपंच से समाज पर शासन करते हैं, जबकि दूसरे प्रकार के कुलीन प्रत्यक्ष बल–प्रयोग से सत्ता पर नियंत्रण रखते हैं। पेरेटो का कहना है कि समाज में व्यापक परिवर्तन तब आते हैं जब एक प्रकार के कुलीन दूसरे का स्थान ले लेते हैं, यानी कुलीनों की अदला–बदली होती है। गुणों में पतन और गतिशीलता में कमी से कुलीनों का पतन होता है और वे सत्ता से हाथ धो बैठते हैं।

दो समाजशास्त्रीय मॉडल और भी हैं जिन्होंने सामाजिक परिवर्तन और पश्चिमी समाजों की तकनीकी प्रगति में समरूपता स्थापित की। 20वीं सदी के मध्य में, समाजशास्त्रियों और मानवविज्ञानियों ने भाषा विज्ञान से एक सैद्धांतिक मॉडल उधार लिया और सामाजिक परिवर्तन का विश्लेषण किया। इस पद्धति को 'संरचनात्मक प्रकार्यवाद' कहा जाता है। इस सिद्धांत ने यह मान लिया कि रिश्तेदारी जैसे सामाजिक संस्थान मनुष्य के व्यवहार को तय करते हैं। यह सिद्धांत प्रतिपादित करता है कि सभी सामाजिक संस्थान एक–दूसरे से जुड़े हैं और एक संस्थान में परिवर्तन अन्य संस्थानों में परिवर्तन लाता है।

टिप्पणी

## सामाजिक परिवर्तन के प्रतिमान

सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया का विश्लेषण करने के दौरान और विशेष रूप से भारतीय समाज के संदर्भ में, संस्कृतिकरण, पश्चिमीकरण, आधुनिकीकरण और धर्मनिरपेक्षता की प्रक्रिया महत्वपूर्ण अवधारणात्मक साधन साबित होते हैं।

विख्यात भारतीय समाजशास्त्री, एम.एन. श्रीनिवासन ने अपनी प्रमुख किताब, 'दक्षिण भारत के कूर्गों के बीच धर्म और समाज (1952)' में भारत में सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया का विश्लेषण किया है। यह किताब संभवतः इस प्रकार का पहला प्रयास थी जिसने भारतीय परिप्रेक्ष्य में एक चरणबद्ध रूप से परिवर्तन का अध्ययन किया। संस्कृतिकरण शब्द की शुरुआत श्रीनिवासन ने कूर्गों पर अपने अध्ययन के दौरान की, जिसका प्रमुख उद्देश्य सांस्कृतिक गतिशीलता की प्रक्रिया का विश्लेषण करना था। उनके अनुसार, यह एक प्रक्रिया है जो पूरे भारतीय इतिहास के दौरान चलती रही और आज भी चल रही है। श्रीनिवासन (1966) ने संस्कृतिकरण की व्याख्या इस प्रकार की है, "वह प्रक्रिया जिससे निम्न हिंदू जाति, या जनजाति या अन्य समूह, अपनी परंपराओं, रीतियों, विचार और जीवन की शैली को किसी उच्च और बारंबार 'द्विज' जाति की दिशा में बदलते हैं।" जैसा कि वे कहते हैं, इस प्रकार के परिवर्तन जाति के पदानुक्रम में उस जाति की ओर से किसी जाति की उच्चतर स्थिति पर दावे के साथ शुरू होते हैं जिसे स्थानीय समुदाय ने उस जाति को पहले दिया था। यह दावा एक या दो पीढ़ियों तक किया जाता है। श्रीनिवासन (1966) ने कहा कि कभी–कभी एक जाति एक ऐसी स्थिति का दावा करती है जिसे उसके पड़ोसी देने को तैयार नहीं होते। इसे विस्तार से बताने के लिए, वे कहते हैं कि मैसूर में हरिजन जातियां लुहारों से पका खाना और पानी स्वीकार नहीं करतीं जबकि वे निश्चित रूप से स्पृश्य जातियों में से एक हैं और इस कारण अपने आप को हरिजनों से श्रेष्ठ समझते हैं भले ही विश्वकर्मा ब्राह्मण होने के उनके दावे को स्वीकार नहीं किया जाता। इसी प्रकार, किसानों या 'ओक्कालिगा' तथा गड़रिए या 'कुरुबा' मार्का ब्राह्मणों से पका भोजन और पानी स्वीकार नहीं करते, जो निश्चित रूप से ब्राह्मणों में शामिल किए जाते हैं।

श्रीनिवासन ने आगे कहा कि संस्कृतिकरण का संबंध किसी जाति से होता है और अकसर परिणाम उसकी प्रगति के रूप में सामने आता है। हालांकि संस्कृतिकरण से जुड़ी गतिशीलता जाति पदानुक्रम में केवल स्थिति संबंधी परिवर्तन होती है और उसका परिणाम किसी ढांचागत परिवर्तन के रूप में नहीं होता, यानी, एक विशेष जाति स्थानीय जाति पदानुक्रम में ऊपर जाती है और पड़ोसी जाति नीचे आती है, लेकिन यह परिवर्तन व्यापक जाति पदानुक्रम में होता है। जाति के ढांचे में कोई परिवर्तन नहीं होता है।

यही नहीं, एक प्रक्रिया के रूप में संस्कृतिकरण हिंदू प्रणाली तक सीमित नहीं है बल्कि जनजातीय समूहों में भी होता है जैसे पश्चिमी भारत के भीलों, गोंड और मध्य भारत के ओरांव, तथा हिमालय की पहाड़ियों में। इसका परिणाम संस्कृतिकरण से गुजरने के बाद किसी जनजाति की ओर जाति का दर्जा मांगने यानी हिंदुओं में शामिल होने के रूप में सामने आता है। परंपरागत व्यवस्था में, हिंदू बनने का एकमात्र तरीका

टिप्पणी

था कि वह किसी जाति का हो, और गतिशील इकाई कोई व्यक्ति या परिवार नहीं बल्कि एक समूह हो। इसलिए श्रीनिवासन का प्रमुख तर्क है कि जाति व्यवस्था पर सैद्धांतिक और किताबी विचार के विपरीत, जाति के ढांचे में भी गतिशीलता की संभावना होती है। जैसा कि उन्होंने कहा है,

> "जाति व्यवस्था किसी कठोर व्यवस्था जैसी नहीं जिसमें प्रत्येक घटक का स्थान सदा के लिए निश्चित है। गतिशीलता सदैव संभव होती है, विशेष रूप से पायदान के मध्य क्षेत्रों में। एक या दो पीढ़ी में कोई जाति शाकाहार और मद्य निषेध को अपनाकर, तथा किसी उच्च स्तर की जाति के अनुष्ठानों और उनके देवी–देवताओं को अपनाकर उसकी ओर बढ़ने में सफल रही। संक्षेप में, उसने जहां तक संभव हुआ, ब्राह्मणों के रिवाजों, संस्कारों और मतों को अपनाया। किसी निम्न जाति की ओर से जीवन की ब्राह्मणवादी शैली को लगातार अपनाया गया है, भले ही सैद्धांतिक रूप से वह निषिद्ध हो। इस प्रक्रिया को संस्कृतिकरण कहा गया है।"

मूल रूप से, श्रीनिवासन ने हिंदू जाति व्यवस्था के अंदर गतिशीलता की व्याख्या के लिए 'ब्राह्मणीकरण' शब्द का प्रयोग किया है। हालांकि, आगे चलकर इस प्रक्रिया के व्यापक स्वरूप को देखने के बाद, उन्होंने अंतर्जातीय गतिशीलता को बताने के लिए संस्कृतिकरण शब्द का प्रयोग किया। 'संस्कृतिकरण' की अवधारणा 'ब्राह्मणीकरण' से अधिक विस्तृत है क्योंकि यह न केवल गैर–ब्राह्मण प्रतिमानों जैसे क्षत्रिय मॉडल, जाट मॉडल, वैश्य मॉडल तथा अन्य 'द्विज' जातियों को शामिल करता है बल्कि मूल्यों तथा जीवन शैलियों (हसनैन 2006, 601) के एक विस्तृत दायरे को भी बताता है। श्रीनिवासन ने कहा कि संस्कृतिकरण बेशक बेढंगा शब्द है, लेकिन अनेक कारणों से इसे ब्राह्मणीकरण से बेहतर समझा गया। ब्राह्मणीकरण संस्कृतिकरण की व्यापक प्रक्रिया में सम्मिलित है हालांकि कुछ बिंदुओं पर ब्राह्मणीकरण और संस्कृतिकरण एक–दूसरे से भिन्न रहते हैं। उदाहरण के लिए, वैदिक युग के ब्राह्मण शराब के रूप में 'सोम' पीते थे, गोमांस खाते थे और बलि दिया करते थे। उत्तर–वैदिक काल में दोनों का ही त्याग कर दिया गया। यह कहा गया है कि इसके पीछे जैन और बौद्धों का प्रभाव था। आज ब्राह्मण काफी हद तक शाकाहारी हैं। केवल सारस्वत, कश्मीरी और बंगाली मांसाहारी भोजन करते हैं। हालांकि, ये सभी ब्राह्मण परंपरागत रूप से मद्यत्यागी हैं। संक्षेप में, भारत में बस जाने के बाद, ब्राह्मणों की रीतियों और उनकी आदतों में परिवर्तन आया। यदि ब्राह्मणीकरण शब्द का प्रयोग किया जाता, तो यह बताना पड़ता कि उसका अर्थ किस विशेष ब्राह्मण समूह से है, तथा वह इतिहास की किस अवधि की बात है। यही नहीं, संस्कृतिकरण के घटक सदैव ब्राह्मण ही नहीं होते। यह केवल ब्राह्मण ही नहीं बल्कि स्थानीय 'प्रमुख जाति' होती है जो अनुकरण की मॉडल रह चुकी है। श्रीनिवासन (1966) ने 'प्रमुख जाति' को परिभाषित करते हुए कहा कि यह 'आर्थिक या राजनीतिक सत्ता देती है और पायदान पर काफी ऊपर होती है।' परंपरागत तौर पर, उच्च रस्मी दर्जा रखने वाली जातियों के पास अधिक राजनीतिक और आर्थिक शक्ति थी। हालांकि, आगे चलकर नए कारकों ने प्रभुत्व को प्रभावित किया और पश्चिमी शिक्षा, प्रशासन में

टिप्पणी

नौकरियों तथा आय के शहरी स्रोत ने किसी विशेष जाति की शक्ति और स्थिति को महत्वपूर्ण बनाने में योगदान दिया। इस प्रकार प्रमुख जातियों ने स्थानीय पदानुक्रम में उच्च दर्जे का लाभ उठाया। निम्न जातियों के लोगों ने उनकी ओर अपने संदर्भ समूह के तौर पर देखा तथा उनकी जीवन शैलियों और संस्कारों की नकल की और इस कारण ही, प्रमुख जातियां धीरे–धीरे स्थानीय जाति व्यवस्था तथा एक भिन्न संस्कृतिकरण के मॉडल में सामाजिक–सांस्कृतिक परिवर्तन की स्रोत बन गईं।

विभिन्न जातियों को स्थानीय पदानुक्रम में उच्च स्थिति प्राप्त करने के लिए अपनी सांस्कृतिक परंपराओं को बदलते देखा गया है। संस्कृतिकरण की इस प्रक्रिया के अनेक परिणाम मिले हैं। जैसा कि हसनैन (2006, 601–2) ने कहा है, इसका परिणाम महिलाओं की सांस्कृतिक स्वायत्तता में कमी के रूप में देखा जा सकता है जिनके जीवन–साथी चुनने के अधिकार में कमी आई और उन पर कठोर यौन नैतिकता लादी गई। परिवार की संरचना में परिवर्तनों को रूढ़िवादी हिंदू संयुक्त परिवार की ओर उन्मुख होने तथा उसके साथ पिता के अधिक शक्तिशाली होने, एकल विवाह और सशक्त जाति संगठन के साथ ही जाति से निष्कासन जैसी बातें सामने आईं। साथ ही साथ बैठकर खाने के प्रावधान कठोर हुए और खाने की आदतों में गोमांस और सूअर के मांस के साथ ही शराब पर प्रतिबंध से बदलाव आया। उच्च शिक्षा को महत्व दिया गया जबकि मामूली 'वधु–मूल्य' की अपेक्षा दहेज की प्रथा अपनाई गई। इसके अतिरिक्त, धर्म के क्षेत्र में, जनेऊ धारण करने, विवाह के समय पशुओं की बलि न देने और तीर्थाटन आदि पर जोर दिया गया।

श्रीनिवासन के अनुसार, संस्कृतिकरण का अर्थ केवल नई रीतियों और आदतों को अपनाना ही नहीं है, बल्कि नए विचारों और मूल्यों से परिचय भी है जिनकी अभिव्यक्ति संस्कृत साहित्य की अनेक रचनाओं में हुई है, जो पवित्र होने के साथ ही धर्मनिरपेक्ष भी हैं। कर्म, धर्म, पाप, माया, संस्कार और मोक्ष ये कुछ सबसे सामान्य संस्कृत के धार्मिक विचार हैं, और जब किसी समूह का संस्कृतिकरण होता है, तो उनकी चर्चा में ये शब्द बार–बार आते हैं। जैसा कि उन्होंने कहा, संस्कृत के धार्मिक विचारों की ब्रिटिश काल में बढ़ोतरी हुई है। विज्ञान और प्रौद्योगिकी तथा विशेष रूप से संचार तकनीक में तरक्की ने संस्कृतिकरण को उन क्षेत्रों तक विस्तार दिया जो पहले अछूते थे और देश में साक्षरता बढ़ने से इनका प्रसार उन निम्न जातियों के बीच हुआ जो पहले काफी हद तक निरक्षर थी। इसके अलावा, पश्चिमी राजनीतिक संस्थानों जैसे संसदीय लोकतंत्र के आने से भी देश में संस्कृतिकरण की घटनाओं में वृद्धि हुई है।

यहां यह बता देना सही होगा कि ऐसी अनेक प्रक्रियाएं हैं जो तकनीकी रूप से संस्कृतिकरण से भिन्न हैं लेकिन उन्हें गलती से यही मान लिया गया है। उदाहरण के लिए, एस.एल. कालिया ने 'जनजातीयकरण' की प्रक्रिया की चर्चा की जो उत्तर–प्रदेश के जौनसार–बावर और मध्य प्रदेश के बस्तर में हुई जहां जनजातियों के बीच कुछ समय तक रहने वाले उच्च जाति के हिंदुओं ने उनके आचारों, संस्कारों और धारणाओं को अपना लिया जो कई मायनो में उनके अपने व्यवहारों के विपरीत थे।

टिप्पणी

इसके अलावा, डी.एन. मजूमदार के एक अध्ययन ने एक विपरीत प्रक्रिया के प्रमाण दिए हैं जो दर्शाते हैं कि उच्च जातियों के सदस्यों ने अपनी रीतियों, पहनावे और पारंपरिक जीवन शैली को छोड़ दिया। यहां तक कि उन पेशों को अपना लिया जो पारंपररिक रूप से निम्न जातियों के थे। उन्होंने इस प्रक्रिया को 'अ–संस्कृतिकरण' कहा है। मजूमदार के अनुसार, जातियों के बीच दूरियों का संकुचन संस्कृतिकरण के कारण नहीं बल्कि उसकी उल्टी प्रक्रिया के कारण हुआ है। निम्न जातियां उच्चतर की ओर नहीं बढ़ रही हैं बल्कि उच्चतर जातियां अपनी जीवन शैली को छोड़ रही हैं।

वाई. सिंह (1977) ने पाया कि संस्कृतिकरण की प्रक्रिया स्पष्ट रूप से सांस्कृतिक होने के बावजूद, सामाजिक गतिशीलता की अनेक जटिल प्रेरणादायी इच्छाओं को दर्शाती है। इस प्रक्रिया में एक महत्वपूर्ण तत्व पारंपरिक जाति–स्तरीकृत प्रणाली द्वारा, जिन संस्थागत असमानता के तौर–तरीकों को बढ़ावा दिया गया उन्हें स्पष्ट रूप से अस्वीकृत किया जाना दिखता है। हालांकि, इसका परिणाम एक विरोधाभास के रूप में सामने आता हैः संस्कृतिकरण एक प्रमाणिक प्रणाली को लागू करता है जिसका प्रतिनिधित्व जाति स्तरीकरण करता है, लेकिन यह सिद्धांत रूप में ही सही, अपनी मौलिक शर्त, यानी पदानुक्रम के सिद्धांत को स्वीकार किए जाने का उल्लंघन करता है। इस कारण, अनेक समाजशास्त्रियों को संस्कृतिकरण की प्रक्रिया में वर्ग संघर्ष का एक छिपा हुआ रूप दिखता है जिसका परिणाम भारतीय समाज के विशिष्ट संरचनात्मक प्रतिबंधों (गूल्ड 1961; लीच 1960; वाई. सिंह 1977) के रूप में सामने आता है। 'प्रमुख जाति' की अपनी अवधारणा का विश्लेषण करते हुए श्रीनिवासन ने अप्रत्यक्ष रूप से यही बात कही थी।

### 3.5.3 सामाजिक आंदोलनों की उत्पत्ति

सामाजिक आंदोलन एक प्रकार की सामूहिक क्रिया है। सामाजिक आंदोलन व्यक्तियों या संगठनों के विशाल अनौपचारिक समूह होते हैं जिनका उद्देश्य किसी विशिष्ट सामाजिक मुद्दे पर केंद्रित होता है।

सामाजिक आंदोलन जीवन की एक नई व्यवस्था स्थापित करने के लिए सामूहिक प्रयास माने जा सकते हैं। सामाजिक आंदोलनों का उद्देश्य समाज के वर्तमान जीवन में कोई न कोई परिवर्तन लाना है। इस प्रकार सामाजिक आंदोलन परिवर्तन करने का सामूहिक प्रयास है। आरनोल्ड एम. रोज के अनुसार, "सामाजिक आंदोलन व्यक्तियों की एक बड़ी संख्या के एक अनौपचारिक संगठन को कहा है जो सामाजिक काव्य लिए होता है, अनेक व्यक्तियों की प्रभावशाली संस्कृति, संकुलों, संस्थाओं अथवा विशिष्ट वर्गों को समाज में संशोधित या स्थानान्तरित करने का एक सामूहिक प्रयास है।

सामाजिक आंदोलन एक छोटे रूप में आरम्भ होता है किन्तु क्रमशः बढ़ते हुए समाज में छा जाता है, उसकी अपनी प्रथाएं और परम्पराएं होती हैं उसमें एक संगठन होता है, उसमें नेता होते हैं, श्रम विभाजन होता है तथा इसमें कुछ सामाजिक नियम और मूल्य होते हैं।

टिप्पणी

## सामाजिक आंदोलनों की विशेषताएं

सामाजिक आंदोलनों की विशेषताएं निम्न हैं–

- सामाजिक आंदोलन एक सामूहिक प्रयास है।
- सामाजिक आंदोलन घटित हो रहे परिवर्तनों को एक निश्चित दिशा देने का प्रयास करता है।
- यह जीवन तथा समाज के किसी भी पक्ष से सम्बन्धित हो सकता है।
- सामाजिक आंदोलन सामाजिक संरचना का प्रतिफल होता है अतः यह सामाजिक संरचना की विशेष परिस्थिति में उत्पन्न होता है।
- समाज एवं संस्कृति में पूर्ण अथवा आंशिक परिवर्तन लाने के लिए अथवा विरोध करने के लिए सामाजिक आंदोलन किया जाता है।
- सामाजिक आंदोलन में त्वरित परिवर्तन की इच्छा से किए गए आधुनिक आंदोलन संसार भर में लोगों को जाग्रत करने के लिए प्रौद्योगिकी तथा अन्तरजाल का सहारा लेते हैं।

भारत के सामाजिक आंदोलन के सबसे बड़े महानायक डॉ. बाबा साहेब अंबेडकर जी हैं। इनका शक्तिशाली आंदोलन विश्व के सबसे प्रभावशाली आंदोलनों में से एक है तथा भारत का सबसे प्रभावशाली सामाजिक आंदोलन है। बाबा साहेब का आंदोलन भारत देश के पिछड़े, गरीब, शोषित, दलित लोगों को उनके सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक व राजनीतिक विशेषतः मानव अधिकार उपलब्ध कराने के लिए था। यह भारत की सबसे बड़ी सामाजिक क्रान्ति भी थी। डॉ. बाबा साहेब संविधान निर्माता थे इसलिए उन्होंने देश के शोषित लोगों के अधिकारों हेतु संघर्ष किया तथा सफल हुए आंदोलनों में डॉ. बाबा साहेब अंबेडकर जी के महाड़ सत्याग्रह या चावदार तालाब आंदोलन, नासिक का कालराम मंदिर आंदोलन और दलित बौद्ध आंदोलन प्रसिद्ध हैं। विश्व के सबसे महान मानवाधिकारी आंदोलनकारियों में डॉ. बाबा साहेब अंबेडकर जी का स्थान शीर्ष पर है।

भारत जैसे विशाल, प्राचीन, बहुभाषीय, बहुल सांस्कृतिक और विभिन्न परिदेशीय देश में जन–आंदोलन के विविध रूप रहे हैं तथा समय के साथ शिक्षा के प्रसार, प्रौद्योगिकीकरण के कारण सामाजिक आंदोलनों में अति तीव्र गति से विकास हुआ है। पर्यावरण आंदोलन, युद्ध विरोधी आंदोलन, असंगठित मजदूरों के आंदोलन, स्त्री अधिकारों के आंदोलन, वैकल्पिक यौनिकताओं के आंदोलन इस परिघटना की सफलता के प्रमाण हैं। वित्तीय पूंजी के भूमण्डलीकरण से उपजी जनविरोधी प्रवृत्तियों के विरुद्ध चल रहे आंदोलन भी इसी श्रेणी में आते हैं। इंटरनेट की परिघटना के उभार के बाद सामाजिक आंदोलनों के लिए प्रसार, समन्वय और नेटवर्किंग की सुविधा में वृद्धि हो गई है।

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् पश्चिमी देशों में उभरे मध्य वर्ग ने स्वयं को पुराने वर्ग आधारित आंदोलनों के मुकाबले राजनीतिक, सांस्कृतिक और बौद्धिक रूप से विशिष्ट महसूस करते हुए सामूहिक राजनीतिक कार्रवाई के ऐसे रूपों को अपनाना पसंद किया जिनके दायरे में व्यापक किस्म के नैतिक, सांस्कृतिक और सामाजिक मुद्दे आते थे। सत्तर के दशक में एक नए सिद्धान्त (संसाधनों का लामबंदी का सिद्धांत) का जन्म हुआ। इस सिद्धान्त ने सामाजिक आंदोलनों को एक ऐसी सामाजिक प्रक्रिया के

रूप में देखा जिसके अन्तर्गत राजनीतिक उद्यमी इच्छित सामाजिक परिवर्तन हेतु पहले तो संसाधनों का तर्कसंगत संचय करते हैं और फिर लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु संसाधनों का प्रयोग करते हैं।

टिप्पणी

सामाजिक आंदोलनों की प्रक्रिया में एक सिद्धांत सांगठनिक व्यवहार के अध्ययन के रूप में भी विकसित हुआ। अनेक विद्वानों ने सामाजिक आंदोलनों और संस्थागत राजनीति के मध्य अन्योन्यक्रिया पर विशेष ध्यान दिया जिससे राजनीति को प्रक्रियाओं के रूप में समझने के लिए परिप्रेक्ष्य का विकास हुआ।

आधुनिक पाश्चात्य जगत में सामाजिक आंदोलन शिक्षा के प्रसार के द्वारा उन्नीसवीं शताब्दी में औद्योगीकरण व नगरीकरण के कारण श्रमिकों के आवागमन में वृद्धि के कारण संभव हुए। सामाजिक आंदोलन के कुछ कारण निम्नलिखित हैं–

**(1) सामाजिक आदर्श**– प्रत्येक सामाजिक आंदोलन कुछ सामाजिक आदर्शों को स्थापित करना चाहता है। इस प्रकार सामाजिक आदर्श, सामाजिक आंदोलन के महत्वपूर्ण कारण हैं।

**(2) ऐतिहासिक स्पष्टीकरण**– इतिहासकार सामाजिक आंदोलनों के मूल में किसी न किसी ऐतिहासिक घटना को कारण मानते हैं। इससे यह तो ज्ञात होता है कि कोई आंदोलन किस प्रकार जन्म लेता है किन्तु इससे यह पता नहीं चलता है कि एक ही परिस्थिति में किसी भी समाज में विभिन्न प्रकार के आंदोलन क्यों उत्पन्न होते हैं। अतः ऐतिहासिक स्पष्टीकरण आंदोलन के कारणों की पर्याप्त व्याख्या नहीं है।

**(3) मनोवैज्ञानिक स्पष्टीकरण**– समाज मनोवैज्ञानिक आंदोलनों के मूल में सामूहिक तनावों जैसे मनोवैज्ञानिक कारणों की ओर संकेत करते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं है कि मनोवैज्ञानिक असंतोष ही प्रत्येक प्रकार के आंदोलन के जन्म का मुख्य कारण है किन्तु इसे आंदोलन का पर्याप्त कारण नहीं कहा जा सकता है।

वास्तव में, सामाजिक आंदोलनों के कारणों की व्याख्या करने के लिए समाजशास्त्रीय, ऐतिहासिक अथवा मनोवैज्ञानिक स्पष्टीकरण में से कोई एक पर्याप्त नहीं है, इन सभी के कारण सामाजिक आंदोलन आरम्भ होते हैं तथा भयावह रूप धारण कर लेते हैं।

## ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् भूमण्डलीकरण तथा राष्ट्रीय राजनीतिक प्रणालियों में इस परिघटना का उदय हुआ। इसके पीछे ऐसे व्यक्ति, नेटवर्क, समूह और संगठन थे जिनका उद्देश्य औपचारिक राजनीति के बाहर समाज, राज्य, सार्वजनिक नीतियों को जनहित के लिहाज से प्रभावित करना था। पिछली शताब्दी में सामाजिक आंदोलनों ने राजनीतिक प्रणालियों और लोकतंत्रीकरण की प्रक्रिया पर उल्लेखनीय प्रभाव डाला है। संपूर्ण विश्व में जन प्रदर्शन, जुलूस, सभाएं और हड़तालें संगठित की गई हैं और कभी–कभी हिंसात्मक दंगे भी हुए हैं।

- **औपचारिक आंदोलन**– यह लोक आचरण की अवस्था है। इसमें सामूहिक असंतोष के लक्ष्य परिभाषित होकर विचारधारा का रूप ले लेते हैं और आंदोलन औपचारिक रूप से संगठित हो जाता है।

टिप्पणी

- **क्रान्ति**– आंदोलन की अंतिम अवस्था में वह क्रान्ति का रूप ग्रहण कर लेता है जिसमें एक ओर केन्द्रिय लक्ष्य घोषित किए जाते हैं और दूसरी ओर साधन के रूप में हिंसा के प्रयोग के लिए भी तैयारी होती है।

## सामाजिक आंदोलन के कारण

साधारणतया सामाजिक आंदोलनों के समाजशास्त्रीय ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक स्पष्टीकरण दिए जाते हैं। जो निम्नलिखित हैं–

**समाजशास्त्रीय स्पष्टीकरण**– समाजशास्त्रियों ने सामाजिक आंदोलनों के कारणों में निम्नलिखित को महत्वपूर्ण माना है :

- **सामाजिक विघटन**– सामाजिक विघटन समाज के विभिन्न वर्गों की स्थितियों और कार्यों की अव्यवस्था को कहते हैं। इससे असंतोष उत्पन्न होता है, परिणामस्वरूप सामाजिक आंदोलन जन्म लेते हैं।
- **स्थिति की विषमता**– जब समाज में विभिन्न व्यक्तियों की स्थितियों में अत्यधिक विषमता दिखाई पड़ती है, तो निम्न स्थिति के लोगों में असंतोष उत्पन्न हो जाता है और वामपंथी तथा दक्षिणपंथी आंदोलन जन्म लेते हैं।
- **वर्ग चेतना**– कार्ल मार्क्स के मतानुसार सामाजिक विकास का इतिहास वर्ग, संघर्ष का इतिहास है। वह आंदोलन का वर्ग संघर्ष कहलाता है जो कि वर्ग चेतना का परिणाम है। जब शोषित वर्ग में वर्ग चेतना तीव्र हो जाती है तो वह शोषक वर्ग के उन्मूलन के लिए क्रान्तिकारी आंदोलन आरम्भ कर देती है।
- सामाजिक आंदोलन का सम्बन्ध सामाजिक गतिशीलता से होता है।
- सामाजिक आंदोलन में नेतृत्व की भूमिका महत्वपूर्ण होती है।
- सामाजिक आंदोलन की एक विचारधारा होती है।
- सामाजिक आंदोलन की प्रकृति परिवर्तन समर्थक तथा परिवर्तन प्रतिरोधी भी हो सकती है।
- सामाजिक आंदोलन भौगोलिक सीमाओं के आधार पर पहचाने जा सकते हैं।
- सामाजिक आंदोलन सामाजिक चेतना का विस्तार करते हैं।

प्रत्येक सामाजिक आंदोलन किसी न किसी सामाजिक असंतोष के कारण उत्पन्न होता है। जब लोग सामाजिक संरचना, संस्था, प्रथा, परम्परा अथवा नियम आदि में से किसी से अत्यधिक असंतुष्ट हो जाते हैं तो किसी सामाजिक आंदोलन के जन्म की भूमिका तैयार होती है। सामाजिक आंदोलन सामूहिक अथवा जन आंदोलन होते हैं।

प्रत्येक सामाजिक आंदोलन किसी विशेष स्थिति के विरोध में जन्म लेता है, क्रमशः संगठित रूप ग्रहण करता है, लंबे समय तक निरन्तर गतिशील रहता है। सामाजिक लक्ष्यों को प्राप्त करता है और इसके पश्चात् समाप्त हो जाता है। इस प्रकार सामाजिक आंदोलन की अनेक अवस्थायें होती हैं।

टिप्पणी

हाईम्स ने सामाजिक आंदोलन के विकास में निम्नलिखित अवस्थाएं मानी हैं–

- **प्राथमिक अवस्था**– यह अवस्था जनप्रतिक्रियाओं की अवस्था होती है। इसमें बेरोजगार, असंतुष्ट और पीड़ित व्यक्ति अपने विचारों और शिकायतों के द्वारा गंभीर स्थिति का दृश्य उपस्थित कर देते हैं।
- **द्वितीयक अवस्था**– यह भीड़ युक्त व्यवहार की अवस्था है। इसमें आंदोलन का प्रसार होता है। उत्तेजना बढ़ती है।

### 3.5.4 सामूहिक लामबंदी

सामूहिक लामबंदी का मूल उद्देश्य समुदाय स्तर पर मजबूत और टिकाऊ संस्थानों का निर्माण करना है। प्रभावी सामूहिक लामबंदी के माध्यम से, लोगों को अपने स्वयं सहायता समूहों हेतु प्रोत्साहित करना सुनिश्चित किया जाता है।

सक्रिय सेवा के लिए समूहों को संगठित करने के रूप में लामबंदी को समझा जा सकता है। पर्यावरण संरक्षण से लेकर मानव अधिकारों तक विभिन्न कारणों से लोगों को संगठित किया जा सकता है। सामाजिक लामबंदी तब होती है जब समाज में व्यक्ति एक विशेष लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए एकजुट होते हैं। इसमें विभिन्न संगठन या समूह भी सम्मिलित हो सकते हैं जो जागरूकता बढ़ाते हैं और समाज में परिवर्तन की मांग करते हैं। दूसरी ओर, सामुदायिक लामबंदी तब होती है जब किसी भी समुदाय में व्यक्ति या समूह किसी विशेष लय को प्राप्त करने के लिए एकत्र होते हैं। यह लक्ष्य सामान्यतः समुदाय के जीवन–स्तर में वृद्धि करता है। इसमें समुदाय के सदस्यों को एक साथ लाया जाता है।

सामूहिक लामबंदी एक महत्वपूर्ण सामाजिक घटना है और इसका भावात्मक स्तर पर सम्पूर्ण जीवन पर एक बड़ा प्रभाव पड़ता है। सामूहिक लामबंदी राजनीतिक और सामाजिक स्तर पर दबाव डाल सकती है। इसके अन्तर्गत व्यक्ति अपने क्रोध व दुःख आदि सामान्य भावनाओं को साझा करते हैं तथा समुदाय के कल्याण हेतु कार्य करते हैं।

सामूहिक लामबंदी को सामाजिक लामबंदी या लोकप्रिय लामबंदी के रूप में भी जाना जाता है। इसे एक ऐसी प्रक्रिया के रूप में परिभाषित किया गया है जो आमने–सामने वार्तालाप के माध्यम से एक विशेष उद्देश्य के सम्बन्ध में जागरूकता में वृद्धि और मांग करने के लिए राष्ट्रीय और स्थानीय स्तर पर भागीदारों तथा सहयोगियों की एक विस्तृत श्रृंखला को सम्मिलित करती है और प्रेरित करती है। संस्थानों के सदस्य, सामुदायिक नेटवर्क, नागरिक और धार्मिक समूह तथा अन्य नियोजित संदेशों के साथ वार्तालाप के लिए लोगों के विशिष्ट समूहों तक पहुंचने के लिए समन्वित तरीके से कार्य करते हैं। दूसरे शब्दों में, सामूहिक लामबंदी परस्पर सम्बन्धित और पूरक प्रयासों में संलग्न अनेक व्यक्तियों के माध्यम से परिवर्तन को सुविधाजनक बनाने का प्रयास करती है।

सामूहिक लामबंदी प्रक्रिया सामान्यतः बड़े सार्वजनिक समारोहों जैसे– सामूहिक सभाओं, मार्चों, परेडों, जुलूसों और प्रदर्शनों का रूप लेती है। वे सभाएं आमतौर पर एक विशेष कार्यवाही का विशेष अंग होती हैं। जन लामबंदी अक्सर क्रांतिकारी आंदोलनों

टिप्पणी

सहित बुनियादी स्तर पर आधारित सामूहिक आंदोलनों द्वारा उपयोग की जाती है, लेकिन यह अभिजात वर्ग और स्वयं राज्य का एक उपकरण भी बन सकता है।

200 से अधिक हिंसक क्रांतियों और 100 से अधिक अहिंसक अभियानों के एक अध्ययन में एरिका चेनोवैध ने बताया है कि सविनय अवज्ञा सार्वजनिक नीति को प्रभावित करने का सर्वाधिक सशक्त माध्यम है। उन्होंने पुनः वर्णित किया है कि लगभग 3.5% जनसंख्या की सक्रिय भागीदारी गंभीर राजनीतिक परिवर्तन सुनिश्चित करती है।

### 3.5.5 संगठन और नेतृत्व

एक सभ्य व आदर्श समाज का निर्माण उन व्यक्तियों द्वारा होता है जो इसे संरचना प्रदान करते हैं। समाज वह संरचना है जिसे लोग अपनी गतिविधियों द्वारा गतिशील बनाए रखते हैं, इसलिए कहा जा सकता है कि समाज एक प्रकार का संगठन है तथा संगठन को सशक्त और मजबूत बनाने हेतु सशक्त व कुशल नेतृत्व की आवश्यकता होती है। समाज को भी गतिशील व जीवित बने रहने के लिए कुशल नेतृत्व की आवश्यकता होती है। एक सफल व विकसित समाज के निर्माण हेतु एक नेता समग्र रूप से सहायता करता है।

नेतृत्व किसी संगठन के सफलतापूर्वक कार्य करने और इसके लक्ष्यों व उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु अनिवार्य है। कीथ डेविस के अनुसार, "नेतृत्व के अभाव में कोई भी संगठन महज मनुष्यों और यंत्रों की एक भीड़ है। यह वह निर्णायक कार्य है जो सभी उन संभावनाओं को सफल बनाता है जो किसी संगठन और उसके लोगों में निहित है।"

नेतृत्व प्रबन्धन का एक उपवर्ग है। एक नेता को दूसरों के व्यवहार को प्रभावित करने की आवश्यकता होती है। इस प्रकार नेतृत्व का प्रमाण चिह्न है, दूसरों को अनुसरण करने के लिए प्रभावित करने की क्षमता।

सेकलर हडसन के शब्दों में, "बड़े व प्रतिष्ठित संगठनों में नेतृत्व को उद्यम के अंतर्गत उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए एक साझा प्रयास अर्थात् साथ कार्य करने के लिए लोगों को प्रभावित और ऊर्जावान करने के कार्य के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।"

एम.पी. फालेट के अनुसार, "एक नेता किसी संगठन का अध्यक्ष या किसी विभाग का मुखिया नहीं होता अपितु एक ऐसा व्यक्ति होता है जो एक स्थिति के चारों ओर देख सकता है और यह समझता है कि एक स्थिति से दूसरी स्थिति तक कैसे गुजरना है।"

एक कुशल नेता न केवल अपने अनुयायियों को संगठनात्मक लक्ष्यों के लिए प्रतिबद्ध करता है बल्कि उसके लिए आवश्यक संसाधन भी एकत्र करता है, उनका मार्गदर्शन करता है तथा अपने अधीनस्थों को उद्देश्य प्राप्त करने हेतु उत्प्रेरित भी करता है।

नेतृत्व का महत्व संस्था को होने वाले निम्नलिखित लाभों से स्पष्ट किया जा सकता है–

- नेतृत्व व्यक्तियों के व्यवहार को प्रभावित करता है तथा उन्हें अपनी श्रम/ऊर्जा को संस्था के लाभ हेतु सकारात्मक रूप से योगदान देने के लिए प्रेरित करता है। अच्छे नेता सदैव अपने अनुयायियों के द्वारा अच्छे परिणाम ही उत्पादित करते हैं।

टिप्पणी

- एक नेता कर्मियों के साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध बनाए रखता है तथा अपने अनुयायियों को उनकी आवश्यकताएं पूर्ण करने में सहायता करता है, वह आत्मविश्वास, समर्थन व सहायता प्रदान करता है तथा एक अनुकूलन कार्य वातावरण का सृजन करता है।
- नेता संस्था में आवश्यक परिवर्तन को प्रारम्भ करने में एक मुख्य भूमिका निभाता है।
- एक कुशल नेता संस्था में होने वाले द्वंद्व को भी प्रभावपूर्ण तरीके से निपटाता है तथा उसके दुष्परिणामों को भी फैलने से रोकता है।
- एक अच्छा नेता सदैव अपने अनुयायियों को अपनी भावनाओं तथा असहमति को प्रदर्शित करने का वातावरण प्रदान करता है और उन्हें उपयुक्त स्पष्टीकरण द्वारा आश्वस्त भी करता है।
- एक प्रभावशाली नेता अपने अधीनस्थों को प्रशिक्षण भी उपलब्ध कराता है।
- एक दूरदर्शी नेता सदैव अपना अगला नेतृत्व प्रतिनिधि तैयार करता है ताकि नेतृत्व के उत्तरदायित्व की प्रक्रिया निर्विघ्न संपन्न हो सके।

इस प्रकार एक कुशल, प्रभावशाली, दूरदर्शी नेता एक संगठन की सफलता की कुंजी होता है।

### 3.5.6 सामाजिक प्रभाव और परिवर्तन

फिशर ने 'परिवर्तन' शब्द को समझाते हुए कहा है कि, ''परिवर्तन संक्षिप्त रूप में पहले की अवस्था या अस्तित्व की विधि में रूपांतरण को कहते हैं।'' इस अर्थ के संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था में निरंतर परिवर्तन होता रहता है। सामाजिक व्यवस्था के निर्णायक तत्व मनुष्य ही होते हैं तथा उनमें आये दिन परिवर्तन होता रहता है। जैविक दृष्टि से परिवर्तन नित्य प्रति होते रहते हैं। आज जो किसी शिशु की शारीरिक संरचना है, उसमें कल परिवर्तन अवश्य होगा। आज का निर्बल शिशु कुछ दिनों बाद अपने ही पैरों पर खड़ा होने लगता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मानव व्यवहार शारीरिक स्वरूपों में परिवर्तन के साथ–साथ परिवर्तित होता रहता है।

डेविस के अनुसार, ''सामाजिक परिवर्तन से तात्पर्य केवल उन संशोधनों से है, जो सामाजिक संगठन में हुआ करते हैं।''

जोंस के अनुसार, ''सामाजिक परिवर्तन वह शब्द है, जो कि सामाजिक प्रक्रियाओं, सामाजिक प्रतिमानों, सामाजिक अंतःक्रिया अथवा सामाजिक संगठन के किसी भी तत्व में फेर–बदल या संशोधन को व्यक्त करने के लिए किया जाता है।''

मैकाइवर तथा पेज लिखते हैं कि, ''समाजशास्त्री के रूप में हमारा प्रत्यक्ष संबंध सामाजिक संबंधों से है, केवल इन्हीं में होने वाले परिवर्तन को हम सामाजिक परिवर्तन कहेंगे।''

जॉनसन ने सामाजिक परिवर्तन को परिभाषित करते हुए कहा है कि, ''समाज के दो पहलू होते हैं–प्रथम, समाज का संरचनात्मक स्वरूप और दूसरा, समाज का कार्यात्मक रूप। सामाजिक परिवर्तन से तात्पर्य सामाजिक ढांचे में परिवर्तन से है।''

सामाजिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी क्या है? किस कारक का महत्व अधिक है? आदि प्रश्नों का उत्तर आसानी से नहीं दिया जा सकता। वास्तविकता तो यह है कि इन सभी प्रश्नों का रूप विभिन्न समाजों में विभिन्न प्रकार का है। प्रत्येक समाज के लिए कोई एक निश्चित नियम नहीं बनाया जा सकता कि इन समाजों में परिवर्तन की दशा ऐसी होगी अथवा अमुक कारक सर्वोपरि होगा। कुछ निर्धारणवादी, जहां किसी एक कारक को सामाजिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी मानते हैं, जैसे–मार्क्स या अन्य साम्यवादी विचारक आर्थिक कारक को सामाजिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी मानते हैं, तो सोरोकिन तथा ऑगबर्न सांस्कृतिक कारक को परिवर्तन के लिए सबसे महत्वपूर्ण कारक मानते हैं। वेब्लन प्रौद्योगिकी को एक जिम्मेदार कारक बताते हैं, जिससे समाज में मूलभूत परिवर्तन होता है। लेकिन इन सभी विचारकों के विचार सार्वभौमिक नहीं हैं। अतः किसी एक को महत्व न देकर सभी कारकों को समान महत्व देना चाहिए।

आधुनिक समाज में हो रहे सामाजिक परिवर्तन की प्रकृति निम्न प्रकार है–

1. **सामाजिक परिवर्तन की निश्चित भविष्यवाणी नहीं की जा सकती है :** कोई भी व्यक्ति यह नहीं कह सकता कि किसी भी समाज में एक निश्चित समय पर कौन–कौन से परिवर्तन होंगे। हम अधिक से अधिक परिवर्तन की संभावना–मात्र कर सकते हैं; अर्थात परिवर्तन की प्रकृति का ही अनुमान लगा सकते हैं। इस अर्थ में सामाजिक परिवर्तन बहुत कुछ अनिश्चित होता है पर इसका तात्पर्य यह नहीं है कि सामाजिक परिवर्तन का कोई अंतर्निहित नियम होता ही नहीं है। इसका तात्पर्य तो केवल इतना ही है कि अनेक आकस्मिक कारकों के विषय में भी परिवर्तन के संबोधन में निश्चित भविष्यवाणी करना कठिन है। उदाहरणार्थ, हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि आधुनिक कानूनों के पास हो जाने से विवाह के आधार पर आदर्शों में परिवर्तन होगा, औद्योगीकरण के फलस्वरूप नगरीकरण की प्रक्रिया में तेजी आएगी इत्यादि, पर किसी स्थिति में हम इनके निश्चित स्वरूपों के संबंध में भविष्यवाणी नहीं कर सकते।
2. **सामाजिक परिवर्तन एक सार्वभौमिक घटना है :** इस विशेषता का सीधा–सादा अर्थ यही है कि सामाजिक परिवर्तन सर्वव्यापी है और इसीलिए परिवर्तन की यह घटना बिना किसी अपवाद के संसार के सभी समाजों में सामान्य है। ऐसा कोई समाज विश्व के किसी भी कोने में नहीं है, जिसमें परिवर्तन न होता हो एवं जो पूर्णतया स्थिर हो। इसका प्रभाव इतना सर्वव्यापी है कि समाज में कोई भी दो व्यक्ति एक समान नहीं हैं। उनके इतिहास और संस्कृति में इतनी भिन्नता पायी जाती है कि किसी को भी दूसरे का प्रतिरूप नहीं कहा जा सकता। प्रत्येक समूह की आवश्यकताएं भिन्न–भिन्न होती हैं। सभी समूहों की भावनाओं, विचारों, आदर्शों–नियमों और सामाजिक मूल्यों में अंतर होता है। इससे सामाजिक परिवर्तन की सार्वभौम प्रकृति स्पष्ट होती है। गिलिन एवं गिलिन ने सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या करते हुए कहा है कि–''जीवन के स्वीकृत ढंग में जब संशोधन होने लगता है तो उसे हम सामाजिक परिवर्तन कहते हैं। ये परिवर्तन भले ही भौगोलिक दशाओं में परिवर्तन के कारण हुए हों या सांस्कृतिक सज्जा, जन संस्था की संरचना या विचारों में परिवर्तन के

टिप्पणी

फलस्वरूप हुए हों, अथवा चाहे वह समूह में प्रसरण या आविष्कार के कारण हुए हों।''

मेरिल और एल्ड्रे ने लिखा है कि– "जब मानव व्यवहार संशोधित हो रहा है तो वह समाज में हो रहे परिवर्तन का सूचक है। जब मनुष्य के पूर्ववत ढंग बदलने लगते हैं, जिसमें वे अपना निर्वाह करते है, परिवार का पालन–पोषण करते हैं, बच्चों को शिक्षा देते हैं अथवा अपने शासन प्रबंध को चलाते हैं अथवा धार्मिक कृत्य–पूजा आदि करते हैं तो इन सबको ही हम सामाजिक परिवर्तन की संज्ञा देते हैं।''

जॉनसन लिखते हैं कि ''व्यक्तियों के कार्य करने तथा विचार के तरीकों में परिवर्तन ही सामाजिक परिवर्तन कहलाता है।''

मूरे लिखते हैं कि– ''जिस प्रकार किसी भिन्न को व्यक्त करने में अंश और हर दोनों की ही शरण लेनी पड़ती है, उसी प्रकार सामाजिक परिवर्तन को व्यक्त करने के लिए समय और विभिन्न घटनाओं का सहारा लेना पड़ता है। समय हर की तरह से है और घटनाओं की संख्या अंश के समान है।''

डासन तथा गेटिस लिखते हैं कि– ''सांस्कृतिक परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन है, क्योंकि समस्त संस्कृति अपनी उत्पत्ति, अर्थ और प्रयोग में सामाजिक है।''

3. **सामाजिक परिवर्तन एक अनिवार्य नियम के रूप में होता है** : सामाजिक परिवर्तन एक अनिवार्य घटना है। यही कारण है कि सामाजिक परिवर्तन होकर ही रहता है, चाहे वह परिवर्तन प्राकृतिक कारकों द्वारा अनिवार्य रूप से हो अथवा नियोजित रूप में या समाज द्वारा ऐच्छिक आधार पर जान–बूझकर किया जाता हो। समाज की आवश्यकताएं सदैव परिवर्तित होती रहती हैं तथा व्यक्ति की मनोवृत्तियों और रुचियों में भी परिवर्तन होता रहता है। समूह के सदस्यों द्वारा इन नयी परिस्थितियों के साथ अनुकूलन करने का प्रयत्न करते रहने के कारण समाज में परिवर्तन की प्रक्रिया सदैव मौजूद रहती है।

4. **सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिवर्तन में अंतर होता है** : सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन में मूलभूत अंतर है, जबकि कुछ विचारक इन दोनों के मिले–जुले रूप का प्रयोग करते हैं। सामाजिक परिवर्तन से तात्पर्य सामाजिक संबंधों में परिवर्तन से है, जबकि सांस्कृतिक परिवर्तन एक वृहद् धारणा है। इसके अंतर्गत धर्म, साहित्य, कला, दर्शन, व्यवहार के ढंग, वेश–भूषा आदि सम्मिलित किये जाते हैं। इन सभी चीजों में निरंतर परिवर्तन होता रहता है–जैसे धार्मिक विचारधारा, साहित्यिक शैली तथा ललित कलाओं के रूपों में सदैव समानता नहीं पाई जाती है। इसी को सांस्कृतिक परिवर्तन कहा जाता है।

कुछ सांस्कृतिक परिवर्तन ऐसे होते हैं, जो मानव संबंधों को प्रभावित नहीं करते। जैसे किसी नये साहित्य की रचना के फलस्वरूप यह आवश्यक नहीं है कि व्यक्तियों के सामाजिक संबंधों में परिवर्तन आये ही, पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि सांस्कृतिक परिवर्तन कभी भी सामाजिक परिवर्तन को प्रभावित नहीं करता। सांस्कृतिक परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन को भी प्रभावित करता है। साहित्य, संगीत तथा कला, आदि की नई शैलियां हमारे विचारों पर प्रभाव

टिप्पणी

डालती हैं और तत्पश्चात सामाजिक संबंधों को प्रभावित करती हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि सांस्कृतिक परिवर्तन एक व्यापक घटना है, जिसका प्रभाव सामाजिक संबंधों पर भी पड़ता है।

साधारणतया हम आदिम समाज को स्थिर समाज तथा आधुनिक समाज को गतिशील समाज मानते हैं। कुछ लोग ग्रामीण समुदायों को स्थिर तथा नगरीय समुदायों को गत्यात्मक मानते हैं। वास्तव में कोई भी समाज स्थिर नहीं होता। स्थिर और गतिशील समाज की धारणा सापेक्षिक है।

5. **सामाजिक परिवर्तन की भविष्यवाणी नहीं की जा सकती है** : कोई भी व्यक्ति यह दावा नहीं कर सकता कि किसी भी समाज में एक निश्चित समय पर कौन–कौन से परिवर्तन होंगे। इस अर्थ में सामाजिक परिवर्तन बहुत कुछ अनिश्चित होता है पर इसका तात्पर्य यह नहीं है कि सामाजिक परिवर्तन का कोई अंतर्निहित नियम होता ही नहीं है। इसका तात्पर्य तो केवल इतना ही है कि अनेक आकस्मिक कारक भी परिवर्तन ला सकते हैं और लाते भी हैं। उदाहरण के लिए, हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि औद्योगीकरण के कारण अपराधों की मात्रा में वृद्धि होगी अथवा सामाजिक जीवन में प्रयासों, परंपराओं का महत्व हो जाएगा।
6. **सामाजिक परिवर्तन एक जटिल तथ्य है** : सामाजिक परिवर्तन की प्रकृति इस प्रकार की होती है, जिसे स्पष्ट करना कठिन है। मैकाइवर एवं पेज का कथन है कि सामाजिक परिवर्तन का अधिक संबंध गुणात्मक परिवर्तनों से है और गुणात्मक तथ्यों की माप न हो सकने के कारण इनकी जटिलता भी बहुत अधिक बढ़ जाती है। सामाजिक परिवर्तन में जितनी वृद्धि होती जाती है, यह उतना ही जटिल और दूरस्थ हो जाता है। इसीलिए समय के साथ–साथ सामाजिक परिवर्तन की गति व प्रकृति का जटिल होना स्वाभाविक है।
7. **सामाजिक परिवर्तन की गति तुलनात्मक है** : इस विशेषता का अर्थ यह है कि सामाजिक परिवर्तन होता तो सभी समाजों में है, पर यह परिवर्तन एक ही समाज के विभिन्न पक्षों में समान नहीं होता। इसका प्रमुख कारण यह है कि सामाजिक परिवर्तन को लाने वाले कारक प्रत्येक समाज में समान रूप से क्रियाशील नहीं होते। परिवर्तन की गति भी कभी एक–सी नहीं रहती। सामान्य रूप से सरल अथवा आदिवासी समाजों में परिवर्तन बहुत कम और धीरे–धीरे होता है, जबकि जटिल अथवा औद्योगिक समाजों में हर पल नवीन परिवर्तन होते रहते हैं। यही कारण है कि भारतीय गांवों की अपेक्षा भारतीय शहरों में परिवर्तन की गति तेज है। कभी–कभी कुछ परिस्थितियां ऐसे परिवर्तन उत्पन्न कर देती हैं, जिनका पहले से अनुमान ही नहीं लगाया जा सकता।

## सामाजिक परिवर्तन के सिद्धांत

विभिन्न विद्वानों ने सामाजिक परिवर्तन को विभिन्न प्रकार से व्यक्त करने का प्रयत्न किया है। सामाजिक परिवर्तन के निम्नलिखित सिद्धांत अधिक लोकप्रिय हैं–

1. **आर्थिक भौतिकवाद का सिद्धांत** : इसे मार्क्स के सिद्धांत के नाम से भी जाना जाता है।

टिप्पणी

2. **सामाजिक परिवर्तन का प्रौद्योगिक सिद्धांत** : इसे वेबलन का सिद्धांत कहकर भी पुकारा जाता है।
3. **श्रम–विभाजन का सिद्धांत** : इसे दुर्खीम के सिद्धांत के नाम से जाना जाता है।
4. **सामाजिक विभेदीकरण का सिद्धांत** : इसका प्रतिपादन मैकाइवर एवं पेज ने किया है।
5. **सामाजिक–सांस्कृतिक सिद्धांत** : इसे ऑगबर्न का सिद्धांत भी कहते हैं।
6. **विकासवादी सिद्धांत या क्रमबद्ध स्तरीय सिद्धांत** : कॉम्टे, मार्गन, मयफोर्ड और मार्क्स का मत।
7. **सामाजिक परिवर्तन के चक्रीय सिद्धांत** : स्पेंगलर, परेटो, टायनकी तथा सोरोकिन के विचार।

इन सिद्धांतों के मूल स्रोतों का विवरण इस प्रकार है–

1. अपने आर्थिक भौतिकवाद के सिद्धांत में मार्क्स ने आर्थिक कारक को ही प्रत्येक सामाजिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी माना है। उनके अनुसार, उत्पादन के तरीके में सर्वप्रथम परिवर्तन होता है, जो हमारे राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक जीवन को प्रभावित कर संपूर्ण सामाजिक संबंधों में परिवर्तन लाता है। यह उत्पादन के संबंधों को प्रभावित करता है और इस प्रकार सामाजिक परिवर्तन होता है।
2. वेबलन सामाजिक परिवर्तन के लिए प्रौद्योगिकी को आवश्यक मानते हैं। प्रौद्योगिकी तथा आर्थिक संस्थाएं, व्यक्तियों की आदतों तथा मनोवृत्तियों को सर्वप्रथम प्रभावित करती हैं। चूंकि सामाजिक संबंधों के विचारों का योगदान अधिक महत्वपूर्ण है अतः विचारों में परिवर्तन के कारण सामाजिक संरचना में भी परिवर्तन शुरू हो जाता है, जिसे सामाजिक परिवर्तन कहा जाता है।

   उद्विकास के पश्चात किसी भी वस्तु के अंतर्निहित गुण और अंग प्रस्फुटित होकर अलग–अलग स्वरूपों में सामने आते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि उद्विकास वह परिवर्तन है, जिसमें एक स्थिति या स्तर का रूपांतर इस प्रकार होता है, जिसके परिणामस्वरूप उसके अंग–प्रत्यंग, गुण तथा कार्य अपनी–अपनी विशिष्ट दिशा में जाते हुए दिखाई देते हैं। एक बात विशेष रूप से ध्यान में रखनी चाहिए कि उद्विकास में मूल्यांकन नहीं होता।

   **प्रगति**– प्रगति उस प्रकार का परिवर्तन है, जिसमें अच्छे या बुरे का बोध होता है। प्रगति के लिए एक निश्चित उद्देश्य पहले से निश्चित होता है। जैसे स्वतंत्रता की प्राप्ति के बाद भारत सरकार ने अपने सामने उद्देश्य रखा कि हम एक 'समाजवादी समाज' की स्थापना करेंगे। यदि इस उद्देश्य की प्राप्ति हो जाती है तो हम कहेंगे कि सामाजिक प्रगति हुई है। प्रगति का निर्धारण सामाजिक मूल्यों से होता है। यह आवश्यक नहीं कि एक समाज में जो प्रगति का सूचक है, वही दूसरे समाज की भी प्रगति का सूचक हो। हमने प्रगति की है अथवा नहीं, यह हम अपने सामाजिक मूल्यों तथा सामाजिक आदर्शों से तय करते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रगति से तात्पर्य उस प्रकार के परिवर्तन से है, जिसमें हम

टिप्पणी

किसी निर्धारित लक्ष्य की प्राप्ति करते हैं। ये लक्ष्य उस समाज के सामाजिक मूल्यों द्वारा निर्धारित किये जाते हैं।

**अनुकूलन** : अनुकूलन का तात्पर्य विभिन्न वस्तुओं में हुए परिवर्तन से होता है, जिसके द्वारा वे एक–दूसरे से सामंजस्य स्थापित करते हैं। जब हम किसी विशेष परिस्थिति के अनुसार अपने को बनाना चाहते हैं तो हमारे सामने दो रास्ते होते हैं–पहला, हम अपने व्यवहार को उस विशेष परिस्थिति के अनुसार करें; दूसरा, उस परिस्थिति विशेष या पर्यावरण को अपने अनुसार संशोधित करें।

मैकाइवर तथा पेज ने परिवर्तन से मिलते–जुलते शब्दों को नीचे दी गई तालिका द्वारा प्रदर्शित किया है–

| क्रम संख्या | उपयुक्त गुण | शब्दावली |
|---|---|---|
| 1. | निरंतर निश्चित परिवर्तन। | प्रक्रिया |
| 2. | आकार के संदर्भ में परिवर्तन जिसमें दिशा का ज्ञान आवश्यक नहीं है। | उद्विकास |
| 3. | सामाजिक मूल्यों के अनुरूप किन्हीं निश्चित दिशाओं में परिवर्तन। | प्रगति |
| 4. | अन्य वस्तुओं के अनुरूप परिवर्तन ताकि एक सामान्य प्रक्रिया का निर्माण हो सके। | अनुकूलन |

3. दुर्खीम सामाजिक परिवर्तन के लिए श्रम–विभाजन को आवश्यक मानते हैं। उनके अनुसार, जिस समाज में श्रम–विभाजन जितना अधिक होगा वह समाज उतनी ही तीव्र गति से परिवर्तित होगा। जैसे–आदिम समाजों में चूंकि श्रम–विभाजन की तीव्रता कम थी, यही कारण था कि वह समाज कम परिवर्तित होता था।

   अपने इस सिद्धांत में उसने दो तत्वों पर विशेष बल दिया हैः प्रथम, समाज का यह नैतिक कर्तव्य हो जाता है कि वह श्रम–विभाजन करके अपने सदस्यों को रोजगार दे। दूसरे, जैसे–जैसे जनसंख्या का घनत्व बढ़ता जाएगा यही श्रम–विभाजन सामाजिक संबंधों को प्रभावित करता है जिसे हम सामाजिक परिवर्तन की संज्ञा देते हैं।

4. मैकाइवर तथा पेज ने सामाजिक परिवर्तन के लिए सामाजिक विभिन्नता को उत्तरदायी माना है। समाज की प्रगति भी इसी विभिन्नता पर आधारित है। इस विभिन्नता के कारण लोगों के कार्य अलग–अलग हो जाते हैं, लोगों के आपसी संबध कार्यात्मक हो जाते हैं, यहां तक कि सामाजिक संस्थाओं का रूप ही बदल जाता है, जिसके कारण सामाजिक परिवर्तन अवश्यंभावी हो जाता है।

5. ऑगबर्न संस्कृति में भिन्नता को ही सामाजिक परिवर्तन का कारण बताते हैं। उनके अनुसार संस्कृति के दो प्रमुख भाग, भौतिक संस्कृति तथा अभौतिक संस्कृति साथ–साथ नहीं चलते। उनमें विकास की गति एक जैसी नहीं होती। इसी दूरी के कारण, जिसे वे 'सांस्कृतिक विडंबना' कहते हैं, समाज परिवर्तित होता रहता है।

टिप्पणी

6. विकासवादी विचारकों का मत है कि सामाजिक परिवर्तन का प्रमुख कारण समाज के विकास के विभिन्न स्तर हैं। जैसे कॉम्टे का मत है कि समाज के विकास के तीन स्तर क्रमशः धार्मिक, दार्शनिक और वैज्ञानिक सामाजिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी हैं। इसी प्रकार मार्गन समाज के तीन स्तर–जंगली अवस्था, बर्बरता की अवस्था तथा सभ्यता की अवस्था को सामाजिक परिवर्तन का कारण स्वीकारते हैं। इसी प्रकार ममफोर्ड सांस्कृतिक विकास के विभिन्न स्तरों को सामाजिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी मानते हैं। इन सभी विचारकों का मत है कि इन विभिन्न स्तरों पर पहुंचते–पहुंचते समाज का रूप जटिल होता जाता है, जिसके कारण परिवर्तन अवश्यंभावी हो जाता है।
7. स्पेंगलर ने अपनी पुस्तक 'The Decline of the West' में यह सिद्ध किया है कि सामाजिक परिवर्तन एक दिशा में न होकर चक्रवात रूप में होता है। जिस प्रकार मौसमों का परिवर्तन है, रात–दिन का क्रम है, एक व्यक्ति के उद्विकास का क्रम है, उसी प्रकार समाज की भी प्रगति तथा अवनति करने की दिशा होती है। सोरोकिन ने भी विचारात्मक, आदर्शात्मक तथा भौतिक संस्कृतियों द्वारा प्रभावित समाज के परिवर्तन को चक्रीय रूप से दर्शाया है। परेटो ने भी विशिष्ट वर्ग और निम्न वर्ग के लोगों के आधार पर सामाजिक परिवर्तन की दिशा को चक्रीय रूप में नापा है।

### 3.5.7 प्रणाली संबंधी एक पद्धतिगत प्रश्न

वेबर ने समाजशास्त्र के क्षेत्र में एक नया दृष्टिकोण प्रदान किया है और कहा है कि समाजशास्त्र सामाजिक क्रियाओं का अर्थपूर्ण बोध कराने वाला विज्ञान है तथा समाज सामाजिक अंतःक्रियाओं की अर्थपूर्ण अभिव्यक्ति है। इस तरह से वेबर ने समाजशास्त्र को विज्ञान के तौर पर प्रतिष्ठित कराने के लिए हमेशा प्रयत्न किया तथा अपने विचार प्रस्तुत किये।

वेबर के अनुसार प्राकृतिक घटनाएं सामाजिक क्रियाओं की तरह अर्थ लिए नहीं होती हैं। सामाजिक क्रियाओं के पीछे कोई–न–कोई उद्देश्य छिपा रहता है, दूसरी तरफ प्राकृतिक घटनाएं उद्देश्यहीन होती हैं। सामाजिक घटनाओं के अध्ययन के लिए वेबर ने सबसे पहले सामाजिक घटनाओं का चयन किया। इन सामाजिक घटनाओं में से कुछ छोटी–छोटी घटनाओं को उन्होंने अपने अध्ययन के लिए चुना। वेबर ने सामाजिक घटनाओं के अध्ययन के दूसरे चरण में उन घटनाओं को चुना जो पारस्परिक तौर पर एक–दूसरे से संबद्ध थी। इस प्रक्रिया के माध्यम से पूर्व की घटनाओं का पता चल जाता है। वेबर ने अपने अध्ययन के तीसरे चरण में घटनाओं को दो वर्गों में बांट दिया– (1) वैसी घटनाएं जो पूर्ववर्ती थीं अर्थात् कारण थीं, तथा (2) वैसी घटनाएं जो परिणाम थीं।

#### पद्धतिशास्त्र

जर्मन के समाजशास्त्री मैक्स वेबर के अनेक योगदानों में से एक महत्वपूर्ण योगदान उनका पद्धतिशास्त्र है। वे प्रारंभ से ही असाधारण प्रतिभासंपन्न और प्रतिष्ठित व्यक्ति रहे हैं, उनकी चिंतन शक्ति और बौद्धिक प्रतिभा के दर्शन उनकी रचनाओं से परिलक्षित होते हैं। वेबर ने अपने संपूर्ण अध्ययन में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का प्रयोग किया है। अपने वैज्ञानिक दृष्टिकोण के कारण वेबर अपनी सामाजिक विचारधारा को तत्कालीन समय

टिप्पणी

के अन्य विद्वानों की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली तरीके से प्रस्तुत कर सके हैं। उन्होंने पद्धतिशास्त्र का सिद्धांत प्रतिपादित करके समाजशास्त्र को विज्ञानों की श्रेणी में लाने का प्रयत्न किया है। अपनी समाजशास्त्रीय अध्ययन पद्धति में वेबर ने 'आदर्श प्रारूप' के वैज्ञानिक सिद्धांत को विकसित किया तथा 'धर्म का समाजशास्त्र' जैसी सामाजिक विचारधारा का प्रतिपादन किया। वेबर ने सामाजिक वर्ग और स्थिति के संदर्भ में भी नया दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है।

मैक्स वेबर पर विभिन्न विचारकों का प्रभाव पड़ा है। वेबर जब स्टासवर्ग में सेना की नौकरी में थे तब उन पर उनके चाचा इतिहासकार हरमन बॉमगर्टन का प्रभाव पड़ा। बॉमगर्टन उदारवादी विचार रखते थे, दूसरी तरफ उनकी पत्नी यानी वेबर की चाची इडा धर्मपरायण महिला थीं, इस दंपत्ति का वेबर के ऊपर अधिक प्रभाव दिखायी देता है।

वेबर बचपन से ही गणित, साहित्य और दर्शन जैसे विषयों में विशेष रुचि रखते थे। प्रारंभिक शिक्षा के बाद उन्होंने शेक्सपियर, गेटे, स्पिनोजा, कांट आदि का अध्ययन शुरू कर दिया तथा चौदह वर्ष की उम्र होते–होते सैमर, लोवो और वर्जिल जैसे विद्वानों के मूल ग्रंथों को पढ़ लिया। इन सभी का स्पष्ट प्रभाव वेबर पर पड़ा था। वेबर 18वीं और 19वीं सदी के लगभग सभी विचारकों से प्रभावित थे। निर्णयवादी विचारधारा के विरोध में लिखने की प्रेरणा वेबर को मार्क्स से मिली। इस प्रकार वेबर मार्क्स से भी प्रभावित थे। मार्क्स का कहना था कि मानव चेतना उसके अस्तित्व को निर्धारित नहीं करती है, अपितु उसका अस्तित्व चेतना को निर्धारित करता है। वेबर ने मार्क्स के इस विचार का अत्यधिक विरोध किया।

मैक्स वेबर ने अपने समय के प्रचलित ऐतिहासिक स्कूलों अथवा संप्रदायों की मान्यताओं का विरोध किया और रिकर्ट के विचारों का अनुकरण किया कि प्राकृतिक और सामाजिक घटनाओं का वैज्ञानिक अध्ययन संभव है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि वेबर पर रिकर्ट के विचारों का भी बहुत प्रभाव पड़ा है। वेबर पर रिकर्ट के अलावा डिल्थे, सिमेज, कार्ल यास्पर्स, टानीज और वर्नर सोम्वार्ट जैसे विचारकों का भी प्रभाव पड़ा था। इनके अतिरिक्त तात्कालिक घटनाओं ने भी वेबर को अत्यधिक प्रभावित किया था। इनमें औद्योगिक क्रांति और फ्रांस की क्रांति विशेष घटनाएं थीं, जिनका प्रभाव वेबर पर पड़ा था। वेबर एक उदारवादी विचारक थे और जीवन भर उदारवादी विचारों का द्वंद्व संस्कृति और विचार के तौर पर आधुनिकता के विचारों के साथ चलता रहा, क्योंकि उस समय यूरोप में सांस्कृतिक मूल्य ध्वस्त हो रहे थे।

जर्मन समाजशास्त्री मैक्स वेबर ने समाजशास्त्र के क्षेत्र में पद्धतिशास्त्र संबंधी अपने विचारों को प्रस्तुत करके समाजशास्त्र के विकास में अपनी अतुलनीय भूमिका अदा की है। वेबर ने अपनी पुस्तक 'द मैथेडोलॉजी ऑफ सोशल साइंसेज' में पद्धतिशास्त्र का विस्तृत विवेचन किया है। उन्होंने सबसे पहले यह स्पष्ट किया कि प्राकृतिक घटनाओं और सामाजिक घटनाओं में मौलिक अंतर होता है। यह अंतर अथवा भिन्नता का प्रभाव प्राकृतिक विज्ञानों एवं सामाजिक विज्ञानों की भिन्नता का निश्चय करता है। वेबर समाजशास्त्र में वैज्ञानिक अध्ययन पद्धति के विकास से हमेशा जुड़े रहे हैं।

मैक्स वेबर समाजशास्त्र के क्षेत्र में बहु–स्तरीय उपागम का विकास करना चाहते थे, जिसमें दो प्रमुख पद्धतिशास्त्र प्रविधियां शामिल हैं– व्याख्यात्मक बोध तथा काल्पनिक परीक्षण।

टिप्पणी

**(क) व्याख्यात्मक बोध**– अपनी समाजशास्त्र की परिभाषा में वेबर ने व्याख्यात्मक बोध पर अधिक बल दिया है। व्याख्यात्मक बोध से वेबर का अभिप्राय है कि व्यवहार की व्याख्या व्यक्तिगत और समूह के स्तर पर करनी चाहिए और सामाजिक अर्थ या व्याख्या के आदर्श प्रारूप का निर्माण करना चाहिए। इस प्रकार वेबर ने व्यवहार के दो प्रकार बताये हैं– समूह के स्तर पर व्यवहार तथा व्यक्तिगत स्तर पर व्यवहार।

**(ख) काल्पनिक परीक्षण**– काल्पनिक परीक्षण नाम का यह दूसरा उपागम प्रथम उपागम का ही पूरक है। इस उपागम में प्रेरणा की संभावित कड़ियों के संबंध में विचार किया जाता है। इसमें संभावित सामाजिक अर्थों का अनुमान करना भी शामिल है।

वेबर का कहना है कि इन दोनों ही उपागमों में इस बात पर बल दिया जाता है कि सामाजिक क्रिया के पीछे प्रेरणा का कौन–सा विशिष्ट प्रकार है? अपने अध्ययनों में भी वेबर ने इन उपागमों का प्रयोग किया था। उन्होंने प्रोटेस्टेण्ट व्यवहार को पूंजीवाद से जोड़ा था तथा अंग्रेजी ईसाई ग्रंथ प्यूरिटन में वर्णित आचार को व्यक्तित्ववाद से एवं धार्मिक व्यक्तित्ववाद को नौकरशाही से जोड़कर अपना अध्ययन किया था। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि वेबर ने मुख्य तौर पर प्रेरणाओं को सामाजिक क्रियाओं, मूल्यों और सामाजिक व्यवहार से संबंधित करने की कोशिश की थी।

वेबर के अनुसार पूर्ववर्ती घटना का पता लगाने के लिए उस विशेष पूर्ववर्ती घटना का महत्व समझना चाहिए और इसके लिए हमें उसकी अनुपस्थिति को मानकर घटनाक्रम को देखना होता है। हमें घटनाक्रम को बदलकर देखना होगा। यदि नई परिस्थितियों में घटनाक्रम प्रभावित होता है तो हम कह सकते हैं कि परिणाम का कारण भी पूर्ववर्ती घटना थी। वेबर का कहना है कि पूर्ववर्ती घटना के उपयुक्त चुनाव में हमें इस बात का अंतर करने में सहायता मिलेगी कि मानवीय निर्णय क्या है और बाह्य परिस्थितियां क्या हैं। वेबर के अनुसार इस प्रक्रिया द्वारा हम उन सभी प्रक्रियाओं का पता लगा सकते हैं जो मानव द्वारा विशेष तौर पर की गयी हैं, जैसे कि मानव ने इतिहास का निर्माण कैसे किया।

अपने अध्ययनों द्वारा वेबर ने यह प्रमाणित किया कि भौतिक घटनाओं में उपयोग की जाने वाली वैज्ञानिक विधियों का उपयोग सामाजिक घटनाओं के अध्ययन के संदर्भ में नहीं किया जा सकता है। उनके अनुसार सामाजिक घटनाएं एक विशेष समय में होती हैं और विशिष्टता लिए होती हैं। दूसरी तरफ प्राकृतिक घटनाएं एक जैसी होती हैं और बार–बार होती हैं। एक–जैसी सामाजिक घटनाएं बार–बार नहीं हो सकती हैं। इसलिए प्राकृतिक घटनाओं का सामान्यीकरण तो संभव है, लेकिन सामाजिक घटनाओं में तुलनात्मक अध्ययन के अभाव में सामान्यीकरण संभव नहीं है। वेबर ने सामाजिक घटनाओं में सामान्यीकरण को संभव करने के लिए तुलनात्मक अध्ययन को संभव बनाया है और इसके लिए उन्होंने पद्धतिशास्त्र को 'आदर्श–प्रारूप' प्रदान करके महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

टिप्पणी

## पद्धतिशास्त्र की विशेषताएं

मैक्स वेबर ने अपने अध्ययन के आधार पर यह बताया है कि जिस प्रकार से सामाजिक विज्ञान घटनाओं का वैज्ञानिक अध्ययन करते हैं, उसी प्रकार से समाजशास्त्र को भी सामाजिक घटनाओं का वैज्ञानिक अध्ययन करना चाहिए। उनके अनुसार समाजशास्त्र में सामाजिक घटनाओं का वैज्ञानिक अध्ययन प्राकृतिक विज्ञानों की अध्ययन विधियों द्वारा नहीं करना चाहिए, बल्कि समाजशास्त्रियों को स्वयं अपनी अध्ययन विधियों का निर्माण और विकास करना चाहिए। वेबर ने इस लक्ष्य को पाने के लिए सामाजिक घटनाओं के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए पद्धतिशास्त्र का विकास किया। वेबर ने पद्धतिशास्त्र की प्रमुख विशेषताओं को निम्न बिन्दुओं के अंतर्गत स्पष्ट किया है–

(1) सामाजिक घटनाओं का वैज्ञानिक अध्ययन,

(2) तुलनात्मक विधि,

(3) आदर्श प्रारूप,

(4) 'क्या', 'क्यों', और 'कैसे' का अध्ययन,

(5) वस्तुपरक और व्यक्तिपरक अध्ययन,

(6) ऐतिहासिक कारणता का अध्ययन,

(7) सामाजिक क्रियाओं का व्याख्यात्मक बोध।

मैक्स वेबर की पद्धतिशास्त्र की प्रमुख विशेषताओं का विस्तार से विश्लेषण निम्न प्रकार से किया जा सकता है–

- **सामाजिक घटनाओं का वैज्ञानिक अध्ययन** (Scientific Study of Social Events)– वेबर के अनुसार जिस प्रकार प्राकृतिक विज्ञान घटनाओं का वैज्ञानिक अध्ययन करते हैं, उसी प्रकार समाजशास्त्र को अपनी–अपनी अध्ययन विधियों को बनाकर सामाजिक घटनाओं का वैज्ञानिक अध्ययन करना चाहिए। हालांकि वेबर ने यह भी कहा है कि प्राकृतिक विधियों के नियमों के अनुसार सामाजिक घटनाओं का अध्ययन नहीं किया जा सकता है, बल्कि सामाजिक घटनाओं का अध्ययन समाजशास्त्रीय विधियों और नियमों के माध्यम से किया जाना चाहिए। पद्धतिशास्त्र के माध्यम से सामाजिक अध्ययनों में वैज्ञानिक शोध कार्य संभव होता है। इसके माध्यम से प्रयोगसिद्ध तथ्यों को संगृहीत किया जा सकता है तथा परस्पर कारण–प्रभाव संबंधों का अध्ययन करके वैज्ञानिक सत्य और प्रमाणित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं।
- **तुलनात्मक विधि** (Comparative Method)– सामाजिक घटनाओं के अध्ययन में वेबर तुलनात्मक विधि पर बल देते हैं। इस विधि के माध्यम से दो अथवा दो से अधिक समाजों का या एक ही समाज के विभिन्न कालों का तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है। एक ही समाज का आदर्श प्रारूप के माध्यम से अध्ययन भी तुलनात्मक विधि पर आधारित होता है। वेबर ने अपने अध्ययनों में तुलनात्मक विधि का अत्यधिक प्रयोग भी किया है। वेबर ने अपने धर्म संबंधी सिद्धांत का आधार ही विश्व के छह महान धर्मों, जैसे–

टिप्पणी

कन्फ्यूशियस, बौद्ध, हिन्दू, ईसाई, इस्लाम और यहूदी धर्म तथा आर्थिक सरंचना के पारस्परिक संबंधों के आधार पर किया है। तुलनात्मक विधि के माध्यम से दो विभिन्न समाजों अथवा किन्हीं विशिष्ट घटनाओं की तुलना करके ज्ञात किया जा सकता है कि अध्ययन किया जाने वाला समाज अथवा सामाजिक घटना की वास्तविक समस्या क्या है।

- **आदर्श प्रारूप** (Ideal Type)– मैक्स वेबर ने सामाजिक घटनाओं का वैज्ञानिक अध्ययन करने के लिए आदर्श प्रारूप का निर्माण 1904 में किया था। वेबर ने आदर्श प्रारूप में मानव की क्रियाओं के दो अर्थ लगाए हैं– एक वास्तविक अर्थ तथा दूसरा अनुमानित अर्थ। आदर्श प्रारूप के वास्तविक अर्थ से तात्पर्य है कि व्यक्ति वास्तव में समाज में कैसे क्रिया करता है तथा इसका अनुमानित अर्थ अमूर्त वास्तविकता से कैसे संबंधित होता है यानी व्यक्ति को समाज में कैसे व्यवहार करना चाहिए। इस प्रकार देख सकते हैं कि व्यक्ति के वास्तविक और अपेक्षित व्यवहार में अंतर होता है तथा वेबर इस अपेक्षित व्यवहार को ही आदर्श प्रारूप कहते हैं, जिसके माध्यम से समाज की वास्तविकता को समझा जा सकता है।

  वेबर के अनुसार आदर्श प्रारूप के माध्यम से सामाजिक घटनाओं को समझा जा सकता है तथा घटनाओं की व्याख्या की जा सकती है। इस प्रारूप की सहायता से वास्तविक घटनाओं की तुलना भी की जा सकती है। वेबर ने आदर्श प्रारूप के माध्यम से नौकरशाही सत्ता, शक्ति, आदि का वैज्ञानिक अध्ययन किया है। वेबर के अनुसार आदर्श प्रारूप एक ऐसा संप्रत्यय अथवा पद्धति है जिसका निर्माण बुद्धि के माध्यम से होता है। यह सामाजिक घटना के वास्तविक अध्ययन का आधार होता है। इस पद्धति के माध्यम से सामाजिक घटनाओं का अवलोकन एवं परीक्षण किया जा सकता है तथा घटना का क्रमबद्ध और व्यवस्थित चित्रण संभव होता है। उनके अनुसार यह एक ऐसा मॉडल है जो मूल्य मुक्त है। इसका किसी प्रकार की व्यक्तिनिष्ठता, पूर्वाग्रहों और मूल्यों से किसी प्रकार का संबंध नहीं होता है। वेबर इसे विचार प्रणाली का साधन मानते हैं। इसके माध्यम से सामाजिक घटनाओं, सामाजिक क्रियाओं, समस्याओं तथा संबंधित कारणों को देखा, समझा और खोजा तथा विश्लेषित किया जा सकता है।

  वेबर के अनुसार आदर्श प्रारूप शोध का एक उपकरण है जिसकी सहायता से सामाजिक घटनाओं और समस्याओं का वैज्ञानिक अध्ययन संभव है। इसके माध्यम से सामाजिक व्यवस्था का तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है। यह सामाजिक घटनाओं के अध्ययन में व्यक्तिनिष्ठता को समाप्त करके वस्तुनिष्ठता को प्रोत्साहन देती है। यह एक ऐसी शोध प्रणाली है जो सामाजिक घटनाओं से संबंधित तथ्यों, कारकों और आंकड़ों के वर्गीकरण और उनके व्यवस्थापन में सहायता करती है और इसके माध्यम से निश्चित परिभाषा और निष्कर्ष की तरफ बढ़ा जा सकता है।

- **'क्या', 'क्यों', और 'कैसे' का अध्ययन** (Study of 'What', 'Why', 'How')– वेबर का कहना है कि समाजशास्त्र का संबंध 'क्या होना चाहिए'

टिप्पणी

से नहीं होकर 'क्या', 'क्यों', और 'कैसे' से होता है। कोई भी सामाजिक घटना घटने के क्या कारण हैं, यह घटना क्यों घटती है और किन कारणों से भविष्य में भी ऐसी घटनाएं घटेंगी, इन घटनाओं को लाने वाली परिस्थितियां और कारण कैसे व्यापक रूप ग्रहण करते गये और भविष्य में भी यह कैसे घटित हो सकते हैं, इन सारी बातों का वैज्ञानिक विधि से अध्ययन इस पद्धति के अंतर्गत किया जाता है। 'क्या होना चाहिए' के अध्ययन से अध्ययनकर्ता के मूल्य अथवा विचार अध्ययन में शामिल हो जाते हैं और इस प्रकार का आदर्शात्मक वाक्य या विचार पूरे अध्ययन को वस्तुनिष्ठ और व्यक्तिनिष्ठ होने से रोक देता है, इसलिए 'क्या होना चाहिए' का विश्लेषण सामाजिक अध्ययन पद्धति में नहीं हो, इसका ध्यान देना चाहिए।

- **वस्तुपरक और व्यक्तिपरक अध्ययन** (Subjective and Objective Study)– वेबर का कहना है कि समाजशास्त्र को सामाजिक घटनाओं का अध्ययन वस्तुपरक और व्यक्तिपरक दोनों प्रकार से करना चाहिए। मैक्स वेबर का मानना है कि सामाजिक घटनाओं का अध्ययन करते समय वैज्ञानिक को ध्यान में रखना चाहिए कि ये घटनाएं किन परिस्थितियों में हुई हैं और किन उद्देश्यों को ध्यान में रखकर हुई हैं। इन घटनाओं के अध्ययन में समाज–वैज्ञानिक को सामाजिक परिस्थितियों का वस्तुनिष्ठ यानी जैसी वे दिखायी देती हैं, वैसा ही अध्ययन करना चाहिए। इसमें अध्ययनकर्ता को किसी प्रकार का पक्षपात अथवा व्यक्तिपरक अध्ययन नहीं करना चाहिए। हालांकि किसी विशेष घटना का किसी विशेष व्यक्ति अथवा वस्तु से तुलना करके अध्ययन किया जा सकता है, परंतु इस तुलना में भी अध्ययनकर्ता को निष्पक्ष रहना चाहिए।
- **ऐतिहासिक कारणता का अध्ययन** (Study of Historical Reasoning)– वेबर के अनुसार समाजशास्त्रीय अध्ययन में ऐतिहासिक कारणता को स्थान दिया गया है। घटनाओं तथा उनके क्रम में पूर्ववर्ती घटनाओं के द्वारा कारण व प्रभाव का पता करने की विधि प्रदान की गयी है। सामाजिक विज्ञानों और विशेष तौर पर समाजशास्त्र में ऐतिहासिक कारण अथवा कारण प्रधान सिद्धांत का निर्माण एक व्यावहारिक प्रणाली है। इसके अनुसार प्राकृतिक विज्ञानों की तरह ही सामाजिक विज्ञानों में भी ऐतिहासिक कारणता का अध्ययन किया जा सकता है। पूर्व में घटित घटनाओं का क्या कारण था अथवा किन कारणों अथवा परिस्थितियों में घटनाएं घटित हुई थीं और वर्तमान में ऐसी कौन–सी परिस्थितियां हैं जो इन घटनाओं को पुनः दोहरा सकती हैं, इसका समग्र अध्ययन ऐतिहासिक कारणता के अनुसार किया जा सकता है।
- **सामाजिक क्रियाओं का व्याख्यात्मक बोध** (Explanatory Knowledge of Social Action)– वेबर ने अपनी पुस्तक 'द थ्योरी ऑफ सोशल एण्ड इकोनोमिक ऑर्गेनाइजेशन' में सामाजिक क्रियाओं का व्यापक विश्लेषण किया है। वेबर ने अपने सामाजिक घटनाओं के अध्ययन में सामाजिक क्रियाओं के व्याख्यात्मक बोध पर बल दिया है। वेबर के शब्दों में ''समाजशास्त्र वह विज्ञान है जो सामाजिक क्रिया के व्याख्यात्मक बोध को प्रस्तुत करने का

टिप्पणी

प्रयत्न करता है जिससे उसकी प्रक्रिया और प्रभावों की कारण सहित व्याख्या की जा सके।'' इससे स्पष्ट हो जाता है कि वेबर ने अपने पद्धतिशास्त्र में सामाजिक क्रिया को केन्द्रीय वस्तु माना है। वेबर सामाजिक क्रियाओं को वैज्ञानिक विधि से समझने पर जोर देते थे, इसलिए सामाजिक मूल्यों को ऐतिहासिक संदर्भ में वस्तुनिष्ठ रूप में समझने पर बल देते हुए उन्होंने समाज पर समाजशास्त्रीय प्रभाव का मूल्यांकन करने का प्रयत्न किया है।

सामाजिक क्रियाओं के व्याख्यात्मक विश्लेषण के क्रम में वेबर ने चार प्रकार की सामाजिक क्रियाओं का उल्लेख किया है– (क) तार्किक क्रिया, (ख) मूल्य–अभिमुखी तार्किक क्रिया, (ग) भावात्मक क्रिया, तथा (घ) पारंपरिक क्रिया।

वेबर ने सामाजिक क्रियाओं के विश्लेषण के क्रम में कहा है कि सामाजिक क्रियाओं के कुछ विशेष गुण अथवा विशेषताएं होती हैं, जैसे–

(1) सामाजिक क्रिया दूसरों के प्रति उन्मुख होती है। वेबर के शब्दों में, ''सामाजिक क्रिया दूसरों के संभावित भूत, वर्तमान और भविष्य के व्यवहारों की ओर उन्मुख हो सकती है।"

(2) सभी प्रकार के मानवीय संपर्क सामाजिक नहीं होते हैं। वेबर के अनुसार, ''मानवों का प्रत्येक प्रकार का संपर्क सामाजिक लक्षण वाला नहीं होता है, वह उसी सीमा तक सामाजिक कहलायेगा, जहां तक कर्ता का व्यवहार अर्थपूर्ण तरीके से दूसरे के व्यवहार के प्रति उन्मुख है।''

(3) प्रत्येक क्रिया सामाजिक नहीं होती है। वेबर के शब्दों में, ''प्रत्येक प्रकार की क्रिया, यहां तक कि बाह्य क्रिया भी, वर्तमान चर्चा के अर्थ में सामाजिक नहीं है।''

(4) सामाजिक क्रियाओं के कर्ताओं और प्रतिकर्ताओं में सामान्य मूल्य, विश्वास तथा प्रतीक होते हैं तथा उनमें आपस में आशाएं और अपेक्षाएं होनी चाहिए।

(5) प्रत्येक सामाजिक क्रिया समरूप नहीं होती है। वेबर का कहना है कि ''सामाजिक क्रिया न तो अनेक व्यक्तियों द्वारा की जाने वाली एक–सी क्रिया को कहते हैं तथा न ही उस क्रिया को कहते हैं जो केवल दूसरे व्यक्तियों द्वारा प्रभावित होती है।"

(6) सामाजिक क्रिया के लिए ऐसी परिस्थिति का होना आवश्यक है जिसमें कर्ता और प्रतिकर्ता एक–दूसरे की क्रिया को प्रभावित करने संबंधी वस्तुओं और विशेषताओं की क्षमता रखते हैं।

(7) अनुकरणात्मक क्रिया सामाजिक क्रिया नहीं होती है, जैसे– नदी में तैरने की क्रिया करते समय किसी की नकल करने को सामाजिक क्रिया नहीं कह सकते हैं, परंतु यदि किसी प्रशिक्षक से तैरने का प्रशिक्षण लिया जा रहा है तो यह सामाजिक क्रिया कहलाती है।

(8) किसी भी सामाजिक क्रिया के लिए कर्ता अथवा कर्ताओं और प्रतिकर्ता अथवा प्रतिकर्ताओं का होना अनिवार्य विशेषता है। इनके बिना सामाजिक क्रिया संपन्न नहीं हो सकती है।

टिप्पणी

इस प्रकार कह सकते हैं कि वेबर ने दुर्खीम की तरह समाजशास्त्र में अध्ययन पद्धति का निर्माण किया तथा उन विधियों द्वारा स्वयं ही अध्ययन करके उसे प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है और इसकी व्यावहारिकता प्रमाणित की है। वेबर ने विश्व के 6 महान धर्मों और नौकरशाही का अध्ययन इन्हीं पद्धतियों के अनुसार करके इन पद्धतियों की प्रमाणिकता को सिद्ध कर दिया है।

## पद्धतिशास्त्र की उपयोगिता

मैक्स वेबर के पद्धतिशास्त्र की समाजशास्त्र में उपयोगिता शब्दों में व्यक्त नहीं की जा सकती है, क्योंकि इसने समाजशास्त्र को विज्ञान के स्तर तक ले जाने में महती भूमिका अदा की है और इससे सामाजिक घटनाओं का वैज्ञानिक विधि से अध्ययन संभव हुआ है। पद्धतिशास्त्र का उपयोग अनुसंधान प्रणाली में आनुभविक समस्याओं के विश्लेषण में भी किया जा सकता है। वेबर के पद्धतिशास्त्र की प्रमुख उपयोगिता निम्न प्रकार लिखी जा सकती है–

- वेबर ने समाजशास्त्र से संबंधित अवधारणाओं और शब्दों को स्पष्टता प्रदान की, जिससे सामाजिक घटनाओं और समाजशास्त्र की विषय–वस्तु के अध्ययन में सुविधा और बोधगम्यता आयी है।
- वेबर का पद्धतिशास्त्र समाज–वैज्ञानिक को वस्तुनिष्ठ और व्यक्तिनिष्ठ अध्ययन करने पर जोर देता है, जिससे अध्ययनकर्ता अपने पूर्वाग्रहों से स्वतंत्र रहकर व्यक्तिपरकता को हावी नहीं होने देता है, फलस्वरूप मूल्य–मुक्त अध्ययन में यह उपयोगी होता है, जिससे सामाजिक घटनाओं और समाज का सही–सही विश्लेषण करने में सहायता मिलती है। इस प्रकार पद्धतिशास्त्र के माध्यम से वेबर ने वस्तुनिष्ठ और व्यक्तिनिष्ठ अध्ययन की विधि प्रदान की है।
- वेबर ने पद्धतिशास्त्र के माध्यम से सामाजिक समस्याओं और घटनाओं के विश्लेषण, व्याख्या और निष्कर्ष को अधिक सत्य सिद्ध किया है तथा समाजशास्त्र को विश्वसनीय बनाने में सहायता प्रदान की है।
- पद्धतिशास्त्र के अंतर्गत ऐतिहासिक घटनाओं और समस्याओं को समझने, अध्ययन करने और निष्कर्ष निकालने में सर्वोत्तम विधियों का सहारा लिया जाता है। आदर्श प्रारूप के माध्यम से घटनाओं के वास्तविक क्रम को व्यवस्थित रखा जा सकता है और घटनाविशेष को अधिक स्पष्ट रूप में समझा जा सकता है। वेबर का कहना है कि किसी भी सामाजिक घटना को उसकी पूर्ववर्ती घटनाओं के संदर्भ में ही समझा जा सकता है।
- पद्धतिशास्त्र में तथ्यों को व्यवस्थित करके और उनका वर्गीकरण करके किसी विशेष घटना अथवा वस्तु को सही–सही समझा जा सकता है।
- वेबर के पद्धतिशास्त्र का उपयोग केवल सामाजिक घटनाओं के विश्लेषण में ही नहीं किया जा सकता है, बल्कि सामाजिक घटनाओं के पीछे छिपे कारणों के संदर्भ में भी किया जा सकता है। वेबर के शब्दों में, ''समाजशास्त्र वह विज्ञान है जो सामाजिक क्रिया के व्याख्यात्मक बोध को प्रस्तुत करने का

टिप्पणी

प्रयत्न करता है जिससे उसकी प्रक्रिया और प्रभावों की कारण सहित व्याख्या की जा सके।''

- वेबर के पद्धतिशास्त्र के अनुसार सामाजिक घटनाओं के अध्ययन में तुलनात्मक विधि उपयोगी है। इस विधि के माध्यम से दो अथवा दो से अधिक समाजों का या एक ही समाज के विभिन्न कालों का तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है। इस प्रकार पद्धतिशास्त्र ने समाजशास्त्र के क्षेत्र में तुलनात्मक विधि को व्यावहारिक बनाया है और यह आज भी समाजशास्त्र के अध्ययन की प्रमुख विधि है।

## पद्धतिशास्त्र का आलोचनात्मक मूल्यांकन

मैक्स वेबर ने पद्धतिशास्त्र संबंधी सिद्धांत का प्रतिपादन करके समाजशास्त्र के क्षेत्र में महान योगदान दिया है। इस सिद्धांत ने समाजशास्त्र को अनुसंधान अथवा अध्ययन की विधि प्रदान की है। आलोचकों का कहना है कि इस सिद्धांत के अनुसार सभी सामाजिक घटनाओं का वैज्ञानिक और तुलनात्मक अध्ययन किया जाना संभव नहीं है। वेबर ने समाजशास्त्र के क्षेत्र में पद्धतिशास्त्र का प्रतिपादन करके भले ही इसे विज्ञानों की श्रेणी में शामिल कराने की दिशा में पहल की, परंतु समाजशास्त्रियों ने कई आधारों पर वेबर के पद्धतिशास्त्र की आलोचना की है, जो निम्न प्रकार है–

- **सामान्यीकरण करने में असमर्थ** (Incapable to Generalize)– वेबर के पद्धतिशास्त्र संबंधी सिद्धांत के बारे में आलोचकों का कहना है कि यह कोई निश्चित सामान्यीकरण नहीं कर पाया है। मर्टन, कोहन, आदि समाजशास्त्रियों का मानना है कि समाज का सामान्यीकरण न तो लघु–स्तरीय सिद्धांत कर सकते हैं और न ही वृहद–स्तरीय सिद्धांत कर सकते हैं। विभिन्न समाजों की विशेषताएं अलग–अलग होती हैं और किसी निश्चित सिद्धांत के आधार पर कोई नियम नहीं बनाया जा सकता है, जो सभी समाजों पर समान रूप से लागू होता हो।
- **व्याख्यात्मक सिद्धांत नहीं** (Not an Explanatory Theory)– वेबर का पद्धतिशास्त्र सामाजिक क्रियाओं अथवा घटनाओं को अपने अध्ययन का आधार मानता है, परंतु इस सिद्धांत में सामाजिक क्रियाओं की जो व्याख्या की गयी है, वह घुमावदार और पुनरूक्त है। क्रिया का परिणाम सामाजिक क्रिया है तथा क्रिया का संचालन परिस्थिति करती है। यह सीधी बात स्पष्ट और सीधे तौर पर प्रस्तुत नहीं की गयी है। इस प्रकार घुमावदार बातें और सरलता का अभाव पद्धतिशास्त्र की कमी मानी जा सकती है।
- **अपूर्ण तथा अस्पष्ट वर्गीकरण** (Incomplete and Ambiguous Classification)– आलोचकों का आरोप है कि वेबर द्वारा प्रस्तुत पद्धतिशास्त्र का सिद्धांत सभी समाजों तथा सभी सामाजिक घटनाओं को अपने में समेटने में असमर्थ है, अर्थात् वेबर के पद्धतिशास्त्र के माध्यम से सभी प्रकार की सामाजिक घटनाओं का अध्ययन नहीं किया जा सकता है। वेबर का कहना है कि सामाजिक घटनाएं सामाजिक क्रियाओं पर आधारित होती हैं और एक स्थान पर वेबर ने स्वयं ही लिख दिया है कि क्रिया के और भी प्रकार बनाये

टिप्पणी

जा सकते हैं, यानी और भी सामाजिक क्रियाएं हो सकती हैं। इस प्रकार वेबर का सिद्धांत अपूर्ण रह जाता है। फिर वेबर सामाजिक घटनाओं के अध्ययन में क्रियाओं के प्रकार को भी एक से दूसरे में बदल देते हैं, जिससे अस्पष्टता उत्पन्न हो जाती है।

- **सामाजिक संरचना और संस्कृति की व्याख्या नहीं** (Not explanation of Social Structure and Culture)– किसी भी समाज अथवा सामाजिक घटना का अध्ययन सामाजिक संरचना और संस्कृति के विशेष संदर्भ में ही किया जा सकता है अथवा उसका महत्व सामाजिक संरचना और संस्कृति में ही होता है। सामाजिक परिस्थितियों की सीमाओं को इन्हीं परिस्थितियों के संदर्भ में देखा जाता है, परंतु वेबर का पद्धतिशास्त्र सामाजिक संरचना और संस्कृति के तत्वों को दिया हुआ मानकर अध्ययन करता है। यह पद्धतिशास्त्र की एक बड़ी कमी मानी जा सकती है।
- **मनोविज्ञानपरता का दोष** (Fallacy of Psychologism)– वेबर के पद्धतिशास्त्र संबंधी सिद्धांत में सामाजिक क्रियाओं को विशेष स्थान दिया गया है, परंतु सामाजिक क्रिया को मनोवैज्ञानिक अवधारणाओं अथवा शब्दों के द्वारा परिभाषित एवं वर्गीकृत किया गया है। आलोचकों का कहना है कि वेबर ने समाजशास्त्रीय प्रश्नों और तत्वों को मानव मस्तिष्क के लक्षणों और विशेषताओं के आधार पर परिभाषित किया है। इसके पक्ष में तर्क दिया जाता है कि सामाजिक क्रियाएं अथवा घटनाएं भी मानव मस्तिष्क से ही जुड़ी होती हैं, इसलिए यदि इनका अध्ययन किया गया है तो अनुचित कुछ भी नहीं है, परंतु यहां ध्यान देने योग्य है कि जिन कमियों से मानव मस्तिष्क यानी मनोविज्ञान का अध्ययन ग्रसित है, उन्हीं कमियों से यह भी ग्रसित हो जाता है।
- **सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या करने में असमर्थ** (Unable to Explain Social Change)– आलोचकों का आरोप है कि वेबर का पद्धतिशास्त्र सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या करने में असमर्थ है। वे सामाजिक घटनाओं अथवा क्रियाओं में अनुरूपता की खोज करते हैं, जो किसी भी प्रकार से सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या नहीं कर सकता है।

अंततः मैक्स वेबर के पद्धतिशास्त्र की उपरोक्त आलोचनाओं के संदर्भ में कहा जा सकता है कि भले ही इसमें कुछ कमियां विद्यमान हैं, परंतु इसने समाजशास्त्र के क्षेत्र में अध्ययन की नवीन विधि प्रदान की है तथा समाजशास्त्र का अध्ययन वैज्ञानिक विधियों से करने पर जोर दिया है। इसने स्पष्ट कर दिया है कि सामाजिक घटनाओं का अध्ययन भौतिक विज्ञान के नियमों के अनुसार नहीं, अपितु सामाजिक नियमों की वैज्ञानिक विधियों के माध्यम से किया जा सकता है। इस प्रकार वेबर ने पद्धतिशास्त्र के माध्यम से समाजशास्त्र की वैज्ञानिक विधियों को अपनाते हुए सटीक, यथार्थ, तुलनात्मक विश्लेषण करने में सहायता प्रदान की है और समाजशास्त्र आधुनिक समय में विकसित स्वरूप तक पहुंच सका है।

टिप्पणी

### अपनी प्रगति जांचिए

9. ब्रह्म समाज की स्थापना किसने की थी?
   (क) राजा राममोहन राय (ख) स्वामी दयानन्द सरस्वती
   (ग) स्वामी विवेकानन्द (घ) रानाडे तथा भण्डारकर
10. आर्य समाज की स्थापना कब हुई थी?
   (क) 1851 में (ख) 1852 में
   (ग) 1857 में (घ) 1860 में
11. भारतीय समाज में व्याप्त आर्थिक असमानता को दूर करने के लिए भूदान आंदोलन की शुरुआत किसने की थी?
   (क) महात्मा गांधी (ख) विनोबा भावे
   (ग) जवाहरलाल नेहरू (घ) सर सैयद अहमद खां

## 3.6 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (ग)
2. (ख)
3. (क)
4. (ख)
5. (क)
6. (ग)
7. (ख)
8. (घ)
9. (क)
10. (ग)
11. (ख)

## 3.7 सारांश

सामाजिक संरचना की धारणा बीसवीं शताब्दी में अत्यधिक विकसित की गयी जिसमें कुछ के द्वारा मार्क्स का अनुसरण करते हुए समाज के मूलभूत आयामों की पहचान करने का प्रयास किया गया है जो अन्य आयामों की व्याख्या करते हैं। अधिकांश के द्वारा आर्थिक उत्पादन अथवा राजनीतिक सत्ता पर जोर दिया जाता है। अन्यों के द्वारा लेविस–स्ट्रॉस का अनुसरण करते हुए सांस्कृतिक संरचनाओं में तार्किक क्रम ज्ञात करने का प्रयास किया जाता है। वैसे अन्यों जिनमें पीटर ब्लाउ उल्लेखनीय हैं, के द्वारा

टिप्पणी

सिम्मेल का अनुसरण करते हुए संबंधों में संख्यात्मक प्रारूपों पर सामाजिक संरचना के औपचारिक वाद का आधार स्पष्ट करने का प्रयास किया गया, उदाहरणार्थ– समूह–आकार, अंतर्सामूहिक संबंधों जैसे कारकों का विश्लेषण करने की रीतियां।

कर्ता कर्ताओं की पूर्ति एवं अस्तित्व को बनाये रखने के लिए विभिन्न समूहों में कार्य का विभाजन करता है। इसके साथ ही उन्हें कुछ अधिकार, शक्तियां व पक्ष भी प्रदान करता है जो एक–दूसरे से भिन्न होते हैं। परिणामस्वरूप, समाज में उच्चता व निम्नता का एक क्रम बन जाता है, जिससे सामाजिक स्तरीकरण उत्पन्न होता है। स्तरीकरण में समूह को विशेषाधिकार एवं निर्योग्यताएं दोनों ही प्राप्त होते हैं। समाजशास्त्र में, स्तरीकरण शब्द भू–गर्भशास्त्र से व्युत्पन्न है। भूगर्भशास्त्र में मिट्टी व चट्टानों को विभिन्न स्तरों में बांटा गया है। समाज में भी उसी प्रकार से अनेक सामाजिक परतें पायी जाती हैं। प्रत्येक समाज अपनी जनसंख्या को आय, व्यवसाय, संपत्ति, जाति, धर्म, शिक्षा, प्रजाति व पदों के आधार पर निम्न एवं उच्च श्रेणी में बांटता है। प्रत्येक विभाजन एक परत के समान है और ये समस्त परतें जब उच्चता व निम्नता के क्रम में रखी जाती हैं तो सामाजिक स्तरीकरण के नाम से जानी जाती हैं।

सामाजिक स्तरीकरण विभिन्न आधारों के साथ समस्त समाजों में पाया जाता है। पारसन्स ने व्यक्ति की प्रस्थिति निर्धारित करने वाले छह कारकों (नातेदारी समूह की सदस्यता, व्यक्तिगत विशेषताएं, अर्जित उपलब्धियां, द्रव्यजात, सत्ता तथा शक्ति), जो स्तरीकरण निर्धारित करते हैं, का उल्लेख किया है। सोरोकिन तथा वेबर ने स्तरीकरण के आर्थिक, राजनीतिक तथा व्यावसायिक आधारों का उल्लेख किया है, जबकि कार्ल मार्क्स ने केवल आर्थिक आधार (पूंजीपति व श्रमिक) को ही महत्वपूर्ण माना है।

प्रकार्यात्मक सिद्धांत की मान्यता होती है कि समाज की कुछ निश्चित आवश्यकताएं होती हैं, जिन्हें प्रकार्यात्मक पूर्व आवश्यकता कहा जाता है। यदि इन आवश्यकताओं की पूर्ति न की जाए तो समाज में निरंतरता समाप्त हो जाएगी एवं समाज का अस्तित्व तक समाप्त हो सकता है। इस सिद्धांत की अन्य विशेषता यह है कि समाज के सभी भाग, एकीकृत होकर एक सामाजिक व्यवस्था को बनाते हैं।

मार्क्सवादी विचारकों की अवधारणा यह है कि कुछ लोग, अपने सामूहिक हितों की चिंता करते हैं। अपने समूहों की रक्षा करने के लिए वे दूसरे समूहों के हितों का हनन एवं शोषण करते हैं। इसी कारण इस अवधारणा में समाज के सभी प्रकार के स्तरों को समाप्त करने की बात कही जाती है। आज के पूंजीवादी युग में किसी भी समाज में पूंजीवादी संबंधों के कारण, उत्पादन संबंधों को लेकर जो भी स्तरीकरण पाया जाता है, उसका आधार संघर्ष ही है। यह संघर्ष शोषित एवं शोषक वर्ग के मध्य का स्पष्ट संघर्ष है जो इतिहास में होता चला आया है।

समाज में व्यक्ति की स्थिति उसके जन्म लेने के स्थान व समूह से निर्धारित होती है। जाति भी व्यक्तियों का एक समूह है। यह कुछ विशिष्ट सांस्कृतिक प्रतिमानों को मानने वाला वह समूह है जिसके सदस्यों में रक्त शुद्धि होने का विश्वास किया जाता है, जिसकी सदस्यता व्यक्ति अर्जित नहीं करता है। इस प्रकार का समूह सामान्य संस्कृति का अनुसरण करता है। इस प्रकार के सदस्य अन्य किसी समूह के सदस्य नहीं होते हैं और न कोई बाहर के समूह के सदस्य इस समूह के सदस्य हो सकते हैं। इस प्रकार जाति एक बन्द वर्ग है।

टिप्पणी

भारतीय जाति व्यवस्था में सावधानीपूर्वक अनुसंधान के पश्चात भी निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता है कि इस जटिल संस्था के निर्माण और विकास में किन–किन अवस्थाओं का योगदान रहा होगा? इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इस संस्था के सम्बन्ध में विभिन्न दृष्टिकोण से अध्ययन भी सर्वाधिक हुआ है। वेद महाकाव्य, पुराण आदि के लेखकों से लेकर अनेक यूरोपीय तथा भारतीय विद्वानों तक ने जाति व्यवस्था के सम्बन्ध में अध्ययन किए हैं और अपने–अपने सिद्धान्त प्रस्तुत किए हैं।

मनुष्य समाज में रहकर अनेक प्रकार की क्रियाएं करते हुए जीवन व्यतीत करता है। समाज के व्यक्तियों एवं समाज के मध्य अनेक पारस्परिक अंतःक्रियाएं होती हैं जिनसे मनुष्यों के हितलाभ पूर्ण होते हैं। मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति भी इन्हीं क्रियाओं एवं अंतःक्रियाओं के माध्यम से पूर्ण करते हैं।

सामाजिक प्रक्रियाएं मनुष्यों द्वारा संपर्क करने एवं संचार के माध्यम से पूर्ण होती हैं। जब दो व्यक्ति आपस में बातचीत करते हैं या किसी वस्तु का आदान–प्रदान करते हैं तो एक अंतःक्रिया होती है जो कि सामाजिक प्रक्रिया है।

किसी भी समाज में विकासक्रम और समय के साथ कुछ परिवर्तन अपेक्षित होते हैं। इस प्रकार समाज में संगठन और विघटन की स्थिति आती रहती है। इन परिवर्तनों को लाने अथवा रोकने के लिए समाज के सदस्यों द्वारा सामूहिक प्रयास किया जाता है, जिसे 'सामाजिक आंदोलन' कहा जाता है। भारतीय इतिहास की तरह ही यहां का सामाजिक आंदोलन भी बहुत पुराना है।

प्राचीन, मध्यकालीन तथा आधुनिक सामाजिक आंदोलनों के स्वरूप में परिवर्तन देखने को मिलता है। प्राचीनकाल में धर्म की प्रधानता के कारण प्रवचनों, उपदेशों एवं निर्देशों में सामाजिक आंदोलन के लिए प्रेरित किया जाता था यानी आंदोलन का स्वरूप धार्मिक होता था। डॉ. आर. सी. मजूमदार के अनुसार, ''राजा, व्यापारी, जमींदार तथा अन्य सहायक संगठन अपने साधनों के अनुसार धर्म के पवित्र कार्य हेतु सहायता करने में एक–दूसरे से आगे बढ़ने का प्रयास करते थे।'' बौद्धकाल में बौधिसत्व के द्वारा सामाजिक आंदोलन की शुरुआत की गयी तथा इसके लिए बुद्ध ने गांव के तीस लोगों के समूह को एकत्रित किया था।

## 3.8 मुख्य शब्दावली

- **उपागम** : दृष्टिकोण।
- **पारस्परिक** : एक–दूसरे से आदान–प्रदान।
- **मतैक्य** : मत या विचारों में समानता।
- **सामंजस्य** : तालमेल।
- **आकलन** : जांचना।
- **दृष्टिपात** : देखना।
- **नियति** : भाग्य।

टिप्पणी

- **आशय** : अर्थ।
- **परिवेश** : वातावरण।
- **अभिकरण** : एजेंसी।
- **बाह्यता** : विवशता।

## 3.9 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

### लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. सामाजिक प्रक्रिया की परिभाषा दीजिए।
2. समाजीकरण पर संक्षेप में टिप्पणी लिखिए।
3. सामाजिक आंदोलन से क्या अभिप्राय है? संक्षेप में बताइए।
4. सामूहिक गतिशीलता को संक्षेप में प्रतिपादित कीजिए।

### दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. सामाजिक प्रक्रियाओं की प्रकृति को विस्तार से विवेचित कीजिए।
2. भारत के प्रमुख सामाजिक आंदोलनों को विस्तार से विवेचित कीजिए।
3. सामाजिक आंदोलन की उत्पत्ति पर प्रकाश डालिए।
4. निम्न पर टिप्पणी लिखिए
   (क) प्रतियोगिता
   (ख) संघर्ष

## 3.10 सहायक पाठ्य सामग्री

1. Heath Anthony, Ermisch John and Duncan Gallie. 2005. *Understanding Social Change*. Oxford: Oxford University Press.
2. Ahuja, Ram. 2001. *Social Problems in India.* New Delhi: Rawat Publications.
3. Cuber, John. F and Robert A. Harper. 1948. *Problems of American Sociology: Values or Conflict*. New York: Holt.
4. Cooley, Charles Horton. 2019. *Social Process*. Mountain View, California: Creative Media Partners.
5. Berger, P., & Luckmann, T. (1966). The Social Construction of Social Reality. Harmondsworth: Penguin.
6. Blau, P. (ed.). (1975). Approaches to the Study of Social Structure. New York: Free Press.
7. Callinicos, A. (2007) Social theory: a historical introduction. (2nd ed.) Cambridge: Polity.
8. Crothers, Charles (1996) Social Structure. Routledge, London.

टिप्पणी

9. Dahrendorf, R. (1968). Essays in the Theory of Society. London: Routledge and Kegan Paul.
10. Granovetter, Mark (1995è1973) Getting a job: a study of contacts and careers. 2nd ed. Chicago : University of Chicago Press
11. Giddens, A. (1984). The Constitution of Society. Oxford: Polity Press.
12. Hindess, B. (1989). Political Choice and Social Structure: an analysis of actors, interests and rationality. Aldershott, Hants, UK: Edward Elgar.
13. Lin, N. (2001) Social capital: a theory of social structure and action Cambridge, UK; New York:
14. Martin, Peter J. and Alex Dennis (eds.) (2010) Human Agents and Social Structures
15. Merton, R. K. (1968). Social Theory and Social Structure. Glencoe, Illinois: Free Press.
16. Nadel, S. F. (1957). The Theory of Social Structure. Melbourne: Melbourne University Press.
17. Porpora, D. (1987). The Concept of Social Structure. Westport, CT: Greenwood Press.
18. Searle, John R. (2010) Making the social world: the structure of human civilization. Oxford; New York: Oxford University Press.

# इकाई 4 भारतीय सामाजिक समस्याएं

टिप्पणी

## संरचना


4.0 परिचय
4.1 उद्देश्य
4.2 सामाजिक समस्या एवं सामाजिक विघटन
  4.2.1 सामाजिक समस्याएं
  4.2.2 सामाजिक विघटन की अवधारणा
  4.2.3 भारत में सामाजिक विघटन
4.3 सामाजिक विचलन एवं अपराध की अवधारणा
  4.3.1 सामाजिक विचलन
  4.3.2 विचलन एवं अपराध के शारीरिक/क्रियात्मक एवं मनोवैज्ञानिक सिद्धांत
  4.3.3 विचलन के संरचनात्मक एवं उपसांस्कृतिक सिद्धांत
  4.3.4 विचलन और आधिकारिक आंकड़े
  4.3.5 जातिवाद के कारण अपराध और विचलन का उभार/उदय
  4.3.6 साम्प्रदायिकता, धर्मनिरपेक्षता तथा क्षेत्रीयकरण
  4.3.7 साम्प्रदायिकता की अवधारणा
  4.3.8 साम्प्रदायिक हिंसा की अवधारणा
4.4 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
4.5 सारांश
4.6 मुख्य शब्दावली
4.7 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
4.8 सहायक पाठ्य सामग्री


## 4.0 परिचय

भारतीय समाज में हमें परिवर्तन की गति में विभिन्नताएं देखने को मिलती हैं। 1947 के पूर्व भारत में सामाजिक प्रगति नाम–मात्र के लिए रही होगी, लेकिन आज हमें समाज का एक नया रूप देखने को मिलता है। विकास के सभी लक्षण समाज में दृष्टिगत हो रहे हैं। हमारे रहन–सहन, भाषा, रीति–रिवाज तथा विभिन्न प्रकार के आर्थिक, राजनीतिक तथा धार्मिक पहलुओं में रूपांतरण हुआ है। हम समाज को उस दिशा में ले जा रहे हैं, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति सुखी तथा समृद्ध होगा। परिवर्तन सभी कालों तथा स्थानों में रहता है, यहां तक कि जड़ तथा चेतन पदार्थों में भी परिवर्तन होता रहता है। यह निर्विवाद सत्य है कि समाज अन्य वस्तुओं की भांति, निरंतर और निश्चित रूप से परिवर्तित होता रहता है। अनेक मानव शास्त्रीय अध्ययनों में यह सिद्ध किया गया है कि वन्य जातियों का व्यवहार, खान–पान, रहन–सहन, वेश–भूषा आदि आज भी साधारणतया वैसे ही हैं जैसे कि आज से 50–100 वर्ष पहले थे। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि उनमें परिवर्तन नहीं हुआ है।

सामाजिक विघटन को सामाजिक संगठन की विपरीत दशा के रूप में समझ सकते हैं। हम जानते हैं कि हमारे सामाजिक का निर्माण विभिन्न व्यक्तियों, संस्थाओं, समूहों, समितियों, प्रतिमानों आदि से मिल कर होता है और इन सबका समाज में एक पद या

टिप्पणी

स्थिति होती है। जब ये सभी अपने पदों और स्थिति के अनुसार अपने–अपने कार्यों को सही ढंग से नहीं करते तो समाज का विघटन होने लगता है। जब किसी समाज में सामाजिक इकाइयों के बीच प्रकार्यात्मक संबंध टूट जाते हैं और समूह के स्वीकृत कार्यों को करने में बाधा पड़ने लगती है, अथवा सामाजिक नियंत्रण प्रभावी ढंग से कार्य नहीं कर पाता, तब इसे सामाजिक विघटन की स्थिति कहते हैं। दूसरे शब्दों में, हमारे समाज का निर्माण भी एक शरीर की तरह अनेक इकाइयों से मिल कर होता है और जब ये इकाइयां अपना कार्य सही ढंग से नहीं करतीं तो समाज का विघटन होने लगता है। वास्तविकता में समाज में संगठन का न रहना ही सामाजिक विघटन है। सामाजिक विघटन के बारे में थॉमस तथा जननकी ने लिखा है, "सामाजिक विघटन कोई एक अलौकिक घटना नहीं है, जो किन्हीं कालों या किन्हीं समाजों तक सीमित हो, इसमें से कुछ हमेशा और प्रत्येक स्थान पर सामाजिक नियम भंग करने की व्यक्तिगत घटनाएं होती रहती हैं, जो सामाजिक संस्थाओं पर विघटित करने वाला प्रभाव डालती हैं और यदि उनका प्रतिकार न किया जाय तो बढ़ सकती हैं और सामाजिक संस्थाओं का पूर्ण नाश कर सकती हैं।

प्रस्तुत इकाई में सामाजिक समस्या एवं सामाजिक विघटन, सामाजिक विचलन एवं अपराध की अवधारणा तथा जातिवाद सांप्रदायिकता, धर्मनिरपेक्षता, सांप्रदायिक हिंसा एवं क्षेत्रीयकरण जैसे विषयों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है।

## 4.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- सामाजिक समस्याओं एवं सामाजिक विघटन के सभी संबद्ध पक्षों को समझ पाएंगे;
- सामाजिक विचलन एवं अपराध की अवधारणा का विस्तारपूर्वक अध्ययन कर पाएंगे।

## 4.2 सामाजिक समस्या एवं सामाजिक विघटन

प्रमुख सामाजिक समस्याओं एवं सामाजिक विघटन से संबद्ध सभी पक्षों का विस्तारपूर्वक अध्ययन निम्नानुसार किया जा सकता है।

### 4.2.1 सामाजिक समस्याएं

गिलिन तथा ब्लेकमर का कथन है कि, "समाजशास्त्र मनुष्य का उसके सामाजिक संबंधों के संदर्भ में अध्ययन करता है– वे संबंध जो विभिन्न प्रकार के संपर्कों को प्रभावित करते हैं और स्वयं भी उससे प्रभावित होते हैं। साथ ही यह उन संपर्कों से उत्पन्न विभिन्न प्रक्रियाओं का भी अध्ययन है।" इसका तात्पर्य है कि समाजशास्त्र के अंतर्गत आज सामाजिक समस्याओं के अध्ययन का विशेष महत्व है क्योंकि सामाजिक समस्याएं ही मानवीय संपर्क (Human association) की प्रकृति तथा उसमें होने वाले परिवर्तन को सही रूप में स्पष्ट करती हैं। इस दृष्टिकोण से समाजशास्त्र के अध्ययन का मुख्य उद्देश्य सामाजिक जीवन में अभियोजन की प्रकृति (Nature of adjustment) को देखना है। जेम्स डेविड का भी यह विचार है कि, "हमारा मुख्य उद्देश्य समाज को

पहले से अच्छा बनाना है। यह कार्य व्यावहारिक समाजशास्त्र का है कि समाज का किस प्रकार पुनर्निर्माण किया जाए।" ये सभी विचार स्पष्ट करते हैं कि समाजशास्त्र के व्यावहारिक पक्ष को महत्व दिये बिना इसे एक उपयोगी सामाजिक विज्ञान नहीं बनाया जा सकता। गिलिन का कथन है कि, "सामाजिक व्याधि उसी प्रकार समाजशास्त्र का अभिन्न अंग है जिस प्रकार बीमारी के कारण और निदान को ढूंढना वैज्ञानिक चिकित्साशास्त्र का अभिन्न अंग होता है।" इस दृष्टिकोण से यह आवश्यक है कि सर्वप्रथम हम 'सामाजिक समस्या' के अर्थ को स्पष्ट करें।

टिप्पणी

## सामाजिक समस्या का अर्थ

सामाजिक समस्या का अर्थ समझने के लिए हमें 'सामाजिक' तथा 'समस्या शब्द का अर्थ समझ लेना उचित होगा। जब भी हम 'सामाजिक' शब्द का प्रयोग करते हैं तो इससे हमारा अभिप्राय मानवीय संबंधों, सामाजिक संरचना (ढांचे), संगठन आदि से होता है, समस्या का अभिप्राय ऐसे अवांछनीय एवं अनुचित व्यवहारों अथवा प्रचलनों से है; जो सामाजिक व्यवस्था में किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न कर देते हैं। अतः सामाजिक संगठन, सामाजिक संरचना या मानवीय संबंधों में जो समस्याएं उत्पन्न होती हैं उन्हें हम सामाजिक समस्याएं कहते हैं। सामाजिक समस्या सदैव विघटनमूलक होती हैं इससे सामाजिक संगठन में उथल–पुथल हो सकती है तथा नियमित एवं सामान्य जीवन बुरी तरह से प्रभवित हो सकता है। सामाजिक समस्या केवल किसी विशेष स्थिति की ही सूचक नहीं होती अपितु उस स्थिति की गंभीरता के बारे में सामाजिक चेतना या सामाजिक चिंता की अभिवृत्ति को भी व्यक्त करती है। एक या कुछ व्यक्तियों के पारस्परिक अभियोजन में पड़ने वाली बाधा व्यक्तिगत दोषों का परिणाम हो सकती है लेकिन कोई बाधा जब सामाजिक सरंचना से इस तरह जुड़ जाती है कि उसके कारण बहुत से व्यक्तियों का जीवन प्रतिकूल रूप से प्रभावित होने लगता है, तभी हम उसे एक सामाजिक समस्या कहते हैं। इस अर्थ में सामाजिक समस्या में सामूहिकता का तत्व विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। दूसरी बात यह है कि कोई बाधा संपूर्ण समूह के जीवन को प्रतिकूल रूप से प्रभावित करने के बाद भी यदि सामाजिक सरंचना से संबंधित नहीं होती तो उसे हम सामाजिक समस्या नहीं कहेंगे। उदाहरण के लिए बाढ़, भूकंप, महामारी अथवा सूखा जैसी दशाएं सामाजिक ढांचे से संबंधित नहीं हैं। यही कारण है कि इन्हें 'सामाजिक समस्याएं' नहीं कहा जा सकता; ये केवल प्राकृतिक समस्याओं के उदाहरण हैं। इसके विपरीत अपराध, भिक्षावृति, भ्रष्टाचार, मद्यपान, वेश्यावृति अथवा छुआछूत का संबंध एक विशेष सामाजिक सरंचना से होने के कारण इन्हें हम सामाजिक समस्या के अंतर्गत रखेंगे।

विभिन्न विद्वानों ने इसी दृष्टिकोण से सामाजिक समस्या के अर्थ को स्पष्ट किया है।

## सामाजिक समस्या की परिभाषाएं

1. राब एवं सेल्जनिक के अनुसार, "यह मानवीय संबंधों की वह समस्या है जो स्वयं समाज को गंभीर चुनौती देती है अथवा अनेक लोगों की महत्वपूर्ण आकांक्षाओं में बाधा पैदा करती है।"
2. होर्टन एवं लेस्ले के अनुसार, "सामाजिक समस्या एक ऐसी स्थिति है जो बहुत से लोगों को प्रतिकूल रूप से प्रभावित करती है तथा जिसका हल सामूहिक सामाजिक क्रिया द्वारा ही होता है।"

टिप्पणी

3. मर्टन एवं निस्वेत के अनुसार, "(सामाजिक समस्या) व्यवहार का वह ढंग है जो कि सामाजिक व्यवस्था के अधिकांश भाग द्वारा सामान्य रूप से स्वीकृत या अनुमोदित आदर्शों के उल्लंघन के रूप में माना जाता है।"
4. सैमुएल कोइंग के अनुसार, "सामाजिक समस्या उन परिस्थितियों अथवा दशाओं का नाम है जिन्हें समाज हानिकारक मानता है तथा जिनमें सुधार की समाज को आवश्यकता होती है।"
5. पॉल मर्टन के शब्दों में, "सामाजिक समस्या वह दशा है जो अनुचित रूप से बड़ी संख्या में व्यक्तियों के जीवन को प्रभावित करती है तथा जिसके बारे में यह समझा जाता है कि सामूहिक प्रयत्नों के द्वारा इसमें सुधार किया जा सकता है।"
6. फुलर एण्ड मेयर्स के अनुसार, "सामाजिक समस्या वह स्थिति है जिसे अधिकांश व्यक्तियों द्वारा उन सामाजिक आदर्श नियमों से विचलन के रूप में देखा जाता है जिन्हें वे अपने लिए आवश्यक मानते हैं।"
7. लुण्डबर्ग ने बताया है कि, "सामाजिक समस्या एक विचलित व्यवहार है जो समाज द्वारा अमान्य होता है और समाज को इस सीमा तक प्रभावित करता है कि उसके प्रति समुदाय की सहनशीलता की सीमा समाप्त हो जाती है।"
8. प्रो. ग्रीन ने, "सामाजिक समस्या को सामाजिक मूल्यों तथा नैतिक नियमों के उल्लंघन के रूप में स्पष्ट किया है। उनके अनुसार, "सामाजिक समस्या ऐसी दशाओं की समग्रता है जिन्हें नैतिक आधार पर समाज में अधिकांश व्यक्तियों द्वारा अनुचित समझा जाता है।"

इन सभी परिभाषाओं से यह स्पष्ट होता है कि सामाजिक समस्या का तात्पर्य उन परिस्थितियों अथवा दशाओं से है जिन्हें एक समुदाय के अधिकांश व्यक्तियों के द्वारा सुस्थापित नियमों, सामाजिक मूल्यों तथा समूह–कल्याण के विरुद्ध माना जाता है और इसलिए इनका निराकरण करने का प्रयत्न किया जाता है। सामाजिक समस्याएं यद्यपि सामाजिक संतुलन में उत्पन्न होने वाली बाधाएं हैं लेकिन फिर भी कोई समाज ऐसा नहीं होता जिसमें समस्याएं बिल्कुल भी न पायी जाती हों। अंतर केवल समस्याओं की मात्रा और गंभीरता का होता है। किसी समाज में जब ये समस्याएं वैयक्तिक अभियोजन में गंभीर बाधा उत्पन्न करके समाज के संतुलन को बिगाड़ देती हैं, तभी इस स्थिति को हम समाजिक विघटन कहते हैं। यही कारण है कि प्रत्येक समुदाय अपनी समस्याओं का व्यावहारिक समाधान करने के लिए व्यापक स्तर पर प्रयत्न करता है।

सामाजिक समस्या की उपर्युक्त प्रकृति के आधार पर इसकी प्रमुख विशेषताओं को निम्नांकित रूप से समझा जा सकता है–

1. सामाजिक समस्या एक ऐसी दशा है जो समुदाय में बहुत से व्यक्तियों के विचलित व्यवहारों अथवा समाज के आदर्श नियमों के उल्लंघन के रूप में देखने को मिलती है।
2. सामाजिक समस्या का तात्पर्य केवल उन्हीं समस्याओं से है जो एक विशेष सामाजिक संरचना से संबंधित होती हैं। प्राकृतिक अथवा जैविकीय क्षेत्र की समस्याओं को सामाजिक समस्याएं नहीं कहा जा सकता।

3. सामाजिक समस्या में सामूहिकता का तत्व निहित होता है। एक या कुछ व्यक्तियों के पारस्परिक अभियोजन में उत्पन्न होने वाली बाधा को सामाजिक समस्या नहीं कहा जा सकता।
4. यदि कोई विशेष स्थिति सामाजिक अभियोजन में बाधक तो है लेकिन समूह इस स्थिति में सुधार करना आवश्यक नहीं समझता तो इस स्थिति को भी सामाजिक समस्या नहीं कहा जा सकता। सामाजिक समस्या केवल वह स्थिति है जिसे हम दूर करना चाहते हैं तथा साथ ही जिसमें सुधार करना संभव भी होता है।
5. सामाजिक समस्या की अवधारणा का संबंध समाज के मूल्यों से है। मूल्यों में परिवर्तन होने के साथ सामाजिक समस्या के रूप में भी परिवर्तन हो जाता है। उदाहरण के लिए, हमारे समाज में कुछ समय पहले तक 'बाल–विवाह' एक समस्या नहीं थी लेकिन वर्तमान युग में हमारे सामाजिक मूल्य बदल जाने के कारण 'बाल–विवाह' को एक समस्या के रूप में देखा जाने लगा है।
6. सामाजिक समस्या की अवधारणा समाज–कल्याण की धारणा से संबंधित है। कोई समाज जब समाज–कल्याण के प्रति सचेत होता है, तभी कुछ विशेष व्यवहारों को सामाजिक समस्या के रूप में देखा जाता है।
7. जागरूकता, नीति–निर्धारण तथा सुधार सामाजिक समस्या से संबंधित वे चरण हैं जिनके द्वारा किसी समुदाय में इनका निवारण संभव होता है।

टिप्पणी

## सामाजिक समस्याओं की माप

किसी विशेष परिस्थिति को हम एक समस्या कब कह सकते हैं? अथवा कोई विशेष समस्या समाज में कितनी गंभीर है? ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं जो हमें सामाजिक समस्याओं के माप की ओर ले जाते हैं। वास्तव में, किसी समस्या की प्रकृति और गंभीरता की माप करना एक कठिन कार्य है। इसका कारण यह है कि समस्या स्वयं ही एक तुलनात्मक धारणा है। एक ही स्थिति किसी समाज के लिए समस्या हो सकती है, जबकि दूसरे के लिए एक सामान्य तथ्य। कभी–कभी एक ही समाज के सदस्य किसी विशेष परिस्थिति को भिन्न–भिन्न दृष्टिकोण से देखते हैं इसके बावजूद सामाजिक समस्या एक मापनीय तथ्य है। अध्ययन की सरलता के लिए सामाजिक समस्या के माप की तीन विधियों अथवा आधारों को निम्नांकित रूप से स्पष्ट किया जा सकता है–

### 1. विचारात्मक आधार

यह सदैव ध्यान रखना होता है कि सामाजिक समस्याओं का प्रमुख संबंध समाज के विचारों से होता है। अपनी भावनाओं अथवा विचारों के कारण ही हम किसी कार्य को अच्छा या बुरा समझते हैं। विचारों में परिवर्तन के साथ ही एक समय में हम जिस व्यवहार को समस्या समझते हैं, वही व्यवहार दूसरे समय पर एक समस्या नहीं रह जाती। इस प्रकार किसी व्यवहार को एक समस्या कहने के लिए सर्वप्रथम यह देखना आवश्यक होता है कि वह व्यवहार जनसामान्य की भावनाओं और विचारों के प्रतिकूल है अथवा नहीं। जनसामान्य की भावनाएं जितनी अधिक प्रतिकूल रूप से प्रभावित हो रही होती हैं, समस्या का रूप भी उतना ही अधिक गंभीर होता है। उदाहरण के लिए, जब सामाजिक उत्सवों और आयोजनों के अवसरों पर वेश्याओं की भूमिका को महत्व दिया जाता था, यह एक सामाजिक समस्या नहीं थी लेकिन वर्तमान युग में हमारे

टिप्पणी

विचार बदल जाने के कारण आज हम 'वेश्यावृत्ति' को एक समस्या के रूप में देखते हैं। इसी प्रकार गुलामी की प्रथा सामंतवादी युग में एक सामान्य घटना थी लेकिन विचारों में परिवर्तन हो जाने के फलस्वरूप आज इन्हें 'समस्या' समझा जाता है। वास्तव में, जनसामान्य के विचारों का निर्धारण नैतिकता की धारणा अर्थात् उचित और अनुचित की भावना से होता है। इस प्रकार जब किसी व्यवहार को समाज के अधिकांश व्यक्ति नैतिक रूप से अवांछित समझने लगते हैं, तभी वह व्यवहार एक समस्या का रूप ले लेता है। विचारात्मक आधार पर सामाजिक समस्याओं के माप की सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि विचार मौलिक रूप से व्यक्तिगत होते हैं, सामूहिक नहीं। इस कारण इस आधार को अधिक वैज्ञानिक नहीं समझा जाता।

### 2. सांस्कृतिक आधार

सामाजिक समस्याओं की माप करने की दूसरी विधि यह है कि हम किसी व्यवहार अथवा परिस्थिति को एक समस्या कहने से पहले यह देख लें कि यह व्यवहार एक समाज विशेष की सांस्कृतिक विशेषताओं के अनुकूल है या प्रतिकूल। प्रत्येक समाज की संस्कृति का निर्माण कुछ विशेष आदर्शों, नियमों, मूल्यों और आचरण के तरीकों से होता है। संस्कृति का निर्माण करने वाले इन सभी तत्वों में उस समाज के सदस्य समान रूप से भाग लेते हैं और एक–दूसरे से आशा करते हैं कि वे अपनी सांस्कृतिक विशेषताओं को सुरक्षित बनाए रखने का प्रयत्न करेंगे। इस दृष्टिकोण से जब किसी व्यवहार के द्वारा सांस्कृतिक मूल्यों तथा आदर्श नियमों की अवहेलना होने लगती है, तब उस व्यवहार को हम एक समस्या कहते हैं। उदाहरण के लिए, वर्तमान युग में हमारे सांस्कृतिक मूल्यों, आदर्श, नियमों और नैतिकता की धारणा में व्यापक परिवर्तन हुए हैं। इसलिए अतीत में जिन व्यवहारों को संस्कृति के नाम पर संरक्षण मिला हुआ था, उन्हीं को आज गंभीर सामाजिक समस्याओं के रूप में देखा जाता है। इसका तात्पर्य है कि आज बाल–विवाह, दहेज–प्रथा, अस्पृश्यता, जाति–विभाजन, कुलीन–विवाह, विवाह–विच्छेद पर नियंत्रण और वेश्यावृत्ति आदि हमारे वर्तमान आदर्श नियमों और समाजिक मूल्यों के विरुद्ध हैं, इसलिए हम इन्हें सामाजिक समस्याओं के रूप में देखते हैं। इस संबंध में एक विशेष बात यह है कि सांस्कृतिक मूल्य भी एक प्रकार का भावनात्मक तथ्य है जिसके बारे में कोई भी विवाद सरलता से उठाया जा सकता है। इसलिए सांस्कृतिक आधार पर किसी समस्या की गंभीरता को अनुभव तो किया जा सकता है लेकिन इस समस्या की गंभीरता को निश्चित रूप से मापा नहीं जा सकता। इसके बावजूद सांस्कृतिक मूल्यों के आधार पर समस्याओं के माप की संभावना को पूर्णतया नकारा नहीं जा सकता।

### 3. सांख्यिकीय आधार

सामाजिक समस्याओं के माप का यह आधार सबसे अधिक स्पष्ट, वैज्ञानिक और पूर्ण है। इसके अंतर्गत किसी भी व्यवहार का जनसामान्य पर प्रभाव देखने और उसकी गंभीरता को जानने के लिए विषय से संबंधित सांख्यिकी एकत्रित की जाती है। यह कार्य सरकारी, अर्द्ध–सरकारी तथा गैर–सरकारी किसी भी संगठन के द्वारा किया जा सकता है। अनेक सर्वेक्षणों के द्वारा यह स्पष्ट रूप से ज्ञात किया जा सकता है कि एक विशेष दशा के प्रति जनसामान्य की प्रतिक्रिया क्या है तथा समूह में उस व्यवहार को

टिप्पणी

कितनी गंभीरता के साथ देखा जाता है। इस प्रकार सांख्यिकीय विधि के द्वारा यह ज्ञात किया जा सकता है कि समाज में बेकारी, निर्धनता, अपराध, वेश्यावृत्ति, आत्महत्या, मद्यपान तथा सांप्रदायिक संघर्ष जैसी परिस्थितियां कितने व्यक्तियों के जीवन को प्रतिकूल रूप से प्रभावित कर रही हैं, इन दशाओं का समाज के सामान्य जीवन पर क्या प्रभाव पड़ रहा है तथा समाज के विभिन्न वर्ग इन दशाओं को कितने गंभीर दृष्टिकोण से देख रहे हैं। इस विधि से मालूम किए गए तथ्यों के आधार पर जो समस्याएं अधिक गंभीर दिखाई देती हैं, उनको दूर करने के लिए उतने ही अधिक प्रयत्न करना संभव हो जाता है। वर्तमान समय में सांख्यिकीय विधि इतनी विकसित हो चुकी है कि इसके द्वारा सामाजिक समस्याओं का माप करना पूर्णतया संभव हो गया है।

## सामाजिक समस्याओं के प्रकार

विभिन्न समाजों में सामाजिक समस्याओं की संख्या इतनी अधिक और विविधतापूर्ण हो सकती है कि उनकी कोई निश्चित सूची बनाना कठिन हो जाता है। गिलिन तथा डिटमर ने लिखा है कि जहां वैयक्तिक जीवन से संबंधित समस्याएं कम गंभीर होती हैं तथा सामान्य उपचार के द्वारा उनका समाधान किया जा सकता है, वहीं सामुदायिक और राष्ट्रीय जीवन से संबंधित समस्याएं एक लंबे समय के लिए संपूर्ण समाज की प्रगति में बाधा बनी रहती हैं। कुछ समस्याओं की प्रकृति अस्थायी होती है; जबकि अनेक समस्याएं एक लंबी अवधि तक सामाजिक जीवन को प्रभावित करती रहती हैं। क्षेत्र के आधार पर सामाजिक समयाओं की प्रकृति स्थानीय से लेकर अंतर्राष्ट्रीय तक हो सकती है। कुछ समस्याएं इस तरह की होती है जिन्हें स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है, जबकि अनेक समस्याएं इतनी अप्रत्यक्ष होती हैं कि उनकी कोई निश्चित माप नहीं की जा सकती। इस प्रकार विभिन्न विद्वानों ने एक–दूसरे से भिन्न आधारों पर सामाजिक समस्याओं के अनेक प्रकारों का उल्लेख किया है। इनमें से कुछ प्रमुख प्रकारों को निम्नांकित रूप से समझा जा सकता है–

## हेराल्ड फेल्प्स के अनुसार वर्गीकरण

फेल्प्स का कथन है कि प्रत्येक समाज में सामाजिक व्यवस्था तथा व्यक्तिगत व्यवहार से संबंधित कुछ इस तरह के नियम बनाये जाते हैं जिनकी सहायता से व्यक्ति अपने समूह से अनुकूलन कर सके एवं समाज प्रगति के रास्ते पर आगे बढ़ सके। जब कभी भी इन नियमों का प्रभाव कम होने लगता है तो समाज में अनेक प्रकार की असमानताएं पैदा होने लगती हैं। यही असमानताएं विभिन्न प्रकार की सामाजिक समस्याओं को जन्म देती हैं। इस दृष्टिकोण से सभी सामाजिक समस्याओं को चार प्रमुख भागों में विभाजित किया जा सकता है–

1. **आर्थिक समस्याएं** : इस वर्ग में वे समस्याएं आती हैं जिनका संबंध आर्थिक साधनों के अभाव से है। इस प्रकार निर्धनता, बेरोजगारी, आर्थिक निर्भरता, आर्थिक शोषण तथा बाल–श्रम आदि कुछ प्रमुख आर्थिक समस्याएं हैं।
2. **जैविकीय समस्याएं** : ये वे समस्याएं हैं जो व्यक्ति के शारीरिक दोषों से संबंधित होने के कारण व्यक्ति के समाजीकरण में बाधाएं पैदा करती हैं। इस दृष्टिकोण से सभी तरह के शारीरिक रोग तथा विकलांगता आदि जैविकीय समस्याओं के उदाहरण हैं।

टिप्पणी

3. **जैविक–मनोवैज्ञानिक समस्याएं** : ये समस्याएं मनोवैज्ञानिक कारणों से उत्पन्न होती हैं तथा व्यक्तित्व संबंधी दोष उत्पन्न करके सामाजिक विकास में बाधक बन जाती हैं। मानसिक दुर्बलता, पागलपन, मद्यपान, नशीले पदार्थों का सेवन, भिक्षावृत्ति, वेश्यावृत्ति, आत्महत्या, अपराध तथा वैयक्तिक अनुकूलन में कमी जैसी समस्याएं इस वर्ग से संबंधित हैं।

4. **सांस्कृतिक मूल्यों से उत्पन्न समस्याएं** : किसी समाज के मूल्यों में भ्रम पैदा होने अथवा मूल्यों के कम प्रभावपूर्ण हो जाने से उत्पन्न होने वाली समस्याएं सबसे अधिक गंभीर होती हैं। ऐसी समस्याएं वैयक्तिक जीवन से लेकर पारिवारिक, सामुदायिक तथा सामाजिक जीवन तक को विघटित कर देती हैं। अपराध, अवैध संतानों का जन्म, तलाक, गृहविहीनता, वृद्धावस्था की समस्याएं, नैतिकता का पतन, वर्ग–संघर्ष, सांप्रदायिकता, क्षेत्रवाद, भ्रष्टाचार तथा जातीय दुराग्रह आदि इसी तरह की समस्याएं हैं।

## सैमुअल कोइंग के अनुसार वर्गीकरण

कोइंग ने मापनीयता के आधार पर प्रमुख सामाजिक समस्याओं को दो भागों में विभाजित किया है–

1. **प्रकट अथवा स्पष्ट समस्याएं** : कुछ समस्याओं की प्रकृति इस तरह की होती है कि समाज में सभी व्यक्ति उन्हें न केवल स्पष्ट रूप देख सकते हैं बल्कि उनकी माप भी की जा सकती है। निर्धनता, बेकारी, अपराध, भिक्षावृत्ति, विवाह विच्छेद, गंदी बस्तियां, आवास की समस्या तथा जनसंख्या–वृद्धि आदि इसी तरह की समस्याएं हैं।

2. **अप्रकट समस्याएं** : अनेक समस्याएं प्रच्छन्न अथवा छिपे रूप में विद्यमान होती हैं तथा इनकी गंभीरता और दुष्परिणामों की कोई निश्चित माप करना बहुत कठिन होता है। जाति पूर्वाग्रह, सांप्रदायिक तनाव, मादक द्रव्य व्यसन, श्वेतवसन् अपराध, पारिवारिक तनाव, वेश्यावृत्ति तथा भ्रष्टाचार आदि इसी तरह की समस्याएं हैं। ये समस्याएं दीमक की तरह होती हैं और धीरे–धीरे संपूर्ण सामाजिक जीवन को खोखला बना देती हैं।

## के.डी. भट्ट के अनुसार वर्गीकरण

विभिन्न सामाजिक समस्याओं की व्यापकता को ध्यान में रखते हुए डॉक्टर भट्ट ने प्रमुख सामाजिक समस्याओं को चार भागों में विभाजित किया है– स्थानीय, क्षेत्रीय, राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय।

1. **स्थानीय समस्याएं** : अनेक समस्याएं एक बड़ी सीमा तक स्थानीय दशाओं से प्रभावित होती हैं। साधारणतया इन समस्याओं का प्रभाव कुछ विशेष समूहों तक ही सीमित रहता है। जाति संघर्ष, धार्मिक अंधविश्वासों से उत्पन्न समस्याएं तथा पारिवारिक तनाव इसी के अंतर्गत आते हैं।

2. **क्षेत्रीय समस्याएं** : विभिन्न क्षेत्रों के मूल्य अक्सर एक–दूसरे से भिन्न होते हैं। फलस्वरूप जिन क्षेत्रों में लोग बदलती हुई दशाओं से अनुकूलन नहीं कर पाते

अथवा कुछ विशेष परिस्थितियों में एक–दूसरे को संदेह की निगाह से देखने लगते हैं, वहां अनेक क्षेत्रीय समस्याएं उत्पन्न हो जाती हैं। क्षेत्रवाद, संप्रदायवाद, दहेज प्रथा, दुर्बल वर्गों का शोषण तथा परंपरावादिता इस वर्ग से संबंधित समस्याओं के उदाहरण हैं।

टिप्पणी

3. **राष्ट्रीय समस्याएं** : अनेक समस्याओं का फैलाव पूरे राष्ट्र में देखने को मिलता है। ये देश के किसी विशेष हिस्से तक ही सीमित नहीं होतीं। सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन के लिए ऐसी समस्याएं सबसे अधिक गंभीर होती हैं। जातिवाद, निर्धनता, बेरोजगारी, भ्रष्टाचार, मादक पदार्थों का सेवन, जनसंख्या वृद्धि तथा अंतर–पीढ़ी संघर्ष इस तरह की समस्याओं के उदाहरण हैं।
4. **अंतर्राष्ट्रीय समस्याएं** : वर्तमान युग में अनेक अंतर्राष्ट्रीय दशाएं हमारे राष्ट्रीय और सामाजिक जीवन को प्रभावित करने लगी हैं। साथ ही बहुत–सी समस्याएं ऐसी हैं जिनका विस्तार अधिक या कम मात्रा में पूरे विश्व में देखने को मिलता है। युद्ध, आतंकवाद, भ्रष्टाचार, मादक पदार्थों का सेवन तथा अंतर–पीढ़ी संघर्ष इस तरह की समस्याओं के उदाहरण हैं।

अमेरिका की एक अध्ययन समिति ने सामाजिक समस्याओं को चार प्रमुख परिस्थतियों से संबंधित मानते हुए इनका वर्गीकरण किया है। इसके अनुसार प्राकृतिक विरासत, जैविकीय विरासत, सामाजिक विरासत तथा सामाजिक नीतियां विभिन्न प्रकार की समस्याओं के लिए उत्तरदायी होती हैं। इस प्रकार प्राकृतिक स्रोतों के उपयोग से संबंधित समस्याएं प्रथम वर्ग में होती हैं। दूसरे वर्ग अर्थात् जैविकीय विरासत से संबंधित समस्याओं में जनसंख्या के आकार और गुण संबंधी समस्याओं, जैसे जन्म–दर तथा मृत्यु–दर और परिवार नियोजन की समस्या आदि को सम्मिलित किया जाता है। सामाजिक विरासत से उत्पन्न समस्याओं में प्रौद्योगिक परिवर्तन, बेकारी, व्यापारिक उतार–चढ़ाव, शिक्षा, धर्म, राजनीति, स्वास्थ्य, कानून और अल्पसंख्यक वर्ग से संबंधित समस्याएं प्रमुख हैं। अंत में नियोजन तथा सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक संस्थाओं के पुनर्निर्माण से संबंधित समस्याएं चौथे वर्ग के अंतर्गत आती हैं। वास्तव में, सामाजिक समस्याओं का यह वर्गीकरण अधिक वैज्ञानिक नहीं है। समाज में अनेक समस्याएं ऐसी भी पाई जाती हैं जिन्हें किसी एक विशेष वर्ग से संबंधित नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिए, निर्धनता की समस्या अनेक जैविकीय दोषों अथवा बीमारियों के कारण भी उत्पन्न हो सकती है और मानसिक असंतुलन के कारण भी। समाज की दोषपूर्ण नीतियों अथवा सांस्कृतिक असंतुलन से भी इस समस्या को प्रोत्साहन मिल सकता है। इसी प्रकार बेरोजगारी की समस्या का कारण गलत सामाजिक नीतियां भी हो सकती हैं और व्यक्ति की दोषपूर्ण मानसिकता भी। युद्ध सांस्कृतिक कारणों से भी होते हैं और राजनीतिक या आर्थिक कारणों से भी। इस प्रकार विभिन्न सामाजिक समस्याओं की स्वतंत्र रूप से विवेचना करके इसके सभी संभावित कारणों पर विचार करना अधिक वैज्ञानिक तरीका है।

जहां तक भारत में सामाजिक समस्याओं की प्रकृति और इनके वर्गीकरण का प्रश्न है, अनेक विद्वानों ने भिन्न–भिन्न आधारों पर अनेक वर्गीकरण प्रस्तुत किए हैं। इन सभी वर्गीकरणों में वे दोष विद्यमान हैं जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। वास्तव में, भारतीय समाज आज अनेक समस्याओं का केंद्र–स्थल बना हुआ है। यहां की समस्याएं

टिप्पणी

केवल धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक अथवा राजनीतिक ही नहीं है बल्कि एक ही समस्या पर धर्म, सामाजिक व्यवस्था और राजनीतिक असंतुलन का संयुक्त प्रभाव देखने को मिलता है। वर्तमान भारतीय समाज में जातिवाद, अस्पृश्यता, बाल–विवाह, दहेज प्रथा, स्त्रियों का शोषण, संयुक्त परिवारों का विघटन, निर्धनता, बेकारी, अपराध, बाल–अपराध, युवा तनाव, वेश्यावृत्ति, भिक्षावृत्ति, रूढ़िवादिता, असंतुलित औद्योगिकीकरण और भ्रष्टाचार जैसी समस्याएं संपूर्ण जन–जीवन को विषाक्त कर रही हैं। सबसे बड़ा दुर्भाग्य तो यह है कि हमारी किसी समस्या का रूप चाहे सामाजिक हो, राजनीतिक हो या आर्थिक, नियोजित प्रयत्नों के द्वारा इनका समाधान करने के स्थान पर बहुत–से लोग अनेक विश्वासों, धर्म–कर्म की धारणा और परलोक संबंधी विश्वासों के द्वारा इनके औचित्य को सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। यही कारण है कि सरकारी और गैर–सरकारी क्षेत्रों में व्यापक प्रयत्न करने के बाद भी इन समस्याओं को अधिक प्रभावपूर्ण रूप से नहीं सुलझाया जा सकता है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि सामाजिक समस्याओं का अध्ययन स्वयं में एक जटिल विषय है। यह विषय जितना जटिल है, समाज के संगठन और पुनर्निर्माण के दृष्टिकोण से उतना ही महत्वपूर्ण भी। इस दृष्टिकोण से सामाजिक संबंधों तथा सामाजिक व्यवस्था का अध्ययन करने वाले विज्ञान समाजशास्त्र के अंतर्गत एक विशेष शाखा का विकास हुआ है जिसे हम व्यावहारिक समाजशास्त्र कहते हैं। इस शाखा की उपयोगिता को स्पष्ट करते हुए बाटोमौर ने लिखा है, "समाजशास्त्रीय अध्ययन सामाजिक समस्याओं के बारे में एक यथार्थ दृष्टिकोण विकसित करके उन कटु आलोचनाओं को कम करता है जो अक्सर समस्याओं को बढ़ाने में सहायक होती हैं।" यह सच है कि कोई समाजशास्त्री स्वयं ही किसी समस्या को दूर करने का काम नहीं करता लेकिन अपने व्यावहारिक ज्ञान की सहायता से वह यह अवश्य बता सकता है कि कोई विशेष समस्या किस परिस्थिति का परिणाम है तथा सामाजिक जीवन को वह किस तरह प्रभावित कर सकती है। अपनी समस्याओं के बारे में हम जितनी व्यावहारिक जानकारी एकत्रित कर लेते हैं, नीति–निर्माताओं और प्रशासकों को उसका समाधान करना उतना ही सरल हो जाता है। व्यावहारिक समाजशास्त्र की अध्ययन–वस्तु के रूप में सामाजिक समस्याओं के अध्ययन की यही वास्तविक उपयोगिता है।

## जातिवाद

जातिप्रथा वास्तव में अति प्राचीन संस्था है। वैदिक काल में भी वर्ग विभाजन मौजूद था। जिसे वर्ण व्यवस्था कहा जाता था। जिसमें समाज की आवश्यकता अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, एवं शूद्र, में विभाजन किया गया। यह विभाजन अलगाववादी न होकर आंगिक था। समाज या राज्य की तुलना एक विराट पुरुष से की गई जिसमें ब्राह्मण मुख, क्षत्रिय बाहू, वैश्य जंघा एवं शूद्र पैर थे। पर इसका स्वरूप जातिगत न होकर गुण व कर्म पर आधारित था। रामधारी सिंह दिनकर के शब्दों में ऐसे वर्णाश्रम सामाजिक समरसता का कारण नहीं बल्कि ऊंच नीच और छुआछूत का भेदभाव बढ़ाने के कारण हैं।

कालांतर में वर्णव्यस्था में ऐसे परिवर्तन हुए कि वर्णव्यस्था जाति प्रथा में बदल गई और एक जाति के अन्दर अनेक उपजातियां बन गईं। जातिप्रथा के कारण समाज बहुत से टुकड़ों में बंट गया। व्यक्ति–व्यक्ति के बीच भेदभाव की खाई खड़ी हो गई। पारस्परिक द्वेष और जातीय अहंकार के कारण भारतवासी कभी एक न हो सके और

सामूहिक रूप से विदेशी आक्रमणकारियों का सामना करने में विफल रहे। राष्ट्रहित को भुला दिया गया। और जातीय गौरव को ही सब कुछ मान लिया गया। इस प्रथा का सबसे भयंकर परिणाम था छुआ–छूत जिसमें समाज के एक बहुत बड़े वर्ग को आत्म सम्मान से वंचित कर दिया गया।

टिप्पणी

**परिभाषा**– जाति शब्द अंग्रेजी भाषा के कास्ट शब्द का हिंदी अनुवाद है। कास्ट शब्द की व्युत्पत्ति पुर्तगाली भाषा के कास्ट शब्द से हुई है, जिनका अर्थ मत, विभेद तथा जाति से लगाया जाता है। जाति की परिभाषाएं निम्नलिखित हैं–

मजूमदार एवं मदान के अनुसार, ''जाति एक बन्द वर्ग है।''

कूले के अनुसार, 'जब एक वर्ग पूर्णतः आनुवांशिकता पर आधारित होता है तो हम इसे जाति कहते हैं।'

जे. एच. हटटन के अनुसार, 'जाति एक ऐसी व्यवस्था है जिसके अंतर्गत एक समाज अनेक आत्मकेन्द्रित एवं एक–दूसरे से पूर्णतः अलग इकाइयों में विभाजित रहता है। इन इकाइयों के बीच पारस्परिक संबंध ऊंच–नीच के आधार पर सांस्कृतिक रूप से निर्धारित होते हैं।

केतकर के शब्दों में जाति एक सामाजिक समूह है जिसकी विशेषताएं हैं– (1) सदस्यता केवल उन व्यक्तियों तक सीमित है जिन्होंने उसी जाति में जन्म लिया है और इसमें पैदा हुए व्यक्ति ही इसमें सम्मलित होते हैं। (2) सदस्य कठोर सामाजिक नियमों द्वारा अपने समूह से बाहर विवाह करने में रोक लगा देते हैं।

इन परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि जाति एक ऐसा सामाजिक समूह है जिसकी सदस्यता व्यक्ति पर खान–पान, विवाह, पेशा और सामाजिक सहवास जैसे अनेक प्रतिबंध लागू करती है।

## जाति और राजनीति

कुछ विचारकों का मत है कि जाति तथा राजनीति दोनों एक–दूसरे से स्वतंत्र हैं। अतः जाति को राजनीतिक क्षेत्र में अपना अतिक्रमण नहीं करना चाहिए। कुछ ऐसे भी विचारक है जो भारत में विद्यमान जाति प्रथा को बहुत महत्व देते हुए यह मानकर चलते हैं कि भारत में जाति स्वयं में एक राजनीतिक दल बना हुआ है। जयप्रकाश नारायण, माइनर वीनर, मांरिस जोन्स और टिकर आदि इसी मत के समर्थक हैं। भारत के संदर्भ में जातिगत प्रभाव के कटु सत्य को स्वीकार करते हुए जे.सी. जौहरी ने तो यहां तक कहा है कि यदि मुनष्य राजनीतिक क्षेत्र में ऊपर आना चाहते हैं तो उन्हें अपने साथ अपनी जाति व धर्म को लेकर चलना चाहिए। कुछ ऐसे भी विचारक हैं जो इस मत के समर्थक हैं। राजनीति में जमने के लिए शक्ति की आवश्यकता होती है। शक्ति के लिए संगठनों का सहारा लेना पड़ता है तथा जाति संरचना स्वयं में एक शक्तिशाली संगठन है। इसलिए राजनीति को जाति का सहारा लेना पड़ता है।

## जाति और राजनीति में अन्तःक्रिया

यह अनुमान लगाया जाता था कि स्वतंत्रता एवं आधुनिकता के बाद से जाति का प्रभाव कम होगा। परंतु प्रो. वी. के. एन. मेनन का अभिमत है कि स्वतंत्रता के बाद राजनीतिक क्षेत्र में जाति का प्रभाव बढ़ा है। यद्यपि जाति का प्रभाव सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्रों

टिप्पणी

में कम हुआ जबकि राजनीतिक एवं प्रशासनिक क्षेत्र में बढ़ा है। ब्रिटिशकालीन भारत में शक्ति और लाभ–प्राप्ति के लिए संघर्ष पहले पहल सामाजिक अधिक्रम की कुछ प्रमुख जातियों तक ही सीमित था। राजनीतिक और प्रशासकीय सत्ता का लाभ प्रारंभ में उन्हीं व्यक्तियों के सीमित समुदाय को मिल सका जिन्होंने नये शैक्षणिक अवसरों को अपनाया और जो अध्यापन कला में कुशल तथा वाकपटु सिद्ध हुए हैं। ये व्यक्ति समाज की उच्चतर जातियों में से थे। जहां कहीं भी किसी एक उच्चतर जाति अथवा उपजाति के आधार पर इस प्रकार राजनीतिक गतिविधि प्रारंभ हुई, वहीं दूसरी उच्च जातियों में ईर्ष्या और विरोध की भावनाएं बढ़ीं। ऐसा खासकर उन जातियों में हुआ जो पहले सामाजिक और आर्थिक शक्ति का स्वाद चख चुकी थीं। फलस्वरूप ऐसी जातियों में भी अनेक राजनीतिक समूह उठ खड़े हुए। इस प्रकार एक प्रमुख जाति के प्रभुत्व ने शीघ्रतापूर्वक एक अन्य प्रधान जाति को राजनीतिक क्षेत्र में ला खड़ा किया जो सामाजिक क्षेत्र में अपनी अन्तर्निभरता और परिपूरकता के कार्य से ही संतुष्ट न थी। परिणाम यह हुआ कि जाति–संरचना ने जाति–संरचना की द्विपक्षीय संरचना का रूप धारण कर लिया।

इस द्वि–पक्षीयवाद के बाद अगले चरण में शक्ति की भूख और लाभों की मांग अधिक बढ़ गयी तथा विभिन्न समर्थनों के आधार पर जातियों में अनेक प्रतियोगी–समूह विकसित हो गए। समाज की प्रमुख जातियों के भीतर ही प्रतियोगिता आरंभ हो गई। इस स्थिति को डॉ. रजनी कोठारी ने 'पक्षपातवाद' अथवा जातियों के टुकड़े या खण्ड होने की स्थिति कहा है। यह कहना चाहिए कि अब अंतर्जातीय प्रतियोगिता को जाति अंतर्गत प्रतियोगिता तथा राजनीतिकरण की प्रक्रिया का सहारा मिला है।

भारतीय समाज का संगठन चूंकि जाति के आधार पर हुआ है, इसलिए यह स्वाभाविक है कि राजनेता 'जाति' को अपने फायदे के लिए इस्तेमाल करे। दूसरी ओर जाति 'राजनीति' का सहारा लेती है। अतः जैसा कि रजनी कोठारी ने कहा है ''जिसे हम राजनीति में जातिवाद के नाम से पुकारते हैं वह वास्तव में जाति का राजनीतिकरण है।'' राजनेता जातीय समूहों को इसलिए मुंह लगाते हैं ताकि उनके समर्थन से उन्हें सत्ता तक पहुंचने में मदद मिल सके।

शुरू के चरण में राजनीतिक सत्ता की होड़ उन जातियों के बीच हुई जिन्हें हम 'संस्थापित जातियां' कहते हैं। इन जातियों के लोग आम जनता की अपेक्षा कुछ ज्यादा पढे–लिखे, ज्यादा प्रभावी और आर्थिक दृष्टि से ज्यादा शक्तिशाली थे। इस प्रकार बिहार में कायस्थ और ठाकुर, राजस्थान में राजपूत व जाट तथा आंध्र प्रदेश में केम्मा व रेड्डी के बीच राजनीतिक प्रतिस्पर्धा शुरू हो गई तथा प्रशासनिक व राजनीतिक ढांचे पर एकमात्र ब्राह्मण छाए हुए थे। उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप द्रविड़ कड़गम की स्थापना की गई। जिस पर पूर्णरूपेण गैरब्राह्मणों का नियंत्रण था। उसके बाद राजनीतिक प्रक्रिया का दूसरा चरण शुरू होता है। जब एक ही जाति के विभिन्न नेताओं के बीच प्रतिस्पर्धा शुरू हो गई तो हर बड़े नेता ने अपनी बिरादरी से बाहर के लोगों का सहयोग पाने की कोशिश की। 1980 का दशक देश में दलित चेतना में एवं अन्य पिछड़े वर्ग के लोगों द्वारा राजनीति शक्ति प्राप्त करने का आंदोलन युग था। मंडल–कमीशन के बाद पिछड़ी जाति एवं दलित जातियों का राजनीतिक प्रभाव बढ़ा।

## भारत की राजनीतिक व्यवस्था पर जातिवाद का प्रभाव

टिप्पणी

जाति अपने जिस रूप में अतीत में थी उसका स्वरूप बदल गया है। पहले इसका प्रभाव सामाजिक संदर्भों में था परंतु अब इसका राजनीतिक महत्व हो गया है। जातिवाद ने हमारी राजनीतिक व्यवस्था को गंभीरता से प्रभावित किया है–

1. चुनावों में विभिन्न दल उम्मीदवारों का चयन जातीय आधार पर करते हैं। चुनाव क्षेत्र में प्रायः जिस जाति का बहुमत होता है उसी जाति के उम्मीदवार खड़े किए जाते हैं। स्वतंत्र भारत में जाति प्रथा ने एक नयी दृढ़ता प्राप्त कर ली है। पहले निहित स्वार्थ संस्थापित या उच्च जातियों के थे क्योंकि इसी के कारण उन्हें विशेषाधिकार प्राप्त थे, पर अब पिछड़ी जातियों और दलितों में भी एक ऐसे प्रबल वर्ग का उदय हो चुका है जो जातीय चेतना को जिंदा रखकर आगे बढ़ना चाहता है, जबकि दावा शोषण के खिलाफ लड़ने का किया जाता है।
2. दुर्बल वर्गों के शैक्षिक आर्थिक हितों की वृद्धि के लिए विधानमंडल, नौकरियों और शिक्षा सीमा को और आगे बढ़ाने की अनेक कोशिशें राज्य सरकार द्वारा की गई है परंतु महत्वपूर्ण बात यह है कि आरक्षण की सीमाएं हैं। गरीबी दूर करने के लिए शासन को कोई ठोस कार्यक्रम अपनाना पड़ेगा। नयी नौकरियां सृजित करने से समस्या का समाधान होगा, विधानमंडल नौकरियों के वितरण या 'आरक्षण की बैशाखी' से नहीं।
3. जातीय विद्वेष के कारण राजनीति में उग्रता व हिंसा की घुसपैठ हो गई। असामाजिक तत्वों की मदद से राजनीतिक नेता, विशेषकर ग्रामीण इलाकों में अपनी–अपनी शक्ति दिखाना चाहते हैं। बिहार में जातीय आधार पर राजनीतिक दलों ने अपनी निजी सेनाएं तैयार कर ली हैं और वहां जब–तब बाह्य जातीय विद्वेष की हिंसा भड़क उठती है। यह संघर्ष कहीं पिछड़ी जातियों और दलितों के बीच होता रहा है तो कहीं सवर्णों और हरिजनों की बीच। इसके मूल में सामाजिक–आर्थिक कारण हो सकते हैं, लेकिन समस्या के समाधान की पहल करने वाले राजनीतिज्ञ न्याय के नाम पर विद्वेष बांटते फिर रहे हैं।
4. चुनाव गठबंधों में शोषित या पिछड़ी जातियों को भी शामिल किया जाता है। इसका एक लाभ यह है कि इन बिरादरियों में स्वाभिमान जागा है और वे अपने फायदे के लिए राजनीतिक सौदेबाजी में सफल रहे हैं। अब इन जातियों के नेता उभर कर सामने आने लगे हैं। रजनी कोठारी ने इसे एक शुभ लक्षण माना है। उनके मतानुसार, जाति व्यवस्था जो कभी परंपरा का पोषण करती थी, आज 'परिवर्तन का अग्रदूत' बन गई है। पर कठिनाई यह है कि परिवर्तन के ये अग्रदूत दलितों के विकास का कोई ''पूरा खाका'' तैयार नहीं कर पाए हैं। जाति के नेता जातिवाद खत्म न करके जातीय चेतना का राजनीतिक इस्तेमाल करना चाहते हैं इससे जातियों का राजनीतिक महत्व अवश्य बढ़ा है परंतु अखिल भारतीय या राष्ट्रीय भावनाओं को ठेस पहुंची है।
5. जाति का प्रभाव इतना अधिक है कि आज केंद्रीय मंत्रिमंडल से लेकर राज्यों और ग्राम पंचायतों तक में प्रत्येक प्रधान जाति को प्रतिनिधित्व देना अनिवार्य हो गया है।

टिप्पणी

6. मेयर का मत था कि ''जातीय संगठन राजनीतिक महत्व के दबाव समूह के रूप में प्रवृत्त है।'' भारत में जातिगत दबाव समूह अपने स्वार्थों तथा हितों की पूर्ति के लिए नीति–निर्माताओं को प्रभावित करते हैं। उदाहरण के लिए, तमिलनाडु में नाडर जाति संघ, गुजरात में क्षत्रिय महासंघ, बिहार में कायस्थ सभा आदि दबाव समूह के रूप में कार्य करते हुए राजनीतिक सौदेबाजी करते हैं।
7. माइकेल ब्रेचर के अनुसार अखिल भारतीय राजनीति की अपेक्षा राज्य स्तर की राजनीति पर जातिवाद का प्रभाव अधिक है। उदाहरण के लिए, बिहार की राजनीति में राजपूत, ब्राह्मण, कायस्थ और जनजातियां प्रमुख प्रतिस्पर्धी जातियां हैं। उसी प्रकार केरल में साम्यवादियों की सफलता के पीछे 'इजवाहा' जाति का संगठित होना है। आंध्र प्रदेश में काम्मा और रेड्डी जातियों का संघर्ष प्रभावी रहा है। महाराष्ट्र में मराठों, ब्राह्मणों और महारों में संघर्ष रहा है। इसी प्रकार गुजरात में पाटीदार और क्षत्रिय प्रतिस्पर्धा में रहे हैं। केरल में इसाई और मुसलमान सक्रिय रहे हैं। राजस्थान की राजनीति जाट –राजपूतों की राजनीति रही है। जातियों के प्रभाव के कारण ही टिंकर ने राज्यों की राजनीति को 'जातियों की राजनीति' कहा है।

इस प्रकार देखा जाए तो आजादी की स्वर्ण जयंती के पश्चात भी अभी तक भारतीय राजनीति जातिगत प्रभाव से मुक्त नहीं हो पायी है। यह एक अपवाद की स्थिति रही है कि 1967 के चुनाव इन्दिरा कांग्रेस के विरोध में रहे तो 1971 के चुनाव इन्दिरा कांग्रेस के पक्ष में, 1977 के चुनाव इन्दिरा कांग्रेस के विरोध में तथा जनता पार्टी के पक्ष में रहे और 1980 के चुनाव इन्दिरा कांग्रेस के पक्ष में रहे। इन चुनावों में जातिगत प्रभाव कम दिखाई दिया परंतु ये चुनावी वर्ष असामान्य चुनावी वर्ष रहे। सामान्य रूप से भारत में पंचायत, विधानमंडल, संसद सभी चुनावों में जातिगत समीकरण अहम भूमिका निभाता है।

### 4.2.2 सामाजिक विघटन की अवधारणा

मानव समाज में संरचनात्मक एवं सांस्कृतिक भिन्नताएं पायी जाती हैं। परन्तु भिन्न–भिन्न समाजों में इनका स्वरूप, प्रकृति एवं गहनता अलग–अलग होती है। सामाजिक समस्याओं का सम्बन्ध समाजशास्त्र विषय के अन्तर्गत विद्यमान गत्यात्मक एवं परिवर्तन विषय से सम्बद्ध रहा है। जो समाज जितना अधिक गत्यात्मक एवं परिवर्तनशील होगा, उसमें उतनी ही अधिक समस्याएं विद्यमान होंगी। समाज का ताना–बाना इतना जटिल है कि इसकी एक इकाई में होने वाला परिवर्तन अन्य इकाइयों को भी प्रभावित करता है। इस परिवर्तन का स्वरूप क्या होगा एवं इसके प्रभाव क्या होंगे, यह समाज की प्रकृति पर निर्भर करता है। विभिन्न युगों में सामाजिक परिवर्तन की गति अलग–अलग रही है। इसलिए भिन्न–भिन्न समाजों में सामाजिक समस्याओं की प्रकृति एवं स्वरूप भी अलग–अलग पाये जाते हैं। वर्तमान समय में सामाजिक परिवर्तन अति तीव्र गति से हो रहा है। इस तरह बदलते आधुनिक समाज के स्वरूप ने सामाजिक समस्याओं में बेतहाशा वृद्धि की है। मानव समाज इन सामाजिक समस्याओं का उन्मूलन करने के लिए सदैव प्रयासरत रहा है, क्योंकि सामाजिक समस्याएं सामाजिक व्यवस्था में विघटन पैदा करती हैं, जिससे समाज के अस्तित्व को खतरा पैदा हो जाता है।

टिप्पणी

समाजशास्त्र मानव समाज को निर्मित करने वाली इकाइयों एवं इसे बनाये रखने वाली संरचनाओं तथा संस्थाओं का अध्ययन अनेक रूपों से करता है। समाजशास्त्रियों एवं सामाजिक विचारकों ने अपनी रुचि के अनुसार समाज के स्वरूपों, संरचनाओं, संस्थाओं एवं प्रक्रियाओं का अध्ययन किया है। समस्याविहीन समाज की कल्पना करना असम्भव सा प्रतीत होता है।

वर्तमान समय में भारतीय समाज अनेक सामाजिक समस्याओं से पीड़ित है, जिनके निराकरण के लिए राज्य एवं समाज द्वारा मिलकर प्रयास किये जा रहे हैं। सामाजिक विघटन की प्रमुख समस्याओं में जनसंख्या में बढ़ोतरी, निर्धनता, बेरोजगारी, असमानता, अशिक्षा, गरीबी, आतंकवाद, घुसपैठ, बाल श्रमिक, श्रमिक असंतोष, छात्र असंतोष, भ्रष्टाचार, नशाखोरी, जानलेवा बीमारियां, दहेज प्रथा, बालविवाह, बालिका भ्रूण–हत्या, विवाह–विच्छेद की समस्या, बाल अपराध, मद्यपान, जातिवाद, अस्पृश्यता की समस्या आदि सभी समाजिक समस्याओं के अन्तर्गत आती हैं, ये समस्याएं सामाजिक विघटन का कारण बनती हैं।

## सामाजिक विघटन की परिभाषाएं

हावर्ड बेकर के अनुसार– ''समाज के स्वीकृत नियमों का उल्लंघन ही विघटन कहलाता है।'' अर्थात अर्थ स्पष्ट हो जाता है कि यदि कोई सामाजिक व्यक्ति समाज की स्थापित नियमावली के विरुद्ध आचरण करता है एवं नियमों का उल्लंघन करता है तो इसे सामाजिक विघटन कहते हैं।

रॉबर्ट मर्टन, विघटन की व्याख्या करते हुए सामाजिक अपराधों को भी इसमें सम्मिलित करते हुए कहते हैं–

''सामाजिक विघटन वह सामाजिक स्थिति होती है जिसमें व्यक्ति समाज के द्वारा स्वीकृत किये गये उद्देश्यों को स्वीकार करता है परंतु इस प्रक्रिया में सामाजिक संस्थाओं की सहायता नहीं लेता है। विघटन के अन्तर्गत अपराध एवं बाल अपराध भी आते हैं।''

मर्टन की परिभाषा से विघटन का कार्य क्षेत्र और भी अधिक विस्तृत एवं वृहद हो जाता है क्योंकि इसमें अपराधों को भी सम्मिलित कर लिया गया है। मर्टन ने एनॉमी (anomie) अर्थात प्रति–मानहीनता को भी विघटन का एक भाग माना है।

मर्टन ने एनौमी को विघटन में सम्मिलित करते हए इसे ब्लैंक चैक (Blank Cheque) का नाम दिया है।

एलेक्स इंकेल्स ने, विघटन को अपराध की श्रेणी से मुक्त रखा है एवं कहा है कि "विघटन अनिवार्य रूप से कोई आपराधिक कृत्य नहीं हो सकता है। यदि कोई व्यक्ति समाज की प्रचलित एवं स्थापित मान्यताओं को मानने से इनकार कर देता है तो इसे विघटन नहीं कहा जाना चाहिए।"

सामाजिक विघटन की स्थिति उस समय प्रकट होती है जब कोई व्यक्ति समाज के उन नियमों एवं मानदण्डों का उल्लंघन करता हो जिन मानदण्डों, मूल्यों एवं नियमों को समाज बहुत अधिक गम्भीरतापूर्वक लेता हो।

टिप्पणी

अर्थात, विघटन, व्यवहार आधारित मूल्यों या प्रमुख मूल्यों का मात्र उल्लंघन नहीं होता वरन् इन मूल्यों के प्रतिवाद (antithesis) को विघटन कहते हैं।

हेरा लाम्बॉस 'विघटन' को एक सापेक्ष अवधारणा मानते हैं। उनका मत है कि इसे किसी अन्य सन्दर्भ के सापेक्ष रखकर ही सही ढंग से समझा जाना चाहिए।

हेरा लाम्बॉस के शब्दों में–

''विघटन का सम्बन्ध उन प्रक्रियाओं एवं गतिविधियों के साथ होता है जो किसी समाज विशेष के सदस्यों के मापदण्डों और प्रत्याशाओं को स्वीकार नहीं करती हैं।''

हेरा लाम्बॉस का मत है कि विघटन विभिन्न प्रकार की गतिविधियां होती हैं जिनको कि हमारा समाज अवैध मानता है। उन्होंने 'विघटन को एक सामाजिक समस्या के रूप में रखा है। वे मानते हैं कि विघटन एक सामाजिक समस्या है।'

'विघटन' सामाजिक समस्या इस कारण से है कि इसके द्वारा समाज के सामाजिक कार्यों में व्यवधान एवं रुकावट उत्पन्न होती है। इस आधार पर विघटन को समस्या के रूप में चिह्नित करते हुए इसका समुचित समाधान तलाश करना भी अनिवार्य हो जाता है। इस आधार पर विघटन 'अपराध शास्त्र' का एक पृथक विषय बन जाता है।

## सामाजिक विघटन की विशेषताएं

सामाजिक विघटन की विशेषताओं को समझने के लिए उन स्थितियों की परख करनी होगी, जो समाज में अव्यवस्था और अशान्ति उत्पन्न करने के लिये जिम्मेदार होती हैं।

सामाजिक अशान्ति ही सामाजिक विघटन को जन्म देती है। ऐसा कहा जा सकता है कि सामाजिक समस्याएं और सामाजिक अशान्ति आपस में बहुत नजदीकी रूप से सह–संबद्ध हैं। सामाजिक समस्याओं के चलते जब समाज के कामकाज को खतरा होता है तो यह समझ लेना चाहिए कि सामाजिक अशान्ति चल रही है। दरअसल, सामाजिक समस्याओं के कारण सामाजिक अशान्ति उत्पन्न होती है। सरल शब्दों में कहा जाए तो, सामाजिक अशान्ति का तात्पर्य है, सामाजिक परिवर्तन की ताकतों के कारण सामाजिक व्यवस्था में किसी प्रकार का भंग। अव्यवस्था या अशान्ति के सिद्धांत की आधुनिक समाजशास्त्रीय साहित्य में खास जगह है। इसका विकास, थॉमस और जैनैकी द्वारा 'द पॉलिश पीजेंट इन यूरोप एंड अमेरिका' में किया गया, जहां उन्होंने सामाजिक अशान्ति को समूह के व्यक्तिगत सदस्यों के व्यवहार पर मौजूदा नियमों के प्रभाव की कमी कहकर वर्णित किया।

दूसरी ओर सामाजिक अशान्ति की परिभाषा देते हुए इलियट और मेरिल का कहना है यह ताकतों के संतुलन का भंग है, सामाजिक संरचना का सड़ना है जिससे पुरानी आदतें और सामाजिक नियंत्रण के तरीके ठीक से काम नहीं करते। सामाजिक अशान्ति, समाज के रोगग्रस्त या विघटनकारी तत्वों का प्रतीक है। सामाजिक अशान्ति की प्रकृति के आधार पर सामाजिक विघटन की विशेषताओं को समझा जा सकता है–

- **रिवाजों और संस्थाओं का संघर्ष** : प्रत्येक समाज के अपने रिवाज और अपनी संस्थाएं होती हैं जो उसके सदस्यों के जीवन विनियमित करते हैं। बीतते समय के साथ ये रिवाज पुराने हो जाते हैं और इनकी जगह नए रिवाज स्थापित होने लगते हैं। इसके परिणामस्वरूप, संघर्ष उत्पन्न होता है जो सामाजिक व्यवस्था की आम सहमति भंग करके सामाजिक अशान्ति पैदा करता है;

उदाहरण के लिए, सामाजिक कानून जैसे तलाक, संयुक्त परिवार, अंतर–जातीय विवाह आदि जैसी संस्थाओं के विषय में मतभेद।

टिप्पणी

- **एक से दूसरे समूह में कार्य का उलटाव** : एक व्यवस्थित समाज में भिन्न समूहों के कार्य पूर्वनिर्धारित होते हैं। समाज के गतिशील होने के कारण, एक समूह के कार्य दूसरे समूह को हस्तांतरित हो जाते हैं। उदाहरण के लिए, आजकल, एक परिवार के अधिकतर कार्य नर्सरी स्कूलों और क्लबों को हस्तांतरित हो चुके हैं, जिस कारण परिवारों में अशान्ति पैदा होने लगी है और उसके परिणामस्वरूप समाज में भी।
- **व्यक्तित्व प्रदान करना** : एक पारंपरिक समाज में लोग सबके हित समायोजित करते हैं। बहरहाल, आधुनिक युग में व्यक्तिवाद या व्यक्तिवादी प्रवृत्ति को उच्च दर्जा दिया जाता है। आजकल लोग विवाह, व्यवसाय, मनोरंजन और नैतिकता जैसे महत्वपूर्ण मामलों व्यक्तिगत पूर्वाग्रहों, रुचि और दृष्टिकोण के अनुसार फैसले लेते हैं। इस तरह की प्रवृत्ति अव्यवस्था की खतरनाक प्रक्रिया स्थापित कर सकती है।
- **सामाजिक संरचना में बदलाव** : सामाजिक संरचना में बदलाव का मतलब है व्यक्ति की भूमिकाओं तथा स्तर में बदलाव। एक व्यवस्थित समाज में, लोगों की भूमिकाएं और उनके स्तर परिभाषित और निर्धारित होते हैं। जैसा कि दुर्खीम द्वारा कहा गया है, श्रम के विभाजन और यांत्रिक एकजुटता के कारण, भूमिका और स्तरों के बीच संघर्ष की संभावना कम हो जाती है। तथापि, जब समाज सरल से जटिल श्रम के विभाजन और जैविक एकजुटता की ओर जाता है तो स्तरों और भूमिका में संघर्ष पैदा हो जाता है। उदाहरण के लिए, महिलाओं द्वारा निभाई जाने वाली भिन्न भूमिकाओं के कारण संघर्ष की संभावना बढ़ जाती है जिससे परिवार में अशान्ति पैदा हो सकती है।
- **अयुक्तता** : एक व्यवस्थित समाज में लोगों के बीच काफी हद तक सामंजस्य होता है जिस कारण वे परिवर्तन स्वीकार करने से घबराते नहीं। लेकिन एक अव्यवस्थित समाज में लोग बदलाव को स्वीकार नहीं करते और नए विकास अपनाने से कतराते हैं।
- **समाज कार्यात्मक तौर पर ठहर जाता है** : यहां, एक अव्यवस्थित समाज कार्यात्मक रूप से स्तंभित हो जाता है। समाज का सुचारू संचालन रुक जाता है जिस कारण, व्यक्ति सहित, सम्पूर्ण सामाजिक प्रणाली प्रभावित हो जाती है। उदाहरण के लिए, सरकारों का गिरना या अराजकता की परिस्थिति एक समाज को कार्यात्मक तौर पर स्तंभित करके आर्थिक भंग ला सकती है।
- **केंद्रीय प्राधिकरण अपनी नियंत्रण शक्ति खो देता है** : अव्यवस्था के चरम स्तर तक पहुंचने पर केंद्रीय प्राधिकरण अपनी नियंत्रण शक्ति खो देता है और व्यवस्था बनाए रखने के लिए समाज को किसी भी प्रकार के प्राधिकरण पर निर्भर करना पड़ सकता है जैसे कि, एकल व्यक्ति पर (राजशाही), व्यक्तियों के समूह पर (अभिजात वर्ग) या हो सकता है कि आम जनता पर (लोकतंत्र)। जब प्राधिकरण कानून बनाने और उन्हें लागू करने के योग्य नहीं होता तो समाज से

एक तीव्र प्रतिरोध उठता है जिस कारण क्रांति पैदा होती है और सरकार की कार्यक्षमता खतरे में आ जाती है।

टिप्पणी

## सामाजिक विघटन के सिद्धांत

विघटन के सिद्धांत को प्रतिपादित करने वाले समाजशास्त्रियों में रॉबर्ट मर्टन का नाम विशेष रुप से उल्लेखनीय है। मर्टन ने अपनी समाजशास्त्रीय व्याख्या में समाज में होने वाले विभिन्न प्रकार के विघटन एवं इनके प्रकारों का संक्षिप्त विवरण दिया है। हांलाकि मर्टन ने एमिल दुर्खीम के सिद्धांत को ही विस्तारित करके उसकी व्याख्या एवं उसका आकलन प्रस्तुत किया है। समाज में व्यक्तियों के मध्य होने वाले विभिन्न प्रकार के तनाव एवं उनके प्रभावों का एमिल दुर्खीम ने विस्तारपूर्वक वर्णन किया है तथा स्पष्ट किया है कि व्यक्ति किस प्रकार से विचलित हो जाता है। यहां तक की आत्महत्या तक के विचार मन में ले आता है। इस प्रकार से समाज में व्यक्ति विभिन्न प्रकार के तनाव एवं आशंकाओं से ग्रसित हो जाता है क्योंकि बचपन से ही मनुष्य को यह सिखाया एवं बताया जाता है कि उसे अमुक प्रकार का उद्देश्य प्राप्त करना है, परंतु यदि परिस्थितियों से कोई व्यक्ति इस उद्देश्य को प्राप्त नहीं कर पाता है तो वह विघटन का शिकार हो सकता है। वह इस प्रकार का व्यवहार करने पर विवश हो जाता है जो समाज के स्थापित प्रतिमानों के विपरीत होता है।

**प्रशंसा व्यवहार** (Admired Behaviour): सामाजिक विघटन के अंतर्गत किए जाने वाले इस व्यवहार को मनुष्य के सामाजिक व्यवहार को अच्छे अथवा सराहनीय आधार पर विभक्त किया जाता है। मनुष्य के व्यवहार को समाज के स्थापित सामाजिक मानदंडों के अनुसार अच्छा एवं सराहनीय व्यवहार माना जाता है।

इसका अर्थ यह होता है कि यदि कोई व्यक्ति कोई ऐसा व्यवहार करता है जो उसकी दृष्टि में सामान्य है तथा वह अन्य व्यक्तियों के विचार एवं व्यवहार के अनुसार असामान्य है तो यह विघटन प्रशंसा व्यवहार के अंतर्गत आता है। उदाहरण के लिए यदि कुछ शरारती तत्व यदि किसी महिला के साथ में छेड़खानी कर रहे हैं और कोई युवक अपनी जान पर खेल कर उस युवती की रक्षा करता है तो ऐसा व्यवहार असामान्य है। यह बात पृथक है कि यह व्यवहार हानिकारक नहीं है वरन स्वयं को अन्य से श्रेष्ठ साबित करने एवं किसी व्यक्ति की रक्षा करने के लिए किया गया व्यवहार है। सामान्य रूप से ऐसा होता नहीं है। इसी कारण से इसे प्रशंसा व्यवहार विघटन कहा जाता है।

**असंगत व्यवहार** (Odd Behaviour): विघटन के अंतर्गत यह ऐसा व्यवहार है जिसमें व्यक्ति अजीब प्रकार के व्यवहार करने लगता है जो सामान्य व्यक्तियों से पृथक होते हैं तथा इस प्रकार के व्यवहार करने वाले व्यक्ति को असामान्य समझा जाता है क्योंकि यह व्यक्ति ऐसा व्यवहार कर रहा होता है जो सामान्यतः समाज में व्यक्ति नहीं करते हैं। उदाहरण के तौर पर यदि कोई पुरुष महिला की वेशभूषा धारण कर ले तो इसे अजीब व्यवहार ही माना जाएगा क्योंकि सभ्य समाज में पुरुष एवं महिला की वेशभूषा प्रथक होती है तथा उनकी पहचान उन्हीं प्रकार के पहनावे द्वारा होती है। यदि कोई पुरुष साड़ी पहनकर ऑफिस जाने लगे तो इसको अजीब व्यवहार ही कहा जाएगा।

टिप्पणी

**अनुपयुक्त व्यवहार** (Bad Behaviour) : जब व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के साथ ऐसा व्यवहार करने लगे जो सामान्यतः स्वीकृत नहीं है जिससे अन्य व्यक्तियों को कष्ट होता है तो इस प्रकार के व्यवहार को अनुपयुक्त अथवा बुरा व्यवहार कहा जाता है। बुरे व्यवहार को स्वीकृत इसीलिए नहीं किया जाता क्योंकि यह समाज में स्थापित नियमों एवं नीतियों के विरुद्ध होता है। समाज में होने वाले अनेक प्रकार के आपराधिक व्यवहार इस श्रेणी में आते हैं। इसी के साथ उस प्रकार के व्यवहार भी इस श्रेणी में आते हैं जिनसे समाज के स्थापित नियमों का उल्लंघन होता है जैसे कि सरेआम धूम्रपान करना अथवा पान–मसाला खाकर सड़क पर उसका पीक थूक देना।

उपरोक्त के अतिरिक्त विघटन को प्राथमिक एवं द्वितीयक प्रकारों में भी बांट कर देखा जा सकता है–

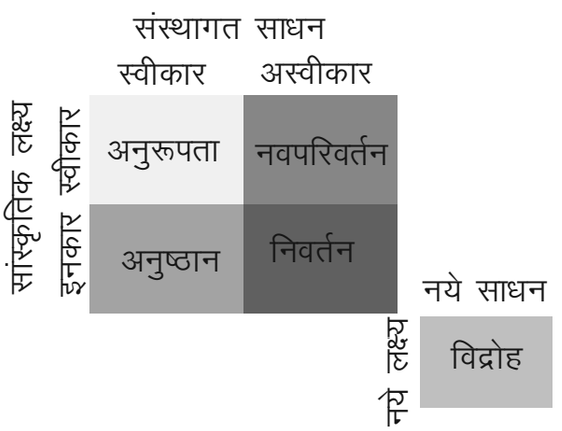


**प्राथमिक विघटन** : समाज में सभी व्यक्ति सदैव एक ही प्रकार से संतुलित होकर कार्य करते रहें ऐसा हमेशा संभव नहीं होता है। समाज के स्वस्थ व्यक्ति भी कई बार इस प्रकार के व्यवहार करने लग जाते हैं जो असामान्य होते हैं। यदाकदा होने वाले विघटनों को प्राथमिक विघटन की श्रेणी में रखा जाता है सामान्य रूप से प्राथमिक विघटन आपराधिक प्रवृत्ति के नहीं होते हैं। यदाकदा मदिरापान कर लेना प्राथमिक विघटन की श्रेणी में ही आता है।

**द्वितीयक विघटन** : इस प्रकार के विघटन को आपराधिक श्रेणी में रखा जाता है क्योंकि व्यक्ति विशेष प्रकार के विघटन करने का आदी हो जाता है। वह इनको करने में कोई बुराई नहीं समझता है। वह अक्सर समाज के स्थापित नियमों को तोड़ता है एवं अपने कार्य को तर्कसंगत रूप से सही सिद्ध करने का प्रयास करता है।

प्राथमिक विघटन ही अधिकतर मामलों में द्वितीयक विघटन की तरफ मनुष्य को अग्रसारित करने में सहायक होते हैं। अतः समाज की संस्थाओं एवं समाजशास्त्रियों का यह दायित्व हो जाता है कि वे समाज के प्राथमिक विघटन पर ध्यान आकर्षित करते हुए उन को रोकने एवं नियंत्रित करने का प्रयास समय रहते करें।

### 4.2.3 भारत में सामाजिक विघटन

सामाजिक विघटन का अर्थ –सामाजिक विघटन वह अवस्था होती है जिसमें समाज की विभिन्न इच्छाओं में परस्पर सामंजस्य समाप्त हो जाता है तथा सामाजिक संगठन

को बनाये रखने वाले सांगठनिक सम्बन्ध या तो शिथिल पड़ जाते हैं या पूरी तरह से नष्ट हो जाते हैं।

टिप्पणी

## परिभाषा

कुछ समाजशास्त्रियों ने सामाजिक विघटन की परिभाषाएं निम्न प्रकार से दी हैं–

फ्रेरिस के मत में, ''सामाजिक विघटन व्यक्तियों के बीच प्रकार्यात्मक सम्बन्धों के उस मात्रा में टूट जाने को कहते हैं जिससे समूह के कार्यों को पूरा करने में बाधा पड़ती है।''

इलियट तथा मैरिट के मतानुसार, ''सामाजिक विघटन वह प्रक्रिया है, जिसके कारण समूह के सदस्यों के बीच पाये जाने वाले सम्बन्ध टूट जाते हैं अथवा नष्ट हो जाते हैं।''

लैण्डिस के अनुसार, ''सामाजिक विघटन अनिवार्य रूप से समाज में नियन्त्रण की व्यवस्था के भंग होने को कहते हैं, जिससे समाज में अव्यवस्था और गड़बड़ी उत्पन्न होती है।"

फेयरचाइल्ड के अनुसार, ''सामाजिक व्यवहार के प्रतिमानों, संस्थाओं तथा नियन्वरणों की स्थापित व्यवस्थाओं की अव्यवस्था और गलत क्रियात्मकता को सामाजिक विघटन कहते हैं।''

## भारत में सामाजिक विघटन के कारण

भारत में सामाजिक विघटन की समस्या को विभिन्न विद्वानों ने भिन्न–भिन्न आधारों पर स्पष्ट किया है। डॉ. राधाकमल मुखर्जी ने औद्योगीकरण के असन्तुलित विकास को सामाजिक विघटन का कारण मानते हुए कहा है कि भारत में औद्योगीकरण हमारे सम्बन्धों के सम्पूर्ण प्रतिमान को बदल रहा है जबकि औद्योगिक जीवन जाति और संयुक्त परिवारों के सम्बन्ध के प्रतिकूल है। जिसके कारण आज असामंजस्य तथा उत्पीड़न समाज–विरोधी मनोवृत्तियों का आधार बन गया है। इससे अभिप्राय है कि औद्योगीकरण ने विवाह, परिवार तथा जाति जैसी सामाजिक संस्थाओं में परिवर्तन करके सांस्कृतिक मूल्यों तथा मनोवृत्तियों को नया आकार देकर, प्रथाओं एवं परम्पराओं के महत्व को कम करके हितवादी संबंधों में वृद्धि करके भारत में सामाजिक विघटन की समस्या उत्पन्न की है।

केवल मोटवानी का मत है कि जनसंख्या का विस्फोटः जनसंख्या का असन्तुलन, सांप्रदायिक, राजनीतिक क्षेत्रीय तथा धार्मिक तनावः आधुनिक वैज्ञानिक विधियां तथा अति औद्योगीकरण, इन सभी के संयुक्त प्रभाव से एक गम्भीर स्थिति उत्पन्न हो गई है। भारत की आत्मा आज पूर्णतया बन्दी है और इसके निकट भविष्य में नष्ट हो जाने का खतरा बना हुआ है।''

डॉ. गोविन्दस्वामी (M.V. Govinda-Swamy) ने भी पाश्चात्य विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी को भारतीय सामाजिक विघटन के मूल कारण के रूप में स्पष्ट किया है।

सामाजिक विघटन उस परिस्थिति का परिचायक है जिसमें विभिन्न इकाइयां अपनी प्रस्थिति एवं कार्यों के अनुकूल अपना कार्य नहीं कर पाती और उनमें परस्पर

सामंजस्य एवं सन्तुलन समान हो जाता है। इस दशा को लाने में अनेक कारण सहयोग देते हैं जिन्हें हम सामाजिक विघटन के कारण कह सकते हैं। इन कारणों को मुख्यतः दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है–

टिप्पणी

## (अ) सामाजिक कारण

सामाजिक विघटन के प्रमुख सामाजिक कारण निम्नलिखित हैं –

**1. सामाजिक संकट** : संकट भी सामाजिक विघटन का पहला प्रमुख कारण बताया जाता है।

थॉमस के अनुसार, ''संकट यह घटना है जो सुचारू रूप से चलने वाली आदतों के पालन में बाधा उपस्थित करती है, सारा ध्यान संघर्ष की स्थिति पर केन्द्रित करती है।''

सामाजिक संकट दो प्रकार के होते हैं–

**(i) आकस्मिक संकट** : आकस्मिक संकट वे संकट होते हैं जो कि अकस्मात ही समाज पर आ जाते है जिनका कोई अनुमान नहीं होता है। व्यक्ति इन संकटों का सामना करने के लिए तैयार नहीं होते। इसलिए समाज में अचानक ही अव्यवस्था बढ़ जाती है।

**(ii) संचयी संकट** : संचयी संकट से अभिप्राय उस संकट से है जो अचानक न होकर धीरे–धीरे आता है। इलियट तथा मेरिल ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि ''एक संचयी संकट वह संकट है जो धीरे–धीरे काफी समय तक घटनाओं के रूप में बढ़ता है।

**2. सामाजिक मनोवृत्तियाँ** : सामाजिक धारणाओं एवं मनोवृत्तियों का बदलता स्वरूप भी सामाजिक विघटन का कारण माना जाता है सामाजिक मनोवृत्तियाँ कार्य करने की प्रवृत्तियाँ होती हैं।

थॉमस और जैनेनिकी के मतानुसार, "सामाजिक मनोवृत्ति वैयक्तिक चेतना की वह प्रक्रिया है, जो समाज में व्यक्ति की वास्तविक और सम्भव क्रियाओं को निश्चित करती है।''

**3. सामाजिक परिवर्तन** : सामाजिक सम्बन्धों में तीव्र परिवर्तन सामाजिक विघटन का तीसरा प्रमुख कारण है। इलियट तथा मैरिल के अनुसार, ''प्रौद्योगिकीय परिवर्तन के फलस्वरूप समाज में परिवर्तन आता है, किन्तु सभी पक्षों की गति समान होने के कारण आपसी सामंजस्य का विघटन हो जाता है।''

**4. सामाजिक संरचना में तीव्र परिवर्तन** : सामाजिक संरचना में परिवर्तन भी सामाजिक विघटन की दशा उत्पन्न कर देता है। संरचनात्मक परिवर्तन के कारण व्यक्ति अपनी प्रस्थितियों के अनुसार अपनी भूमिकाओं को निष्पादित नहीं कर पाते। इलियट तथा मेरिल के अनुसार, ''आज के गतिशील समाज में सामाजिक संरचना में तीव्र परिवर्तन से कई बार प्रस्थिति तथा कार्य स्पष्ट नहीं हो पाते तथा बहुत से व्यक्ति स्वयं को ऐसी दशा में पाते हैं जिसमें समाज द्वारा स्थापित व्यवहार प्रतिमानों का अस्तित्व नहीं रह पाता।

टिप्पणी

**5. सामाजिक मूल्य** : व्यक्तियों के लिए सामाजिक मूल्य उद्देश्य व अर्थपूर्ण आदर्श होते हैं। ये व्यवहार को निर्धारित करने में विशेष महत्त्व रखते हैं।

इलियट और मैरिल के अनुसार, "सामाजिक मूल्य वे सामाजिक वस्तुएं होती हैं जो हमारे लिए कुछ अर्थ रखती हैं और जिन्हें हम जीवन की योजना के लिए महत्वपूर्ण समझते हैं।''

**6. जाति–व्यवस्था तथा अस्पृश्यता** : भारत में जाति–व्यवस्था एक लम्बे समय से सामाजिक विघटन का कारण रही है। जाति व्यवस्था विभिन्न जातीय समूहों के बीच खान–पान, विवाह, सामाजिक सम्बन्धों और व्यवसाय की दूरी पर बल देती है और विभिन्न जातियों को परस्पर विरोधी समूहों में विभाजित करती है। इसके कारण व्यक्ति अपने सम्पूर्ण समाज के लिए उतना जिम्मेदार नहीं रहता जितना कि अपनी जाति के लिए। अस्पृश्यता भी जाति–व्यवस्था की ही उपज है। इसने भारतीय समाज के करोड़ों लोगों को सभी प्रकार के सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक तथा राजनीतिक अधिकारों से वंचित करके समाज के सामने अनेक गम्भीर समस्याएं उत्पन्न की हैं। ये सभी परिस्थितियां घृणा, फूट और शोषण के बीज बोकर भारतीय समाज को विघटित कर रही हैं।

**7. सामाजिक कुरीतियां** : भारत में आज सामाजिक कुरीतियां इतनी अधिक व्यापक हैं कि आज समाज पूरी तरह से असंतुलित है। ऐसी कुरीतियों में दहेज–प्रथा, स्त्रियों का शोषण, बाल–विवाह, धार्मिक कर्मकाण्डों की बहुलता, अन्धविश्वासों का प्रचलन, अन्तर्विवाह, कुलीन विवाह तथा विवाह विच्छेद पर नियन्त्रण आदि हमारी प्रमुख समस्याएँ हैं। इनमें से प्रत्येक समस्या व्यक्तिगत और पारिवारिक जीवन को विघटित करके सामाजिक विघटन में वृद्धि करती है। धार्मिक कर्मकाण्डों तथा अन्धविश्वासों के कारण भी हमारे समाज में ऋणग्रस्तता की समस्या बहुत उग्र रूप धारण कर चुकी है। पति और पत्नी के बीच असामंजस्य और तनाव की स्थिति बाल–विवाह के कारण उत्पन्न होती है। अन्तर्विवाह और कुलीन विवाह ने समाज में व्यक्ति के सम्बन्धों का क्षेत्र इतना सीमित कर दिया है कि एक स्वस्थ राष्ट्रीय जीवन का विकास ही नहीं हो पाता। विधवाओं की निम्न स्थिति तथा विवाह विच्छेद पर सामाजिक नियंत्रण न होने के कारण पुरुषों को स्त्रियों का मनमाना शोषण करने की खुली छूट मिल गई है। जिसके परिणामस्वरूप समाज में वेश्यावृत्ति तथा अनैतिकता में भी वृद्धि होती है। ये सभी परिस्थितियां सामाजिक विघटन का कारण और परिणाम दोनों ही हैं।

**8. परस्पर–विरोधी सामाजिक मनोवृत्तियाँ** : भारत में आज अनेक ऐसे नए मूल्यों का विकास हुआ है जो हमारी संस्कृति से मेल नहीं खाते। जैसे–जैसे समाज के बड़े वर्ग द्वारा अपनी सामाजिक और आर्थिक स्थिति के प्रति सन्तुष्ट न रहना, अन्य साधनों के द्वारा आर्थिक साधन एकत्रित करने को महत्व देना, श्रमिकों द्वारा हड़ताल को ही अपनी सफलता का एकमात्र साधन समझना, अपने व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए सार्वजनिक सम्पत्ति का कुछ व्यक्तियों द्वारा दुरुपयोग करना, युवकों द्वारा सामाजिक व्यवस्था में अधिक से अधिक अधिकारों की मांग करना, आदि कुछ ऐसी मनोवृत्तियां है जो हमारी सामाजिक व्यवस्था को हानि पहुंचा रही हैं।

**9. सांस्कृतिक असन्तुलन** : सामाजिक संगठन के लिए भौतिक और अभौतिक संस्कृति में सन्तुलन बने रहना आवश्यक होता है। भारत में आज अभौतिक संस्कृति

अपने परम्परागत रूप में ही है जबकि भौतिक संस्कृति में बहुत तेजी से परिवर्तन हो रहे हैं। एक ओर जहां हमारा समाज भौतिक उपलब्धियों और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में बहुत आगे बढ़ गया है वही दूसरी ओर तरह–तरह के अन्धविश्वास, सामाजिक कुरीतियाँ, धार्मिक कर्मकाण्ड, छुआछूत की भावना और शकुन–अपशकुन के विचार हमारी सामाजिक प्रगति में बाधा उत्पन्न कर रहे हैं।

टिप्पणी

**10. युद्ध** : युद्ध भी सामाजिक विघटन का एक बहुत बड़ा कारण है। युद्ध के कारण समाज के आर्थिक, सामाजिक व राजनीतिक क्षेत्रों में तीव्र गति से परिवर्तन होने लगता है, वस्तुओं की कीमतें बढ़ जाती हैं और लोगों के रहन–सहन का स्तर गिर जाता है।

### (ख) आर्थिक कारण

सामाजिक विघटन के कुछ आर्थिक कारण भी है जिनमें से प्रमुख निम्न प्रकार से हैं –

1. **गतिशीलता** : आधुनिक युग में यातायात के साधनों के विकास एवं औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप व्यक्ति को अपने घर से बाहर रहकर जीविकोपार्जन करना पड़ता है। इसके कारण व्यक्ति परिवार से अधिक समय के लिए बाहर रहता है, जिससे उसमें अलगाव की प्रवृत्तियां बढ़ जाती हैं और सामाजिक विघटन होने लगता है।
2. **औद्योगीकरण तथा नगरीकरण** : औद्योगीकरण तथा नगरीकरण जहां पर एक तरफ आर्थिक विकास एवं समृद्धि में सहायक हैं, वहीं पर इन्हें सामाजिक विघटन के लिए भी उत्तरदायी बताया गया है।
3. **श्रम समस्यायें** : आधुनिक समाज में श्रम समस्यायें भी सामाजिक विघटन का कारण कही जा सकती हैं। श्रमिक क्षेत्रों में अशान्ति, सामाजिक सुरक्षा का अभाव, श्रमिक आवास समस्या, वर्ग संघर्ष आदि अनेक समस्यायें उत्पन्न कर देते हैं।
4. **व्यापार** : व्यापार में गिरावट भी सामाजिक विघटन को बढ़ावा देता है। व्यापार में गिरावट से आर्थिक चक्र में अनिश्चितता आ जाती है और तीव्र गति से उतार–चढ़ाव आने लगते हैं।
5. **बेरोजगारी** : बेरोजगारी आधुनिक युग में सामाजिक विघटन का महत्वपूर्ण कारण कही जा सकती है। आज भारत ही नहीं, वरन् सभी अविकसित एवं कुछ विकसित देशों में बेरोजगारी की समस्या बढ़ती जा रही है।

### युद्ध

बतौर एक सामाजिक विघटन की प्रक्रिया, युद्ध को सामाजिक अव्यवस्था का परिणाम और कारण, दोनों, माना जा सकता है। सामाजिक अव्यवस्था के कारण के रूप में, युद्ध से समाज में अनेक सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। सबसे प्रत्यक्ष प्रभाव आर्थिक समस्याओं का देखा जा सकता है देश की आर्थिक स्थिरता पूरी तरह बिगड़ जाती है, जिसका प्रभाव चीजों की कीमतों पर पड़ता है, संसाधनों में कमी आ जाती है, मुद्रा का अवमूल्यन देखने को मिलता है, बढ़ी कीमतों के कारण लोग सामान का संग्रह करने लगते

टिप्पणी

हैं और काला बाजारी अलग शुरू हो जाती है। लोगों की नौकरियाँ चली जाती हैं और जीवनशैली भी प्रभावित होती है। इसके अलावा, युद्ध के कारण जनता के दैनिक जीवन में उलझन और विकार उत्पन्न होता है जिससे सामाजिक अव्यवस्था फैलती है। युद्ध के कारण हजारों लोगों को अपनी जान गंवानी पड़ती है जिससे परिवार टूट जाते हैं, लोगों के आपसी संबंध कमजोर हो जाते हैं और लिंग अनुपात भी विषम हो जाता है। समाज में पहले से स्थापित मूल्यों, भावनाओं और मानदंडों पर भी युद्ध का बुरा असर पड़ता है।

देशों के बीच युद्ध के कई कारण हो सकते हैं – किसी देश की साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षाएं, संसाधनों पर आर्थिक लड़ाई या राष्ट्र में लोगों की आक्रामक प्रकृति।

## युद्ध का अर्थ एवं परिभाषा

जब दो या दो से अधिक राज्यों के मध्य सैनिक बल के प्रयोग द्वारा की गई प्रतिस्पर्धा जिसमें प्रत्येक लड़ने वाले राज्य का चरम उद्देश्य दूसरे को जीतना तथा अपनी ही शांति की शर्तों को आरोपित करना, युद्ध के अंतर्गत आता है अतः यह कहा जा सकता है कि जब राज्य झगड़ों को वार्ता आदि ढंग से निबटाने में असफल हो जाते हैं तो ऐसी स्थिति में वे युद्ध का सहारा लेते है। यह अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को खत्म करने का अंतिम साधन है। राज्य युद्ध का सहारा लेकर एक दूसरे के ऊपर अपनी मर्जी को डालने की इच्छा रखते हैं।

हाल के अनुसार जब राज्यों के बीच मतभेद इस सीमा तक पहुंच जाते हैं कि दोनों पक्ष शांति का प्रयोग करते हैं या उनमें से एक हिंसा का प्रयोग करता है जिसको दूसरा पक्ष शांति का उल्लघंन मानता है तो युद्ध का संबंध स्थापित हो जाता है जिसमें युद्ध रत देश के सैनिक एक–दूसरे पर तब तक नियंत्रित हिंसा का प्रयोग करते है जब तक दोनों में से एक शत्रु की इच्छित शर्तों को नहीं मानता है।

स्टार्क के अनुसार – "युद्ध सामान्यतः मुख्य रूप से दो या दो से अधिक राज्यों के सशस्त्र सैनिकों के बीच होता है और प्रत्येक युद्धरत देश का उद्देश्य होता है कि एक दूसरे को हरा दे या उससे शांति के लिए अपनी शर्तों को मनवाये।"

प्रोफेसर वेस्टलेक के अनुसार– ''युद्ध सरकारों की वह दशा अथवा स्थिति है जब वे बल पूर्वक परस्पर लड़ते हैं।''

लौरेस के अनुसार – ''शत्रुता में लगे रहने की दशा को युद्धकारिता अथवा युद्ध संलग्नता कहते हैं तथा लड़ाई के मध्य में जो एक के बाद दूसरे शत्रुता पूर्ण कार्य होते हैं, उनको युद्ध कहते हैं।''

डॉ. नगेन्द्र के अनुसार – ''युद्ध का उद्देश्य शत्रु राज्य का पूर्ण विनाश नहीं है वरन् उसे सशस्त्र शक्ति द्वारा परास्त करना तथा अपनी शर्तों को मनवाना है।''

रुसो के विचार में– ''युद्ध दो राज्यों के बीच में बल प्रयोग द्वारा किया गया संघर्ष है।''

ओपन हाइम के अनुसार युद्ध राज्य के सैनिक बलों की सहायता से या उनके द्वारा दो या दो से अधिक राज्यों के बीच संघर्ष करना है और एक–दूसरे को पराजित करने की कोशिश करना है तथा विजयी राज्य द्वारा शांति की शर्तों को थोपना है। इनके अनुसार युद्ध का मुख्य उद्देश्य विपक्षी को पूर्णतया अपनी शर्तों को मनवाना होता

टिप्पणी

है। युद्ध की धारणा में परिवर्तन तथा संशोधन की आवश्यकता प्राचीन समय से है। ऐसा माना जा रहा है कि युद्ध दो या दो से अधिक देशों के बीच सशस्त्र शक्ति द्वारा हिंसक संघर्ष है। विभिन्न विद्वानों द्वारा दी गई युद्ध की परिभाषाओं से भी यही स्पष्ट होता है। परन्तु वर्तमान समय में युद्ध के अंतर्गत यह देखा गया है कि यह सिर्फ देशों की फौजों के बीच नहीं होता बल्कि इसमे उन देशों के युद्धरत नागरिक भी प्रभावित रहते है। इसका सबसे स्पष्ट उदाहरण द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान नागासाकी और हिरोशिमा पर अणुबम का गिराया जाना है, जिससे उस देश के नागरिकों को भी युद्ध के उत्पीड़न को झेलना पड़ा। इसमें न केवल फौजी बल्कि लाखों व्यक्ति हताहत हुए। स्टार्क के अनुसार, युद्ध की पुरानी मान्यताओं में अनेक परिवर्तन आ गए हैं। प्राचीन समय में युद्ध के प्रारम्भ की घोषणा की जाती थी, परन्तु वर्तमान समय में बहुत से युद्ध हुए है जिनमें न तो युद्ध की घोषणा हुई और न ही युद्ध के नियमों का पालन हुआ। उदाहरण के लिए 1950 से 1953 तक कोरिया का संघर्ष, 1947–1954 में इन्डो चाइना की लड़ाई तथा 1956 में स्वेज नहर क्षेत्र में संघर्ष और पाकिस्तान का कारगिल में हमला। स्टार्क के इस प्रकार के युद्धों को गैर युद्ध संघर्ष कहा गया है।

## युद्ध की घोषणा

ग्रोशियस के अनुसार युद्ध के प्रारम्भ के लिए युद्ध की घोषणा आवश्यक है। 16 वीं शताब्दी में युद्ध के प्रारम्भ होने की सूचना युद्धरत देशों के बीच पत्र द्वारा दी जाती थी परन्तु 18 वीं शताब्दी से सूचना देने की प्रथा लगभग समाप्त हो चुकी थी और यह देखा गया कि कई युद्धों में इस नियम का अनुसरण नहीं किया गया। 19 वीं शताब्दी के अंत तक युद्ध के प्रारम्भ में घोषणा या अन्तिम घोषणा देना आवश्यक माना जाने लगा। अतः 1907 में हेग सम्मेलन में यह नियम पारित किया गया कि युद्ध के पूर्व घोषणा या अंतिम घोषणा प्रसारित करना आवश्यक है। इस अभिसमय के अनुच्छेद 1 प्रावधान में यह कहा गया है कि ''संविदाकारी राज्य मान्यता देते हैं कि उनके बीच युद्ध बिना पूर्व सूचना तथा पूर्व चेतावनी के बिना प्रारम्भ नहीं किया जाना चाहिए। इस प्रकार की चेतावनी या तो कारण देते हुए युद्ध की घोषणा या युद्ध की शर्तों की घोषणा के रूप में होनी चाहिए।''

प्रथम विश्व युद्ध के समय हेग अभिसमय के उपयुक्त प्रावधान का सम्मान किया गया था। जिसके निम्न लिखित उदाहरण हैं।

1. आस्ट्रिया तथा हंगरी ने नियमानुसार 28 जुलाई 1914 को सर्बिया में युद्ध की घोषणा की थी।
2. जर्मनी ने 2 अगस्त 1914 में फ्रांस में तथा संयुक्त राज्य ने 6 अप्रैल 1917 को केन्द्रीय राज्यों में युद्ध की घोषणा की थी।

   परन्तु द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान बिना घोषणा के युद्ध करने की प्रथा काफी व्यापक हो गई और दो विश्व युद्धों के बीच घोषणा की प्रथा नहीं अपनाई गयी। उदाहरणार्थ जर्मनी ने 1939 में पौलैण्ड तथा फिनलैण्ड पर, 1940 में डेनमार्क तथा नार्वे पर और 1941 में सोवियत संघ पर बिना किसी पूर्व घोषणा या चेतावनी के युद्ध प्रारम्भ किया था। ओपेन हाईम ने युद्ध की पूर्व घोषणा या अंतिम चेतावनी दिए बगैर प्रारम्भ करने की स्थिति को अन्तर्राष्ट्रीय उपचार कहा है। वास्तव में वर्तमान में भी यह वैध नियम है कि युद्ध के प्रारम्भ के लिए घोषणा तथा अंतिम चेतावनी आवश्यक

टिप्पणी

है, परन्तु कई कारणों से राज्य युद्ध के प्रारम्भ की घोषणा नहीं करते, जो निम्नलिखित हैं–

1. राज्य अचानक आक्रमण का लाभ लेना चाहते हैं।
2. ऐसा करके राज्य संयुक्त राष्ट्र चार्टर में उपबंधित सामूहिक कार्यवाही से बचना चाहते हैं।
3. युद्ध की घोषणा न करके राज्य युद्ध अपराध परीक्षणों से बचना चाहते हैं।

## युद्ध के प्रकार

अन्तर्राष्ट्रीय विधि के प्राचीन लेखकों द्वारा युद्ध को कई प्रकारों में विभाजित किया है जैसे कि लोक युद्ध, सम्मिलित युद्ध, पूर्ण युद्ध, न्यायोचित या न्याय प्रतिकूल युद्ध तथा औपचारिक तथा अनौपचारिक युद्ध।

1. **लोक युद्ध** – जब एक राज्य द्वारा दूसरे राज्य के लिए बल का प्रयोग किया जाता है तो उसे लोक युद्ध कहते है। आज के समय में ज्यादातर युद्ध एक तरह के लोक युद्ध होते है और राज्य की संलग्नता के कारण विद्रोह की स्थिति में भी लोक युद्ध विद्यमान होते है।
2. **सम्मिलित युद्ध** – जनता द्वारा राज्य के भीतर किये जाने वाले विद्रोह को सम्मिलित युद्ध कहा जाता है। ग्रोशस के अनुसार – एक ही समाज के विभिन्न सदस्यों द्वारा किये जाने वाले गृह युद्ध को सम्मिलित युद्ध कहते हैं। ओपेन हाईम के अनुसार – एक गृह युद्ध उस समय अस्तित्व में होता है जब दो पक्षकार राज्य प्रभुत्व में आने के लिए एक दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी के रूप में एक ही राज्य में रहकर शस्त्रों का सहारा लेते हैं।
3. **न्यायोचित युद्ध या न्याय प्रतिकूल युद्ध** – युद्ध के लिए जब भी न्यायोचित कारण हाजिर रहते है, तो उसे न्यायोचित युद्ध कहा जाता है। उदाहरणार्थ किसी क्षेत्र की क्षेत्रीय एकता और राजनीतिक स्वतंत्रता के लिए लड़ा जाने वाला युद्ध न्यायोचित युद्ध कहलाता है। इसके विपरीत जो युद्ध न्याय विरुद्ध आधारों पर लड़ा जाता है उसे न्याय प्रतिकूल युद्ध कहा जाता है। उदाहरण के लिए पड़ोसी राज्य की सीमा में घुसकर अपनी साम्राज्यवादी लिप्सा की पूर्ति के लिए लड़ा जाने वाला युद्ध न्याय प्रतिकूल युद्ध कहा जाएगा। कारगिल का युद्ध इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है।
4. **औपचारिक या अनौपचारिक युद्ध** – जब युद्ध की घोषणा किसी राज्य द्वारा जरूरी या सभी औपचारिकताओं की पूर्ति के साथ की जाती है तो उसे औपचारिक युद्ध कहा जाता है। दूसरी ओर जब कोई राज्य दूसरे राज्य पर बिना घोषणा के सशस्त्र आक्रमण कर देता है तो उस युद्ध को अनौपचारिक युद्ध कहा जा सकता है।
5. **पूर्ण युद्ध** – जब कोई युद्ध पूरे नीति नियमों के आधार पर लड़ा जाता है और उसमें वे नैतिक विचार जो अभिसमयों पर आधारित हैं की भी पूर्ति की जाती है तो उसे पूर्ण युद्ध माना जाता है। वर्तमान युग के युद्धों ने पूर्ण युद्ध का रूप धारण कर लिया है।

टिप्पणी

**युद्ध का विनियमन**– 20वीं शताब्दी का सबसे महत्वपूर्ण विकास युद्ध का विधिक विनियमन ही है। 1919 तक राज्य की प्रभुत्व संपन्नता के अंदर युद्ध करना होता था फिर शांति स्थापित करना आता था और राज्य अन्तर्राष्ट्रीय विधि के नियंत्रण से दूर था। परन्तु राज्य का युद्ध करने का निर्णय अन्तर्राष्ट्रीय विधि से परे होने के बाबजूद इसके अंतर्गत कई संधियां बनाई गयीं जो राज्य को युद्ध के नियमों से अवगत कराती हैं। उदाहरण के लिए हेग अभिसमय 1899 और 1907। अतः राज्यों को इन संधियों में वर्णित नियमों के आधार पर ही युद्ध करना होता था।

वर्तमान में युद्ध की नीति को समाप्त करने के प्रयास किये गए हैं जिसे न्यायोचित विधिक या न्यायसंगत कहा जाता है। वर्तमान समय में बल का प्रयोग विवाद के निबटारे के लिए उचित नहीं समझा जाता बल्कि इसकी निंदा होती है। हालांकि युद्ध करने वाला राज्य अपने द्वारा लिए गए निर्णय को सही बताने के लिए यह प्रमाणित करने की कोशिश करता है कि उसके साथ अन्याय किया गया है जिसके कारण उसे युद्ध का आश्रय लेना पड़ा।

युद्ध तथा राष्ट्र संघ की संविदा के अंतर्गत युद्ध को लेकर महत्वपूर्ण विनियमों का प्रावधान किया गया जिससे राष्ट्र संघ के सदस्य राज्यों द्वारा युद्ध करने पर रोक लगाई गई। इस प्रावधान के द्वारा यह स्पष्ट किया गया कि सदस्य राज्य अपने मध्य विवादों को निबटाने कि लिए युद्ध का सहारा नहीं लेंगे बल्कि अपनी समस्याओं को संघ को या मध्यस्थ को या न्यायिक फैसले को या जांच के लिए परिषद् को सौंपेंगे। परिषद तीन महीने में अपनी रिपोर्ट देगा और इस तीन महीने के समय में शांति अवधि का प्रावधान दिया गया। यह प्रावधान इसलिए किया गया ताकि अचानक होने वाले युद्ध को रोका जा सके और यदि कोई सदस्य राज्य इन प्रावधानों को नहीं मानेगा तो यह अन्तर्राष्ट्रीय विधि, रूढ़िगत परंपराओं तथा सकारात्मकता का उल्लघंन होगा और इसे संघ के सभी सदस्यों के विरुद्ध किया गया युद्ध माना जाएगा और साथ ही ऐसे राष्ट्र को राष्ट्र संघ के सभी सदस्यों का शत्रु माना जाएगा। लेकिन ये अंकुश केवल राष्ट्र संघ के सदस्यों तक ही सीमित हैं।

## युद्ध के प्रभाव

युद्ध के प्रभावों को 6 भागों में बांटा जा सकता है।

1. सामान्य प्रभाव
2. राजनयिक तथा वाणिज्य दूत संबंध
3. वाणिज्य सह संपर्क
4. संधियां
5. संविदा
6. शत्रु संपत्ति

1. **सामान्य प्रभाव** – युद्ध के प्रारम्भ होने पर युद्ध रत देश ही प्रभावित नहीं होते बल्कि सेनाओं के साथ साथ उस देश की जनता भी युद्ध उपरान्त प्रभावित होती है। वहां का सामान्य जन जीवन अस्त व्यस्त हो जाता है। देश के नागरिकों की

टिप्पणी

सुरक्षा के लिए सरकार बहुत सारे प्रयत्न करती है, नागरिकों को अपने देश से दूसरी जगह पलायन भी करना पड़ता है।

2. **राजनयिक तथा वाणिज्यिक दूत संबंध** – युद्ध का प्रारम्भ होते ही युद्धरत देश अपने राजनायिक अधिकारियों को राजनायिक संबंध टूटने के कारण वापस बुला लेते हैं। बल्कि अमूमन ऐसा होता है कि युद्ध के प्रारम्भ होने के साथ ही युद्धरत देश एक दूसरे के राजदूतों को जो उनके देश में अधिकृत होते है उनको पासपोर्ट दे देते है। जिसका वास्तविक अर्थ होता है कि वे अपने देश वापस लौट जाएं। लेकिन राजनायिक अभिकर्ता अपनी वापसी यात्रा के समय राजनायिक उनमुक्तियों के हकदार बने रहते है। राजनायिक संबंधों के वियना अभिसमय, 1961 के अनुसार गृह राज्य राजनयिक अभिकर्ता को उसके देश छोड़ने के सारे प्रबंध करता है और उसे प्रेषक राज्य में सुरक्षित वापस पहुंचाता है। यदि प्रलेखागार को छोड़ दिया जाता है, तो उसे मुद्रांकित करके रख दिया जाता है।

3. **वाणिज्य सह संपर्क** – युद्ध छिड़ने के पश्चात दोनों राज्यों के बीच प्रतिबंधों के साथ ज्यादातर वैध संबंध स्थगित कर दिए जाते हैं या फिर समाप्त कर दिए जाते है। इस तरह के प्रतिबन्ध लगाने के परिणामस्वरूप शत्रु प्रजाजनों के मध्य सभी व्यापारिक सम्पर्क खत्म हो जाते हैं। 1914 और 1939, दोनों विश्वयुद्धों के मध्य ग्रेट ब्रिटेन ने अधिनियम जारी किये जिसके अनुसार शत्रु के व्यापार सम्बन्धी लेन–देन को युद्ध के बीच निषिद्ध किया गया। यह नियम इस दृष्टि से पारित हुए ताकि शत्रु देश में रहने वाले व्यापारिक वर्ग की आर्थिक स्थिति में सुधार न हो।

4. **सन्धियां** – पुराने समय से लेकर वर्तमान समय तक युद्ध प्रारम्भ होने पर युद्धरत देशों के मध्य सन्धियों के निराकरण में अनेकों परिवर्तन आ गए हैं। पुराने समय में सभी सन्धियां युद्धरत देशों के बीच समाप्त हो जाती थी। परन्तु वर्तमान समय में युद्ध प्रारम्भ होने पर सभी सन्धियां समाप्त नहीं होती। कुछ सन्धियां समाप्त हो जाती हैं, कुछ लागू रहती हैं। उदाहरण के लिए जो सन्धियां स्थायी अधिकारों को उत्पन्न करती है, वे सन्धियां समाप्त नहीं होती। सीमा सन्धियां भी युद्ध के प्रारम्भ होने पर समाप्त नहीं होती और इसी प्रकार अध्यर्पण की सन्धियां भी समाप्त नहीं होती। परन्तु युद्धरत देशों के मध्य वे सन्धियां जिनके लिए सामान्य राजनीतिक कार्य या अच्छे सम्बन्धों का बने रहना आवश्यक है वे युद्ध के प्रारम्भ होने से समाप्त हो जाती हैं। प्रशासनिक व वाणिज्य सन्धियां कुछ ऐसी सन्धियां हैं जो युद्ध के समय समाप्त नहीं होती और न ही लागू रहती हैं परन्तु युद्धकाल के दौरान निलम्बित हो जाती हैं और युद्ध समाप्ति के बाद पुनः लागू हो जाती हैं।

5. **संविदा** – व्यक्तियों की संविदा में युद्ध का प्रभाव युद्धरत देशों में अन्तर्राष्ट्रीय विधि का विषय नहीं है बल्कि यह राज्य विधि का विषय है चूंकि यह राज्य का विषय है अतः युद्धरत राष्ट्र संविदा के विषय बनाने तथा उन्हें लागू करने के लिए स्वतन्त्र हैं। जो संविदाएं पूर्ण हो चुकी होती हैं उन पर युद्ध का प्रभाव नहीं पड़ता, परन्तु जिनको पूरा होना है वे संविदाएं अवैध करार कर दी जाती हैं। अतः उपर स्पष्ट किये गए नियमों के आधार पर संविदाओं को दो वर्गो में विभाजित किया जा सकता है– 1. निष्पाद्य संविदा 2. निष्पादित संविदा।

टिप्पणी

6. **शत्रु सम्पत्ति** – युद्धरत देशों के नागरिक जो शत्रु देशों के राज्य क्षेत्र के अन्दर रहते हैं युद्ध के प्रारम्भ होने से वे भी प्रभावित होते हैं। युद्धरत देश शत्रु देश के नागरिकों पर युद्ध प्रारम्भ होने के साथ ही नियन्त्रण अर्जित कर लेते हैं ताकि वे शत्रु को युद्ध के दौरान कोई सहायता या लाभ न दे सकें। शत्रु देश के नागरिकों पर उनके कार्यो के हिसाब से प्रभाव होता है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि का यह नियम है कि उन नागरिकों की वापसी होनी चाहिए जो उसकी सुरक्षा बल का वास्तविक सदस्य नहीं है। परन्तु उन्हें कुछ शर्तो के तहत शत्रु देश के राज्य क्षेत्र में रहने दिया जा सकता है– जैसे कि शत्रुतापूर्ण कार्यों से अलग रहने की शपथ या निश्चित क्षेत्र को न छोड़ने का वचन।

इसी प्रकार शत्रु सम्पत्ति भी प्रभावित होती है। शत्रु सम्पत्ति दो प्रकार की हो सकती है।

1. सार्वजनिक शत्रु सम्पत्ति
2. निजी शत्रु सम्पत्ति

1. **सार्वजनिक शत्रु सम्पत्ति** – शत्रु देश की सभी चलायमान शत्रु सम्पत्ति को युद्ध प्रारम्भ होने पर जब्त किया जा सकता है परन्तु अचल सम्पत्ति के विषय में नियम कुछ अलग हैं। अचल सम्पत्ति को जब्त नहीं किया जा सकता है। उसे केवल अस्थायी रूप से लिया जा सकता है। अचल सम्पत्ति का विक्रय करना सम्भव नहीं है युद्ध के समय उसका प्रयोग किया जा सकता है और युद्ध खत्म होने पर ही यह निर्णय लिया जा सकता है कि ऐसी सम्पत्ति का क्या किया जाए।
2. **निजी शत्रु सम्पत्ति** – युद्धरत देश अपने प्रदेश में शत्रु देश की व्यक्तिगत सम्पत्ति को केवल स्थायी रूप से ले सकते हैं और युद्ध की समाप्ति के बाद शान्ति सन्धि के द्वारा यह निश्चय किया जाता है कि उसका क्या होगा। लेकिन जिस निजी शत्रु सम्पत्ति पर युद्धरत देश आधिपत्य प्राप्त कर लेता है उसे केवल सैनिक कार्यों के लिए प्रयोग किया जा सकता है। ऐसे लेना या लूटना अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विरुद्ध है। उदाहरण के लिए, 1971 में भारत–पाकिस्तान युद्ध के उपरान्त भारत ने पाकिस्तान के कई क्षेत्रों पर अपना आधिपत्य कर लिया था, इस आधिपत्य से भारत को केवल अपने सैनिक कार्यो के लिए अधिकार प्राप्त था, उस स्थान को लेने या विक्रय करने का नहीं।

अतः यह कहा जा सकता है कि युद्ध प्रारम्भ होने पर उसके प्रभाव विभिन्न क्षेत्रों में अलग–अलग होते है कुछ प्रभाव सिर्फ युद्धकाल तक ही सीमित रहते है कुछ प्रभाव युद्ध के उपरान्त भी असर डालते हैं।

## 'पूर्ण–युद्ध' की धारणा

युद्ध की परिभाषा के अनुसार युद्ध रत राष्ट्रों के सशस्त्र सैनिकों के मध्य संघर्ष युद्ध होता है तथा इसका उद्देश्य शत्रु को परास्त करना है। वर्तमान समय में विनाशकारी शस्त्रों के परिणामस्वरूप यह धारणा अनुपयुक्त सिद्ध हुई क्योंकि वर्तमान समय में सशस्त्र सैनिकों के अलावा–नागरिक भी युद्ध से प्रभावित होते हैं और युद्ध के नियमों का पालन असम्भव हो जाता है। अतः ऐसे युद्ध को 'पूर्ण युद्ध' कहा गया है।

टिप्पणी

### युद्धरत राज्यों में गैर–शत्रुतापूर्ण सम्बन्ध

वैसे तो यह मान्य है कि युद्ध प्रारम्भ होने के साथ ही युद्धरत राज्यों में गैर–शत्रुतापूर्ण सम्बन्ध समाप्त हो जाते हैं लेकिन परिस्थितियों की आवश्यकता, मानवीय आधार तथा अन्य कारणों से ये सम्बन्ध कायम रह सकते हैं। ऐसे शत्रुता रहित सम्बन्धों के उदाहरण युद्ध–बन्दियों को छोड़ने, वैयक्तिक प्रयोग की सभी सामग्रियों को लौटाने, पत्रों, जवाहरात आदि के प्रत्यर्पण हैं।

#### अपनी प्रगति जांचिए

1. "समाजशास्त्र मनुष्य का उसके सामाजिक संबंधों के संदर्भ में अध्ययन करता है– वे संबंध जो विभिन्न प्रकार के संपर्कों को प्रभावित करते हैं और स्वयं भी उससे प्रभावित होते हैं। साथ ही यह उन संपर्कों से उत्पन्न विभिन्न प्रक्रियाओं का भी अध्ययन है।"– यह कथन किस विद्वान का है?

   (क) राब एवं सेल्जनिक (ख) गिलिन तथा ब्लेकमर

   (ग) होर्टन एवं लेस्ले (घ) मर्टन एवं निस्वेत

2. समाजशास्त्रियों ने कितने प्रकार की प्रमुख असहयोगात्मक सामाजिक प्रक्रियाओं का उल्लेख किया है?

   (क) एक (ख) दो

   (ग) तीन (घ) चार

## 4.3 सामाजिक विचलन एवं अपराध की अवधारणा

सामाजिक विचलन एवं अपराध की अवधारणा का क्रमवार अध्ययन इस प्रकार से किया जा सकता है।

### 4.3.1 सामाजिक विचलन

समाज में अनेक नियम, आचार, मान्यताएं, परंपराएं एवं विचार स्थापित होते हैं। जब कोई व्यक्ति इनके विरुद्ध आचरण एवं व्यवहार का प्रदर्शन करते हैं तो यह घटना सामाजिक विचलन कहलाती है। सामान्य स्थितियों में समाज के अधिकतर व्यक्ति इन सभी मानकों एवं मापदंडों को अपने आचरण एवं व्यवहार में लाकर, समाज में एक समुचित संतुलन की स्थिति बनाकर रखने का प्रयास करते ही हैं तथा समाज से अपराध के रूप के विचलन कम करने का प्रयास किया जाता है।

विचलन का साधारण अर्थ इसी रूप में समझा जा सकता है कि हमारे सभ्य समाज में मनुष्य समुचित वस्त्र धारण करें एवं अपने शरीर को ढंक कर रखें। यहां पर यह आवश्यक नहीं है कि वस्त्र कीमती है या आकर्षक। वस्त्र धारण करने का मूल कारण मनुष्य की ''निर्वस्त्रीकरण'' की स्थिति को समाप्त करना ही है। हमारे समाज में इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर प्रायः सभी सामाजिक व्यक्ति वस्त्र धारण करते ही हैं (सन्यासियों एवं कुछ धर्म विशेष के लोगों के अतिरिक्त)। परंतु यदि कोई व्यक्ति

हमारे समाज में निर्वस्त्र होकर घूमने लगे और वह भी सरेआम! इस स्थिति में सामान्य रूप से स्थापित मापदंडों एवं सामाजिक नियमावली का उल्लंघन होता है। ऐसा नहीं है कि वह व्यक्ति ''निर्वस्त्र'' घूमकर किसी को हानि पहुंचा रहा है परंतु सभ्य समाज इस स्थिति को हेय दृष्टि से देखता है एवं उस व्यक्ति को वस्त्र उपलब्ध कराने का प्रयास भी करता है क्योंकि यह उस व्यक्ति का एवं पूरे समाज के लिए अपमानजनक स्थिति मानी जाती है। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति अपने परिवार का पालन–पोषण नहीं करता है तो उसे भी सामाजिक विचलन की स्थिति में रखा जाता है।

टिप्पणी

हारवर्ड बेकर के अनुसार– ''समाज के स्वीकृत नियमों का उल्लंघन ही विचलन कहलाता है।'' अर्थात् अर्थ स्पष्ट हो जाता है कि यदि कोई सामाजिक व्यक्ति समाज की स्थापित नियमावली के विरुद्ध आचरण करता है एवं नियमों का उल्लंघन करता है तो इसे सामाजिक विचलन कहते हैं।

रॉबर्ट मर्टन, विचलन की व्याख्या करते हुए, सामाजिक अपराधों को भी इसमें सम्मिलित करते हुए स्पष्ट करते हैं– ''सामाजिक विचलन वह सामाजिक स्थिति होती है जिसमें व्यक्ति समाज के द्वारा स्वीकृत किए गए उद्देश्यों को स्वीकार करता तो है परंतु इस प्रक्रिया में सामाजिक संस्थाओं की सहायता नहीं लेता है। इस प्रकार के विचलन के अंतर्गत अपराध एवं बाल–अपराध भी आते हैं।"

मर्टन की परिभाषा से विचलन का कार्यक्षेत्र और भी अधिक विस्तृत एवं वृहद हो जाता है क्योंकि इसमें अपराधों को भी सम्मिलित कर लिया गया है। मर्टन ने एनॉमी (anomie) अर्थात् प्रतिमानहीनता को भी विचलन का एक भाग माना है। सामान्य रूप से निम्नलिखित को विचलन में सम्मिलित किया जाता है–

- बाल–अपराध,
- व्यसन (नशा),
- अपराध,
- वेश्यावृत्ति,
- जुआ तथा
- मद्यपान इत्यादि।

मर्टन ने प्रतिमानहीनता (एनॉमी) को विचलन में सम्मिलित करते हुए इसे ब्लैंक चेक (Blank Cheque) का नाम दिया है।

एलेक्स इंकेल्स ने, विचलन को अपराध की श्रेणी से मुक्त रखा है एवं कहा है कि विचलन अनिवार्य रूप से कोई आपराधिक कृत्य नहीं हो सकता है। यदि कोई व्यक्ति समाज के प्रचलित एवं स्थापित मान्यताओं को मानने से इंकार कर देता है तो इसे विचलन नहीं कहा जाना चाहिए।

इंकेल्स के अनुसार– ''सामाजिक विचलन की स्थिति उस समय प्रकट होती है जब कोई व्यक्ति समाज के उन नियमों एवं मानदंडों का उल्लंघन करता हो जिन मानदंडों, मूल्यों एवं नियमों को समाज बहुत अधिक गंभीरतापूर्वक लेता हो।"

''विचलन, व्यवहार आधारित मूल्यों या प्रमुख मूल्यों का मात्र उल्लंघन नहीं होता वरन् इन मूल्यों के प्रतिवाद (Antithesis) को विचलन कहते हैं।'' इस प्रकार से इंकेल्स

टिप्पणी

ने सत्यापित किया है कि समाज के सामान्य नियमों एवं मापदंडों का उल्लंघन करना विचलन नहीं होता वरन् समाज के गंभीर एवं अधिक महत्व के नियमों एवं मापदंडों का उल्लंघन करना विचलन है। इसे हम ''वस्त्रहीनता'' के उदाहरण से स्पष्ट तौर पर समझ सकते हैं। यदि कोई व्यक्ति ''निर्वस्त्र'' होकर घूमना चाहता है तो यह विचलन नहीं कहलाएगा और न ही यह कोई अपराध है। क्योंकि वह व्यक्ति किसी को कोई शारीरिक या मानसिक कष्ट नहीं पहुंचा रहा है। परंतु यदि वह व्यक्ति 'नग्न' होकर अश्लील हरकतें करने लगे या महिलाओं के साथ दुर्व्यवहार करने लग जाए तो यह स्थिति गंभीर प्रकार की होगी और समाज इसे किसी भी हालत में स्वीकार नहीं करेगा। यही स्थिति विचलन की है। इस विचलन की स्थिति में अपराध भी सम्मिलित हो जाता है।

हेरालाम्बॉस के शब्दों में, ''विचलन का संबंध उन प्रक्रियाओं एवं गतिविधियों के साथ होता है जो किसी समाज विशेष के सदस्यों के मानदंडों और प्रत्याशाओं को स्वीकार नहीं करती है।''

हेरालाम्बॉस ने कहा है कि ''विचलन विभिन्न प्रकार की गतिविधियां होती हैं जिनको कि हमारा समाज अवैध मानता है।'' इन्होंने विचलन को एक सामाजिक समस्या के रूप में रखा है। वे मानते हैं कि विचलन एक सामाजिक समस्या है। 'विचलन' सामाजिक समस्या इस कारण से है कि इसके द्वारा समाज के सामान्य कार्यों में व्यवधान एवं रुकावट उत्पन्न होती है। इस आधार पर विचलन को समस्या के रूप में चिन्हित करते हुए इसका समुचित समाधान तलाश करना भी अनिवार्य हो जाता है।'' इस आधार पर विचलन ''अपराधशास्त्र'' का एक पृथक विषय बन जाता है। विचलन एक समस्या के रूप में स्थापित हो जाने के पश्चात यह समाजशास्त्र के साथ–ही–साथ अपराधशास्त्र का भी विषय बन जाता है।

## विचलन के प्रकार

विचलन को इस आधार पर वर्गीकृत किया जाता है कि वह विचलन अपराध की श्रेणी में आता है अथवा नहीं। अनेक विचलन, अपराध नहीं होते जैसे 'मद्यपान' अपराध नहीं है और न विचलन है। परंतु यदि कोई व्यक्ति मदिरापान करके हंगामा करता है या अकारण किसी के साथ गालीगलौच या मारपीट करता है तो यह विचलन भी है और अपराध भी है। अतः समस्या पर समग्रता में दृष्टिपात करते हुए ही विचलन के प्रकार बनाए जा सकते हैं।

(i) सामाजिक मूल्यों का उल्लंघन

(ii) कानूनी नियमों का उल्लंघन

सामान्यतौर पर सामाजिक मूल्यों, विषयों या मापदंडों का उल्लंघन करने पर व्यक्ति ''मात्र'' विचलन की गतिविधि करता है एवं यह अनिवार्य नहीं कि वह कोई अपराधी वृत्ति (कानून) का कार्य कर रहा हो। इस श्रेणी में यह सामाजिक विचलन हुआ तथा न्यायालय एवं पुलिस इस व्यक्ति को किसी प्रकार का दंड नहीं दे सकती क्योंकि यह अपराध नहीं होता वरन् समाज के स्थापित मूल्यों एवं मानकों को न मानने की व्यक्ति की व्यक्तिगत इच्छा है एवं समाज अपने मूल्य एवं मानक, बलात् किसी व्यक्ति से नहीं मनवा सकता है।

टिप्पणी

दूसरी श्रेणी के विचलन अनिवार्य रूप से 'अपराध' की श्रेणी में ही आते हैं एवं इस पर मनुष्य को दंड दिए जाने का प्रावधान सक्षम न्यायालय के द्वारा किया जाता है, अर्थात् जब सामाजिक मूल्यों एवं मापदंडों का उल्लंघन करने पर न्यायालय दंडित करती है तो यह अपराध बन जाता है। अपराध करने वाले मनुष्य भी निम्न प्रकार के होते हैं–

(i) सामान्य अपराध (Normal crime)

(ii) संगीन अपराध (Severe crime)

(iii) बाल–अपराध (Juvenile delinquency)

(iv) मादक द्रव्य व्यसन (Drug addiction)

इसके अतिरिक्त जिन विचलनों में दंड का प्रावधान कोई न्यायालय नहीं कर सकता तो उसे प्रतिमानहीनता कहते हैं।

**अपराध**

अपराध एक सार्वभौमिक सामाजिक प्रघटना है जो समाज एवं काल विशेष की परिस्थितियों से संयुक्त होती है। आदिकाल से ही समाज में अपराध किसी न किसी रूप में विद्यमान रहा है। अंग्रेजी का शब्द 'क्राइम' लैटिन भाषा के 'क्रिमैन' शब्द से बना है जिसका अर्थ होता है 'विलग होना'। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि जो व्यवहार समूह के कानूनों, व्यवहार के नियमों, नैतिकता तथा सामान्य हितों से विलग अथवा पृथक होते हैं, उन्हीं को अपराध कहा जाता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि मानव समाज की किसी भी ऐसे काल की परिकल्पना नहीं की जा सकती है जिसमें आपराधिक तत्वों का अभाव रहा है। प्रत्येक युग में, प्रत्येक काल एवं समाज में आपराधिक कृत्य घटित होते रहे हैं और होते रहेंगे। अतः अपराध समाज एवं काल सापेक्ष है क्योंकि यह समाज ही निश्चित करता है कि क्या उचित है और क्या अनुचित है एवं कौन सा विशेष कार्य अपराध की स्थापना करता है। चूंकि समाज स्वयं इस धारणा में मतभेद रखता है कि क्या उचित है और क्या अनुचित है तथा चूंकि, काल–क्रम के साथ कोई भी समाज अपने मूल्यों और अभिवृत्तियों में परिवर्तन लाता रहता है, अतः इसी अनुरूप अपराध का संबंध समाज और काल से होता है। एक समाज में जिसे अपराध समझा जाता है, हो सकता है दूसरे समाज में उसे ऐसा न माना जाता हो और आज एक विशिष्ट समाज में जिसे अपराध के रूप में देखा जाता है अथवा परिभाषित किया जाता है उसे उसी रूप में विगत काल के समाज में न देखा जाता रहा हो और आगे भविष्य के समाज में भी ऐसा हो सकता है।

स्पष्ट है कि अपराध की समस्या सभी कालों व युगों में रही है और समाज में इससे निपटारा पाने के उपाय होते रहे हैं; लेकिन आज के समाज में इसने गंभीर रूप धारण कर लिया है। आदिम समाजों में सामाजिक नियंत्रण व्यक्तिगत व्यवहार को नियंत्रित करने के लिए पर्याप्त था और यदा–कदा कुछ व्यक्ति यदि अपराध करते भी थे तो उनका अपराध समूह के लिए खतरा पैदा नहीं करता था। आधुनिक समाज में विशेषकर ऐसी अवस्था में जबकि समाज विभिन्न प्रकार के समूहों से मिलकर बना है, एक सामाजिक संहिता का प्रयोग किया जाना कठिन कार्य है। अपराध करने वाले

टिप्पणी

व्यक्तियों की जैसे–जैसे संख्या बढ़ती है, यह आवश्यक हो जाता है कि उनसे निपटने के लिए कानून बनाए जाएं।

रेडक्लिफ ब्राउन के शब्दों में ''अपराध उस व्यवहार का उल्लंघन है जो दंड–विधान को निष्पादित करता है।''

मानहीम ने अपराध की बहुत संक्षिप्त परिभाषा देते हुए लिखा है कि, ''अपराध समाजविरोधी व्यवहार है।''

सदरलैण्ड के अनुसार, ''अपराध सामाजिक मूल्यों के लिए घातक एक ऐसा घातक कार्य है जिसके लिए समाज द्वारा दंड की व्यवस्था की जाती है।''

इस प्रकार स्पष्ट है कि अपराध एक ऐसा कार्य है जिसे समूह पर्याप्त रूप से खतरनाक समझता है तथा किसी ऐसी भर्त्सनात्मक एवं दंडात्मक कार्यवाही की संस्तुति करता है जिससे इस प्रकार के अपराधी भयभीत हो जाएं तथा वैसा कार्य न करें।

## अपराधों के प्रकार

अपराध एक समरूप प्रकार का व्यवहार नहीं है, इसीलिए वर्गीकरण विभिन्न आधारों पर किया गया है। विभिन्न अपराधों के पीछे व्यक्ति की प्रेरणाएं भी समान नहीं होतीं। अनेक अपराध किसी भावेग, उत्तेजनापूर्ण दशा या मनोविकार का परिणाम होते हैं, जबकि बहुत से अपराध अत्यधिक सोच–समझकर नियोजित ढंग से किए जाते हैं। विभिन्न प्रकार के वर्गीकरण निम्न प्रकार हैं–

**नृशंसता** (Atrocity) के आधार पर सुदरलैण्ड तथा क्रेसी ने अपराधों का वर्गीकरण निम्नलिखित दो श्रेणियों ने किया है (Edwin H-Sutherland: 66) 1. महापराध (Felonies) तथा 2. सामान्य अपराध (Misdemeanors)। जो अधिक गंभीर अपराध होते हैं, वे महापराध कहलाते हैं जबकि इससे कम गंभीर अपराध को सामान्य अपराध कहा जाता है।

## बोन्जर द्वारा वर्गीकरण

इन्होंने अपराधों को उनके उद्देश्यों एवं प्रेरणाओं के आधार पर चार प्रमुख वर्गों में विभाजित किया है।

(क) **आर्थिक अपराध**– ये अपराध वे होते हैं जो धन प्राप्त करने की इच्छा से किए जाते हैं।

(ख) **यौन अपराध**– इसका उद्देश्य व्यक्ति द्वारा यौन की पाशविक प्रवृत्ति को असामाजिक ढंग से संतुष्ट करना होता है।

(ग) **राजनीतिक अपराध**– इसका उद्देश्य राष्ट्रीय हितों को हानि पहुंचाना होता है। इसके अंतर्गत देश–द्रोह सबसे गंभीर अपराध है। सत्ता का दुरुपयोग करना, सरकार के गुप्त दस्तावेजों की तस्करी करना तथा राजनीतिक हिंसा को प्रोत्साहन देना इस श्रेणी के दूसरे अपराध हैं।

(घ) **अन्य अपराध**– ये वे कारण हैं जो प्रतिरोध की भावना पर आधारित होते हैं।

## लेमर्ट का वर्गीकरण

टिप्पणी

इन्होंने अपराध–निरोध के उपागम को ध्यान में रखते हुए सभी अपराधों को तीन भागों में विभाजित किया गया है, जो निम्न हैं–

(क) **स्थितिजन्य अपराध** (Situational Crime)– यह अपराध कुछ परिस्थितियों का परिणाम होते हैं। साधारणतया व्यक्ति कानून का उल्लंघन नहीं करना चाहता। किंतु कठिन परिश्रम करने के बाद भी व्यक्ति अपने बच्चों का पेट न भर पाए तो वह आत्महत्या, बच्चों की हत्या, चोरी अथवा राहजनी करने के लिए मजबूर हो जाता है। इस प्रकार से घटित अपराध स्थितिजन्य अपराध हैं।

(ख) **नियोजित अपराध** (Planned Crime)– यह अपराध बहुत व्यवस्थित रूप से किया जाता है। ऐसे अपराधों के लिए व्यक्ति में अपराध की इच्छा होने के साथ ही उसमें अपराध को व्यवस्थित ढंग से पूरा करने की क्षमता भी होती है। नियोजित अपराध व्यक्तिगत रूप से होते हैं और सामूहिक रूप से भी। डकैती, देश–द्रोह, लूट, हत्याएं आदि इसके प्रमुख उदाहरण हैं।

(ग) **विश्वासघात अपराध** (Fraudulent Crime)– इसमें छल, कपट और धोखे का तत्व प्रमुख होता है। इस प्रकार के अपराधों का उद्देश्य राजनीतिक, आर्थिक और कोई भी हो सकता है। ऐसे अपराध करने वाले व्यक्ति पहले किसी व्यक्ति, अधिकारी अथवा नेता का विश्वास प्राप्त करते हैं तथा बाद में उसे धोखा देकर कानून का गंभीर उल्लंघन कर लेते हैं।

## हेज का वर्गीकरण

अपराध से होने वाली हानि की प्रकृति को दृष्टिगत रखते हुए हेज ने अपराधों को तीन भागों में विभाजित किया है। जो निम्नवत हैं–

(क) **व्यवस्था के विरुद्ध अपराध**– ये वे अपराध हैं जिनसे सार्वजनिक जीवन को हानि पहुंचती हैं तथा जनसाधारण में असुरक्षा की भावना पैदा होती है। सड़कों पर मार–पीट करना, सार्वजनिक स्थानों पर मादक द्रव्य सेवन कर अव्यवस्था फैलाना अथवा लोगों के बीच अभद्रता फैलाना इसी तरह के अपराध हैं।

(ख) **संपत्ति के विरुद्ध अपराध**– इसका उद्देश्य कानून के उल्लंघन द्वारा अधिकाधिक संपत्ति प्राप्त करना होता है। चोरी, डकैती, जालसाजी, गबन इत्यादि अपराध इस श्रेणी में सम्मिलित किए जाते हैं।

(ग) **व्यक्ति के विरुद्ध अपराध**– इसका उद्देश्य व्यक्ति पर शारीरिक रूप से आघात करना, व्यक्ति की प्रतिष्ठा को चोट पहुंचाना अथवा उसे अपमानित करना है। हत्या, घातक हमला, बलात्कार तथा मान–हानि इस प्रकार के अपराधों के उदाहरण होते हैं।

## क्लीनार्ड तथा क्विने द्वारा वर्गीकरण

इन्होंने अपराधी व्यवहार की पद्धतियों के आधार पर अपराध के आठ प्रकारों का उल्लेख किया है–

1. हिंसात्मक व्यक्तिगत अपराध

टिप्पणी

2. संपत्ति संबंधी आकस्मिक अपराध
3. व्यावसायिक अपराध
4. राजनीतिक अपराध
5. सार्वजनिक व्यवस्था अपराध
6. परंपरागत अपराध
7. संगठित अपराध तथा
8. पेशेवर अपराध।

## अपराधों का सामान्य वर्गीकरण

सामान्यतः अपराध के विभिन्न स्वरूपों को ध्यान में रखते हुए अपराध का वर्गीकरण निम्नलिखित श्रेणियों में किया जा सकता है।

## हिंसात्मक अपराध

यह वह अपराध है जिसे व्यक्ति किसी विषम परिस्थिति से बाध्य होकर हिंसात्मक प्रयोग से करता है। हिंसा के कई रूपों में हत्या सबसे प्रमुख है। यद्यपि प्रहार, शरीर भंग आदि भी सामान्यतः प्रचंड होते हैं। हत्या एक व्यक्ति से लेकर समूह तक की होती है। हत्याओं को वैयक्तिक, सामूहिक, राजनीतिक, सैद्धांतिक एवं प्रतीकात्मक भागों में विभक्त किया जा सकता है। इस सदी में हमारे देश में महात्मा गांधी, श्रीमती इंदिरा गांधी, पंडित दीनदयाल उपाध्याय, ललित माकन और उनकी पत्नी गीतांजलि एवं राजीव गांधी की लोभहर्षक हत्याएं हुई हैं, उन्हें सैद्धांतिक एवं प्रतीकात्मक कोटि में रखा जा सकता है। इस तरह की प्राणघातक घटनाएं विषम उत्तेजनाएं फैलाती हैं। किसी भी प्रशासन के लिए हत्यारों के षड्यंत्र की सूचना प्राप्त करना और तदुपरांत इनका निराकरण करना एक बड़ा ही गहन दायित्व होता है। हत्यारों को जीवन के मूल्य का कोई ज्ञान नहीं होता है। मान व मूल्यों के अभाव का ही प्रतीक हत्या है। हत्या की प्रवृत्ति प्रायः सभी व्यक्तियों में विद्यमान नहीं रहती है। हत्याओं की श्रेणी में छिपकर की गई हत्या, लाठी से की गई हत्या, जल में डुबोकर की गई हत्या, कण्ठ काटकर हत्या करना, प्रयोगार्थ हत्या, विस्फोटक पदार्थों द्वारा की गई हत्या, आग लगाकर की गई हत्या, दुर्व्यवहार द्वारा की गई हत्या, सामूहिक हत्या, विष देकर हत्या, यौन हत्या, छुरा मारकर हत्या, गला दबाकर हत्या, युद्ध में की गई हत्या इत्यादि हैं।

हत्या के लिए बहुधा एक व्यक्ति ही नहीं, प्रत्युत कई व्यक्तियों का समूह यहां तक कि सारा का सारा एक संप्रदाय या समुदाय, एक राष्ट्र तक दोषित हो सकता है। विभिन्न धार्मिक तथा सैद्धांतिक प्रतिपादनों के क्रम में विरोधी पक्ष की अपार जनसंख्या को नर–वध भुगतना पड़ा है आज भी भुगतना पड़ता है। व्यक्ति इस स्थिति में अपने निजी संयम और विवेक को अपने संप्रदाय या समुदाय मार्गदर्शन के लिए प्रयोग करता है।

## विचलन के कारण

समाज में विचलन के कई कारण हैं, जिन्हें नियंत्रित करना आवश्यक है। विचलन के कुछ कारणों (निम्न चार्ट देखें) को निम्न प्रकार से वर्णित किया जा सकता है–

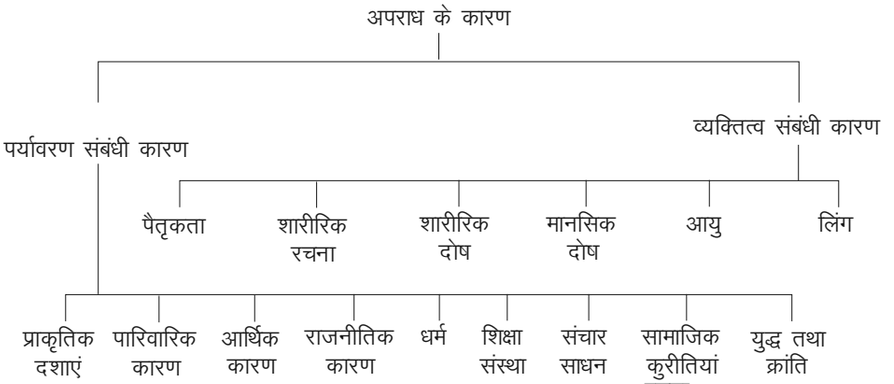


टिप्पणी

## पर्यावरण–संबंधी कारण

पर्यावरण संबंधी कारणों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है– प्रथम, भौगोलिक या प्राकृतिक पर्यावरण तथा दूसरा, सामाजिक पर्यावरण।

### (i) प्राकृतिक दशाएं

कुछ विद्वानों ने अपने अध्ययन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि मौसम के अनुसार अपराधों की प्रवृत्ति बदलती रहती है। सर्दियों में संपत्ति के विरुद्ध अधिक अपराध होते हैं जबकि गर्मी के दिनों में व्यक्ति के विरुद्ध अपराधों की संख्या में वृद्धि हो जाती है। विद्वानों ने यह भी सिद्ध किया है कि भूमध्य रेखा से जैसे–जैसे अंतर बढ़ता जाता है वैसे–वैसे संपत्ति संबंधी अपराध बढ़ते जाते हैं और व्यक्ति संबंधी अपराध घटते जाते हैं। अपराधों की संख्या और गंभीरता पर हवाओं का भी प्रभाव पड़ता है।

प्राकृतिक पर्यावरण को अपराध का महत्वपूर्ण कारण स्वीकार करने वालों में लाम्ब्रोसो तथा लेकासेन के नाम उल्लेखनीय हैं। लाम्ब्रोसो ने बताया है कि यद्यपि मैदानी क्षेत्रों की अपेक्षा पहाड़ी क्षेत्रों में सामान्य अपराध अधिक होते हैं, किंतु बलात्कार (Rape) के अपराध मैदानों में अधिक होते हैं और पहाड़ी क्षेत्रों में कम।

लेकासेन ने प्राकृतिक आधार पर अपराधों का एक कलेण्डर भी तैयार किया है। इस कलेण्डर के अनुसर जनवरी से अप्रैल तक भ्रूण–हत्या तथा शिशु–हत्या के अपराध अधिक होते हैं। जुलाई में हत्याओं और मार–पीट के अपराधों में वृद्धि हो जाती है। पितृ–हत्याएं प्रायः जनवरी और अक्टूबर के महीनों में होती हैं। शिशु–बलात्कार मई–जुलाई और अगस्त में बढ़ जाते हैं तथा दिसम्बर के महीने में कम हो जाते हैं। बलात्कार के सामान्य मामलों में जून के महीने में सर्वाधिक बलात्कार की घटनाएं होती हैं। नवम्बर में बलात्कार के मामलों की संख्या सबसे कम होती है। सम्पत्ति संबंधी अपराध दिसम्बर और जनवरी में सर्वाधिक होते हैं।

प्राकृतिक पर्यावरण और अपराध अप्रत्यक्ष रूप से परस्पर संबंधित हैं। श्मिड (Schmid) ने अपने अध्ययन के आधार पर सिद्ध किया है कि हत्याओं का शीतऋतु में बढ़ जाना मौसम के कारण नहीं बल्कि पतझड़ के अन्तिम दौर में, मजदूरों के द्वारा स्थान परिवर्तन (Migration) के कारण होता है।

टिप्पणी

## (ii) पारिवारिक कारण

मनुष्य अत्यन्त असहाय एवं पराश्रित अवस्था में जन्म लेता है। कई वर्षों तक वह माता–पिता तथा परिवार के अन्य सदस्यों के साथ प्रत्यक्ष सम्पर्क में रहता है। बच्चे के व्यवहार–प्रतिमान की सोच परिवार में ही तैयार हो जाती है और उसका भावी जीवन, उसके लक्ष्य और उसकी दिशा बहुत कुछ परिवार के वातावरण द्वारा निर्धारित होता है। जिन पारिवारिक परिस्थितियों का प्रभाव बालक को अपराधी बनाने में सहायक होता है उनमें से कुछ निम्नलिखित हैं–

1. **पारिवारिक वातावरण**– पारिवारिक जीवन में जो वातावरण व्यक्ति को मिलता है उसका प्रभाव आयुभर किसी न किसी रूप में विद्यमान रहता है। जिन परिवारों के बुजुर्ग सदस्य स्वयं अपराधी होते हैं, उनके बच्चे भी प्रायः अपराधी बन सकते हैं। यदि परिवार के वयस्क सदस्य अनैतिक आचरण और व्यभिचार में लगे होते हैं या शराबी होते हैं तो ऐसे घरों में भी बच्चे अपराधी वृत्ति के शिकार हो जाते हैं। यदि बच्चे के प्रति पक्षपात पूर्ण रवैया अपनाया जाता है तो भी वह चिड़चिड़ा हो जाता है। इसी प्रकार आवश्यकता से अधिक कठोर नियंत्रण, बालक का अधिक समय तक अकेले रहना अथवा उसके प्रति अन्य सदस्यों का उपेक्षाभाव और ईर्ष्या भी उसे अपराध करने की प्रेरणा देने वाले तत्व हैं।

   घर–आवास की समस्या भी अपराध की जननी है यदि स्थान कम होता है तो सभी अच्छे–बुरे वार्तालाप व उचित–अनुचित कार्य बच्चों के समक्ष होते रहते हैं जिनका बच्चों के ऊपर अत्यन्त दुःखद प्रभाव पड़ता है। यह विभिन्नता जितनी अधिक होती है उतना ही पति–पत्नी के बीच सामंजस्य कठिन हो जाता है जो पारिवारिक तनाव का कारण बनता है। इसी प्रकार से निर्धनता, बेकारी और आर्थिक दबाव भी घर के वातावरण को अशान्त बना देते हैं। क्या पुरुष, क्या स्त्री, क्या बच्चा और क्या बूढ़ा, ऐसी अवस्था में किसी न किसी प्रकार अपना अस्तित्व कायम रखने के लिए अपराध करने में संकोच नहीं करते। सर्वेक्षणों के अनुसार पारिवारिक वातावरण अपराध का प्रमुख कारण सिद्ध हुआ और 23 प्रतिशत मामलों में उसका कुछ प्रभाव अवश्य पड़ा। घरेलू दशाओं ने 22 प्रतिशत व्यक्तियों को अपराधी बनाया और 23 प्रतिशत बालक इसीलिए अपराधी बन गये क्योंकि उनके ऊपर माता–पिता का कोई नियंत्रण नहीं रहा। हीली ने शिकागो में 1000 वैयक्तिक अध्ययन किये और उनके आधार पर अपने उपरोक्त निष्कर्ष प्रस्तुत किये।

2. **अपराधी–परिवार**– अपराध एक सीखा हुआ व्यवहार है, अनुकरण इसके लिए सहायक प्रक्रिया है। प्रत्यक्ष रूप से अपने से बड़ों को अपराध में संलग्न देखकर छोटे सदस्य स्वमेव अपराध में रुचि लेने लगते हैं। बर्ट ने इस विषय पर विशेष अध्ययन किया है। उसके अनुसार, ''यदि सामान्य परिवारों में औसतन एक अपराध होता है तो उसकी तुलना में अपराधी परिवारों में पांच अपराध होते हैं।'' इस संबंध में ग्ल्यूक का अध्ययन उल्लेखनीय है। उसके निष्कर्षों के अनुसार मद्यपान, अपराध तथा अनैतिकता से संबंधित 90.4 प्रतिशत अपराधी ऐसे परिवारों के सदस्य थे जिनमें परिवार के अन्य सदस्य भी इन बुराइयों में लगे हुए थे।''

इस प्रकार केवल 9.6 प्रतिशत अपराधी ऐसे परिवारों से संबंधित थे जिनमें ये बुराइयां नहीं थीं।

टिप्पणी

3. **भग्न परिवार**– भग्न परिवार का तात्पर्य यह है कि माता अथवा पिता में से एक या दोनों मर गये हों, या उनमें से एक विवाह–विच्छेद या परित्याग के द्वारा पृथक हो गया हो। इस प्रकार के परिवारों में बालकों का मानसिक संतुलन तो विकृत हो ही जाता है, उन पर व्यवस्थित नियंत्रण भी नहीं रह पाता और न ही उनका पालन–पोषण तथा मार्गदर्शन हो पाता है। अतः वे भावात्मक असंतुलन के शिकार हो जाते हैं और अपराध करने लगते हैं। ऐसे घरों में लड़कियां अधिक स्वच्छंद एवं अनियंत्रित हो जाती हैं। अनैतिक आचरण भी लड़कियों में अधिक पाया जाता है। इसके विपरीत कुछ अपराध शास्त्रियों ने यह मत व्यक्त किया है कि लड़के और लड़कियों के अपराधी व्यवहार में अन्तर नहीं होता।
4. **अनुशासन तथा निरीक्षण का अभाव**– समाज के सुयोग्य नागरिक के रूप में व्यक्ति को तैयार करने वाला परिवार ही होता है तथा शिशुओं का समुचित संस्कार उचित नियंत्रण एवं निरीक्षण में ही संभव होता है। अन्यथा अनुशासन तथा निरीक्षण का अभाव उसे अपराधी व स्वच्छंद बना देता है।

### (iii) आर्थिक कारण

धन की कमी तथा अधिकता दोनों ही कारक सामाजिक विचलन को जन्म देते हैं। समाज की आर्थिक समानता से विचलन कम होगा।

### (iv) राजनीतिक कारण

अनिश्चित या अस्थिर राजनीति सामाजिक विचलन को बढ़ाती है। राजनीतिक स्थिति में बदलाव या कमजोरी सामाजिक संगठन को कमजोर करता है। अंततः सामाजिक विचलन उत्पन्न होता है जो सही नहीं है।

### (v) धर्म

धर्म सम्बन्धित निरपेक्षता या किसी विशेष धर्म की भ्रष्ट प्रणाली या कुप्रथा या अनाचार सामाजिक विचलन का कारक बन सकता है।

### (vi) शिक्षा संस्था

शिक्षा तंत्र या संस्था का अत्यधिक व्यवसायीकरण शैक्षणिक उद्देश्य को हानि पहुंचाता है। समाज में शैक्षणिक योग्यता की कमी से अंधविश्वास पनपते हैं जो सामाजिक विचलन का कारण बनते हैं।

### (vii) संचार साधन

सुव्यवस्थित एवं नवीन संचार साधन समाज में जागृति उत्पन्न करते हैं इसके विपरीत स्थिति सामाजिक विचलन का कारण बनती है। सामाजिक प्रगति में बाधा आती है।

### (viii) सामाजिक कुरीतियां

समाज में व्याप्त कुप्रथायें या कुरीतियां समाज के पतन का कारण बनती हैं समाज में अज्ञानता, अविश्वास फैलाती हैं। विचलन की यह स्थिति सामाजिक विकास को रोकती है।

टिप्पणी

### (ix) युद्ध तथा क्रांति

समाज या देश में युद्ध, संघर्ष या क्रांति की दशाएं आवश्यक वस्तुओं का अभाव उत्पन्न करती हैं जिससे सामाजिक अस्थिरता की दशा आती है, अपराध बढ़ते हैं, सामाजिक विचलन चरम अवस्था में पहुंच जाता है।

## व्यक्ति संबंधी कारण

व्यक्तित्व संबंधी कारण व्यक्ति के सामर्थ्य व शक्ति को प्रभावित करते हैं। एक सबल व्यक्ति समाज में पूर्णता, संपूर्णता या संगठन को मजबूती देता है। व्यक्तित्व संबंधी प्रमुख कारक निम्न प्रकार से हैं–

### (i) पैतृकता

पैतृक समृद्धि या गुण वर्तमान जीवन में सरलता व सुलभता उत्पन्न करते हैं लेकिन संघर्षशील या विकासशील परिस्थितियों में जीवन श्रम–साध्य बन जाता है। बेकारी, उचित नौकरी की समस्या से व्यक्तित्व में विचलन की स्थिति बनती है। येन–केन प्रकारेण जीवनयापन करने से जीवन में विषमता या विचलन होता है।

### (ii) शारीरिक रचना

व्यक्ति की सुघढ़–सुदृढ़ रचना हर परिस्थिति से जूझने में सक्षम होती है परन्तु कमजोर या निर्बल शारीरिक रचना से यह संभव नहीं हो पाता और विचलन उत्पन्न होता है। शार्ट कट रूट ढूंढ़ना पड़ता है जो नैतिक नहीं है।

### (iii) शारीरिक दोष

शारीरिक दोष, अपंगता, विकलांगता या दिव्यांगता जीवन में कुंठा भरती है दूसरों पर आश्रित जीवन विचलन पैदा करता है। कुछ व्यक्ति अपवाद हो सकते हैं परन्तु कठोर जीवन का सत्य विचलित करता है।

### (iv) मानसिक दोष

मानसिक अवस्था के दोष किसी भी समाज में हेय दृष्टि से देखे जाते हैं। कमजोर मानसिक अवस्था जीवन में निराशा पैदा करती है और विचलन को स्थान प्रदान करती है।

### (v) आयु

समय और आयु के साथ–साथ शारीरिक क्षमता में गिरावट जाती है। विभिन्न विषम परिस्थितियों में शरीर में लोहा लेने की शक्ति क्षीण होती जाती है। आधुनिक वैश्वीकरण में प्रतिस्पर्धात्मक सौष्ठव शरीर आवश्यक है। आयु के अनुसार विचलन में कमी तथा अधिकता होती है।

### (vi) लिंग

स्त्री और पुरुष को आधुनिक समाज में समान अधिकार प्राप्त हैं परन्तु आज भी पुरुष की मानसिकता में अधिक बदलाव नहीं आया है। कामकाजी स्त्रियों को घर एवं कार्य क्षेत्र दोनों की जिम्मेदारियां निभानी पड़ती हैं। गृहक्लेश, विवाह–विच्छेद जैसी परिस्थितियां

बढ़ रही हैं। समाज में व्यभिचार, अनाचर, लोकाचार में कमी, यौन–शोषण आदि कारण सामाजिक विचलन को बढ़ा रहे हैं जो एक सभ्य सामाजिक संरचना में बहुत बड़ी बाधा है।

टिप्पणी

अतः इस प्रकार सामाजिक विचलन के प्रत्यक्ष एवं परोक्ष कारणों ने समाज में विषमता अधिक भर दी है। समाज में वर्ग–संघर्ष, आत्महत्या, गृह–क्लेश, अपराध, भ्रष्टाचार की प्रवृत्ति बढ़ रही है, जिसे नियंत्रण करके सामाजिक व्यवस्था का सुचारु रूप से संचालन करना आवश्यक है।

### बाल–अपराध

बाल–अपराध वर्तमान विश्व की एक गम्भीर समस्या हो गई है। यह किसी राष्ट्र या समाज की समस्या नहीं है अपितु यह राष्ट्रव्यापी समस्या है। बाल–अपराध समकालीन समाज की समस्या है ऐसी कोई बात नहीं है। पूर्वकाल के समाजों में भी बाल–अपराध की घटनाएं होती रहती थीं लेकिन वर्तमान परिवेश में औद्योगिकीकरण की तीव्रगति, नगरीकरण के फलस्वरूप विस्फोटक रूप धारण कर रही है। औद्योगिकीकरण तथा नगरीकरण की प्रक्रिया ने भारतीय सामाजिक परिवेश को बदल डाला है। फलस्वरूप भारत में कुसमायोजित बालकों की संख्या में निरंतर वृद्धि हो रही है। इस समस्या का विध्वंसक पक्ष यह है कि बाल–अपराध किशोर तथा वयस्क अपराध की शुरुआत होती है। यह अपराध का वह प्रथम चरण है जहां पर बालक अपराध करना सीखता है तथा आपराधिक कृत्य करने में प्रवीणता प्राप्त करता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि बाल–अपराध की समस्या अपेक्षाकृत नवीन समस्या है। बाल्यावस्था व किशोरावस्था में व्यक्ति प्रायः स्वभावतः चंचल, नटखट तथा दुस्साहसी होता है। अतः वह जीवन संबंधी प्रलोभनों की ओर शीघ्रता से आकर्षित हो जाता है। यही कारण है कि उसमें अपराध करने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। किन्तु आज का बालक व किशोर कब वयस्क अपराधी बन सकता है इसी डर वश प्रेरित होकर विश्व के लगभग सभी देशों में बाल व किशोर अपराधियों को वयस्क अपराधियों से भिन्न समझा जाता है। विचलन के अध्ययन में बाल–अपराध को भी समझना अनिवार्य हो जाता है।

## बाल–अपराध का अर्थ एवं परिभाषा

विभिन्न अपराधशास्त्रियों एवं विद्वानों ने अपने विषय में सहानुभूतिमूलक ज्ञान के परिप्रेक्ष्य में 'बाल–अपराध' को परिभाषित करने का प्रयत्न किया है। इस विषय पर उपलब्ध सामग्री के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि कुछ विद्वान बाल–अपराध की व्याख्या आयु एवं व्यवहार क्षेत्र के सन्दर्भ में वैधानिक उपागम या सिद्धांत के आधार पर करते हैं। कुछ लोग सामाजिक मानदण्डों के आधार पर, इसके विपरीत, कुछ अन्य महानुभाव हैं जो वयस्क–अपराध तथा बाल–अपराध की व्याख्या समान रूप से करते हैं। कुछ विद्वान, आयु के आधार पर इन दोनों अपराधी में कोई भेद नहीं मानते हैं।

न्यूमेयर के शब्दों में– "बाल–अपराध के अन्तर्गत समाज विरोधी व्यवहार के ऐसे स्वरूप अन्तर्निहित हैं जिसमें वैयक्तिक तथा सामाजिक विघटन समाविष्ट होते हैं। समाज के आदर्शों तथा कानूनों के अनुरूप आचरण स्वरूप के मूल्य निर्णयन प्रयुक्त होते हैं एवं कार्य का लोगों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।'' (1947 : 26)

टिप्पणी

गिलिन तथा गिलिन के अनुसार– "समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से एक अपराधी अथवा बाल–अपराधी वह व्यक्ति है जो एक ऐसे कार्य के लिए दोषी है जिसे एक समूह द्वारा समाज के लिए हानिकारक माना जाता है, जिसके पास अपने विश्वास को लागू करने की शक्ति होती है तथा इसलिए ऐसे कार्य उस समूह में (Cultural Sociology) निषिद्ध होते हैं।"

डॉ. हैकरवास के अनुसार, "सामाजिक दृष्टिकोण से अपराध तथा बाल–अपराध व्यक्ति का ऐसा व्यवहार है जो मानव संबंध के क्रम जिसे समाज अपने अस्तित्व के लिए प्राथमिक शर्त मानता है, में बाधा डालता है।"

के. फ्रायड लेण्डर के अनुसार, "जिसकी अभिवृत्ति समाज के प्रति ऐसी हो जो अन्ततः कानून का उल्लंघन करने की प्रेरणा देती है।"

हीली के अनुसार, "बाल–अपराधी के लिए उसका आपराधिक कृत्य निम्नलिखित प्रकार के मनोवैज्ञानिक तत्वों का परिणाम हो सकता है–

(क) किसी तनावपूर्ण अथवा अरुचिकर दशा से बचने अथवा भागने का प्रयास।

(ख) उत्तेजना तथा रोमांच प्रदान करने का प्रयास।

(ग) सामाजिक मान्यता प्राप्त करने का प्रयास।

(घ) माता–पिता तथा समाज के विरुद्ध बदला लेने का प्रयास।

(ङ) परनिर्भरता को समाप्त करने का प्रयास।

(च) अपने निहित चेतन अथवा अचेतन दोष की भावना को दूर करने के लिए दण्ड प्राप्ति का मार्ग ढूंढने का प्रयास। (हीली : 1915)

सेथना, बर्ट, शेल्डन एवं ग्लूक तथा रेकलेस के अनुसार, "बाल–अपराध के अन्तर्गत एक स्थान विशेष के कानून द्वारा निश्चित की गयी आयु सीमा के ऐसे बालकों और किशोरों को सम्मिलित किया जाता है, जो न केवल कानून विरोधी कार्य करने के लिए दोषी होते हैं वरन् ऐसे व्यवहार करने के लिए भी दोषी होते हैं, जो एक समाज के मान्य व्यवहार या आचरण संबंधी आदर्शों की सीमा के परे होते हैं।"

रेकलेस के अनुसार, "कानून द्वारा बाल–अपराध आपराधिक संहिता के उल्लंघन और उसके अतिरिक्त उल्लंघनों के रूप में परिभाषित है जो एक ऐसे किशोर द्वारा किया जाता है जिसकी आयु 18 वर्ष से कम होती है।" (1971 : 169)

## बाल–अपराध के मुख्य कारण

बाल–अपराध के कारणों से संबंधित उपलब्ध साहित्य का विश्लेषण करने से स्पष्ट होता है कि बाल–अपराधों के कारणों की व्याख्या निम्न प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं–

(1) शारीरिक कारण

(2) पारिस्थितिकीय कारण

(3) मनोवैज्ञानिक कारण

(4) भौगोलिक कारण

(5) सामाजिक कारण

(6) आर्थिक कारण

(7) राजनीतिक कारण

(8) सम्प्रेषण तथा मनोरंजन से संबंधित कारण

(9) जनसंख्यात्मक कारण तथा

(10) संस्कृतिकरण

टिप्पणी

## (1) शारीरिक कारण

इटली के विचारक लोम्ब्रोसो तथा उसके समर्थकों ने अपराधियों की शारीरिक संरचना तथा उनके व्यक्तित्व के विभिन्न लक्षणों का सूक्ष्म परीक्षण करने के उपरान्त यह प्रतिपादित किया कि अपराधियों की शारीरिक संरचना में कुछ ऐसे लक्षण होते हैं जो अनापराधियों से भिन्न होते हैं। लोम्ब्रोसो तथा उसके समर्थकों ने शारीरिक संरचना तथा अपराधिता में जिन तथ्यों के आधार पर सह–संबंध स्थापित करने का प्रयास किया था उन्हें निम्न प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है–

(i) अपराधी जन्म से ही अपराधिता के लक्षणों से युक्त होता है जिन्हें शारीरिक बनावट से जाना जा सकता है। वह इस रूप में ही जन्म लेता है, बनता नहीं।

(ii) अपराधी की कुछ विशिष्ट आकृतियां होती हैं।

(iii) सामान्यतः अपराधियों की मुखाकृति तथा कपालाकृति में विकृतियां रहती हैं।

(iv) अपराधियों का नैतिक विकास नहीं होता है।

(v) इनकी पूर्वजता आदि–मानव की होती है।

(vi) कुछ व्यक्ति मानसिक विक्षिप्तता अथवा नैतिक उन्मुन्तता के कारण स्वभावतः ही अपराधी प्रवृत्ति के होते हैं।

(vii) अपराधिता के प्रति शारीरिक संरचना को उत्तरादायी मानने वाले विद्वानों के अनुसार आयु, लिंग तथा शरीर के अन्दर की बनावट भी इसका कारण है।

## व्यावहारिक समस्यामूलक बाल–अपराधी

इसके अंतर्गत आने वाले बाल–अपराधी वे है जो समस्यामूलक होते हैं। बात–बात पर नाराज होकर लड़ने झगड़ने लगते हैं और कृत्रिम लैंगिक खोज की संतुष्टि में इधर–उधर भटकने लगते हैं तथा अनावश्यक शारीरिक गतिविधियों की समस्या उत्पन्न कर देते हैं।

## सुधार के लिए असाध्य बाल–अपराधी

इस श्रेणी में, आने वाले बाल–अपराधी वे हैं जो असामान्य व सुधारातीत व्यवहार करने लगते हैं तथा असाध्य रूप धारण कर लेते हैं या घर से भागकर अन्यत्र चले जाते हैं। आलस्य करते हैं, लोगों का सम्मान नहीं करते और बड़ों की अवज्ञा करते हैं। किसी का कोई अनुशासन नहीं मानते।

## समाज विरोधी बाल–अपराध

समाज विरोधी बाल–अपराध वे हैं जो आपसी शत्रुता, आक्रमण नीति, तनाव, पृथकता, चिन्ता तथा आपराधिक वृत्ति से संबद्ध व्यवहार करते हैं।

टिप्पणी

## गम्भीर असंवैधानिक बाल–अपराधी

इस श्रेणी में आने वाले बाल–अपराधी वे हैं, जो चोरी, डकैती, मारपीट, हत्या, बलात्कार जैसे आपराधिक कार्यों में संलग्न रहते हैं।

पावर्स एवं विटमर ने बाल–अपराधियों के पांच प्रकारों की चर्चा की है जो निम्नलिखित हैं–

1. सर्वाधिक (Most)
2. साधारण (Ordinary)
3. अवसरिक (Occasiomal)
4. बिरले ही (Seldom)
5. अतिन्यून बाल–अपराधी (Least delinquent)

एक अन्य विद्वान लावेल जे. कार. ने बाल–अपराधियों की विवेचना करते हुए एक संकेन्द्रित वृत्ति चित्त का निर्माण किया है जिसे उन्होंने 'A Target for Consistent Reference' के नाम से सम्बोधित किया है। यह इनके द्वारा इस रूप में दर्शाया गया है– बाल–अपराध किसी राज्य के कानून द्वारा निर्धारित आयु सीमा से कम आयु वाले बालक द्वारा किया गया ऐसा व्यवहार है जिससे उस राज्य की किसी आपराधिक संहिता तथा साथ ही सामाजिक, सांस्कृतिक संहिताओं एवं मूल्यों का उल्लंघन होता है और जिसके लिये कानूनी कार्यवाही व दण्ड व्यवस्था वयस्कों से भिन्न होती है।

भारतीय परिस्थिति में बाल अधिनियम, 1986 की धारा 2(5) के अनुसार उस बालक को अपराधी बालक माना गया है जिसने कोई आपराधिक कार्य किया है। इस अधिनियम के अनुसार "बालक" का तात्पर्य 16 वर्ष से कम आयु का बालक और 18 वर्ष से कम आयु की बालिका (धारा 2(ज)) है एवं अपराध शब्द का अभिप्राय किसी प्रवृत्त विधि द्वारा दण्डनीय कोई कार्य है। वर्तमान सरकार ने इसपर एक नया बिल संसद में पारित किया है।

ऐसा आचरण जो न केवल विधिक दृष्टि से अपराध है बल्कि जो वर्तमान सामाजिक मान्यताओं के विपरीत है एक अपराधिक कृत्य माना जायेगा।

## बाल–अपराध की मानक आयु तथा व्यवहार क्षेत्र

आयु की दृष्टि से विश्व के अधिकांश देशों में सामान्यतः 7 वर्ष की आयु को बाल–अपराध के लिए निम्नतम मानक आयु माना जाता है जबकि 18 वर्ष की आयु को इसका अधिकतम वर्षायु का मानक माना जाता है। सामान्यतः 7 वर्ष से कम आयु वाले बालकों को उनके किसी कार्य के लिए उत्तरदायी नहीं माना जाता। चूंकि 7 वर्ष से कम आयु के बालकों को भले–बुरे का ज्ञानबोध नहीं होता है। अतः आपराधिक परिनियमों के अनुसार कोई आपराधिक दायित्व नहीं माना जाता है। अमेरिका के अधिकांश राज्यों में बाल–अपराध की अधिकतम आयु सीमा 18 वर्ष है। जबकि इंग्लैण्ड में 17 वर्ष तथा जापान में 20 वर्ष है।

भारत में यद्यपि निम्नतम आयु सीमा विश्व के अन्य देशों के समान ही है किन्तु अधिकतम आयु सीमा समान नहीं है। बालकों तथा बालिकाओं दोनों के लिए भारत के अनेक राज्यों–उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, पंजाब, महाराष्ट्र, केरल, एवं गुजरात आदि

टिप्पणी

राज्यों में यह 16 वर्ष है। जबकि बिहार, बंगाल, जैसे कुछ राज्यों में यह 18 वर्ष है। इसके अतिरिक्त राजस्थान, कर्नाटक एवं असम आदि कुछ राज्यों में बालकों के लिए यह 16 वर्ष तथा बालिकाओं के लिए 18 वर्ष है। राज्य में पाये जाने वाले बाल अधिनियम ही इस अधिकतम आयु सीमा को निर्धारित करते हैं। बढ़ते बाल–अपराधियों की संख्या को देखते हुए भारत सरकार ने एक नया बाल–अपराध अधिनियम संसद में 2015 में पारित किया है ताकि बालकों को भी वयस्कों की श्रेणी में रखकर दण्ड देने का प्रावधान हो सके यदि बालकों की आयु 16 वर्ष से अधिक हो तो।

## अपराधियों और बाल–अपराधियों में अन्तर

विचलन का संबंध आयु से नहीं होता अपितु अपराध के संबंध में होता है।

शेल्डन एवं ग्लूक ने अपने अध्ययनों के आधार पर एक समूह के रूप में अपराधियों एवं बाल–अपराधियों में अन्तर किया है जो निम्नवत हैं–

1. शारीरिक दृष्टिकोण से बाल–अपराधी सुगठित, संकुचित तथा सुविकसित मांसपेशियों से युक्त होते हैं।
2. स्वाभाविक दृष्टिकोण से बाल–अपराधी उद्विग्न, क्रियाशील, संवेगशील, बहिर्मुखी, आक्रमणशील, विनाशकारी तथा बहुधा पर पीड़क होते हैं।
3. अभिवृत्ति की दृष्टि से बाल–अपराधी विद्वेषी, उद्यत, आक्रोशी, संदेह प्रवण, अदम्य, सामाजिक रूप से स्वाग्रही, साहसी, अपारम्परिक तथा सत्ता के समक्ष अविनम्र होते हैं।
4. बौद्धिकता की दृष्टि से बाल–अपराधी प्रतीकात्मकता की ओर अग्रसर न होकर प्रत्यक्ष तथा ठोस प्रवृत्ति की ओर अभिमुख होते हैं। उनकी सोच बौद्धिक हो सकती है और वे अपनी समस्याओं के समाधान में अव्यवस्थित होते हैं।
5. सामाजिक सांस्कृतिक दृष्टिकोण से बाल–अपराधी बुरे होते हैं।

## बाल–अपराधियों के रूप

विभिन्न विद्वानों ने भिन्न–भिन्न प्रकार से बाल–अपराधियों का वर्गीकरण किया है। किसी ने आयु के आधार पर किसी ने व्यवहार के आधार पर, किसी ने आपराधिक प्रवृत्तियों के आधार पर, किसी ने लिंग के आधार पर, किसी ने क्षेत्र के आधार पर, तो किसी ने मनोवैज्ञानिक दृष्टि के आधार पर वर्गीकरण किया है। वर्तमान परिवेश में सम्पूर्ण विश्व में व्यवहार के आधार पर ही बाल–अपराधियों का निर्धारण करने पर जोर दिया है। पारिवारिक व सामुदायिक सन्दर्भात्मक बाल–अपराधी के अन्तर्गत उन बाल–अपराधियों को समाहित किया गया है जो पारिवारिक अनुशासन भंग होने पर और परिवार के विघटित होने पर अनैतिक आचरण करने लगते हैं। अनेक अपराधशास्त्रियों ने भौगोलिक परिस्थितियों जैसे– जलवायु, तापमान एवं ऋतुओं आदि तथा विभिन्न प्रकार के अपराधों के बीच एक सह–संबंध स्थापित करने का प्रयास किया है। उनके अनुसार सम्पत्ति और व्यक्तियों के विरुद्ध किये गये अपराधों में एक विशेष मौसमी परिवर्तन देखा जाता है जो निर्विवाद रूप से अपराधों पर जलवायु के प्रभाव को सूचित करता है।

टिप्पणी

## (2) पारिस्थितिकीय कारण

कुछ अपराधशास्त्रियों ने अपने अनुसंधान परिणामों के आधार पर मत व्यक्त करते हुए कहा है कि पारिस्थितिकी संबंधी कारण अपराध एवं बाल–अपराध को जिस रूप में प्रभावित करते हैं उसे हम निम्न प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं–

(i) अधिकांश बाल–आपराधिक घटनाएं नगरीय क्षेत्रों में घटित होती हैं।

(ii) नगरों के आनियोजित विकास में कुछ ऐसे क्षेत्र विकसित हो जाते हैं जो स्थायी अपराधी उपसंस्कृति के अंग बन जाते हैं।

(iii) बाल–अपराध की घटनाएं नगरों के केन्द्रिय क्षेत्रों में अधिक पायी जाती हैं।

(iv) प्रत्येक नगर जब केन्द्रीय भाग से जैसे–जैसे दूर चला जायेगा अपराध तथा बाल–अपराध की घटनाएं कम होती जायेंगी तथा इसके विपरीत जब नगर सीमावर्ती क्षेत्र से केन्द्रीय क्षेत्र की ओर जायेगा तब आपराधिक व्यवहार की घटनाएं बढ़ती जायेंगी।

(v) अपराध तथा बाल–अपराध की अधिकांश घटनाएं प्रत्येक नगर की गन्दी बस्तियों में पायी जाती हैं।

(vi) प्रायः प्रत्येक नगर के रेलवे स्टेशनों, बस–स्टॉपों, छवि–गृहों तथा मेलों जैसे भीड़भाड़ वाले स्थानों में सर्वाधिक बाल–आपराधिक कृत्य होते हैं।

(vii) अपराधशास्त्रियों के अनुसार नगरों के पास अनेक अवैध एवं असामाजिक स्वरूप की संस्थाएं जैसे– नृत्यगृह, वेश्यालय, शराब आदि के कारण कुछ अपराध होते हैं।

(viii) कुछ अपराधशास्त्रियों ने मनोरंजन के विविध स्थानों को भी अपराधों एवं बाल–अपराधों की पारिस्थितिकी से संबद्ध करने का प्रयत्न किया है।

(ix) कुछ लोगों का मत है कि शारीरिक विषमता का उनकी अपराधिता पर प्रभाव पड़ता है।

(x) शारीरिक विकृतियों या असमानताओं के कारण भी मनुष्य आपराधिक हो जाता है।

## (3) मनौवैज्ञानिक कारण

अपराध के मनोवैज्ञानिक कारकों को निम्न प्रकार से विश्लेषित किया जा सकता है–

(i) अधिकांश बाल–अपराधी बुद्धिहीन होते हैं।

(ii) चूंकि बुद्धिहीन बालक पर्याप्त बुद्धि के अभाव में कानून के उल्लंघन के परिणाम को समझने में असमर्थ होते हैं।

(iii) बुद्धिहीन बालकों पर किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं होता है। इसी कारण वे कानून के उल्लंघन करने वाले कार्यों को सम्पादित करते हैं।

(iv) कभी–कभी बुद्धिहीन बालकों से बुद्धिमान वयस्क व्यक्ति अपना कार्य करवा लेते हैं।

(v) मनोविक्षिप्तता के कारण बालक अनेकानेक अपराध करते पाये जाते हैं।

(vi) मनोविश्लेषकों के मतानुसार अधिकांश अपराधी बालकों में संवेगात्मक दोष पाये जाते हैं।

(vii) अचेतन संवेगात्मक बाधा अपराधिता का एक सशक्त कारण है।

(viii) व्यक्ति के अन्दर इड, इगो एवं सुपरइगो के बीच आन्तरिक संघर्ष के परिणामस्वरूप कोई बाल–अपराधी जैसा व्यवहार करने लगता है।

(ix) जिन बालकों में सुपरइगों का पर्याप्त विकास नहीं हो पाता है वे अपराधी हो सकते हैं।

टिप्पणी

## (4) भौगोलिक कारण

बहुत सारे विद्वानों का कहना है कि बाल–अपराध के उत्तरदायी कारणों में भौगोलिक परिस्थितियां भी महत्वपूर्ण हैं। क्वेटलेट, लोम्ब्रोजो, फेटी, ग्यूरी, वैग्नर, मोरसेली, दिक्सटर आदि विद्वानों ने भौगोलिक कारणों को बाल–अपराध का प्रमुख कारण माना है।

## (5) सामाजिक कारण

आर.के. मर्टन जैसे विद्वानों ने यह दर्शाने का प्रयास किया है कि "हमारा प्राथमिक उद्देश्य यह खोजना है कि किस प्रकार सामाजिक संरचनाएं समाज के कुछ व्यक्तियों पर इस तरह दबाव डालती हैं कि वे समंजनकारी व्यवहार न कर विचलनकारी व्यवहार करने लगते हैं।" वास्तव में जिन मूल आधारों पर समाज की संरचना दृढ़ रहती है, वे हैं– प्राथमिक समूह व सस्थाएं जिनके अन्तर्गत– (i) परिवार (ii) विद्यालय (iii) पड़ोस एवं मित्रमण्डली (iv) क्रीड़ा–समूह प्रमुख हैं। इनका विस्तृत विवरण निम्नवत है–

### (i) परिवार

परिवार वह संस्थान है जहां व्यक्ति के व्यक्तित्व के प्रारम्भिक एवं मूल लक्षणों का निर्माण होता है। लेकिन यह निर्माण एक सामान्य संगठित परिवार में ही संभव है जहां निम्न बातें अवस्थित हों–

(i) संरचनात्मक सम्पूर्णता अर्थात् परिवार में माता–पिता का जीवित होना।

(ii) आर्थिक सुरक्षा,

(iii) सांस्कृतिक समरूपता,

(iv) शारीरिक व मानसिक रूप से स्वस्थ अवस्था तथा

(v) प्रकार्यात्मक पर्याप्तता उपलब्ध हो।

डॉ. बॉन वाटर्स ने कहा है कि वे परिवार जो बाल–अपराध के जन्म में सहायक होते हैं उनको निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया जाता सकता है।

(i) परिवार के अन्य सदस्य जितने अधिक आपराधिक, अनैतिक होंगे अपराधी बालकों की उत्पत्ति में उनका उतना ही अधिक योगदान होगा।

(ii) अपराधी बच्चों की उत्पत्ति में उन भग्न परिवारों का विशेष योगदान है जिनमें मृत्यु, परित्याग या पलायन के कारण माता–पिता में किसी एक या दोनों का अभाव हो।

टिप्पणी

(iii) अज्ञान, अंधापन अथवा अन्य दोष या बीमारी के कारण माता–पिता के नियंत्रण का अभाव परिवार में जितना अधिक होगा, बाल–अपराधियों के जन्म में उतनी ही अधिक संभावना होगी।

(iv) पारिवारिक प्रतिकूलता से परिवार जितना अधिक युक्त होगा, वहां पर बाल–अपराध उत्पन्न होने की संभावना उतनी ही अधिक होगी।

(v) परिवार में प्रजातीय या धार्मिक भिन्नताएं जितनी ही अधिक होंगी उतना ही बाल–अपराधी उत्पन्न होने की संभावना अधिक होगी।

(vi) आर्थिक दबावों के कारण पारिवारिक दशा जितनी ही अधिक चिंताग्रस्त होगी, अपराधी बालकों की संभावना उतनी ही अधिक होगी।

परिवार के अन्य संरचनात्मक तथा प्रकार्यात्मक पक्षों के अलावा आपराधिक पक्ष भी होता है जिसका विवरण निम्नवत है–

(i) पारिवारिक अपराधिता,

(ii) भग्न–परिवार,

(iii) पारिवारिक अनुशासन एवं प्रशिक्षण,

(iv) अवांछित बालक,

(v) उपेक्षित बालक,

(vi) अवैध संतान,

(vii) समस्यात्मक परिवार,

(viii) सुव्यवस्थित तथा साधन–सम्पन्न परिवार तथा

(ix) सामान्य प्रक्रियाएं आदि।

### (ii) विद्यालय

प्राथमिक समूहों व संस्थाओं में परिवार के अलावा विद्यालय का भी बालकों पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। विद्यालय में बालक के मस्तिष्क पर उसके सहपाठियों एवं शिक्षकों का महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। वह यह स्थान होता है जहां बच्चों में नवीन विचार प्रस्फुटित होते हैं। यहां पर शिक्षकों और पुस्तकों के माध्यम से बच्चा नवीन आयामों से परिचित होते हुए ज्ञान प्राप्त करता है। यहां पर उसकी आदतों को परिपक्वता मिलनी शुरू हो जाती है। विद्यालय के साथी एवं शिक्षक उसके आदर्श बन जाते हैं। विद्यालय में बालक का सम्पर्क न केवल अपनी सम आयु वाले बालकों से होता है बल्कि भिन्न आयु एवं लिंग के बच्चों से भी होता है। विद्यालय से प्राप्त सीख ही उसे बोध कराती है कि कौन–सी बात उचित है और कौन–सी अनुचित? क्या वास्तविक है और क्या अवास्तविक? विद्यालय एक ऐसा परिवेश देता है जहां सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों प्रकार की शिक्षा प्राप्त होती है जिसके आधार पर वह अपने व्यक्तित्व का निर्माण करता है। इसी कारण बालक द्वारा अपराध करने पर अपराध को विद्यालय के खराब परिवेश एवं अपर्याप्त शिक्षण का परिणाम मान लिया जाता है, जिस प्रकार दूषित पारिवारिक परिवेश को इसका कारण माना जाता है। औपचारिक शिक्षण के माध्यम से अपराध घटता है। यह भी निर्विवाद है कि मात्र औपचारिक शिक्षण से अपराध का उन्मूलन नहीं हो जाता है। किन्तु इस शिक्षण से समाजीकरण की प्रक्रिया सुस्पष्ट

होती है। सिरिक बर्ट ने आपराधिकता के लिए विद्यालय को परिवार के समान उत्तदायी माना है।

### (iii) पड़ोस एवं मित्रमण्डली

टिप्पणी

परिवार एवं विद्यालय के पश्चात बालकों का सम्पर्क पड़ोस एवं मित्रमण्डली तक जाता है। पड़ोसियों एवं मित्रमण्डली से सम्पर्क के पश्चात बालक व्यावहारिक प्रतिमानों का भी अनुकरण करने लगता है। बहुत से आपराधिक व्यावहारिक प्रतिमानों को बालक पड़ोसियों और मित्रों से सीखता है। दूषित पड़ोस का वातावरण बालकों के व्यक्तित्व के विकास में बाधाएं उत्पन्न करता है। सांस्कृतिक संघर्ष में वृद्धि करता है। दूषित एवं समाज विरोधी मूल्यों का पोषण करता है। दूषित पड़ोस एवं मित्रमण्डली में जहां मनोरंजन अपर्याप्त होता है बालकों की खेल प्रवृत्ति का समुचित विकास नहीं हो पाता है और कभी–कभी आपराधिक गिरोह का निर्माण प्रारम्भ कर देता है। पड़ोस के निकटस्थ सस्ते होटल, जुआं खेलने के अड्डे, वेश्यालय, सिनेमाघर इत्यादि बच्चों में विचलनकारी व्यवहार एवं समाज विरोधी व्यवहार विकसित करने में भरपूर योगदान देते हैं।

### (iv) क्रीड़ा समूह

बालकों पर उनके साथ में खेलने वाले बालकों का पर्याप्त प्रभाव दृष्टिगत होता है। बालकों का क्रीड़ा समूह 'समान आयु' का समूह होता है जिसमें उन्हें अपने व्यवहार की प्रत्यक्ष एवं स्पष्ट आलोचना सुनने को मिलती है। यहां का परिवेश बालकों की विभिन्न आदतों अभिरुचियों और स्वभावों को विकसित करने में योगदान देता है। इस प्रकार क्रीड़ा–समूह के साथियों के सम्पर्क में आने के पश्चात उनके व्यावहारिक प्रतिमान को सीखना शुरू कर देता है। बहुत सारे विचलनकारी व्यवहारों, प्रतिमानों, समाज एवं कानून विरोधी व्यवहारों को क्रीड़ा समूह के साथियों से सीखता है।

## द्वितीयक समूह तथा बाल–अपराध

इन समूहों की बाल–अपराध के जनन में महत्वपूर्ण भूमिका होती है। निम्न प्रकार के द्वितीयक समूह बाल–अपराध को बढ़ावा देते हैं– (i) आपराधिक साहचर्य, (ii) भीड़ तथा (iii) गिरोह

### (i) आपराधिक साहचर्य

(i) दो या दो से अधिक व्यक्तियों का किसी अपराध को सम्पन्न करने में जो साहचर्य होता है उसे आपराधिक साहचर्य कहते हैं।

(ii) भीड़, जिसमें अधिक संख्या में लोग सम्मिलित हो जाते हैं किन्तु जो अस्थायी, अल्पकालिक तथा छिटपुट होती है।

(iii) गिरोह, जो सामान्य उद्देश्यों से प्रेरित होकर व्यवस्थित होता है।

(iv) निगम, जो वैध प्रेरणाओं से स्थापित होते हैं और वैध लक्ष्यों को पूर्ण करने में सामान्यतः सक्रिय भी रहते हैं किन्तु जो अवैध माध्यमों को अपनाने में भी संकोच नहीं करते हैं।

साहचर्य अपराध का कारक तथा अपराध का निर्धारक दोनों है। सामान्यतः यह देखा गया है कि बहुधा अपराध करते समय एक से अधिक व्यक्तियों की आवश्यकता

टिप्पणी

होती है। बहुत से अपराध, जिनमें धन की चोरी व ठगी मुख्य हैं, करने के लिए एक पूरे समूह की आवश्यकता होती है। आपराधिकता के कारणत्व के रूप में साहचर्य का अध्ययन तीन दृष्टिकोणों से किया गया है। पहला तो यह है कि बहुत से ऐसे अपराध हैं जिनको करने के लिए दो या दो से अधिक व्यक्तियों की आवश्यकता होती है। दूसरा यह है कि किसी व्यक्ति की ऐसी व्यक्तियों से मित्रता हो जाए जो अपराधी हों और वह भी अपराधी हो जाये और तीसरा यह है कि व्यक्ति का पुराने अपराधियों से सम्पर्क हो और अपराध की चालाकियां आदि उन पुराने अपराधियों से सीखकर वह भी पक्का अपराधी बन जाये।

### (ii) भीड़

भीड़ का साहचर्य यद्यपि अल्पकालिक होता है तथापि कुछ चिन्तकों ने इसके अपराधजनक एवं अवनति कारक पक्षों पर बल दिया है। भीड़ छोटी–मोटी इकाइयों के रूप में बंटी होती है। कितने व्यक्तियों की संख्या से कोई भीड़ बनती है यह नहीं कहा जा सकता है किन्तु कम से कम एक दर्जन व्यक्ति होने चाहिए। यों ही एकत्रित लोगों के जमघट को भीड़ नहीं कहा जा सकता है, उनमें किसी न किसी प्रकार की पर्यावरणात्मक तथा मानसिक सूत्रता रहना आवश्यक है। भीड़ की कई विशिष्टताएं होती हैं किन्तु भीड़ जब अधिक हिंसात्मक या उपद्रवकारी हो जाती है तब इसकी आपराधिक संभावनाएं अधिक बढ़ जाती हैं। बालक जैसे ही किसी ऐसी भीड़ से साहचर्य कर लेता है उसमें घोर मनोवैज्ञानिक परिवर्तन परिलक्षित होते हैं एवं उसके अनुभव करने, सोचने और कार्य करने की प्रक्रिया ही बदल जाती है। फलस्वरूप वह बालक विचलनकारी एवं आपराधिक कार्यों में संलिप्त होने लगता है।

### (iii) गिरोह

संगठित अपराधों में गिरोहों की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यह आपराधिक व्यक्तियों का वह समूह है जिसके सदस्य संगठित होकर आपराधिक कार्यों को करते हैं। इस अर्थ में एक गिरोह अपराध की प्रवृत्तियों को फैलाने, अपराध में प्रशिक्षण देने, अपराध में संलग्न अपने सदस्यों की सुरक्षा करने तथा अपराध में निरन्तरता किसी क्रीड़ा–समूह से भिन्न होता है। गिरोह के अन्तर्गत अपराधियों की अन्तर्क्रिया के संबंध में संगठन विकसित होता है। स्वीकृत नेतृत्व के अधीनस्थ यह साहचर्य औपचारिक रूप से संगठित होता है। बाल या किशोर गिरोह भी काफी प्रबल होता है। फ्रेडरिक थ्रेसर ने इसके संबंध में उत्कृष्ट व्याख्या प्रस्तुत की है (1936 : 30)। बाल गिरोह एक ऐसी प्रघटना है जो बड़े–बड़े नगरों के उपेक्षित क्षेत्रों में रहने वाले बालकों की प्रतिक्रिया के रूप में प्रकट होती है। ये बालक समाज में सामान्य अधिकारों तथा सुविधाओं से वंचित होते हैं। गलियों या नुक्कड़ों पर अधिकांश समय व्यतीत करने वाले बालक आपस में अपने मतों के बीच साम्य स्थापित कर लेते हैं। मतसाम्य अधिकांशतः किसी विरोधी समूह से मुठभेड़ करने अथवा होड़ लेने के लिए ही घटित होता है। अपेक्षाओं की पूर्ति के कारण इनका समन्वय हो जाता है और नेतृत्व भी उभर आते हैं। ये अत्यन्त उग्र होते हैं। स्वतंत्र हिंसक अपराधियों तथा गिरोह हिंसक अपराधियों में अन्तर होता है। ये मेलों तथा उत्सवों में उपस्थित होकर या अनधिकार प्रवेश कर भीषण उत्पात मचाते हैं। सदरलैण्ड का मत है कि सभी गिरोह आपराधिक गिरोह नहीं होते हैं। अपराध के

कारक के रूप में सम्भवतः गिरोह पर बहुत अधिक बल दिया गया है क्योंकि ऐसे अनेक गिरोह हैं जो बिना आपराधिक इतिहास के हैं।

## (6) आर्थिक कारण

टिप्पणी

अपराध एवं बाल–अपराध पर आर्थिक दशाओं के प्रभावों को निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है।

(i) निर्धनता

(ii) बेरोजगारी

(iii) पेशा या वृत्ति

### (i) निर्धनता

निर्धनता को बाल–अपराध का एक शक्तिशाली कारक माना जाता है। अधिकांश चिंतकों का मत है कि अधिकांश आपराधिक कृत्य गरीबी, दरिद्रता तथा अभावग्रस्तता, अवनति या अपकर्ष आदि आर्थिक परिस्थितियों के कारण घटित होते हैं। उनका कहना है कि अधिकांश बाल–अपराधी निर्धन परिवारों की ही उपज होते हैं। ये बालक गरीब परिवारों में जन्म लेते हैं। ये अपर्याप्त समाजीकरण, आवासीय पृथककरण, गन्दी बस्ती का परिवेश, कुंठित आकांक्षाओं के कारण न तो औपचारिक शिक्षण प्राप्त करते हैं और न ही अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए अच्छा परिवेश प्राप्त कर पाते हैं। ऐसे बालकों को अपराधी बालकों का साहचर्य सहज ही प्राप्त हो जाता है। समृद्धि भी अपराध का कारण हो सकती है। यह एक विडम्बना है किन्तु समृद्धि तथा निर्धनता की स्थितियों में अपराध के प्रकारों में अन्तर हो सकता है, अर्थात् हिंसा या घात–प्रतिघात की घटनाएं बहुधा समृद्धि की स्थिति में होती हैं और धन से जुड़े अपराध निर्धनता की स्थिति में होते हैं। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि निर्धनता को अधिक से अधिक अपराध का सहवर्ती कारण कह सकते हैं।

### (ii) बेरोजगारी

विद्वानों ने बेरोजगारी को अपराधिता का प्रधान कारण स्वीकार किया है। मेरीवान क्लिक ने सिंगसिंग कारावास में भेजे गये तीन सौ बन्दियों के अध्ययन के आधार पर यह बताया है कि 52 प्रतिशत बन्दी ऐसे थे जो आपराधिक कृत्यु करते समय बेरोजगारी के शिकार थे। वास्तविकता में बेरोजगारी तथा अपराध में सह–सम्बध स्थापति करना कठिन है। बालकों को सामान्यत' बेरोजगार रहने पर अपराधोन्मुख पाया गया है। ऐसी स्थिति सभी समाजों में दृष्टिगत नहीं होती है। कभी–कभी कार्य–पद्धति को ही यन्त्रवत कर देने से बेरोजगारी की समस्या विकट हो जाती है। इससे भी अपराध के स्तर पर कुप्रभाव पड़ता है।

वास्तव में अपराध करते समय कोई व्यक्ति नियोजित या नियुक्त है अथवा अनियोजित या अनियुक्त है, मात्र से इसको स्पष्ट नहीं किया जा सकता है। व्यक्ति के लिए इससे भी महत्वपूर्ण बात उस रोजगार में नियमित रोजगार तथा सन्तोष है।

टिप्पणी

### (iii) वृत्ति

अपराधशास्त्र से जुड़े साहित्य में आर्थिक कारक के रूप में निर्धनता या बेरोजगारी का ही उल्लेख नहीं किया गया है बल्कि पेशा या वृत्ति की चर्चा भी की गयी है। जो केवल नियोजित या नियुक्त नहीं है वे ही अपराधी नहीं होते हैं, बल्कि जो कार्यरत हैं वे भी अपराधी होते हैं। श्रमिक वर्ग के लोग छोटे–मोटे अपराध अन्य सदस्यों की तुलना में अधिक करते हैं। मध्य वर्ग के लोग ज्यादातर तुलनात्मक रूप से सफेदपोश अपराध करते हैं। व्यक्ति का कौन सा प्रोफेशन है? उसके प्रोफेशन से व्यक्ति को कितना सहयोग मिलता है? आदि इन तथ्यों का भी उसके मानस पटल पर विशेष प्रभाव पड़ता है। अतः स्पष्ट है कि बाल–अपराध के कारणों के संबंध में अपराधशास्त्रियों व समाजशास्त्रियों के दृष्टिकोण भिन्न–भिन्न रहे हैं। कुछ विद्वानों ने शारीरिक कारणों, कुछ ने मनोवैज्ञानिक कारणों, कुछ ने सामाजिक कारणों, कुछ ने आर्थिक कारणों, कुछ ने राजनीतिक कारणों, कुछ ने संचार तथा मनोरंजन संबंधी कारणों को बाल–अपराध का प्रमुख कारण माना है। परन्तु समाजशास्त्रियों एवं अपराधशास्त्रियों का कहना है कि बाल–अपराध का कोई एक ही कारण स्थापित करना तर्क–संगत नहीं है। तर्कसंगत यह है कि अपराध की भांति बाल–अपराध भी किसी एक कारण विशेष पर आधारित न होकर अनेक कारणों के संयुक्त प्रभावों के कारण उत्पन्न या जनित होते हैं और यह उनकी इच्छा शक्ति पर भी निर्भर करता है।

### (7) राजनीतिक कारण

समकालीन राजनीतिक कारणों से उत्पन्न परिस्थितियों का प्रभाव प्रत्यक्ष–परोक्ष रूप से शिशु स्वभाव पर पड़ता है। समाज की शान्ति या उग्र व्यवस्था के गुण–दोष वह ग्रहण करता है। अस्थिर राजनीतिक व्यवस्था से उपजा असंतोष भी बाल–अपराध हेतु प्रेरित करता है।

### (8) सम्प्रेषण तथा मनोरंजन से सम्बन्धित कारण

बालमन की जिज्ञासु प्रवृत्ति शीघ्र ही सम्प्रेषण तथा मनोरंजन से सम्बन्धित कारणों को अपनाती है। अनुकरण की आदत से वह समाज की अच्छाई–बुराई की बातों को सीखता है। हिंसक, जासूसी, जादू, कामुकता के विषय उसे शीघ्र आकर्षित, करते हैं। इनके प्रभावों की सम्पूर्णता से उसे अलग नहीं किया जा सकता है। टेलीविजन व्यवहार प्रतिमानों को निश्चित करने में सहायता प्रदान करते हैं।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि मनोरंजन में इन तीनों साधनों चलचित्र, रेडियो तथा टेलीविजन का बालकों और किशोरों में आपराधिक प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करने में निश्चयात्मक प्रभाव नहीं पड़ता है। ये तीनों हमारे समाज में अदृश्य हो जायें तब भी हमारे समाज में बाल–अपराध की मात्रा विद्यमान रहेगी।

### (9) जनसंख्यात्मक कारण

जनसंख्यात्मक कारण का तात्पर्य जनसंख्या के आधार तथा घनत्व का बढ़ना अथवा घटना है। ये कारक बाल–अपराध को निम्न रूप में प्रभावित करते हैं–

(i) जनसंख्या में जितनी अधिक वृद्धि होगी, लोगों के जीवन–निर्वाह के साधनों में उतनी ही कमी होगी परिणामतः व्यक्ति या बाल अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति

के लिए आपराधिक कार्यों में लिप्त हो जाते हैं। इसके कारण अपराधों में वृद्धि हो जाती है।

(ii) जनसंख्या में तीव्रवृद्धि अथवा कमी के परिणामस्वरूप एक समाज में विभिन्न वर्गों के बीच विभेदीकरण में वृद्धि होने लगती है। यह भिन्नता जितनी अधिक होगी अपराधिता की सम्भावना उतनी ही अधिक होगी। अतः जनसंख्यात्मक कारण अपराध को जन्म अवश्य देते हैं।

टिप्पणी

## (10) सांस्कृतिक कारण

कुछ अपराधों पर एक समाज विशेष की सांस्कृतिक मान्यताओं का भी प्रभाव परिलक्षित होता है। ऐतिहासिकता के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक सांस्कृतिक परिवेश में व्यक्ति के कुछ आचरणों को महत्व दिया जाता है और कुछ आचरणों की निंदा की जाती है। निन्दित आचरण करने वाले व्यक्ति को अपराधी मानकर दण्डित किया जा सकता है। अन्य शब्दों में कहा जा सकता है कि किसी देश की विधि उसके लिए एक दर्पण का कार्य करती है जिससे उस देश की सांस्कृतिक मान्यताओं के विषय में अनुमान लगाया जा सकता है।

विभिन्न विद्वानों का मत है कि सांस्कृतिक कारकों के आधार पर बाल–अपराध की व्याख्या भी दोषरहित नहीं है। समस्त सांस्कृतिक परिवेश एवं बाल–आपराधिकता का विश्लेषण करने से स्पष्ट है कि जिस समाज की संस्कृति दूषित होगी वहां बाल–अपराध की मात्रा अधिक होगी।

## बाल–अपराध को रोकने के उपाय

विचलन के सन्दर्भ में बाल–अपराध के निम्न निरोधात्मक उपाय सुझाये जा सकते हैं–

1. अपराधी बालाकों का अन्वेषणात्मक अध्ययन तथा तद्नुरूप समुचित उपचार करना चाहिए।
2. भविष्यवाणी परीक्षणों द्वारा सम्भावित बाल–अपराधियों का पता लगाकर बाल–अपराधियों की खोज की जा सकती है।
3. निरोधात्मक कार्य हेतु स्थापित अभिकरणों द्वारा सामूहिक कार्य करके बाल–अपराध कम किया जा सकता है।
4. जो पर्यावरणात्मक स्थितियां अपराध के लिए उत्तरदायी होती हैं उनमें सुधार लाकर बाल–अपराध को कम किया जा सकता है।
5. परिवार–कल्याण सेवाकेन्द्रों की स्थापना कर बाल–अपराध को कम किया जा सकता है।
6. बालकों हेतु बाल निर्देशन केन्द्रों की स्थापना कर बालकों के विचलनकारी व्यवहार पर नियंत्रण लगाया जा सकता है।
7. अपराध विरोधी कार्यक्रमों के आयोजन माध्यम से बाल–अपराध के विरुद्ध जागरूकता पैदा कर अपराध पर नियंत्रण किया जा सकता है।
8. मनोरंजनात्मक अभिकरणों की स्थापना कर बाल–अपराध पर नियंत्रण किया जा सकता है।

9. परिवार में उचित पर्यावरण को विकसित कर बालक को अपराध से दूर किया जा सकता है।
10. विद्यालयों में ऐसे परिवेश का सृजन किया जाए जिससे बालकों के अन्दर अपराधी प्रवृत्तियां नहीं पनप सकें।

टिप्पणी

## मादक द्रव्य व्यसन

सम्पूर्ण विश्व की तरह भारत में भी मादक–द्रव्य व्यसन की समस्या प्राचीन समय से मौजूद रही है। परन्तु वर्तमान समय में इसका स्वरूप बदलता जा रहा है। पहले मादक–पदार्थों का सेवन समृद्ध वर्गों तक ही सीमित था लेकिन वर्तमान में इस समस्या का रूप मध्यम वर्ग एवं निम्न वर्ग में बहुत भयानक है। किसी भी तरह के आयोजन, त्यौहार, सुख एवं दुःख के अवसर पर इसको एक फैशन के रूप में देखा जाने लगा है। औद्योगिक क्षेत्रों में निवास करनेवाले श्रमिक वर्ग के लोग जो बहुत ही निम्न आय वाले होते हैं, भी किसी न किसी रूप में विभिन्न नशीले पदार्थ, शराब, स्मैक हेरोइन, गांजा, चरस, भांग तथा इस तरह के अन्य मादक–पदार्थों के सेवन के लिए आदतन बाध्य होते जा रहे हैं। मादक द्रव्य व्यसन के प्रयोग से व्यक्ति का जीवन इस तरह असामान्य बनने लगता है कि उसे अच्छा या बुरा का कोई बोध नहीं रह जाता है। विचलन के कारण ही मनुष्य मादक–द्रव्यों का अनुचित उपयोग करने लगते हैं।

अत्यन्त सरल शब्दों में कहा जा सकता है कि ''मद्यपान'' का अर्थ शराब का प्रयोग करना है एवं जो व्यक्ति शराब का सेवन करता है, उसे हम मद्यसेवी कहते हैं। कुछ लोगों का मानना है कि मद्यपान का तात्पर्य केवल अधिक मात्रा में शराब का सेवन करना है। इसको विद्वानों ने निम्न प्रकार से परिभाषित किया है–

फेयरचाइल्ड के अनुसार, "शराब पीने की असामान्य तथा बुरी आदत ही मद्यपान है।"

टेकचन्द अध्ययन दल के शब्दों में, "शराब पीने या किसी भी मादक–पदार्थ का सेवन करने से उत्पन्न होने वाली बुरी आदत या बीमारी ही मद्यपान है। यह वह दशा है जो मनुष्य की आत्मा, मन और शरीर को प्रतिकूल रूप से प्रभावित करके उसे पतन की ओर ले जाती है।"

इलिएट तथा मैरिक के अनुसार, "कभी–कभी अथवा कम मात्रा में शराब पीना मद्यपान नहीं। एक समस्या के रूप में अधिक मात्रा में शराब पीना ही मद्यपान है।"

## मादक–द्रव्य व्यसन के कारण

मादक–द्रव्य व्यसन को एक व्यक्ति की आदत, शौक, परम्परा, विवशता आदि कुछ भी कहा जा सकता है, परन्तु यह हर दृष्टि से बुरा, अस्वास्थ्यकर, खर्चीला, शरीर को नुकसान पहुंचाने वाला व्यसन है इसमें सन्देह नहीं। मादक–पदार्थों के सेवन की अधिकता जीवन को जीते–जी नरक बना देती है। कभी–कभी तो सामाजिक विचलनता मानव में अपराध या नृशंस अपराध की वृत्ति उत्पन्न करता है जिससे जीवन में भयंकर परिणाम भुगतने पड़ते हैं। मादक–द्रव्य व्यसन के कुछ प्रमुख कारण निम्न प्रकार से हैं–

### 1. क्षणिक सुख

आज के भौतिक युग में 'अधिकांश व्यक्ति सुख प्राप्त करना चाहते हैं और किसी भी प्रकार से इसे प्राप्त करना चाहते हैं? मादक–पदार्थों के सेवन से कुछ समय के लिए होने वाली क्षणिक सुख की अनुभूति के सामने वह इस दुर्व्यसन से उत्पन्न होने वाली सभी हानियों को भूल जाता है।

टिप्पणी

### 2. प्रतिकूल दशा

अनेक लोग विभिन्न कठिनाइयों के कारण मादक पदार्थों का सेवन करने लगते हैं। पारिवारिक तनाव, बेरोजगारी, प्रेम में असफलता, अपने प्रियजनों से मिलने वाला तिरस्कार, जुएं में हार अथवा किसी प्रकार के प्राकृतिक संकट की स्थिति में मानसिक असंतुलन के कारण भी लोग मादक पदार्थों का सेवन शुरू करना प्रारम्भ कर देते हैं। इलिएट मैरिक का कहना है कि, "जो लोग बहुत संकोची, भावुक, असुरक्षित और कठिनाइयों का सामना करने में असमर्थ होते हैं, वे मादक पदार्थों को एक विकल्प के रूप में ग्रहण कर लेते हैं।" इस प्रकार मादक पदार्थों का सेवन करना मजबूरी हो जाती है।

### 3. वैयक्तिक विचलन

मादक पदार्थ वैयक्तिक विचलन का संकेत और कारण दोनों ही हैं। अधिकांश नशा करने वाले व्यक्ति मानसिक रूप से पीड़ित और बीमार होते हैं। जब उनके द्वारा पहली बार किसी नशीले पदार्थ का सेवन प्रारम्भ किया गया, तभी समस्या प्रारम्भ हो गयी थी। इसका तात्पर्य यह है कि यदि नशा करने वाला व्यक्ति इसका सेवन नहीं करता तो उसकी यह स्थिति नहीं होती। इस प्रकार के नशेबाज व्यक्ति अपना धन, सम्पत्ति शराब में नष्ट कर देते हैं, और अपने प्रियजनों से झगड़ा कर बैठते हैं। उनका व्यवसाय ही खतरे में पड़ जाता है। वे अपने मित्रों का ध्यान नहीं रखते, अपनी पत्नी एवं बच्चों को पीटते हैं और पर स्त्रीगमन करते हैं। इस प्रकार के लोग सामान्य जीवन व्यतीत नहीं कर पाते। ये लोग सामाजिक अनुकूलन करने में असफल होते हैं एवं सामाजिक प्रतिमानों की अवहेलना करते हैं।

### 4. बेकारी

मादक पदार्थों के सेवन की आदत बेकारी को बढ़ाती है या कहें कि बेकारी से भी मादक–पदार्थों के सेवन की आदत बढ़ जाती है, तो दोनों दृष्टि से यह एक सामाजिक विचलन है। जब व्यक्ति मादक पदार्थों का अधिक प्रयोग करने लगता है तब धन का व्यय बढ़ जाता है। बेकारी विचलन को निमंत्रण देती है, नौकरी छूटने से बेकारी बढ़ जाती है और किसी काम में मन नहीं लगता।

## 4.3.2 विचलन एवं अपराध के शारीरिक/क्रियात्मक एवं मनोवैज्ञानिक सिद्धांत

प्रत्येक समाज अपनी सामाजिक संरचना और व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाने के लिए कुछ नियमों, प्रथाओं, रूढ़ियों, जनरीतियों एवं सामाजिक मानदण्डों को विकसित करता है। इनमें से कुछ के विपरीत आचरण करने पर समाज द्वारा निन्दा की जाती

टिप्पणी

है, कुछ का उल्लंघन अनैतिक माना जाता है, तो व्यवहार के कुछ प्रतिमानों के विरुद्ध कार्य करने पर समाज द्वारा कठोर दण्ड का प्रावधान भी है। यद्यपि अपराध व विचलन एक सार्वभौमिक तथ्य है, फिर भी समय, स्थान और परिस्थिति के अनुसार इसकी अवधारणा में परिवर्तन आता रहता है।

समाज में अपराध और विचलन के क्या कारण हैं? इस प्रश्न के उत्तर के लिए समय–समय पर अनेक विद्वानों ने अपने सिद्धान्त प्रस्तुत किए हैं। इनमें से शारीरिक सिद्धान्त इस प्रकार है–

अपराध के शारीरिक सिद्धान्त के अन्तर्गत यह माना जाता है कि अपराधी जन्मजात होते हैं। अपराधी का एक विशेष प्रारूप होता है जिसे देखकर ही उसकी पहचान की जा सकती है। अपराधियों की शारीरिक रचना सामान्य व्यक्तियों से भिन्न होती है। ये शारीरिक विशेषताएं अपराधी को वंशानुक्रम में प्राप्त होती हैं। इस सिद्धान्त के समर्थकों में लेम्बोसो, गैरोफैलो और एनरिकोफेरी प्रमुख हैं। चूंकि ये सभी विद्वान इटली के निवासी थे, इसलिए इस सिद्धान्त का नामकरण (इटैलियन) इसी आधार पर किया गया था।

लोमब्रोसो ने अपराधियों की शारीरिक संरचना का अध्ययन किया और बताया कि आपराधिक मानसिकता वाले व्यक्ति का सिर नीचा होता है और ललाट अपेक्षाकृत कुछ पीछे की ओर होता है। इसी प्रकार ऐसे व्यक्तियों का जबड़ा कुछ भारी और बाहर को निकला होता है।

लोमब्रोसो लिखते हैं कि विचलकों में कुछ जैवकीय या शारीरिक दोष होते हैं। ये दोष पूर्व मानव (आदि मानव) के लक्षण को प्रदर्शित करते हैं। जैसे– बड़ा जबड़ा, बड़ा कान, पैर की अंगुलियों का बड़ा होना आदि।

लोम्ब्रोसो इटली की सेना में डॉक्टर थे। उन्होंने देखा कि कुछ सैनिक अनुशासन प्रिय थे तथा कुछ उद्दण्ड थे। अपराधी सैनिकों की शरीर रचना और सामान्य सैनिकों के शरीर रचना में उल्लेखनीय अंतर थे। उन्होंने इटली की जेलों का भी अध्ययन किया और पाया कि उसमें अनेक विविधताएं हैं जो एक साधारण मनुष्य में नहीं होतीं। इसके अतिरिक्त उन्होंने 283 अपराधियों की खोपड़ियों का अध्ययन किया और इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि अपराधियों की शारीरिक रचना आदिमानव और पशुओं से बहुत मिलती जुलती है। इसलिए ही उनमें जंगलीपन और पशुता के गुण होते हैं जो उन्हें अपराध के लिए प्रेरित करते हैं। ये शारीरिक विशेषताएं वंशानुक्रम में मिलती हैं और अपराधी को विशेष रूप प्रदान करती हैं। इसी कारण अपराधी जन्मजात होते हैं। उन्होंने अपराधियों की खोपड़ी, सिर, बाल, नाक, कान, आंख, ठुड्डी, ओंठ, दांत आदि का वर्णन करके बताया कि किस प्रकार की रचना होने पर एक व्यक्ति अपराधी होगा। हत्या यौन–अपराध और आदतन अपराधी के शरीर की बनावट कैसी होगी। उन्होंने लगभग 15 शारीरिक अनियमितताओं का उल्लेख किया और कहा कि इनमें से 5 अनियमितताएं जिसमें होंगी, वह निश्चित रूप से अपराधी होता है।

### मानसिक सिद्धान्त

मानसिक परीक्षा सम्बन्धी सम्प्रदाय के प्रतिपादक एच.एच. गोडार्ड थे। इस सम्प्रदाय के समर्थकों ने अपराध का कारण शारीरिक विशेषताओं को नहीं, वरन् मानसिक दुर्बलताओं

को माना, क्योंकि उन्होंने जिन अपराधियों का अध्ययन किया उनमें से 80% अपराधी मानसिक रूप से कमजोर थे। इन कमजोर मानसिक क्षमता वाले व्यक्तियों की प्रमुख विशेषतायें निम्नलिखित थी–

टिप्पणी

- अपने कार्यों की प्रशंसा सामान्यतया वह व्यक्ति करता है जो मानसिक रूप से दुर्बल होता है।
- मानसिक रूप से दुर्बल व्यक्ति में कानूनों को भली प्रकार समझने की क्षमता नहीं होती।
- मानसिक रूप से दुर्बल व्यक्ति कानून के उल्लंघन के परिणामों से भी अनभिज्ञ होते हैं।

मानसिक दुर्बलता के साथ गोडार्ड ने यह भी स्वीकार किया कि मानसिक दुर्बलता मेंडल्स के वंशानुक्रमण सिद्धान्त के समान एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होती रहती है।

### गोडार्ड के अनुसार अपराधियों का वर्गीकरण

- **उत्तरदायी अपराधी**– गोडार्ड के अनुसार लापरवाही तथा उदासीनता के कारण समाज विरोधी कार्य करना तथा जानबूझकर और समझते हुए समाज के नियमों का उल्लंघन करना आदि इसके अन्तर्गत आते हैं।
- **अनुत्तरदायी अपराधी**– अनुत्तरदायी अपराधी अपनी मानसिक दुर्बलता के कारण अपराध करते हैं। इस सम्बन्ध में स्वयं गोडार्ड का कथन है कि अपराध तथा बाल–अपराध का सबसे महत्वपूर्ण कारण निम्न कोटि की मानसिक अवस्था है जिसे मानसिक दुर्बलता के नाम से जाना जाता है।

### गोडार्ड के अनुसार दण्ड व्यवस्था

गोडार्ड के अनुसार समाज से अपराधियों को समाप्त कर देना चाहिए। इसकी प्रमुख दो विधियां हैं–

- अपराधियों को देश निकाले का दण्ड देना चाहिए।
- वंशानुक्रमण के द्वारा फैलने वाले अपराधों को रोकने केलिए अपराधियों का बन्ध्याकरण कर दिया जाना चाहिए।

आलोचकों का मत है कि सभी अपराधियों को मानसिक रूप से दुर्बल बताना उचित नहीं है। गोडार्ड के अनुसार 80% अपराधी मानसिक रूप से दुर्बल होते हैं, गलत है, क्योंकि वर्तमान अध्ययनों से स्पष्ट है कि 10% व्यक्ति ही मानसिक दुर्बलता से ग्रस्त होते हैं।

## 4.3.3 विचलन के संरचनात्मक एवं उपसांस्कृतिक सिद्धांत

मनुष्य अनेक कारणों से ऐसा व्यवहार करने पर विवश हो जाता है जो सामाजिक मान्यताओं के अनुकूल नहीं होता। यह असामान्य व्यवहार व्यक्ति को समाज से पृथक कर देता है। यदि यह असामान्य व्यवहार, प्रगतिशील हो तो समाज के लिए लाभदायक एवं अन्य व्यक्तियों के लिए प्रेरणास्रोत बन जाएगा। यदि यह व्यवहार, विध्वंसक तथा अन्य व्यक्तियों की हानि करने वाला हो तो समाज इसे स्वीकार नहीं करता तथा ऐसे

टिप्पणी

व्यक्ति का सामान्य तौर पर सभ्य समाज बहिष्कार तक कर देता है। समाज में विचलन एक ऐसी घटना है जिसे पूर्णतः रोका जा सकना असम्भव है। तथापि अनेक विचारकों एवं समाजशास्त्रियों ने शोधकार्य करके विचलन की अवधारणा को समझने का प्रयास किया है। इस प्रयास के द्वारा समाज के शुभचिंतक समाजशास्त्री वर्ग यह विश्लेषण और मार्गदर्शन करते हैं कि हमारे समाज में इस प्रकार की घटनाएं न्यूनतम स्तर पर हों। समाज की प्रगति एवं विकास कार्य बाधित न हो तथा समाज में अशांति एवं असुरक्षा की भावना बलवती न हो। विचलन के सिद्धांतों का उद्देश्य यही होता कि समाज में वास्तविक दशाओं में होने वाली घटनाओं का, जैसी वे हैं, अध्ययन किया जाए। इस आधार पर इस प्रकार की पद्धतियों को शिक्षण कार्य में लगाया जाए ताकि भावी नागरिक इन्हें समतामूलक एवं सर्वसमाज हित कल्याणकारी मानते हुए, अपना एवं समाज का कल्याण कर सकें।

## सामाजिक विचलन के सैद्धांतिक दृष्टिकोण

जब मनुष्य कोई ऐसा व्यवहार सार्वजनिक रूप से करे जो अन्य लोगों को कष्ट दे या नागवार गुजरे तो ऐसा व्यवहार विचलन की श्रेणी में आता है। कोई भी असामान्य व्यवहार विचलन कहा जा सकता है जब वह मुख्य धारा से विलग हो जैसे–

- सड़क, दीवार, टॉयलेट में पान का पीक थूकना
- खर्राटे मार कर सोना
- बिना कारण नाक में ऊंगली डालकर कुरेदना
- नाखून चबाना
- सड़क पर चलते हुए पेड़ पौधों की पत्तियां या टहनियां नोचना
- अनावश्यक तर्क–वितर्क या कुतर्क करना
- सड़क पर चलते हुए अन्य व्यक्तियों से झगड़ा करना

उपरोक्त प्रकार की घटनाओं को हम स्वयं भी करते हैं एवं अन्य व्यक्तियों को करते हुए भी देखते हैं एवं इसकी निंदा भी करते हैं या कई बार हम अन्य व्यक्तियों को टोक देते हैं डांट भी लगा देते हैं। ये सामान्य प्रकार के विचलन हैं जिनसे समाज की व्यवस्था पर बहुत प्रभावशाली प्रभाव तो नहीं पड़ता परन्तु कुछ संवेदी व्यक्तियों को कष्ट अवश्य पहुंचता है। इन सामान्य प्रकार के विचलनों से बड़ी परिस्थितियां भी होती हैं जिनमें व्यक्ति ऐसे कृत्य करते हैं जिनसे समाज की व्यवस्था प्रभावित होती है एवं समाज की दिनचर्या भी बाधित होती है। इस प्रकार के गम्भीर विचलन को रोकने के प्रयास अनेक प्रकार के सामाजिक नियंत्रणों एवं नियंत्रण एजेंसियों के द्वारा किये जाते हैं। विचलन के इस गम्भीर प्रकार में सकारात्मक एवं नकारात्मक दोनों प्रकार के विचलन हो सकते हैं। यदि कोई व्यक्ति वर्तमान व्यवस्था से संतुष्ट नहीं हैं तो वह, वर्तमान व्यवस्था में ही रहते हुए एवं सामाजिक व्यवस्था को भंग किये बिना व्यवस्था परिवर्तन के लिए आग्रह आंदोलन कर सकते हैं। भारतीय स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए चलाए गये आन्दोलन सकारात्मक विचलन का ही एक प्रकार थे जिन्होंने एक बहुत बड़ी जनसंख्या की वास्तविक आवाज को शांतिपूर्ण ढंग से एवं व्यवस्था में रहते हुए व्यवस्था परिवर्तन का कार्य किया।

टिप्पणी

इस घटना के ठीक विपरीत, स्वतन्त्र भारत के अनेक राज्यों में आतंकवाद के कारण से अस्थिरता का माहौल रहा है जो व्यवस्था परिवर्तन तो चाहता है परंतु वर्तमान व्यवस्था से सीधे टकराव करके करना चाहता है। स्पष्ट है यह भी एक प्रकार का विचलन ही है परंतु हिंसक एवं विध्वंसक होने के कारण जनमानस का समर्थन उन्हें प्राप्त नहीं होता तथा इस प्रकार के आन्दोलन भलीभांति चलती हुई सामाजिक व्यवस्था को हानि पहुंचाने का ही कार्य करते हैं एवं कुछ समय पश्चात विफल हो जाते हैं क्योंकि इनका टकराव जनता एवं राज्य सत्ता दोनों ही से होता है।

उपरोक्त की भांति अन्य अनेक प्रकार के आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक विचलन हमारे समाज में सर्वत्र दिखाई पड़ते रहते हैं। इन विचलनों का भली भांति अध्ययन करने के पश्चात ही यह कह जा सकता है कि अमुक विचलन, प्रगतिशील है अथवा विध्वंसक। समाज शास्त्रियों ने अपने सिद्धांतों द्वारा विचलन की व्यवस्था को अपने–अपने ढंग से स्पष्ट किया है। प्रमुख विचलन सिद्धांतों को अब हम विस्तारपूर्वक समझेंगे।

एमिल दुर्खीम के विचलन पर सामान्य विचार :

- दुर्खीम के शब्दों में विचलन कोई ''बीमारी'' नहीं है, बल्कि विचलन के कारण समाज सकारात्मक रूप से प्रकार्य करता है।
- अपराध की घटना सामान्य है यदि यह एक सीमा में रहे, क्योंकि बिना अपराध वाले समाज का अस्तित्व असम्भव होता है।
- दुर्खीम ने विचलन को एनॉमी (anomie) का भी नाम दिया है जिसका अर्थ है आचरण रहित व्यवस्था।
- जो व्यक्ति आत्महत्या करते हैं वे स्थापित मान्यताओं के प्रति कम सजग होते हैं।
- समाज को बांधकर रखने में दो तथ्य महत्वपूर्ण हैं–
  - सामाजिक एकता (Integration)
  - सामाजिक नियंत्रण (Control)

सामाजिक विचलन के सिद्धांतों का उद्देश्य इस प्रकार के तथ्यों एवं कारकों की खोज करना होता है जिनके कारण मनुष्य के साधारण सामाजिक व्यवहार में परिवर्तन (विचलन) प्रकट होता है। इस प्रकार से विचलन के सिद्धांतों का उद्देश्य होता है :

- सामाजिक वातावरण को समझना
- सामाजिक परिस्थितियों को समझना

इन विघटन सिद्धांतों के द्वारा समाजशास्त्री, अन्य विघटनात्मक प्रकार्यों पर अन्य व्यक्तियों के मत को जानने का प्रयास भी करते हैं।

एमिल दुर्खीम ने इस प्रकार के विघटन के लिए संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक (Structural-functional) सिद्धांत का प्रतिपादन किया और कहा कि विचलन एक सामान्य घटना है और यह घटित होती है। अतः उन कारणों को जानना आवश्यक है जिन कारणों से विचलन का प्रकार्य होता है। उन्होंने स्पष्ट किया कि

- विचलन लोकमत, लोकाचार की सीमाओं का निर्धारण करता है।

टिप्पणी

- विचलन के द्वारा, अविचलित समुदाय में जागरूकता पनपती है।
- विचलन के कारण, अविचलित समुदाय में एकजुटता पनपती है।
- समाज में नियंत्रण और संतुलन (Check and balance) के लिए विचलन आवश्यक होता है।

विचलन पर रॉबर्ट मर्टन के विचार : रॉबर्ट मर्टन के सिद्धांत को स्ट्रेन थ्योरी कहते हैं (Strain theory of Merton), मर्टन का विचार था कि प्रत्येक समाज के निश्चित रूप से परिभाषित लक्ष्य होते हैं जो कि सांस्कृतिक (एवं आर्थिक) आधार पर निश्चित किये जाते हैं। प्रत्येक समाज में सांस्कृतिक एवं सामाजिक रूप से परिभाषित लक्ष्यों के मध्य एक प्रकार का तनाव (Strain) पाया जाता है। मर्टन ने इस असंतुलन की स्थिति को एनॉमी (anomie) कहा है। इसे मर्टन ने अपनी टाइपोलॉजी (Typology) में अधिक स्पष्ट किया है।

सांस्कृतिक रूप से परिभाषित लक्ष्य को निम्न प्रकार से समझाया गया है :

लेबलिंग सिद्धांत (Labeling Theory) के अनुसार सामाजिक विचलन सिद्धांत दो प्रमुख तथ्यों पर आधारित है–

- मनुष्यों पर विचलित होने का लेबल लगाया जाता है।
- फिर मनुष्य विचलित व्यवहार करते हैं और उन पर विचलित होने का लेबल पक्का हो जाता है।

**सामाजिक विचलन और संघर्ष** (Conflict theory of deviance) : यह सिद्धांत, मार्क्सवादी विचारकों के द्वारा प्रतिपादित किये गये हैं जिनका मानना है कि समाज में होने वाले विचलन का कारण आर्थिक असमानता है। समाज में मनुष्य में विचलन एवं आपराधिक कृत्यों के लिए, सामाजिक एवं आर्थिक असंतुलन होता है। यदि समाज में से आर्थिक रूप से असमानता एवं असंतुलन समाप्त कर दिया जाए तो विचलन स्वयंमेव ही समाप्त हो जाएगा। समाज में बहुत से लोग चोरी, एवं इसी प्रकार के अपराध, शौक से नहीं करते, वरन् उनके पास आजीविका का कोई अन्य साधन नहीं होता है तथा जीवित रहने के लिए चोरी की छोटी–मोटी घटनाएं करके अपना जीवन यापन करते हैं या नशे का धन्धा करते हैं। वेश्यावृत्ति भी, पेट पालने का एक जरिया है। ऐसा नहीं है कि गरीब आदमी ही अपराध करता है वरन् उच्च वर्ग के लोग भी अपराध करते हैं। उन्हें श्वेत वसन अपराध (White collar Crime) कहते हैं। भ्रष्टाचार ऐसा ही एक विचलनपूर्ण अपराध है।

संघर्ष का विचलन सम्बन्धी सिद्धांत, समाज में इस प्रकार की परस्पर विरोधाभास वाली स्थितियों को विचलन का प्रमुख कारण मानता है एवं व्यक्तिगत व्यवहार को, इसके लिए उत्तरदायी मानता है। गैर–मार्क्सवादी चिन्तकों ने मनुष्य के व्यवहार को विचलन के लिए उत्तरदायी माना है जबकि मार्क्सवादी चिन्तकों ने मनुष्य के व्यवहार को विचलन के लिए उत्तरदायी नहीं माना है वरन् परिस्थितियां मनुष्य को अच्छा या बुरा बनाती हैं।

स्पष्टतः सामाजिक विचलन का सिद्धांत हमें यह बताने का प्रयास करता है कि किस प्रकार समाज का कोई घटक, व्यक्ति, समूह या समाज परिस्थितिवश एक प्रकार का व्यवहार करता है तथा किस प्रकार इनको इस तरह नियंत्रित किया जाए कि समाज में एक उपयुक्त साम्यावस्था (Equilibrium) की स्थिति बनी रह सके। सामाजिक

दृष्टिकोणों तथा अध्ययनों से यह पुष्टि होती है कि समाज के अन्दर मानकीकृत (Standardized) व्यवहार (Behaviour) सामाजिक संगठन को बनाये रखने में सहायक हो सकता है।

टिप्पणी

यह तो स्पष्ट है कि समाज के द्वारा अपनाए गये रीति रिवाज (Custom) प्रथाएं तथा लोकाचार आदि सामाजिक नियंत्रण के साधन हैं। अतः सैद्धांतिक दृष्टिकोण से यह आवश्यक हो जाता है कि सामाजिक नियंत्रण के लिए विचलन के कारणों को सैद्धांतिक तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण से प्रतिपादित भी किया जाए। सामाजिक नियंत्रण की व्यवस्था में, मनुष्यों के सामान्य व्यवहार (Normal Human behaviour) को नियंत्रित करने के नियम होते हैं। इन नियमों को प्रतिबन्धों (Sanctions) के द्वारा लागू किया जाता है इन नियमों का दूसरे सहायक नियमों की सहायता से प्रबंधन किया जाता है। जैसे कि :

- अच्छे आचरण को पुरस्कार दिया जाता है।
- बुरे आचरण को दण्डित किया जाता है।

इस प्रकार से सामाजिक नियंत्रण एवं विचलन को एकसाथ समझना आवश्यक हो जाता है।

विचलन का अर्थ उस मानव व्यवहार से होता है जिसके द्वारा, मनुष्य के स्वीकार्य एवं अस्वीकार्य व्यवहार में विभेद किया जा सकता है। संरचनात्मक प्रकार्यात्मक सिद्धांत की मान्यता के उलट संघर्ष के सिद्धांत द्वारा यह स्थापित किया गया कि समाज में होने वाले विचलन के लिए तीन प्रमुख कारण हैं–

(i) सामाजिक असमानता

(ii) आर्थिक असमानता

(iii) राजनीतिक असमानता

## संघर्ष का सिद्धांत

संघर्ष का सिद्धांत, मार्क्सवादी सिद्धांतों पर आधारित है, हालांकि कार्ल मार्क्स ने स्वयं विचलन पर विशेषीकृत रूप से नहीं लिखा परंतु मार्क्सवादी विचारकों ने विचलन की समीक्षा करते हुए स्पष्ट किया कि मानव व्यवहार समाज में उपस्थित असमानता के कारणों से होता है। एमिल दुर्खीम, मर्टन, स्पेन्सर आदि के विपरीत, कार्ल मार्क्स, समाज को एक शान्त एवं स्थिर इकाई के रूप में स्वीकार नहीं करते। मार्क्स का मानना है कि समाज में संघर्ष एक ऐसा प्रपंच है जो कि निरन्तर होता ही रहता है एवं तब तक होता ही रहेगा जब तक कि संसार के सभी व्यक्तियों की स्थिति एक समान नहीं हो जाती (समाजवाद की अवधारणा)। मार्क्स के अनुसार विचलन का व्यवहार, मनुष्य, अपने वर्चस्व एवं सुरक्षा के कारण से भी करते हैं एवं समाज के वर्तमान स्वरूप को चुनौती देकर संघर्ष का मार्ग चुनने को विवश हो जाते हैं। संघर्ष का यह मार्ग हिंसक अथवा अहिंसक प्रकार का हो सकता है।

संघर्ष का अर्थ सदैव ही टकराव एवं हिंसक गतिविधि से नहीं लिया जा सकता है, अर्थात संघर्ष एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा कोई व्यक्ति, समूह या समाज अपने स्वयं के अस्तित्व के लिए प्रयास करते हैं। संघर्ष की प्रक्रिया में व्यक्तियों के मध्य

टिप्पणी

परस्पर सैद्धांतिक टकराव होता है। यह टकराव, अपने सिद्धांतों की रक्षा करने के लिए होता है एवं कोई व्यक्ति अपने विचारों की रक्षा हेतु यथासम्भव प्रयास करता रहता है। इसका आशय यह हुआ कि संघर्ष एक प्रकार की आवश्यक प्रक्रिया है तथा मनुष्य अपनी प्राकृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु संघर्ष करते ही रहते हैं अतः संघर्ष को सकारात्मक रूप में लेना चाहिए क्योंकि संघर्ष के ही कारण सामाजिक व्यवस्था एवं समाज में परिवर्तन होते हैं। संघर्ष निम्न प्रकार के हो सकते हैं

- सामाजिक संघर्ष
- राजनीतिक संघर्ष
- आर्थिक संघर्ष
- सांस्कृतिक संघर्ष
- प्राकृतिक अथवा प्रकृति के साथ संघर्ष

मार्क्सवाद में प्रकृति के साथ संघर्ष पर विस्तृत रूप से स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया गया है। सर्वप्रथम स्वयं मार्क्स ने एंजेल्स के साथ मिलकर 'प्रकृति के साथ संघर्ष' विषय पर औपचारिक रूप से लिखना प्रारम्भ किया था परंतु यह पुस्तक, अपने वास्तविक रूप में प्रकाशित नहीं हो सकी थी।

कार्ल मार्क्स का द्वन्द्वात्मकता का सिद्धांत (Theory of dialectical materialism) भी संघर्ष पर ही आधारित है। सामाजिक विचलन को सही ढंग से समझने के लिए, मार्क्सवादी दृष्टिकोण अत्यन्त महत्त्वूपर्ण है जिसके अनुसार समाज में केवल दो ही वर्ग होते हैं :–

(i) उच्च वर्ग अर्थात पूंजीपति वर्ग

(ii) निम्न वर्ग अर्थात मजदूर वर्ग

मजदूर वर्ग, अपने श्रम के द्वारा अर्जित पारिश्रमिक के आधार पर अपना जीवन यापन करता है।

पूंजीपति वर्ग एवं पूंजीवादी व्यवस्था यह चाहती है कि मजदूर वर्ग बिना ना–नुकर किये हुए उन्हें अपना श्रम बेचते रहें तथा जो मेहनताना, पूंजीपति निर्धारित करे उसी को लेकर चलता बने। चूंकि, नागरिकों एवं समाज पर शासक वर्ग का विचार एवं विचारधारा ही हावी होती है जिसमें यह बताया एवं समझाया गया है कि पूंजीवादी व्यवस्था ही एकमात्र व्यवस्था है जो समाज को शांति एवं विकास प्रदान कर सकती है एवं समाज के प्रत्येक वर्ग को इस व्यवस्था का सम्मान करते हुए कार्य करना चाहिए।

यह पूंजीवादी व्यवस्था का पक्ष है। यदि सब कुछ ठीक–ठाक चलता रहे तो कहा जाएगा कि समाज नियंत्रण में है। परंतु यदि मजदूर वर्ग के दृष्टिकोण से सोचा जाये तो इसके उलट स्थिति स्पष्ट हो रही है। उत्पादन का पूरा कार्य, मजदूर वर्ग अपनी खून–पसीने की मजदूरी से करे और बदले में उसे सिर्फ इतनी ही मजदूरी मिले जो उसके एवं आश्रितों के भरण पोषण की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति करे तो यह तर्क संगत नहीं लगता। हालांकि, पूंजीपति वर्ग तार्किकता के द्वारा यह सत्यापित करने का प्रयास करता है कि 'हमने तुम्हें काम दिया।' अब यदि मजदूर इससे सहमत न होकर कहने लगे कि :

- कारखाने की पूरी सम्पत्ति में हम सबको बराबर का हिस्सा मिलना चाहिए।

टिप्पणी

- कुल मुनाफे को सभी मजदूरों में बराबर रूप से विभक्त किया जाये।
- मजदूर को भी पूंजीपति के समान रहन सहन चाहिए।
- जो सम्मान उच्च वर्ग को मिलता है वही मजदूरों को मिलना चाहिए।
- मजदूरों के बच्चों को भी समाज के उच्च शिक्षण संस्थानों में प्रवेश मिले।

इस प्रकार के अन्य प्रश्न निम्न वर्ग के सभी व्यक्तियों के मन में उठते ही हैं। जब यह वर्ग अपने अधिकारों की मांग करता है तो उसे संघर्ष का मार्ग चुनना पड़ता है। संघर्ष में, मजदूर अपनी बातों को मनवाने के लिए हड़ताल एवं कार्य का बहिष्कार करने का मार्ग अपनाता है। जब कारखाने में सबकुछ पूंजीपति के अनुसार चल रहा था, अर्थात–

उत्पादन हो रहा था।

मुनाफा हो रहा था।

मजदूर अपनी मजदूरी से संतुष्ट था।

पूंजीपति को लाभांश पूरा मिलता था।

तब तक कहा जाता है कि स्थिति नियंत्रण में थी परंतु जब मजदूर ने अपने अधिकारों के लिए आवाज उठाकर उन्हें मनवाने के लिए शासन, प्रशासन एवं उद्योगपतियों पर दबाव बनाना प्रारम्भ कर दिया तो इसे विचलन की श्रेणी में रखा जाने लगा अर्थात मजदूरों का अपना प्राकृतिक अधिकार मांगना। एक प्रकार का विचलन है जिसके अन्तर्गत मजदूर अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करते हैं। मार्क्सवादी विचारधारा के अनुसार मजदूरों के संघर्ष के कारण ही व्यवस्था में परिवर्तन होते हैं। औद्योगिकीकरण के कारण, मजदूर वर्ग ने सामंती व्यवस्था को समाप्त किया एवं मजदूर वर्ग ही वर्तमान, पूंजीपति व्यवस्था को समाप्त करने में निर्णायक भूमिका में होंगे।

मार्क्सवादी विचारधारा का संघर्ष का सिद्धांत, विचलन को स्वाभाविक एवं स्थितिजन्य मानता है एवं पक्ष के दोनों तरफ देखकर निर्णय करता है कि विचलन को पूंजीवादी व्यवस्था या मजदूर वर्ग के दृष्टिकोण से देखा जा रहा है। वर्ग संघर्ष के इतिहास के अवलोकन से स्पष्ट होता है कि अब तक का सम्पूर्ण इतिहास ही वर्गों के संघर्ष का इतिहास रहा है जिसमें परस्पर असमान वर्ग, आर्थिक आधार पर एक–दूसरे से संघर्ष करते रहे हैं एवं मानव व्यवहार को परिलक्षित करने में आर्थिक पक्ष ही निर्णायक रहता है। सामाजिक विचलन को, आर्थिक आधार पर देखा जाए तो यह समझ में आता है कि निर्धन वर्ग अपनी आय को बढ़ाने के लिए जीवन पर्यन्त संघर्ष करता है यदि वह चोरी भी करता है तो अपनी आवश्यकता के लिए करता है, दूसरी तरफ पूंजीपतियों की पूंजी, बैंकों में सुरक्षित पड़ी है।

## सामाजिक विचलन के सिद्धांत

एमिल दुर्खीम (Emile Durkheim) का उद्देश्य समाजशास्त्र को विज्ञान की तरह स्थापित करना था। उन्होंने अपने अध्ययनों में शोधयुक्त कार्यों को प्राथमिकता देते हुए कार्य किये। उन्होंने अपनी पुस्तक (Division of Labor) 'श्रम विभाजन' में सामाजिक नियंत्रण को श्रम के आधार पर विभक्त किया है। इन्होंने 1897 में 'आत्महत्या'

टिप्पणी

(Suicide) नामक ग्रंथ प्रकाशित किया। इन्होंने हरबर्ट स्पेन्सर की ही भांति यह तथ्य प्रतिपादित किया कि प्रकार्यवाद (Functionalism) समाज को अन्योन्याश्रित (Interdependent) अंगों के रूप में देखता है। इन अंगों का प्राथमिक कार्य, व्यवस्था (System) के अस्तित्व के लिए आवश्यक योगदान करना है। दुर्खीम ने धर्म को सामाजिक नियंत्रण का एक साधन मानते हुए तर्क प्रस्तुत किये हैं। अपनी पुस्तक धार्मिक जीवन के प्राथमिक स्वरूप (The elementary forms of he relegious life, Hellen street Press Landon, 1915) के अनुसार अब से पूर्व के समाजों में धर्म जोड़ने (Cement) का कार्य करता रहा है।

व्यक्तियों में विचलन का दोष दूर करने में धर्म की महत्वपूर्ण भूमिका है क्योंकि धर्म से अर्थ यह है कि किसी कार्य को करने में एक अच्छा एहसास हो जिसे करने से खुशी व प्रसन्नता मिल रही हो।

अधिकतर धर्म समाज को जोड़ने का कार्य करते हैं तथा समाज के व्यक्तियों के बीच भाईचारे तथा सहअस्तित्व (Comradeship and co-existance) की बात करते हैं। इसी कारण से दुर्खीम ने धर्म को एक सामंजस्यकर्ता का नाम भी दिया है जो हमारे जटिल मानव समाज (Complex human Society) को एकसूत्र में पिरोकर रखने का कार्य भी करता है। धर्म की शिक्षा यह है कि समाज में व्यक्तियों के बीच किसी प्रकार का राग द्वेष तथा बदले की भावना ना पनपे तथा वे एक समग्र समूह में सामंजस्य, प्रेम, त्याग व प्यार से मिलजुल कर रह सकें। दुर्खीम ने कहा कि ''समाज ही भगवान है'' (God is Society)। मनुष्यों व अलौकिक शक्तियों के बीच का मॉडल, वास्तव में समुदाय तथा उस समुदाय के व्यक्तियों के बीच के संबंधों का मॉडल था ताकि समाज के अन्दर एक शान्तिपूर्ण सामजस्य स्थापित हो सके। एमिल दुर्खीम ने धर्म को मानव समाज की संकटग्रस्त सामाजिक व्यवस्था (Threatened social order) के रक्षक के रूप में प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार से दुर्खीम ने आत्महत्या को ''समाज के कमजोर बन्धनों (Weak Social Bonds) का कारण बताते हुए कहा है कि सामाजिक बन्धन सामाजिक एकीकरण तथा विनियमन (Social integration and regulation) से बनता है अर्थात समाज पर नियंत्रण वैज्ञानिक ढंग से लागू किये जायें तो समाज का एकीकरण और भी बेहतर हो सकता है। विचलन को समझने के लिए दुर्खीम का 'आत्महत्या' का सिद्धांत समझा जाना आवश्यक है जिसे अब स्पष्ट किया जा रहा है –

## एमिल दुर्खीम का आत्महत्या का सिद्धांत

आत्महत्या की अवधारणा, उसके प्रकारों और कारणों को जानने–समझने की दृष्टि से दुर्खीम के सामाजिक और समाजशास्त्रीय सिद्धांत 'Le Suicide' नाम से प्रकाशित पुस्तक में दुर्खीम ने आत्महत्या के बारे में प्रचलित वैयक्तिक कारणों, प्रेम की असफलता, परीक्षा की असफलता अथवा मनोवैज्ञानिक कारणों, निराशा, कुंठा या मानसिक स्थितियों, आर्थिक कारणों के रूप में निर्धनता, बेरोजगारी अथवा भौगोलिक दशाओं इत्यादि को आधार रूप में उचित नहीं माना। दुर्खीम के अनुसार आत्महत्या एक सामाजिक तथ्य है। अतः इसके कारणों और परिणामों को भी सामाजिक दृष्टि से ही जाना और समझा जा सकता है।

दुर्खीम ने प्रथम खण्ड में आत्महत्या को ऐतिहासिक और सांख्यिकी क्रम में स्पष्ट किया गया है। इसमें पूर्व मतों और कारकों की समीक्षा और विश्व भर के आंकड़ों को व्यवस्थित किया गया है।

टिप्पणी

द्वितीय खण्ड में उन सामाजिक कारकों की पहचान की गई है जो कि आत्महत्या के लिए उत्तरदायी हैं। इसी भाग में आत्महत्या के प्रकारों का वर्णन हैं। तीसरे खंड में आत्महत्या को एक सामाजिक घटना मानते हुए आत्महत्या की सामान्य प्रकृति का वर्णन है। इस भाग में दुर्खीम यह स्थापित करते हैं कि आत्महत्या एक सामाजिक तथ्य है। यह व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर नहीं हैं। यह समाज का अस्वस्थ प्रभाव या दबाव ही होता है जिसके कारण व्यक्ति आत्महत्या के लिए बाध्य होता है अर्थात असामान्य व्यवहार करने लगता है।

आत्महत्या की परिभाषा करते हुए दुर्खीम ने लिखा है कि ''आत्महत्या शब्द का प्रयोग मृत्यु के उन सभी प्रकारों के लिए किया जाता है जो कि प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष आत्महत्या करने वाले व्यक्ति के सकारात्मक या नकारात्मक कार्य का परिणाम हैं, जिनका उसे ज्ञान है।"

व्यक्ति का कोई प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष कार्य जो जीवन लीला को समाप्त करने वाला है, आत्महत्या है।

जीवन नष्ट करने के दो विकल्प हैं– प्रत्यक्ष एवं सकारात्मक जिसमें व्यक्ति तुरंत अपना जीवन समाप्त कर लेता है। दूसरा अप्रत्यक्ष और नकारात्मक जिसमें व्यक्ति अन्न जल ग्रहण करना बंद कर दे और अपने जीवन का अंत कर लेता है।

आत्महत्या करते समय व्यक्ति को यह ज्ञान होता है कि वह जो कुछ भी कर रहा है उससे उनकी जीवनलीला समाप्त हो जायेगी।

इस आधार पर कहा जा सकता है कि आत्महत्या, विचलन की पराकाष्ठा है।

आत्महत्या के प्रकार अथवा श्रेणियां (Types or categories of suicide)

दुर्खीम ने अपने सिद्धांत में आत्महत्या के तीन प्रकारों अथवा श्रेणियों का उल्लेख किया है। टालकोट पारसन्स ने इन्हें आत्महत्या के तीन आदर्श प्रारूप कहा है :

(i) अहंवादी आत्महत्या (Egoistic Suicide)

(ii) परार्थवादी आत्महत्या (Altruistic Suicide)

(iii) अस्वाभाविक आत्महत्या (Anomic Suicide)

(i) **अहंवादी आत्महत्या** (Egoistic Suicide) : अहंवादी आत्महत्या में जब व्यक्ति और समाज का पारस्परिक संबंध समाप्त हो जाता है, व्यक्ति के अहं को ठेस लगती है, और व्यक्ति अपने को समाज से अलग पाता है तो वह आत्महत्या कर लेता है। आज के समय में अधिकांश आत्महत्याएं इसीलिए हो रही हैं कि व्यक्ति स्वार्थी, आत्मकेन्द्रित एकाकी होता जा रहा है। उसकी वैयक्तिक चेतना सामाजिक चेतना से मेल नहीं खाती। एकाकीपन का यह भाव व्यक्ति को आत्महत्या के लिए प्रेरित करता है। दुर्खीम के अनुसार ऐसी आत्महत्याएं सामाजिक एकीकरण के विपरीत चलती हैं। अशिक्षितों की अपेक्षा शिक्षित अधिक आत्महत्या करते हैं। कम जानकारी और अशिक्षा के कारण अशिक्षितों

टिप्पणी

में एकीकरण का भाव अधिक होता है। अतः वह अहंवादी आत्महत्या नहीं करते।

(ii) **परार्थवादी आत्महत्या** (Altruistic Suicide) : परार्थवादी आत्महत्या का कारण व्यक्ति का समूह में एकीकरण का भाव है। जब व्यक्ति अपने को समूह और समाज का अभिन्न अंग मानने लगता है तो समूह हेतु आत्मबलिदान के लिए वह सदैव तत्पर रहता है। सेना में सैनिक अभिन्न रूप से जुड़ा रहता है। अतः युद्ध में उससे अपेक्षा केवल विजय की ही रहती है।

(iii) **अस्वाभाविक आत्महत्या** (Anomic Suicide) : अस्वाभाविक आत्महत्या विभेदीकृत और विशेषीकृत समाज में अस्वाभाविक परिस्थितियों के कारण होती हैं। जैसे किसी परिवार के कर्ता सदस्य की मृत्यु, देश में युद्ध की स्थिति, अचानक आर्थिक संकट की स्थिति, इन सभी में व्यक्ति बदली हुई स्थिति में अपने पद तथा भूमिका में सामंजस्य नहीं बैठा पाते। परिणामस्वरूप आत्महत्या कर लेते हैं। आधुनिक प्रौद्योगिकी जन्य जटिल समाज में श्रम विभाजन इन आकस्मिक स्थितियों में वृद्धि कर अस्वाभाविक आत्महत्याओं में वृद्धि करता है। इस समाज में व्यक्ति की महत्वाकांक्षा बहुत अधिक होती है; कार्य से मिलने वाला संतोष कम।

दुर्खीम के अनुसार आत्महत्या एक सामाजिक तथ्य है। आत्महत्या समूह और समाज के कारण ही होती हैं। अपने द्वारा एकत्रित किए गए तथ्यात्मक आंकड़ों से उपरोक्त तीनों प्रकार की आत्महत्याओं के माध्यम से दुर्खीम ने आत्महत्या सिद्धांत के सामान्य कारणों को रखा है जो निम्नानुसार हैं–

1. किसी भी समाज में आत्महत्याओं को आनुवांशिक, पर्यावरण, मनोवैज्ञानिक या मनोव्याधिकी रूप से स्पष्ट नहीं किया जा सकता।
2. आत्महत्या एक सामाजिक तथ्य है अतः इसके कारण भी सामाजिक ही होते हैं।
3. समाज में जितना अधिक एकीकरण होगा, आत्महत्या की दर उतनी ही कम होगी।
4. धर्म का नियंत्रण जितना अधिक होगा, आत्महत्या की दर उतनी ही कम होगी।
5. आत्महत्या की दर आंकड़ों के अनुसार प्रतिवर्ष एक–सी रहती हैं।
6. सर्दियों की तुलना में गर्मियों की ऋतु में आत्महत्या अधिक होती हैं।
7. स्त्रियों की अपेक्षा पुरुष अधिक आत्महत्या करते हैं।
8. अशिक्षितों की अपेक्षा शिक्षित अधिक आत्महत्या करते हैं।
9. असैनिकों की तुलना में सैनिक अधिक आत्महत्या करते हैं।
10. विवाहितों की तुलना में अविवाहित अधिक आत्महत्या करते हैं।
11. राजनीतिक सुदृढ़ता में कमी आने पर आत्महत्या की दर बढ़ जाती है।
12. शान्ति के समय की तुलना में अशान्ति की परिस्थिति में आत्महत्या की दर बढ़ जाती है।

सामाजिक शक्तियां संपूर्ण समाज का आधार होती हैं उन्हें वैयक्तिक तथ्यों के माध्यम से नहीं जाना जा सकता। ये व्यक्ति से परे मुक्त और स्वतंत्र रूप में अपना कार्य करती हैं। व्यक्ति इन पर आश्रित है। यही शक्तियां आत्महत्या का निर्धारण करती हैं और आत्महत्या का कारण भी होती हैं।

टिप्पणी

## आत्महत्या के सामान्य–कारण

आत्महत्या का संबंध व्यक्ति और समाज दोनों से हैं। यह प्रश्न विवादास्पद रूप से समानांतर आगे बढ़ता है कि व्यक्ति आत्महत्या वैयक्तिक कारणों से करता है अथवा सामाजिक? जो लोग ऐसा मानते हैं कि आत्महत्या का कारण वैयक्तिक होता है। वे आत्महत्या की परिस्थिति के लिए व्यक्ति को ही दोषी बताते हैं। जनसामान्य की यही धारणा है कि व्यक्ति जानबूझकर अपना तानाबाना ऐसा बुनता है जिसके जाल में स्वयं फंस जाता है। जैसे प्रेम अथवा परीक्षा की असफलता के बाद आत्महत्या करना, मद्यपान की आदत से परेशान होकर आत्महत्या, दिखावा, फिजूलखर्ची से आर्थिक तंगी की स्थिति में आत्महत्या करना, इत्यादि। शारीरिक, मानसिक दोष भी व्यक्तिगत कारकों में ही आते हैं। इनका संबंध सामाजिक उत्तरदायित्व के रूप में समाज से भी जुड़ता हैं। दूसरा पक्ष उन कारणात्मक परिस्थितियों का है जिनमें समाज के असहयोग के कारण व्यक्ति आत्महत्या के लिए बाध्य होता है। अतः व्यक्ति और समाज से संबंधित विभिन्न पक्षों के आधार पर आत्महत्या के निम्न कारण उल्लेखनीय हैं–

1. **आत्महत्या के कारणों से संबंधित सिद्धान्तकारों के विचार** (Theorist Views related with suicidal causes) : दुर्खीम का यह मानना है कि आत्महत्या का मूल कारण सामाजिक ही होता है। सामाजिक परिस्थितियां ही व्यक्ति को आत्महत्या के लिए बाध्य करती हैं। फ्रॉयड ने मनोवैज्ञानिक आधार को लेकर माना है कि इड, इगो और सुपर इगो में हीनता, निराशा, कुंठा, हताशा तथा घृणा की स्थितियां व्यक्ति द्वारा आत्महत्या के कारण हैं। समाज में अनेकों प्रकार की पद संरचना में व्यक्ति भूमिकाओं के साथ समायोजन नहीं बिठा पाता परिणामस्वरूप आत्महत्या कर लेता है। कैवन के अनुसार समस्याओं को न हल कर पाने की निराशा में फंसने से व्यक्ति मानसिक संघर्ष में फंस जाता है और आत्महत्या कर बैठता है। एक अन्य विद्वान ने नगरीय जीवन के एकाकीपन और नगर से जुड़ी हुई विषम परिस्थितियों को आत्महत्या का कारण बताया है। हेनरी और शार्ट ने आर्थिक अभाव से उत्पन्न विक्षिप्तता को आत्महत्या के लिए उत्तरदायी माना है। वास्तव में इन सभी कारणों में मनुष्य का असामान्य व्यवहार एवं विचलन आवश्यक रूप से उत्तरदायी है।
2. **वैयक्तिक कारण** (Individual Causes) : आत्महत्या के लिए उत्तरदायी वैयक्तिक कारकों में वैयक्तिक असफलताएं जैसे परीक्षा में असफलता, प्रेम में असफलता, किसी कार्य या रोजगार की असफलता आत्महत्या का कारण बनती हैं। शारीरिक दोष व्यक्ति का अंगभंग होना, अंधा–लंगड़ा, लूला, पोलियो ग्रस्त होना, कुरूपता इत्यादि से व्यक्ति हीन भावना का शिकार होकर आत्महत्या करता है। लोग मानसिक विकारों और तनावों से ग्रस्त रहते हैं

टिप्पणी

जिनसे स्नायु दोषों, मानसिक अस्थिरता की स्थिति में निर्णय नहीं ले पाते और आत्महत्या कर लेते हैं। मादक द्रव्य व्यसन आजकल वैयक्तिक कारणों में आत्महत्या का सबसे बड़ा कारण होता जा रहा है। लोग चिंताओं, बीमारियों, मानसिक तनावों से कथित छुटकारा पाने के लिए भ्रमवश, मद्यपान और मादक द्रव्य व्यसन की आदत का शिकार हो जाते हैं। नशे की हालत में या नशे के लिए पैसा न मिलने के कारण आत्महत्या कर लेते हैं। यह विचलन का साधारणम स्वरूप है।

3. **पारिवारिक कारण** (Familial Factors) : पारिवारिक कारक यूं तो सामाजिक कारकों का ही प्रमुख भाग है लेकिन आत्महत्या की दृष्टि से आजकल इसका प्रभाव विघटनात्मक स्थितियों में बहुत अधिक बढ़ गया है। इस कारण अन्य सामाजिक कारकों से इसे अलग बताया जाना अधिक प्रासंगिक हैं। पति–पत्नी में सामंजस्य का अभाव होने की स्थिति में पति द्वारा पत्नी के साथ दुर्व्यवहार, मारपीट, क्रूरता इत्यादि से तंग आकर पत्नी आत्महत्या कर लेती है। उसी प्रकार पत्नी द्वारा पति की उपेक्षा किसी दूसरे पुरुष से शारीरिक संबंध, क्रूर व्यवहार होने पर पति आत्महत्या करता है। इसी प्रकार, टूटे परिवार या नष्ट परिवार की परिस्थिति पति–पत्नी में से किसी की मृत्यु, दोनों में अलगाव, तलाक की परिस्थिति, अकेला व्यक्ति आत्महत्या के लिए प्रेरित हो सकते हैं।

4. **सामाजिक कारण** (Social Factors) : आत्महत्या का सबसे बड़ा कारण सामाजिक ही है। समाज का अस्वस्थ प्रभाव होने की स्थिति में आवश्यकताओं की पूर्ति न होने, अनावश्यक सामाजिक असम्मान, सामाजिक भूमिका निर्वाह की कठिनाईयों के कारण व्यक्ति आत्महत्या करता है। सामाजिक कुरीतियां आत्महत्या का सबसे प्रमुख कारण बनती हैं। सामाजिक विघटन की परिस्थिति आत्महत्या की ही परिस्थिति होती हैं। समाज में सामाजिक नियंत्रण के साधनों द्वारा अपना कार्य प्रभावी तरीके से न कर पाने के कारण अराजकता, परिवारों का विघटन, पारस्परिक विवाद, तनाव की स्थितियां, युद्ध, अकाल, महामारी की परिस्थितियां आत्महत्या का कारण बनती हैं।

5. **आर्थिक कारण** (Economic Factors) : आर्थिक कारकों के अन्तर्गत निर्धनता आत्महत्या का बड़ा कारण है। यद्यपि हर गरीब व्यक्ति आत्महत्या नहीं करता लेकिन किसी भी व्यक्ति को विषम आर्थिक परिस्थितियां आत्महत्या हेतु प्रेरित कर सकती हैं। बेरोजगारी की परिस्थिति जिसमें व्यक्ति डिग्रियां लेकर कार्य और रोजगार के लिए दर–दर भटकता है लेकिन कार्य नहीं मिलता तो व्यक्ति आत्महत्या कर लेता है। आजकल शिक्षितों में बेरोजगारी के कारण आत्महत्या की दर बढ़ी हुई है। जब व्यक्ति आर्थिक रूप से क्षीण हो जाता है तो स्वयं पर एवं व्यवहार पर नियंत्रण नहीं कर पाता तथा विचलित होकर कोई ऐसा कार्य कर बैठता है जो व्यवहारिक नहीं है।

## रॉस का सिद्धान्त

E.A. रॉस (Edward Alsworth Ross, 1866–1951) का प्रारम्भिक अपराध शास्त्र (Criminology) में महत्त्वपूर्ण योगदान है। रॉस ने 1917 की रूसी क्रान्ति का समर्थन

किया था तथा बोल्शेविक पार्टी की भी हिमायत की थी। इन्होंने सोवियत संघ को मान्यता दिलाने में अग्रणी भूमिका (अमेरिका में) निभाई थी। विचलन को समझने के लिए रॉस का सामाजिक नियंत्रण सिद्धांत समझना आवश्यक है।

टिप्पणी

सामाजिक नियंत्रण का सिद्धांत, समाजशास्त्रीय साहित्य में 1894 में स्माल और विन्सेन्ट (A Small & G.E. Vincent), An Introduction to the study of Society. New York 1894) के द्वारा सर्वप्रथम, प्रारम्भ करवाया गया था। हालांकि इस सिद्धांत का उद्‌भव अगस्ट कॉम्टे के मस्तिष्क से हुआ था। बाद में कूले और रॉस (Cooley and Ross) ने इस विषय पर विस्तृत अध्ययन करने के बाद कई शोध पत्र प्रकाशित किये। (E.A. Ross, Social Control, New York 1901) रॉस तथा कूले ने इस तथ्य को उजागर किया कि मानव व्यवहार को नियंत्रित करके मानव समाज में सामाजिकता के स्तर को बनाए रखा जा सकता है। रॉस के अनुसार व्यक्ति में चार मूल प्रवृत्तियां होती हैं (i) मूल्यों की पूंजी (Moral Capital) (ii) सहानुभूति (Sympathy) (iii) सामाजिकता का गुण (Sociability) और (iv) न्याय का दृष्टिकोण (sense of justice)। इसी आधार पर मनुष्य सामाजिक होता है तथा समाज में सामंजस्य (harmony) के साथ रहता है। हालांकि जैसे–जैसे सामाजिक विकास होता गया मनुष्य में एक और प्रवृत्ति पैदा हुई जो उसे स्वयं के स्वार्थ की तरफ (self interest) ले गई। इसी कारण प्राकृतिक समाज की जगह एक कृत्रिम समाज बन गया। और मानव का यह बदला हुआ स्वरूप सामाजिक नियंत्रण के रूप में सामने आया जिससे एक मनुष्य ने दूसरे पर नियंत्रण करना प्रारम्भ कर दिया। रॉस के अनुसार सामाजिक प्रधानता को भी चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है– (i) भीड का मन (mob-mind) (ii) फैशन (iii) रूढ़ि या प्रथाएं (convention and customs) (iv) आम राय (Public opinion) या सामाजिक नियंत्रण। रॉस का यह भी मत है कि सामाजिक नियंत्रण किसी उद्‌देश्य या सामाजिक वर्चस्व के कारण भी सामाजिक परिवेश पर नियंत्रण है। यही प्रवृत्ति समाज की तथा जीवन की आवश्यकता की भी पूर्ति करने में सहायक होती है। इसी शोध से अन्य समाज शास्त्रियों ने नये विषयों की खोज की जिसे आज सामाजिक मनोविज्ञान (Social Psychology) कहते हैं।

## पारसंस का सिद्धान्त

टॉल्कट पारसंस (Talcott Parsons) एक प्रसिद्ध अमेरिकी समाजशास्त्री थे। पारसंस ने एक सामान्य सिद्धान्त दिया जिसे ''क्रिया सिद्धांत'' (action theory) कहा जाता है। तदोपरान्त इन्होंने एमिल दुर्खीम तथा पारेटो के किये गये कार्यों का बारीकी से अध्ययन तथा अन्वेषण किया।

पारसंस ने मूलतः मॉरफालाजीकल विश्लेषण (Morphological analysis) तथा मॉरफालाजीकल संरचना (Morphological Structure) के बीच साफ–साफ अन्तर स्पष्ट करने का प्रयास किया है। इसी आधार पर इन्होंने सामाजिक व्यवस्था का विश्लेषण भी प्रस्तुत किया है। पारसन्स द्वारा सामाजिक एकीकरण और मानक तन्त्र (Social intergration and standard mechanism system) के सम्बन्ध में दिया गया तर्क अत्यन्त उन्नत तर्क है।

टिप्पणी

## समनर का सिद्धान्त

विलियम ग्राहम समनर (William Grahm Sumner, (1840-1911) द्वारा पुस्तक लोकरीतियां (Folkways), सामाजिक महत्त्व की लोकरीतियों, रिवाज, शिष्टाचार, आचार तथा नैतिकता आदि से सम्बन्धित अध्ययन पर आधारित है। स्मनर येले विश्वविद्यालय अमेरिका में इतिहास, राजनीति व समाजशास्त्र के प्रोफेसर थे। इन्होंने भारतीय समाज में महिलाओं की स्थिति पर शोधपत्र प्रकाशित किये हैं। सामाजिक नियंत्रण के सम्बन्ध में स्मनर का कहना है कि– 'लोकरीतियां, सामाजिक बल है' (Folkways are a Societal force), (Ref. W.G. Sunmer, Folleways, Gin & company, USA 1906) समनर ने अपनी पुस्तक Folkway में यह स्पष्ट किया है कि लोकरीतियां एक प्रकार का सामाजिक बल है जो समाज के अन्दर नियंत्रण तथा उसके अन्दर सामाजिकता उत्पन्न करने का कार्य करता है। इस प्रकार से समाज के अन्दर कई ऐसे नियम, कानून, प्रथाएं आदि प्रचलित हो जाते हैं जिनका निर्वाह करना सामाजिक मनुष्य के लिए बाध्यता हो जाती है। जो व्यक्ति इन रीतियों का पालन नहीं करते, समाज उन्हें मुख्य धारा से पृथक मानता है एवं ऐसे व्यक्ति विचलित (deviant) श्रेणी में आते हैं। लोकरीतियां ही मनुष्य को सामाजिक अथवा असामाजिक रूप से नापने का पैमाना होती हैं।

## विचलन के सिद्धांतों का समीक्षात्मक विश्लेषण

समाजशास्त्री इस तथ्य पर तो एकमत हैं कि विचलन वह मानव व्यवहार है जो समाज के स्थापित नियमों के विरुद्ध आचरण के अंतर्गत आता है।

'Deviance is any behavior that violates the standards of conduct or expectations (social norms) of a group or a society'

विचलन को समझने के लिए अनेक प्रकार के समाजशास्त्रीय सिद्धांत प्रतिपादित किए गए हैं जिनमें से एमिल दुर्खीम का आत्महत्या का सिद्धांत, विभेदक सिद्धांत, नियंत्रण सिद्धांत, तनाव सिद्धांत, प्रकार्यात्मक सिद्धांत इत्यादि प्रमुख रूप से हैं। प्रत्येक समाजशास्त्री ने अपने सिद्धांत को अपनी विवेचना के अनुसार व्याख्या करके स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि किस प्रकार से समाज में व्यक्ति विचलन युक्त व्यवहार करते हैं। इन मानव व्यवहारों की व्याख्या विभिन्न सिद्धांतों के माध्यम से करने के उपरांत यह स्पष्ट हो जाता है कि सामाजिक विचलन के सामाजिक नियंत्रण एवं व्यवस्था की स्थापना में किस प्रकार की भूमिका एवं प्रभाव परिलक्षित होते हैं। इस संदर्भ में यह भी आवश्यक हो जाता है कि इन सिद्धांतों का आलोचनात्मक मूल्यांकन भिन्न भिन्न दृष्टिकोण से किया जाना चाहिए। प्रमुख विचलन सिद्धांत का आलोचनात्मक विवरण निम्नलिखित प्रकार से समझा जा सकता है।

## विभेदक सिद्धांत

इस सिद्धांत की अवधारणा एडविन सदरलैंड (Edwin Sutherland) ने रखी थी, एवं सदरलैंड का कहना था कि विभेदक संस्थाएं मनुष्य के व्यवहार को समझने में सहायक होती है। इस सिद्धांत के अनुसार यह मान्यता रखी गई थी। "पर्यावरण यह तय करने में एक प्रमुख भूमिका निभाता है कि लोग किन मानदंडों का उल्लंघन करना सीखते हैं। विशेषरूप से, एक विशेष संदर्भ समूह के लोग अनुरूपता और विचलन के मानदंड प्रदान

करते हैं और इस प्रकार अन्य लोगों द्वारा दुनिया को देखने के तरीके को तथा प्रतिक्रिया के तरीकों, दोनों को प्रभावित करते हैं। उन्ही के शब्दों में–

"the environment plays a major role in deciding which norms people learn to violate. Specifically, people within a particular reference group provide norms of conformity and deviance, and thus heavily influence the way other people look at the world, including how they react"

टिप्पणी

## एमिल दुर्खीम : विचलन की आवश्यक प्रकृति

एमिल दुर्खीम प्रकार्यात्मक सिद्धांत के समर्थक हैं तथा इन्होंने विचलन को प्रकार्यात्मकता के आधार पर ही समझाने का प्रयत्न किया है। हम जानते हैं कि प्रकार्यात्मक सिद्धांत में मुख्य रूप से निम्नलिखित सिद्धांत होते हैं जिनके आधार पर विचलन को समझा जा सकता है–

- सामाजिक विघटन सिद्धांत Social disorganization theory
- तनाव सिद्धांत Strain theory
- सांस्कृतिक विचलन सिद्धांत Cultural deviance theory

इन सिद्धांतों में एमिल दुर्खीम का विचलन का प्राथमिक व्यवहार नामक सिद्धांत महत्वपूर्ण है जो उन्होंने वर्ष 1893 में प्रतिपादित किया था। इस सिद्धांत को उस समय के नागरिक अधिकारों के आंदोलनों से प्रेरित माना जाता है क्योंकि उस समय का नागरिक समाज अपने मानव अधिकारों के लिए अनेक प्रकार के ऐसे आचरण कर रहा था जो कि समाज में इससे पहले नहीं किए गए थे। अतः स्पष्ट है कि समाज का एक वर्ग उन आचरणों का विरोध ही कर रहा था। परंतु मानव अधिकारों की रक्षा एवं उनकी शुद्धता के लिए इस प्रकार के आंदोलन आवश्यक हो जाते हैं क्योंकि कोई भी व्यवस्था स्थाई नहीं होती एवम प्रत्येक व्यवस्था में कुछ न कुछ कमी अवश्य ही होती है तथा विचलन इस प्रकार की सामाजिक कमियों को दूर करने के लिए सार्थक प्रयास करके उनको दूर करने का प्रयत्न करता है।

## विचलन का सामाजिक विघटन सिद्धांत

एमिल दुर्खीम ने वर्ष 1920 एवं 1930 के मध्य सामाजिक विघटन सिद्धांत का प्रतिपादन किया एवं यह स्पष्ट करने का प्रयास किया कि सामाजिक नियंत्रण के अभाव में मनुष्य इस प्रकार का व्यवहार करने लग जाता है जो समाज की एकजुटता एवं उसके अस्तित्व के लिए चुनौती बन जाते हैं। अतः सामाजिक नियंत्रण के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि समाज में कुछ इस प्रकार के विचलन प्रेरित किए जाएं ताकि समाज में एकजुटता एवं मानवीय मूल्यों का प्रोत्साहन हो सके। सामाजिक विघटन का सिद्धांत यह बहुत स्पष्ट रूप से मानता है कि कोई भी व्यक्ति अपराधी के रूप में जन्म नहीं लेता है और न समाज में ही आकर तथा समाज के वातावरण के प्रभाव में ही वह व्यक्ति इस प्रकार का आचरण करने पर विवश हो जाता है कि अन्य व्यक्ति उसे अपराधी कहने लग जाएं। इसी प्रकार की अवधारणा वर्ष 1969 के नियंत्रण सिद्धांत में भी स्पष्ट की गई है। हीरासी ने 1969 में, इस सिद्धांत में चार प्रकार के प्रमुख सिद्धांतों का वर्णन किया है

जिनके आधार पर समाज के व्यक्ति आपस में तालमेल बनाकर रखने में सफल होते हैं।

टिप्पणी

**पारस्परिक लगाव** : इस संदर्भ में हीरासी का कहना है कि जब समाज में व्यक्ति एक दूसरे के साथ जुड़े हुए होते हैं तो पारस्परिक विचारों का एक दूसरे पर प्रभाव पड़ता है। इस सिद्धांत का महत्व इस तथ्य में भी है कि व्यक्ति जब पारस्परिक रूप से एक दूसरे के साथ तन्मयता से जुड़े हुए होते हैं तो वह समाज तथा उस समाज के व्यक्ति समाज के स्थापित नियमों का पालन करना अपना कर्तव्य समझते हैं।

**प्रतिबद्धता** : इस प्रकार की अवधारणा का विश्वास है कि जब व्यक्ति आपस में एक दूसरे के साथ संबद्ध होते हैं तो वे पारंपरिक व्यवहार को सामान्य रूप से मान लेते हैं। इसका अभिप्राय यह हुआ कि जब समाज में व्यक्तियों के पारस्परिक संबंधों में किसी प्रकार के अंतर नहीं होते हैं और उनके पारस्परिक प्रकार्य एक दूसरे से जुड़े हुए होते हैं तथा एक दूसरे पर आधारित होते हैं तो ऐसा समाज सामाजिक विचलन की तरफ कम आकृष्ट होता है।

**सामूहिकता का स्तर** : हीरासी के अनुसार जब व्यक्तियों का पारस्परिक लगाव तथा सम्मिलित होने का भाव प्रबल होता है तो समाज में विचलन की संभावना कम होती है। सामूहिकता के दृष्टिकोण से अगर इस तथ्य का विवेचनात्मक अध्ययन किया जाए तो स्पष्ट होता है कि यह प्रत्येक समाज में सत्य ही प्रतीत होता है कि यदि समाज के व्यक्तियों के बीच में पारस्परिक सौहार्द स्थापित है तथा उनके बीच में आपसी सामंजस्य उपलब्ध है तो उस समाज तथा समाज के व्यक्ति विचलित नहीं होते हैं तथा सामूहिकता और मेलजोल की भावना से समाज में उन प्रतिमानों को स्थापित रखने में सहायक सिद्ध होते हैं जो समाज के नियंत्रण तथा समाज के विकास के लिए महत्वपूर्ण कार्य करते हैं।

**विश्वास का बंधन** : समाज की रचना ऐसी होती है कि समाज के अंदर जो भी विश्वास होते हैं लोगों की उनके ऊपर आस्था होती है जिसके आधार पर समाज के व्यक्ति स्थापित सामाजिक मूल्यों तथा विश्वासों में अपनी आस्था प्रकट करते हैं। इस प्रकार से समाज में इस प्रकार का वातावरण उत्पन्न होता है जो समाज को साफ–सुथरा एवं नियंत्रित रखने में सहायक होता है। उदाहरण के तौर पर यदि किसी कॉलोनी का परिदृश्य देखा जाए तो कॉलोनी के व्यक्तियों तथा उनकी मानसिक स्थिति के अनुसार वहां पर साफ.सफाई का माहौल बना कर रखा जाता है तथा सभी व्यक्ति इस माहौल को अधिक से अधिक बेहतर बनाने में अपनी भूमिका प्रदान करते हैं। यह अवधारणा इस तथ्य से भी सही प्रतीत होती है कि यदि समाज में व्यक्तियों में सामूहिकता एवं एकता की भावना है तो ऐसा समाज सामाजिक विकास के पथ पर तीव्र गति से प्रगतिशील होता है तथा वहां पर व्यक्तियों एवं सामूहिक रुप से विचलन की संभावना अत्यंत क्षीण हो जाती है।

## रोबर्ट मर्टन का तनाव सिद्धांत

सामाजिक विचलन की व्याख्या करने में रोबर्ट मर्टन का तनाव सिद्धांत अत्यंत ही महत्वपूर्ण है। इस सिद्धांत में मर्टन ने समाज के प्रकार्यात्मक स्वरुप में मनुष्य के सामान्य व्यवहार को स्पष्ट किया है। रोबर्ट मर्टन का तनाव सिद्धांत यह स्पष्ट करता

है कि समाज में व्यक्तियों एवं समूहों के द्वारा निर्धारित किए गए लक्ष्यों की पूर्ति तथा उन लक्षणों की पूर्ति हेतु किए गए प्रयासों के मध्य एक निश्चित अंतराल होता। इस निश्चित अंतराल की रोबर्ट मर्टन का तनाव सिद्धांत पांच प्रकार से व्याख्या करता है, जिनके आधार निम्नलिखित हैं–

टिप्पणी

- **अनुरूपता** : रॉबर्ट मर्टन ने अनुरूपता के अपने सिद्धांत में स्पष्ट किया है कि समाज के अधिकतर व्यक्ति यह प्रयास करते हैं कि वे समाज के निर्धारित नियमों एवं प्रतिमानों के अनुरूप ही व्यवहार करें तथा इससे विचलित ना हों। अधिकतर लोग यह लोग यह भी प्रयास करते हैं कि वे समाज के निर्धारित लक्ष्यों की पूर्ति हेतु समाज द्वारा संस्तुत किए गए प्रतिमानों के आधार पर ही व्यवहार करें।

  इस सिद्धांत की व्याख्या करने से यह स्पष्ट होता है कि उन्होंने यह सत्यापित करने का प्रयास किया है कि मानव समाज में इस प्रकार के व्यक्ति अधिकांश मात्रा में होते हैं जो समाज के निर्धारित नियमों, प्रतिमानों, रीति–रिवाजों तथा नियम कानूनों को मानते हैं तथा उन नियमों पर चलने का प्रयास करते हैं तथा उन से विचलित नहीं होते।

- **अभिनवता अर्थात इन्नोवेशन** : रॉबर्ट मर्टन ने यह भी स्पष्ट किया है कि समाज में सभी व्यक्तियों के उद्देश्य एक समान नहीं होते हैं वरन भिन्न–भिन्न होते हैं। अभिनव उद्देश्यों वाले व्यक्ति अपने उद्देश्यों को विधिवत रूप से प्राप्त नहीं कर पाते हैं तो वे असामान्य व्यवहार अथवा आपराधिक विचार के द्वारा अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। इस अवधारणा की व्याख्या करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक समाज में ऐसे व्यक्ति विद्यमान होते हैं जो व्यक्ति स्थापित नियमों की अवहेलना करके अपने स्वार्थों की पूर्ति करने का प्रयत्न करते हैं उन व्यक्तियों को अपराधी को श्रेणी में भी रखा जा सकता है तथा अभिनव सर्जनात्मक श्रेणी में भी रखा जा सकता है क्योंकि इनका आचरण आपराधिक अथवा गैर आपराधिक भी हो सकता है।

- **रीतिरिवाज** : समाज में अनेक प्रकार के व्यक्ति इस प्रकार के होते हैं जो समाज के निर्धारित लक्ष्यों की पूर्ति करने के लिए समाज द्वारा स्वीकृत विधियों के माध्यम को अपनाकर अपना लक्ष्य सिद्ध करते हैं। उन्हें सामाजिक लक्ष्य प्राप्ति के साधन के तौर पर स्वीकार कर लेते हैं तथा व्यक्ति स्व–स्वीकृत विधियों को छोड़ देना बेहतर समझते हैं। इस प्रकार की अवधारणा को सामंजस्य की श्रेणी में रखा जा सकता है।

- **रीट्रीज्म** (Retreatism) : समाज में अनेक प्रकार के व्यक्ति इस प्रकार के भी होते हैं जो समाज के स्थापित उद्देश्यों एवं स्वीकार्य नियमों को अपने ढंग से परिभाषित करके उन्हें प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। जिस प्रकार से समाज में एक वर्ग अत्यंत निर्धन तथा निर्बल होता है तथा अपना जीवन यापन किसी प्रकार से कर लेता है चाहे वह भिक्षाटन हो अथवा मेहनत मजदूरी करके अपना पेट पालना हो। इस प्रकार के व्यक्तियों की संख्या भी समाज में कम नहीं है एवं इस प्रकार के वर्ग का समाज की आर्थिक उन्नति अथवा समाज के अन्य प्रकार के विकास में इनका कोई विशेष योगदान नहीं होता है।

टिप्पणी

सामान्य रूप से यह अपना ही गुजारा करने का प्रयत्न करता है तथा इस को समाज की मुख्यधारा से कोई विशेष मतलब नहीं होता है।

- **विद्रोह** : समाज में कुछ अत्यंत महत्वकांक्षी प्रकार के व्यक्ति भी अवश्य ही होते हैं जो अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए निर्धारित मानकों के विरुद्ध विद्रोह करके अपना उद्देश्य प्राप्त करना चाहते हैं। इन व्यक्तियों को विद्रोही श्रेणी में रखा जाता है तथा विचलन का यह प्रकार अत्यंत ही महत्वपूर्ण प्रकार का होता है तथा समाज में अनेक प्रकार के परिवर्तनों को करने के लिए उत्तरदाई होता है। सामाजिक संरचना में परिवर्तन विद्रोही विचारकों के कारण होते हैं। विद्रोह की प्रकृति व्यक्ति की महत्वकांक्षा एवं उद्देश्यों पर निर्भर करती है।

  भारतीय परिप्रेक्ष में देखा जाए तो अनेक प्रकार के ऐसे विद्रोही व्यक्ति हुए हैं जिन्होंने समाज की स्थापित मान्यताओं के विरुद्ध आचरण करके अपने उद्देश्यों को प्राप्त किया है तथा समाज में परिवर्तन की एक नई दिशा की नींव को रखा है। इस प्रकार के विचलन की श्रेणी में फूलन देवी द्वारा किया गया व्यवहार सम्मिलित किया जा सकता है।

उपर्युक्त सिद्धांतों एवं तर्कों के आधार पर हम कह सकते हैं कि सिद्धांतों को प्रत्येक समाज की स्थापित मान्यताओं, उद्देश्यों तथा मनुष्यों की व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं इत्यादि के आधार पर देखा जाना चाहिए। सामाजिक नियंत्रण तथा सामाजिक विचलन का सकारात्मक स्वरूप समाज की भलाई, समाज के समग्र विकास हेतु होना चाहिए। विचारकों का यह सिद्धांत भी सराहनीय है कि प्रत्येक समाज में परिवर्तन के लिए विचलन होना आवश्यक है। इसी कारण से समाजशास्त्रियों ने समय–समय पर समाज की गहराई से विवेचना करते हुए विचलन तथा इसके प्रभावों का अध्ययन किया है ताकि समाज की उन्नति में अपना योगदान दिया जा सके।

19वीं सदी में समाजशास्त्रीय और भौगोलिक अभिमत का उदय साथ–साथ हुआ। दोनों ने ही पर्यावरण को अपराध का कारण माना। भौगोलिक अभिमत पर्यावरण को महत्वपूर्ण मानता है जबकि समाजशास्त्रीय अभिमत सामाजिक–सांस्कृतिक पर्यावरण को। सदरलैण्ड के अनुसार, 'इस सिद्धान्त का केन्द्रीय तत्व यह है कि अपराध उन्हीं प्रक्रियाओं का फल है जिनमें दूसरे प्रकार के सामाजिक व्यवहार उत्पन्न होते हैं।

**मर्टन का व्याधिकी (एनामी) सिद्धान्त (Merton's Anomic Theory)**– मर्टन ने एनामी की अवधारणा दुर्खीम से ग्रहण की। दुर्खीम ने ही सर्वप्रथम एनामी की अवधारणा का प्रयोग समाज में श्रम–विभाजन को स्पष्ट करने के दौरान किया था। दुर्खीम की मान्यता है कि जब व्यक्ति की आकांक्षाएं असीमित हो जाती हैं और जब उन पर नियंत्रण शिथिल हो जाता है तो उनकी पूर्ति असंभव हो जाती है। असीमित आकांक्षाएं व्यक्ति पर समाज विरोधी व्यवहार के लिए दबाव डालती हैं जिससे नियमहीनता उत्पन्न होती है। समाज में श्रम–विभाजन के बढ़ने पर समाज के विभिन्न अंगों में सामंजस्य नहीं रह पाता है और समाज की एकता घट जाती है तथा विभिन्न वर्गों में परस्पर संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। प्रत्येक समाज में नियमहीनता या व्याधिकी की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। सामाजिक नियंत्रण के अभाव की यह स्थिति ही अपराध को जन्म देने के लिए उत्तरदायी है।

टिप्पणी

दुर्खीम के इस सिद्धान्त को मर्टन ने और अधिक विकसित किया। आपने बताया कि प्रत्येक समाज के कुछ सांस्कृतिक लक्ष्य होते हैं। इन सांस्कृतिक लक्ष्यों को किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है। इसके संस्थागत साधन भी समाज द्वारा स्वीकृत और निश्चित होते हैं। जब सांस्कृतिक लक्ष्यों और संस्थागत साधनों में सामंजस्य नहीं होता है तो ऐसी स्थिति को मर्टन व्याधिकी (एनामी) कहते हैं। यह स्थिति ही व्यक्ति पर अपराध करने के लिए दबाव डालती है। उदाहरणार्थ– धन अर्जित कर सामाजिक स्थिति को ऊंचा उठाना हमारी संस्कृति द्वारा निर्धारित लक्ष्य है। साथ ही समाज यह भी कहता है कि धन ईमानदारी और वैध साधनों द्वारा कमाया जाए। किन्तु यदि कोई व्यक्ति चोरी, बेइमानी, कालाबाजारी, मिलावट आदि से पैसा कमाकर उच्च सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करता है तो ईमानदार व्यक्तियों में क्षोभ उत्पन्न होता है। यदि अधिकांश व्यक्ति धन कमाने के लिए संस्थागत साधनों के विपरीत तरीके काम में लेते हैं तो समाज में नियमहीनता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है तथा अन्य व्यक्तियों को भी व्यापार के अवैधानिक तरीके प्रयुक्त करने के लिए प्रेरित करती है। इस प्रकार अपराध एक प्रस्तुत परिस्थिति के प्रति प्रतिक्रिया है। इस सिद्धान्त की प्रमुख कमी यह है कि मर्टन ने सामाजिक नियंत्रण को आवश्यक महत्व नहीं दिया है।

## उप–संस्कृति सिद्धान्त

क्लोवार्ड और ओहलिन ने अपराधी उप–संस्कृति की अवधारणा प्रस्तुत की। अपराधी उप–संस्कृति में अपराध केन्द्र बिंदु होता है और अपराधी क्रियाओं का इस संस्कृति द्वारा समर्थन किया जाता है। अपराधी उप–संस्कृति के तीन प्रकार हैं–

- अपराधी उप–संस्कृति– इसमें अपराधी गिरोह भौतिक लाभ के लिए अवैध साधनों (चोरी, कपट, धोखा) आदि का सहारा लेता है। ये लोग हिंसा का प्रयोग नहीं करते। ये साधारणतः समाज के प्रतिष्ठित व्यक्ति होते हैं।
- संघर्ष उप–संस्कृति इसमें गिरोह धमकी, मारपीट हत्या आदि का सहारा लेता है।
- अपक्रमण वाली उप–संस्कृति– इसमें नशीली वस्तुओं जैसे– शराब, अफीम, गांजा, चरस आदि का प्रयोग किया जाता है।

क्लोवार्ड–ओहलिन का मत है कि अपराधी उप–संस्कृति में निम्न वर्ग के लोग अपनी आर्थिक स्थिति को उच्च करने हेतु सम्मिलित होते हैं। इसका कारण यह है कि वे रूढ़िगत नियमों का पालन करके अपने लक्ष्यों की प्राप्ति करना व्यवहारिक दृष्टि से कठिन मानते हैं।

## आलोचना

- क्लोवार्ड–ओहलिन द्वारा अवसरों को वैध और अवैध में विभक्त करना उचित नहीं है क्योंकि एक ही अवसर एक व्यक्ति के लिए वैध है तथा दूसरे के लिए अवैध।
- यह सिद्धान्त केवल अपराधी उप–संस्कृति द्वारा समर्थित क्रियाओं की ही व्याख्या करता है, सभी प्रकार के अपराधों की नहीं।

## 4.3.4 विचलन और आधिकारिक आंकड़े

टिप्पणी

विचलन के प्रामाणिक आंकड़े प्रस्तुत करने से पूर्व इसमें प्रयुक्त होने वाले शब्दों को परिभाषित करना आवश्यक है। विचलन से आशय है, जब व्यक्ति का व्यवहार या आचरण सामाजिक मूल्यों, मान्यताओं, परम्पराओं, आदर्शों, प्रतिमानों आदि के अनुकूल नहीं होता तो व्यक्ति के ऐसे व्यवहार को समाज द्वारा अस्वीकृत व्यवहार या विचलित व्यवहार की श्रेणी में रखा जाता है और समाज शास्त्रीय शब्दावली में इसे सामाजिक विचलन (विचलित व्यवहार) कहा जाता है। समाज में व्यक्ति को ऐसे व्यवहार करने की स्वीकृति नहीं दी जा सकती है क्योंकि ऐसा करने से सामान्य सामाजिक संबंधों को क्षति पहुंचती है।

प्रामाणिक/अधिकारिक आंकड़ों से तात्पर्य है– संख्याओं के रूप में एकत्रित सूचनाएं/जानकारी/जो कि विभिन्न राजनीतिक तथा गैर–राजनीतिक संस्थानों द्वारा समाज तथा उसके विभिन्न पहलुओं के सम्बन्ध में नीति–निर्माण, शोध हेतु प्रयुक्त किए जाते हैं। आधिकारिक आंकड़े सामाजिक जीवन के विभिन्न पहलुओं को एक सिंहावलोकन प्रदान करते हैं।

### सांख्यिकीय आधार पर अपराध

सरकार द्वारा संख्या के आधार पर अपराधों को प्रमुखतः पांच भागों में बांटा गया है–

- व्यक्ति के विरुद्ध अपराध– हत्या, मारपीट, बलात्कार आदि।
- सम्पत्ति के विरुद्ध अपराध– चोरी, डकैती, लूट आदि।
- राज्य के विरुद्ध अपराध– राजद्रोह, जासूसी आदि।
- व्यवस्था के विरुद्ध अपराध– मदिरापान, जुआ, वेश्यावृत्ति और उपद्रव फैलाना आदि।
- न्याय के विरुद्ध अपराध– न्यायालय का अपमान व अपराधी घोषित होने पर सजा न भुगतना आदि।

अपराध के प्रामाणिक आंकड़े भारत में निम्नलिखित प्रकार के अपराधों की व्याख्या करते हैं–

- भारत में स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों द्वारा अधिक अपराध किए जाते हैं। प्रति सौ अपराधियों में पुरुष अपराधियों की संख्या 96 तथा महिला अपराधी 4 होती हैं।
- गांवों की तुलना में नगरों में अधिक अपराध होते हैं।
- बालकों की तुलना में युवकों द्वारा अधिक अपराध किए जाते हैं। यहां 18 से 30 वर्ष के आयु वर्ग में अपराध की दर सर्वाधिक (44.9%) है।
- कुछ ज्ञातव्य अपराधों में उत्तर प्रदेश, असम, त्रिपुरा, हरियाणा, पश्चिमी बंगाल तथा अरुणाचल प्रदेश राज्य शीर्ष पर हैं।
- क्लीनार्ड की मान्यता है कि औद्योगीकरण एवं नगरीकरण की वृद्धि के साथ–साथ अपराधों की संख्या में भी वृद्धि होती है। भारत में प्रतिवर्ष भारतीय दण्ड संहिता के अन्तर्गत 6601285 अपराध पंजीकृत होते हैं (2020 NCRB)। अपराधों की वृद्धि का एक कारण यह भी है कि पहले अधिकांश झगड़े गांवों में जाति–पंचायतों एवं ग्राम पंचायतों द्वारा सुलझा दिए जाते थे किन्तु पंचायतों

का प्रभाव शिथिल होने के कारण न्यायालयों में मुकदमों का पंजीयन बढ़ गया है। अनेक सामाजिक सांस्कृतिक परिवर्तनों के कारण लोगों में निराशा व विक्षोभ की दशा उत्पन्न हुई है, जिससे अपराध में वृद्धि हुई है। बड़े शहरों चेन्नई, बंगलौर, कानपुर, मुंबई, दिल्ली, कलकत्ता में अन्य शहरों की अपेक्षा अधिक अपराध होते हैं।

- भारत में आर्थिक प्रकार के अपराध अधिक होते हैं।
- भारत में निम्नतम सामाजिक–आर्थिक समूहों में अपराध की दर सर्वाधिक है।
- अपराध सम्बन्धी आंकड़ों से यह तथ्य भी प्रकाश में आया है कि विगत वर्षों में संगठित समूहों या गिरोहों द्वारा किए जाने वाले अपराधों (नशीले पदार्थों का वितरण, वेश्यावृत्ति के लिए लड़कियां उपलब्ध कराना, सोने की तस्करी आदि में वृद्धि हुई है।)
- भारत में अंध–विश्वासों, धार्मिक आडम्बरों एवं कुरीतियों के कारण भी अनेक अपराधी घटनाएं होती हैं।

भारत वर्ष में अपराध की प्रवृत्ति समाज में प्रचलित आर्थिक व्यवस्था, सामाजिक मूल्य तथा संस्कृति पर निर्भर करती है।

भारत वर्ष में अनैतिक और सम्पत्ति सम्बन्धी अपराध अधिकतम होते हैं। हमारा समाज अभी तक पश्चिमी समाजों की भांति न तो पूर्णतया शिक्षित बन पाया है और न ही अभी तक गरीबी रेखा से ऊपर उठ सका है। इसलिए भारतीय समाज में इससे सम्बन्धित अपराधों की अधिकता का पाया जाना भी स्वाभाविक ही प्रतीत होता है।

ब्रिटिशराज के बाद से भारत में अपराध व्यापक रूप से दर्ज किए गए हैं। वर्तमान में राष्ट्रीय अपराध रिकार्ड ब्यूरो (एनसीआरबी) जो कि गृह मंत्रालय का हिस्सा है, द्वारा प्रतिवर्ष अपराध संकलित किए जाते हैं। 2020 में कुल 66,01,285 संज्ञेय अपराध जिनमें 42,54,356 भारतीय दंड कोड (IPC) तथा 23,46,929 विशेष और स्थानीय कानून (SSL) पंजीकृत अपराध थे। 2020 में प्रति लाख जनसंख्या पर दर्ज अपराध दर 487.8 हो गई है।

### 4.3.5 जातिवाद के कारण अपराध और विचलन का उभार/उदय

'दुर्भाग्यवश वही जाति–प्रथा जिसे सामाजिक संगठन को नष्ट होने से बचाने हेतु एक साधन के रूप में विकसित किया गया था, आज उसी की उन्नति में बाधक बन रही है।'

–डॉ. राधाकृष्णन

जातिवाद एक ऐसी प्रणाली है, जो प्राचीन काल से हमारी सामाजिक व्यवस्था में अपनी जड़ें फैलाती जा रही है। यह उच्च जातियों के लोगों के हितों को आगे बढ़ा रही है तथा निम्न जाति के व्यक्तियों का निरन्तर शोषण हो रहा है।

जातिवाद प्रत्येक धर्म, समाज तथा देश में है। प्रत्येक धर्म का व्यक्ति अपने ही धर्म को उच्च मानता है। वर्तमान में दुनियाभर में राजनीतिक और धार्मिक समीकरण परिवर्तित हुए हैं। इस परिवर्तित वातावरण में पाकिस्तान, चीन और अन्य वामपंथी समर्थक देश भारत की एकता को तोड़ने की साजिश में लगे हैं। इसी साजिश के अन्तर्गत कुछ राजनीतिक और धार्मिक संगठनों ने हिन्दू विरोधी आंदोलनों को नेतृत्व

प्रदान कर रखा है। हिन्दू समाज के दलितों के नाम पर राजनीति करके समाज में फूट डालने का प्रचलन सदियों से रहा है।

टिप्पणी

जातिवाद के कारण छोटे–छोटे जातीय समूह संगठित हो जाते हैं तथा व्यक्ति की सामुदायिक भावना बहुत अधिक संकुचित हो जाती है। वह राष्ट्रीय दृष्टिकोण से विचार नहीं करके जाति कल्याण की दृष्टि से सोचता है।

जातिवाद की भावना के अन्तर्गत एक जाति के व्यक्ति दूसरी जाति के व्यक्ति की तुलना में अपने ही लोगों को महत्व देते हैं। अपने जातीय हितों की पूर्ति के लिए वे दूसरे जातियों के हितों को अनदेखा करते हैं। इससे विभिन्न जातियों में परस्पर संघर्ष होता है। पत्र–पत्रिकाओं तथा समाचार पत्र इत्यादि में अस्पृश्य जातियों और सवर्णों में, जाटों और राजपूतों में होने वाले झगड़ों, तनावों एवं संघर्षों के समाचार हम पढ़ते ही रहते हैं जिनमें हिंसा की वारदातें, जान और माल की हानि, आगजनी, मारपीट आदि का उल्लेख मिलता है। चुनाव के समय में तो जातीय संघर्ष और भी उग्र हो जाते हैं और यहां तक कि अनेकों उम्मीदवारों की जातीय आधार पर हत्या भी कर दी जाती है। समाज में अनेक समस्याओं का मूल, समाज में व्याप्त जातिवाद की समस्या है। विभिन्न जातीय समूह जातीय स्वार्थों को पूर्ण करने के लिए राष्ट्रीय एकता का भी खण्डन कर देते हैं तथा समाज में अपराध और विचलन की समस्या में वृद्धि होती है।

राइट्स वॉच की रिपोर्ट के अनुसार 'भारत में 165 मिलियन से अधिक लोगों के साथ अमानवीय और अपमानजनक व्यवहार किया गया है। जातिवाद के कारण बढ़ते अपराध तथा विचलन (सामाजिक बहिष्कार, आर्थिक बहिष्कार और शारीरिक हिंसा) समाज की सामाजिक व्यवस्था, स्थिरता, शांति तथा सद्भाव हेतु एक खतरा है।' समाज को समानता और न्याय प्रदान करने तथा सामाजिक गतिशीलता को जातिवाद बाधित करता है। इस पर नियंत्रण करने हेतु एक मूल्य आधारित शिक्षा प्रणाली तथा एक नए दृष्टिकोण की विशेष आवश्यकता है।

### 4.3.6 साम्प्रदायिकता, धर्मनिरपेक्षता तथा क्षेत्रीयकरण

किसी भी राजनीतिक व्यवस्था के लिए राष्ट्र निर्माण एक चुनौती होती है। राष्ट्र निर्माण एक व्यापक संप्रत्यय है। इसमें राज्य निर्माण भी सम्मिलित है। राज्य निर्माण का तात्पर्य एकीकरण और नियंत्रण की समस्या से है जबकि राष्ट्र निर्माण का विचार समुदाओं की अस्मिता एवं भावनाओं से जुड़ा है। इस प्रकार राज्य निर्माण, एक संरचनात्मक, तथा राष्ट्र निर्माण, एक सांस्कृतिक, एक संप्रत्यय है।

भारत के प्रथम प्रधानमंत्री के रूप में नेहरू ने स्वतंत्र भारत में राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया की शुरुआत की। नेहरू का मानना था कि राष्ट्र निर्माण एवं एकीकरण के लिए यह अति आवश्यक है कि देश की विभिन्न लोकतांत्रिक संरचनाओं एवं मूल्यों को मजबूती प्रदान की जाए। इसलिए उन्होंने दलीय व्यवस्था संसदीय व्यवस्था, धर्म निरपेक्षता, चुनावी राजनीति, मत, आचरण, सशक्त विपक्ष आदि संरचनाओं एवं मूल्यों को वृहद दृष्टिकोण से देखने का प्रयास किया जिससे विभिन्न संकीर्णताओं से ऊपर उठा जा सके तथा राष्ट्र निर्माण एवं एकीकरण संभव हो सके।

इतिहासकार कहते हैं कि भूतकाल में हमारे देश में एकता का बड़ा अभाव रहा है और राष्ट्रीय एकता के अभाव के कारण अनेक बार विदेशियों से पराजित होना पड़ा,

टिप्पणी

इससे देश का पतन होता रहा है, फिर भी अतीत काल में भारत की सांस्कृतिक और भावात्मक एकता बनी रही है। डॉ. वासुदेव शर्मा अग्रवाल ने लिखा है कि यहां कोटि–कोटि जनता के मन में भारत की भौगोलिक एकता का संस्कार था। हमारी संस्थाओं में विविधताओं को स्वीकार करने की शक्ति थी।

विदेशी शासन काल में हमारी राष्ट्रीय एकता को गहरा आघात पहुंचा है। विदेशियों की नीति के कारण हमारी राष्ट्रीय एकता भंग हुई है। यहां लोग विभिन्न भाषाएं बोलते हैं, भिन्न–भिन्न धर्मों को मानते हैं और उनकी नीतियां भी अलग–अलग हैं। ऐसी विविधता वाले देश को एकता के सूत्र में मजबूती से बांधना एक महत्वपूर्ण समस्या है।

रजनी कोठारी लिखती हैं कि राजनीतिक विकास की बुनियादी समस्या एकीकरण की है। अर्थात नए राजनीतिक केंद्र बिंदु की स्थापना, उनका बहुमुखी प्रसार, विभिन्न संस्थाओं का पल्लवन, विविधता और दृढ़ीकरण, को एक सूत्र में संग्रहण कर एक राष्ट्र का निर्माण अर्थात एकीकरण की क्षमता का विकास। यही समस्या हमारे राष्ट्र निर्माताओं के सामने सबसे बड़ी समस्या रही है। जैसा कि नेहरू ने कहा था कि मेरे जीवन का मुख्यकार्य मेरे भारत का एकीकरण है।

प्रो. एम.एन. श्री निवास लिखते हैं कि विभाजनकारी प्रवृत्तियां आज भी अस्तित्व में हैं और भविष्य में कई वर्षों तक बनी रहेंगी। देश की अधिकांश जनता के लिए 'भारत एक नई कल्पना है और इस कल्पना को सत्य रूप होने में कुछ समय लगेगा। भारत की राष्ट्रीय एकता के मार्ग में प्रमुख अवरोधक तत्व इस प्रकार हैं–

भारत में कोई कहीं भी रहे वह जाति के संसार में ही रहता है। हमारे देश में जातियां विभाजनों को काटती हैं। केवल हिंदू ही जातियों में बंटे हुए नहीं हैं, अपितु जैन, मुस्लिम, सिक्ख, और ईसाई भी अनेक जातियों में विभाजित हैं। उच्च जातियां अपने से पिछड़ी जातियों द्वारा ऊपर उठने के प्रयत्नों का विरोध कर रही हैं। इसके फलस्वरूप देश के विभिन्न भागों में अंतर्जातीय तनाव बढ़े हैं। बिहार में चुनावों में जबर्दस्त जातीय प्रतिद्वंद्विता दिखायी देती है और वहां का प्रत्येक चुनाव राजपूत, भूमिहार, कायस्थ और पिछड़ी जातियों के इर्द–गिर्द घूमता है। तमिलनाडु में ब्राह्मणवाद और गैर–ब्राह्मणवाद हुआ है। जातीय मतभेदों से गुटबंदी बढ़ती है और कभी–कभी आंदोलन भी होते हैं। तमिलनाडु में गैर–ब्राह्मणों ने उच्च जातियों के विरुद्ध कई बार संगठित रूप से आन्दोलन किए हैं।

साम्प्रदायिकता एक निम्नकोटि की विभाजनात्मक प्रवृत्ति है। इसने हमारे देश का बड़ा अहित किया है। सांप्रदायिकता के कारण ही देश का विभाजन हुआ। बाद में हमने धर्मनिरपेक्ष राज्य का सिद्धांत अपनाया और यह दृष्टिकोण अपनाया कि भारत में सभी धर्मों को समान रूप से फलने फूलने का अधिकार है। आज भी देश में अनके सम्प्रदाय निवास करते हैं– हिंदू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई आदि।

आज देश में अल्पसंख्यकों की संख्या भी महत्वपूर्ण है। विभिन्न राज्यों में भाषागत अल्पसंख्यक और अल्पसंख्यक संप्रदायों के लोग निवास करते हैं। मुंबई, कोलकाता, चेन्नई, दिल्ली, आदि नगरों में तो शासन और उद्योग, व्यापार में बाहरी राज्यों के लोगों से असंतोष उत्पन्न हुआ है और इन लोगों को शोषक माना जाता है। महाराष्ट्र में गुजरातियों का विरोध हुआ है, पश्चिम बंगाल और तमिलनाडु में मारवाड़ियों

का विरोध किया गया। महाराष्ट्र में शिवसेना, असम में लच्छित सेना जैसे उग्र संगठनों का निर्माण कर बाहरी लोगों के विरुद्ध उत्तेजनात्मक कार्यवाहियां की गईं। ऐसी संकीर्णता की भावनाएं राष्ट्रीय एकता के लिए खतरनाक हैं।

टिप्पणी

## धार्मिकता

धर्म आदिकाल से मानव चेतना को प्रभावित करता रहा है। राज्य एवं समाज के संगठन में धर्म की महान भूमिका थी क्योंकि धर्म से एकीकरण का भाव पैदा हुआ था। परंतु कालांतर में जब विभिन्न धर्मों का उदय हो गया तो समाज विभिन्न धर्मों एवं समुदायों में विभाजित हो गया और तब एकीकरण के स्थान पर धर्म संघर्ष का पर्याय बन गया। इससे न केवल सामाजिक बल्कि राजनीतिक क्षेत्र भी प्रभावित हुआ।

धर्म द्वारा हर क्षेत्र में नैतिकता और एकता को प्रोत्साहन देना चाहिए लेकिन भारत में धर्मांध भावनाओं ने देश की राजनीतिक और सामाजिक एकता को आघात पहुंचाया है तथा अनैतिकता के प्रसार में योगदान दिया है। जो धर्म संयोजक शक्ति का काम कर सकता है वही आज विभेदक शक्ति के रूप में अधिक व्याप्त है। जिस सांप्रदायिकता एवं धर्म के संकीर्ण और अनुदार रूप ने भारत का विभाजन करवाया, वही आज भी सिर उठाए हुए हैं। भारत में धर्म के नाम पर भारत का विभाजन, दूसरे समुदाय के एक वर्ग का दूसरे वर्ग से और एक जाति का दूसरी जाति से मन मुटाव चलता रहता है जिससे विभिन्न राजनीतिक समस्याएं उठती रहती हैं। इतिहास बताता है कि भारत हिंदुओं और मुसलमानों के धार्मिक मतभेदों और तनावों से घिरा हुआ है। एक घरेलू मामले के रूप में इसका प्रारंभ 1905 में बंगाल के विभाजन से हुआ और अन्त में इसने इतना विस्तार कर लिया कि धर्म के आधार पर पाकिस्तान का निर्माण हो गया। वर्षों से मुस्लिम लीग ने खुलकर जिस दो राष्ट्र के सिद्वांत का प्रचार किया था वह भारत विभाजन की जहरीली बेल के रूप में सामने आया। दो राष्ट्र सिद्धांत के मानने वालों ने हमारी सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय एकता को खंडित किया और भारत के दो टुकड़े हो गए।

भारत में धर्म विभिन्न रूपों में राजनीति का आधार बना हुआ है। यदि धर्म केवल व्यक्तिगत विषय हो और केवल मानसिक शांति के लिए धर्म का पालन किया जाए तो अच्छी बात है, लेकिन धर्म आपस में फूट पैदा करे और विभिन्न धर्मों के अनुयायी आपस में एक–दूसरे से बैर रखें तथा एक दूसरे पर अपना राजनीतिक प्रभाव जमाना चाहें तो राजनीतिक और प्रशासनिक क्षेत्र में धर्म के कुप्रभाव देखने–सुनने में आते हैं। बहुधा यह शिकायत की जाती है कि हिंदू अधिकारी हिंदू धर्मावलंबियों के साथ पक्षपात करते हैं तो मुस्लिम अधिकारी मुस्लिम धर्मावलंबियों के साथ। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत को एक धर्म निरपेक्ष राज्य घोषित कर दिया गया, लेकिन संविधान की इस घोषणा का तब तक कोई खास मतलब नहीं निकल सकता जब तक लोगों में भी धर्म निरपेक्षता की भावना का प्रसार न हो और प्रशासन पूर्णतः धर्म के प्रभाव से मुक्त हो। कोई भी कानून, संविधान या विधेयक निरर्थक है, यदि लोग उसका पालन सही ढंग से नहीं करें।

## धर्म निरपेक्षता का तात्पर्य

ऑक्सफोर्ड शब्दकोश के अनुसार 'धर्मनिरपेक्ष' व्यक्ति वह है जो 'केवल दुनियावी या लौकिक मामलों से संबंध रखता है, धार्मिक मामलों से नहीं' साम्यवादी देशों में धर्मनिरपेक्षता का अर्थ 'अधार्मिक या धर्म–विरोधी प्रवृत्ति' से लिया जाता है। संयुक्त

टिप्पणी

राज्य अमेरिका के संविधान ने धर्म और राज्य को अलग–अलग रखने की नीति अपनाई है। भारत में धर्मनिरपेक्षता का तात्पर्य है कि राज्य न तो अधार्मिक है, और न ही धर्म विरोधी। राज्य का कोई विशेष धर्म नहीं है तथा राज्य सभी धर्मों का समान आदर करता है। एक शब्द में भारतीय संदर्भों में धर्मनिरपेक्षता से तात्पर्य सर्व–धर्म समभाव से है। भारतीय संविधान की प्रस्तावना में 42वें संविधान संशोधन के माध्यम से धर्मनिरपेक्ष शब्द को समाहित किया गया। परंतु संविधान के विभिन्न अनुच्छेदों में 'धर्मनिरपेक्षता की भावना' को सम्मिलित किया गया है जो निम्न हैं–

**प्रथम**– भारतीय राज्यव्यवस्था धर्मतंत्रवादी नहीं है। धर्मतंत्रवादी राज्य एक धर्म विशेष से संबद्ध होता है और इसके कायदे कानून धार्मिक पुस्तकों के आधार पर निर्मित होते हैं। पाकिस्तान, ईरान या सऊदी अरब को इसी अर्थ में एक मजहबी देश कहा जाता है। इसके ठीक विपरीत भारतीय सरकार ने देश में धर्मनिरपेक्ष राज्य की संस्थापना की है।

**द्वितीय**– भारत में धर्म एक व्यक्तिगत मामला माना जाता है। व्यक्ति के क्या धार्मिक विचार या विश्वास हैं, इस बारे में राज्य कोई हस्तक्षेप नहीं करता। भारत के विभाजन की सबसे बड़ी सीख यही है कि धर्म और राजनीति को एक–दूसरे से अलग रखना चाहिए।

**तृतीय**– भारत के सभी नागरिकों को विधि के समक्ष समता और कानूनों के अंतर्गत समान सुरक्षा प्रदान की गई है। संविधान का अनुच्छेद 15 यह घोषणा करता है कि राज्य धर्म, वंश, जाति, लिंग व जन्म स्थान या इनमें से किसी भी आधार पर नागरिकों के साथ भेदभाव नहीं करेगा। इन आधारों पर कोई नागरिक भोजनालयों, सड़कों, कुओं और आम जगहों का इस्तेमाल करने से वंचित नहीं किया जा सकेगा।

**चतुर्थ**– संविधान के चार अनुच्छेद (25,26,27 व 28) धार्मिक स्वतंत्रता के अधिकारों से संबंध रखते हैं। ये अनुच्छेद यह घोषणा करते हैं कि सब लोग अपने धर्म को मानने, उस पर पर अमल करने और उसका प्रचार करने का हक रखते हैं। किसी व्यक्ति को कोई ऐसा कर देने के लिए मजबूर नहीं किया जाएगा जिससे प्राप्त आय किसी धर्म सापेक्ष राज्य की आधारशिला हो।

## धर्म और राजनीति में अन्तःक्रिया

धर्म तथा धार्मिक संकीर्णता से उपजी सांप्रदायिकता ने भारतीय राजनीति को अनेक स्तरों पर प्रभावित किया है। अनेक धर्म गुरुओं या धार्मिक नेताओं ने अपना सामाजिक एवं राजनीतिक महत्व बढ़ाने के लिए धर्म का आश्रय लिया और अपनी राजनीतिक पहचान बनाई। वहीं दूसरी ओर राजनीति के धर्म में हस्तक्षेप से धर्म ने अपने आध्यात्मिक स्वरूप को खो दिया और राजनेताओं ने सतही धार्मिक भावनाओं को भड़काकर अपना वोट बैंक सुनिश्चित किया। धर्म और राजनीति निम्न प्रकार से एक–दूसरे को प्रभावित करते हैं–

**(1) धर्म बनाम राजनीतिक दल**– भारत में धर्म इतना प्रभावशाली तत्व बना हुआ है कि कतिपय राजनीतिक दलों का निर्माण ही वस्तुतः विशुद्ध धर्म के आधार पर हुआ है, यद्यपि प्रकटतः वे दल इससे इनकार करते हैं। भारतीय जनसंघ पर

टिप्पणी

प्रायः आरोप लगाया जाता है कि वह मुख्य रूप से अपनी सांस्कृतिक इकाई के राजनीतिक हितों के लिए ही प्रयत्नशील रहता है। किंतु इसके संस्थापक डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी का मत था कि जनसंघ एक सांप्रदायिक अथवा धर्म विशेष से प्रभावित दल नहीं है।

(2) **धर्म बनाम राजनीतिक संघर्ष**– धर्म के आधार पर भारत में समय–समय पर राजनीतिक संघर्ष और विवाद उत्पन्न होते रहे हैं। 1956 से 1960 के मध्य बंबई नगर पर नियंत्रण के लिए मराठी गुजराती संघर्ष का जो दौर चला वह धार्मिक उग्रवादी राजनीति का ज्वलंत प्रमाण है। भारत के एक सर्वाधिक शिक्षित राज्य केरल पर राजनीतिक प्रभुसत्ता के लिए हिंदुओं, मुसलमानों और ईसाइयों में निरंतर खींचा–तानी चलती रहती है। केरल की लगभग 55 प्रतिशत जनता हिंदू है, 18 प्रतिशत जनसंख्या ईसाई है और मुसलमान लगभग 27 प्रतिशत हैं। केरल में विधानसभा में कामचलाऊ बहुमत प्राप्त करने के लिए किसी भी दल को इन विभिन्न धर्मावलंबियों को अपने पक्ष में करना आवश्यक होता है। धर्म और शिक्षा के प्रश्न केरल में इतने प्रबल हैं कि इनके आधार पर सरकारों का उत्थान और पतन हो जाना सरल है।

(3) **धर्म और मत व्यवहार**– भारतवर्ष में चुनाव के समय जनता का मत व्यवहार धार्मिक भावनाओं से प्रभावित होता है। वोट प्राप्त करने के लिए राजनेता विभिन्न धर्मों के इमामों, पादरियों, साधुओं तथा मठाधीशों से सांठ–गांठ करते हैं। राजनीतिक दलों द्वारा अपने पक्ष में वोट देने की अपील करवाना इस बात का प्रमाण है कि भारतीय मतदाता का व्यवहार आज भी धार्मिक रुझानों से प्रभावित होता है।

(4) **धर्म एवं धार्मिक हित समूह**– भारतीय राजनीति में धार्मिक हित या दबाव समूहों की विशेष भूमिका है। ये गुट अपनी शक्ति एवं कार्य प्रणाली से शासन की नीतियों को प्रभावित करते हैं।

(5) **धर्म एवं अन्य राजनीतिक प्रक्रिया**– भारत में धर्म ने विभिन्न राजनीतिक प्रक्रियाओं पर महत्वपूर्ण प्रभाव डाला है। केंद्र एवं राज्य में मंत्रिमंडल बनाते समय विभिन्न धार्मिक समुदायों के प्रतिनिधित्व का ध्यान रखा जाता है। विभिन्न राज्यों की राजनीति में धर्म विशेष विशिष्ट भूमिका अदा करता है। केरल राज्य में मुस्लिम संप्रदाय एवं पंजाब की राजनीति में सिक्ख धर्म की महत्वपूर्ण भूमिका है।

स्पष्ट है कि भारतीय राजनीति में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से धर्म गलत भूमिका अदा कर रहा है। यदि भारत में ससंदीय लोकतंत्र को सफल होना है और राजनीतिक एकता को स्थायित्व देना है तो धर्मांधता का वातावरण मिटाना होगा। सरकारी तथा अन्य हैसियत से हम किसी भी प्रकार ऐसे राष्ट्र की कल्पना नहीं कर सकते जिसे सांप्रदायिक या धार्मिक राष्ट्र कहा जाए। हम यदि किसी आदर्श पर चल सकते हैं तो वह धर्म निरपेक्ष, असांप्रदायिक लोकतांत्रिक राष्ट्र का आदर्श है, जिसमें हर आदमी चाहे वह किसी भी धर्म का मानने वाला हो, बराबर अधिकार और सुविधाओं का हकदार है। वास्तव में भारत राष्ट्र का कल्याण इसी बात में है कि राजनीति और नैतिकता में मेल रखा जाए। राजनीति में नैतिकता को कायम रखा

जाए। राजनीति और कट्टरता या धर्मांधता के मेल का परिणाम तो सांप्रदायिक राजनीति होगी जो एक अत्यंत भयानक संयोग है और जिसका परिणाम हम भारत विभाजन के रूप में भोग चुके हैं।

टिप्पणी

मानव समाज में अस्तित्व के संघर्ष में, केवल उस समाज का ही वजूद बचा जो प्रथाओं के जरिए विकसित हुए जिन्होंने उसे एकजुट रखा, उसकी गतिविधियों में स्वीकार्य स्तर पर तालमेल बैठाया, विशुद्ध रूप से स्वार्थी प्रवृत्तियों पर जबरन लगाम लगाए रखी और उन व्यक्तियों को बाहर निकाला जो उसके, काबिल नहीं थे। धर्म भी इसी प्रकार का एक विषय है जो विशुद्ध रूप से मानव को मानव बनाने में सहायक होता है, परंतु, राजनीतिक तुष्टीकरण के कारण, धर्म का साम्प्रदायिकरण कर दिया गया, जो समाज को बांटता रहा है।

मानव समाज में धर्म का पालन अधिक तत्परता से इस कारण किया जाता है क्योंकि इसका विकास धीरे–धीरे होता है। लोग समान व्यवहार की परिपाटी का पालन करते हैं। इस प्रकार, हमारे सामाजिक व्यवहार को नियंत्रित करने में धर्मों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। वे हमारी संस्कृति को निर्धारित करते हैं, उसे संरक्षित करते हैं और अगली पीढ़ी को हस्तांतरित करते हैं। परंतु यदि धर्म को सम्प्रदाय के रूप में देखा जाए तो, यह साम्प्रदायिकता, राजनीतिक एवं आर्थिक स्वार्थ के कारण, शासक वर्ग द्वारा शासितों के शोषण का उपयोगी शस्त्र बन जाता है। इन ताकतों के प्रभाव एवं स्वार्थ वश, सम्प्रदाय के लोग आपस में वैर एवं मतभेद की स्थिति में आ जाते हैं जो किसी भी सभ्य समाज में शोभनीय कृत्य नहीं हो सकता है। साम्प्रदायिक सौहार्द की स्थापना के लिये शासन के लिये यह आवश्यक हो गया कि वह स्वयं को धर्म से पृथक कर ले इसका कारण यह है कि भारत का समाज बहुलतावादी समाज है तथा सरकार किसी एक सम्प्रदाय का पक्ष लेकर सत्तारूढ़ नहीं हो सकती अतः धार्मिक तटस्थता की अवधारणा का पालन करती है।

## धर्म एवं धर्म निरपेक्षता

धर्म का अर्थ मनुष्य का किसी अप्राकृतिक शक्ति या बल पर विश्वास से लगाया जाता है। मैकाइवर और पेज के अनुसार, धर्म के अंदर मनुष्यों के बीच और मनुष्य तथा अलौकिक शक्तियों के बीच संबंध को शामिल किया जाता है। धर्म अपने ही तरीके से लोगों की गतिविधियों को नियंत्रित करता है। यह धार्मिक कानून के जरिए मनुष्यों के व्यवहारों को नियंत्रित करता है। धर्म मनुष्यों के सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, भावनात्मक और धार्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। धर्म जीवन के मानकों और मूल्यों की रक्षा, परिवार, मंदिर, चर्च और स्कूल जैसी एजेंसियों के माध्यम से करता है। धर्म बढ़ते बच्चों के मन में जीवन के मूल्यों का विकास करता है। धर्म उन व्यक्तियों से अपने ही तरीके से निपटता है जो धार्मिक मानकों और व्यवहार का उल्लंघन करते हैं। विभिन्न धार्मिक संस्थान जैसे– चर्च, मंदिर और मठ भी अनुशासनहीनों को नियंत्रित करने में सहायता करते हैं। धर्म लोगों को किसी सामाजिक समूह में अपने ही तौर–तरीकों और साधनों से फिर से एकजुट करता है। यही नहीं, धार्मिक प्रतिबंधों का प्रयोग आचार संबंधी नियमों और नैतिक व्यवहारों को बल देने के लिए भी व्यापक रूप से किया जाता है।

भारत ऋषि मुनियों, पीरों, फकीरों, सन्तों, महात्माओं की कर्मभूमि है। इन महान आत्माओं ने भारत में मानव धर्म को सर्वोच्च प्राथमिकता एवं स्थान देने का ही प्रचार

टिप्पणी

प्रसार, भर किया है तथा समाज को जोड़ने की शिक्षा दी है। इन्हीं महान व्यक्तियों की शिक्षा का परिणाम है कि भारत का वजूद एवं संस्कृति जस की तस बनी हुई है। भारत एवं भारत की विराट हृदय संस्कृति को समझने के लिए प्रत्येक भारतीय को धर्म का अर्थ उस अर्थ में समझना चाहिए जैसा कि, वैदिक युगीन हमारे संबुद्ध रहस्यदर्शियों से लेकर महात्मा बुद्ध, महावीर जैन, अमीर खुसरो, गुरु नानक, कबीर, सूरदास, तुलसीदास, मीरा बाई, दयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानन्द, जैसे अनेक अन्य महापुरुषों ने दी है। यदि इनमें से किसी एक भी संत की शिक्षा का अध्ययन करें तो धर्म का स्पष्ट अर्थ इन शब्दों में दिया जा सकता है–

- कोई भी धर्म, मानवता के विरुद्ध आचरण की आज्ञा नहीं देता।
- सभी धर्मों का परम लक्ष्य मानव सेवा एवं कल्याण है।
- मानव धर्म, मानव सेवा है।
- धर्म का आचरण, सदाचार, ईमानदारी निष्ठा, कर्तव्यपरायणता सिखाता है।
- धर्म मनुष्य के समाजीकरण में सहायक होता है।
- धर्म बलात् हिंसा का विरोध करता है।
- सभी जीवों पर दया करनी चाहिए।
- अपनी मेहनत पर ही हमारा अधिकार है।
- असहाय, निर्धनों, जरूरतमन्दों की सेवा करनी चाहिए
- तन मन की शुद्धता
- छल कपट से द्वेष
- मनुष्य जीवन का मूल उद्देश्य स्वयं को जानना या आत्मसाक्षात्कार
- प्रकृति के सम्यक एवं सह–अस्तित्व में आस्था
- ढोंग पाखण्ड आडम्बर का खात्मा

जब सब धर्मों का जोड़ एक ही है तो फिर विवाद नहीं होना चाहिए।

धर्म निरपेक्षता का अर्थ है कि राज्य के मामलों में, राजनीति के मामलों में और अन्य गैर–धार्मिक मामलों से धर्म को दूर रखा जाए और सरकारें–प्रशासन धर्म के आधार पर किसी से किसी प्रकार का भेदभाव न करें। राज्य में सभी धर्मों के लोगों को बिना किसी पक्षपात के विकास के समान अवसर मिलें। धर्म निरपेक्षता का अर्थ किसी के धर्म का विरोध करना नहीं है, बल्कि सबको अपने धार्मिक विश्वासों व मान्यताओं को पूरी आजादी से निभाने की छूट है। धर्म निरपेक्षता में धर्म व्यक्ति का नितान्त निजी मामला है, जिसे राजनीति या सार्वजनिक जीवन में दखल नहीं देना चाहिए। इसी तरह राज्य भी धर्म के मामले में तब तक दखल न दे जब तक कि विभिन्न धर्म आपस में या राज्य की मूल धारणा से नहीं टकराते। धर्मनिरपेक्ष राज्य में उस व्यक्ति का भी सम्मान रहता है जो किसी भी धर्म को नहीं मानता। धर्म निरपेक्षता पर विचार करते हुए डॉक्टर सर्वपल्ली राधकृष्णन् ने कहा है कि ''जब भारतीयों द्वारा धर्म निरपेक्षता ग्रहण करने की बात कही जाती है तो इसका यह अर्थ नहीं कि वे अधार्मिकता या भौतिकवाद का समर्थन करते हैं। वे सब धर्मों के प्रति यह सम्मान रखते हैं और सब पैगम्बरों का आदर करते हैं। सहिष्णुता का अर्थ अपने निज के धर्म के प्रति उदासीनता नहीं हैं, सहिष्णुता

हमें आध्यात्मिक दृष्टि देती है, जो कट्टरता से उतनी ही दूर है जितना उत्तरी ध्रुव दक्षिणी ध्रुव से है। धर्म का वास्तविक ज्ञान, सम्प्रदाय–सम्प्रदाय, मजहब–मजहब के बीच की दीवारों को तोड़ देता है। दूसरे धर्मों के प्रति सहिष्णुता के आचरण से हमें अपने धर्म का ज्यादा सच्चा ज्ञान प्राप्त होगा''

टिप्पणी

धर्म की निरपेक्षता पर विचार करते हुए प्रख्यात इतिहासकार विपन चन्द्रा ने लिखा कि ''दूसरी जगहों की तरह भारत मे भी धर्म निरपेक्षता की चार तरह से व्याख्या की गई है।

पहली : धर्म को राजनीति में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। धर्म राजनीति, अर्थव्यवस्था, शिक्षा तथा सामाजिक जीवन और संस्कृति के बड़े क्षेत्रों से अलग रहना चाहिए। धर्म व्यक्ति का निजी या व्यक्तिगत मामला समझा जाना चाहिए। इसे अस्वीकार करने वाली धर्म निरपेक्षता की तथाकथित भारतीय परिभाषा की बात करना धर्म निरपेक्षता का निषेध है। साथ ही धर्म निरपेक्षता का मतलब जीवन से धर्म को निकालना या धर्म का विरोध नहीं है। धर्म निरपेक्ष शासन का अर्थ धर्म को हतोत्साहित करने वाला शासन नहीं है।

दूसरी : किसी बहुधर्म समाज में धर्म निरपेक्षता का यह भी मतलब है कि शासन सभी धर्मों के प्रति तटस्थ रहे या जैसा कि बहुत से धार्मिक व्यक्ति कहते हैं निरीश्वरवाद सहित सभी धर्मों को बराबर सम्मान दें।

तीसरी : धर्म निरपेक्षता का आगे मतलब है कि शासन सभी नागरिकों को बराबर समझे और उनके धर्म के आधार पर उनके साथ भेदभाव न करें।

चौथी : भारत के संदर्भ में धर्म निरपेक्षता की कुछ अन्य विशेषताएं हैं। भारत में धर्म निरपेक्षता उपनिवेशवाद के खिलाफ सभी भारतीयों को इकट्ठा करने और राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया के हिस्से की तरह एक विचारधारा के रूप में आई। इसके साथ–साथ सांप्रदायिकता एक अत्यधिक विभाजक सामाजिक और राजनीतिक ताकत के रूप में उभरी। परिणामस्वरूप धर्म निरपेक्षता का मतलब सांप्रदायिकता का स्पष्ट विरोध शासन में शामिल है। इस विभाजन और उसके लिए प्रतिबद्धता के कारण ही स्वतन्त्र भारत विभाजन और विभाजन दंगों के बावजूद धर्मनिरपेक्ष संविधान तैयार कर सका और धर्मनिरपेक्ष शासन की आधारशिला रख सका।''

धर्म निरपेक्षता भारत के लिए कोई नई चीज नही है। विभिन्न संस्कृतियों और धर्मों के लोग सह–अस्तित्व के साथ हजारों सालों से साथ–साथ रह रहे हैं। सन् 1947 में भारत स्वतंत्र हुआ तो संविधान में धर्मनिरपेक्ष लोकतांत्रिक ढांचा अपनाया गया। यद्यपि संविधान की प्रस्तावना में धर्मनिरपेक्ष शब्द को 42वें संशोधन में अपनाया गया, लेकिन धर्मनिरपेक्ष सिद्धांतों के आधार शुरू से प्रभावी रहे हैं। अनुच्छेद 25, 26, 30(1)(2) के अंतर्गत धर्म की व्यक्तिगत एवं सामूहिक स्वतंत्रता की सुरक्षा, अनुच्छेद 15 के अंतर्गत राज्य द्वारा धर्म के आधार पर किसी नागरिक से भेदभाव न करना और अनुच्छेद 16 के अन्तर्गत अवसर की समानता का अधिकार धर्म निरपेक्षता के सिद्धांतों की पुष्टि करते हैं।

भारत एवं वैश्विक परिदृश्य में धर्म निरपेक्षता की अधिकाधिक आवश्यकता महसूस की जा रही है। प्रजातंत्र की अवधारणा है कि धर्म किसी व्यक्ति या समाज का व्यक्तिगत मामला है एवं राष्ट्र इसमें किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करता, यही धर्म निरपेक्षता की

टिप्पणी

अवधारणा है। सभी मनुष्य नियंत्रण और न्याय संगत मूल्यों का पालन करते हैं, यदि धर्म, धर्म शास्त्र और संस्थानों का प्रभाव लोगों और उनके सामाजिक जीवन पर कम होने लगता है। इसलिए धर्म निरपेक्षता एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें समाज अपने धार्मिक महत्व को खोने लगते हैं।

मैक्स वेबर के विचारों में वैज्ञानिक और तकनीकी तरक्की धर्म और अलौकिक शक्तियों पर लोगों के विश्वास को कम करने लगती है। तार्किकता अंधविश्वासों और ढोंग पर भी विजय प्राप्त कर लेती है। वेबर ने इस प्रक्रिया को 'विश्व का मोहभंग' करार दिया है। सबसे पहले 'धर्म निरपेक्षता' शब्द का प्रयोग यूरोप में 1648 में हुआ था। तब इसका अर्थ चर्च की संपत्तियों का नियंत्रण शासकों के हाथों में जाने से लगाया गया था। ब्रायन विल्सन (1966) ने धर्म निरपेक्षता की परिभाषा 'एक प्रक्रिया के रूप में दी है जहां धार्मिक सोच, व्यवहार और संस्थानों का सामाजिक महत्व समाप्त हो जाता है।' इसी प्रकार, पीटर बर्जर (1973) ने धर्म निरपेक्षता को 'ऐसी प्रक्रिया' कहा 'जिससे समाज तथा संस्कृति के वर्गों से धार्मिक संस्थाओं और प्रतीकों का प्रभाव समाप्त कर दिया जाता है।'

एम.एन. श्रीनिवासन (1966) ने लिखा कि 'धर्म निरपेक्षता शब्द का अर्थ है कि जिसे पहले धार्मिक कहा जाता था वह अब वैसा नहीं क्योंकि धर्म भी वैसा नहीं रहा और इसका अर्थ विभेद की प्रक्रिया से लगाया जाता है जिसका परिणाम विभिन्न सामाजिक–आर्थिक, राजनीतिक, विधिक और नैतिक रूप में सामने आ रहा है और जो तेजी से एक दूसरे से अलग हो रहे हैं।'

एम.एन. श्रीनिवासन ने भारतीय समाज में सामाजिक परिवर्तन पर अपने गहन विश्लेषण के दौरान धर्म निरपेक्षता की प्रक्रिया पर विस्तार से लिखा है। उनके अनुसार, ब्रिटिश शासन अपने साथ भारतीय सामाजिक जीवन और संस्कृति में धर्म निरपेक्षता की प्रक्रिया लेकर आया। यह एक ऐसा चलन है जो संचार, शहरों और महानगरों के विकास, बढ़ी हुई स्थानिक गतिशीलता तथा शिक्षा के प्रसार के साथ धीरे–धीरे प्रबल होता जाता है। दो–दो विश्व युद्ध और गांधीजी के सविनय अवज्ञा आंदोलनों ने, सामाजिक और राजनीतिक रूप से लोगों को जुटाया, साथ ही धर्म निरपेक्षता के प्रति भी योगदान दिया। स्वतंत्रता के बाद, संविधान ने भी भारत की पहचान एक धर्मनिरपेक्ष राज्य के रूप में की और कहा कि कानून की नजर में सभी नागरिक समान हैं।

## संस्कृतिकरण और धर्म निरपेक्षता

संस्कृतिकरण और धर्म निरपेक्षता की तुलना करते हुए, श्रीनिवासन ने कहा कि इन दोनों में से, धर्म निरपेक्षता अधिक सामान्य प्रक्रिया है, जिसका प्रभाव सभी भारतीयों पर पड़ता है, जबकि संस्कृतिकरण केवल हिंदुओं और आदिवासियों को प्रभावित करती है। जैसा कि उन्होंने कहा है, यह कहना सही होगा कि धर्म निरपेक्षता का शहरी और समाज के शिक्षित वर्गों के बीच तथा संस्कृतिकरण का निम्न जाति के हिंदुओं और आदिवासियों के बीच स्पष्ट प्रभाव दिखता है। इनसाइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइंसेज को उद्धृत करते हुए, उन्होंने कहा कि धर्म निरपेक्षता का एक अनिवार्य तत्व होता है– तर्कवाद। तर्कवाद एक व्यापक शब्द है जिसे उन विभिन्न सैद्धांतिक और व्यावहारिक प्रवृत्तियों पर लागू किया जाता है जिनका उद्देश्य या अर्थ विशुद्ध रूप से विचार के लिहाज से लगाया जाता है। तर्कवाद का प्रयोग वे करते हैं जो व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन की

व्याख्या तर्क के सिद्धांतों के आधार पर करना चाहते हैं तथा जहां तक संभव हो उन सारी बातों को कम महत्व देते हैं जो तर्कसंगत नहीं होती हैं।

## धर्म निरपेक्षता के प्रमुख तत्व

टिप्पणी

जेना और मोहापात्रा ने तार्किक विश्लेषण के आधार पर, धर्म निरपेक्षता के प्रमुख चार तत्वों की चर्चा निम्नलिखित रूप से की है–

1. धार्मिकता में धर्म पवित्र और पूज्य की विशेषता पर आधारित होता है जिसमें पवित्र शब्द का संबंध मिथकीय या अलौकिक शक्ति के संदर्भ में किया जाता है। हालांकि, धर्म निरपेक्षता की प्रक्रिया इसके विपरीत धार्मिक भावनाओं में क्रमिक गिरावट का संकेत देती है। एक पूरी तरह से धर्मनिरपेक्ष समाज में, धार्मिक बातों को तार्किक विचारों से बदल दिया जाता है। इस प्रकार, धर्म निरपेक्षता की प्रक्रिया जैसे–जैसे आगे बढ़ती है, सामाजिक संस्थानों और व्यक्तिगत कार्यों से धर्म का प्रभाव तेजी से घटता चला जाता है।
2. तार्किकता के धार्मिक नियंत्रण में धीरे–धीरे कम होने से, उसी अनुपात में धर्म निरपेक्षता की प्रक्रिया में तार्किकता में वृद्धि होने लगती है। लोग अपने दैनिक जीवन की समस्याओं पर विचार करने लगते हैं। मत का स्थान तर्क लेने लगता है। सारी बातों को निश्चित मान लेने की बजाए, लोग अपने व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन की घटनाओं के कारणों की तलाश करने लगते हैं। कारण और परिणाम के बीच संबंध का पता लगाने की प्रवृत्ति बढ़ जाती है।
3. अनुभववाद और वैज्ञानिक वैश्विक दृष्टिकोण के प्रति समर्पण, धर्म निरपेक्षता की प्रक्रिया के रूप में सामने आता है। मानव ज्ञान का आधार अवलोकन, प्रयोग और पुष्टि पर आधारित होता है। अनुभव और प्रयोग मानव चेतना को निर्देशित करते हैं। धारणा, विश्वास और मिथकीय सोच के स्थान पर अनुभवजन्य अवलोकन से निर्देशित वैज्ञानिक ज्ञान ले लेता है।
4. विभेद की प्रक्रिया, अनुभववाद और तर्कवाद में वृद्धि से सामाजिक संरचना में उसी अनुसार भेद करने की प्रवृत्ति बढ़ जाती है। सामाजिक जीवन के विभिन्न पहलू एक दूसरे से अलग रूप में देखे जाते हैं। उदाहरण के लिए इस प्रकार का प्रत्येक पहलू, आर्थिक, कानूनी, राजनीतिक और नैतिक उप–प्रणालियां तेजी से अलग हो जाती हैं। प्रत्येक उप–प्रणाली अलग होती हैं और विशिष्ट तथा पेशेवर रूप में सामने आती हैं।

भारत में धर्म निरपेक्षता की प्रक्रिया ब्रिटिश संपर्क के साथ शुरू हुई। हालांकि, धर्म निरपेक्षता के पश्चिमी सिद्धांत और भारतीय सिद्धांत में अंतर है। धर्म निरपेक्षता को लेकर भारतीय अनुभव अनोखा है। पश्चिम में, विशेष रूप से यूरोप में, धर्म निरपेक्षता का अर्थ चर्च एवं धर्म द्वारा सार्वजनिक जीवन को नियंत्रण से मुक्त रखने से है। इसलिए, पश्चिमी मॉडल में धर्म नहीं है। हालांकि, धर्म निरपेक्षता के भारतीय मॉडल में धर्म है। भारतीय संविधान ने अपनी 'प्रस्तावना' में कहा है कि एक 'धर्मनिरपेक्ष' देश वह है जहां प्रत्येक धर्म को राज्य की ओर से समान रूप से देखा जाएगा और राज्य का अपना कोई धर्म नहीं होगा। संविधान यह भी स्पष्ट करता है कि प्रत्येक व्यक्ति को किसी भी धर्म के पालन और प्रचार की स्वतंत्रता होगी। इसे भारतीय नागरिकों के एक मौलिक अधिकार का रूप दिया गया है। धार्मिक स्वतंत्रता के अधिकार की गारंटी भारत के संविधान की

टिप्पणी

धारा 25 से 28 तक में दी गई है। इसके अनुसार, धारा 25(1) कहता है, 'विधि–व्यवस्था, नैतिकता और स्वास्थ्य तथा इस अंश के किसी अन्य प्रावधान के अन्यथा न हो, तो सभी व्यक्तियों को समान रूप से अपनी अंतर्रात्मा के अनुसार किसी धर्म का पालन, व्यवहार और प्रचार करने की स्वतंत्रता है।' यही नहीं, धारा 25 (2) के अनुसार, 'इस अनुच्छेद में ऐसा कुछ नहीं जो किसी मौजूदा कानून को प्रभावित करे या राज्य को कोई कानून बनाने से रोक सके, जो धार्मिक अभ्यास से जुड़ी किसी आर्थिक, वित्तीय, राजनीतिक या अन्य धर्मनिरपेक्ष गतिविधि को नियंत्रित या प्रतिबंधित करे या सामाजिक कल्याण और सुधार मुहैया कराए या सार्वजनिक प्रकृति के हिंदू धार्मिक संस्थानों के दरवाजे हिंदुओं के सभी वर्गों और हिस्सों के लिए खोल दे।' इसलिए भारत के संविधान का यह अनुच्छेद इस बात की गारंटी देता है कि भारत में प्रत्येक व्यक्ति को अंतरात्मा और धर्म का पालन, व्यवहार और प्रचार करने की स्वतंत्रता होगी, बशर्ते निम्नलिखित आधारों पर राज्य की ओर से पाबंदियां न लगाई जाएं, जैसे– (1) विधि व्यवस्था, नैतिकता और स्वास्थ्य, (2) संविधान के अन्य प्रावधान, (3) धार्मिक व्यवहार से संबंधित गैर–धार्मिक गतिविधियों का नियंत्रण, (4) सामाजिक कल्याण और सुधार तथा (5) सार्वजनिक क्षेत्र के हिंदू धार्मिक संस्थानों को हिंदुओं के सभी वर्गों के लिए खोला जाना।

इसलिए, निष्कर्ष स्वरूप यह कहा जा सकता है कि धर्म निरपेक्षता एक ऐसी प्रक्रिया है जो लोगों की सोच को उन बातों को लेकर परिवर्तित करती है जहां तर्क और कारण तेजी से उनके विचारों को प्रभावित करते हैं और जहां धार्मिक तथा अंधविश्वास से जुड़ी मान्यताओं का मानव व्यवहार पर कम नियंत्रण होता है। अतः धर्म निरपेक्षता का सामाजिक परिवर्तन में विशेष महत्व है। इसी के साथ भारतीय समाज की बहुलतावादी संस्कृति में केन्द्र सरकार, धर्म के मामले में तटस्थ रहकर ही समाज में शांति व्यवस्था एवं राष्ट्र की प्रगति सुनिश्चित कर सकती है।

भारत जैसे देशों में जहां कई धर्म जैसे– हिंदू, ईसाई, मुस्लिम, पारसी और बौद्ध आदि के लोग रहते हैं, वहां पर सभी को स्वीकार्य यूनिफॉर्म सिविल कोड की स्थापना एक मील का पत्थर होगा।

धर्मनिरपेक्ष देशों में धर्म निरपेक्षता को बनाए रखने के लिए तमाम तरह के संवैधानिक कायदे कानून हैं। परंतु प्रायः राष्ट्रों के ये कायदे कानून समय–समय पर अपना स्वरूप बहुसंख्यक जनता के धार्मिक विश्वासों से प्रेरित हो बदलते रहते हैं, या उचित स्तर पर इन कानूनों का पालन नहीं होता, या प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष स्तर पर इनमें ढील दी जाती रहती हैं। यह छद्म धर्म निरपेक्षता है। पाकिस्तान जैसे देश इसका ज्वलंत उदाहरण हैं।

धर्मनिरपेक्ष राजनीतिक प्रणाली और बहुधार्मिक तथा बहुसांस्कृतिक समाज अनिवार्यतः बहुलतावादी नागरिक विधि संहिता की मांग करते हैं। समान आपराधिक विधि प्रणाली तो हो सकती है पर समान नागरिक विधि संहिता हेतु सभी को विश्वास में लेकर चलने की आवश्यकता है।

धर्म निरपेक्षता (सेक्यूलरिज्म) शब्द का पहले–पहल प्रयोग बर्मिंघम के जॉर्ज जेकब हॉलीयाक ने सन् 1851, के दौरान, अनुभवों द्वारा मनुष्य जीवन को बेहतर बनाने के तौर तरीकों को दर्शाने के लिए किया था। उनके अनुसार, "आस्तिकता–नास्तिकता और धर्म ग्रंथों में उलझे बगैर मनुष्य मात्र के शारीरिक, मानसिक, चारित्रिक, बौद्धिक स्वभाव को

उच्चतम संभावित बिंदु तक विकसित करने के लिए प्रतिपादित ज्ञान और सेवा ही धर्म निरपेक्षता है"।

टिप्पणी

भारतीय संविधान के प्रस्तावना में घोषणा के अनुसार भारत एक धर्मनिरपेक्ष देश है। यह किसी खास धर्म, जाति, धर्म, जन्म, लिंग या स्थान के सदस्यों के खिलाफ भेदभाव का समर्थन नहीं करता है।

धर्मनिरपेक्ष शब्द प्रस्तावना में बयालीसवें संशोधन (1976) (2), द्वारा डाला गया था यह सभी धर्मों के प्रति धार्मिक सहिष्णुता और सम्मान की बात करता है। भारत, इसलिए एक आधिकारिक राज्य धर्म नहीं है। हर व्यक्ति को उपदेश, अभ्यास और किसी भी धर्म का प्रचार करने का अधिकार है। सरकार को किसी धर्म के पक्ष में या किसी भी धर्म के खिलाफ भेदभाव नहीं करना चाहिए। सभी धर्मों का बराबर सम्मान करना होगा। सभी नागरिकों के अधिकार कानून के सामने बराबर हैं।

## बहुलता का सम्मान जरूरी

हर धर्म और संस्कृति के अपने रिवाज और मान्यताएं होती हैं, एक धर्मनिरपेक्ष देश इनमें हस्तक्षेप की इजाजत नहीं देता। इस तरह सिविल मामलों में तीन प्रकार की विधि संहिताएं हो सकती हैं। राज्य की विधि प्रणाली, धर्म विशेष की विधि प्रणाली और जनजातियों की विधि प्रणाली। भीलों के कुछ रिवाज हिंदू समाज के रिवाज और मान्यताओं से अलग हैं। ये तीनों एक साथ चल सकते हैं। कुछ पंजीकृत राजनीतिक दलों से बहुलता के सम्मान के बारे में कुछ अधिक सहयोग की अपेक्षा है।

भारत में अधिकतर निजी कानून धर्म के आधार पर तय किए गए हैं। हिंदू, सिख, जैन और बौद्ध हिंदू विधि के अंतर्गत आते हैं, जबकि मुस्लिम और ईसाइयों के लिए अपने कानून हैं। समान नागरिक संहिता एक सेक्युलर (पंथनिरपेक्ष) कानून होता है जो सभी धर्मों के लोगों के लिये समान रूप से लागू होता है। दूसरे शब्दों में, अलग–अलग धर्मों के लिये अलग–अलग सिविल कानून न होना ही 'समान नागरिक संहिता' की मूल भावना है। समान नागरिक कानून से अभिप्राय कानूनों के वैसे समूह से है जो देश के समस्त नागरिकों (चाहे वह किसी धर्म या क्षेत्र से संबंधित हों) पर लागू होता है. यह किसी भी धर्म या जाति के सभी निजी कानूनों से ऊपर होता है. ऐसे कानून विश्व के अधिकतर आधुनिक देशों में लागू हैं।

समान नागरिकता कानून के अंतर्गत निम्नलिखित स्तर सुपरिभाषित होते हैं–

1. व्यक्तिगत स्तर
2. संपत्ति के अधिग्रहण और संचालन का अधिकार
3. विवाह, तलाक और गोद लेना

समान नागरिकता कानून भारत के संबंध में है, जहां भारत का संविधान राज्य के नीति निर्देशक तत्व में सभी नागरिकों को समान नागरिकता कानून सुनिश्चित करने के प्रति प्रतिबद्धता व्यक्त करता है. हालांकि इस तरह का कानून अभी तक लागू नहीं किया जा सका है।

धर्म निरपेक्षता की आधुनिक समझ आस्था पर विवेक की जीत से जुड़ी हुयी है। धर्मनिरपेक्ष राज्य के अस्तित्व के लिये यह नितांत आवश्यक है कि धर्म उसके दैनिक

टिप्पणी

कार्य की धुरी न बन जाय। धर्म का दखल नागरिकों के व्यक्तिगत जीवन तक सीमित रहे, राज्य लौकिक समस्याओं का हल धर्म में न तलाशें और अपने सभी नागरिकों के साथ समानता का व्यवहार करे। यह तभी संभव होगा जब राज्य आस्था के मुकाबले विवेक को वरीयता देगा। हमें भारतीय परम्पराओं में धर्म निरपेक्षता की जड़ें तलाशने की जगह अपने संविधान की तरफ देखना चाहिये जो विश्व भर में प्रचलित धर्मनिरपेक्ष मान्यताओं का निचोड़ है और जिसके माध्यम से एक प्रगतिशील, वैज्ञानिक और बराबरी का समाज बनाया जा सकता है।

सेकुलरवाद के मॉडल पर भले ही सीधे चर्चा न हुई हो, पर सेक्युलर राज्य की शक्ल–सूरत को लेकर विवाद बहुत जम कर हुआ। इस सम्बन्ध में संविधान सभा में मुख्यतः चार रवैये थे)

पहला विचार यह था कि राज्य सभी धर्मों से बराबर की दूरी रखे। धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार केवल पूजा तक ही सीमित रहे। समान नागरिक संहिता को बुनियादी अधिकार बनाया जाये। राज्य की मदद से चलने वाली संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा कतई न दी जाये। किसी भी किस्म के अल्पसंख्यकों को सार्वजनिक मान्यता न दी जाये, उनके लिए किसी भी प्रकार का (विधायिकाओं या नौकरियों में) आरक्षण न हो। राज्य समुदायों का नही बल्कि सिर्फ व्यक्तियों के अधिकारों की सुरक्षा करे।

दूसरा विचार था कि राज्य सभी धर्मों का बराबर सम्मान करे, धार्मिक आजादी, पूजा करने के अधिकार तक सीमित न रह कर धार्मिक आचरण तक विस्तारित की जाये, समुदायों को अपने–अपने निजी कानून रखने का बुनियादी अधिकार हो, धार्मिक शिक्षा देने वाली संस्थाओं को भी सरकार की मदद मिले, भाषाई और धार्मिक अल्पसंख्यकों के सांस्कृतिक अधिकारों की रक्षा हो, धार्मिक अल्पसंख्यकों के लिए विभिन्न आरक्षणों का प्रावधान हो।

तीसरा विचार धार्मिक पूजा और समान नागरिक संहिता के साथ धार्मिक अल्पसंख्यकों के लिए आरक्षण को जोड़ना चाहता था।

वहीं चौथा विचार धार्मिक आजादी की व्याख्या पूजा से आगे बढ़ा कर धार्मिक आचरण तक करने के लिए तैयार था, लेकिन वह धर्म आधारित आरक्षण देने के लिए तैयार नही था। एक तरह से देखा जाये तो तीसरे और चौथे विचारों की कोशिश उपरोक्त दोनों विचारों के बीच का रास्ता निकालने की थी।

इस प्रकार अगर हम उपरोक्त उल्लेखित चारों विचारों का विश्लेषण करें, तो पाते हैं कि भारतीय संविधान में दिए गये प्रावधान मुख्यतः चौथी विचारधारा से ज्यादा प्रभावित हैं। इस कारण भारत का धर्मनिरपेक्ष राज्य न केवल व्यक्ति के अधिकारों की बल्कि समुदायों के सांस्कृतिक अधिकारों की रक्षा करने के लिए भी प्रतिबद्ध है।

## क्षेत्रवाद

क्षेत्रीयतावाद वास्ताविक में अर्थों में विकेंद्रीकरण की भावनाओं का प्रकटीकरण है परंतु निहित स्वार्थों से साथ जुड़कर यह अलगाववाद एवं विघटनकारी शक्तियों का पर्याय बन जाता है। क्षेत्रीयतावाद से तात्पर्य देश के उस छोटे से क्षेत्र से है जो आर्थिक, भौगोलिक, सामाजिक आदि कारणों से अपने पृथक अस्तित्व के लिए जागरूक है तथा अपने क्षेत्र विशेष के लिए आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक शक्ति में वृद्धि चाहते हैं। इस दृष्टि के तहत उस क्षेत्र के लोग अपने क्षेत्र के प्रति विशेष भक्ति भाव

रखते हैं। इस दृष्टि से क्षेत्रीयता राष्ट्रीयता की वृहद भावना का विलोम है और उसका ध्येय संकुचित क्षेत्रीय स्वार्थों की पूर्ति करना है। भारतीय राजनीति के संदर्भ में यह एक ऐसी धारण है जो भाषा, क्षेत्र, धर्म, ऐतिहासिक विरासत सांस्कृतिक अस्मिता एवं आर्थिक मांगों पर आधारित है। यह संकुचित क्षेत्रीय स्वार्थों के साथ मिलकर विघटनकारी प्रवृत्तियों को जन्म देती है और सामान्य से लेकर उग्र आंदोलनों के रूप में प्रकट होती है।

टिप्पणी

## क्षेत्रीयतावाद एवं भारतीय राजनीति

भारतीय राजनीति का एक अन्य आधार प्रांतीयतावाद व क्षेत्रवाद है। आज भी भारत में अपने को भारतीय नागरिक न समझकर, बंगाली, बिहारी, गुजराती, मद्रासी, राजस्थानी, पंजाबी आदि समझने वाले लोग विद्यमान है। यद्यपि संविधान में एक नागरिकता की घोषणा की गई है, तथापि प्रांतीयता की भावना ने लोगों पर इस तरह कब्जा जमा रखा है कि वे प्रांत के संकुचित हितों के लिए राष्ट्रीय भावना को पीछे धकेल देते हैं। उदाहरण के लिए महाराष्ट्र और गुजरात के विभाजन के बाद भी समस्याएं बनी हुई हैं। किंतु पंजाब, हरियाणा, एवं चंडीगढ़ का मसला अभी उलझा पड़ा है। कर्नाटक, तमिलनाडु एवं केरल के मध्य अब भी कावेरी नदी का विवाद लम्बित पड़ा है।

पहाड़ी क्षेत्र भी क्षेत्रीयता के अखाड़े हैं। खासी, जयन्तिया, गारो, मिकिर, उत्तर कछार, मिजो पाहाड़ियों आदि में गैर–असमियां कबीले रहते हैं। पूर्वी पहाड़ी क्षेत्र में क्षेत्रवाद की भावनाएं उग्र हिंसक रूप ले चुकी हैं। भारतीय संविधान के अनुसार इन क्षत्रों का प्रशासन जिला परिषदों के अधीन होता है जिन्हें अधिकार दिया गया है कि वे खेती, स्थानीय प्रशासन और सामाजिक रीति–रिवाजों के बारे में कानून बनाए। इसके बाद भी पहाड़ी क्षेत्रों की मांग शांत नहीं हुई। अप्रैल 1965 में भारत सरकार द्वारा पाटस्कर अयोग नियुक्त किया गया। अयोग ने अपनी रिपोर्ट में सिफारिश की कि असम पहाड़ी क्षेत्रों को विधान संबंधी पूर्ण स्वतंत्रता दी जाए और इसके लिए राज्य विधान सभा में पहाड़ी क्षेत्र की एक अलग समिति बनाई जाए। परंतु आयोग की इन सिफारिशों को मई, 1966 में पहाड़ी क्षेत्रों के प्रतिनिधियों द्वारा ठुकरा दिया गया। सन् 1968 में असम के अंतर्गत 'मेघालय' स्वायत्तशासी राज्य बना। पूर्वी क्षेत्र के संघीय प्रदेश मणिपुर एवं त्रिपुरा को 1972 में पूर्ण राज्य का दर्जा प्रदान किया गया। इस प्रकार उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, और बिहार का पुनर्गठन करके सन् 1998 में क्रमशः उत्तराखंड, छत्तीसगढ़ एवं झारखंड राज्य बनाए गए।

## छोटे–छोटे राज्यों के गठन की राजनीति

क्षेत्रीय भावनाओं का सबसे चिंताप्रद विस्फोट छोटे–छोटे राज्यों का निर्माण है। अपने–अपने क्षेत्र को पृथक रूप प्रदान कराने की मांग को लेकर उठने वाली समस्याएं भारतीय राजनीति का अंग बन चुकी हैं। अधिकांश राजनीतिक नेताओं और जनसाधारण के बहुमत की धारणा यही है कि क्षेत्रीय भावनाओं को संतुष्ट करने के लिए, अथवा अन्य किसी राजनीतिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए छोटे–छोटे राज्यों के निर्माण से विघटनकारी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिलेगा जिससे देश को भारी क्षति होगी। लेकिन राजनीतिक क्षेत्र में ऐसा शक्तिशाली वर्ग भी है जो केंद्र को सुदृढ़ और शक्तिशाली बनाने के नाम पर छोटे राज्यों का निर्माण किया जाना उपयुक्त समझता है।

टिप्पणी

छोटे राज्यों के निर्माण के लिए जो भी आधार प्रस्तुत किए जाएं, वे मन में बैठने वाले नहीं है। देश में राज्यों के निर्माण की मांग मूलभूत रूप से क्षेत्रीय भावनाओं और संकुचित स्वार्थों के आधार पर की जा रही है। इस मांग के पीछे राष्ट्रीय हितों की पूर्ण उपेक्षा छिपी है। यदि राज्यों के निर्माण की प्रवृत्ति ने बल पकड़ा तो राष्ट्रीय और भावात्मक एकता स्थापित नहीं हो सकेगी। देश राज्यों के आपसी विवादों का और भी अधिक बड़ा अखाड़ा बन जाएगा। केंद्र के लिए अनेक नये सिर–दर्द पैदा हो जाएंगे तथा देश की राजनीति अधिक विघटनकारी मोड़ ले लेगी। एक–दो या तीन छोटे राज्यों का निर्माण भी अपर्याप्त होगा। छोटे राज्यों के निर्माण की बात मान ली गई तो संभवतः 100 राज्यों का निर्माण भी अपर्याप्त होगा। देश के नेताओं और प्रशासकों को इन तथ्यों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए कि विघटनकारी और पृथकतावादी शक्तियां भारत को खंड–खंड करने पर तुली हुई हैं। सन् 1998 में छत्तीसगढ़, झारखंड एवं उत्तरांचल का गठन हुआ है इससे इन राज्यों की आर्थिक स्थिति में कोई सुधार हुआ या नहीं यह विवेचना का विषय है। इसी प्रकार अन्य क्षेत्रों से इस प्रकार की मांग उठ सकती है, जो समीचीन नहीं है। तेलंगाना का आंदोलन कुछ कारणों से शिथिल पड़ गया लेकिन तेलंगाना समर्थकों के कुछ नेता दावा कर रहे हैं कि निकट भविष्य में ही तेलंगाना पृथक राज्य के रूप में जन्म ले लेगा। जहां तेलंगाना राज्य का निर्माण हुआ वहां आंध्र में सम्मिलित रायल सीमा अपने लिए पृथक राज्य की मांग को उचित प्रस्तुत करने लगेगी (हालांकि अब यह विभाजन हो गया है)। गुजरात की कुछ पिछड़ी जातियां जिसमें डांग और डबला प्रमुख हैं, पिछले कुछ वर्षों से अपने लिए अलग प्रांत की मांग कर रही हैं।

इस प्रकार के पृथक राज्यों के निर्माण की मांग के पीछे कोई ठोस तर्क नहीं है बल्कि क्षेत्रीय भावना ही प्रमुख है। कुछ क्षेत्र इसलिए पृथक राज्य चाहते हैं ताकि आर्थिक दृष्टि से वे अधिक लाभ उठा सकें। कुछ पिछड़ी जातियां इसलिए अलग प्रांत चाहती हैं क्योंकि अब तक वे आर्थिक विकास के लाभों से वंचित रही हैं। इनका विश्वास है कि इनके अलग राज्यों में सम्मिलित होने पर वे समुचित आर्थिक प्रगति कर सकेंगे। आर्थिक विकास के आधार पर इस तरह अलग राज्य निर्माण की मांग अनुचित है क्योंकि संपूर्ण राज्य के आर्थिक विकास के साथ प्रांत अथवा राज्य विशेष का प्रश्न भी जुड़ा है लेकिन यह स्थिति तो पृथक राज्य का निर्माण कर देने के बाद भी बनी रहेगी। स्पष्ट है कि यह कसौटी अव्यावहारिक है। यह तो राजनीतिक कुचेष्टाओं पर आर्थिक आवश्यकताओं का मुल्लम्मा चढ़ाने की नीति है जिससे क्षेत्रीयतावाद तथा ईर्ष्या–द्वेष को निरंतर प्रोत्साहन मिलेगा।

छोटे राज्यों के निर्माण के पक्ष में एक तर्क दिया जाता है कि भाषाई आधार पर निर्मित बड़े राज्य, जो आर्थिक दृष्टि से संपन्न हैं स्वतंत्र नागरिकता की घोषणा करके पृथक राष्ट्र होने की मांग कर सकते हैं लेकिन इस प्रकार का तर्क जनता को भुलावे में डालने के लिए ही दिया जाता है।

प्रशासनिक सुधार और जनसंपर्क की अधिकता के आधार पर छोटे राज्यों के निर्माण की मांग व्यर्थ है। छोटे राज्यों में तो प्रशासनिक भ्रष्टाचार, स्थानीयतावाद, भाई–भतीजा वाद, और गुटबंदी का प्रभाव उल्टा व्यापक हो सकता है। रही जनता से अधिक संपर्क कर पाने की बात, सो मंत्रियों की संख्या बढ़ाकर जनता के नजदीक नहीं पहुंचा जाता है, कोई भी प्रशासन जनता के दिल में घर तभी कर सकता है जब वह जन कल्याण की दिशा में अधिक उन्मुख हो।

टिप्पणी

स्पष्ट है कि किसी भी तर्क के आधार पर अलग–अलग राज्यों के निर्माण की बात गले नहीं उतरती है। यदि हम देश की एकता को सही ढंग से बनाए रखना चाहते हैं तो क्षेत्रीयतावाद से बचना होगा। जनता की मांग के आधार पर राज्यों का निर्माण करते चले जाने के फलस्वरूप एक ऐसी प्रक्रिया शुरू होगी जो नए–नए प्रांतों अथवा राज्यों को जन्म देती चली जाएगी। इससे देश का कल्याण नहीं होगा।

## क्षेत्रीय असंतुलन

संसार के अधिकतम जनसंख्या वाले देशों में भारत का दूसरा स्थान है। क्षेत्रफल की दृष्टि से उसका विश्व में सातवां स्थान है। 2001 में देश की आबादी 102.87 करोड़ थी, जो 2011 में 121.01 करोड़ हो गई। इस तरह एक दशक में भारत की आबादी में 17.5 प्रतिशत वृद्धि हुई। जनसंख्या का औसत घनत्व अब एक वर्ग किलोमीटर में 382 व्यक्ति हो गया है। सबसे घनी आबादी वाला राज्य बिहार है, जहां प्रति वर्ग किलोमीटर में 1102 व्यक्ति रहते हैं। पं. बंगाल का स्थान दूसरा है (प्रति वर्ग किलोमीटर 1029 व्यक्ति) संघ शासित क्षेत्रों में दिल्ली सर्वाधिक घनत्व वाला क्षेत्र है।

'संतुलित विकास' के अभाव को असंतुलन कहा जाता है। असंतुलन को इस प्रकार परिभाषित किया जाता है : ''लोगों की आय में विषमता, शहर तथा गांवों में असंतुलन, तथा देश के विभिन्न भागों में असंतुलन।'' संतुलित विकास का यह अर्थ नहीं कि सभी प्रदेशों में रहने वाले लोगों का एक जैसा जीवन स्तर हो। अलग–अलग प्रदेशों के संसाधनों में भिन्नता के कारण विषमताएं तो रहेंगी ही पर यह जरूरी है कि हर क्षेत्र के साधनों का ज्यादा से ज्यादा विकास किया जाए जिससे कि उस क्षेत्र में रहने वाले लोगों का जीवन स्तर ऊंचा उठे।

## क्षेत्रीय विषमताओं को मापने के प्रमुख मापदंड

यह एक तथ्य है कि भारत में क्षेत्रीय विषमताएं मौजूद हैं। क्षेत्रीय विषमताओं को मापने के प्रमुख मापदंड निम्न हैं–

1. **गरीबी और बेरोजगारी**– बेरोजगारी की सही ढंग से माप नहीं की जा सकती है, क्योंकि ये आंकड़े रोजगार कार्यालयों द्वारा तैयार किए जाते हैं जिनमें आमतौर पर शहरी लोग ही अपने नाम दर्ज कराते हैं, देहात वाले व्यक्ति नहीं। जहां तक किन्हीं खास राज्यों या क्षेत्रों का प्रश्न है, एक सर्वेक्षण के अनुसार देश की सर्वाधिक गरीब जनसंख्या उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिम बंगाल, उड़ीसा, मध्य प्रदेश और तमिलनाडु में केंद्रीभूत है।
2. **कृषि और उद्योग**– कृषि संबंधी हर पहलू में भारी विषमताएं देखने को मिलती है। सिंचाई तरीकों, जोत के आकार, प्रति हेक्टेयर उपज और फसलों की ब्रिकी आदि अनेक मामलों में काफी भिन्नताएं हैं। ये विषमताएं प्राकृतिक और आर्थिक कारणों से ही नहीं, राजनीतिक और वैधानिक तत्वों से भी संबंधित हैं। पंजाब और हरियाणा में हरित क्रांति का व्यापक प्रभाव देखा जा सकता है, जबकि उड़ीसा, महाराष्ट्र और आंध्र प्रदेश पिछड़ी हुई दशा में हैं।

   उद्योगों का प्रादेशिक वितरण भी बहुत दोषयुक्त रहा है। अधिकांश उद्योग महाराष्ट्र गुजरात और पश्चिम बंगाल के कुछ विशेष क्षेत्रों में ही केंद्रित हैं।

टिप्पणी

3. **आधारिक संरचना**– 'आधारिक संरचना' का अभिप्राय उन सेवाओं से है जो एक आधुनिक अर्थव्यवस्था के निर्माण के लिए अनिवार्य मानी जाती हैं, जैसे यातायात और संचार के साधन (सडकें, रेल, आदि), विद्युत–संस्थान, नहरें, बांध, जलाशय तथा बैंक व अन्य वित्तीय संस्थाएं जो ऋण और पूंजी उपलब्ध कराती हैं। भारत के ग्रामीण इलाकों और पहाड़ी प्रदेशों में 'आधारिक संरचना' का बड़ा अभाव है।

4. **पूंजी–निवेश**– भारत के कई क्षेत्र इसलिए अविकसित हैं क्योंकि वहां पूंजी का पर्याप्त निवेश नहीं किया गया है खनिज संपदा और प्राकृतिक साधनों की प्रचुरता के बावजूद वहां पूंजी निवेश पर यथोचित ध्यान नहीं दिया गया। बिहार और मध्य प्रदेश में यदि सचमुच पूंजी लगाई जाए तो इन प्रदेशों की ठोस व स्थाई प्रगति हो सकेगी और आर्थिक विषमताएं भी घटेंगी।

5. **सामाजिक सेवा**– क्षेत्रीय असंतुलन का विवेचन करते समय हमें शिक्षा, प्रशिक्षण, चिकित्सा व अन्य आवश्यक सुविधाओं पर भी ध्यान देना होगा। इस दृष्टि से केरल और दिल्ली जैसे प्रदेश अपेक्षाकृत ज्यादा अच्छी स्थिति में हैं, जबकि बिहार, मध्य प्रदेश और उत्तर प्रदेश में ये सेवाएं कम मात्रा में उपलब्ध हैं।

## अधिक असंतुलन वाले क्षेत्र

नीचे हम उन क्षेत्रों और प्रदेशों की चर्चा करेंगे जो बहुत ज्यादा अविकसित हैं और लंबे समय से उपेक्षित पड़े रहे हैं–

1. **उत्तर–पूर्वी क्षेत्र**– असम, त्रिपुरा और मणिपुर का क्षेत्र सामरिक दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण है चूंकि वह चीन, बंग्लादेश और बर्मा की सीमा से लगा हुआ है। यहां चाय, तेल तथा खनिज बड़ी मात्रा में हैं, पर इन उद्योगों के विकास से स्थानीय जनता को पूरा लाभ नहीं पहुंचा। असम में ब्रिटिश पूंजी के साथ ही दूसरे राज्यों के श्रमिक, साहूकार और व्यापारी पहुंचे। हिसाब–किताब की देखभाल के लिए अंग्रेजी पढ़े–लिखे बंगाली बाबुओं का प्रवेश असम में हुआ। इससे असमिया समाज में धीरे–धीरे कुंठा की स्थिति उत्पन्न हो गई। असम, मणिपुर और त्रिपुरा में शिक्षा के प्रसार के साथ–साथ शिक्षित बेरोजगारी बढ़ रही है।

2. **ग्रामीण क्षेत्र**– भारत में हर प्रकार की जलवायु है, इसी तरह मिट्टी भी तरह–तरह की हैं। आज भी देश के सकल घरेलू उत्पाद का करीब 32 प्रतिशत खेतीबाड़ी से जुड़ी 70 प्रतिशत आबादी के श्रम से पैदा होता है। यदि गांवों में पीने का पानी, बिजली, शिक्षा, रोजगार और स्वास्थ्य सेवाएं हों तो गांवों से शहरों की ओर पलायन का सिलसिला थमेगा। ग्रामीण क्षेत्रों में सर्वांगीण विकास की तस्वीर घोर निराशाजनक है। खेतिहर मजदूरों की संख्या लगातार बढ़ती जा रही है। देश के हर कोने में बहुत बड़ी संख्या में बंधुआ मजदूर मिल जाएंगे, जिनका 'श्रम' किसी न किसी जमींदार या साहूकार के पास गिरवी है। कुल खेतिहर बंधुआ मजदूरों में से 60 प्रतिशत अनुसूचित जातियों तथा 17 प्रतिशत आदिवासी परिवारों के हैं।

3. **आदिवासी और पहाड़ी क्षेत्र**– आदिवासी और पहाड़ी क्षेत्र आज भी अन्य प्रदेशों की अपेक्षा बहुत पिछड़े हुए हैं। बिहार, मध्यप्रदेश और उड़ीसा के आदिवासी क्षेत्रों के लिए 1971–72 में 'आरंभिक परियोजना' नामक एक विशेष

टिप्पणी

कार्यक्रम शुरू किया गया। आठवीं योजना का एक महत्वपूर्ण लक्ष्य यह था कि –गरीबी की रेखा से नीचे जीवनयापन कर रहे जितने भी अनुसूचित जनजातियों के व्यक्ति हैं, उनमें से ज्यादा से ज्यादा लोगों की आर्थिक स्थिति में सुधार हो सके।'' परंतु आदिवासी क्षेत्र आज भी शोषण का शिकार हैं। वनों पर आदिवासियों के परंपरागत अधिकार समाप्त हो गए हैं और उनकी अधिकांश भूमि महाजनों के चंगुल में है। जंगल और आदिवासियों के बीच आदि काल से ही एक अटूट संबंध है, क्योंकि जंगलों से वे कंदमूल फल–फूल, शहद, जड़ीबूटियों और पशुओं के लिए चारा प्राप्त करते हैं परंतु आज वही आदमी जंगलों में घूमता है तो उसे सजा दी जाती है।

पर्वतीय क्षेत्र में विकास योजना की आवश्यकता पर बार–बार बल दिया गया है। वनों की कटाई तथा भूरक्षण पर्वतीय क्षेत्र की मुख्य समस्या है। इसके साथ ही बांधों और मध्यम उद्योगों के अनियंत्रित विकास के कारण पर्वतीय प्रदेशों में पर्यावरण संबंधी समस्याएं पैदा हुई हैं। असम, जम्मू व कश्मीर, नागालैण्ड, उत्तर प्रदेश, पश्चिम बंगाल, हिमाचल प्रदेश, मणिपुर और त्रिपुरा ये ऐसे राज्य हैं जिनमें ये पर्वत तथा समीपवर्ती शहर स्थित हैं। पेयजल, विद्युत तथा आवास जैसी सेवाओं की दृष्टि से पर्वतीय क्षेत्रों का विकास नितांत असंतोषजनक है।

## क्षेत्रीय असंतुलन के कारण

क्षेत्रीय असमानताओं के लिए काफी सीमा तक ब्रिटिश शासनकाल की नीतियां जिम्मेदार हैं। अंग्रेजों ने उन प्रदेशों व क्षेत्रों का विकास किया जिनकी उन्हें आवश्यकता थी। समुद्र के किनारे बड़े–बड़े औद्योगिक नगर विकसित हो गए थे जैसे मुंबई (बंबई), कलकत्ता और चेन्नई (मद्रास) और निश्चय ही उन स्थानों पर रहने वाले लोगों को शिक्षा व रोजगार की ज्यादा सुविधाएं उपलब्ध रहीं। आजादी के बाद देश के संतुलित क्षेत्रीय विकास की आवश्यकता महसूस की गईं फिर भी भारी क्षेत्रीय विषमताएं विद्यमान हैं, जिनके लिए निम्नलिखित कारण उत्तरदायी हैं–

1. विकास योजनाओं का लक्ष्य उत्पादन और रोजगार में वृद्धि लाना था, पर जैसा कि प्रसिद्ध अर्थशास्त्री दंतवाला ने कहा है, ''योजनाओं के अधिकतर लाभ राजनीतिक प्रभाव रखने वाले समृद्ध किसानों के पक्ष में मोड़ दिए गए और इन्होंने इन लाभों को हथिया लिया।"
2. क्षेत्रीय असंतुलन के लिए काफी सीमा तक राजनीतिक और प्रशासनिक परिस्थितियां भी उत्तरदायी हैं। राज्यों में दल–बदल की राजनीति और सरकारों के उथल–पुथल से विकास कार्य को हानि पहुंचती है। कोई भी सरकार जिसकी सारी शक्ति अपने को बनाए रखने में ही खर्च हो जाती हो, विकास कार्यों की ओर कैसे ध्यान दे सकती है। अधिकांश राज्यों में राजनीतिक अस्थिरता और नेताओं की आपसी फूट की वजह से प्रशासन कार्य कुशल नहीं बन पाया है।
3. उत्पादन में जहां यंत्र या औजार की महत्ता है, वहां मानव–पूंजी की महत्ता भी किसी तरह से कम नहीं। पंजाब के आर्थिक विकास में वहां के निवासियों की साहसी और परिश्रमी प्रवृत्ति का बड़ा हाथ है। दूसरी ओर वे प्रदेश जहां के

टिप्पणी

निवासी अज्ञान या आलस्य के कारण 'नव परिवर्तन व नयी तकनीक को ग्रहण करने में झिझकते हैं, पीछे रह जाते हैं।

4. राजनीतिक इच्छा शक्ति की कमी के कारण भी बहुत से विकास कार्यक्रम लागू नहीं किए जा सके हैं। जिन लोगों के हाथ में राजनीतिक सत्ता है, उनके अपने कुछ निहित स्वार्थ हैं जो समाज के एक बड़े हिस्से को उसके अधिकारों से वंचित रखकर ही पूरे हो सकते हैं। इस प्रकार निरंतर शोषण का क्रम चलता रहता है।

## क्षेत्रीय विषमताओं के परिणाम

क्षेत्रीय असंतुलन के परिणामों को इस प्रकार दर्शाया जा सकता है–

1. क्षेत्रीय असंतुलन ने तनाव को जन्म दिया है। उत्तर–पूर्वी भारत के असम, त्रिपुरा, मणिपुर, नागालैण्ड और मिजोरम– काफी लंबे समय तक आंदोलन की गिरफ्त में रहे हैं। मिजोरम में हिंसक घटनाएं भी हुईं। त्रिपुरा में जन मुक्ति संगठन सेना ने स्वतंत्र त्रिपुरा का नारा बुलंद किया। नागालैण्ड में विद्रोह का स्वर अब शांत है, पर नागा जाति को राष्ट्र की मुख्य धारा से जोड़ना जरूरी है। संथाल परगना और छोटा नागपुर, वनवासियों के जुझारू आंदोलन के रणस्थल रहे हैं।
2. क्षेत्रीय असंतुलन से एकीकरण की प्रक्रिया भी प्रभावित होती है। छोटे और पृथक राज्यों की मांग को हम बुरा नहीं कहेंगे, पर भारतीय संघ से अलग हो जाने की धमकी निश्चय ही एक राष्ट्रविरोधी कृत्य है। ऐसी प्रवृत्तियों पर काबू पाने के लिए यह जरूरी है कि जो प्रदेश पिछड़े हुए हैं वहां संचार सेवाओं, आर्थिक विकास व कृषि–संबंधी कार्यक्रमों में तेजी लाई जाए।
3. क्षेत्रीय असंतुलन से केंद्र और राज्यों के बीच कटुता पैदा हो सकती है। कभी–कभी एक ही राज्य में रहने वाले विभिन्न जनसमुदाओं के बीच विवाद उठ खड़े होते हैं।
4. यह भी हो सकता है कि राष्ट्रीय दलों का दबदबा कम हो जाए और क्षेत्रीय दल सर्वेसर्वा बन बैठें। फिलहाल भारतीय राजनीति में एक बुनियादी परिवर्तन यह आया है कि क्षेत्रीय दलों का दबदबा बढ़ रहा है। अब एक पार्टी के शासन का युग खत्म हो रहा है और साझा सरकारों का वक्त आ गया है। इससे केंद्र में राजनीतिक अस्थिरता बढ़ती है। खतरा यह है कि क्षेत्रीय दलों की हठधर्मी वाली सरकारों से कहीं केंद्र इतना अशक्त न बन जाए कि भारत का कोई अखिल भारतीय चेहरा ही बाकी न बचे।
5. देश के जिन भागों में उद्योग और व्यापार की अधिक प्रगति हुई है, वहां पर रोजगार के ज्यादा साधन उपलब्ध हैं। शेष स्थानों में रहने वाले लोगों का जीवन स्तर ऊंचा नहीं उठ पाता है। इससे विषमताएं बढ़ती हैं। असंतुलन के कारण भारत संतुलित विकास के लाभों से वंचित रहा है।

## क्षेत्रीय असंतुलन निवारण के उपाय

क्षेत्रीय असंतुलन को दूर करने के लिए इन उपायों का सहारा लेना होगा–

1. अविकसित क्षेत्रों के विकास को उच्च प्राथमिकता देनी होगी। लघु उद्योगों के साथ–साथ मध्यम उद्योगों पर भी जोर देने की जरूरत है। इन क्षेत्रों के विकास

के लिए आधारभूत सुविधाओं (बिजली, सड़क, परिवहन, दूरसंचार और रेलवे) का विस्तार जरूरी है। आधारभूत ढांचे को मजबूत बनाकर ही अविकसित क्षेत्रों में देशी–विदेशी पूंजी को आकर्षित किया जा सकता है।

टिप्पणी

2. पर्वतीय क्षेत्रों के संतुलित विकास के लिए निम्नलिखित बातों को सुनिश्चित किया जाना चाहिए। (1) विद्यमान वनों की प्रभावी ढंग से सुरक्षा की जाए। (2) वन्य भूमि पर किसी भी कार्य के लिए कब्जा करने की अनुमति न दी जाए तथा (3) वन्य भूमि का हस्तांतरण गैरवन्य प्रयोजनों के लिए न किया जाए, चाहे वह प्रयोजन कितना ही महत्वपूर्ण क्यों न हो। पर्वतीय क्षेत्रों में जनसंख्या का घनत्व कम है, और ग्राम छोटे–छोटे हैं तथा लंबी दूरी तक छितरे हुए हैं। ऐसे स्थानों पर कुली, मजदूरों तथा खच्चरों के लिए पगडंडियां बनाकर उनका समुचित रख–रखाव किया जाना चाहिए।
3. उत्पादन में जहां यंत्र और औजार की महत्ता है, वहीं मानव पूंजी का महत्व भी कम नहीं है। इसलिए संचार साधनों के माध्यम से जन जागरण को बढ़ावा देने की जरूरत है। यह जरूरी है कि लोग बिना किसी झिझक के नयी तकनीक और नव परिवर्तन का स्वागत करें।
4. राजनीतिक इच्छा शक्ति की कमी और अधिकारियों की लापरवाही के कारण बहुत से विकास कार्यक्रम प्रभावी ढंग से लागू नहीं किए जा सके हैं। इसलिए प्रशासन को चुस्त करने की जरूरत है।

### 4.3.7 साम्प्रदायिकता की अवधारणा

सांप्रदायिकता का अर्थ है, सामाजिक–धार्मिक समूहों की वह प्रणाली जिसके द्वारा वे दूसरे समूहों के हितों को नुकसान पहुंचाकर अपने लिए और अधिक, सामाजिक एवं राजनीतिक ताकत को प्राप्त करने के प्रयत्न करते हैं। दूसरे शब्दों में सांप्रदायिकता को 'विशिष्ट धार्मिक समुदायों या संप्रदायों के स्वार्थी हितों द्वारा राजनीतिक कार्यों के रूप में परिभाषित किया गया है। भारतीय संदर्भ में 'सांप्रदायिकता' का प्रयोग नकारात्मक रूप में होता है। इसका प्रयोग ऐसे संगठनों के लिए किया जाता है, जो समाज को केवल धार्मिक दृष्टिकोण से देखते हो या ऐसी परंपरा का प्रतिनिधित्व करते हों जो समाज में परिवर्तन विरोधी है। सांप्रदायिकता आधुनिकीकरण तथा आधुनिक राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया के विरुद्ध एक संकीर्ण एवं नकारात्मक प्रतिक्रिया है। इसलिए सांप्रदायिकता राजनीतिक रूप से नकारात्मक नीति है, यह राष्ट्रवाद का विरोध करती है, यह बहुजातीय, बहुधार्मिक तथा बहुभाषायी समुदायों के सहअस्तित्व के लिए चुनौती है। इसकी सर्वाधिक सुस्पष्ट अभिव्यक्ति सांप्रदायिक हिंसा या दंगों के रूप में होती है।

#### सांप्रदायिकता के कारण

स्वतंत्रता से पूर्व एवं पश्चात सांप्रदायिकता एवं सांप्रदायिक राजनीति के विश्लेषण से स्पष्ट है कि इनको उत्पन्न करने में निर्णायक भूमिका धर्म एवं संस्कृति के द्वारा अदा नहीं की गई है बल्कि राजनीतिक तथा आर्थिक व्यवस्था में सक्रिय गैर–धार्मिक एवं गैर–सांस्कृतिक शक्तियां इसके प्रचार एवं प्रसार के लिए उत्तरदायी हैं। यदि सांप्रदायिक नेताओं द्वारा उठाई गई मांगों का गहराई एवं गंभीरता से विश्लेषण किया जाए तो हमें

टिप्पणी

धर्म, संस्कृति तथा परंपरा के नाम पर की जाने वाली सांप्रदायिक राजनीति के वास्तविक चरित्र तथा लक्ष्यों का ज्ञान हो जाता है। सांप्रदायिक नेताओं का उद्देश्य निम्न–मध्यम वर्ग तथा शहरी बुद्धिजीवी वर्ग के हितों की रक्षा करना होता है। सांप्रदायिकता एक मध्यमवर्गीय प्रवृत्ति है। दूसरी ओर शासक वर्ग अपने हितों को सुरक्षित बनाए रखने के लिए जनता को विभाजित करता है। इस प्रक्रिया को भारत में स्वतंत्रता से पूर्व औपनिवेशिक शासन की प्रवृत्ति तथा स्वतंत्रता के पश्चात सरकार द्वारा विकास के प्रति अपनाए गए दृष्टिकोण तथा सांस्कृतिक नीति के संदर्भ में विभिन्न पक्षों से इसका अध्ययन किया गया है।

सांप्रदायिकता एक आधुनिक प्रवृत्ति है इसकी जड़ें धर्म में न होकर राजनीति एवं विकास की प्रक्रिया में निहित हैं। विपिन चंद्र के अनुसार, ''सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक हित रखने वाले जानबूझकर या अज्ञानतावश सांप्रदायिकता को प्रोत्साहित करते हैं या फिर इसको सहते हैं क्योंकि यह लोकप्रिय संघर्षों में विघटन उत्पन्न करने की क्षमता रखती है। यह जनता को उन सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों को समझने से रोकती है जो उनकी सामाजिक स्थिति के लिए उत्तरदायी हैं तथा उनको वास्तविक राष्ट्रीय एवं सामाजिक–आर्थिक हितों तथा प्रश्नों और उनके इर्द–गिर्द जन आंदोलनों से दूर ले जाती है। जवाहरलाल नेहरू ने सांप्रदायिकता को प्रगति तथा प्रतिक्रिया के मध्य के संघर्ष के रूप में वर्णित किया है। यह सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन और धार्मिक सुधार के क्षेत्रों में सभी प्रकार की क्रांतिकारी शक्तियों का विरोध करती है। यह समाजवाद एवं सामाजिक समानता की भी विरोधी है।

धार्मिक व्यवस्था में विश्वास सांप्रदायिकता नहीं है। धर्म का शोषण तथा अन्य समुदायों व राष्ट्र के विरुद्ध किसी धार्मिक समुदाय का इस्तेमाल करना सांप्रदायिकता है। धार्मिक पिछड़ापन, आडंबर, जादू–टोने या ज्योतिषी में विश्वास भी सांप्रदायिकता नहीं है। ये मात्र अतार्किक, अवैज्ञानिक एवं अति आदिम कार्य हैं और जिन्हें परंपरावश, अज्ञानता के भय तथा असीमित अभिलाषा के कारण किया जाता है। वास्तव में सांप्रदायिक लोग इस प्रकार के बहुत से कार्यों एवं सम्मिश्रण को अपने राजनीतिक आधार को विकसित करने के लिए इस्तेमाल करते रहे हैं।

साधारण जनता धार्मिक होती है न कि सांप्रदायिक। सभी समुदायों में धार्मिक एवं निरपेक्ष नेता विद्यमान हैं। इन समुदायों के धार्मिक तथा धर्मनिरपेक्ष नेतृत्व को एक साथ आना चाहिए और सांप्रदायिकता के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए एकता कमेटियों का गठन करना चाहिए। इसके लिए सामुदायिक कार्यों का मूल्यांकन होना चाहिए। नकारात्मक तत्वों को दूर करना चाहिए तथा सकारात्मक तत्वों को सहजता के साथ ग्रहण किया जाना चाहिए। इस प्रकार के दृष्टिकोण के माध्यम से समझदारी तथा पारस्परिक विश्वास के सेतु को बनाया जा सकता है। परंतु इन सबसे ऊपर एक ऐसे वैज्ञानिक दृष्टिकोण को अपनाने की आवश्यकता है जो लोकतंत्र एवं मानवतावाद को प्रोत्साहित करे। हमारे लिए ईमानदार लोकतांत्रिक होना अनिवार्य है। एक विवेकशील व्यक्ति विशेष का स्वयं का अनुमान उसके अपने स्वयं के गुणों पर निर्भर करता है न कि किसी सामाजिक समूह के गुणों पर, क्योंकि वह इसमें सम्मिलित भी हो सकता है। भारतीय जनता में लोकतांत्रिक एवं मानवीय मूल्यों के विकास के द्वारा ही भारत में सांप्रदायिक भावनाओं की शक्ति को कम किया जा सकता है। और यह बुद्धिजीवियों

तथा जागरूक नागरिकों द्वारा राजनीति में प्रभावशाली ढंग से हस्तक्षेप करके ही किया जा सकता है।

### 4.3.8 साम्प्रदायिक हिंसा की अवधारणा

टिप्पणी

भारत के सुप्रसिद्ध समाजशास्त्री प्रो. योगेन्द्र सिंह के अनुसार साम्प्रदायिक हिंसा का अपना एक पृथक समाजशास्त्र होता है और यह हिंसा के अन्य रूपों के समाजशास्त्र से भिन्न होता है। इनके अनुसार साम्प्रदायिक हिंसा को छोड़कर अन्य सभी प्रकार की हिंसा के सामाजिक आर्थिक और मनोवैज्ञानिक कारण होते हैं, जबकि साम्प्रदायिक हिंसा में ऐसा नहीं होता हैं। इसका आर्थिक विकास से कोई सम्बन्ध नहीं होता है। अन्य सभी प्रकार की हिंसा कहीं न कहीं निर्धनता और असमानता से सम्बन्धित होती है, जबकि साम्प्रदायिक हिंसा अधिकतर पूर्व नियोजित एवं कुछ व्यक्तियों द्वारा निहित लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए होती है। इन्होंने अपने तथ्य की पुष्टि हेतु आर्थिक रूप से भारत के गरीब राज्यों की अपेक्षा आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न राज्य गुजरात तथा महाराष्ट्र का उदाहरण दिया है, जिनमें साम्प्रदायिक हिंसा व तनाव सर्वाधिक पाया जाता है।

साम्प्रदायिक हिंसा कहीं भी कभी भी हो सकती हैं यह एक नगरीय अवधारणा है और गांव में इसका प्रभाव बहुत कम है। अधिकांशत नगरों में व्याप्त साम्प्रदायिक तनाव व हिंसा का प्रभाव उस प्रभावित नगर के आस–पास बसे ग्रामीण क्षेत्रों में भी पहुंच जाता है। लोगों में व्याप्त भय नगरों में सांप्रदायिक हिंसा की संभावना को बढ़ा देता है।

सांप्रदायिक हिंसा एक प्रकार की हिंसा है जो किसी धर्म, पंथ या संप्रदाय विशेष के लोगों के बीच होती है। इसके अंतर्गत सभी प्रकार की हिंसा शामिल की जाती है जो धार्मिक, पंथ या संप्रदाय के मध्य होती हैं।

सांप्रदायिक हिंसा से तात्पर्य शारीरिक दृष्टि से चोट पहुंचाना, घायल करना एवं हत्या करना हैं। इससे सामाजिक एवं सामुदायिक जीवन विघटित एवं अस्त व्यस्त हो जाता है। जब कभी विभिन्न वर्गों, जातियों, सम्प्रदायों, समुदायों एवं राष्ट्रों में उग्र तनाव उत्पन्न हो जाता है तो हिंसा की लपटें उठती है जो जन और धन को क्षति पहुंचाता है।

- कुछ अराजक तत्वों ने भी इस प्रकार के सांप्रदायिक उपद्रवों व तनावों को भड़काया है क्योंकि दंगों के समय उन्हें लूटपाट करने तथा अपनी वासनाओं को तृप्त करने का अवसर मिलता है।
- संकीर्ण राजनीति, जातिवाद, भाषावाद, भाई–भतीजावाद एवं पक्षपात आदि के कारण भी संप्रदायिक उपद्रव होते हैं।

राउरकेला, काशी तथा अन्य स्थानों पर हुए दंगों का अध्ययन करने पर ज्ञात हुआ कि इन उपद्रवों का कारण प्रतिशोध, अफवाहें, प्रशासन की शिथिलता, उत्तेजनापूर्ण वातावरण राजनीतिक दलों एवं समाचार–पत्रों द्वारा उत्पन्न की गई उत्तेजना आदि थे।

सांप्रदायिक हिंसा का प्रत्यक्ष सम्बन्ध उस संकीर्ण, मनोशक्ति से है, जो धर्म और संप्रदाय के नाम पर संपूर्ण समाज तथा राष्ट्र के व्यापक हितों के विरुद्ध व्यक्ति को केवल अपने व्यक्तिगत धर्म के हितों को प्रोत्साहित करने तथा संरक्षण प्रदान करने हेतु राष्ट्रीय जन तथा धन को क्षति पहुंचाने से है।

साम्प्रदायिक हिंसा एक ऐसी घटना है जिसमें अलग–अलग धार्मिक समुदायों के लोग नफरत व दुश्मनी की भावना से लामबंद होते हैं और एक–दूसरे पर हमला करते हैं।

टिप्पणी

सांप्रदायिक हिंसा से निजात पाने के लिए यह अत्यधिक आवश्यक है कि व्यक्तियों के जीवन को इस प्रकार से संस्कारित किया जाए कि उनमें प्रखर राष्ट्रीयता व राष्ट्र भक्ति के भाव जाग्रत हों तथा वे संकीर्ण स्वार्थों से ऊपर उठ सकें और यह सब व्यक्ति को उत्तम सामाजिक व नैतिक शिक्षा प्रदान करने से ही संभव हो सकता है।

साम्प्रदायिकता को हम एक विचारधारा कह सकते हैं। हमारा समाज उन धार्मिक समूहों में बंटा हुआ है जिनके विचार, स्वार्थ एक दूसरे से परस्पर भिन्न हैं। एक समूह के लोग दूसरे समूह के लोगों का परस्पर विरोध करते हैं। यह विरोध फिर चाहे धार्मिक हो अथवा सामाजिक, सही अर्थों में उन्हें साम्प्रदायिक कहा जा सकता है। यह विरोध इतना उग्र होता है कि यह किसी समुदाय को क्षति पहुंचाने, अपमानित करने तथा स्त्री वर्ग को अपमानित करने व जान से मारने में भी नहीं चूकते। अपने निजी स्वार्थों के लिए यह हत्या व कुकर्म जैसे अपराध करते हैं।

भारत विभिन्नता में एकता लिए हुए एक सामाजिक देश है। यहां धर्म, आस्था, अन्धविश्वास व निष्ठा इतनी अधिक हो जाती है कि हिंसात्मक रूप धारण कर लेती है। साम्प्रदायिकता की अवधारणा को अनेक सामाजिक वैज्ञानिकों ने इस प्रकार परिभाषित किया है।

प्रसिद्ध इतिहासकार विपिनचंद्र के अनुसार "साम्प्रदायिकता का आधार ही यह अवधारणा है कि भारतीय समाज कई ऐसे सम्प्रदायों में बंटा हुआ है जिनके हित न सिर्फ अलग हैं बल्कि एक दूसरे के विरोधी भी हैं।"

स्मिथ के अनुसार "एक साम्प्रदायिक व्यक्ति अथवा समूह वह है जो अपने धार्मिक या भाषा–भाषी समूह को एक ऐसी पृथक राजनीतिक तथा सामाजिक इकाई के रूप में देखता है जिसके विचार दूसरे समूहों से पृथक होते हैं तथा जो अक्सर उनके विरोधी भी हो सकते हैं।"

श्री कृष्णभट्ट के अनुसार– "अपने धार्मिक सम्प्रदाय से भिन्न अन्य सम्प्रदाय और सम्प्रदायों के प्रति उदासीनता, उपेक्षा, हेयदृष्टि, घृणा, विरोध और आक्रमण की वह भावना साम्प्रदायिकता है जिसका आधार वह वास्तविक या काल्पनिक भय या आशंका है कि अन्य सम्प्रदाय हमारे अपने सम्प्रदाय और संस्कृति को नष्ट कर देने या हमें जान माल की क्षति पहुंचाने के लिए कटिबद्ध है।" श्री कृष्णदत्त भट्ट तथा स्मिथ जी की परिभाषाओं का आंकलन करके साम्प्रदायिकता की कुछ विशेषतायें स्पष्ट होती हैं, जिन्हें हम इस प्रकार समझ सकते हैं।

1. साम्प्रदायिकता एक उग्र भावना है।
2. साम्प्रदायिकता चरमवादी होती है।
3. साम्प्रदायिकता एक अकल्पनीय सच है।
4. साम्प्रदायिकता एक बदले की भावना है।
5. साम्प्रदायिकता एक संघर्षपूर्ण मनोवृत्ति है।

## साम्प्रदायिकता के कारण

टिप्पणी

1. **ऐतिहासिक पृष्ठभूमि** : भारतीय इतिहास से हमें यह ज्ञात होता है कि भारत आर्यों व यवनों का देश रहा है। कुछ कट्टर धार्मिक मुस्लिम शासकों ने साम्प्रदायिकता को बढ़ावा दिया है। ब्रिटिश शासन ने अपने कार्यकाल में 'फूट डालो व राजनीति करो' की नीति के द्वारा हिन्दू–मुस्लिम में साम्प्रदायिकता को उकसाया।

2. **धार्मिक कारण** : ऐतिहासिक स्रोतों से ज्ञात होता है कि साम्प्रदायिकता का मुख्य कारण धार्मिकता ही रहा है। सभी धर्म अपने धर्म को सर्वोच्च मानते हैं तथा दूसरे धर्मों को हीन भावना से देखते हैं। अपने धर्म की श्रेष्ठता स्थापित करने वाले प्रचारक दूसरे धर्मों को हीनभावना से देखकर उनकी आलोचना करते हैं। अन्य धर्मों के प्रति द्वेष, तनाव, वैमनस्य तथा घृणा पैदा करते हैं। इसी से झगड़े बढ़ते हैं तथा साम्प्रदायिकता बढ़ती है।

3. **मनोवैज्ञानिक कारण** : भारत में मुसलमान अल्पसंख्यक थे तथा हिन्दू बहुसंख्यक, राजनीतिज्ञों के द्वारा मुस्लिम तुष्टीकरण व उनमें आर्थिक शोषण की भावना होने के कारण मुस्लिम तथा हिन्दू समाज में एक दूसरे के प्रति घृणा, द्वेष, विरोध जनभार व प्रतिभार बन गया, यही सब मनोवैज्ञानिक लक्षण साम्प्रदायिकता के कारण हैं। साम्प्रदायिकता का यह कारण व्यक्ति के स्तर पर निर्भर करता है।

4. **राजनीतिक स्वार्थ** : स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद चुनावों में राजनेताओं द्वारा जातिवाद व साम्प्रदायिक भावना का सहारा लिया जाता है। अनेक राजनीतिक दलों में तो प्रारंभ से ही धर्म तथा साम्प्रदायिकता के आधार पर उम्मीदवार खड़े किए जाते हैं तथा भारी मतों से जिताया जाता है। उम्मीदवार के जीतने के बाद अपने धर्म तथा सम्प्रदाय के प्रति निष्ठा तथा असमानता ही साम्प्रदायिकता को जन्म देती है।

5. **सांस्कृतिक भिन्नता तथा धार्मिक कट्टरता** : साम्प्रदायिकता को भिन्न–भिन्न संस्कृति भी बढ़ावा देती है। कुछ लोग गौ पूजन करते हैं तो कुछ गौ हत्या। ये धार्मिक तथा संस्कृति से जुड़े कारण भी साम्प्रदायिकता को बढ़ावा देते हैं। अलग–अलग धर्मों द्वारा अलग–अलग संस्कृति तथा केवल अपनी संस्कृति को बढ़ावा देना साम्प्रदायिकता को बढ़ावा देना है।

6. **अराजक तत्वों का स्वार्थ** : देश में शान्ति का माहौल बने ऐसा कुछ अराजक तत्व बिल्कुल नहीं चाहते। वे अपने स्वार्थ के लिए दो धर्मों को आपस में लड़वाकर साम्प्रदायिकता को बढ़ाते हैं।

7. **विदेशी धन** : भारत से नफरत करने वाली विदेशी शक्तियां सांप्रदायिकता फैलाने के उद्देश्य से देश में उपस्थित सांप्रदायिक संस्थाओं को चंदे के रूप में धन प्रदान करती हैं जिससे देश की शान्ति खराब हो तथा लोगों का आर्थिक शोषण करके उन्हें साम्प्रदायिकता की ओर ले जाया जाए। ताकि विश्व में भारत एक मजबूत तथा शक्तिशाली देश ना बन पाए।

8. **मुसलमानों का आर्थिक व शैक्षणिक दृष्टि से पिछड़ापन** : साम्प्रदायिकता को बढ़ावा विशिष्ट धर्म के लोगों का कम–पढ़ा लिखा होने से भी होता है।

क्योंकि अशिक्षा तथा आर्थिक दृष्टि से पिछड़ापन भी साम्प्रदायिकता का कारण बन जाता है।

टिप्पणी

## साम्प्रदायिकता के कारण होने वाले दुष्परिणाम

1. **आपसी द्वेष** : साम्प्रदायिकता के कारण ही आपस में द्वेष भावना उत्पन्न होती है। भारत विभिन्नताओं से परिपूर्ण देश है यहां हर समुदाय निवास करता है पर जब ईर्ष्या, द्वेष जैसी भावना के कारण साम्प्रदायिकता फैलती है तो वह समाज को अत्यधिक हानि पहुंचाती है।
2. **आर्थिक हानि** : साम्प्रदायिकता के दुष्परिणाम किसी भी देश की अर्थव्यवस्था को सर्वाधिक प्रभावित करते हैं। यदि देश में साम्प्रदायिकता का माहौल होता है तो व्यापारी वर्ग या कृषक सभी स्वयं को असुरक्षित महसूस करते हैं।
3. **प्राणहानि** : साम्प्रदायिकता के कारण लड़ाई–झगड़े, आपसी द्वेष बहुत होते हैं लोग एक दूसरे को अपमानित करने तथा हत्या करने से भी नहीं चूकते।
4. **राजनीतिक अस्थिरता** : साम्प्रदायिकता के कारण देश की राजनीति प्रभावित होती है, सरकार के लिए अपने कार्यकाल को पूरा करना एक चुनौती बन जाता है जिसके कारण उसे अपनी व्यवस्था में काफी फेरबदल करने पड़ते हैं।
5. **राष्ट्रीय एकता में बाधा व राष्ट्रीय सुरक्षा को खतरा** : साम्प्रदायिकता का प्रभाव देश की एकता पर गहन रूप से पड़ता है। आपसी द्वेष, जलन, ईर्ष्या, तनाव, राष्ट्रीय एकता में तो बाधा पहुंचाते ही हैं साथ ही साथ उससे देश की सुरक्षा भी प्रभावित होती है। हमारे देश की सीमा पर हर धर्म, जाति का नौजवान तैनात होता है। बाह्य शक्तियां किसी भी प्रकार से देश की सुरक्षा को हानि पहुंचा सकती हैं।
6. **औद्योगिक व व्यावसायिक विकास में बाधा** : साम्प्रदायिकता का दुष्परिणाम हमारे उद्योगों तथा व्यवसायों पर भी निश्चित रूप से पड़ता है। ईर्ष्या में लोगों के व्यवसाय तथा उद्योगों को भी माल–हानि पहुंचाई जाती है जिससे देश के सर्वांगीण विकास में काफी बाधा आती है।
7. **अल्पसंख्यकों के मन में सुरक्षा भाव उत्पन्न करना** : अल्पसंख्यकों के मन में सुरक्षा की भावना को उत्पन्न करना होगा, उन्हें यह समझाना होगा कि यह देश आपका भी है। साम्प्रदायिकता के कारण होने वाली हानि हमारे देश को विकसित देश होने से रोकती है। उनके अन्दर राष्ट्र प्रेम की भावना को जागृत करना होगा।
8. **भाषा नीति को व्यवस्थित करना** : चुनावी रैलियों में होने वाली अभद्र भाषा शैली तथा छींटाकशी पर रोक लगनी चाहिए तथा सचेत किया जाना चाहिए। भविष्य में दोबारा अपराधी पाए जाने पर कठोर दंड दिए जाने का प्रावधान होना चाहिए।
9. **सर्वधर्म समभाव** : सर्वधर्म समभाव के उद्देश्य को लेकर लोगों के मन की ईर्ष्या को कम करना चाहिए। हर धर्म को समाज में समानता की दृष्टि से देखना चाहिए।

टिप्पणी

10. **साम्प्रदायिक संगठनों पर पूर्ण प्रतिबन्ध** : जो संगठन साम्प्रदायिकता फैलाते हैं उन पर पूर्ण प्रतिबन्ध लगाया जाना चाहिए, ताकि कोई भी धर्म विशेष का व्यक्ति किसी भी दूसरे धर्म का अपमान न कर सके तथा भविष्य में इन संगठनों के द्वारा किसी भी प्रकार की साम्प्रदायिकता को बढ़ावा न दे सके।
11. **प्रतिनिधित्व की मांगों को दृढ़ता से ठुकराना** : सरकार को प्रतिनिधित्व की मांगों को दृढ़ता से ठुकराना चाहिए, किसी भी पार्टी विशेष के प्रतिनिधित्व को अलग से लाभ नहीं दिया जाना चाहिए।

साम्प्रदायिकता को किस प्रकार हम दूर कर सकते हैं आइये इसे कुछ सुझावों के द्वारा समझते हैं :

1. **सरकार को सचेत रहना चाहिए** : समाज में साम्प्रदायिकता न फैले इसके लिए सरकार को सचेत रहना चाहिए। जलूस, रैली तथा बहुत बड़े पैमाने पर धार्मिक आयोजनों पर रोक लगानी चाहिए ताकि किसी भी प्रकार से लोगों में ईर्ष्या द्वेष की भावना न पनप पाये।
2. **धर्म विशेष की शिक्षा की अपेक्षा देशभक्ति व राष्ट्रीयता की शिक्षा पर बल दिया जाना चाहिए** : विभिन्न स्कूलों या मदरसों में धर्म विशेष की शिक्षा प्रदान की जाती है। सरकार को तुरन्त इस प्रकार की शिक्षा पर रोक लगानी चाहिए तथा देश प्रेम की भावना से जुड़े देशभक्ति गीत तथा नाट्य कार्यक्रम हर स्कूल में अनिवार्य कर देने चाहिए।
3. **ईर्ष्या की भावना की समाप्ति पर बल** : साम्प्रदायिकता लोगों के अन्दर ईर्ष्या की वजह से पनपती है। सरकार को किसी भी धर्म या व्यक्ति विशेष को लेकर नहीं अपितु समस्त देश को लेकर कार्य करना चाहिए, ताकि लोगों की ईर्ष्या भावना को समाप्त किया जा सके।
4. **चुनावी राजनीति का समापन** : सरकार को कठोर अध्यादेश पारित करने चाहिए कि कोई भी राजनीतिक दल धर्म, जाति को लेकर राजनीति न करे यदि इस प्रकार की गंदी राजनीति करती हुई कोई भी पार्टी पाई जाती है तो चुनाव आयोग एवं न्यायालय को तुरन्त उस पर कार्यवाही करनी चाहिए।

## अपनी प्रगति जांचिए

3. समस्या पर समग्रता में दृष्टिपात करते हुए विचलन के कितने प्रमुख प्रकार बनाए जा सकते हैं?

(क) दो (ख) तीन

(ग) चार (घ) पांच

4. पवर्स एवं विटमर ने बाल–अपराधियों के कितने प्रकारों की चर्चा की है?

(क) दो (ख) तीन

(ग) चार (घ) पांच

टिप्पणी

## 4.4 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (ख)
2. (ग)
3. (क)
4. (घ)

## 4.5 सारांश

समाजशास्त्र मनुष्य का उसके सामाजिक संबंधों के संदर्भ में अध्ययन करता है– वे संबंध जो विभिन्न प्रकार के संपर्क को प्रभावित करते हैं और स्वयं भी उससे प्रभावित होते हैं। साथ ही यह उन संपर्कों से उत्पन्न विभिन्न प्रक्रियाओं का भी अध्ययन है।

सामाजिक समस्या में सामूहिकता का तत्व विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। दूसरी बात यह है कि कोई बाधा संपूर्ण समूह के जीवन को प्रतिकूल रूप से प्रभावित करने के बाद भी यदि सामाजिक सरंचना से संबंधित नहीं होती तो उसे हम सामाजिक समस्या नहीं कहेंगे। उदाहरण के लिए बाढ़, भूकंप, महामारी अथवा सूखा जैसी दशाएं सामाजिक ढांचे से संबंधित नहीं हैं। यही कारण है कि इन्हें 'सामाजिक समस्याएं' नहीं कहा जा सकता; ये केवल प्राकृतिक समस्याओं के उदाहरण हैं। इसके विपरीत अपराध, भिक्षावृति, भ्रष्टाचार, मद्यपान, वेश्यावृति अथवा छुआछूत का संबंध एक विशेष सामाजिक सरंचना से होने के कारण इन्हें हम सामाजिक समस्या के अंतर्गत रखेंगे।

भारतीय समाज का संगठन चूंकि जाति के आधार पर हुआ है, इसलिए यह स्वाभाविक है कि राजनेता 'जाति' को अपने फायदे के लिए इस्तेमाल करे। दूसरी ओर जाति 'राजनीति' का सहारा लेती है। अतः जैसा कि रजनी कोठारी ने कहा है ''जिसे हम राजनीति में जातिवाद के नाम से पुकारते हैं वह वास्तव में जाति का राजनीतिकरण है।'' राजनेता जातीय समूहों को इसलिए मुंह लगाते हैं ताकि उनके समर्थन से उन्हें सत्ता तक पहुंचने में मदद मिल सके।

क्षेत्रीयतावाद वास्ताविक अर्थों में विकेंद्रीकरण की भावनाओं का प्रकटीकरण है परंतु निहित स्वार्थों से साथ जुड़कर यह अलगाववाद एवं विघटनकारी शक्तियों का पर्याय बन जाता है। क्षेत्रीयतावाद से तात्पर्य देश के उस छोटे से क्षेत्र से है जो आर्थिक, भौगोलिक, सामाजिक आदि कारणों से अपने पृथक अस्तित्व के लिए जागरूक है तथा अपने क्षेत्र विशेष के लिए आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक शक्ति में वृद्धि चाहते हैं। इस दृष्टि के तहत उस क्षेत्र के लोग अपने क्षेत्र के प्रति विशेष भक्ति भाव रखते हैं। इस दृष्टि से क्षेत्रीयता राष्ट्रीयता की वृहद भावना का विलोम है और उसका ध्येय संकुचित क्षेत्रीय स्वार्थों की पूर्ति करना है।

मनुष्य के उन्हीं व्यवहारों को सामाजिक स्वीकृति प्राप्त होती है, जो सामाजिक आदर्शों के अनुकूल या अनुरूप होते हैं। यही अनुरूप व्यवहार सामाजिक संरचना, संगठन तथा व्यवस्था के संदर्भ में उपयुक्त भी सिद्ध होते हैं। सामाजिक प्रतिमान के अनुरूप व्यवहार करना ही अनुरूपता है। विचलन इसी अनुरूपता का विलोम स्वरूप माना जाता है। विचलनकारी व्यवहार, सामाजिक मूल्यों तथा आदर्शों के विपरीत और विरोधी व्यवहार है। प्रत्येक मानव समाज में निर्विवाद रूप से न्यूनाधिक कतिपय ऐसे भी व्यक्ति होते ही हैं, जो अपने समाज के आदर्शात्मक प्रतिमान के विपरीत व्यवहार

टिप्पणी

करते रहते हैं। विचलित व्यवहार का अर्थ किसी व्यक्ति द्वारा सामाजिक प्रतिमान का वह उल्लंघन है, जिसे जान–बूझकर या सोच समझकर संपादित किया जाता है। किसी व्यक्ति द्वारा त्रुटिवश अथवा अनजाने में किया गया उल्लंघन, विचलन नहीं अपितु एक सामान्य भूल कहा जाता है। सामाजिक विषयों, मूल्यों तथा आदर्शों को जानने के बावजूद भी उसका उल्लंघन करना ही विचलनकारी व्यवहार है।

जब दो या दो से अधिक राज्यों के मध्य सैनिक बल के प्रयोग द्वारा की गई प्रतिस्पर्धा जिसमें प्रत्येक लड़ने वाले राज्य का चरम उद्देश्य दूसरे को जीतना तथा अपनी ही शांति की शर्तों को आरोपित करना, युद्ध के अंतर्गत आता है अतः यह कहा जा सकता है कि जब झगड़ों को वार्ता आदि ढंग से राज्य निबटाने में असफल हो जाते हैं तो ऐसी स्थिति में वे युद्ध का सहारा लेते है। यह अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को खत्म करने का अंतिम साधन है। राज्य युद्ध का सहारा लेकर एक दूसरे के ऊपर अपनी मर्जी को डालने की इच्छा रखते हैं।

समाज में अनेक नियम, आचार, मान्यताएं, परंपराएं एवं विचार स्थापित होते हैं। जब कोई व्यक्ति इनके विरुद्ध आचरण एवं व्यवहार का प्रदर्शन करते हैं तो यह घटना सामाजिक विचलन कहलाती है। सामान्य स्थितियों में समाज के अधिकतर व्यक्ति इन सभी मानकों एवं मापदंडों को अपने आचरण एवं व्यवहार में लाकर, समाज में एक समुचित संतुलन की स्थिति बनाकर रखने का प्रयास करते ही हैं तथा समाज से अपराध के रूप के विचलन कम करने का प्रयास किया जाता है।

अपराध एक सार्वभौमिक सामाजिक प्रघटना है जो समाज एवं काल विशेष की परिस्थितियों से संयुक्त होती है। आदिकाल से ही समाज में अपराध किसी न किसी रूप में विद्यमान रहा है। अंग्रेजी का शब्द 'क्राइम' लैटिन भाषा के 'क्रिमैन' शब्द से बना है जिसका अर्थ होता है 'विलग होना'। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि जो व्यवहार समूह के कानूनों, व्यवहार के नियमों, नैतिकता तथा सामान्य हितों से विलग अथवा पृथक होते हैं, उन्हीं को अपराध कहा जाता है।

बाल–अपराध वर्तमान विश्व की एक गम्भीर समस्या हो गई है। यह किसी राष्ट्र या समाज की समस्या नहीं है अपितु यह राष्ट्रव्यापी समस्या है। बाल–अपराध समकालीन समाज की समस्या है ऐसी कोई बात नहीं है। पूर्वकाल के समाजों में भी बाल–अपराध की घटनाएं होती रहती थीं लेकिन वर्तमान परिवेश में औद्योगिकीकरण की तीव्रगति, नगरीकरण के फलस्वरूप विस्फोटक रूप धारण कर रही है। औद्योगिकीकरण तथा नगरीकरण की प्रक्रिया ने भारतीय सामाजिक परिवेश को बदल डाला है। फलस्वरूप भारत में कुसमायोजित बालकों की संख्या में निरंतर वृद्धि हो रही है। इस समस्या का विध्वंसक पक्ष यह है कि बाल–अपराध किशोर तथा वयस्क अपराध की शुरुआत होती है। यह अपराध का वह प्रथम चरण है जहां पर बालक अपराध करना सीखता है तथा आपराधिक कृत्य करने में प्रवीणता प्राप्त करता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि बाल–अपराध की समस्या अपेक्षाकृत नवीन समस्या है। बाल्यावस्था व किशोरावस्था में व्यक्ति प्रायः स्वभावतः चंचल, नटखट तथा दुस्साहसी होता है। अतः वह जीवन संबंधी प्रलोभनों की ओर शीघ्रता से आकर्षित हो जाता है। यही कारण है कि उसमें अपराध करने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। किन्तु आज का बालक व किशोर कब वयस्क अपराधी बन सकता है इसी डर वश प्रेरित होकर विश्व के लगभग सभी देशों में बाल व किशोर अपराधियों को वयस्क अपराधियों से भिन्न समझा जाता है। विचलन के अध्ययन में बाल–अपराध को भी समझना अनिवार्य हो जाता है।

टिप्पणी

सम्पूर्ण विश्व की तरह भारत में भी मादक–द्रव्य व्यसन की समस्या प्राचीन समय से मौजूद रही है। परन्तु वर्तमान समय में इसका स्वरूप बदलता जा रहा है। पहले मादक–पदार्थों का सेवन समृद्ध वर्गों तक ही सीमित था लेकिन वर्तमान में इस समस्या का रूप मध्यम वर्ग एवं निम्न वर्ग में बहुत भयानक है। किसी भी तरह के आयोजन, त्यौहार, सुख एवं दुःख के अवसर पर इसको एक फैशन के रूप में देखा जाने लगा है। औद्योगिक क्षेत्रों में निवास करनेवाले श्रमिक वर्ग के लोग जो बहुत ही निम्न आय वाले होते हैं, भी किसी न किसी रूप में विभिन्न नशीले पदार्थ, शराब, स्मैक हेरोइन, गांजा, चरस, भांग तथा इस तरह के अन्य मादक–पदार्थों के सेवन के लिए आदतन बाध्य होते जा रहे हैं। मादक द्रव्य व्यसन के प्रयोग से व्यक्ति का जीवन इस तरह असामान्य बनने लगता है कि उसे अच्छा या बुरा का कोई बोध नहीं रह जाता है। विचलन के कारण ही मनुष्य मादक–द्रव्यों का अनुचित उपयोग करने लगते हैं।

जातिवाद एक ऐसी प्रणाली है, जो प्राचीन काल से हमारी सामाजिक व्यवस्था में अपनी जड़ें फैलाती जा रही है। यह उच्च जातियों के लोगों के हितों को आगे बढ़ा रही है तथा निम्न जाति के व्यक्तियों का निरन्तर शोषण हो रहा है।

किसी भी राजनीतिक व्यवस्था के लिए राष्ट्र निर्माण एक चुनौती होती है। राष्ट्र निर्माण एक व्यापक संप्रत्यय है। इसमें राज्य निर्माण भी सम्मिलित है। राज्य निर्माण का तात्पर्य एकीकरण और नियंत्रण की समस्या से है जबकि राष्ट्र निर्माण का विचार समुदाओं की अस्मिता एवं भावनाओं से जुड़ा है। इस प्रकार राज्य निर्माण, एक संरचनात्मक तथा राष्ट्र निर्माण, एक सांस्कृतिक, एक संप्रत्यय है।

साम्प्रदायिकता एक निम्नकोटि की विभाजनात्मक प्रवृत्ति है। इसने हमारे देश का बड़ा अहित किया है। सांप्रदायिकता के कारण ही देश का विभाजन हुआ। बाद में हमने धर्मनिरपेक्ष राज्य का सिद्धांत अपनाया और यह दृष्टिकोण अपनाया कि भारत में सभी धर्मों को समान रूप से फलने फूलने का अधिकार है। आज भी देश में अनके सम्प्रदाय निवास करते हैं– हिंदू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई आदि।

धर्म आदिकाल से मानव चेतना को प्रभावित करता रहा है। राज्य एवं समाज के संगठन में धर्म की महान भूमिका थी क्योंकि धर्म से एकीकरण का भाव पैदा हुआ था। परंतु कालांतर में जब विभिन्न धर्मों का उदय हो गया तो समाज विभिन्न धर्मों एवं समुदायों में विभाजित हो गया और तब एकीकरण के स्थान पर धर्म संघर्ष का पर्याय बन गया। इससे न केवल सामाजिक बल्कि राजनीतिक क्षेत्र भी प्रभावित हुआ।

ऑक्सफोर्ड शब्दकोश के अनुसार 'धर्मनिरपेक्ष' व्यक्ति वह है जो 'केवल दुनियावी या लौकिक मामलों से संबंध रखता है, धार्मिक मामलों से नहीं' साम्यवादी देशों में धर्मनिरपेक्षता का अर्थ 'अधार्मिक या धर्म–विरोधी प्रवृत्ति' से लिया जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान ने धर्म और राज्य को अलग–अलग रखने की नीति अपनाई है। भारत में धर्मनिरपेक्षता का तात्पर्य है कि राज्य न तो अधार्मिक है, और न ही धर्म विरोधी। राज्य का कोई विशेष धर्म नहीं है तथा राज्य सभी धर्मों का समान आदर करता है। एक शब्द में भारतीय संदर्भों में धर्मनिरपेक्षता से तात्पर्य सर्व–धर्म समभाव से है। भारतीय संविधान की प्रस्तावना में 42वें संविधान संशोधन के माध्यम से धर्मनिरपेक्ष शब्द को समाहित किया गया। परंतु संविधान के विभिन्न अनुच्छेदों में 'धर्मनिरपेक्षता की भावना' को सम्मिलित किया गया है।

सांप्रदायिकता का अर्थ है, सामाजिक–धार्मिक समूहों की वह प्रणाली जिसके द्वारा वे दूसरे समूहों के हितों को नुकसान पहुंचाकर अपने लिए और अधिक, सामाजिक एवं राजनीतिक ताकत को प्राप्त करने के प्रयत्न करते हैं। दूसरे शब्दों में सांप्रदायिकता को 'विशिष्ट धार्मिक समुदायों या संप्रदायों के स्वार्थी हितों द्वारा राजनीतिक कार्यों के रूप में परिभाषित किया गया है। भारतीय संदर्भ में 'सांप्रदायिकता' का प्रयोग नकारात्मक रूप में होता है। इसका प्रयोग ऐसे संगठनों के लिए किया जाता है, जो समाज को केवल धार्मिक दृष्टिकोण से देखते हो या ऐसी परंपरा का प्रतिनिधित्व करते हों जो समाज में परिवर्तन विरोधी है। सांप्रदायिकता आधुनिकीकरण तथा आधुनिक राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया के विरुद्ध एक संकीर्ण एवं नकारात्मक प्रतिक्रिया है। इसलिए सांप्रदायिकता राजनीतिक रूप से नकारात्मक नीति है, यह राष्ट्रवाद का विरोध करती है, यह बहुजातीय, बहुधार्मिक तथा बहुभाषायी समुदायों के सहअस्तित्व के लिए चुनौती है। इसकी सर्वाधिक सुस्पष्ट अभिव्यक्ति सांप्रदायिक हिंसा या दंगों के रूप में होती है।

टिप्पणी

## 4.6 मुख्य शब्दावली

- **विघटन** : टूटना।
- **विचलन** : पथांतरण।
- **अपराध** : जुर्म।
- **प्रतिस्पर्धा** : प्रतिद्वंद्विता।
- **संघर्ष** : टकराव।
- **वैयक्तिक** : व्यक्तिगत।
- **संविदा** : अनुबंध।

## 4.7 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

### लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. सामाजिक समस्याओं के उदाहरण दीजिए।
2. सामाजिक विघटन से क्या तात्पर्य है।
3. सामाजिक विचलन को सरल एवं संक्षिप्त रूप में समझाइए।
4. अपराध को कुछ उदाहरणों से समझाइए।

### दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. सामाजिक समस्या से संबद्ध सभी पक्षों का सविस्तार उल्लेख कीजिए।
2. भारत के संदर्भ में सामाजिक विघटन की व्याख्या कीजिए।
3. सामाजिक विचलन के अर्थ, परिभाषाओं एवं प्रकारों का वर्णन करते हुए इसकी विवेचना कीजिए।
4. अपराध से संबद्ध सभी पक्षों का विवेचनात्मक विश्लेषण कीजिए।

टिप्पणी

5. निम्न पर टिप्पणी लिखिए–
   (क) जातिवाद एवं अपराध
   (ख) सांप्रदायिकता
   (ग) धर्मनिरपेक्षता
   (घ) क्षेत्रीयकरण

## 4.8 सहायक पाठ्य सामग्री


1. Heath Anthony, Ermisch John and Duncan Gallie. 2005. *Understanding Social Change*. Oxford: Oxford University Press.
2. Ahuja, Ram. 2001. *Social Problems in India.* New Delhi: Rawat Publications.
3. Cuber, John. F and Robert A. Harper. 1948. *Problems of American Sociology: Values or Conflict*. New York: Holt.
4. Cooley, Charles Horton. 2019. *Social Process*. Mountain View, California: Creative Media Partners.
5. Berger, P., & Luckmann, T. (1966). The Social Construction of Social Reality. Harmondsworth: Penguin.
6. Blau, P. (ed.). (1975). Approaches to the Study of Social Structure. New York: Free Press.
7. Callinicos, A. (2007) Social theory: a historical introduction. (2nd ed.) Cambridge: Polity.
8. Crothers, Charles (1996) Social Structure. Routledge, London.
9. Dahrendorf, R. (1968). Essays in the Theory of Society. London: Routledge and Kegan Paul.
10. Granovetter, Mark (1995/1973) Getting a job: a study of contacts and careers. 2nd ed. Chicago : University of Chicago Press
11. Giddens, A. (1984). The Constitution of Society. Oxford: Polity Press.
12. Hindess, B. (1989). Political Choice and Social Structure: an analysis of actors, interests and rationality. Aldershott, Hants, UK: Edward Elgar.
13. Lin, N. (2001) Social capital: a theory of social structure and action Cambridge, UK; New York:
14. Martin, Peter J. and Alex Dennis (eds.) (2010) Human Agents and Social Structures
15. Merton, R. K. (1968). Social Theory and Social Structure. Glencoe, Illinois: Free Press.
16. Nadel, S. F. (1957). The Theory of Social Structure. Melbourne: Melbourne University Press.
17. Porpora, D. (1987). The Concept of Social Structure. Westport, CT: Greenwood Press.
18. Searle, John R. (2010) Making the social world: the structure of human civilization. Oxford; New York: Oxford University Press.

# इकाई 5 सामाजिक समस्याएं

टिप्पणी

## संरचना


5.0 परिचय

5.1 उद्देश्य

5.2 सामाजिक समस्याएं : बाल अपराध, नशाखोरी, वेश्यावृत्ति और युवा अशांति

- 5.2.1 बाल अपराध
- 5.2.2 नशाखोरी
- 5.2.3 वेश्यावृत्ति और युवा असंतोष एवं आक्रोश

5.3 समाज में हिंसा : परिचय, महिला हिंसा, बाल हिंसा एवं यौन उत्पीड़न के कारण

- 5.3.1 महिलाओं के विरुद्ध हिंसा की प्रकृति, स्वरूप एवं विशेषताएं
- 5.3.2 महिला हिंसा
- 5.3.3 बाल हिंसा
- 5.3.4 बाल यौन शोषण और यौन उत्पीड़न
- 5.3.5 यौन उत्पीड़न के कारण

5.4 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

5.5 सारांश

5.6 मुख्य शब्दावली

5.7 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

5.8 सहायक पाठ्य सामग्री


## 5.0 परिचय

यह संभव नहीं होता कि सब कुछ उसी प्रकार से चलता रहे जैसा कि सोचा गया था, अर्थात् समाज में व्यक्तियों ने सामाजिक व्यवस्था बनाई हुई होती है। इस सामाजिक व्यवस्था में अनेक व्यक्तियों या व्यक्तियों के समूहों की असहमति भी होनी स्वाभाविक प्रक्रिया होती है। कुछ लोग स्थापित मानकों, नियमों एवं आचार–विचार के प्रति नकारात्मक रवैया प्रदर्शित करते हैं। इन्हीं कारणों से विभिन्न सामाजिक समस्याएं उत्पन्न होती हैं। समाज के स्थापित नियमों से हटकर, व्यवहार करने के क्या मूल कारण होते हैं, का अध्ययन भी आज प्रासंगिक है। इनमें अपराध, बाल–अपराध, एवं अन्य समस्याएं भी सम्मिलित हैं, जिनसे समाज, व्यवस्था तथा संगठन को खतरा उत्पन्न होता है।

प्रस्तुत इकाई में बाल अपराध, नशाखोरी तथा महिलाओं के विरुद्ध होने वाले अपराधों जैसी विभिन्न सामाजिक समस्याओं का विस्तृत अध्ययन किया गया है।

## 5.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- सामाजिक समस्याओं के अर्थ से भली–भांति परिचित हो पाएंगे;
- सामाजिक समस्याओं के विभिन्न प्रकारों की विस्तृत विवेचना कर पाएंगे;

- बाल अपराधों के कारणों को स्पष्ट रूप से विश्लेषित कर पाएंगे;
- नशाखोरी के कारणों का मूल्यांकन कर पाएंगे।

टिप्पणी

## 5.2 सामाजिक समस्याएं : बाल अपराध, नशाखोरी, वेश्यावृत्ति और युवा अशांति

भारतीय समाज विविध संस्कृतियों, लोगों, विश्वासों और भाषाओं का जटिल मिश्रण है। यह जटिलता भारतीय समाज को एक जीवंत और सांस्कृतिक देश बनाती है। हमारे देश में आज भी बहुत सी समस्याएं ऐसी हैं जो भारत के विकास में बाधा बनी हुई हैं। इनमें से कुछ मख्य हैं– बाल अपराध, नशाखोरी, वेश्यावृत्ति आदि। जिनका विस्तृत विवरण क्रमशः यहां प्रस्तुत है।

### 5.2.1 बाल अपराध

आधुनिक युग में बाल अपराध की समस्या इतनी अधिक गम्भीर हो चुकी है कि इसके निवारण हेतु संयुक्त राष्ट्र संघ के द्वारा भी प्रयास किए जा रहे हैं। आए दिन समाचार, पत्र–पत्रिकाओं में बाल तथा किशोर अपराधियों द्वारा किए गए चोरी, डाके, लूटमार, बलात्कार तथा अनन्य अपराधों की खबरें प्रकाशित होती रहती हैं। किशोर अपराधियों द्वारा छुरीबाजी, पिस्तौलबाजी, धूम्रपान, मद्यपान जैसी बुराइयां आज सामान्य घटनाएं बन गई हैं। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से भी बाल अपराध या किशोर अपराध की समस्या कम महत्वपूर्ण नहीं है। यही बाल अपराधी कालान्तर में समाज के नागरिक बनते हैं। बाल अपराध वस्तुतः विघटित समाज का परिचायक है। फिर भी बाल अपराध के अर्थ और परिभाषा के संदर्भ में अपराधशास्त्रियों तथा समाजशास्त्रियों में परस्पर मतैक्य नहीं है।

बाल अपराध का अर्थ बच्चों के ऐसे आपराधिक कार्य से है जो लोक कल्याण की दृष्टि से हानिकारक है। बाल अपराध से तात्पर्य वस्तुतः एक स्थान विशेष के द्वारा निश्चित की गई आय से कम आयु वाले बच्चों अथवा किशोरों द्वारा किए गए वे कार्य हैं जो स्वयं उनके लिए तथा लोक कल्याण के लिए भी हानिप्रद हैं।

#### बाल अपराध की परिभाषा

#### (Definitions of Juvenile Delinquent)

बाल अपराध से सम्बन्धित उपर्युक्त विवेचना से बाल अपराध की धारणा काफी स्पष्ट होती है। इस सन्दर्भ में विभिन्न अर्थशास्त्रियों और अपराध शास्त्रियों में महत्वपूर्ण मतभेद दृष्टिगत है। इन सभी विद्वानों द्वारा प्रदत्त बाल अपराध सम्बन्धी परिभाषाओं में यह स्पष्ट होता है कि उन सभी कार्यों को बाल अपराध की श्रेणी में सम्मिलित किया जाता है जो सार्वजनिक कल्याण के हित के विरुद्ध सिद्ध होते हैं। निम्नलिखित परिभाषाओं से यह तथ्य यथोचित रूप से स्पष्ट हो सकता है।

1. डॉक्टर सेठना के अनुसार, "बाल अपराध से आशय किसी स्थान विशेष के नियमानुसार एक निश्चित आय से कम के बच्चों का किशोरों द्वारा किया जाने वाला अपराध है।"

टिप्पणी

2. न्यूमेयर के अनुसार, "बाल अपराधी एक निश्चित आयु से कम का यह व्यक्ति है जिसने समाज विरोधी कार्य किया है तथा उसका दुर्व्यवहार कानून को तोड़ने वाला है।"
3. मेन्गोल्ड के अनुसार, "बाल अपराधी वह व्यक्ति है जो अत्यावश्यक रूप से किसी भी अपराध का अपराधी नहीं होता है। अपितु उसमें समाज विरोधी दृष्टिकोण एवं व्यवहार के लक्षणों का विकास हो जाता है। जिनको यदि रोका न जाए तो वह निःसन्देह ऐसे कार्यों की ओर अग्रसर होंगे जिन्हें लोग सहन नहीं कर सकेंगे।

## आयु और बाल अपराध

## (Age and Juvenile Delinquent)

बाल अपराध की एक सर्वमान्य परिभाषा न बन पाने का सर्वप्रमुख कारण वस्तुतः आयु सम्बन्धी समस्या है। किस आयु वर्ग के द्वारा किए गए आपराधिक कृत्य को बाल अपराध की श्रेणी में सम्मिलित किया जाए यह प्रत्येक देश की प्रचलित विधि व्यवस्था पर ही निर्भर करता है। बाल अपराध की आयु सीमा सभी देशों में पृथक–पृथक है, मात्र इतना ही नहीं अपितु कई देशों में तो भिन्न–भिन्न राज्यों या प्रान्तों में बाल अपराधियों की आयु सीमा भी सर्वथा भिन्न–भिन्न निश्चित की गई है। संयुक्त राज्य अमेरिका के न्यूयॉर्क नगर में 7 से 16 वर्ष, ब्रिटेन में 8 वर्ष, कैलिफोर्निया में 21 वर्ष, कनाडा में 10 वर्ष, अल्वर्टा के लड़कों के लिए 10 वर्ष तथा लड़कियों के लिए 18 वर्ष तक की आयु निर्धारित की गई है। हमारे भारतवर्ष में किसी–किसी प्रान्त में यह आयु 18 वर्ष तथा कहीं–कहीं पर 15 वर्ष की है।

भारतीय दंड संहिता की धारा 82 के अनुसार 7 वर्ष से कम आयु वाले बच्चों द्वारा किया गया कार्य अपराध कार्य नहीं होता है तथा 7 वर्ष से 12 वर्ष की कम आयु वाले बच्चों द्वारा किया गया कोई भी कार्य उस समय अपराधिकार नहीं माना जाता है जब तक कि बालक अपने कार्य के परिणाम को समझने के लिए अपरिपक्व हो। बाल अधिनियम 1951 के अनुसार 16 वर्ष तक की आयु वाले बालक को किशोर माना जाता है तथा केन्द्रीय बाल अधिनियम 1960 के अंतर्गत बाल अपराधियों की अधिकतम आयु सीमा 16 वर्ष एवं लड़कियों के लिए 18 वर्ष निश्चित की गई है।

## बाल अपराधी की प्रमुख विशेषताएं

## (Characteristies of the Juvenile Delinquent)

बाल अपराधी से सम्बन्धित विभिन्न परिभाषाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि बाल अपराधियों की निम्नलिखित विशेषताएं होती हैं–

1. बालक, जिसने राज्य के किसी कानून का उल्लंघन किया है।
2. बालक जो आवारा हो तथा अपने अभिभावकों या माता–पिता की आज्ञा न मानता हो।
3. बालक जो घर अथवा स्कूल से भागने का आदी हो चुका हो।
4. बालक जो आदतन अन्य लोगों को हानि पहुंचाता हो।

टिप्पणी

इसी प्रकार संयुक्त राज्य अमेरिका के न्यूयॉर्क नगर के बाल अपराध न्यायालय अधिनियम में भी बाल अपराधी की निम्नलिखित विशेषताओं का वर्णन किया गया है–

1. बालक जो किसी स्थापित कानून का उल्लंघन करता है।
2. बालक जो सुधार में सर्वदा परे, उद्दण्ड अथवा आदतन अवज्ञाकारी हो अथवा अभिभावक या माता–पिता की आज्ञा न मानता हो।
3. बालक जो माता–पिता या अभिभावक की सहमति या आज्ञा के विरुद्ध घर से बाहर भागता हो।
4. बालक जो गैर कानूनी व्यवसाय या कार्य में संलग्न रहता हो।
5. बालक जो सार्वजनिक स्थलों में भिक्षावृत्ति करता हो।

## बाल अपराध के कारण

## (Causes of Juvenile Delinquency)

बाल अपराध की समस्या का निदान करने से पूर्व हमें बाल अपराध सम्बन्धी विभिन्न कारणों को समझ लेना चाहिए। क्योंकि प्रत्येक समस्या के कारणों में ही उसका निदान छिपा होता है। ग्लूऐक ने लिखा है....."अपराध शास्त्र में कारण की समस्या सर्वाधिक कठिन समस्या है। इसलिये कारण की अत्यधिक सावधानीपूर्वक खोज करनी चाहिए। सिद्धान्त के अभाव की दशा में समाजशास्त्र और वैयक्तिक विषम कार्य बिना निष्कर्ष के एक दुष्कर चिकित्सा है।" बाल अपराध के लिए उत्तरदायी कारणों की विवेचना करने से पता चलता है कि बाल अपराध के लिए एक नहीं अपितु अनेक कारण उत्तरदायी होते हैं। जिनमें से प्रमुख निम्नवत् हैं :

1. **शारीरिक तथा जैविकीय कारक** : मस्तिष्क में कोई चोट या रोग, स्नायुमण्डल का विकार, शारीरिक रोग अथवा कोई शारीरिक विकार ये सभी समान रूप से बालकों को अपराधोन्मुखी बनाते हैं। फलस्वरूप बालकों में हीनता, असुरक्षा, चिन्ता तथा अन्यान्य विध्वंसकारी प्रवृत्तियों का प्रादुर्भाव होता है और कालान्तर में इन्हीं के कारण बालक का व्यवहार विचलनकारी हो जाता है। एम.जे. सेठना ने लिखा है कि नेत्र रोग, नाक और गले की व्याधियों, कान की तकलीफें, दन्त पीड़ा, बोलने के दोष, शारीरिक उत्तेजनाओं, सिर दर्द, शारीरिक पीड़ा, मासिक धर्म का असन्तुलन, किशोरावस्था के रोग तथा अन्यान्य शारीरिक रोग तथा कम खाने–पीने के विषय में अवश्य चिन्तन करना चाहिए, क्योंकि बाल अपराध के यही प्रमुख कारक होते हैं।
2. **पारिवारिक कारक** : परिवार को ही बालक की प्रथम पाठशाला माना जाता है। यही संस्था बालक का भविष्य बिगाड़ती या संवारती है। परिवार ही बालक को स्वस्थ या अस्वस्थ नागरिक बनाता है। समाजशास्त्रियों का यह दृढ़ मत है कि प्रत्येक बालक में सामाजिक गुणों का विकास परिवार में ही होता है। माता–पिता, अभिभावक का अनुभव करता है। उसके व्यक्तित्व का सम्पूर्ण विकास होता है। विभिन्न प्रकार के अध्ययनों से यह प्रमाणित हो चुका है कि वही विकास होता है। विभिन्न प्रकार के अध्ययनों से यह प्रमाणित हो चुका है कि वही बालक बाल

अपराधी होते हैं, जिन्हें अपने परिवार से भरपूर स्नेह प्राप्त नहीं होता अथवा जिनको अपने माता–पिता या अभिभावकों द्वारा तिरस्कार प्राप्त होता है।

टिप्पणी

3. **मनोवैज्ञानिक कारक** : मनोवैज्ञानिकों के मतानुसार मानसिक विकार और मानसिक दोष भी बाल अपराध का एक प्रमुख कारण है। किसी बालक में निम्न मानसिक योग्यता का होना, उसके व्यक्तित्व का दोष युक्त होना, उसे बाल अपराध की दिशा से उन्मुख करता है। मनोवैज्ञानिकों की यह मान्यता है कि उद्दण्ड अथवा आपराधिक मनोवृत्ति वाले बालक वस्तुतः मानसिक भूख से पीड़ित होते हैं।

4. **सामाजिक कारक** : सामाजिक वातावरण भी बच्चों की आपराधिक प्रवृत्ति को प्रभावित करता है। सामाजिक कारकों में पास–पड़ोस, पाठशाला, मद्यपान, जुआ तथा अन्य मनोरंजनात्मक साधन आते हैं। यदि किसी बालक का पड़ोसी मद्यपान करता है तथा जुआखोर या अनैतिक कार्यों में संलग्न है, तो उसका प्रभाव बालक पर पड़ता है। लोग इस तथ्य से अनभिज्ञ रहते हैं कि उनका बच्चा किस प्रकार के संगी–साथियों के साथ उठता, बैठता, खेलता–कूदता अथवा घूमता फिरता है। गलत संगी–साथियों के साथ साथियों के बीच बाल अपराध सम्बन्धी व्यवहार का जन्म और विकास होता है। बुरी संगत और बुरे दोस्त बालकों को ही नहीं, अपितु नवयुवकों और प्रौढ़ों तक को अपराधोन्मुखी बना डालते हैं।

5. **वैयक्तिक कारक** : व्यक्तिगत कारणों से भी बाल अपराधी प्रवृत्तियों का विकास होता है। इसमें चरित्र सम्बन्धी आदतें सर्वप्रमुख हैं। प्रत्येक बालक के जीवन में उसके चरित्र का विशेष महत्वपूर्ण स्थान होता है। चरित्र के अन्तर्गत ही नैतिकता, सच्चाई, सद्व्यवहार, विश्वास तथा ईमानदारी आदि का समावेश होता है। बाल अपराधियों में इनका अभाव होता है। बाल अपराधी का बोलने–चालने, चलने–फिरने आदि का तौर–तरीका अत्यधिक कटु और अभद्र होता है।

6. **जनसंख्यात्मक कारक** : विभिन्न प्रकार की जनसंख्या सम्बन्धी कारणों से भी बाल अपराध प्रोत्साहित होता है। जनसंख्या का स्थानान्तरण जनसंख्या की गतिशीलता और परिवर्तनशीलता के परिणामस्वरूप भी बाल अपराध बनते हैं। हिन्दुस्तान–पाकिस्तान के विभाजनोपरान्त लाखों शरणार्थी परिवारों द्वारा एक देश से दूसरे देश में आने–जाने के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुआ। बाल अपराध इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

7. **वंशानुसंक्रमणीय कारक** : अनेक मानव शास्त्रियों का यह दृढ़ मत है कि बाल अपराध के उद्भव और विकसित होने का एक कारण बच्चों की आनुवंशिकता ही है। अपराधी प्रवृत्ति अर्जित नहीं की जाती है। अपितु यह बालक को अपने जन्म से ही माता–पिता द्वारा प्राप्त होती है। अपराधी बालक से अध्ययनों द्वारा इस मत की पुष्टि प्राप्त होती है। उनको अपराधी व्यवहार के प्रमुख गुण माता अथवा पिता या संयुक्त रूप से दोनों के द्वारा ही प्राप्त हुए। अर्थात् शारीरिक तथा पैतृक विकृतियों का परिणाम होता है।

8. **सामाजिक–सांस्कृतिक परिस्थितियों को महत्व नहीं** : बालकों द्वारा अपराध कार्य करने में जैविक सिद्धान्त के समर्थकों द्वारा सामाजिक व सांस्कृतिक

परिस्थितियों को महत्व नहीं दिया जाता और न ही वे इस अपराध कार्य में किसी प्रेरक शक्ति अथवा साख को कोई महत्व देते हैं।

## बाल अपराध के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त

टिप्पणी

बाल अपराध के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त की व्याख्या निम्नलिखित रूप में की जा सकती है–

1. **मनोविकारों का परिणाम** : मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त का आधार यह मान्यता है कि बाल अपराध बालक के मनोविकारों का परिणाम है तथा बाल अपराधी का एक रोगी, असन्तुलित एवं क्षतिग्रस्त व्यक्तित्व होता है।
2. **समर्थक विद्वानों के अध्ययन परिणाम** : मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के समर्थक विद्वानों ने बाल अपराधियों के सम्बन्ध में अपने–अपने अध्ययन किए और जो परिणाम निकाले वे इस प्रकार हैं–

(i) बर्ट नामक विद्वान–समाजशास्त्री ने अपने अध्ययन का यह परिणाम निकाला कि 85% बाल अपराधी भावात्मक आघात का शिकार है।

(ii) हीले एवं ब्रोनर नामक विद्वान समाजशास्त्रियों ने अपने अध्ययन के परिणामों का उल्लेख करते हुए बताया कि 105 बाल अपराधियों की उनके भाई–बहनों से तुलना करने पर ज्ञात हुआ।

(iii) रोबिन्स ने अपने अध्ययनों का परिणाम यह निकाला कि "बाल अपराधी समाज–विकृति युक्त व्यक्तित्व वाले बालक होते हैं। समाज–विकृति बालक में मानसिक असन्तुलन उत्पन्न करके नियमों के उल्लंघन को जीवन का एक अंग बना देती है।

## बाल अपराध के सिद्धान्त

**(Theories of Juvenile Delinquency)**

डॉन सी गिब्बन्स ने बाल अपराध के प्रमुख सिद्धान्त तीन बताए हैं, जो इस प्रकार हैं–

1. **जैविक सिद्धान्त** : डॉन सी. गिब्बन्स के अनुसार, "बाल अपराध का यह सिद्धान्त इस बात पर आधारित है कि, "व्यक्ति की जैविक संरचना में स्पष्ट देखे जा सकने वाले कुछ ऐसे लक्षण होते हैं, जो उसे अपराध के लिए प्रेरित करते हैं। ये लक्षण पीढ़ी–दर–पीढ़ी पैतृकता द्वारा हस्तांतरित होते रहते हैं। अतः जैविक सिद्धान्त बाल अपराध को जन्मजात मानते हैं। इस सिद्धान्त की रूपरेखा इस प्रकार व्यक्त की जा सकती है।

(क) **जन्मजात अपराध प्रवृत्ति** : बालकों में, जैविक सिद्धान्त के अनुसार जन्म से ही अपराध की प्रवृत्ति पाई जाती है। जो उन्हें अपने अपराधी माता–पिता से हस्तान्तरित होती है।

(ख) **पैतृक प्रवृत्ति** : बालकों में अपराध करने की प्रवृत्ति अपराधी माता–पिता से पैतृक (विरासत) के रूप में प्राप्त होती है।

2. **व्यक्तिवादी सिद्धान्त** : इस सिद्धान्त के द्वारा चूंकि अपराधी के शारीरिक लक्षणों एवं व्यक्तित्व को अत्यधिक महत्व दिया जाता है, इसलिए इस सिद्धान्त को एक व्यक्तिवादी सिद्धान्त कह दिया जाता है।

डॉन सी. गिब्बन्स के अनुसार, "जैविक सिद्धान्तों में इस सिद्धान्त द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है कि बालक का अपराधी आचरण उसकी दोषपूर्ण जैविक व्यवस्था के कारण उत्पन्न होता है।"

टिप्पणी

3. **मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त** : बाल अपराध के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों को कुछ प्रमुख श्रेणियों में विभक्त किया जाता है। जो इस प्रकार है–

**(i) मनोविश्लेषण–मूल प्रवृत्यात्मक सिद्धान्त** : बाल अपराध के इस मूल प्रवृत्यात्मक सिद्धान्त का प्रवर्तक फ्रायड को माना गया है। फ्रायड के अनुसार, "जब इड, इगो तथा सुपर–इगो में सामंजस्य नहीं रहता तब किशोर अपराध की ओर प्रवृत्त होते हैं।"

**(ii) मनोगत्यात्मक समस्या–निवारक सिद्धान्त** : इस मनोगत्यात्मक समस्या निवारक सिद्धांत के अनुसार बाल अपराध बालक के व्यक्तित्व में आन्तरीकृत किसी समस्या का हल है।

**(iii) बाल अपराध के समाजशास्त्रीय सिद्धान्त** : बाल अपराध के समाजशास्त्रीय सिद्धान्त में विद्वानों ने सामाजिक–सांस्कृतिक पर्यावरण, सामाजिक संरचना तथा सामाजिक व्यवस्था व संगठन के प्रभाव को सम्मिलित किया है। इसको निम्नलिखित प्रकार से प्रस्तुत किया जाता है।

**(क) सांस्कृतिक संघर्ष का सिद्धान्त** : प्रमुख समाजशास्त्रीय विचारक तथा उसके सहयोगियों ने बाल अपराध की व्याख्या सांस्कृतिक संघर्ष सिद्धान्त के आधार पर की है।

**(ख) सामाजिक विघटन का सिद्धान्त** : बाल एवं बाल अपराध के लिए शॉ एवं मैक्के ने सामाजिक विघटन के लिए उत्तरदायी कारणों को महत्व दिया है, क्योंकि सामाजिक विघटन की स्थिति में माता–पिता का बच्चों पर नियन्त्रण समाप्त प्रायः हो जाता है।

**(ग) आदर्शविहीनता का सिद्धान्त** : बाल अपराध का महत्वपूर्ण कारण ई. दुर्खीम तथा आर.के. मर्टन ने सामाजिक आदर्शविहीनता को माना है।

## भारत में बाल अपराध–विस्तार

**(Magnitude of Juvenile Delinquency in India)**

बाल अपराध सामाजिक ढांचे और संस्कृति से सम्बन्धित होते हुए भी इसका सीधा सम्बन्ध देश की शासन व्यवस्था से भी होता है। जहां पर्याप्त मात्रा में पुलिस का अभाव होता है वहां पर अपराधों की संख्या में वृद्धि का होना स्वाभाविक है।

### (II) भारत में बाल अपराधियों के विभिन्न वर्ग

**(Various Categories of Juvenile Deliquents in India)**

भारत में इन बाल अपराधियों को चार वर्गों में रखा गया है, जो इस प्रकार हैं–

1. प्रथम वर्ग में 14 वर्ष से कम आयु के बाल अपराधी रखे गए हैं।
2. द्वितीय वर्ग में 15 वर्ष से 16 वर्ष की आयु के बाल अपराधी आते हैं।
3. तृतीय वर्ग में 16 वर्ष से 18 वर्ष तक की आयु के बाल अपराधी आते हैं।

4. चतुर्थ वर्ग में 18 वर्ष से 21 वर्ष तक की आयु वाले बाल अपराधियों को रखा जाता है।

टिप्पणी

## भारत में उपलब्ध बाल अपराध सम्बन्धी आंकड़े

## (Datas Obtained in India Regarding Juvenile Delinquency)

भारत में बाल अपराध सम्बन्धी प्राप्त आंकड़ों पर दृष्टिपात करने के उपरान्त बाल अपराध के सम्बन्ध में गम्भीर स्थिति का ज्ञान होने के साथ–साथ भारत में इसके विस्तार का भी ज्ञान होता है। इस सम्बन्ध में प्राप्त आंकड़ों को निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है–

1. **बाल अपराध सम्बन्धी आंकड़ों का प्रतिशत** : सन् 2000 के आंकड़ों के अनुसार भारतीय दंड संहिता के अन्तर्गत कुल 9,267 मामले पंजीकृत किए गए तथा स्थानीय एवं विशेष कानून के अंतर्गत 5,154 मामले पंजीकृत किए गए। बाल अपराध की दर में विभिन्न वर्षों में उतार–चढ़ाव देखने को मिलता है। 1997 में बालकों में अपराध की दर 0.8 प्रतिशत थी, वही बढ़ कर सन् 1998 में 1.0 प्रतिशत थी इसके पश्चात सन् 1999–2000 में 0.9 प्रतिशत रही।
2. **भारत में भारतीय दंड संहिता के अन्तर्गत दर्ज विभिन्न बाल अपराधों का प्रतिशत** : बालकों द्वारा किए गए अपराधों में से भारतीय दंड संहिता के अन्तर्गत सबसे अधिक सम्पत्ति सम्बन्धी थे। सन् 2000 में दंड संहिता के अंतर्गत कुल संज्ञेय अपराधों में से चोरी (2,385), लूटमार (1,497) तथा सेंधमारी (1,241) के मामले पाए गए, इसके अलावा लैंगिक उत्पीड़न के (51.9), डकैती के (32%), हत्या के (28.6%) बलात्कार के (24.5%) मामले पाए गए।

### भारत में आंकड़ों के आधार पर बाल अपराध सम्बन्धी विभिन्न तथ्य :

1. प्राप्त आंकड़ों के आधार पर कहा जा सकता है कि 1986 से पूर्व बाल अपराध में होने वाली निरन्तर वृद्धि बाद के वर्षों में लगभग 5% कम हो गई है।
2. सर्वाधिक बाल अपराधियों की संख्या मद्यनिषेध (नशाबन्दी) कानून के अन्तर्गत होती है।
3. सर्वाधिक बाल अपराध मध्य प्रदेश तथा सबसे कम बाल अपराध उत्तर प्रदेश में हुए।
4. 1986 से पूर्व बाल अपराध में लड़कियों की संख्या कम होती थी जो 1987 के बाद के वर्षों में निरन्तर बढ़ी है।
5. अधिकांश बाल अपराधी अशिक्षित अथवा कम शिक्षित होते हैं।

## भारतवर्ष में बाल अपराधियों का उपचार और सुधार

## (Reformation and Treatment of Child Delinquents in India)

1. **किशोर सुधार गृह** : किशोर सुधार गृह वस्तुतः एक प्रकार के औद्योगिक विद्यालय होते हैं, जहां पर बाल अपराधियों का सुधार किया जाता है। इसमें बालकों को सामान्य, औद्योगिक तथा व्यावसायिक शिक्षा प्रदान करते हैं।

टिप्पणी

2. **हिसार सुधार गृह** : इस सुधार गृह में दिल्ली, पूर्वी पंजाब तथा हिमाचल प्रदेश राज्यों के 15 वर्ष से कम आयु वाले बाल अपराधियों को रखा जाता है तथा बालकों को नित्यप्रति जब खर्च भी दिया जाता है। इसमें बालकों को प्रायः तीन से पांच वर्ष तक की अवधि के लिए रखा जाता है।
3. **सर्टिफाइड स्कूल** : जहां एक ओर गम्भीर और गुरुत्तर बाल अपराधियों को विभिन्न प्रकार के सुधारगृहों में रखा जाता है, वहीं पर दूसरी ओर कम महत्व वाले सामान्य स्तरीय बाल अपराधी इन्हीं सर्टिफाइट स्कूलों में रखकर सुधारे जाते हैं। इस प्रकार के स्कूल लगभग उन सभी राज्यों में स्थित है, जहां पर सरकार द्वारा बाल सुधार अधिनियम पारित हो चुका है।
4. **राज्य अधिनियम** : भारतवर्ष में सन् 1921 ई. के पश्चात् बाल अपराध के सुधार व उपचार हेतु विभिन्न राज्य सरकारों द्वारा अनेकानेक अधिनियमों को भी पारित किया गया है।
5. **अवलोकन गृह** : जब कभी किसी बाल अपराधी को पुलिस द्वारा पकड़ा जाता है। तो सर्वप्रथम उसके विषम में सामाजिक जांच–पड़ताल आदि करके 24 घण्टों की अवधि के भीतर ही उसको किशोर–न्यायालयों के सम्मुख प्रस्तुत कर दिया जाता है।
5. **किशोर न्यायालय** : बाल अपराधों के लिए सरकार द्वारा किशोर न्यायालयों की स्थापना की गई है। जो सामान्य न्यायालयों से सर्वथा भिन्न है। इन किशोर न्यायालयों का वातावरण स्नेह व सहानुभूति से परिपूर्ण होता है।

अतः बाल अपराध से सम्बन्धित उपयुक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि यद्यपि भारत में बाल अपराधियों की रोकथाम, सुधार और उपचार हेतु अनेक सरकारी और गैर सरकारी प्रयास किए गए हैं। फिर भी बाल अपराध का समुचित विरोध और सुधार नहीं हो पा रहा है। इसका प्रमुख कारण यह है कि विभिन्न कार्यक्रमों के बीच न तो किसी प्रकार का समन्वय है और न ही किसी प्रकार का तालमेल है।

### 5.2.2 नशाखोरी

ड्रग एडिक्शन, यानी नशे की लत एक पुरानी या लंबे समय से बनी हुई आदत होती है। आमतौर पर ये मस्तिष्क की बीमारी को दूर करने वाली दवा हो सकती है, जिसका इस्तेमाल करते रहना लोगों की आदत बन सकती है। नशे की लत मस्तिष्क की संरचना और कार्य करने की क्षमता में परिवर्तन ला सकती है। हालांकि, इस खतरे को समझते हुए भी अधिकांश लोग नशे की लत का शिकार हैं। ड्रग एडिक्शन का निर्णय स्वैच्छिक होता है। नशीली दवाओं के दुरुपयोग के कारण मस्तिष्क में होने वाले बदलाव किसी व्यक्ति के आत्म–नियंत्रण की क्षमता भी बिगाड़ सकता है। नशे की लत को रोकना एक चुनौती भरा फैसला होता है। हालांकि, ऐसे उपचार हैं जो लोगों को ड्रग एडिक्शन से छुटकारा दिला सकते हैं। इसके लिए जीवनशैली और चिकित्सक उपचार दोनों ही बेहद जरूरी होते हैं।

अन्य पुरानी बीमारियों, जैसे कि डायबिटीज (मधुमेह), अस्थमा या हृदय रोग के साथ भी, नशीली दवाओं की लत को प्रभावी ढंग से प्रबंधित किया जा सकता है।

टिप्पणी

## कितना सामान्य है ड्रग एडिक्शन

ड्रग एडिक्शन की समस्या बहुत ही सामान्य है। साल 2009–10 के ग्लोबल एडल्स टोबेको सर्वे (विश्व वयस्क तम्बाकू सर्वेक्षण) के मुताबिक तकरीबन 7.13 करोड़ भारतीय तरह–तरह के नशों की गंभीर लत से जूझ रहे हैं। जिनमें सबसे ज्यादा 5.17 करोड़ लोग शराब, 72 लाख लोग भांग, 60 लाख लोग अफीम व चरस और 11 लाख लोग नशीली गोलियों या इंजेक्शन से होने वाले नशे की लत के आदी हैं। इस सर्वे में 70,293 लोग ऐसे भी शामिल हैं, जो नशे के लिए खतरनाक किस्म के ड्रग्स का भी इस्तेमाल करते हैं।

**ड्रग एडिक्शन के लक्षण** : ड्रग एडिक्शन के सामान्य लक्षण इस प्रकार हैं :

1. अगर आप नियमित रूप से किसी दवा का उपयोग करने लगे हैं, तो उसकी क्रेविंग होना।
2. समय के साथ, उस दवा की खुराक लेने की आदत बढ़ना।
3. बिना जरूरत के किसी दवा पर बहुत ज्यादा पैदा खर्च करना, फिर चाहे आप उसे खरीदने में सक्षम हैं या नहीं।
4. नशीली दवाओं के उपयोग के कारण जिम्मेदारियों और कामकाजों को प्रभावित करना।
5. दवा का सेवन करने के बाद कोई अपराध करना, जैसे– चोरी, डकैती, गाली गलौच, मारपीट करना आदि।
6. बिना जरूरत और न चाहते हुए भी आपका मन उस दवा की खुराक के लिए आपको फोर्स करता है।
7. व्यवहार, मूड या ग्रेड (छात्रों के मामले में) कोई भी अचानक बदलाव, पैटर्नयुक्त व्यवहार आदि।

**ड्रग एडिक्शन के कारण** : कारण इस प्रकार हैं–

1. बच्चों के साथ बचपन में किया गया शोषण।
2. नशे की चीजों के उपयोग का पारिवारिक इतिहास।
3. प्रतिस्पर्धात्मक दुनिया में असफल होने का डर और उसके बाद के तनाव की वजह से नशे का आदी बन जाना।
4. माता–पिता की जरूरत से ज्यादा दखल देने की वजह से नशे का आदी बन जाना।
5. भविष्य की योजना और काम के माहौल में अत्यधिक तनाव की वजह से नशे का आदी बन जाना।
6. किसी प्रिय के निधन की वजह से।
7. बहुत अधिक या कम आय वाले सामाजिक, आर्थिक समूह की वजह से नशे का आदी बन जाना।
8. नशीली चीजों का आसानी से मिल जाना भी इसकी लत का एक कारण है।
9. छात्रों में लगातार अच्छा प्रदर्शन करने का दबाव भी नशे की लत का कारण है।

10. माता–पिता या परिवार से लापरवाही।
11. नैतिक जीवन के खिलाफ विद्रोह के लिए दबाव डालना।
12. किशोर उम्र
13. आस–पास का माहौल तनावपूर्ण होना।

टिप्पणी

**ड्रग एडिक्शन के उपचार** : नशीली दवाओं की लत जिसे केमिकल सब्सटेंस यूज डिसऑर्डर भी कहते हैं, इसके निदान के लिए अक्सर मनोचिकित्सक, मनोवैज्ञानिक या लाइसेंस प्राप्त शराब और ड्रग काउंसलर की मदद ली जाती है और इसके साथ–साथ मेंटल हेल्थ प्रोफेशनल्स की भी मदद ली जाती है।

इस मानसिक स्थिति का निदान करने के लिए अमेरिकन साइकियाट्रिक एसोसिएशन द्वारा मानसिक विकार के नैदानिक और सांख्यिकी मैनुअल (DSM-5) प्रकाशित किया गया है।

## केमिकल डिपेंडेंस ट्रीटमेंट प्रोग्राम

1. व्यक्तिगत, समूह या पारिवारिक थेरेपी सेशन का आयोजन।
2. लत की प्रकृति को समझने और दोबारा उसकी लत को रोकने का ध्यान रखा जाता है।
3. आवश्यकताओं के आधार पर देखभाल की जाती है।
4. शराब आदि की लत का इलाज (डिटाक्सिफिकेशन या विथड्राल थेरेपी)।

**काउंसिल** : इसे टॉक थेरेपी या मनोचिकित्सा भी कहा जाता है। इस प्रक्रिया के दौरान मनोवैज्ञानिक या मनोचिकित्सक व्यक्ति और परिवार के साथ अलग–अलग या समूह में सभी के साथ बात करते हैं। जो कई तरह के मददगार हो सकते हैं–

1. ड्रग की लत से बचने और दोबारा उसकी लत को वापस आने से रोका कैसे जा सकता है इस पर सुझाव देंगे।
2. आपने निजी जीवन, नौकरी, कानूनी समस्याओं और परिवार और दोस्तों के साथ संबंधों के बारे में बात करेंगे।
3. परिवार के सदस्यों के समूह के साथ बात करेंगे, ताकि परिवार के सदस्य भी आपकी स्थिति को बेहतर तरीके से समझ सकें।

**सेल्फ–हेल्थ ग्रुप** : सेल्फ–हेल्थ ग्रुप की मदद से भी लोग अपने नशे की लत पर काबू पा सकते हैं। ऐसे कई संस्थान हैं जो अलग–अलग देशों में कार्य करते हैं। स्वयं सहायता समूह की मदद आप इंटरनेट के जरिए भी ले सकते हैं। आपका चिकित्सक या परामर्शदाता भी इसकी जानकारी दे सकता है।

## घरेलू उपाय

निम्नलिखित जीवनशैली और घरेलू उपचार आपको ड्रग एडिक्शन से बचने में मदद कर सकते हैं–

1. **थेरेपिस्ट की मदद लें** : अपने मानसिक स्वास्थ्य पर ध्यान दें। मादक पदार्थों की लत कई मानसिक समस्याओं से जुड़ी हो सकती है, जिसके लिए चिकित्सक या मनोचिकित्सक की मदद ले सकते हैं।

टिप्पणी

2. **अपने मानसिक स्वास्थ्य का ध्यान रखें** : अपनी मानसिक स्वास्थ्य समस्याओं पर समय–समय पर गौर करें। अगर आपको कोई मानसिक बीमारी के लक्षण हैं, तो तत्काल प्रभाव से इसका उपचार करवाएं।

3. **सहायता समूह की मदद लें** : ऐसे कई समर्थन समूह हैं जो आपको नशे की लत को सुधारने में मददगार हो सकते हैं। अपने डॉक्टर या इंटरनेट के जरिए इनका पता लगा सकते हैं और इनकी मदद ले सकते हैं।

अतः प्रस्तुत विषय में हमने जाना कि ड्रग एडिक्शन किसे कहते हैं और यह किन कारणों व लक्षणों के द्वारा होता है और वह हमारे जीवन पर क्या प्रभाव डालता है।

## नशीली दवाओं का दुष्प्रयोग/मादक द्रव्य व्यसन

नशे के लिए केवल मदिरा का ही इस्तेमाल नहीं किया जाता है, वरन् अफीम, गांजा, चरस, मारिजुआना, भांग, कोकीन, मजून, मारको आदि का सेवन किया जाता है। लिण्ड स्मिथ का मत है कि इन वस्तुओं का प्रयोग व्यक्ति 'सामान्य' बनने के लिए करता है। शराब का प्रयोग तो व्यक्ति कभी–कभी करता है, किन्तु मादक द्रव्य का प्रयोग वह प्रतिदिन करता है। एक बार आरम्भ करने के पश्चात् यह आदत का रूप ले लेता है और उन्हें छोड़ने में शारीरिक एवं मानसिक कठिनाइयां महसूस होती है।

मादक पदार्थों का प्रयोग अति प्राचीन काल से विश्व के समस्त देशों में होता रहा है। यूरोप के देशों में इनका सेवन दवा के रूप में तथा भारत व चीन में मुक्त रूप से किया जाता रहा है। दक्षिण अफ्रीका में मजदूरों में कोकीन के प्रयोग को प्रोत्साहित किया जाता रहा है जिससे कि वे अधिक कार्य कर सकें। मादक द्रव्यों के उपयोग पर विश्व के सभी देशों में किसी न किसी प्रकार का नियंत्रण अवश्य पाया जाता है, अतः लोग चोरी–छिपे मादक पदार्थों को लाने ले जाने का कार्य करते हैं। कुछ लोग तो यह कार्य संगठनात्मक आधार पर करते हैं।

## मादक द्रव्य व्यसन का अर्थ

मादक द्रव्य व्यसन शब्द का तात्पर्य है मादक पदार्थों पर शारीरिक निर्भरता। शारीरिक निर्भरता से तात्पर्य है कि मादक पदार्थों के निरन्तर प्रयोग से शरीर उन पदार्थों की उपस्थिति से अपना सामंजस्य कर लेता है और यदि इनका प्रयोग नहीं किया जाता है तो शरीर को दर्द, बेचैनी तथा रुग्णता महसूस होती है। दूसरे शब्दों में, मादक द्रव्य व्यसन वह दशा है जिससे शरीर का कार्य करते रहने के लिए मादक पदार्थ प्रयोग की आवश्यकता महसूस होती है। यदि मादक पदार्थों का प्रयोग बंद कर दिया जाता है तो संचालन में बाधा उत्पन्न होती है।

इस प्रकार मादक द्रव्य का अर्थ है शरीर का मादक पदार्थों के विषैले प्रभावों पर आश्रित इतना हो जाता है कि उसके बिना जीवित रहना कठिन होता है।

इस प्रकार मादक द्रव्य व्यसन की चार विशेषताएं हैं : इसमें मादक पदार्थ ग्रहण करने की शरीर द्वारा तीव्र इच्छा या आवश्यकता व्यक्त की जाती है जिसे व्यक्ति प्रत्येक संभव साधन द्वारा प्राप्त करने का प्रयत्न करता है।

- इसमें खुराक की मात्रा में उत्तरोत्तर वृद्धि की प्रवृत्ति होती है।

- मादक पदार्थों के प्रभावों पर मानसिक तथा शारीरिक निर्भरता उत्पन्न होती है।
- इसका व्यक्ति तथा समाज पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

टिप्पणी

अवैध मादक पदार्थों का उपयोग या वैध मादक पदार्थों का दुरुपयोग मादक पदार्थों का दुष्प्रयोग कहलाता है जिससे शारीरिक व मानसिक हानि होती है। इसके अन्तर्गत धूम्रपान, गांजा, हशीश, हेरोइन, कोकोइन, LSD, मार्फिन के इंजेक्शन एवं शराब आदि का प्रयोग सम्मिलित है। इन्हें कई बार High on Speed या 'Trip' या ' Gefting Kicks' जैसे शब्दों द्वारा व्यक्त किया जाता है।

## भारत में नशीली दवाओं का दुष्प्रयोग

प्राचीन काल से ही भारत में लोग मादक द्रव्यों का प्रयोग करते रहे हैं। मादक पदार्थों के सेवन को सामाजिक स्वीकृति भी प्राप्त थी। आर्य लोग सोम रस का प्रयोग करते थे। अथर्ववेद में भांग के प्रयोग का उल्लेख मिलता है। पुराणों में भांग के लिए 'विजया' शब्द का प्रयोग हुआ है। भारत में अफीम, भांग, गांजा, चरस एवं कोकीन का प्रयोग होता रहा है।

भारत में मादक पदार्थों के प्रयोग की मात्रा, प्रकृति विस्तार और दुष्प्रभावों को जानने के लिए स्कूल व महाविद्यार्थियों के छात्रों, औद्योगिक श्रमिकों एवं ग्रामीण लोगों से सम्बन्धित अनेक अध्ययन किए गए हैं। बनर्जी (1963 में कलकत्ता में), दयाल (1977 में दिल्ली में), दुबे, कुमार और गुप्ता 1969 व 1977 में, चिटनिस (1974 में मुंबई में), वर्मा (1977 में पंजाब में), सेठ व मनचन्दा (1978 में उत्तर प्रदेश में), गेंग्रेड व गुप्ता, देव एवं जिंदल, दुबे, वर्गीज एवं बैंग आदि अध्ययनकर्ता प्रमुख हैं।

डा. राम आहूजा ने 1976 में जयपुर में विश्वविद्यालयी छात्रों का अध्ययन करने पर पाया कि 26% विधि के छात्र, 23.6% वाणिज्य के छात्र, 17.5% कला व समाज विज्ञान के छात्र, 14% चिकित्सा विज्ञान के छात्र, 14% विज्ञान के छात्र, 13.6% इंजीनियरिंग के छात्र मादक पदार्थों का प्रयोग करते हैं। इनमें से 90% छात्र नियमित रूप से मादक पदार्थों का उपयोग करते थे तथा 1% ही इनके व्यसनी हो पाए थे। लगभग दो–तिहाई इनका उपयोग मनोरंजन के लिए करते थे। कुछ छात्र दवाई के रूप में तथा 2 से 3 प्रतिशत वास्तविकता से भागने के लिए प्रयोग करते थे। इनका प्रयोग करने वालों में पब्लिक स्कूलों में पढ़ने वाले विद्यार्थी, शैक्षणिक दृष्टि से निराश, पाठ्येत्तर कार्यक्रमों में भाग न लेने वाले विद्यार्थी, उच्च परिवारों के छात्र, छात्रावासों में रहने वाले तथा 16 से 21 वर्ष की आयु वर्ग के छात्र अधिक थे।

केन्द्रीय शिक्षा और समाज कल्याण मंत्रालय द्वारा किए गए सर्वेक्षण के अनुसार काशी विश्वविद्यालय की छात्राएं नशाखोरी में, मुंबई की छात्राएं मद्यपान में, चेन्नई की तंबाकू सेवन में, दिल्ली विश्वविद्यालय की छात्राएं नींद की गोलियां सेवन करने में एवं जयपुर की कोकीन लेने में सबसे आगे थीं।

1978 में मोहन, सुंदरम तथा चावला ने दिल्ली के 2,000 विद्यालयी छात्रों का अध्ययन करने पर पाया कि 63% छात्र मादक पदार्थों का सेवन करते थे।

ग्रेंग्रेड एवं गुप्ता द्वारा दिल्ली के 4,000 औद्योगिक श्रमिकों का अध्ययन में पता लगाया कि उनमें से 10.4% श्रमिक शराब, चरस, भांग, गांजा और अफीम में से किसी न किसी मादक पदार्थ का उपयोग करते थे।

टिप्पणी

देव तथा जिंदल ने पंजाब के गांवों (1974) में अध्ययन करने पर पाया कि 15 वर्ष से अधिक की आयु के 74% लोगों में शराब पीने की आदत थी। 1978 में गुरमीत सिंह ने अध्ययन किया और पाया कि 29% लोग मादक पदार्थों का उपयोग करते थे, 40% तंबाकू का, 26% शराब का तथा 19% अफीम का उपयेाग करते थे।

कोकीन का प्रयोग उच्च वर्गों के लोगों, जमींदारों, मुस्लिम नवाबों एवं बादशाहों द्वारा किया जाता रहा है। भारत में इसका आयात 1890 से था। इनका प्रचलन अधिकतर उत्तरी भारत में ही रहा है। दांत के दर्द व अन्य रोगों के लिए भी कोकीन का प्रयोग दवा के रूप में होता रहा है। अफीम, गांजा और चरस को सम्मिलित कर एल.एस.डी. का निर्माण किया जाता है।

## मादक द्रव्यों के सेवन के कारण

विगत वर्षों में भारत में मादक द्रव्यों का सेवन बढ़ा है और चोरी–छिपे रूप से इनका विदेशों से आयात होता है। विश्वविद्यालयों के छात्र–छात्राओं द्वारा मादक पदार्थों का प्रयोग अधिक किया जाने लगा है। प्रतियोगिता की कठिनता, सपनों का टकराव, पाठ्यक्रमों की नीरसता, अंदर ही अंदर कसकते–सिसकते तनाव के कारण युवा वर्ग तनाव से मुक्त तथा कल्पनाओं के स्वप्निल संसार में खोने की अदम्य लालसा के कारण नशे की शुरुआत करता है। मादक द्रव्य सेवन की प्रेरणा मित्रों के द्वारा मिलती है। पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति की चकाचौंध में खोए हुए परिवारों में विभिन्न अवसरों पर नशा करना शिष्टाचार और जीवन शैली का प्रतीक बन गया है। संसार से उदासीन व्यक्ति चिन्तारहित, मुक्त एवं स्वच्छन्द जीवन व्यतीत करने की लालसा में मानसिक शांति के लिए मादक द्रव्यों का सेवन करते हैं। मादक पदार्थों के सेवन से युवा पीढ़ी में युवा स्वच्छन्दता बढ़ी है जो भविष्य के लिए भयानक स्थिति है।

नशीली दवाओं के सेवन के कारणों को मुख्यतः निम्न भागों में विभाजित किया जा सकता है–

**1. मनोवैज्ञानिक कारण**– तनाव से मुक्ति, उदासी को दूर करने, जिज्ञासा को शांत करने, ऊब से मुक्ति पाने, ऊंची–ऊंची उड़ानें भरने, साहस जुटाने एवं अनुभव को गहन करने के लिए मादक दवाओं का प्रयोग किया जाता है।

**मानसिक विकार**– ऐसा माना जाता है कि मादक दवाओं का प्रयोग करने वाले अधिकांश व्यक्ति अशांत और अस्थिर चित्त वाले होते हैं। लोग चिन्ता से मुक्ति पाने एवं व्यक्तित्व की कमियों को छुपाने के लिए मादक वस्तुओं का प्रयोग करते हैं। एक बार आदत पड़ने पर इसे छुड़ाना कठिन होता है। व्यक्तिगत एवं मानसिक कमी वाले व्यक्ति को साइकोन्यूरोटिक कहते हैं।

**उपचार**– कई लोग मादक वस्तुओं का प्रयोग शारीरिक या मानसिक रोगों से मुक्ति के लिए करते हैं, किंतु लंबे समय तक इनके प्रयोग के कारण रोग–मुक्त होने पर भी वे छोड़ नहीं पाते।

**मानसिक तनाव**– कई लोग मानसिक तनाव एवं संघर्ष से मुक्ति पाने के लिए मादक द्रव्यों का सेवन करते हैं क्योंकि मानसिक शांति के अभाव में सामान्य रूप से कार्य करना भी कठिन हो जाता है।

टिप्पणी

**असामान्य व्यक्तित्व**– जिन लोगों का व्यक्तित्व असामान्य होता है वे भी हर समय अशांति महसूस करते हैं। वे वास्तविकता से भागने के लिए मादक वस्तुओं का सेवन करने लगते हैं।

**2. सामाजिक कारण**– सामाजिक उत्सव मनाने, मित्रों द्वारा स्वीकार किए जाने तथा सामाजिक मूल्यों को चुनौती देने एवं परिवार के सदस्यों का अनुकरण करने आदि कारणों से लोग मादक द्रव्यों का सेवन करते हैं।

**3. शारीरिक कारण**– चेतन रहने, यौन अनुभव में वृद्धि करने, दर्द निवारण के लिए एवं निद्रा लाने के लिए लोग मादक द्रव्यों का सेवन करते हैं।

**4. विभिन्न कारण**– अध्ययन में प्रगति लाने, धार्मिक अन्तर्दृष्टि को तेज करने, स्वयं की समझ में वृद्धि करने दवाओं का सेवन किया जाता है। इनके अतिरिक्त वांछित सफलता न मिलने, परीक्षा में असफल होने, असफल प्रेम सम्बन्ध और हीनभावना भी मादक पदार्थों के सेवन को प्रेरित करती है। पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव, एक बार चखने की चाह, पारिवारिक नियंत्रण का अभाव, नशा करने वाले लोगों से संपर्क, साथियों द्वारा नशे के आनन्द को अलौकिक आनन्द के रूप में निरूपित किया जाना, जीवन के कठिन क्षणों में दबाव और तनाव को भुलाने का प्रयास, बेरोजगारी, व्यक्तिगत निराशाएं, सम्बन्धों में बिखराव, चिंता, पारिवारिक स्नेह का अभाव, बोरियत, थकान और मायूसी से मुक्ति पाने एवं मात्र मौज मस्ती हेतु भी मादक द्रव्यों का सेवन किया जाता है।

## मादक द्रव्यों के सेवन के कुप्रभाव

मादक द्रव्यों के सेवन का कुप्रभावों के निम्न रूपों में उल्लेख किया गया है–

**शारीरिक प्रभाव**– दीर्घकाल तक अधिक मात्रा में नशीली दवाओं के सेवन से गैस बनने, जिगर सम्बन्धी बीमारी, नाड़ियों से सम्बन्धित विकार, गठिया, पेलेग्रा, बेहोशी आदि बीमारियां होती हैं।

इनके प्रयोग से व्यक्ति के मस्तिष्क के तंतु निर्जीव हो जाते हैं। अधिक संख्या में तंतुओं के नष्ट हो जाने से चक्कर आने लगते हैं। ऐसे व्यक्तियों की रोग प्रतिरोधक क्षमता क्षीण हो जाती है। उसकी जीवन आशा कम हो जाती है। इन दवाओं के प्रयोग से कैंसर, गठिया, चर्म रोग, हृदय रोग, आंखों के रोग, श्वांस कष्ट, क्षय, डिप्थेरिया आदि रोग पनपते हैं।

**मानसिक रोग**– नशीले द्रव्यों के सेवन से व्यक्ति में मानसिक दक्षता की कमी, क्षीण मस्तिष्क तथा स्नायु तंतु नष्ट हो जाते हैं। इससे व्यक्ति की भावात्मक एवं बौद्धिक शक्ति क्षीण हो जाती है। वह असभ्य तथा उल्लेख भाग का प्रयोग करता है तथा अत्यधिक क्रोधी हो जाता है। इनके विषय से तीव्र सनकीजन, मूर्छा, पागलपन, मिरगी, नाड़ी की सूजन, पक्षाघात आदि रोग हो जाते हैं। मानसिक दुर्बलता, चित्त विभ्रम, संदेह, उत्तेजना, स्मृतिनाश, मैनिया एवं मनोविकृति आदि रोग इनके सेवन से होते हैं।

**दुर्व्यवहार**– नशीले पदार्थों का सम्बन्ध अपराध, वेश्यावृत्ति, जुआखोरी, चोरी आदि गैर–कानूनी व्यवहारों से होता है। इनके कारण कानूनों को लागू करने की समस्या

उत्पन्न हो जाती है। यह बाल–अपराध, यौन–अपराध, हत्या आदि के लिए भी उत्तरदायी होते हैं।

टिप्पणी

**दुर्घटना**– इन नशीले पदार्थों के सेवन से नींद व बेहोशी आती है, व्यक्ति लापरवाह हो जाता है तथा दुर्घटना घटित हो जाती है।

**कार्य क्षमता**– नशीले पदार्थों से औद्योगिक क्षमता, उत्पादन ह्रास, अनुपस्थिति, दुर्घटना आदि को प्रभावित करती है।

**वैयक्तिक विघटन**– नशीले पदार्थ वैयक्तिक विघटन का संकेत तथा कारण होता है। ये संकेत इस रूप में है कि अधिकांश नशेबाज व्यक्ति बीमार तथा मानसिक रूप से पीड़ित व्यक्ति है। प्रथम बार सेवन करने से ही उसकी समस्या प्रारम्भ हो जाती है। ऐसे व्यक्ति अपना धन नशीले पदार्थों में नष्ट करते हैं। मित्रों व घर में झगड़ा करते हैं। वे प्राथमिक सम्बन्ध स्थापित करने एवं सामाजिक स्थितियों से संतुलन बैठाने में असमर्थ होते हैं।

**निर्धनता**– नशीली दवाओं के सेवन से व्यक्ति निर्धन होता जाता है।

**बेरोजगारी**– नशीली दवाओं के प्रयोग से व्यक्ति की कार्यक्षमता घट जाती है तथा वह कार्य से अनुपस्थित रहने लगता है। ऐसे स्थिति में उसे नौकरी से निकाल दिया जाता है।

**पारिवारिक विघटन**– एक नशेबाज व्यक्ति भावनात्मक रूप से भी असंतुलित हो जाता है। उसका अपने परिवार के प्रति स्नेह व प्रेम समाप्त हो जाता है। ऐसे व्यक्ति अपना धन, समय व शक्ति सब कुछ नशे में ही नष्ट कर देते हैं। उनके आक्रामक, स्वार्थी व समाज–विरोधी होने के कारण लोग उन्हें पसन्द नहीं करते। ऐसे व्यक्ति में अनेक ऐसे लक्षण होते हैं, जिनके कारण वे विवाह के अयोग्य होते हैं, जैसे– स्वप्न लेना, विषम–लिंगियों से करना, आक्रामक व असामाजिक होना, घनिष्ठ मित्रों का न होना, शंकालु, असंभव आदर्शवादिता, अन्तर्मुखी, संसार से भावनात्मक एवं मानसिक रूप से बचने की प्रवृत्ति होना।

**सामाजिक समस्या**– आदिम व छोटे समाजों में नशीले पदार्थों का प्रयोग सामूहिक उत्सवों के समय किया जाता था। फसल काटने, बसंत के आगमन एवं विशिष्ट अवसरों पर इन पदार्थों का सेवन सामूहिक रूप से किया जाता था। इनके प्रयोग से व्यक्ति मित्रों, परिवार व समाज में अलग हो जाता है और असुरक्षित महसूस करने लगता है तो ऐसी दशा सामाजिक विघटन का सूचक है।

### मादक द्रव्य सेवन नियंत्रण

- 1893 में रॉयल कमीशन
- 1985 में नारकोटिक्स ड्रग्स एण्ड साइकोट्रोपिक सबस्टेशन एक्ट
- नारकोटिक्स इंटेलिजेन्स ब्यूरो
- Central Committee on Probition and Drug Abuse.

26 जून, 1989 को मादक पदार्थों की तस्करी और दुरुपयोग के खिलाफ अन्तर्राष्ट्रीय दिवस मनाया गया।

नशीले पदार्थों की आदत छुड़ाने में एक शिक्षण संस्थान निम्नांकित रूप में अपनी भूमिका निभा सकता है–

- अनेक छात्रों के साथ अनौपचारिक रूप से वार्तालाप करना चाहिए।
- छात्रों को नशीले पदार्थों के दुष्परिणामों से अवगत कराया जाना चाहिए।
- छात्रों की रुचियों और गतिविधियों की ओर ध्यान दिया जाना चाहिए।
- छात्रों का उचित मार्गदर्शन किया जाना चाहिए तथा उनकी समस्याओं से निपटने के उचित प्रावधान होने चाहिए।
- छात्रों को व्यवसाय चुनने और लक्ष्य निर्धारित करने में सहायता प्रदान करनी चाहिए।

टिप्पणी

एक परिवार, समाज, शिक्षण संस्थान, मित्रों आदि को अपनी भूमिका का उचित वहन करके बालकों को एक भावी व सफल नागरिक बनने में संपूर्ण सहयोग प्रदान करना चाहिए।

### 5.2.3 वेश्यावृत्ति और युवा असंतोष एवं आक्रोश

वेश्यावृत्ति एक प्रकार का व्यवसाय होता है, जिसमें पैसों के लिए शारीरिक सम्बन्ध बनाए जाते हैं। जब कोई स्त्री किसी पुरुष से जो उसका पति नहीं है अथवा पुरुष किसी स्त्री से जो उसकी पत्नी नहीं है, यौन सम्बन्ध स्थापित करता है या करती है और उसके बदले में धन या किसी अन्य प्रकार की वस्तु या सेवा प्राप्त करती है तो उसे सामान्य रूप से वेश्यावृत्ति माना जाता है। स्त्रियों एवं कन्याओं के अनैतिक व्यापार (निरोधक) अधिनियम, 1956 के अनुसार वेश्या वह स्त्री है जो कि धन या वस्तु के बदले में अवैध यौन सम्बन्धों के लिए अपना शरीर पुरुष को सौंपती है। इस प्रकार अवैध सम्बन्ध के लिए शरीर अर्पित करना वेश्यावृत्ति कहलाता है। आधुनिक समय में वेश्याओं को विभिन्न आधारों पर अनेक श्रेणियों में विभाजित किया जाता है। व्यावसायिक दृष्टिकोण से वर्तमान युग में प्रायः तीन प्रकार की वेश्याएं होती हैं–

- वे वेश्याएं जो संगठित अड्डों पर देह बेचती हैं और जिनका नियंत्रण अड्डे के मालिकों के हाथ में रहता है।
- वे वेश्याएं जो सर्वथा स्वतंत्र रूप से अपना व्यवसाय चलाती हैं।
- वे स्त्रियां जो पूर्णरूप से वेश्या नहीं होती हैं, किन्तु पारिवारिक जीवन में रहते हुए आर्थिक लाभ हेतु चोरी–छिपे इस व्यवसाय को अपनाती हैं।

वेश्यावृत्ति सर्वाधिक पुराना पेशा माना जाता है। साथ ही यह विश्व के समस्त समाजों में पाया जाता है।

भारत जैसे पारम्परिक समाज में जहां महिलाओं की यौन आकांक्षा उच्च स्तर के मूल्य और मानकों से जुड़ी हो, उसे यौन आकांक्षा पर स्वतन्त्रता नहीं दी गई है और उसकी इस इच्छापर्ति का अधिकार पति को प्रदान किया जाता है। भारतीय समाज में वेश्यावृत्ति संस्कृति के विपरीत कार्य के रूप में देखा जाता है। फिर भी वेश्यावृत्ति समाज का अभिन्न हिस्सा है। सामान्यत प्रत्येक शहर के एक हिस्से में वेश्यावृत्ति वाला इलाका

(Red Light Spot) होता है। वेश्यावृत्ति को सामाजिक कलंक मानने के कारण यह एक सामाजिक समस्या के रूप में जानी जाती है।

टिप्पणी

भारत का संविधान प्रत्येक व्यक्ति को गरिमापूर्ण जीवन का अधिकार प्रदान करता है। लेकिन वेश्यावृत्ति में संलग्न यौन–कर्मियों को गरिमापूर्ण जीवन प्राप्त नहीं होता है, इस प्रकार वेश्यावृत्ति में सम्मिलित व्यक्ति ऐसे नागरिक हैं जिन्हें समानता का अधिकार प्राप्त नहीं है। भारत में वेश्याओं को सामान्य श्रम कानूनों के अन्तर्गत संरक्षण प्राप्त नहीं है, लेकिन उनके बचाव तथा पुनर्वास का प्रयास किया जाता है।

भारत में वेश्यावृत्ति का मुख्य कारण निर्धनता का माना जाता है। इस व्यवसाय को अपनाने वाली अधिकतर महिलाएं लाचार, कमजोर तथा अशिक्षित होती हैं और उनके पास किसी कार्य का विशिष्ट कौशल भी नहीं होता है। दुर्भाग्य से यदि इन महिलाओं का सामना दलालों से हो जाता है, तो इस पेशे में आने की संभावना बढ़ जाती है। अनेक माता–पिता आर्थिक तंगी के कारण अपनी बेटियों को बेच देते हैं। अनेक महिलाओं व लड़कियों को उनके रिश्तेदारों, पति एवं पुरुष–मित्रों द्वारा भी इस पेशे में धकेला जाता है। कई लोग महिलाओं को शादी या नौकरी का झांसा देकर उन्हें चकलाघर तक पहुंचा देते हैं। कई बार पड़ोसी देशों से लड़कियों को बहुत कम पैसों में खरीदकर इस पेशे में शामिल किया जाता है।

भारत के कुछ राज्यों में धार्मिक रीति–रिवाजों और रुढ़ियों के कारण भी कुछ स्त्रियों को इस पेशे में धकेल दिया जाता है। ओडिशा, तमिलनाडु और महाराष्ट्र के कुछ धार्मिक केन्द्रों में यह प्रथा बनी हुई है। दक्षिण भारत में इसे देवदासी प्रथा, महाराष्ट्र में मुरली, कर्नाटक में 'वासवी' एवं 'नामिका' आदि कहा जाता है। यह प्रथा धार्मिक वेश्यावृत्ति की श्रेणी में आती है। आधुनिक समय में वेश्या के स्थान पर यौन–कर्मी शब्द प्रयोग करने का चलन है।

भारतवर्ष में वैवाहिक सम्बन्ध के बाहर यौन सम्बन्ध मान्य नहीं होते हैं। वेश्यावृत्ति भी इसके अंतर्गत है। लेकिन दो वयस्कों के यौन सम्बन्ध को, यदि वह जन शिष्टाचार के विपरीत न हो, कानून व्यक्तिगत मानता है, जो दंडनीय नहीं है। 'भारतीय दंड विधान' 1860 से 'वेश्यावृत्ति उन्मूलन विधेयक' 1956 तक समस्त कानून सामान्यतया वेश्यालयों के कार्य व्यापार को संगत एवं नियंत्रित करने तक ही प्रभावी रहे हैं। वेश्यावृत्ति का उन्मूलन सरल नहीं है, परन्तु ऐसे संभव प्रयास किए जाने चाहिए जिससे इस व्यवसाय को प्रोत्साहन न मिले, समाज की नैतिकता का ह्रास न हो और जनस्वास्थ्य पर रतिज रोगों का दुष्प्रभाव न पड़े। कानून स्त्री देह व्यापार में संलग्न अपराधियों को कठोरतम दंड देने में सक्षम हो। यह सामाजिक समस्या है। समाज समाज की गति को पहचानने और अपनी उन मान्यताओं और रूढ़ियों का परित्याग करें, जो वेश्यावृत्ति को प्रोत्साहन प्रदान करती है। व्यक्ति विशेष समाज कानून के अपेक्षित योगदान के अभाव में वेश्यावृत्ति मुक्त समाज की अपेक्षा करना संभव नहीं है।

परिवर्तनवादी नारीवादियों द्वारा यह तर्क दिया जाता है कि ज्यादातर समय लोग एक सचेत और उपयुक्त रीति में वेश्यावृत्ति के विकल्प का चयन नहीं करते हैं। यह उनके द्वारा कहा गया है कि वेश्यावृत्ति वाली महिलाओं में से अधिकांश इस तथ्य के कारण हैं कि उन्हें एक दलाल या मानव तस्करी द्वारा मजबूर कर दिया गया है या यह

एक स्वतंत्र फैसले के मामले में होता है जहां आम तौर पर तीव्र गरीबी और अवसर की कमी या गंभीर अंतर्निहित समस्याओं जैसे कि मादक पदार्थों की लत, पिछले आघात (जैसे बाल यौन शोषण) और अन्य दुर्भाग्यपूर्ण परिस्थितियां हैं।

टिप्पणी

इसके अलावा क्रांतिकारी नारीवादी विश्वास करते हैं कि निम्नतम सामाजिक आर्थिक वर्गों की महिलाएं– गरीब महिलाओं, कम स्तर की शिक्षा प्राप्त महिलाओं, सबसे वंचित नस्लीय और जातीय अल्पसंख्यकों की महिलाओं को दुनिया भर में वेश्यावृत्ति में अधिक से अधिक प्रतिनिधित्व दिया गया है। "यदि वेश्यावृत्ति एक स्वतंत्र विकल्प है तो सबसे कम विकल्प वाली महिलाओं के साथ ऐसा क्यों किया जाता है" (मैककिन्नोन, 1993)। एक अध्ययन में भाग लेने वाली वेश्यावृत्ति में शामिल 475 महिलाओं में से एक विशाल बहुमत ने कहा कि यह उनकी जिंदगी का कठिन दौर था और उनमें से अधिकांश इस व्यवसाय से बाहर होना चाहती हैं। कैथरीन मैककिन्नोन ने यह तर्क दिया है, "वेश्यावृत्ति में महिलाएं ऐसे पुरुषों के साथ यौन संबंध बनाती हैं जिनके साथ वे कभी भी अपनी इच्छा से यौन संबंध नहीं रखतीं। यह धन, बल के एक साधन रूप में कार्य करता है, सहमति के एक माप के रूप में नहीं।

यह उनका विश्वास है कि कोई भी वास्तव में अपने उत्पीड़न के लिए वास्तव में सहमति नहीं दे सकता है और किसी को भी दूसरों के उत्पीड़न के लिए सहमति देने का अधिकार नहीं होना चाहिए। सहमति के स्तर के अनुसार दमन का प्रभावी ढंग से मूल्यांकन नहीं किया जा सकता है क्योंकि गुलामी में भी कुछ सहमति थी।

एंड्रिया डॉर्किन की राय में वेश्यावृत्ति एक महिला के शरीर का दुरुपयोग है। हममें से जो लोग यह कहते हैं, उन पर सरल विचारधारा का होने का आरोप है। लेकिन वेश्यावृत्ति बहुत सरल है ... वेश्यावृत्ति में, कोई महिला पूरी नहीं रहती है। जिस तरह से महिला के शरीर का उपयोग वेश्यावृत्ति में किया जाता है, इस प्रकार एक मानव शरीर का उपयोग और यह संपूर्ण रहे, शुरुआत, मध्य या अंत में असंभव है। यह नामुमकिन है। वेश्यावृत्ति के बाद, कोई औरत पूरी तरह से पूरी नहीं हो जाती। डॉर्किन ने तर्क दिया है, महिलाओं के लिए वेश्यावृत्ति और समानता एक साथ मौजूद नहीं हो सकती है और वेश्यावृत्ति उन्मूलन के लिए हमें और पुरुषों की यौन सुख के लड़कियों और लड़कियों की अपमानजनक बिक्री और खरीद को खत्म करने के लिए शब्दों और कानून का इस्तेमाल करने के तरीके खोजने चाहिए।

## महिलाओं के लिए प्राथमिक कार्य पुरुषों के लिए यौन सेवा है

क्रांतिकारी नारीवादी सोच के अनुसार, पितृसत्तात्मक वर्चस्व की आधारशिला वेश्यावृत्ति और साथ ही महिलाओं की यौन अधीनता के रूप में है। यह लड़कियों और महिलाओं की वेश्यावृत्ति को नकारात्मक रूप से प्रभावित करता है, साथ ही एक समूह के रूप में सभी महिलाओं को प्रभावित करता है क्योंकि वेश्यावृत्ति महिलाओं की पितृसत्तात्मक परिभाषाओं को मजबूत करती है जिसके अनुसार महिलाओं के लिए प्राथमिक कार्य पुरुषों के लिए यौन सेवा है। उनके अनुसार यह मुख्य महत्व है कि समाज महिला कामुकता पर एक पितृसत्तात्मक दृष्टिकोण की जगह (महिलाओं को शादी से बाहर यौन संबंध में कभी भी शामिल नहीं होना चाहिए और एक महिला के लिए कामुक सेक्स शर्मनाक है) बल्कि एक दूसरे पितृसत्तात्मक दृष्टिकोण जिसमें भी दूसरे की तरह समान

टिप्पणी

लेकिन एक अलग उत्पीड़न है (वेश्यावृत्ति की स्वीकृतिः लैंगिक व्यवहार का निर्माण जो कि एक अत्यधिक पितृसत्तात्मकता पर आधारित है)। इसमें यह भी शामिल है कि एक महिला का यौन सुख अप्रासंगिक है, कि सेक्स के दौरान उसकी एकमात्र भूमिका पुरुष की यौन मांगों को पूरा करना है और पुरुष जो कहता है वह करना है, पुरुष सेक्स के कार्य को नियंत्रित करेगा और महिला की प्रतिक्रिया और संतुष्टि अप्रासंगिक हैं। नारीवादियों द्वारा प्रस्तुत बहस यह है कि महिलाओं के लिए, यौन मुक्ति तब तक प्राप्त नहीं हो सकती जब तक कि असमान यौन प्रथाओं का कोई सामान्यीकरण नहीं होता है जहां एक पुरुष एक औरत पर हावी हो जाता है। नारीवादी चेतना बढ़ाना सामूहिक संघर्ष की नींव और महिलाओं की अंतिम मुक्ति बनी हुई है।

परिवर्तनवादी नारीवादियों के मद्देनजर वेश्यावृत्ति पुरुष प्रभुत्व का एक रूप है क्योंकि यह महिला को अधीनस्थ स्थिति में होने के लिए मजबूर करती है, जो उसे ग्राहक के लिए यौन सुख का एक साधन बनाता है। इन नारीवादियों की राय में, कई ग्राहक वेश्याओं की सेवाओं का उपयोग करते हैं क्योंकि इससे उन्हें आनंद मिलता है तथा संबद्ध गतिविधि के दौरान महिलाओं पर उनका नियंत्रण उन्हें एक ताकत का अनुभव प्रदान करता है। कैथरीन मैककिन्नन के अनुसार, वेश्यावृत्ति केवल सेक्स नहीं है, यह जैसा मैं कहता हूं करो, सेक्स है। सेक्स 'संस्कृति का एक सामाजिक उत्पाद है, लिंग वर्गीकरण का एक राजनीतिक उत्पाद है और ये पुरुष शक्ति की स्थितियां हैं।'

मूलधारावादी विचारधारा के खिलाफ परिवर्तनवादी नारीवादियों द्वारा दृढ़ता से एक मजबूत आपत्ति की गई है जिसका उपयोग वेश्यावृत्ति के अस्तित्व के लिए एक औचित्य के रूप में पुराने समय से अब तक किया गया है (और वे मानते हैं कि इसे कई संस्कृतियों में न्यायसंगत बनाया जाता है), जो वेश्यावृत्ति को आवश्यक बुराई मानते हैं, इस तथ्य के कारण कि पुरुष खुद को नियंत्रित करने में असमर्थ हैं, और यह पुरुषों के उपयोग और दुरुपयोग के लिए छोटी संख्या में महिलाओं को बलिदान करने के लिए आवश्यक बनाता है, जिससे कि शुद्ध महिलाओं की उत्पीड़न और बलात्कार रक्षा करना संभव हो। इन नारीवादियों के अनुसार, वेश्यावृत्ति गुलामी का एक रूप है, और बलात्कार दर को जरा भी कम करने के बजाय वेश्यावृत्ति महिलाओं के खिलाफ यौन हिंसा में तेजी से वृद्धि करती है, यह संदेश भेजकर कि एक आदमी को एक महिला को यौन साधन के रूप में देखना स्वीकार्य है जिस पर उसका पूर्ण नियंत्रण है। मेलिसा फारेली ने कहा कि नेवादा की बलात्कार की दर अमेरिका की औसत से अधिक है और कैलिफोर्निया, न्यूयॉर्क और न्यू जर्सी में बलात्कार की दर से कहीं अधिक है। ऐसा क्यों है? कानूनी वेश्यावृत्ति इस राज्य में एक माहौल पैदा करती है जिसमें महिलाएं उनके समान मानव नहीं हैं, पुरुषों द्वारा अपमानित हैं, और फिर महिलाओं के खिलाफ बढ़ती हिंसा का स्तर निर्धारित करता है।

दुनिया भर में, वेश्यावृत्ति के उद्देश्य से जनजातीय महिलाओं को लक्षित किया जाता है। 1970 के दशक के शुरुआती दिनों में व्यापक रूप से बढ़ रही सेक्स इंडस्ट्री का उदय हुआ और जल्द ही प्रमाण सामने आया कि विकासशील देशों से महिलाएं अमीर पश्चिमी देशों में पुरुष ग्राहकों के लिए यौन सेवाएं प्रदान करने के लिए लाई जा रही थीं। तब से– आंशिक रूप से बेहतर परिवहन और संचार नेटवर्क के कारण– प्रवास और तस्करी दुनिया भर में बढ़ी है। आम तौर पर, यह उन जनजातीय महिलाओं

की संख्या है जो अपनी कुल आबादी के मुकाबले वेश्यावृत्ति में अधिक हैं। इसका कारण उपनिवेशवाद की संयुक्त ताकतों, पूर्वजों का भौतिक विस्थापन, स्थानीय सामाजिक और सांस्कृतिक क्रम का विनाश, भ्रम, वैश्वीकरण, नवउदारवाद, जातिगत भेदभाव और उनके खिलाफ हिंसा के अत्यधिक उच्च स्तर है।

टिप्पणी

### कामोद्दीपक चित्र

परिवर्तनवादी नारीवादियों, विशेष रूप से कैथरीन मैककिन्नन, दृढ़ विश्वास करते हैं कि कामोद्दीपक चित्र (पोर्नोग्राफी ) का निर्माण उन महिलाओं के मनोवैज्ञानिक, शारीरिक और/या आर्थिक जबरदस्ती की ओर जाता है जो उसमें भूमिका निभाते हैं। यह तथ्य उन मामलों में भी सच है, जहां यह दिखाया जाता है कि महिलाएं इसका आनंद ले रही हैं। इसके अलावा परिवर्तनवादी नारीवादियों ने तर्क दिया है कि पोर्नोग्राफी में जो कुछ दिखाया गया है, वह अपने स्वभाव से ही अपमानजनक है। गेल डिनों विश्वास यह है कि पोर्नोग्राफी, विशेष रूप से गोंजो पोर्नोग्राफी, अधिक से अधिक हिंसक हो रही है और अश्लील साहित्य में प्रदर्शन करने वाली महिलाओं को इसके निर्माण के दौरान क्रूरता का सामना करना पड़ता है।

परिवर्तनवादी नारीवादियों अश्लील साहित्य (कामोद्दीपक चित्र, पोर्नोग्राफी ) के लिंडा बोरेमैन और ट्रैसी लॉर्ड्स जैसे प्रसिद्ध प्रतिभागियों द्वारा दी गई गवाही पर गौर करते हैं, और इस तर्क को देते हैं कि ज्यादातर महिला कलाकारों को अश्लील साहित्य में संभवतः किसी अन्य व्यक्ति द्वारा या प्रतिकूल परिस्थितियों में मजबूर किया जाता है। नारीवादी पोर्नोग्राफी आंदोलन ने ऑर्डेल के प्रकाशन के साथ प्रेरित किया जिसमें लिंडा बोरेमैन ने कहा था कि उनके पति चक ट्रेयनर द्वारा दलाली, बलात्कार और मार का शिकार थी। उसने यह भी कहा कि उसके पति ने उसे बंदूक की नोक पर अश्लील चित्रों की फिल्म 'डीप थ्रोट' में दृश्य बनाने के लिए मजबूर किया है। उन्होंने अन्य अश्लील फिल्में बनाने के लिए भी उसे भावनात्मक दुरुपयोग और शारीरिक हिंसा और हिंसात्मक धमकी के साथ मजबूर किया। बोरेमैन के समर्थन में, डॉर्किन, मैककिन्नोन, और अन्य महिलाओं ने पोर्नोग्राफी के खिलाफ सार्वजनिक नोटिस जारी किए और उन्होंने सार्वजनिक भाषणों में भी उनके साथ काम किया।

क्रांतिकारी नारीवादियों की राय में अश्लील साहित्य यौनवाद को आगे बढ़ाता है, और यह तर्क दिया है कि अश्लील कार्यक्रमों में अभिनेत्री सिर्फ आधार वस्तुएं हैं पुरुषों द्वारा उपयोग और यौन शोषण के लिए। उनके द्वारा प्रस्तुत बहस यह है कि इस तरह की प्रस्तुतियों की कथा आम तौर पर पुरुषों की खुशी के आसपास घूमती है जो यौन गतिविधियों का एकमात्र लक्ष्य माना जाता है, तथा महिलाओं की भूमिका अधीनता की है। विरोधियों द्वारा यह भी माना जाता है कि अश्लील फिल्मों में महिलाओं को अत्यधिक निष्क्रिय माना गया है या जो महिलाओं पर किए गए कृत्य आमतौर पर अपमानजनक है और केवल उनके यौन साथी की खुशी के लिए है।

क्रांतिकारी नारीवादियों का एक विश्वास यह है कि अश्लील साहित्य की खपत बलात्कार और साथ ही महिलाओं के विरुद्ध विभिन्न प्रकार की हिंसा का एक कारण बनती है। रॉबिन मॉर्गन का इस संबंध में उपयुक्त बयान हैः 'पोर्नोग्राफी सिद्धांत है, और बलात्कार अभ्यास है।' परिवर्तनवादी नारीवादी सिद्धांत का अनुमान है कि महिलाओं में यौनिक तृष्णा का अभाव है और पुरुषों में अत्यधिक यौनिक तृष्णा है। बलात्कार की

टिप्पणी

इच्छा और सुख, महिला लैंगिकता के संबंध में पुरुष लिंग की कल्पना और विकृति का विस्तार है।

पोर्नोग्राफी पर क्रांतिकारी नारीवादियों द्वारा आरोप है कि यह बलात्कार, यौन–उत्पीड़न, निरादर, निर्दयता और कामुकता को बढ़ावा देता है। मैककिन्नन की पुस्तक ओनली वर्ड तर्क देती है कि अश्लील साहित्य 'एक संभोग के मौखिक निषेध व्यक्त करने के अधिकार से महिलाओं को वंचित करता है।'

मैककिन्नन के अनुसार, अश्लील साहित्य बलात्कार के मिथकों को बढ़ावा देने के साथ महिलाओं के खिलाफ यौन हिंसा में वृद्धि का कारण है। कुछ बलात्कार मिथक यह है कि वास्तविकता में महिलाओं को बलात्कार पसंद है और जब वे नहीं कहते हैं, उनका मतलब हां है। मैककिन्नन का तर्क है कि अश्लील साहित्य ने दर्शकों को महिलाओं की ओर हिंसा के प्रति असंवेदनशील बनाया है और यौन उत्तेजना प्राप्त करने के लिए अधिक से अधिक हिंसा को देखने की जरूरत उत्पन्न होती है और यह एक प्रभाव है जो उसके अनुसार अच्छी तरह से प्रलेखित है।

एक जर्मन क्रांतिकारी नारीवादी ऐलिस श्वार्जर, इस दृष्टिकोण से असहमत हैं कि अश्लील साहित्य महिलाओं और पुरुषों के शरीर के तथा यौन व्यवहार के बारे में विकृत दृष्टि प्रदान करता है, आमतौर पर कलाकारों को कृत्रिम प्रत्यारोपण या अतिरंजित अभिव्यक्तियों के साथ दर्शकों को दिखाया जाता है जो कि आदर्श नहीं हैं, जैसे कि पानी के खेल सामान्य रूप से आदर्श और लोकप्रिय गतिविधि के रूप में दिखाए जाते हैं।

## परिवर्तनवादी समलैंगिक नारीवाद

राजनयिक समलैंगिकों और अन्य परिवर्तनवादी नारीवादियों के बीच अंतर उनकी वैचारिक जड़ों में है जो राजनीतिक समलैंगिकता से उत्पन्न हैं। परिवर्तनवादी समलैंगिकों के अनुसार, समलैंगिकता विषमलैंगिकता की राजनीतिक संस्था के खिलाफ प्रतिरोध का एक कार्य है, जो उनके अनुसार महिलाओं के खिलाफ दमनकारी और हिंसक है। परिवर्तनवादी समलैंगिकों के अनुसार, समलैंगिक पहचान एक महिला पहचान वाली पहचान थी। यह विचार असफल रहा क्योंकि इसके ऊपर, पुरुष–नफरतवादी नारीवादी की छवि पैदा हुई, एक व्यवहार्य नारीवादी पहचान जो आज भी नारीवादियों के लिए एक स्टीरियोटाइप के रूप में मौजूद है।

## ट्रांसजेंडर लोगों से संबंधित विचार

1970 के दशक से ट्रांसजेंडर पहचान द्वारा समाज में निभाई गई भूमिका से संबंधित परिवर्तनवादी नारीवादियों के बीच एक बहस चल रही है। परिवर्तनवादी नारीवादियों, जैसे जॉन स्टॉलबेनबर्ग, कैथेरीन मैककिन्नन और एंड्रिया डार्किन, और यहां तक कि समूह जैसे कि रैडिकल वुमन ट्रांसजेन्डर के अधिकारों के लिए और ट्रांस– इनक्वॉलिटी के समर्थन में खड़े हुए। रॉबर्ट जेनसेन, जूली बिंडल, शीला जेफ्रेइस, जर्मिन ग्रीर और जेनिस रेमंड जैसे कई अन्य क्रांतिकारी नारीवादियों ने आगे बढ़कर आरोप लगाया था कि ट्रांसजेन्डर आंदोलन ने पितृसत्तात्मक लिंग के नियमों को लागू किया था और यह परिवर्तनवादी नारीवादी विचारधारा से असंगत है।

1978 में टोरंटो के लेस्बियन ऑर्गेनाइजेशन ने अपना मत रखा और लिखा–

एक महिला की आवाज लगभग कभी भी एक महिला की आवाज के रूप में नहीं है– यह हमेशा पुरुषों की आवाज के माध्यम से छन के आ रही है। तो यहां एक व्यक्ति कहता है, मैं अब एक लड़की बनने जा रहा हूं और लड़कियों के लिए बात करूंगा। और हमने सोचा, नहीं आप ऐसा नहीं कर रहे हैं। एक व्यक्ति सिर्फ व्यवस्थापत्र द्वारा उत्पीड़ित के साथ में खड़ा नहीं हो सकता है।

टिप्पणी

जेनिस रेमंड, जो अमेरिकी समलैंगिक परिवर्तनवादी नारीवादी कार्यकर्ता हैं, ने 1979 में एक पुस्तक प्रकाशित की जिसका नाम था 'द ट्रांसेक्सुअल एम्पायर : द मेकिंग ऑफ द शी मेल'। इस पुस्तक में लिंग परिवर्तित द्वारा निभाई गई भूमिका पर एक दृष्टिपात किया गया है– विशेषकर शल्य चिकित्सा और मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से– परंपरागत लिंग रूढ़िताओं को मजबूत करने में, जिस तरीके से मनो–चिकित्सा मनोग्रंथि ने लिंग पहचान को मजबूत किया है और सामाजिक और राजनीतिक संदर्भ जो सामान्य और चिकित्सीय चिकित्सा के रूप में अवांछित अस्थायी उपचार और शल्य चिकित्सा में मदद करता है। पुस्तक में, जेनीस रेमंड ने कहा है कि ट्रांससेक्स्यलिटी का पुरुष–मातृत्व के पितृसत्तात्मक मिथकों में आधार है और पुरुष की छवि के अनुसार महिला का निर्माण करना है। रेमंड ने यह राय व्यक्त की थी कि यह नारीवादी पहचान, संस्कृति, राजनीति और कामुकता को उपनिवेश करने के लिए किया गया था तथा सभी ट्रांसस्कूल महिलाओं के शरीर पर बलात्कार करते हैं, असली महिला प्रपत्र को एक कलाकृतियों के रूप में कर देते हैं, इस शरीर का खुद के लिए उपयोग करने के लिए केवल महिलाओं पर हमला करने का सबसे स्पष्ट साधन करते हैं ताकि वे गैर इनवेसिव प्रकट हो।

1999 में जर्मेन ग्रीर ने द होल वुमन नामक एक पुस्तक लिखी जो कि 'द फिमेल इनुच' की एक कड़ी थी। पैंटोममी डेम्स में ग्रीर ने लिंग परिवर्तन को महिलाओं के रूप में स्वीकार करने का अपना विरोध जारी किया–

जिन सरकारों में केवल कुछ ही महिलाएं हैं, उन सरकारों ने जल्दबाजी कर दी है– पुरुषों को महिला के रूप में पहचानने में, जो मानते हैं कि वे महिलाएं हैं और यह साबित करने के लिए खुद को लिंग परिवर्तन कर चुके हैं, क्योंकि वे महिलाओं को दूसरे लिंग के रूप में नहीं बल्कि किसी भी लिंग के रूप में नहीं देखते हैं। किसी भी तथाकथित लिंग–परिवर्तन ने कभी भी गर्भाशय–और–अंडाशय प्रत्यारोपण के लिए मांग नहीं की। जो लोग महिला बनने के इच्छुक हैं, उनके लिए अगर गर्भाशय–और–अंडाशय प्रत्यारोपण को अनिवार्य बना दिया जाता है तो वे रातोंरात गायब हो जाएंगे।

शीला जेफ्रेइस के अनुसार लिंग अपरिवर्तनीय नहीं हो सकता। जेफ्रेइस का कहना है कि, 'अधिकांश लिंग परिवर्तित पुरुष अब भी महिलाओं की परंपरागत रूढ़िवादी की सदस्यता में विश्वास करते हैं और चिकित्सा और सामाजिक संक्रमण के साथ–साथ जैसे महिलाओं को होना चाहिए ऐसी अपरिवर्तनवादी कपोल कल्पित का निर्माण कर रहे हैं। वे स्त्रीत्व का एक सार खोज रहे हैं जो बहुत अपमानजनक और प्रतिबंधात्मक है। सह लेखिकाएं जेफ्रेइस तथा लॉरेन गोट्सचॉक, 'जेंडर हुर्ट्स ए फेमिनिस्ट एनालिसिस ऑफ पॉलिटिक्स ऑफ ट्रांस्जेंडरीस' में हर समय ट्रांस महिलाओं का उल्लेख करने के लिए पुरुष सर्वनाम का उपयोग करती हैं और यह तर्क देती है

कि 'स्त्री सर्वनामों के पुरुषों द्वारा उपयोग उन पर दिया मर्दाना विशेषाधिकार छुपाता है जो कि पुरुष सेक्स जाति में रखा गया है।

टिप्पणी

रॉबर्ट जेन्सेन पारगमनवादी विचारधारा से संबंधित पारिस्थितिक और नारीवादी चिंताओं को आगे बढ़ाते हैं, और इस विचारधारा को पितृसत्ता के नारीवादी आलोचना के एक बड़े सांस्कृतिक भय में जोड़ते हैं।

कभी–कभी परिवर्तनवादी नारीवादी ट्रांसमहिलाओं को नारीवादी कार्यक्रमों से बाहर रखने के लिए विशिष्ट प्रयत्न करते थे, और यह विवाद का एक बड़ा कारण बना। लिसा वोगेल, एक मिकफेस्ट कार्यक्रम आयोजक ने कहा कि ट्रांस–महिलाओं को महिला मानना संभव नहीं है क्योंकि वे जन्म से जैविक रूप से महिला नहीं हैं। इस तरह के क्रांतिकारी नारीवादियों के मुताबिक ट्रांस महिलाओं को पुरुष होने सम्बन्धी विशेषाधिकार का आनंद मिला है, वह जन्म से ही पुरुष हैं और उनकी स्वीकृति पर जोर एक पुरुष पात्रता है। महिला मस्तिष्क की धारणा को परिवर्तनवादी नारीवादियों द्वारा स्वीकार नहीं किया जाता है। उनके अनुसार, महिलाओं और पुरुषों के बीच व्यवहार मतभेद अलग समाजीकरण से उत्पन्न होते हैं। इस दृष्टिकोण के अनुसार, लिंग की उतनी ज्यादा पहचान नहीं जितनी जाति की पहचान है और दूसरी तरफ ट्रांस जेंडर लिंगांतर उन्मूलन के लिए एक बाधा है। व्यापक नारीवादी आंदोलनों ने इन विचारों को नहीं रखा है और कई ट्रांस महिलाओं ने वास्तव में उन विचारों को ट्रांस्फोबिक मान कर अस्वीकार कर दिया है।

टीईआरएफ–(ट्रांस–एक्सक्लरिअरी कट्टरवादी नारीवादी) वह होते हैं जो ऐसी विचारधाराओं को मानते हैं जो क्रांतिकारी नारीवादियों जो ऐसी विचारधाराओं को मानते हैं उन्हें एक नफरत समूह के सदस्य माना गया है, जो कथित तौर पर नारीवाद का मुखौटे पहने हैं। टीईआरएफ का विचार यह है कि सेक्स पूरी तरह से द्विगुण है, और महिलाओं का दमन पूरी तरह से उस द्विआधारी अंतर पर आधारित है। यह लिंग पितृसत्ता के द्वारा बनाई गई एक दुर्भावनापूर्ण कथा है जो कि पूरी तरह से और केवल महिलाओं को एक वर्ग के रूप में उत्पीड़ित करने के लिए है। इस शब्द के उपयोग से जिन लोगों को संदर्भित किया जाता है वे इसे एक कलंक के रूप में देखते हैं। जब इस शब्द का उपयोग किया जाता है, तो यह अपराध बोध संघ द्वारा नारीवादियों को चुप करता है।

## आलोचना

शुरुआती दिनों में, कुछ क्रांतिकारी नारीवादियों की आलोचना की गई, जो लैंगिक भेदभाव पर अधिक जोर देते थे अपितु वर्ग और जाति–आधारित भेदभाव पर क्योंकि वे राजनीतिक चैनलों के माध्यम से पुरुषों के साथ काम करने के लिए अनिच्छुक थे तथा लैंगिक अनिवार्यता को मजबूत करना चाहते थे। उनका यह विचार था कि स्वाभाविक रूप से महिलाएं और पुरुष भिन्न हैं।

कुछ शुरुआती परिवर्तनवादी नारीवादियों के अनुसार– अन्य प्रकार के पदानुक्रम पुरुष वर्चस्व पर आधारित किए गए– इसलिए, पुरुष वर्चस्व के खिलाफ संघर्ष में राजनीति के अन्य रूपों पर राजनीतिक प्राथमिकता है क्योंकि महिलाओं की मुक्ति का मतलब सभी की मुक्ति है। यह विचार विलिस द्वारा स्वीकार नहीं किया गया क्योंकि

इसमें यह धारणा है कि पुरुष श्रेष्ठतावादी उद्देश्यों के अनुसार पुरुषों ने पद्धतियों को बनाने में और बनाए रखने के लिए विशुद्ध रूप से पुरुषों के रूप में अभिनय कर रहे हैं।

टिप्पणी

हालांकि विलिस शुरुआती परिवर्तनवादी नारीवादी थे और हमेशा यह मानते थे कि शुरुआती परिवर्तनवादी नारीवाद ने नारीवाद को राजनीतिक एजेंडे पर लाने के लिए महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी, बाद में विलिस ने एक संपूर्ण परिवर्तनवादी राजनीति के साथ एक नारीवादी दृष्टिकोण को एकीकृत करने की आलोचना की, हालांकि उन्होंने माना कि इस अवधि के ऐतिहासिक संदर्भ में यह होना अपरिहार्य है। इस सीमा का उदय कुछ हद तक चेतना बढ़ाने के कारण था, जो कि इस समय और उसके सबसे सफल आयोजन उपकरण में महिलाओं की स्थिति को समझने की प्राथमिक विधि के रूप में व्यक्तिगत अनुभव पर जोर दिया रहा था जो पूर्व राजनीतिक और दार्शनिक मान्यताओं को छिपा रहा था। हालांकि 1960 के दशक के आखिर में और 1970 के दशक के शुरुआती दिनों में सीआर समूहों में सफेद 'क्रांतिकारी' नारीवादियों के शायद अच्छे दिन थे, मगर अश्वेत विरोधी–नस्लों के नजरिए से, 1970 के दशक की शुरुआत में नारीवाद के बुरे दिन थे।

## युवा असंतोष तथा आक्रोश

वर्तमान में देश के लाखों युवकों में अशांति तथा आक्रोश पाया जाता है। वे आज अनेक प्रकार के तनावों से ग्रस्त हैं। युवकों में पाए जाने वाला तनाव एवं असंतोष अनेक रूपों में प्रकट होता है। कई युवक तोड़फोड़, प्रदर्शनों, आगजनी, मारपीट, हड़तालें, घेराव एवं हिंसात्मक दंगों में भाग लेते हैं। कभी–कभी महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों में हिंसा उग्र हो जाती है तो कभी किसी कारखाने में। कभी शिक्षा प्रणाली के नाम पर तो कभी आरक्षण के नाम पर आंदोलन चलते हैं। कभी छात्र आक्रोश प्रशासन या व्यवस्था के विरुद्ध भड़क उठता है तो कभी महंगाई भ्रष्टाचार के विरुद्ध आंदोलन के रूप में। युवा असंतोष अधिकतर विद्यार्थी अनुशासनहीनता के रूप में प्रकट होता है।

वर्तमान में संसार के अनेक देशों में युवा तनाव या छात्र असंतोष देखने को मिलता है। युवकों ने राष्ट्र निर्माण में महत्वपूर्ण रचनात्मक भूमिका निभाई है। असंतुष्ट युवकों ने समय–समय पर सरकार की नीतियों का विरोध किया है और राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन लाने में महत्वपूर्ण योग दिया है। आज का युवा अनेक प्रकार की निराशाओं, अशांति, असंतोष और दिशाहीनता से ग्रसित है। युवा वर्ग अपनी निराशा और असंतोष को हिंसात्मक अथवा अहिंसात्मक प्रदर्शनों के द्वारा व्यक्त करता है। युवा वर्ग द्वारा सार्वजनिक रूप से व्यक्त किए जाने वाले असंतोष को ही युवा असंतोष के नाम से जाना जाता है। प्रदर्शन, हड़ताल, उपद्रव तथा आंदोलन समस्त युवा असंतोष की अभिव्यक्तियां हैं। इस रूप में युवा अशांति एक सामुदायिक समस्या है।

युवा असंतोष का तात्पर्य है– युवा वर्ग का मौजूदा व्यवस्था से असंतुष्ट होना। 1960 में बनाई गई विश्वविद्यालय स्तरीय कमेटी ने विद्यार्थी अनुशासनहीनता को परिभाषित करते हुए कहा है–'जनसमूह का नैतिक पतन एवं सत्ता का सामूहिक उल्लंघन तथा वास्तविक या काल्पनिक शिकायतों को दूर कराने के लिए ऐसे तरीकों का उपयोग जो विद्यार्थियों के लिए उचित नहीं है।'

अस्थाना तथा सूया के अनुसार, 'किसी संगठन में अनुशासन आदि नियमों, विधि–विधानों तथा परम्पराओं के प्रति आदर तथा उसके पालन में निहित है। उनके उल्लंघन को ही अनुशासनहीनता कहा जाता है।

टिप्पणी

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि युवा असंतोष वह स्थिति है जिसमें युवा वर्ग समाज के आदर्श नियमों की परवाह न करते हुए आंदोलनात्मक प्रवृत्ति अपना लेता है और समस्त कार्य करने लगता है जिसकी उससे अपेक्षा नहीं की जाती। शिक्षा क्षेत्र में इसे ही छात्र अनुशासनहीनता या छात्र–असंतोष के नाम से जाना जाता है।

## युवा असंतोष की प्रकृति

युवा असंतोष की प्रकृति को निम्न बिंदुओं के तहत समझा जा सकता है–

- आज का युवा अपने चारों ओर की परिस्थितियों तथा अपने अधिकारों के प्रति सजग है। वह जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में व्याप्त भ्रष्टाचार, जातिवाद तथा भाई–भतीजावाद को देखता है। वह स्वयं को आर्थिक दृष्टि से असुरक्षित तथा अपने भविष्य को अंधकारमय पाता है, जिससे वह आक्रोशित, दिशाहीन तथा असंतोषमय हो जाता है। योग्य नेतृत्व का अभाव भी युवा दिशाहीनता हेतु उत्तरदायी है।
- भारत में युवा असंतोष युवकों में व्याप्त असंतोष, निराशा, तनाव, शिक्षण संस्थाओं में पाई जाने वाली कमियां सार्वजनिक जीवन में भ्रष्टाचार एवं राजनीतिक दलों एवं नेताओं की स्वार्थपरता का परिणाम है।
- आज का युवक समाज के आदर्श नियमों को आत्मसात नहीं कर सका है। वह अपने उद्देश्यों की पूर्ति को अधिक महत्व देता है, चाहे उसे व्यवहार के अमान्य तरीके ही क्यों न अपनाने पड़े।
- युवा असंतोष एक ऐसी स्थिति को व्यक्त करता है जिसमें परिवार, पड़ोस और शिक्षण संस्था का नियंत्रणकारी प्रभाव समाप्त होता हुआ प्रतीत होता है। ये सभी आज युवकों के व्यवहारों को नियंत्रित करने में असमर्थ रहे हैं।
- आज का युवा वर्ग अपने प्रत्येक प्रकार के व्यवहार को भ्रान्त तर्कों के आधार पर उचित बताता है।
- युवा असंतोष की अभिव्यक्ति हिंसात्मक अधिक और अहिंसात्मक कम होती है।

## युवा असंतोष का क्षेत्र

युवा असंतोष का क्षेत्र काफी व्यापक है। यह अनेक रूपों में अभिव्यक्त होता है। इसके प्रमुख चार क्षेत्र हैं–

- शिक्षा का क्षेत्र
- आर्थिक क्षेत्र
- राजनीतिक क्षेत्र
- सार्वजनिक क्षेत्र

## युवा असंतोष के कारक

टिप्पणी

युवा असंतोष के प्रमुख कारकों का उल्लेख इस प्रकार है–

1. **शैक्षणिक कारक** : युवा असंतोष से शिक्षण सम्बन्धी अनेक कारक उत्तरदायी है, जो इस प्रकार हैं–
   - **शिक्षण संस्थाओं में पर्याप्त सुविधाओं का अभाव** : शिक्षण संस्थानों में पुस्तकालयों एवं प्रयोगशालाओं की अपर्याप्त सुविधा, अध्यापकों का अभाव, वांछित विषयों का न होना, छात्रावास की कमी, वहां खाने पीने व रहने की व्यवस्था की कमी, खेलकूद की सुविधाओं का अभाव, कैंटीन की उचित सुविधा का न होना आदि छात्रों में असंतोष उत्पन्न करते हैं और वे आंदोलनों का सहारा लेते हैं।
   - **परीक्षा व प्रवेश प्रणाली** : शिक्षण संस्थानों में प्रवेश सम्बन्धी नीतियां, कक्षा में अध्यापन का माध्यम, परीक्षा प्रणाली में होने वाले परिवर्तन तथा उत्तीर्ण होने के नियमों में परिवर्तन आदि भी छात्र असंतोष के लिए उत्तरदायी हैं। परीक्षाओं का समय पर न होना या उनकी तिथियां आगे बढ़ाने, अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दी माध्यम द्वारा पढ़ाने, पूरक परीक्षा एवं उत्तीर्ण होने के नियमों को उदार बनाने, बिना परीक्षा दिए उत्तीर्ण होने एवं सामूहिक नस्ल तक के लिए भारतीय विद्यार्थियों ने आंदोलन किए हैं।
   - **छात्र एवं अध्यापकों के सम्बन्धों में दूरी** : आज छात्र एवं अध्यापक के मध्य सम्बन्ध मधुर नहीं रहे हैं। छात्रों की संख्या में वृद्धि होने के कारण यह संभव नहीं है कि अध्यापक प्रत्येक छात्र से आत्मीय एवं घनिष्ठ सम्बन्ध बना सके, छात्रों की समस्याओं को जानकर उन्हें हल करने के समाधान कर करें। किन्तु आज के भौतिकवादी युग में अध्यापक छात्रों के आदर्श नहीं रहे हैं। उनमें सामाजिक एवं मानसिक दूरी इतनी बढ़ गई है कि अनेक बार छात्रों की उचित मांगों पर तब ध्यान नहीं दिया जाता जब तक वे आंदोलन पर उतारू नहीं हो जाते हैं।
   - **दोषपूर्ण एवं अनुपयोगी शिक्षा** : शिक्षा प्रणाली में अनेक दोष होने के कारण छात्र पूर्ण रूप से भविष्य के लिए तैयार नहीं हो पाता है। अस्थाना तथा सूमा चिटनिस ने बताया कि महाविद्यालय शिक्षा का महत्व मात्र उपाधि के लिए ही है इसके अतिरिक्त भविष्य निर्माण की दृष्टि से इस शिक्षा का विद्यार्थियों के लिए कोई विशेष उपयोग नहीं होता है।
   - **शिक्षा व्यक्ति का समाजीकरण करने के उद्देश्य में भी असफल रही है** : स्वतंत्र भारत में शैक्षिक प्रणाली का प्रमुख लक्ष्य राष्ट्रीय एकीकरण, समानता, प्रजातंत्र तथा राष्ट्रीय विकास के प्रति आस्था के मूल्यों की स्थापना एवं उनके आंतरिकीकरण को रखा गया लेकिन शिक्षण संस्थाओं में आलस्य और नैराश्य का वातावरण पाया जाता है तथा वास्तविक मूल्यों के प्रति छात्रों की संवेदना विकसित करने में शिक्षण संस्थान असमर्थ रही है।
2. **आदर्श नियमों, निर्देशों, मूल्यों तथा प्रवृत्तियों में परिवर्तन** : पहले अनुशासनहीन छात्र को महाविद्यालय से निकाल दिया जाता था। कर्त्तव्यनिष्ठ

टिप्पणी

छात्र को उसके साथियों एवं अध्यापकों द्वारा आदर दिया जाता था। अध्यापकों द्वारा प्रेरणादायक अध्यापन होता था और छात्र कक्षा में उपस्थित होना लाभदायक समझते थे। प्राध्यापक पूर्ण कुशल होते थे। अधिगम प्रक्रिया आदर्श होती थी। वर्तमान में नैतिक मूल्यों का ह्रास हुआ है, प्राचीन मूल्यों में परिवर्तन हुआ है जिन्होंने असंतोष को बढ़ावा दिया है।

3. **पारिवारिक कारक** : छात्र असंतोष के लिए पारिवारिक पृष्ठभूमि एवं परिस्थितियां भी उत्तरदायी हैं। वर्तमान में संयुक्त परिवार विघटित हो रहे है। व्यक्ति पर परिवार का नियंत्रण शिथिल होता जा रहा है ओर बालकों के समाजीकरण में उसकी अहं भूमिका में कमी आ रही है। परिणामस्वरूप बच्चों में तनाव, असंतोष तथा स्वच्छन्दता पनपी है। संयुक्त परिवार की संरचना इस प्रकार की थी कि सदस्य सत्ता के प्रति आदर एवं व्यवस्था के प्रति आस्था रखते थे। परिवार का अधिनायकवादी प्रतिमान बाल्यावस्था से ही अनुशासन के प्रति निष्ठा जाग्रत करता था। बदलते परिवेश में परिवार का अधिनायकवादी रूप तथा नियंत्रण समाप्त हो गया है। युवाओं में नवीन आकांक्षाओं ने जन्म लिया है जो उन्हें कभी–कभी आक्रोशित बना देती है।

भारत में निरंतरता का साम्राज्य है। अशिक्षा के कारण बालक हीन भावना से ग्रसित रहते हैं। उच्च आर्थिक स्थिति वाले परिवारों में असहनशीलता, उग्रता तथा क्रान्तिकारी भावनाएं अधिक पायी जाती हैं। इस प्रकार शिक्षा का अभाव, आर्थिक स्थिति, अभिभावकों की बच्चों के प्रति उदासीनता, पारिवारिक नियंत्रण में शिथिलता, कुसंगति आदि से युवा अनुशासनहीन हो जाता है।

4. **पर्यावरण सम्बन्धी कारक** : वर्तमान में भारतीय समाज का आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक परिवेश परिवर्तित हो रहा है। वह संक्रमण की स्थिति में है। एक तरफ हम प्राचीन मूल्यों का परित्याग कर रहे हैं और दूसरी ओर पश्चिमी एवं आधुनिक मूल्यों को ग्रहण कर रहे हैं। इन मूल्यों एवं संस्कृतियों में विरोधाभास पाया जाता है तथा खराब होता है, जो युवकों को दोहरे रास्ते पर खड़े हो जाते हैं। यह दोहरापन युवकों में असंतोष उत्पन्न करता है। वैधानिक रूप में हमने चाहे सामाजिक दोषों का अंत कर दिया हो, किंतु अंधविश्वास, दहेज प्रथा, जाति–प्रथा, अस्पृश्यता, विधवा पुनर्विवाह को अभाव, मृत्यु भोज, बेमेल विवाह जैसी कुप्रथाएं अभी भी विद्यमान हैं। जो युवा का मन अशांत तथा बेचैन करती हैं।

5. **आर्थिक कारक** : भारत में निर्धनता एवं बेरोजगारी विस्तृत रूप से पाई जाती है पर नौकरी चाहने वाले शिक्षित व्यक्तियों और उपलब्ध रोजगार के अवसरों के अनुपात में काफी अंतर है। परिणामस्वरूप शिक्षितों में बेकारी की गंभीर समस्या पाई जाती है। जिस देश के अधिकांश लोग निर्धन हो, जहां उच्च शिक्षा प्राप्त करने पर भी भविष्य के प्रति आर्थिक सुरक्षा न हो। बढ़ती महंगाई, महंगी शिक्षा फीस वृद्धि, छात्रवृत्ति कम होना तथा उसका पक्षपातपूर्ण तरीके से वितरण आदि छात्र असंतोष के लिए जिम्मेदार है।

6. **राजनीतिक कारक** : आज का युवा देश तथा विदेश में घटित होने वाली घटनाओं से अप्रभावित नहीं रह सकता है। छात्र आंदोलन एक विश्वव्यापी घटना

टिप्पणी

है। विकसित और अविकसित, प्रजातंत्रात्मक, एकतंत्रात्मक एवं साम्यवादी समस्त देशों में किसी न किसी रूप में छात्र आंदोलन हुए हैं। कहीं सत्ता के विरुद्ध और सरकारों को बदलने के लिए आंदोलन हुए हैं तो कहीं अधिकारों की मांग के लिए विशाल प्रदर्शन। राजनीतिज्ञों ने युवकों और छात्रों की आकांक्षाओं को काफी उभार दिया, परन्तु उन्हें पूरा नहीं किया जिससे असंतोष बढ़ा है। राजनीति तथा छात्र असंतोष में गहरा सम्बन्ध पाया जाता है।

डा. योगेश अटल लिखते हैं कि आज विद्यार्थी वर्ग संदर्भ समूह शिक्षक न होकर राजनीतिज्ञ, प्रशासक तथा फिल्मी स्टार होते हैं, विद्यार्थी इन्हीं लोगों से प्रेरणा प्राप्त करता है।

चित्ता रंजन के कथानानुसार 'जब नेतृत्व के बहुत बड़े भाग में चरित्र और समर्पण का अभाव होता है, जब जन सेवा के स्थान पर शक्ति और संपत्ति प्राप्त करने का प्रयत्न सर्वोपरि हो, तब वह भी असंतोष को जन्म देता है।'

7. **पीढ़ियों का अन्तर** : युवा पीढ़ी तथा वृद्ध पीढ़ी के मध्य पाया जाने वाला अंतर युवा असंतोष हेतु काफी सीमा तक उत्तरदायी है। पुरानी व नवीन पीढ़ी के मूल्यों, विश्वासों, अभिवृत्तियों और व्यवहार प्रतिमानों में काफी अंतर पाया जाता है। युवा पीढ़ी के आदर्श काफी बदल गए हैं। नैतिक मूल्यों में गिरावट और सांस्कृतिक विघटन के कारण आज का युवक भ्रमित हो गया है। वह पुराने संस्कारों, मान्यताओं तथा व्यवहार प्रतिमानों को निरर्थक समझता है। ऐसी स्थिति में दो पीढ़ियों के मध्य मूल्यों में संघर्ष होता है और तनाव व असंतोष बढ़ता है।

डा. दामले के विचारानुसार, नवीन पीढ़ी स्वयं उठना चाहती है। अपना पृथक अस्तित्व या व्यक्तित्व बनाना चाहती है, परन्तु समाज की विविध परिस्थितियां उसे ऐसा करने के मार्ग में बाधक होती हैं। अनेक शिक्षाशास्त्रियों ने युवा तनाव एवं विद्यार्थी असंतोष को पुरानी व नवीन पीढ़ी के मध्य वैचारिक मतभेद की समस्या माना है।

अतः उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि युवा असंतोष केवल शैक्षणिक व्यवस्था से सम्बन्धित समस्या नहीं है, अपितु यह एक सामाजिक व संरचनात्मक समस्या है जो कि शैक्षणिक, आर्थिक व राजनीतिक कारकों द्वारा उत्पन्न होती है।

## युवा असंतोष को नियंत्रित करने के उपाय

युवा असंतोष या अनुशासनहीनता को समाप्त करने हेतु निम्नलिखित उपाय या सुझाव हैं–

- शिक्षण प्रणाली में पायी जाने वाली कमियों की अति शीघ्र दूर करने की अत्यन्त आवश्यकता है।
- अध्यापक–विद्यार्थी के सम्बन्धों में निकटता व मधुरता लाने का प्रयास किया जाना चाहिए।
- योग्य व्यक्तियों को ही शिक्षा अधिकारी के रूप में पद–भार संभालने का अवसर प्रदान किया जाना चाहिए।
- छात्रों की नेतृत्व सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति मान्यता प्राप्त तरीकों से होनी चाहिए।

टिप्पणी

- शिक्षण प्रणाली में इस प्रकार परिवर्तन किए जाने चाहिए कि वह स्वतंत्र भारत के नवीन आदर्शों के अनुरूप विद्यार्थियों का समाजीकरण कर सके।
- विश्वविद्यालयों तथा महाविद्यालयों में राजनीतिक दलों के हस्तक्षेप और छात्र संघों के श्रमिक संघों के रूप में कार्य करने को रोका जाना चाहिए।
- शिक्षा व रोजगार अवसरों में समन्वय होना चाहिए जिससे युवकों को आर्थिक असुरक्षा से मुक्ति मिल सके।
- नैतिक शिक्षा पर विशेष जोर दिया जाए जिससे कि विद्यार्थियों के चरित्र निर्माण में सहायता प्राप्त हो सके।
- छात्रों और अध्यापकों के लिए आचार–संहिता होनी चाहिए ताकि दोनों का व्यवहार नियंत्रित किया जा सके और विचलन को रोका जा सके।
- शिक्षण संस्थानों में नियंत्रित प्रवेश की अनुमति होनी चाहिए।
- छात्र संघों के चुनाव में गुटबंदी पर रोक लगाई जानी चाहिए।
- परीक्षा प्रणाली में सुधार द्वारा युवा/छात्र असंतोष नियंत्रित किया जा सकता है।

छात्र असंतोष की समस्या के समाधान हेतु निम्न कमेटी ने अपने सुझाव प्रस्तुत किए थे–

- राधाकृष्णन कमीशन
- नरेन्द्र देव कमेटी
- विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग (कोठारी कमीशन 1964–66)
- मुदालियर आयोग

अतः आवश्यकता इस बात की है कि शिक्षा को सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक परिवर्तन के एक सशक्त माध्यम के रूप में प्रयुक्त किया जाना चाहिए। ऐसी शिक्षा का प्रावधान सुनिश्चित करना चाहिए जिससे विद्यार्थी एक कल्याणकारी सोच वाला सभ्य नागरिक बनकर राष्ट्र कल्याण में अपना सहभागिता सुनिश्चित कर सकें।

## अपनी प्रगति जांचिए

1. 'बाल अपराधी एक निश्चित आयु से कम का वह व्यक्ति है जिसने समाज विरोधी कार्य किया है तथा उसका दुर्व्यवहार कानून को तोड़ने वाला है।' – यह किसका कथन है?

   (क) न्यू मेयर का (ख) डॉ. सेठना का

   (ग) मेन्गोल्ड का (घ) सोरोकिन का

2. मादक पदार्थों की तस्करी और दुरुपयोग के खिलाफ अंतर्राष्ट्रीय दिवस कब मनाया गया?

   (क) 26 जनवरी, 1989 को (ख) 15 अगस्त, 1988 को

   (ग) 2 अक्टूबर, 1990 को (घ) 26 जून, 1989 को

## 5.3 समाज में हिंसा : परिचय, महिला हिंसा, बाल हिंसा एवं यौन उत्पीड़न के कारण

टिप्पणी

विश्व स्वास्थ्य संगठन की परिभाषा के अनुसार, हिंसा "स्वयं के विरुद्ध, किसी अन्य व्यक्ति या किसी समूह या समुदाय के विरुद्ध शारीरिक बल या शक्ति का साभिप्राय उपयोग है, चाहे धमकी स्वरूप या वास्तविक जिसका परिणाम चोट, मृत्यु, मनोवैज्ञानिक नुकसान दुर्बलता या कुविकास के रूप में होता है।" हालांकि संगठन यह स्वीकार करता है कि इसकी परिभाषा में "शक्ति का उपयोग" शामिल करना शब्द की पारंपरिक समझ को बढ़ाता है।

इस परिभाषा में क्रिया को ही करने की साभिप्रायता शामिल है चाहे उससे कुछ भी परिणाम उत्पन्न हो। हालांकि, आमतौर पर, जो कुछ भी हानिकारक या क्षतिकारक तरीके से उत्तेजित किया जाता है, वह हिंसा के रूप में वर्णित किया जा सकता है। भले ही वह हिंसा के मतलब से नहीं हो।

**हिंसा के प्रकार** : हिंसा को तीन व्यापक श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है–

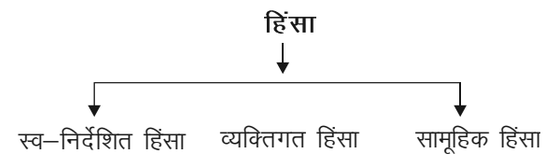


**स्वनिर्देशित हिंसा** : स्वनिर्देशित हिंसा को आत्मघाती व्यवहार और आत्म दुर्व्यवहार में विभाजित किया जाता है। पूर्व में आत्मघाती विचार, आत्महत्या का प्रयास जिसे पैरा आत्महत्या या कुछ देशों में जान–बूझकर आत्म चोट भी कहा जाता है और पूर्ण आत्महत्याएं शामिल हैं। इसके विपरीत आत्म दुर्व्यवहार में आत्म–विकृति जैसे कार्य शामिल हैं।

**व्यक्तिगत हिंसा** : व्यक्तिगत हिंसा एक निजी हिंसा है जैसा कि नाम से ही पता चल रहा है किसी कि निजी हिंसा/व्यक्तिगत हिंसा दो शब्दों से मिलकर बना है। व्यक्तिगत अर्थात् निजीत्व या कोई अपना निजी जिस पर किसी एक व्यक्ति या समूह का अधिकार हो। हिंसा अर्थात् किसी भी कम्पनी या समूह में किसी एक व्यक्ति को अन्य व्यक्तियों या समूहों का साथ न मिलने पर उस व्यक्ति द्वारा जो हिंसा की जाती है व्यक्तिगत हिंसा कहलाती है।

इसके समाज में अनेक रूप देखने को मिल सकते हैं जैसे मजदूरों द्वारा की जाने वाली हिंसा, अध्यापकों द्वारा, किसी निजी कम्पनी में कर्मचारी आदि द्वारा की जाने वाली हिंसा व्यक्तिगत हिंसा के अंतर्गत आती है। व्यक्तिगत हिंसा जब किसी अकेले व्यक्ति द्वारा की जाती है तो वह काफी बड़े स्तर तक लोगों पर प्रभाव नहीं डाल पाती और न ही उस स्थिति में काफी बड़ा बदलाव देखने को मिलता है। बड़े समूहों द्वारा या व्यक्तियों द्वारा इसका परस्पर विरोध किया जाता है। जिस कारण इस प्रकार की हिंसा का कोई विकराल रूप नहीं होता जिस कारण कोई एक व्यक्ति या कुछ व्यक्ति इन समस्याओं का सामना जीवन पर्यन्त करते रहते हैं।

टिप्पणी

**सामूहिक हिंसा :** अन्य दो व्यापक श्रेणियों के विपरीत, सामूहिक हिंसा की उपश्रेणियां व्यक्तियों के बड़े समूहों या राज्यों द्वारा की गई हिंसा के संभावित उद्देश्यों का सुझाव देती है। सामूहिक हिंसा जो एक विशेष सामाजिक एजेंडे को आगे बढ़ाने के लिए प्रतिबद्ध है, उदाहरण के लिए समूहों द्वारा किए गए घृणा के अपराध आतंकवादी कृत्य और भीड़ हिंसा शामिल है। राजनीतिक हिंसा में युद्ध और संबंधित हिंसक संघर्ष राज्य हिंसा और सशस्त्र समूहों द्वारा किए गए समान कार्य शामिल हैं। ऐसी स्थितियों में नागरिकों के खिलाफ हिंसा के कई निर्धारक हो सकते हैं। आर्थिक हिंसा इसमें आर्थिक लाभ से प्रेरित हमले शामिल हैं जैसे कि आर्थिक गतिविधि को बाधित करने, आवश्यक सेवाओं तक पहुंच से वंचित करने या आर्थिक विभाजन और विखंडन पैदा करने के उद्देश्य से किए गए हमले। स्पष्ट रूप से घरेलू और उपराष्ट्रीय समूहों द्वारा किए गए कृत्यों के कई उद्देश्य हो सकते हैं।

**हिंसा का सौन्दर्यीकरण**

- आक्रामकता
- शारीरिक दंड
- लड़ो या भागो अनुक्रिया
- शिकार

**विधायी हिंसा**

- युद्ध कलाएं
- परजीविता

## 5.3.1 महिलाओं के विरुद्ध हिंसा की प्रकृति, स्वरूप एवं विशेषताएं

संयुक्त राष्ट्र (यूएन) ने महिलाओं के खिलाफ हिंसा को परिभाषित किया है। किसी रूप में लिंग आधारित हिंसा का कोई कृत्य, शारीरिक, यौन या मानसिक नुकसान, मनमाना व्यवहार और बलात्कार आदि घटनाएं महिलाओं के खिलाफ हिंसा को दर्शाती हैं। ये घटनाएं सार्वजनिक या निजी जीवन दोनों में हो सकती हैं। इसमें पत्नी को पीटने, जल और एसिड फेंकने, परिवार के सदस्यों द्वारा बलात्कार और व्यभिचार, मादा जननांग विकृति, कन्या भ्रूण हत्या और शिशु हत्या सहित यौन शोषण, बलात्कार और इस तरह की और अपमानजनक घटनाएं भी शामिल हैं। भाषा के रूप में भावनात्मक दुरुपयोग, शारीरिक, यौन और मनोवैज्ञानिक हिंसा भी इसमें शामिल है। महिलाओं और लड़कियों का अपहरण कर उन्हें वेश्याओं और अवांछित विवाह करने के लिए मजबूर करना भी लिंग आधारित हिंसा (जी.बी.वी.) के उदाहरण हैं। जी.बी.वी. आमतौर पर न केवल एक परिवार की घटना है, बल्कि यह नीतियों और कार्यों की एक संख्या के माध्यम से सरकार द्वारा समर्थित और संरक्षित है।

महिलाओं के खिलाफ हिंसक अपराध (बलात्कार, यौन उत्पीड़न) और घरेलू हिंसा (जीवनसाथी, दुरुपयोग और दहेज हत्या), महिलाओं के स्वास्थ्य, मानसिक स्वास्थ्य, आर्थिक उत्पादकता, आत्मसम्मान, कल्याण और उनके बच्चों के पोषण को प्रभावित कर रहे हैं। उनको अक्सर कम करके आंका गया है, या नजरअंदाज कर दिया गया है। यह उनके आत्मविश्वास को ध्वस्त करता है और अक्सर अधीनता और असशक्तीकरण के लिए एक शक्तिशाली उपकरण के रूप में प्रयोग किया जाता है। वर्ष 2005–06 के

टिप्पणी

राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण (प्रथम– तृतीय) की रिपोर्ट है कि महिलाओं में से एक–तिहाई के 15 से 49 आयु वर्ग को शारीरिक हिंसा का अनुभव था और लगभग 10 प्रतिशत लगभग यौन हिंसा का शिकार हो गई थी। सर्वेक्षण में यह भी पाया गया कि केवल चार महिलाओं ने दुर्व्यवहार के बाद मदद मांगी थी और 54 फीसदी महिलाओं का मानना था कि यह उचित था कि एक पति अपनी पत्नी को दबाकर रखे। डब्ल्यूएचओ की एक रिपोर्ट स्पष्ट करती है कि 15–44 वर्ष की आयु वर्ग के बीच महिलाओं में लिंग आधारित हिंसा से होने वाली मृत्यु और अपंगता–कैंसर, मलेरिया, यातायात दुर्घटनाओं और युद्ध से होने वाली मृत्यु से अधिक हैं। भारत, बांग्लादेश, फिजी, अमरीका, पापुआ न्यू गिनी और पेरू में किए गए शोध घरेलू हिंसा और आत्महत्याओं की संख्या के बीच एक मजबूत संबंध को दर्शाता है। जिन महिलाओं को घरेलू हिंसा का शिकार बनाया गया है, वे बारह गुना अधिक आत्महत्या का प्रयास करती हैं और वे भी जिन्हें ऐसी हिंसा का अनुभव नहीं है।

### लिंग आधारित हिंसा के कारण एवं प्रकार

महिलाओं के खिलाफ हिंसा को मोटेतौर पर दो श्रेणियों में बांटा गया है। ये हैं:

- घरेलू या पारिवारिक हिंसा
- हिंसक अपराध

## 1. घरेलू या पारिवारिक हिंसा

घरेलू हिंसा भारतीय समाज के लिए एक गंभीर समस्या है। घरेलू हिंसा विशेष रूप से शादी के बाद महिलाओं के खिलाफ हिंसा को संदर्भित करती है, इसलिए यह महिलाओं के सशक्तिकरण में महत्वपूर्ण बाधाओं के रूप में मान्यता प्राप्त है। घरेलू हिंसा के कई प्रकार हैं। इनमें शारीरिक अत्याचार, यौन उत्पीड़न, भावनात्मक दुरुपयोग, धमकी, आर्थिक कठिनाइयां और हिंसा की धमकियां शामिल हैं।

महिलाओं के खिलाफ हिंसा अधिकांशतः घर के भीतर होती हैं। कई शोध को इस क्षेत्र में आयोजित किए गए है। उदाहरण के लिए, रसेल पी. दोबाश प्रो. अपराध विज्ञान और रेबेका एमर्सन दोबाश मैनचेस्टर विश्वविद्यालय में सोशल रिसर्च के प्रोफेसर हैं। इन दो प्रोफेसरों ने 1979 में महिलाओं के खिलाफ हिंसा पर एक समाजशास्त्रीय अध्ययन का आयोजन किया था जिसने घरेलू हिंसा पर दृष्टि डाली थी। घरेलू हिंसा आमतौर पर पारिवारिक हिंसा के रूप में जानी जाती है। इसमें हिंसा के बहुत से प्रकार शामिल हैं, लेकिन प्रत्येक में महिलाओं को बहुत अधिक नुकसान पहुंचाया जाता है। हाल ही के सर्वेक्षण में पाया गया है कि घरेलू हिंसा की व्यापकता (एक अंतरंग पुरुष साथी द्वारा भौतिक पिटाई या एक औरत को मारने के रूप में परिभाषित) विकासशील देशों में 60 प्रतिशत होने की संभावना है। मनोवैज्ञानिक और भावनात्मक दुरुपयोग की व्यापकता भी उच्च मानी जा रही है। जनसांख्यिकीय और स्वास्थ्य सर्वेक्षण (डीएचएस) के कई देशों के आकड़ों से स्पष्ट रूप से पता चलता है कि महिलाओं और लड़कियों में हिंसा के अनुभवों की सम्भावना तब बढ़ जाती है, जब वे किशोरावस्था या कम उम्र में विवाहित

टिप्पणी

कर दी जाती हैं। घरेलू हिंसा की शुरुआत वैवाहिक झगड़ों, घर पर पुरुष सत्ता, संपत्ति, निर्णय लेने के अधिकार, गरीबी और बेरोजगारी से होती है। भारत में महिलाओं के खिलाफ हिंसा के आंकड़े बढ़ रहे हैं। राष्ट्रीय स्तर पर, 8 प्रतिशत विवाहित महिलाएं यौन हिंसा और बलपूर्वक यौन के लिए मजबूर की जाती हैं। 31 प्रतिशत विवाहित महिलाएं शारीरिक रूप से दुर्व्यवहार, जैसे थप्पड़ और क्षिद्रण का शिकार होती हैं, जबकि 10 प्रतिशत विवाहित महिलाएं गंभीर घरेलू हिंसा जैसे आग या किसी हथियार से हमले का शिकार हो जाती हैं।

(एनएफएचएस) राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण तृतीय– (जिसमें 2005–06 में अट्ठाईस राज्यों में 1.25 लाख महिलाओं का साक्षात्कार किया) के अनुसार दिए गए आंकड़े इस प्रकार हैं–

## घरेलू हिंसा

- पति द्वारा थप्पड़ शारीरिक हिंसा का सबसे आम कार्य था। 34 प्रतिशत से अधिक महिलाओं ने कहा कि उनके पति ने उन्हें थप्पड़ मारा, जबकि 15 प्रतिशत ने कहा कि उनके पति ने उनके बाल खींचे और उनके हाथ मरोड़ दिए। लगभग 14 प्रतिशत महिलाओं ने उन पर चीजें फेंकने की बात की।
- आंकड़ों के अनुसार, 62 प्रतिशत शारीरिक या यौन हिंसा शादी के पहले दो वर्षों के भीतर अनुभव की गई है, जबकि 32 प्रतिशत पहले पांच साल में अनुभव की गई हिंसा का शिकार हुई हैं।
- भारत के नवीनतम और सबसे व्यापक सर्वेक्षण में यह भी पाया गया कि छह में से एक पत्नी के साथ भावनात्मक रूप से अपने पति द्वारा दुर्व्यवहार किया गया था, जबकि 10 में से एक या 10 प्रतिशत वैवाहिक बलात्कार जैसी यौन हिंसा का शिकार हुई हैं।
- एनएफएचएस आंकड़ों के अनुसार, घरेलू हिंसा बिहार में सबसे आम है। यहां महिलाओं के साथ दुर्व्यवहार का प्रतिशत 59 प्रतिशत है। बिहार के बाद राजस्थान (46.3 फीसदी), मध्यप्रदेश (45.8 प्रतिशत), मणिपुर (43.9 फीसदी), उत्तरप्रदेश (42.4 प्रतिशत), तमिलनाडु (41.9 फीसदी) और पश्चिम बंगाल (40. 3 फीसदी) है।
- अनुसूचित जाति और जनजाति समुदायों के महिलाओं के कथित तौर पर तीन में से एक अपने पति द्वारा पीटी जाती हैं और जीवनसाथी द्वारा दुरुपयोग की जाती हैं।
- विशेषज्ञों का कहना है कि जिस तरह से महिलाओं की हिंसा के मामले सामने आते हैं, उनमें चार में एक महिला अपने पति द्वारा दुर्व्यवहार और हिंसा की कोशिश किये जाने को लेकर सहायता चाहती है। उदाहरण के लिए केवल 23 प्रतिशत महिलाओं ने घरेलू हिंसा का सामना करने के दौरान पुलिस के हस्तक्षेप की मांग की है।

## भ्रूण हत्या एवं शिशु हत्या

टिप्पणी

लड़की जन्म से पहले ही समाज में उपेक्षित मानी जाती रही है। इसलिए उल्लेखन और लैंगिक भेदभाव परीक्षण के रूप में आधुनिक तकनीकों का विकास किया गया है। ये तकनीक भ्रूण हत्या के लिए जिम्मेदार हैं। एक अध्ययन के अनुसार, यह परिलक्षित किया गया है कि 1000 भ्रूण हत्या के बीच 995 महिला भ्रूण हत्या हैं। समृद्ध शहरों में, यौन भेदभाव परीक्षण के प्रावधानों द्वारा उच्च और मध्यम वर्ग के लोग इन परीक्षणों का अभ्यास कर रहे हैं। इस कारण से महिला भ्रूण हत्या की संख्या बढ़ गई है। राष्ट्रीय अपराध रिकार्ड ब्यूरो (एनसीआरबी) के अनुसार भारत में 1999–2000 में, कन्या भ्रूण हत्या के अपराध में 49.2 प्रतिशत की वृद्धि हुई है।

भारत में 2011 की जनगणना के आंकड़ों से पता चलता है कि 0–6 आयु वर्ग के लिंग अनुपात में 1000 लड़कों के लिए 914 लड़कियां हैं। यह स्पष्ट करता है कि प्रत्येक 1000 लड़कों के लिए, लगभग 60–70 लड़कियों की जन्म के छह वर्ष के अंदर या उससे पहले ही मृत्यु हो गई। 1947 में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से यह सबसे कम लिंग अनुपात दर्ज किया गया हैं। ऐतिहासिक काल से बच्चे उनके माता–पिता की जिम्मेदारी के रूप में माने जाते हैं, इसलिए लड़की को बाल–विवाह के बाद उसके पति के घर जाना होता था, क्योंकि लड़की के माता–पिता उसकी परवरिश में अपने संसाधनों को खर्च नहीं करना चाहते थे। लड़की के लिए दहेज मांग और विशाल शादी के खर्च के कारण माता–पिता को अत्यधिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था, इसलिए परिवार में नर बच्चा अधिक पसंद किया जाता था, क्योंकि वह बड़ा होकर बड़ा दहेज लाने में सक्षम हो जाएगा। इन्हीं सब कारणों से बालिका की हत्या उसके पैदा होने पर कर दी जाती थी। कन्या भ्रूण हत्या अभी भी आमतौर पर चल रही है। आंकड़े बताते हैं कि अभी भी उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, पंजाब आदि राज्यों में एक नर बच्चे को अधिक वरीयता दी जाती है। इन राज्यों में पुरुष–स्त्री अनुपात बहुत अधिक है।

भारत में कन्या भ्रूण हत्या की प्रथा कुछ जातियों और जनजातियों के बीच आम थी। यह विशेष रूप से उत्तर और उत्तर–पश्चिमी राज्यों में बहुत अधिक है। भ्रूण हत्या का रिवाज कुछ समुदायों में इसलिए है, क्योंकि अपनी–अपनी बेटियों के लिए उपयुक्त पति ढूंढ़ पाना मुश्किल होता है और अविवाहित बेटी परिवार के लिए एक अपमान मानी जाती थी। बेटी की शादी के अवसर पर असाधारण दहेज मांग के द्वारा भी माता–पिता को परेशान किया जाता था।

कन्या भ्रूण हत्या को रोकने के लिए जल्द से जल्द कोशिशें की गई थीं। 1795 में, भ्रूण हत्या को बंगाल रेगुलेशन XXI द्वारा हत्या घोषित किया गया था। कन्या भ्रूण हत्या की बुराई प्रचार और ब्रिटिश सरकार की ओर से सशक्त कार्यवाही द्वारा समाप्त हो गई थी। केशवचन्द्र सेन के प्रयासों के माध्यम से, 1872 में मूल निवासी विवाह अधिनियम पारित किया गया था, जिसमें बाल–विवाह को समाप्त कर दिया गया, बहुविवाह को एक अपराध माना गया और विधवा पुनर्विवाह और अंतर्जातीय विवाह को मंजूरी दे दी गई। 1901 में बड़ौदा की सरकार ने शिशु विवाह निरोधक अधिनियम पारित

टिप्पणी

कर दिया। इस अधिनियम में लड़कियों के लिए शादी की न्यूनतम आयु बारह वर्ष और लड़कों के लिए सोलह वर्ष तय की गई। 1930 में, अठारह वर्ष से कम आयु के लड़के और चौदह वर्ष से कम आयु की लड़की के विवाह को रोकने के लिए शारदा एक्ट पारित किया गया था। हालांकि, आज भी यह अधिनियम कुछ कारणों से केवल कागज पर ही बना हुआ हैं।

## 2. हिंसात्मक अपराध

बहुत प्रकार से लड़कियों को मारा जा रहा है, जो इस प्रकार है–

### उपेक्षित मानव हत्या

हम सभी जानते हैं कि भारत में छोटी लड़कियां अक्सर उपेक्षित की जाती हैं और मारने के उद्देश्य से भूखी रखी जाती हैं। यह यातना का एक बर्बर तरीका है। यह एक परिवार में तब होता है, जब परिवार अपनी बेटी पर उसके लड़की के रूप में जन्म लेने से क्रोधित होते हैं। लड़कियों की एक बड़ी संख्या गरीबी, पोषण और भूख से मर जाती है। भारत में संयुक्त राष्ट्र अंतरराष्ट्रीय बाल शिक्षा कोष (यूनिसेफ) की 2007 की रिपोर्ट के अनुसार, लड़कियों को पांच वर्ष की आयु से कम लड़कियों की मृत्युदर समान वर्ष के लड़कों से 40 फीसदी ज्यादा थी। उपेक्षा के कारण यह स्पष्ट रूप से एक मानव हत्या है।

### नरसंहारक हिंसा

2011 में हार्वर्ड स्कूल के साथ भारतीय चिकित्सा अनुसंधान परिषद द्वारा किए गए सार्वजनिक स्वास्थ्य के एक अध्ययन की रिपोर्ट में– घर पर परिवार द्वारा क्रूर शारीरिक यातनाओं के कारण भारत में पांच वर्ष से कम आयु की लड़कियों की असामान्य रूप से उच्च मृत्युदर स्थापित है और उनके परिवारों के अध्ययन से निष्कर्ष निकलता है कि हिंसा के कारण लड़कों की तुलना में 21 फीसदी लड़कियां अपने पांचवें जन्मदिन से पहले ही मर जाती हैं। छोटी लड़कियां जो एक साल या उससे भी कम आयु की हैं, समान आयु के लड़कों की तुलना में घरेलू हिंसा के कारण उनके मरने की सम्भावना 50 प्रतिशत अधिक है।

### पूर्व नियोजित हत्या

भारत में कन्या भ्रूण हत्या का इतिहास बहुत लंबा है। छोटी लड़कियों की मारने की हर क्षेत्र की अपनी समर्थित और भयावह प्रथाएं थीं। इनमें लड़कियों को दूध की बाल्टी में डुबोकर मारना, उन्हें नमक खिलाकर मारना और मिट्टी के बर्तन में जिन्दा दफना कर मार देना आदि शामिल थे। भारत के महापंजीयक द्वारा 2010 में प्रकाशित मेडिकल जर्नल "द लैंसेट" में एक असामान्य कारक उभरा है। भारत में एक महीने से पांच वर्ष की आयु तक की लड़कियों के निमोनिया और डायरिया से मरने की मृत्यु दर समान वर्ष के लड़कों की तुलना में 4–5 गुना ज्यादा है। इस अध्ययन से एक महत्वपूर्ण अवलोकन सामने आता है कि– लड़कियों के जीवित रहने की विषम दर उनके खिलाफ सामाजिक कट्टरता का प्रतिबिंब है। हालांकि, वास्तविक प्रश्न यह है कि इस विशिष्ट असमानता के कारण क्या हैं और क्यों चिकित्सा बीमारियों की दो अलग–अलग दरें हैं?

टिप्पणी

पत्रकार गीता अरवामुदान की पुस्तक "डिस्अप्पेअरिंग डॉटर्सः द ट्रेजेडी ऑफ फीमेल फोटीसाइड" में उन्होंने कन्या भ्रूण हत्या और भारत में भ्रूण हत्या के क्षेत्र में बीस से अधिक वर्षों तक अपने शोध के आधार पर इन घटनाओं को बताया है। उनके अवलोकन के अनुसार लड़कियों को समाप्त करने के प्राचीन और प्रथागत तरीके कन्या भ्रूण हत्या के लिए बहुत आसान थे।

### (i) बलात्कार

बलात्कार शर्मनाक और मानव विवेक व नैतिकता के खिलाफ सबसे अधिक चौंकाने वाला अपराध है। इस अपराध को हर समाज में महत्वपूर्ण दंड कानूनों के साथ पेश किया है। भारतीय दंड संहिता की धारा 375–376 बलात्कार के मुद्दों का नियंत्रण करती है। धारा 375 बलात्कार के वैधानिक अपराध को परिभाषित करती है। यह एक औरत के साथ बलात्कार को निम्नलिखित रूप से दर्शाता है–

- उसकी इच्छा के विरुद्ध
- उसकी सहमति के बिना
- उसकी मौत या दिल में डर डालने के द्वारा प्राप्त की गई सहमति के साथ
- जब आदमी जानता है कि वह उसका पति नहीं है तब उसके द्वारा पति की पहचान की गलत धारणा के साथ दी गई सहमति
- कुछ मादक पदार्थों के प्रभाव से उसके मन पर अवैध प्रशासन करके
- सोलह वर्ष से कम आयु में उसकी सहमति और असहमति के साथ

वर्तमान कानूनी प्रणाली के तहत बलात्कार के मुद्दों से कड़ाई से पेश आया जा रहा है किन्तु फिर भी बलात्कार की संख्या तेजी से बढ़ रही है।

### राष्ट्रीय अपराध रिकार्ड ब्यूरो (एनसीआरबी) के अनुसार "2014 में भारत में अपराध"

- इस वर्ष के दौरान 36,735 महिलाओं का बलात्कार किया गया।
- 92 महिलाओं का भारत में हर रोज बलात्कार किया गया।
- भारत में बलात्कार के मामलों की संख्या 2012 में 24,923 से बढ़कर 2013 में 33,707 हो गई है।

### (ii) अश्लीलता

आम धारणा के विपरीत, बलात्कार को यौन संतुष्टि के लिए कभी बढ़ावा नहीं दिया गया है। प्रिंट और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में महिलाओं के अपमानजनक चित्रण बड़े पैमाने पर हैं। अश्लीलता उन्नीसवीं सदी की धारणा है, जो गंदे और अश्लील रूप में सेक्स पर आधारित थी। मौजूदा स्थिति में भारतीय दंड संहिता की धारा 292, 293, 294 अश्लीलता के मामलों को नियंत्रित करती है। इन धाराओं के तहत, अश्लीलता की परिभाषा अस्पष्ट थी और इसकी व्याख्या न्यायाधीशों पर निर्भर करती थी।

टिप्पणी

अब अश्लीलता की अवधारणा को यौन–चित्रण से परिवर्तित करके हिंसा, अपराध और अपमानजनक स्थिति में यौन–क्रियाओं पर ला दिया गया है। इस प्रकार के अभद्र प्रतिनिधित्व जो विज्ञापनों, प्रकाशन, लेखन, पेंटिंग और अन्य तरीकों के माध्यम से प्रतिनिधित्व किये जाते हैं, उनके विरुद्ध विशेष अधिनियम पारित किये जाने चाहिए।

भारतीय दंड संहिता की धारा 509 भी इसी मुद्दे से संबंधित है और इसके द्वारा किसी भी महिला के शरीर को अपमानित करने के लिए सजा निर्धारित की गई है। यदि कोई व्यक्ति आक्रोश में आकर किसी महिला के शरीर को उजागर करके उसका अपमान करता है, या अपमानजनक शब्दों का प्रयोग करता है, तो उसका यह कार्य एक अपराध है।

### (iii) दहेज

दहेज, महिलाओं के खिलाफ हिंसा के रूप में एक दक्षिण एशियाई समाज में महिलाओं की असमान स्थिति के एक विस्तृत नजरिए से देखा जा रहा है। दहेज आमतौर पर वह है, जो महिला अपने साथ समान विवाह के बाद नए घर में लाती है। ये दहेज उसके माता–पिता उसे सम्पति के रूप में देते हैं, या वह महिला स्वयं इसे अर्जित करती है। दहेज की व्यापक परिभाषा महिला के परिवार द्वारा खर्च किये गए धन, जेवरात और उपहारों से जुड़ी हुई है। दहेज प्रथा का असली अभिशाप भारतीय समाजशास्त्री एम. एन. श्रीनिवास द्वारा प्रकट किया गया है। उनके द्वारा दहेज प्रथा की नई परिभाषा यह है, "जिसमें दूल्हे के परिवार के द्वारा नगद और सम्पत्ति की मांग विभिन्न रूपों में की जाती है।"

यह तर्क दिया जा सकता है कि दहेज दक्षिण एशियाई समाज का एक प्राचीन रोग तत्व है। दहेज हिंसा की समस्या को आधुनिक घटनाओं द्वारा स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है। हिन्दू शास्त्रों को फिर से लिखने के बाद भी अतीत को पूर्ववत नहीं किया जा सकता है। सामग्री और संपत्ति की खातिर पृथ्वी पर महिलाओं के प्रति क्रूरता के विरुद्ध कोई भी लेख हिन्दू ग्रंथों में नहीं लिखा गया है। अधिकांश लेखन ने कम–से–कम तीन मायनों में दहेज का उपयोग बताया गया है। पहले में आभूषण, घरेलू सामान और अन्य सम्पत्ति आती है, जो विवाह अनुष्ठान में दुल्हन द्वारा अपने नए घर ले जायी जाती है। ये नए घरेलू सामान नए जीवन की नींव के रूप में दंपति द्वारा इस्तेमाल किये जाते हैं।

दहेज का दूसरा रूप वह है, जो दुल्हन के परिवार द्वारा विवाह उत्सव में खर्च किया जाता है। इस सम्बन्ध में श्रीनिवास कहते हैं कि भारतीय विवाह विशाल और विशिष्ट खर्च के लिए जाने जाते हैं और यह माना जाता है कि यह परिवार के रखरखाव से संबंधित है। ऐसे वैवाहिक खर्च दम्पति को केवल परोक्ष रूप से लाभ देने की बजाय प्रत्यक्ष रूप से परिवार की वित्तीय स्थिति को दर्शाने के लिए किए जाते हैं।

दहेज का तीसरा रूप अधिकतर पति या उसके परिवार द्वारा शादी या शादी के बाद के चरण में मांगा जाता है। दहेज के यह तीनों रूप एक शर्त द्वारा लेखकों और सामाजिक वास्तविकता में मिश्रित हो गए हैं।

एनसीआरबी के अनुसार "भारत में अपराध 2014"

- 8,455 महिलाओं को दहेज के कारण हत्या कर दी गई
- 22 महिलाओं की हरदिन हत्या कर दी गई
- 1 महिला की हर 66 घंटे पर दहेज लेकर हत्या कर दी गई

टिप्पणी

दहेज प्रतिषेध अधिनियम 1961 के तहत, दहेज मांग एक अपराध है। भारतीय दंड संहिता (आईपीसी) की धारा 498 विशेष रूप से उस स्थिति के लिए बनाई गई है, जब पति जानबूझकर शारीरिक हिंसा करे या महिला को ससुराल की प्रकृति के कारण आत्महत्या करनी पड़े, उसे शारीरिक चोट या प्रताड़ना दी जाए, उसके पति द्वारा शोषण किया जाए या कोई रिश्तेदार गैर–कानूनी संपत्ति की मांग करे।

## महिलाओं और बच्चों की तस्करी

महिलाओं और बच्चों की तस्करी मानव अधिकारों का सबसे घृणित उल्लंघन है। यह उनकी गरिमा और जीवन के अधिकार सहित स्वतंत्रता के अधिकारों के लिए एक अश्लील अपमान है। शिक्षा और उचित रोजगार स्वास्थ्य के लिए सही है और सभी को इसे प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए। व्यापक अर्थों में तस्करी, वेश्यावृत्ति, बेगार सेवाओं, गुलामी और मानव अंगों का व्यापार करने और लड़कियों का शोषण करने के लिए उनकी तस्करी करने को शामिल करता है।

भारत में वर्तमान सामाजिक परिवेश का कमजोर होना असमान रूप से विवाह करने का ही परिणाम है। पितृसत्तात्मक प्राधिकरण बच्चों पर आमतौर पर बालिकाओं पर जुल्म करता है। समाज में एक धारणा है कि महिलाओं को चयन करने की स्वतंत्रता नहीं है और एक सम्मानजनक जीवन जीने का कोई विकल्प नहीं है। तस्करी, महिलाओं और बच्चों के शोषण, उनके अपमान, सामाजिक कलंक, ऋण बंधन का एक जीवन है। इसके साथ ही यह एचआइवी/एड्स जैसी स्वास्थ्य समस्याओं को संयुक्त रूप से जन्म देता है।

हाल ही के एक सर्वेक्षण के अनुसार, महिलाएं खरीदी और बेची जाती हैं और भारत के विभिन्न भागों से अन्य देशों के लिए तस्करी की जाती हैं। वे गंभीर शोषण और दुर्व्यवहार के साथ सेक्सवर्कर के रूप में काम करती हैं। इन महिलाओं को एचआईवी और अन्य यौन संचारित रोगों के संपर्क में आने का खतरा रहता है।

संकट में, गरीब परिवार अक्सर अपनी लड़कियों को घरेलू कामगारों के रूप में काम पर भेज देते हैं और इन्हें महाजनों को बंधुआ श्रम में बेच देते हैं एवं लड़कियां वहां मानव तस्करी के दुरुपयोग से पीड़ित की जाती हैं।

गरीबी और रोजगार के अवसरों की कमी महिलाओं में यौन–क्रियाओं की स्वैच्छिक प्रविष्टि को उकसा रही हैं। तस्करी एक जटिल चुनौती के रूप में संगठित आपराधिक गतिविधि है।

टिप्पणी

## महिलाओं के स्वास्थ्य पर लिंग आधारित हिंसा का प्रभाव

जी.बी.वी के स्वास्थ्य परिणाम अल्पकालिक स्वास्थ्य प्रभाव जैसे– दर्द, सिर दर्द, चोट के निशान के रूप में शामिल हैं। अधिक लंबी अवधि के स्वास्थ्य के परिणामों में अंगक्षति, पुरानी विकलांगता, मानसिक विकार, अवसाद और प्रतिकूल गर्भावस्था के परिणाम शामिल हैं। ऐसे में आत्महत्या और हत्या के घातक रूप भी इन परिणामों में शामिल हैं। महिलाओं को लगातार अपमान, गाली, प्रसूति, उत्पीड़न, वित्तीय और भौतिक संसाधनों के अभाव कभी–कभी शारीरिक हमलों से भी ज्यादा हानिकारक साबित होते हैं।

## पति दुर्व्यवहार

पति दुर्व्यवहार पति और पत्नी के बीच शारीरिक और मानसिक शोषण के आदान–प्रदान को शामिल करता है। दोबाश स्वीकार करती हैं कि महिलाओं को आमतौर पर हिंसा के शिकार के नजरिए से देखा जाता है। एक पितृसत्तात्मक समाज में पारंपरिक रूप से पुरुष महिलाओं को अपनी संपत्ति के रूप में समझते हैं। अपनी पत्नियों को पीटने के पतियों के अधिकार का प्राचीन समय में समर्थन किया गया था और कभी इसके लिए सजा नहीं दी गई। पश्चिमी देशों की विभिन्न अदालती मामलों ने इस मामले की पुष्टि की है कि पुरुष लंबे समय तक अपनी पत्नियों पर बल प्रयोग कर सकते हैं। इसके अलावा यह कानून भी पहले से निहित है कि पति जब भी चाहे वह अपनी पत्नी के यौन–उपभोग के अधिकार का उपयोग कर सकता है। उन्नीसवीं सदी में, विवाहित महिलाओं का कोई कानूनी अस्तित्व नहीं था। पति अपनी पत्नी की सभी संपत्ति को नियंत्रित करता था और अपनी पत्नी के लिए पूर्णरूप से जिम्मेदार होता था। वर्ष 2005–06 के राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण (एन.एफ.एच.एस– तृतीय) ने बताया कि 15 और 49 वर्ष की आयु के बीच हर तीन महिलाओं में से एक शारीरिक हिंसा और दस में से एक यौन–हिंसा से पीड़ित थी। सर्वेक्षण में यह भी पता चला है कि केवल चार में से एक महिला ने उसके साथ होने वाले दुर्व्यवहार के विरुद्ध मदद मांगी थी। 54 फीसदी महिलाओं में यह वैध धारणा है कि एक पति अपनी पत्नी को पीट सकता है।

जहां तक इन देशों में न्याय प्रणाली का संबंध था, एक आदमी पर अपनी पत्नी के साथ बलात्कार करने का आरोप नहीं लगाया जा सकता है। 1980–1990 के दशक में कई पश्चिमी देशों ने शादी के भीतर बलात्कार के खिलाफ कानून की स्थापना की।

इस प्रकार, महिलाएं पारंपरिक रूप से शादी के भीतर एक कमजोर स्थिति में थीं। हालांकि, कई लोगों के लिए यह समझना मुश्किल है कि क्यों महिलाएं अपने हिंसक पतियों को छोड़ नहीं पाती हैं?

दोबाश ने अपने शोध कार्य में यह स्पष्टीकरण किया है, क्यों महिलाएं अपने हिंसक पति के साथ रहती हैं? पहली बात यह है कि कुछ महिलाएं हिंसक साथियों को छोड़ चुकी हैं और कुछ वापस आ गई हैं। यह आश्चर्य की बात नहीं होगी यदि हम

टिप्पणी

उन्हें याद करें, जो महिलाएं वापस आईं और अपने पूर्व पतियों–साथियों द्वारा उनकी हत्या कर दी गई। हिंसक पुरुष साथी का एक खतरा यह भी है कि यदि वे उन्हें छोड़ कर जाती हैं, तो वे उन्हें अत्यधिक नुकसान पहुंचाते हैं या मार देते हैं। अक्सर महिलाओं को विश्वास होता है कि चीजें बदल जाएंगी। यह रिश्ता चलाना उनकी जिम्मेदारी है, इसलिए वे ऐसा करती हैं। उनके साथी अक्सर हिंसक घटनाओं के बाद बहुत क्षमाप्रार्थी होते हैं और बदलने का वादा करते हैं।

भारत में घरेलू हिंसा सभी संस्कृतियों, धर्मों, वर्गों और जातियों में व्यापक रूप से प्रसारित है। दुर्व्यवहार सामाजिक रिवाजों द्वारा समर्थित है और वैवाहिक जीवन की दिनचर्या में इसे एक भाग के रूप में माना जाता है। आकड़े भारत में घरेलू हिंसा की एक भयावह तस्वीर प्रकट करते हैं। भारत सरकार द्वारा राष्ट्रीय अपराध ब्यूरो और गृह मंत्रालय की एक रिपोर्ट के दौरान यातना के उदाहरण और दहेज हत्या में 1991–1995 71.5 प्रतिशत की वृद्धि हुई है। राष्ट्रीय अपराध ब्यूरो ने उद्धृत किया है कि भारतीय दंड संहिता की धारा 304 बी के तहत 2012 में 8,233 और 2013 में 8,083 दहेज हत्या सूचित की गई हैं। महिलाओं के खिलाफ अत्याचार के मामलों को उजागर किया जाए, तो राष्ट्रीय महिला आयोग (एनसीडब्ल्यू) ने 2012–13, 2013–14 और 2014–15 में क्रमशः महिलाओं के अधिकारों के उल्लंघन के 16,584, 22,422 और 32,118 के मामले दर्ज किए हैं।

यह सवाल उठता है कि क्या कारण है कि महिलाएं घर में घरेलू हिंसा को बर्दाश्त करती रहती हैं? इसका जवाब समाज में उनकी स्थिति में निहित है। वे आम तौर पर आर्थिक निर्भरता की शिकार हैं। अपने बच्चों के जीवन के बारे में असुरक्षा, उनके कानूनी अधिकारों के बारे में जागरूकता की कमी इसके मुख्य कारण हैं। आत्मविश्वास के अभाव और अत्यधिक सामाजिक दबाव के कारण वे बोल नहीं पाती हैं। इन कारकों का प्रभावी ढंग से कोई विकल्प नहीं है। महिलाओं के पास इस दुराचार के जीवन को व्यतीत करने से बचने का कोई साधन नहीं है। परिवार के भीतर गोपनीय की पवित्रता भी अधिकारियों के हस्तक्षेप को कठिन बना देती है। परिणामस्वरूप महिलाएं स्वीकार नहीं करती हैं कि उनके साथ दुर्व्यवहार किया जा रहा है। यह बात समाज की उच्च और निम्न दोनों वर्गों में आम है। एक महिला जो दुर्व्यवहार के विरुद्ध शिकायत दर्ज करती है, उसे परिवार, समाज और यहां तक कि अधिकारियों द्वारा शिकायत वापस लेने या मामले को दबाने के लिए मजबूर किया जाता है। सामाजिक पूर्वाग्रह महिलाओं के प्रति घरेलू हिंसा को और प्रोत्साहित करते हैं। जीवनसाथी महिलाओं को अपने सामान के रूप में मानते हैं। वे मानते हैं कि उनकी पूरक भूमिका उनकी पत्नियों को आंदोलन और गतिविधियों से रोकने के लिए उनके साथ दुर्व्यवहार करने की अनुमति देता है।

बहुत से अध्ययनों से यह निष्कर्ष निकलता है कि जो पुरुष महिलाओं के व्यवहार में अधिक परंपरागत थे, वे अपनी पत्नियों के प्रति अधिक हिंसक हो रहे थे। यह भी तर्क दिया है कि शराब और नशीली दवाओं का दुरुपयोग कर वे पत्नी की पिटाई करते हैं। मादक द्रव्यों के सेवन और पारिवारिक हिंसा के बीच एक रिश्ता है। महिलाओं पर यौन

टिप्पणी

व शारीरिक हिंसा के विभिन्न रूपों के कच्चे आकड़ों से पता चलता है कि बिहार 54 प्रतिशत के साथ सबसे ऊपर और गुजरात 25 प्रतिशत पर है। एक राष्ट्रीय स्तर पर, 48 प्रतिशत महिलाएं हिंसा का शिकार तब होती हैं, जब उनके साथी शराब का सेवन करते हैं।

निर्भरता को वैवाहिक रिश्ते में शारीरिक हिंसा के एक कारण के रूप में प्रयोग किया जाता है। शोधकर्ताओं ने दो तरीकों से इसका स्पष्टीकरण किया है। जब एक पत्नी शारीरिक और सामाजिक दोनों तरह से अपने पति पर पूर्णतया निर्भर होती है, तब एक पति अपने वैवाहिक रिश्ते में उसकी निर्भरता का उपयोग करता है और हिंसा करता है। कुछ विद्वानों की राय है, जब एक पति अपनी पत्नी पर निर्भर है, तो वह अपनी पत्नी को अंतिम सहारा मानता है और उसे स्थायी बनाये रखने के लिए शारीरिक हिंसा का सहारा लेता है। इस प्रकार एक पति की अपनी पत्नी पर निर्भरता भी पत्नी के साथ होनेवाले दुर्व्यवहार का कारण बनती है।

पत्नी निर्भरता और उसके दुर्व्यवहार के बीच सम्बन्ध का पता लगाने के लिए निर्भरता को वस्तुपरक और व्यक्तिपरक में विभाजित किया गया है। एक पत्नी आर्थिक रूप से सक्षम नहीं होने पर अपने पति पर निर्भर रहती है, क्योंकि उसके नाम पर कोई संपत्ति नहीं होती है। उसके परिवार की ओर से भी कोई वित्तीय सहायता प्राप्त नहीं होती है। अभिविन्यास, अक्षमता और असमर्थता के साथ वह अकेले खरीददारी नहीं कर पाती है और अकेले शहर से बाहर नहीं जा सकती। जो पत्नी अपने पति पर वस्तुपरक निर्भर रहती हैं उनके साथ दुर्व्यवहार होने का खतरा अधिक होता है, क्योंकि यह महिलाओं के लिए कठिन होता है कि वे अपमानजनक स्थिति से बाहर आकर अकेले जीवन व्यतीत करे जबकि उनके पास कोई संसाधन भी नहीं होते हैं।

एक पत्नी अपने पति पर वस्तुपरक निर्भर रहे या नहीं, वह उस पर व्यक्तिपरक निर्भर अवश्य होती है। यह इसलिए है, क्योंकि उसकी सामाजिक वास्तविकता उसके वैवाहिक रिश्ते से बाहर नहीं बनाई जा सकती है। भारतीय समाज में शादी हर महिला के लिए बहुत जरूरी है, जब तक वह ब्रह्मचर्य के एक जीवन को गोद नहीं ले लेती है। अविवाहित या एक तलाकशुदा जीवन नीच माना जाता है। बहरहाल, पुरुषों के साथ ऐसा नहीं है। तलाक या अलगाव के बाद पुनर्विवाह एक आदमी के लिए औरत की तुलना में अधिक आसानी से उपलब्ध है। इस तरह की एक भेदभावपूर्ण प्रथा पत्नियों में व्यक्तिपरक निर्भरता अवतरित करती है। इसी तरह पति बलपूर्वक तरीकों का उपयोग करके अपने रिश्ते में अपना प्रभाव बनाए रखता है, क्योंकि उसे विश्वास होता है कि उसके हिंसक व्यवहार के लिए उसे चुनौती नहीं दी जाएगी और वह अपनी पत्नी को जीतने के वंचित लक्ष्य को प्राप्त कर लेगा। शारीरिक हिंसा का सबसे अधिक प्रतिशत उन परिवारों में पाया जाता है, जहां कोई बच्चा नहीं होता है। पत्नियों को छोटी उम्र में ही बच्चा पैदा करने की अक्षमता के लिए जिम्मेदार ठहराया जाता है, क्योंकि भारतीय समाज में बच्चे का अत्यधिक महत्व है, इसलिए जो महिलाएं बच्चे पैदा नहीं कर पाती हैं, उनका उपहास किया जाता है।

## महिलाओं के खिलाफ हिंसा से संबंधित कानून

टिप्पणी

भारत में घरेलू हिंसा के पीछे लिंग पूर्वाग्रह और असमानता की धारणाएं जैसे कारण होते हैं। कुल मिलाकर महिलाओं को कमजोर वर्ग माना जाता है। विभिन्न सामाजिक और धार्मिक कुप्रथाओं ने इसे बढ़ावा देकर, महिलाओं के लिए असमान स्थिति को और भी जटिल कर दिया गया है। इन असमानताओं के कारण महिलाओं की आजादी में कटौती हुई है और उनके समक्ष कठिन परिस्थितियां भी आई हैं। महिलाओं के खिलाफ हिंसा हाल ही का चिंता का विषय नहीं है, बल्कि यह बहुत पहले से चला आ रहा है। हमारी संस्कृति में यह एक गहरी समस्या बन गई है। कई शोधकर्ताओं ने हिंसा की समस्या का मुकाबला करने में जागरूकता के महत्व पर बल दिया है।

महिलाओं के अधिकारों की रक्षा के लिए कानूनों में हाल के दिनों में बहुत बदलाव आये हैं। महिलाओं के अधिकारों की सुरक्षा और उनके सम्मान के हितों की रक्षा करने के लिए कई कानून बनाए गए हैं। महिलाओं की अधीनता के खिलाफ और उनकी सुरक्षा को सुनिश्चित करने के लिए कई आचार–संहिता को कड़ाई से लागू किया गया है।

समाज और साथ ही घर में दमन के रूप में, सीमित काम करने के अवसर, सम्मान हत्याओं, उपचार जैसे कारकों ने महिलाओं के अधिकारों की रक्षा कानून के कार्यान्वयन के लिए मार्ग प्रशस्त किया है।

ये सभी घातक प्रथाएं आज बड़ी संख्या में शहरों के साथ ही गांवों में भी मौजूद हैं। घर के भीतर महिलाओं के खिलाफ हिंसा को 1983 की धारा 498ए में एक आपराधिक कृत्य मानकर आपराधिक कानून के द्वितीय संशोधन के रूप में भारतीय दंड संहिता 1860 में जोड़ा गया है। विभिन्न महिला समूहों और विभिन्न वकीलों द्वारा यह एक केंद्रित प्रयास के परिणाम के रूप में आया था। महिलाओं के खिलाफ घरेलू हिंसा सबसे आम है और इस समस्या का निवारण कठिन है। कानून को अधिक प्रभावी बनाने के लिए, 'घरेलू हिंसा से महिलाओं का संरक्षण अधिनियम' 2005 में अधिनियमित किया गया था। हालांकि, वर्तमान परिदृश्य इन कानूनों को अपर्याप्त बना रहा है और इन्हें ज्यादा नहीं बदला गया है, जागरूकता से ही हिंसा के खिलाफ लड़ाई में बल मिला है। अधिक से अधिक महिलाएं शिक्षित हो रही हैं और हिंसा की धारणा को विभिन्न संवेदनात्मक तरीकों से यहां प्रकट किया गया है। प्रिंट और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में महिलाओं के लिए चल रहे वाद–विवादों ने इनके मुद्दों और चिंताओं के भाव को स्पष्ट करने में मदद की है।

मुख्य रूप से निम्नलिखित को महिलाओं के खिलाफ हिंसा के रूप में परिभाषित किया जा सकता है–

- कोई भी कार्य जो (शारीरिक या मानसिक रूप से) महिलाओं को खतरे में डालता है। इस तरह, मौखिक, शारीरिक, भावनात्मक, वित्तीय आदि दुरुपयोग के विभिन्न रूप घरेलू हिंसा श्रेणी के अंतर्गत आते हैं।

टिप्पणी

- बलात्कार या उनकी इच्छा के खिलाफ कार्रवाई करने के लिए उन्हें कई रूप से दबाव दिया जाता है।
- हिंसक कार्रवाई।
- महिला या उसके रिश्तेदारों के लिए खतरे को दोहराया जाना।
- कुछ वित्तीय और आर्थिक विशेषाधिकारों से महिलाओं के लिए रुकावटें आईं।
- चल और अचल संपत्ति का सही उपयोग करने के लिए महिलाएं वंचित रहीं।

हर नागरिक से यह उम्मीद की जाती है कि वह घरेलू हिंसक घटनाओं की सूचना तुरंत 'संरक्षण अधिकारी' को दे। जो व्यक्ति संरक्षण अधिकारी को सूचित करेंगे वे किसी भी दायित्वों से मुक्त हैं। जानकारी मिलने पर संरक्षण अधिकारी या मजिस्ट्रेट या नियुक्त सेवा प्रदाता कानूनी सेवा प्राधिकरण अधिनियम (1987) के तहत पीड़ित महिला को उसके अधिकार एवं मुफ्त कानूनी सहायता देने का उत्तरदायित्व लेगा। इसके अतिरिक्त उसे भारतीय दंड संहिता की धारा 498ए के तहत एक शिकायत दर्ज करने के लिए उसके अधिकार के प्रति जागरूक करेगा।

पीड़ित महिला को स्वतंत्रता है कि वह अदालत के माध्यम से पीड़ित करने वाले के विरुद्ध दंड देने के आदेश को प्राप्त कर सके। पीड़ित महिला की कार्रवाई का एक और तरीका है, जिसमें वह आरोपी संबंधी या पति से सुरक्षा के रूप में एक राशि जमा करने के लिए कह सकती है। यदि वे इसका उल्लंघन करते हुए पाये जाते हैं, तो पैसे के लिए अपने अधिकार से छिन जाते हैं। शिक्षा एक ऐसा उपाय है, जो संभावित हिंसा को रोकने के लिए है। अधिक से अधिक महिलाएं शिक्षित हो रही हैं और वे अपने रास्ते में हिंसा और आक्रामकता का विरोध कर सके, इसके लिए उन्हें अवगत कराया जा रहा है।

### 5.3.2 महिला हिंसा

महिला हिंसा की परिभाषा : किसी भी महिला से प्रत्यक्ष या परोक्ष बल का प्रयोग करके उससे कुछ लेना जिसे वह अपनी इच्छा से देना न चाहती हो या जिससे उसे शारीरिक, मानसिक या भावनात्मक रूप से दुःख पहुंचे महिला हिंसा कहलाता है।

भारत में महिलाओं का उत्पीडन प्राचीनकाल से ही हो रहा है जिसका प्रमाण हमें प्राचीन धर्म ग्रंथों एवं पुस्तकों में मिलता है। समाज में प्रचलित रीतिरिवाज, प्रथाएं एवं विचारधाराएं महिला हिंसा का प्रमुख का कारण रही है।

महिलाओं के प्रति हिंसा से तात्पर्य महिलाओं के प्रति उनके निकट रिश्तेदारों जैसे– माता–पिता, भाई–बहन या ससुराल के किसी भी सदस्य या अन्य किसी व्यक्ति द्वारा किया जाने वाला हिंसात्मक व्यवहार व उत्पीडन जो महिला को शारीरिक एवं मानसिक रूप से आघात पहुंचाता है 'महिला हिंसा' कहलाता है।

महिला हिंसा के अंतर्गत महिलाओं को पीटना, गर्भ में ही बच्ची की मृत्यु कर देना, तनावपूर्ण स्थिति पैदा करना, महिला का अपहरण, दहेज के लिए हत्या, महिला

का अपहरण, दहेज के लिए हत्या, महिला पर अत्याचार करना व किसी भी प्रकार का दुर्व्यवहार करना जिससे महिला को कष्ट हो ये सभी कार्य सम्मिलित होते हैं।

### महिला हिंसा के कारण

टिप्पणी

महिलाओं में हिंसा के बहुत कारण हैं वे निम्नलिखित हैं–

1. **पुरुष की प्रधानता** : पुरुष अपनी श्रेष्ठता एवं शक्ति का प्रदर्शन कराने के लिए स्त्री पर कई अत्याचार करता है क्योंकि पुरुष को शक्ति का प्रतीक माना जाता है। पुरुषों की प्रधानता न केवल भारतीय समाज में अपितु विश्व के लगभग सभी देशों में पाई जाती है जिसका दुरुपयोग करके पुरुष महिलाओं पर अत्याचार करते हैं और महिला हिंसा का कारण बनते हैं।
2. **पुरुषों पर निर्भरता** : महिलाएं बचपन से लेकर वृद्धावस्था तक पुरुषों पर आर्थिक रूप से निर्भर रहती हैं और इसी वजह से उन्हें जीवन में कई समस्याओं का सामना करना पड़ता है। महिला में आत्मरक्षा एवं स्वावलम्बन के विकास की परवाह न तो वह स्वयं कर पाती है और न ही समाज करता है और यही कारण है कि महिलाओं के ऊपर इतने अत्याचार होते हैं और वह इन अपराधों को सहने के लिए विवश हो जाती है।
3. **सामाजिक कुप्रथाएं** : भारतीय समाज में अनेक ऐसी प्रथाएं प्रचलित हैं जिनकी वजह से महिलाओं पर हो रहे अत्याचारों को प्रोत्साहन मिलता है। इन कुप्रथाओं में सती प्रथा, विधवा पुनर्विवाह पर रोक, बाल विवाह आदि सम्मिलित हैं और अधिकांशतः इन कुप्रथाओं की शिकार महिलाएं ही बनती हैं, अतः सामाजिक कुप्रथाएं महिला हिंसा का एक प्रमुख कारण हैं।
4. **शिक्षा का अभाव** : महिलाओं में शिक्षा का अभाव होने के कारण भी यह स्थिति महिला हिंसा का कारण बनती है। महिलाएं अपने ऊपर हो रहे अत्याचारों को चुपचाप सह लेती है क्योंकि उन्हें अपने अधिकारों का उचित रूप में ज्ञान नहीं होता है। यदि महिलाओं को शिक्षा के माध्यम से उन पर हो रहे अत्याचारों का विरोध करने संबंधी ज्ञान दिया जाए तो वे अपने प्रति हो रही हिंसा का विरोध कर सकेगी। अतः यह कहा जा सकता है कि महिलाओं के लिए शिक्षा अत्यंत आवश्यक है व शिक्षा का अभाव महिला हिंसा का एक बहुत बड़ा कारण है।
5. **भारत में नारी की छवि प्रस्तुति** : वर्तमान में संचार जैसे– फिल्म या विदेशी चैनलों के माध्यम से समाज में महिलाओं की अच्छी छवि प्रस्तुत नहीं की जाती है। जिससे समाज में रहने वाली सभी महिलाओं को लोग उसी नजरिए से देखते हैं और उनसे उसी प्रकार का व्यवहार करते हैं, जिस तरह का फिल्मों में दिखाया जाता है, अर्थात् समाज में महिला की बुरी छवि प्रस्तुति भी महिला हिंसा का कारण है।

## 5.3.3 बाल हिंसा

सभी बच्चों को हिंसा, शोषण और दुर्व्यवहार से सुरक्षित रहने का अधिकार है। साक्ष्य दिखाते हैं कि हिंसा, शोषण और दुर्व्यवहार अक्सर बच्चे के जानकार व्यक्ति द्वारा किया जाता है। इसमें माता–पिता, परिवार के अन्य सदस्य उन्हें देखभाल करने वाले शिक्षक,

मालिक, कानून प्रवर्तन अधिकारी, राज्य और गैर राज्य एक्टर और अन्य बच्चे शामिल हैं।

टिप्पणी

भारत में बच्चों की सुरक्षा के लिए अनेक कानून हैं और बाल सुरक्षा को सामाजिक विकास के मुख्य घटक के रूप में तेजी से स्वीकार किया जा रहा है। जमीनी स्तर पर मानव संसाधन क्षमता की कमी और गुणवत्ता निवारण और पुनर्वास सेवाओं की कमी इन कानूनों को लागू करने में चुनौती है।

परिणामस्वरूप लाखों बच्चे हिंसा, दुर्व्यवहार और शोषण का शिकार होते हैं। बाल हिंसा कहीं भी हो सकती है : घर, स्कूल, बाल देखभाल केन्द्र, कार्यस्थल और समुदाय में अक्सर बच्चे को जानने वाले के द्वारा ही हिंसा की जाती है।

बच्चों के खिलाफ हिंसा व्यापक है और यह भारत के सभी सामाजिक–आर्थिक वर्गों के लाखों बच्चों के लिए कठोर वास्तविकता है। भारत में लड़कियों और लड़कों, दोनों को जल्द शादी, घरेलू शोषण यौन हिंसा, घर और स्कूल में हिंसा, तस्करी, ऑनलाइन हिंसा, बाल मजदूरी और डराने–धमकाने का सामना करना पड़ता है। हिंसा, दुर्व्यवहार और शोषण के सभी प्रकारों का बच्चों के जीवन पर दीर्घावधिक प्रभाव पड़ता है।

हिंसा, दुर्व्यवहार और शोषण पर सटीक डेटा पर्याप्त नहीं है, लेकिन कुल मिलाकर भारत में बच्चों के विरुद्ध हिंसा, विशेषकर यौन शोषण के प्रति जागरूकता बढ़ रही है। अनेक मामले जिन्हें पहले अनदेखा कर दिया जाता था, अब सूचित किए जा रहे हैं। बाल यौन शोषण पर सिर्फ गुस्सा और व्यथित होना पर्याप्त नहीं है। हमें बच्चों के खिलाफ हिंसा समाप्त करने के लिए एकजुट होना पड़ेगा।

भारत अभी परिवर्तन के दौर से गुजर रहा है, जिसमें वर्ष 2005–2006 में 18 वर्ष से कम आयु की लड़कियों की बाल विवाह दर 47 प्रतिशत से घटकर वर्ष 2015–2016 से 27 प्रतिशत हो गई है। भारत में समग्र गिरावट के बावजूद राष्ट्रीय औसत जिला स्तर की वास्तविकता छिपा लेती है और कुछ जिलों में बाल विवाह की उच्च दर अभी भी जारी है।

भारतीय संदर्भ में, बाल श्रम जटिल समस्या है। भारत में सक्रिय कानूनी उपायों और नीतियों के बावजूद, इस समस्या का मुकाबला करने के लिए बच्चों के काम करने की दर में कमी अपेक्षा से कम हो रही है। बच्चे अक्सर खेतों और घरों में काम करते हुए पाए जाते हैं, जबकि लड़कियों के बारे में अक्सर जानकारी नहीं मिल पाती।

यौन हिंसा पर डेटा दुर्लभ है और यह मुख्यतः मामलों की रिपोर्टिंग पर आधारित है इसका मतलब यह है कि आंकड़े समस्या की भयावहता को कम करके दर्शाते हैं, क्योंकि अधिकतर मामलों की रिपोर्ट नहीं की जाती। रिपोर्ट किए गए मामलों से पता चलता है कि यौन शोषण करने वाले मुख्य रूप से पुरुष होते हैं और वे अक्सर बच्चों के जानकार होते हैं।

**हिंसा, दुर्व्यवहार और शोषण समाप्त करने हेतु समाधान**– बच्चों के प्रति, हिंसा, दुर्व्यवहार और शोषण समाप्त करने की दिशा में सामाजिक जागरूकता पैदा करने, कानून को बढ़ावा देने और पोषित करने की दिशा में प्रगति हुई है। लेकिन पीड़ित लोगों और उनके परिवारों को संवेदनशील, समयबद्ध और कुशल संरक्षण और सेवाएं प्रदान

टिप्पणी

करने के लिए और अधिक प्रयास करने के लिए और अधिक प्रयास करने की आवश्यकता है। यूनिसेफ प्रमुख बाल संरक्षण कानून के कार्यान्वयन और ऐसी प्रथाओं को बढ़ावा देने पर बल देता है जो बच्चों को हिंसा, दुर्व्यवहार और शोषण से बचाते हैं। भारत में बाल दुर्व्यवहार के प्रति जागरूकता निर्माण के लिए, यूनिसेफ सरकारी कार्रवाई के दो गायब तत्वों को बढ़ाने में प्रमुख भूमिका निभा सकता है : बाल दुर्व्यवहार और शोषण के पीड़ित लोगों की सुरक्षा और पुनर्वास।

बचाव यूनिसेफ प्रोग्रामिंग के केंद्र में है क्योंकि यह बाल यौन दुर्व्यवहार और शोषण से निपटने का सबसे प्रभावी तरीका है।

भारत के बच्चों की पर्याप्त सुरक्षा सुनिश्चित करने के लिए वर्तमान निवेश घटना घटित हो जाने के बाद की प्रतिक्रियाओं पर केंद्रित है।

यूनिसेफ समर्थन सेवाओं के प्रति व्यापक दृष्टिकोण अपनाता है जो पीड़ितों और उनके परिवारों को परामर्श, पुनर्स्थापना न्याय कार्यक्रमों पर ध्यान केंद्रित करने, स्कूल में पढ़ाई जारी रखने, रोजगार और सामाजिक सुरक्षा कार्यक्रमों को बढ़ावा देने में प्राथमिकता दी जाती है जो बाल श्रम और बाल विवाह में कमी को प्रोत्साहित करते हैं।

यूनिसेफ का प्रमुख कार्य चुनिंदा राज्यों में निवारक और प्रतिक्रियात्मक बाल संरक्षण सेवाओं को प्रभावी तरीके से प्रदान करने को सशक्त करना और बढ़ावा देना है।

भारत सरकार, 17 राज्य सरकारों और नागरिक समाज संगठनों के साथ समन्वय में काम करते हुए, यूनिसेफ वित्तीय और मानव संसाधन, वित्तीय संस्थानों, कार्यक्रमों की डिलीवरी और निगरानी और मूल्यांकन सहित एक बाल संरक्षण प्रणाली के बिल्डिंग ब्लॉकों का निर्माण कर रहा है।

यूनिसेफ और भारत में उसके सहयोगी साथ मिलकर यह सुनिश्चित करने के लिए काम कर रहे हैं कि बच्चों को श्रम और शोषण से बचाया जाए जो उनके विकास के लिए हानिकारक है। वे यह सुनिश्चित करने के लिए काम कर रहे हैं कि बच्चे आर्थिक रूप से स्थिर परिवार रहे और उन्हें स्कूल जाने और शिक्षित होने का अवसर मिले। यूनिसेफ ऐसे समुदायों और परिवारों के निर्माण में सरकार, नागरिक समाज संगठनों और अन्य भागीदारों के साथ मिलकर काम करता है जहां बच्चे सुरक्षित और दुर्व्यवहार और शोषण से मुक्त हो।

प्रस्तुत विषय (हिंसा) में यह बताया गया है कि किस प्रकार हमारा समाज हिंसा से ग्रसित हो रहा है। वर्तमान समय ने हमारी सरकार में अनेक कानून बनाए हैं जिस कारण समाज में हिंसा न हो। और समाज में शान्ति का वातावरण बना रहे।

### 5.3.4 बाल यौन शोषण और यौन उत्पीड़न

ऐतिहासिक काल से, बच्चों को उनके माता–पिता की जिम्मेदारी के रूप में माना गया है। अधिकांश अध्ययनों से पता चलता है कि लड़कों की तुलना में लड़कियों से काफी अधिक यौन दुर्व्यवहार किया जाता है। स्कूल की 350 लड़कियों में से–

- 63 फीसदी, परिवार के सदस्यों द्वारा यौन शोषण की अनुभवी थीं।

टिप्पणी

- 25 फीसदी के साथ बलात्कार किया गया था। अपराधी हस्तमैथुन और मौखिक सेक्स प्रदर्शन करने के लिए मजबूर करते थे।
- लगभग 33 प्रतिशत ने कहा कि अपराधी एक पिता, दादा और परिवार के दोस्त थे।

**स्रोत** : यह 1997–1998 में एक गैर–सरकारी संगठन "साक्षी" द्वारा किये गए शोध से लिया गया है।

एक बच्चा जिस व्यक्ति पर विश्वास करता है, क्या वह व्यक्ति बच्चे को प्रताड़ित करने वाले अपराधी के रूप में बदल सकता है? उदाहरण के लिए, आमिर खान के टीवी शो सत्यमेव जयते का एक एपिसोड मर्मभेदी था। बड़े दुःख के साथ इस बात को समाज में प्रसारित करना होगा कि बच्चे जिनपर सबसे अधिक विश्वास करते हैं, आमतौर पर उन्हीं के हाथों उनका शोषण किया जाता है।

आमिर खान ने इस तरह के बहुत से पीड़ितों, उनके परिवारों, विशेषज्ञों और सामाजिक कार्यकर्ताओं के साथ विचार–विमर्श किया और वे लोग अपनी भयानक घटनाओं का वर्णन करने के लिए उपस्थित थे। उन्होंने बताया कि कैसे उन्हें शारीरिक क्षति की धमकी दी गई और उन घटनाओं के बारे में चुप रहने के लिए उन्हें मजबूर किया गया।

आमिर ने महिला एवं बाल विकास मंत्रालय और गैर–सरकारी संगठन "प्रयास" की सहायता से 2007 में किए गए एक सर्वेक्षण से तेरह राज्यों में 12,447 नमूने पेश किए, इस प्रकार ये चौंकाने वाले आंकड़े पूरे देश को पता चले थे।

सर्वेक्षण के दौरान 53.22 प्रतिशत बच्चों के यौन शोषण के एक और एक से अधिक रूपों की सामना करने की सूचना है। आंध्रप्रदेश, बिहार, असम और दिल्ली में उस समय इस तरह की घटनाओं के सर्वोच्च प्रतिशत की सूचना थी। आधे से अधिक मामलों में, अपराधी उस बच्चे के परिचित थे, या उनके द्वारा भरोसेमंद थे। ऐसी बहुत सी घटनाएं दुर्भाग्यपूर्ण बच्चों द्वारा कभी सामने ही नहीं आ पाईं।

बाल दुर्व्यवहार पर राष्ट्रीय अध्ययन दुनिया में देशों द्वारा किये गए सबसे बड़े अनुभवजन्य अध्ययनों में से एक हैं। 2006 में बच्चों के खिलाफ हिंसा पर संयुक्त राष्ट्र महासचिव द्वारा किये गए अध्ययन अपने आप में पूरक हैं।

मार्च 2012 में, भारतीय राजधानी दिल्ली के एक अस्पताल में गंभीर रूप से पीड़ित बच्ची, बेबी फलक का निधन हो गया। वह जनवरी में गंभीर चोटों के साथ लायी गई थी। वह गंभीर सिर की चोटों से पीड़ित थी और कोमा की हालत में अस्पताल में लायी गई थी। उसके सारे शरीर पर काटने के निशान थे और उसके गाल एक गर्म लोहे की छड़ से दागे गए थे।

ऐसा ही एक मामला अप्रैल 2012 में बंगलौर के दक्षिणी शहर में सामने आया था, जहां तीन महीने की उम्र में बच्ची आफरीन उसके पिता द्वारा घायल कर दी गई थी,

जो कथित तौर पर एक बेटा चाहते थे। बाद में डॉक्टर उसे पुनर्जीवित करने के प्रयास में विफल रहे और इसी के चलते उसकी मृत्यु हो गई।

टिप्पणी

### सिंड्रेला प्रकाश और हरीश अय्यर का मामला

सिंड्रेला प्रकाश एक 55 वर्षीय व्यक्ति द्वारा दुरुपयोग की गई थी, जिस पर वह भरोसा करती थी और तब वह केवल 12 वर्ष की थी। इतना ही नहीं वह अपनी पीड़ा के बारे में मां को नहीं बता सकती थी। इसी तरह, स्वयं हरीश अय्यर भी बचपन में एक विश्वसनीय आदमी द्वारा 11 वर्षों तक लगातार दुरुपयोग किये गए थे। जब वह बहुत विवेचना के बाद अपनी मां के पास गया, उसे गंभीरता से नहीं लिया गया था। आमिर ने जब हरीश की मां से पूछा तो उन्होंने स्वीकार किया कि वह गलत थी।

आमतौर पर यह सभी को पता नहीं है, लेकिन 2007 की रिपोर्ट के अनुसार यौन शोषित बच्चों में से 53 प्रतिशत बच्चे लड़के हैं। ये आंकड़े बाल यौन शोषण की घटना की विस्तृत समझ को विकसित करने के उद्देश्य से पेश किये गए हैं। उपयुक्त नीतियों की रचना और अनुपालन के साथ भारत में इन बाल उत्पीड़न की समस्या को रोकना और नियंत्रित करना अत्यंत आवश्यक हैं।

### अपने बच्चे पर विश्वास करो

हरीश को उस आदमी ने चुप रहने की धमकी दी थी। 'राही' एनजीओ की विशेषज्ञ अनुजा गुप्ता (उबरने और अनाचार से चिकित्सा) ने दुरुपयोग के बारे में चुप रहने के पीछे की बाल मनोविज्ञान के बारे में कहा है। वे माता–पिता को शो के दौरान अपने बच्चों पर उस वक्त विश्वास करने की सलाह देती हैं, जब वे उनसे यौन शोषण की किसी घटना के बारे में बात करते हैं। उन्होंने माता–पिता से कहा कि अपने बच्चे की सुनें।

### यौन उत्पीड़न और इसके विभिन्न प्रकार

यौन उत्पीड़न और उनके विभिन्न रूपों को पारम्परिक रूप से दो भागों में विभाजित किया है–

- बदले की भावना में
- शत्रुतापूर्ण काम के माहौल में

(i) बदले का शाब्दिक अर्थ है कि 'उसके लिए यह' की भावना है। जब यह यौन उत्पीड़न पर लागू होता है, तो आगे बढ़ने, उच्च वेतन देने, शैक्षिक प्रगति और लाभ के रूप में काम करने के वादे किए जाते हैं। इन वादों को करने वाले को उसे लगता है कि वह ऐसे आगे करता रहेगा और उसे ऐसे अवसर प्राप्त होते रहेंगे। इस प्रकार के यौन उत्पीड़न से महिलाएं इंकार नहीं कर पाती हैं, क्योंकि उनके इंकार का अनुरोध या जवाबी कार्यवाही उनके काम की स्थिति में पदावनति, बर्खास्तगी और कलंक का कारण बन सकती है।

टिप्पणी

(ii) शत्रुतापूर्ण माहौल में यौन उत्पीड़न अभी तक स्पष्ट रूप से व्यापक नहीं है। यह आमतौर पर एक महिला कार्यकर्ता के प्रति वह काम करने की दिशा में व्यवहार की शर्तों को शामिल करता है, जबकि महिला कार्यकर्ता कभी भी इस सन्दर्भ में वादा या इंकार नहीं करती है, फिर भी उन पर यौन उत्पीड़न के लिए दबाव डाला जाता है, क्योंकि वह एक महिला है।

नए दिशा–निर्देशों के माध्यम से यौन उत्पीड़न के दोनों रूपों को पहचाना जाता है। जोकि निम्नलिखित हैं–

**अरुचिकर**

- अग्रिम शारीरिक संपर्क
- यौन उपकार की मांग और अनुरोध
- यौन टिप्पणियां
- पोर्नोग्राफी प्रदर्शन
- यौन प्रकृति की किसी भी अप्रिय शारीरिक, मौखिक और गैर–मौखिक आचरण की कार्यवाही

**इसी प्रकार किसी के शब्द या गतिविधि**

- आप के लिए अरुचिकर या आक्रामक हैं
- धमकी आपको असहज महसूस करा देती है
- यह शायद यौन उत्पीड़न है, जोकि आपके काम को प्रभावित करता है

## यौन उत्पीड़न के प्रभाव और परिणाम

कार्यस्थल पर यौन उत्पीड़न पूरे संगठन को समान रूप से प्रभावित करता है। यह किसी महिला पर अलग–अलग रूप से प्रभाव डालता हैं किन्तु इसका नुकसान पूरे संगठन को होता है। एक श्रमिक रोजगार की तलाश में यौन उत्पीड़न के जीवन को अपना लेता है, जहां पर यह श्रमिक के जीवन को दयनीय बना देता है। आमतौर यह नियोक्ता की जिम्मेदारी है कि वह काम के माहौल को सुनिश्चित करे और श्रमिकों के साथ गरिमापूर्ण व्यवहार करे। यौन उत्पीड़न समाज के लिए समानता की प्राप्ति में बाधा उत्पन्न करता है। यौन हिंसा बहुत सारे कारणों के साथ मिल कर उत्पादकता और विकास में रुकावट डालती है।

## यदि आपको यौन उत्पीड़ित किया जाए, तो आपको क्या करना चाहिए?

हमारे सामाजिक संदर्भ और स्थिति में बहुत से पुरुषों और महिलाओं को देखकर यह नहीं पहचाना जा सकता है कि उन्हें दुर्व्यवहार परेशान कर रहा है। महिलाएं परेशान करने वालों के बारे में सूचित करने में असमर्थ हैं। इसे ध्यान में रखते हुए यह आश्चर्य की बात है कि कैसे प्रभावी तरह के एक बयान को उत्पीड़न को समाप्त करने से पहले ही बदल दिया जाता है। इससे प्रभावित महिलाओं को आक्रामक व्यवहार को स्पष्ट करने की आवश्यकता है।

टिप्पणी

व्यक्ति को किसी से बात करनी चाहिए या किसी को सूचित करना चाहिए, यहां तक कि अगर आप फिर भी कुछ कहने में असमर्थ हैं, तो कार्टून, पेंटिंग, लेखन या इन सबके बारे में उचित टिप्पणी को डायरी में लिखकर समझाने का प्रयास करे। यदि आप कुछ लिखकर संग्रह करने की स्थिति में नहीं हैं और आप एक अनौपचारिक क्षेत्र में काम करते हैं, तो संघ के किसी भरोसेमंद व्यक्ति से बात करनी चाहिए। अगर परेशान करने वाला श्रेष्ठ है, तो बेहतर या एक भरोसेमंद सहकार्यकर्ता से बात करने की कोशिश करनी चाहिए। एनजीओ समूह यौन उत्पीड़न के बारे में सलाह के लिए परामर्श देने में सक्षम हैं। यह महत्वपूर्ण है कि किसी भी उत्पीड़न की सही जांच द्वारा संभावित प्रकृति स्पष्ट हो।

अपना मूल्यांकन करना चाहिए। समय–समय पर अपने काम का प्रतिरूप बना के रख लेना चाहिए, यदि उत्पीड़न से पूर्व आपका काम अच्छा होगा तो आप दस्तावेज के सहारे अपने संघ से मदद ले सकते हैं।

चिकित्सा जांच कराएं। यदि आप के साथ बलात्कार किया गया है या शारीरिक रूप से उत्पीड़न किया गया है, तो आप अपने दोस्त के साथ जाकर चिकित्सा जांच कराएं और एक मेडिकल रिपोर्ट प्राप्त करें। आपको इसे कानूनी कार्यवाही के लिए आगे बढ़ाना चाहिए, यह अत्यंत महत्वपूर्ण है। सुप्रीम कोर्ट के दिशा–निर्देशों के अनुसार यह एक नीति है, नियोक्ता अपने संगठन में प्रावधान की व्यवस्था की जिम्मेदारी ले।

अनौपचारिक रूप से कार्यस्थल पर इस मुद्दे को उठाना चाहिए। कार्यालय में अन्य महिलाओं से बात करनी चाहिए और पता लगाना चाहिए कि उनमें से भी किसी ने कार्यस्थल पर समान अनुभव किया है। ऐसे व्यक्ति को खोज पाना असामान्य नहीं हैं, जिसने इसी प्रकार का अनुभव किया हो, लेकिन सामाजिक और आर्थिक नतीजों के डर से वे चुप रहते हैं। इन मुद्दों पर लोगों से बात करनी चाहिए और समर्थन करने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए।

शिकायत दर्ज करे। यदि वहां शिकायत तंत्र है, तो प्रक्रिया का पालन करते हुए शिकायत दर्ज करे। यदि वह मौजूद नहीं हैं, तो कार्यस्थल पर अपने सहयोगियों के साथ विस्तार में इस पर बात करे।

याद रखें, दिशा–निर्देशों को गोपनीयता की आवश्यकता है। यौन आक्रामक व्यवहार के मुद्दों को उठाने और शिकायत करने से आप काफी हद तक सुरक्षित कार्य–वातावरण बनाने की दिशा में एक कदम उठाते हैं।

### कार्यस्थल पर यौन उत्पीड़न

कार्यस्थल पर यौन उत्पीड़न एक लिंग भेदभाव का मुद्दा है। इसमें एक व्यक्ति को अपने लिंग की वजह से उत्पीड़न का सामना करना पड़ता है। यह एक कार्यस्थल में अवांछित यौन आचरण है, जिसके कई विभिन्न रूप हैं।

यह महिलाओं के खिलाफ भेदभाव है। यह उन्हें एक स्वस्थ और पुरस्कृत माहौल में कार्य करने से प्रतिबंधित करता है।

टिप्पणी

आर्थिक अस्तित्व, रोजगार के अवसर व पदोन्नति एक व्यक्ति को यौन के आदान–प्रदान के लिए मजबूर करते हैं। यौन उत्पीड़न, उत्पीड़ित की कार्य भूमिका पर प्रभाव डालता है और पीड़ितों को कम अनुकूल परिस्थितियों में भी काम करना होता है।

भारत के उच्चतम न्यायालय ने 13 अगस्त, 1997 में दिशानिर्देश जारी किए, जो लंबे समय से विद्यमान हैं। कार्यस्थल पर यौन उत्पीड़न वास्तविक और व्यापक है। यौन अश्लील व्यवहार के साथ मजाक व प्रत्यक्ष रूप से सभी कार्यस्थल पर यौन उत्पीड़न के माहौल में महिलाओं के लिए भेदभावपूर्ण बनाने के लिए गठबंधन पर दिशानिर्देश जारी किए गए।

यौन उत्पीड़न गंभीरता से महिलाओं के मानसिक और शारीरिक क्रिया को प्रभावित कर रहा है। यौन उत्पीड़न एक व्यक्तिगत समस्या नहीं है, लेकिन यह लिंग विशेष हिंसा का एक रूप है, जोकि सेक्स के आधार पर महिलाओं के खिलाफ भेदभाव करता है। यह महिलाओं का उल्लंघन है कि मानव अधिकार के लिए उनकी स्वतंत्रता और व्यक्तिगत गरिमा का उल्लंघन किया जाता है।

यौन उत्पीड़न अत्यंत व्यापक है। यह 40–60 प्रतिशत के जीवन को छूता है। कामकाजी महिलाओं का कॉलेजों और विश्वविद्यालयों में छात्रों के एक समान अनुपात नहीं हैं, लेकिन फिर भी यौन उत्पीड़न एक छुपा हुआ, निर्विवाद और चुनौती बना हुआ है। महिला एवं बाल विकास मंत्रालय की सूचना में कहा गया है कि 2014 में कार्यस्थल पर महिलाओं के यौन उत्पीड़न के 526 मामलें सामने आये हैं।

### एनसीआरबी के मुताबिक "भारत में अपराध, 2002"

- 44,098 यौन उत्पीड़न की घटनाएं सूचित की गईं।
- हर रोज 121 महिलाएं यौन उत्पीड़न से परेशान थीं।
- हर 12 मिनट में एक महिला को यौन उत्पीड़न से परेशान किया गया था।
- 1997–2002 में 20.6 फीसदी की वृद्धि के साथ यौन उत्पीड़न की घटनाएं पाई गईं।

### कार्यस्थल पर यौन उत्पीड़न से निपटने के लिए दिशा–निर्देश

दिशा–निर्देश विशेष रूप से कार्यस्थल पर दृश्यता प्राप्त करने के लिए शुरू किए गए है। भारत के उच्चतम न्यायालय के एक निर्णय के बाद जो यौन उत्पीड़न की पुष्टि करता है, वह मानव अधिकारों के उल्लंघन के सन्दर्भ में अलग–अलग रणनीतियों के रूप में शुरू हो गया है, लेकिन अभी तक पर्याप्त रूप से अनुमति देने के लिए आधारित नहीं है। सामाजिक संदेश यह है कि आज के माहौल की जांच करते रहना चाहिए। ऐसा करने के लिए यह आवश्यक है कि संगठन और नियोक्ता निम्नलिखित कदमों का अनुसरण करें:

- एक प्रभावी नीति बनानी चाहिए, जो कार्यस्थल पर यौन उत्पीड़न के अर्थ को उदाहरण सहित स्पष्ट करती हो

- प्रभावी और रचनात्मक निवारक तंत्र
- संगठन के सभी स्तरों और सदस्यों के लिए शिक्षा/प्रशिक्षण कार्यक्रम
- यौन उत्पीड़न की शिकायतों के लिए समीति की स्थापना

टिप्पणी

## लिंग आधारित हिंसा के सम्बोधन में विश्व की पहल

हाल ही में अंतरराष्ट्रीय सम्मेलनों और अभियानों द्वारा एक बड़ी हद तक जागरूकता बढ़ी है और लिंग आधारित हिंसा (जी.बी.वी.) पर चुप्पी को तोड़ा गया है। महिलाओं के खिलाफ भेदभाव के उन्मूलन आयोग (महिला कन्वेंशन) में कई प्रावधान हैं, जो (जी.बी. वी.) पर लागू हैं। हालांकि, आजतक तीस देशों ने समझौते पर हस्ताक्षर नहीं किए हैं। एक–तिहाई देशों ने आरक्षण के साथ हस्ताक्षर किये हैं, जबकि चौबीस दूसरे देशों ने अनुच्छेद 16 का विरोध किया है, जोकि एक प्रमुख प्रावधान है, जिसमें वैवाहिक और पारिवारिक जीवन में पुरुषों और महिलाओं के बीच समानता का प्रस्ताव रखा गया है।

इसके बावजूद भी, दुनिया भर में महिलाओं के समूहों ने नारीवादी आंदोलनों से गुहार लगाई है और सरकारों पर दबाव डाल कर कानून और नीतियों में बदलाव लाया है। सजा रोकने के लिए या जी.बी.वी. के खिलाफ महिलाओं की रक्षा को अधिनियमित करने के लिए गैर–सरकारी संगठन (एन.जी.ओ.) भी चिंतित रहते हैं और इसीलिए वे समय–समय पर बहुत प्रकार के कार्यक्रम और सेवाओं को चलाते हैं। महिलाओं से यदि दुर्व्यवहार किया जाता है, तो आज के समय में उनको सूचित किया जाता है। जी.बी. वी. कार्यक्रम ने समुदाय के बदलते नजरिए के प्रति अपने लक्ष्य को सबसे अधिक लाभकारी साबित कर दिया है।

आश्रित–आवास, विशेष अदालतें, महिला पुलिस थाने और स्थानीय पुलिस थानों में विशेष डेस्क महिलाओं को अपने साथियों के दुरुपयोग से बचाते हैं। प्रताड़ित महिलाओं के लिए विशेष आश्रय–स्थल निम्नलिखित देशों में बनाए गए हैं–

- अर्जेंटीना, फ्रांस, नीदरलैंड, थाईलैंड
- ऑस्ट्रेलिया, जर्मनी, न्यूजीलैंड, त्रिनिदाद और टोबैगो
- ऑस्ट्रिया, होंडुरास, पाकिस्तान, तुर्की
- बांग्लादेश, आयरलैंड, पेरू, यूनाइटेड किंगडम
- बोलीविया, इजराइल, फिलीपींस, यूनाइटेड स्टेट्स
- कनाडा, इटली, दक्षिण कोरिया
- कोस्टा रिका, जापान, श्रीलंका
- इक्वाडोर, मलेशिया, स्वीडन

**स्रोत** : 1997 में नेफ्ट और लेविन, व्हेयर वीमेन स्टैंडः एन इंटरनेशनल रिपोर्ट ऑन द स्टेटस ऑफ वीमेन इन 140 कंट्रीस।

टिप्पणी

### 5.3.5 यौन उत्पीड़न के कारण

यौन उत्पीड़न वर्तमान समाज की एक गंभीर समस्या बन गई है। किसी भी प्रकार की यौन गतिविधियां जिसमें दूसरे पक्ष की सहमति न हो, यौन उत्पीड़न कहलाती है। यह पूर्ण रूप से इच्छा के विरुद्ध की गई यौन गतिविधि होती है। यह न केवल महिलाओं के साथ, अपितु बच्चों व पुरुषों के साथ भी हो सकता है।

- पुरुष प्रधानता भारत में पुरुष प्रधानता पाई जाती है। पुरुष स्वयं को अधिक शक्तिशाली सिद्ध करने के लिए महिलाओं पर अत्याचार करते हैं। जिसमें यौन शोषण भी सम्मिलित है।
- स्त्रियों का पुरुषों पर आर्थिक निर्भरता व शिक्षा का अभाव के कारण भी उनमें अनेक भय, आकांक्षाएं रहती हैं तथा पुरुष अपने पुरुषत्व को प्रदर्शित करने हेतु यौन उत्पीड़न करता है।
- सामाजिक कुरीतियां– विभिन्न कुरीतियां जैसे बाल–विवाह, परदा, विधवा, पुनर्विवाह का अभाव आदि कारण महिलाओं का यौन उत्पीड़न होता है।
- संचार माध्यमों में प्रदर्शित नारी छवि– महिलाओं के यौन उत्पीड़न का एक कारण संचार भी है जिससे सम्मोहित होकर पुरुष महिलाओं का यौन शोषण करते हैं।
- उचित न्याय व्यवस्था का अभाव– महिलाओं का न्याय न मिलने के कारण वर्तमान में महिलाओं पर अत्याचारों में वृद्धि हो रही है और यह स्थिति न केवल महिलाओं को अपितु संपूर्ण समाज को कमजोर बनाती है।
- उचित यौन शिक्षा का अभाव– महिलाओं के यौन उत्पीड़न का प्रमुख कारण हमारे देश में उचित यौन शिक्षा का अभाव है। इसके निवारण हेतु उचित यौन शिक्षा का प्रावधान सामाजिक कुरीतियों का समापन, स्त्रियों की उचित शिक्षा व आर्थिक आत्मनिर्भरता व संचार माध्यम में नारी छवि में सुधार इत्यादि सम्मिलित हैं।

#### अपनी प्रगति जांचिए

3. हिंसा को कितनी श्रेणियों में विभाजित किया गया है?

(क) दो (ख) तीन

(ग) चार (घ) पांच

4. निम्न में से महिलाओं में हिंसा का प्रमुख कारण कौन–सा है?

(क) पुरुष की प्रधानता (ख) शिक्षा का अभाव

(ग) सामाजिक कुप्रथाएं (घ) उपरोक्त सभी

## 5.4 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (क)

2. (घ)

3. (ख)

4. (घ)

टिप्पणी

## 5.5 सारांश

प्राचीन काल से ही भारत में लोग मादक द्रव्यों का प्रयोग करते रहे हैं। मादक पदार्थों के सेवन को सामाजिक स्वीकृति भी प्राप्त थी। आर्य लोग सोम रस का प्रयोग करते थे। अथर्ववेद में भांग के प्रयोग का उल्लेख मिलता है। पुराणों में भांग के लिए 'विजया' शब्द का प्रयोग हुआ है। भारत में अफीम, भांग, गांजा, चरस एवं कोकीन का प्रयोग होता रहा है।

भारत में मादक पदार्थों के प्रयोग की मात्रा, प्रकृति विस्तार और दुष्प्रभावों को जानने के लिए स्कूल व महाविद्यालयों के छात्रों, औद्योगिक श्रमिकों एवं ग्रामीण लोगों से सम्बन्धित अनेक अध्ययन किए गए हैं। बनर्जी (1963 में कलकत्ता में), दयाल (1977 में दिल्ली में), दुबे, कुमार और गुप्ता 1969 व 1977 में, चिटनिस (1974 में मुंबई में), वर्मा (1977 में पंजाब में), सेठ व मनचन्दा (1978 में उत्तर प्रदेश में), गेंग्रेड व गुप्ता, देव एवं जिंदल, दुबे, वर्गीज एवं बैंग आदि अध्ययनकर्ता प्रमुख हैं।

विगत वर्षों में भारत में मादक द्रव्यों का सेवन बढ़ा है और चोरी–छिपे रूप से इनका विदेशों से आयात होता है। विश्वविद्यालयों के छात्र–छात्राओं द्वारा मादक पदार्थों का प्रयोग अधिक किया जाने लगा है। प्रतियोगिता की कठिनता, सपनों का टकराव, पाठ्यक्रमों की नीरसता, अंदर ही अंदर कसकते–सिसकते तनाव के कारण युवा वर्ग तनाव से मुक्त तथा कल्पनाओं के स्वप्निल संसार में खोने की अदम्य लालसा के कारण नशे की शुरुआत करता है। मादक द्रव्य सेवन की प्रेरणा मित्रों के द्वारा मिलती है। पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति की चकाचौंध में खोए हुए परिवारों में विभिन्न अवसरों पर नशा करना शिष्टाचार और जीवन शैली का प्रतीक बन गया है। संसार से उदासीन व्यक्ति चिन्तारहित, मुक्त एवं स्वच्छन्द जीवन व्यतीत करने की लालसा में मानसिक शांति के लिए मादक द्रव्यों का सेवन करते हैं। मादक पदार्थों के सेवन से युवा पीढ़ी में युवा स्वच्छन्दता बढ़ी है जो भविष्य के लिए भयानक स्थिति है।

वर्तमान में देश के लाखों युवकों में अशांति तथा आक्रोश पाया जाता है। वे आज अनेक प्रकार के तनावों से ग्रस्त हैं। युवकों में पाए जाने वाला तनाव एवं असंतोष अनेक रूपों में प्रकट होता है। कई युवक तोड़फोड़, प्रदर्शनों, आगजनी, मारपीट, हड़तालें, घेराव एवं हिंसात्मक दंगों में भाग लेते हैं। कभी–कभी महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों में हिंसा उग्र हो जाती है तो कभी किसी कारखाने में। कभी शिक्षा प्रणाली के नाम पर तो कभी आरक्षण के नाम पर आंदोलन चलते हैं। कभी छात्र आक्रोश प्रशासन या व्यवस्था के विरुद्ध भड़क उठता है। तो कभी महंगाई भ्रष्टाचार के विरुद्ध आंदोलन के रूप में। युवा असंतोष अधिकतर विद्यार्थी अनुशासनहीनता के रूप में प्रकट होता है।

वर्तमान में संसार के अनेक देशों में युवा तनाव या छात्र असंतोष देखने को मिलता है। युवकों ने राष्ट्र निर्माण में महत्वपूर्ण रचनात्मक भूमिका निभाई है। असंतुष्ट

टिप्पणी

युवकों ने समय–समय पर सरकार की नीतियों का विरोध किया है और राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन लाने में महत्वपूर्ण योग दिया है। आज का युवा अनेक प्रकार की निराशाओं, अशांति, असंतोष और दिशाहीनता से ग्रसित है। युवा वर्ग अपनी निराशा और असंतोष को हिंसात्मक अथवा अहिंसात्मक प्रदर्शनों के द्वारा व्यक्त करता है। युवा वर्ग द्वारा सार्वजनिक रूप से व्यक्त किए जाने वाले असंतोष को ही युवा असंतोष के नाम से जाना जाता है। प्रदर्शन, हड़ताल, उपद्रव तथा आंदोलन समस्त युवा असंतोष की अभिव्यक्तियां हैं। इस रूप में युवा अशांति एक सामुदायिक समस्या है।

वेश्यावृत्ति एक प्रकार का व्यवसाय होता है, जिसमें पैसों के लिए शारीरिक सम्बन्ध बनाए जाते हैं। जब कोई स्त्री किसी पुरुष से जने उसका पति नहीं है अथवा पुरुष किसी स्त्री से जो उसकी पत्नी नहीं है, यौन सम्बन्ध स्थापित करता है या करती है और उसके बदले में धन या किसी अन्य प्रकार की वस्तु या सेवा प्राप्त करती है तो उसे सामान्य रूप से वेश्यावृत्ति माना जाता है। स्त्रियों एवं कन्याओं के अनैतिक व्यापार (निरोधक) अधिनियम, 1956 के अनुसार वेश्या वह स्त्री है जो कि धन या वस्तु के बदले में अवैध यौन सम्बन्धों के लिए अपना शरीर पुरुष को सौंपती है। इस प्रकार अवैध सम्बन्ध के लिए शरीर अर्पित करना वेश्यावृत्ति कहलाता है।

वेश्यावृत्ति सर्वाधिक पुराना पेशा माना जाता है। साथ ही यह विश्व के समस्त समाजों में पाया जाता है। भारत में वेश्यावृत्ति का मुख्य कारण निर्धनता का माना जाता है। इस व्यवसाय को अपनाने वाली अधिकतर महिलाएं लाचार, कमजोर तथा अशिक्षित होती हैं और उनके पास किसी कार्य का विशिष्ट कौशल भी नहीं होता है। दुर्भाग्य से यदि इन महिलाओं का सामना दलालों से हो जाता है, तो इस पेशे में आने की संभावना बढ़ जाती है। अनेक माता–पिता आर्थिक तंगी के कारण अपनी बेटियों को बेच देते हैं। अनेक महिलाओं व लड़कियों को उनके रिश्तेदारों, पति एवं पुरुष–मित्रों द्वारा भी इस पेशे में धकेला जाता है। कई लोग महिलाओं को शादी या नौकरी का झांसा देकर उन्हें चकलाघर तक पहुंचा देते हैं। कई बार पड़ोसी देशों से लड़कियों को बहुत कम पैसों में खरीदकर इस पेशे में शामिल किया जाता है।

## 5.6 मुख्य शब्दावली

- **निवारण** : हल।
- **तात्पर्य** : आशय।
- **पृथक** : अलग।
- **सहमति** : रजामंदी।
- **स्नेह** : प्रेम।
- **अनभिज्ञ** : अनजान।
- **अभद्र** : अशोभनीय।

## 5.7 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

### लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. बाल अपराध से आप क्या समझते हैं?

2. बाल अपराधी की प्रमुख विशेषताएं क्या हैं?
3. नशाखोरी के प्रमुख कारण क्या हैं?
4. युवा असंतोष के मुख्य क्षेत्र क्या हैं?
5. हिंसा किसे कहते हैं?
6. बच्चों के प्रति होने वाली हिंसा से आप क्या समझते हैं?

टिप्पणी

**दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न**

1. बाल अपराध के कारणों की विवेचना कीजिए।
2. भारत में नशीली दवाओं के दुष्प्रयोग का विश्लेषण कीजिए।
3. मादक द्रव्यों के सेवन के दुष्प्रभावों पर प्रकाश डालिए।
4. वेश्यावृत्ति के प्रमुख पहलुओं की व्याख्या कीजिए।
5. समाज में व्याप्त हिंसा की समीक्षा कीजिए।
6. महिलाओं के प्रति होने वाली हिंसा का विवेचन कीजिए।

## 5.8 सहायक पाठ्य सामग्री


1. Heath Anthony, Ermisch John and Duncan Gallie. 2005. *Understanding Social Change*. Oxford: Oxford University Press.
2. Ahuja, Ram. 2001. *Social Problems in India.* New Delhi: Rawat Publications.
3. Cuber, John. F and Robert A. Harper. 1948. *Problems of American Sociology: Values or Conflict*. New York: Holt.
4. Cooley, Charles Horton. 2019. *Social Process*. Mountain View, California: Creative Media Partners.
5. Berger, P., & Luckmann, T. (1966). The Social Construction of Social Reality. Harmondsworth: Penguin.
6. Blau, P. (ed.). (1975). Approaches to the Study of Social Structure. New York: Free Press.
7. Callinicos, A. (2007) Social theory: a historical introduction. (2nd ed.) Cambridge: Polity.
8. Crothers, Charles (1996) Social Structure. Routledge, London.
9. Dahrendorf, R. (1968). Essays in the Theory of Society. London: Routledge and Kegan Paul.
10. Granovetter, Mark (1995/1973) Getting a job: a study of contacts and careers. 2nd ed. Chicago : University of Chicago Press
11. Giddens, A. (1984). The Constitution of Society. Oxford: Polity Press.
12. Hindess, B. (1989). Political Choice and Social Structure: an analysis of actors, interests and rationality. Aldershott, Hants, UK: Edward Elgar.

टिप्पणी

13. Lin, N. (2001) Social capital: a theory of social structure and action Cambridge, UK; New York:
14. Martin, Peter J. and Alex Dennis (eds.) (2010) Human Agents and Social Structures
15. Merton, R. K. (1968). Social Theory and Social Structure. Glencoe, Illinois: Free Press.
16. Nadel, S. F. (1957). The Theory of Social Structure. Melbourne: Melbourne University Press.
17. Porpora, D. (1987). The Concept of Social Structure. Westport, CT: Greenwood Press.
18. Searle, John R. (2010) Making the social world: the structure of human civilization. Oxford; New York: Oxford University Press.